सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा

(An Outline of Social Anthropology)

लेखक

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग

बरेली कॉलेज

बरेली

प्रकाशक

सरस्वती सदन

मसूरी

द्वितीय सस्करण, १९६६]

[मूल्य १२ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक :
सरस्वती सदन, मसूरी।

मुद्रक :
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२।

सहृदय अध्यापक, जिन्होने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र
मे दीक्षित कर मुझे सदा के लिये अनुगृहीत किया, उन

प्रोफेसर (डाक्टर) कैलाशनाथ शर्मा

(इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, कानपुर)

को यह पुस्तक

सादर समर्पित है।

—'रवि'

आमुख : द्वितीय संस्करण

इस पुस्तक का यह द्वितीय सस्करण आज पाठक-समाज मे प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। पाठक-वर्ग ने इस पुस्तक को अपनाकर मुझे जो गौरव प्रदान किया है, उसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

प्रस्तुत सस्करण पूर्णतया सशोधित तथा परिवर्द्धित सस्करण है। जब इस पुस्तक का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ था, उस समय इस विषय पर भारतीय विश्वविद्यालयो के, विशेषतः आगरा विश्वविद्यालय का, स्नातकोत्तर कक्षाओ का पाठ्यक्रम जो था उसमे आज भारी परिवर्तन कर दिये गये हैं। अत. यह आवश्यक हो गया कि नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार पुस्तक का गठन भी नवीन रूप मे किया जाये। ऐसा करने के लिये पुस्तक के कलेवर को ही बदल देना पडा है। पाठक स्वयं ही यह पायेंगे कि प्रस्तुत पुस्तक वस्तुत वह नही है जो इसका प्रथम सस्करण था। अध्याय ७, ८, १९, २० और २१ को तो आमूल परिवर्तित कर दिया गया है। साथ ही, पुस्तक मे सर्वत्र नवीनतम सूचनाओ तथा आँकडो को प्रस्तुत किया गया है। इस कारण यह आशा है कि पाठक व अध्यापक-वर्ग इसे पहले से कही अधिक उपयोगी पाएँगे। यही लेखक के समस्त परिश्रम का सच्चा पुरस्कार होगा।

मातृ-मन्दिर,
विद्यार्थी रोड,
कानपुर।

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

आमुख : प्रथम सस्करण

मानवीय समाज और समस्याओ के विषय मे जो जिज्ञासा दिन प्रतिदिन बढती जा रही है, उसे शान्त करने मे सामाजिक मानवशास्त्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि विद्वानो मे एक यह विश्वास दृढतर होता गया कि आधुनिक मानव व उसकी सस्कृति को समझने के लिये आदिकालीन समाज या सामाजिक जीवन को समझना अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक मानवशास्त्र का यही अध्ययन-विषय है। इसीलिये इस विषय का विकास बडी तीव्र गति से हुआ है और भारतवर्ष मे भी एकाधिक विश्वविद्यालयो मे अब मानवशास्त्र एक मुख्य विषय के रूप मे पढाया जाने लगा है। परन्तु इस विषय पर, विशेषकर सामाजिक मानवशास्त्र पर, हिन्दी भाषा मे लिखी पुस्तकें न होने के समान हैं। इस कमी को दूर करने के लिये यह पुस्तक प्रकाशित की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयो के स्नातकोत्तर (Post-graduate) कक्षाओ के विद्यार्थियो के लिये लिखी गई है। पुस्तक की समस्त सामग्री को प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक स्तर पर लाने का तथा सामाजिक मानवशास्त्र के सर्वमान्य तथ्यो को भारतीय पृष्ठभूमि मे प्रस्तुत करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। भारतीय उदाहरणो मे यह पुस्तक भरपूर है जिससे कि विद्यार्थियो के लिये विषय को समझने मे कठिनाई न हो।

इस पुस्तक को लिखने मे प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दावली का अभाव अत्यधिक अनुभव हुआ। फिर भी इस कमी को यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न किया गया है। डा० दुबे के शब्दो मे, "विषय का स्पष्टीकरण लेखक का उद्देश्य रहा है, और इसकी सिद्धि के लिये पारिभाषिक शब्दावली-सम्बन्धी सैद्धान्तिक मतभेदो के प्रति लेखक ने किसी विशिष्ट आग्रह अथवा दुराग्रह को नही अपनाया है।"

हम उन समस्त विद्वानो के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनकी अमूल्य कृतियो तथा विचारो के आधार पर इस पुस्तक को लिखना सम्भव हुआ है। यथासम्भव इन समस्त विद्वानो का यथास्थान उल्लेख पृष्ठतल टिप्पणियाँ (Footnotes) देकर किया गया है किन्तु यदि कही भूल से किन्ही विद्वानो का नामोल्लेखन न हो पाया हो, तो वह त्रुटि इच्छाकृत न समझी जाय, उसके लिये लेखक क्षमाप्रार्थी है।

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने, उसे दोहराने तथा भाषा को सुधारने का समस्त कार्य श्रीमती कुसुम गोस्वामी (एम० ए० समाजशास्त्र) और श्रीमती सरला दुबे (बी० ए०, बी० टी०, एम० ए० समाजशास्त्र द्वितीय वर्ष) ने किया है। इनके अथक परिश्रम के बिना इस प्रकार की एक बृहत् पुस्तक का इतने अल्प समय मे प्रकाशन सम्भव न था। धन्यवाद देकर उनकी सेवाओ को कुण्ठित न करूँगा। इस विषय के स्नातकोत्तर कक्षाओ के प्रोफेसर तथा मेरे सहकर्मी श्री गिरीशचन्द्र कुलश्रेष्ठ तथा डाक्टर ज्योतिनाथ गगोली के उत्साह, सहयोग एव सुझावो से यह पुस्तक समृद्ध है। प्रोफेसर अशोक प्रधान का भी हार्दिक सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। अध्याय २० मे प्रस्तुत थारू जनजाति का विवरण मेरे शिष्य श्री गोपालकृष्ण अग्रवाल ने अपने अध्ययन के आधार पर तैयार किया है। सरस्वती सदन के मैनेजर श्री विश्वरजन ने इस पुस्तक के प्रकाशन मे बडी तत्परता व आग्रह दिखाया है। मैं इन सब सज्जनो का हृदय से आभारी हूँ।

अन्त मे मानवशास्त्र के विद्वानो विद्यार्थियो तथा अन्य पाठको से विनम्र निवेदन है कि वे पुस्तक की त्रुटियो की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करके पुस्तक के स्तर को ऊँचा उठाने मे मेरी सहायता करें। इसके लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा।

सुधा ज्ञान-मन्दिर,
कानपुर।
२३ नवम्बर, १९६१।

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

विषय-सूची

अध्याय १—मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र (The Nature and Scope of Anthropology) १७

१ विषय-प्रवेश
२ मानवशास्त्र का अर्थ और परिभाषा
३ मानवशास्त्र की प्रकृति
४ मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
५ मानवशास्त्रीय विज्ञान
६ मानवशास्त्र तथा अन्य विज्ञान
७ निष्कर्ष

अध्याय २—सामाजिक मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र (The Nature and Scope of Social Anthropology) ४५

१ भूमिका
२ सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा
३ सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
४ आदिम समाजो का अध्ययन हम क्यो करते हैं ?
५ सामाजिक मानवशास्त्र के उद्देश्य
६ सामाजिक मानवशास्त्र तथा अन्य विज्ञान
७ निष्कर्ष

अध्याय ३—सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ (Methods of Social Anthropology) ६७

१ भूमिका
२ वैज्ञानिक पद्धति की परिभाषा
३ सामाजिक मानवशास्त्र की सामान्य पद्धति
४ ऐतिहासिक पद्धति
५ तुलनात्मक पद्धति
६ प्रकार्यात्मक पद्धति
७ पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति
८ निष्कर्ष

अध्याय ४—मानवशास्त्र की व्यावहारिकताएँ या व्यावहारिक मानवशास्त्र (Applications of Anthropology or Applied Anthropology) ८५

१ भूमिका
२ व्यावहारिक मानवशास्त्र की परिभाषा
३ व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र
४ औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र मे उपयोगिता
५ प्रजातीय भ्रान्तियाँ तथा मानवशास्त्र
६ उद्योग मे व्यावहारिक मानवशास्त्र
७ औषधिशास्त्र मे व्यावहारिक मानवशास्त्र
८ युद्ध और मानवशास्त्र
९ मानवशास्त्र की अन्य उपयोगिताएँ
१० निष्कर्ष

अध्याय ५—प्रजाति और प्रजातिवाद (Race and Racism) १०९

१ भूमिका
२. प्रजाति के अर्थ के सम्बन्ध मे गलत धारणाएँ
३ प्रजाति की वैज्ञानिक अवधारणा
४ प्रजाति की वैज्ञानिक परिभाषाएँ
५ प्रजाति की उत्पत्ति
६ प्रजाति-निर्धारण या वर्गीकरण के आधार
(अ) निश्चित शारीरिक लक्षण, (ब) अनिश्चित शारीरिक लक्षण
७ आधुनिक प्रजातियाँ
८ प्रजातियो का विभिन्न वर्गीकरण
९ मुख्य प्रजातियो की प्रमुख विशेषताएँ
१० प्रजातिवाद
११ प्रजाति के विषय मे आधुनिकतम निष्कर्ष
१२ निष्कर्ष

अध्याय ६—भारत की प्रजातियाँ (Races of India) १४५

१ भारत मे प्रजातियो का अध्ययन
२ भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास
(क) प्रागैतिहासिक युग, (ख) ऐतिहासिक युग
३ नीग्रिटो प्रजाति के सम्बन्ध मे मतभेद
४ भारत मे प्रजातीय तत्त्व और उसका वर्गीकरण
५ उत्तरी भारत मे प्रजातीय तत्त्व
६ निष्कर्ष

अध्याय ७—सस्कृति की अवधारणा (Concept of Culture) १६५

१ भूमिका—मानव सस्कृति-निर्माता के रूप मे
२ सस्कृति की परिभाषा
३ सस्कृति की प्रकृति
४ सस्कृति के सम्बन्ध मे कुछ विरोधाभास
५ सस्कृति के उपादान
(क) सास्कृतिक तत्त्व, (ख) सस्कृति-सकुल, (ग) सस्कृति-प्रतिमान, (घ) सास्कृतिक क्षेत्र
६ सस्कृति का विकास
(अ) उद्विकास, (ब) प्रसार, (स) नवीनीकरण, (द) सस्कृतिकरण
७ सस्कृति का सगठन
(क) प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण, (ख) सरूपणात्मक दृष्टिकोण, (ग) लयात्मक दृष्टिकोण
८ सस्कृति व व्यक्तित्व
९ व्यक्तित्व की आधारभूत सरचना
१० प्रजाति और सस्कृति

अध्याय ८—आदिम सामाजिक संरचना व सामाजिक सगठन (Primitive Social Structure and Social Organization) २३७

१ सामाजिक सरचना की अवधारणा
२ सामाजिक सगठन क्या है ?
३ आदिम सामाजिक सगठन के आधार
४ आदिम समाजो मे स्थिति तथा कार्य
(क) यौन-भेद, (ख) आयु-भेद, (ग) सम्पत्ति-भेद
५ आदिम समाज मे स्त्रियो की स्थिति
६ वर्ग व्यवस्था
७ निष्कर्ष

अध्याय ९—विवाह और नातेदारी व्यवस्था (Marriage and Kinship System) २५५

१ भूमिका
२ विवाह की परिभाषा
३ विवाह के उद्देश्य
४ विवाह की उत्पत्ति
५ विवाह की आयु
६ विवाह-सम्बन्धी निषेध
(क) पारिवारिक या निषिद्ध निकटाभिगमन, (ख) बहिर्विवाह, (ग) अन्तर्विवाह

७ अधिमान्य विवाह
(अ) ममेरे-फुफेरे भाई-बहनो का विवाह, (ब) चचेरे-मौसेरे भाई-बहनो का विवाह, (स) पति-भ्राता और पति-भगिनी विवाह, (द) अन्य विशेष प्रकार के विवाह
८ विवाह के भेद
९ विवाह-साथी चुनने के तरीके
१० पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध
११ विवाह-विच्छेद
१२ नातेदारी-व्यवस्था
१३ नातेदारी की रीतियाँ
परिहार, परिहास सम्बन्ध, माध्यमिक सम्बोधन, मातुलेय, पितृश्वस्रेय सह-प्रसविता

अध्याय १०—परिवार और गोत्र (The Family and Clan) ३०१
१ भूमिका
२ परिवार क्या है ?
३ परिवार की सामान्य विशेषताएँ
४ परिवार की विशिष्ट विशेषताएँ
५ परिवार—एक प्रकार्यात्मक इकाई के रूप मे
६ परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त
७ परिवार के भेद
८ वश-समूह
९ गोत्र
१० निष्कर्ष

अध्याय ११—आदिकालीन कानून, न्याय तथा सरकार (Primitive Law, Justice and Government) ३३१
१ भूमिका
२ कानून क्या है ?
३ आदिकालीन कानून की प्रकृति
४. कानून के पीछे अभिमति
५ कानून तथा प्रथाएँ
६ आदिम समाजो मे न्याय
७. सम्मिलित उत्तरदायित्व
८. अपराध का निर्धारण
९ प्रमाण
१०. अपराधी सकल्प

११ दण्ड
१२ क्षतिपूर्ति
१३ अदालती कार्यवाही
१४. आदिम समाजो मे सरकार
१५ सरकार के प्रकार
१६ स्थानीय सरकार
१७ मुखिया
१८ प्रधान
१९ वशानुगत एकतत्र या राजा
२० परिषद्
२१ भारतीय जनजातियो का कानून और सरकार
अध्याय १२—आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था (Primitive Economic Organization) ३६१
१ भूमिका
२ अर्थ-व्यवस्था की परिभाषा
३ आर्थिक विकास के प्रमुख स्तर
४ आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति तथा विशेषताएँ
५ आदिम अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण
६ आदिम समाजो मे अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता
७ श्रम-विभाजन
८ उत्पादन
९ वितरण
१० उपभोग
११ उपहार और अतिथि-सत्कार—पॉटलैच
१२ व्यापार और विनिमय
१३ आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति
१४ आदिम साम्यवाद
१५ भारतीय जनजातियो की अर्थ-व्यवस्था
१६ तीन जनजातियो का आर्थिक जीवन
अध्याय १३—धर्म और जादू (Religion and Magic) ४०७
१ भूमिका
२ धर्म की परिभाषा
३ धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त
आत्मावाद या जीववाद, जीवितसत्तावाद या मानावाद, प्रकृतिवाद, फ्रेज़र का सिद्धान्त, धर्म का सामाजिक सिद्धान्त, प्रकार्यवादी सिद्धान्त

४ धर्म का व्यावहारिक पक्ष
५ जादू क्या है ?
६ जादुई क्रियाओं के तत्त्व
७ जादू के भेद
८ जादू और विज्ञान
९ जादू और धर्म

अध्याय १४—टोटमवाद (Totemism) ४३९

१ भूमिका
२ टोटम की परिभाषा
३ टोटमवाद की परिभाषा
४ टोटम और टोटमवाद की विशेषताएँ
५ टोटम के भेद
६ टोटम की उत्पत्ति के सिद्धान्त
७ टोटमवाद का सामाजिक महत्त्व
८ टोटमवाद का भौगोलिक वितरण

अध्याय १५—आदिकालीन कला (Primitive Art) ४५५

१ भूमिका
२ कला क्या है ?
३ आदिकालीन कला क्या है ?
४ कला की उत्पत्ति के सिद्धान्त
५ कला के आवश्यक तत्त्व
सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग, सामाजिक तत्त्व, शैली, संकेतवाद
६ विभिन्न काल मे कला
७ भारत मे जनजातीय कला
८ भारतीय जनजातीय कला की विशेषताएँ
९ प्रागैतिहासिक कला
१० समकालीन कला

अध्याय १६—संगीत तथा नृत्य (Music and Dance) ४७५

१ भूमिका—संगीत तथा नृत्य का महत्त्व
२ संगीत की उत्पत्ति
३ संगीत के आवश्यक तत्त्व
४ भारत के लोक-गीत
५ लोक-गीत की प्रकृति
६ लोक-गीत की परिभाषा
७ लोक-गीत के प्रकार
८ लोक-गीत के उदाहरण
९ लोक-गीत का महत्त्व
१० नृत्य
११ भारत मे लोक-नृत्य
१२ कुमायूँ के लोक-नृत्य

अध्याय १७—पौराणिक कथाएँ तथा लोक-गाथाएँ (Mythology and Folk-tales) ४६५

१ भूमिका
२ पौराणिक कथाओ और लोक-गाथाओ मे अन्तर
३ पौराणिक कथा का अर्थ
४ पौराणिक कथा की उत्पत्ति
५ पौराणिक कथाओ की विशेषताएँ
६ पौराणिक कथाओ का महत्त्व
७ पौराणिक कथाओ के कुछ उदाहरण
८ लोक-गाथाएँ
९ लोक-गाथाओ की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ
१० लोक-गाथाओ का महत्त्व
११ लोक-गाथाओ के कुछ उदाहरण

अध्याय १८—भाषा (Language) ५०९

१ भूमिका
२ भाषा की परिभाषा
३ भाषा की प्राचीनता
४ भाषा की उत्पत्ति
५ भाषा की सरचना
६ भाषा-परिवार
७ भाषा का महत्त्व
भाषा व प्रजाति, भाषा व सस्कृति

अध्याय १९—आदिकालीन विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा आविष्कार (Primitive Science, Technology and Invention) ५२३

१ भूमिका—विज्ञान क्या है ?
२ आदिकालीन विज्ञान
३ आदिकालीन आविष्कार
४ आदिकालीन प्रौद्योगिकी
५ निष्कर्ष

अध्याय २०—जनजातीय भारत (Tribal India) ५३७

१ भूमिका
२ जनजाति की परिभाषा
३ जनजाति की विशेषताएँ
४ जनजातीय सगठन

५ जनजाति और प्रजाति मे अन्तर
६ भारतीय जनजातियाँ
७ भारत मे अनुसूचित जनजातियो की सख्या
८ सभ्यता के सम्पर्क मे आयी हुई जनजातियाँ
६ सभ्यता से दूर रहने वाली जनजातियाँ
१० भारतीय जनजातियो का वर्गीकरण
प्रजातीय वर्गीकरण
भाषा के आधार पर वर्गीकरण
भौगोलिक या प्रादेशिक वर्गीकरण
सास्कृतिक वर्गीकरण
आर्थिक वर्गीकरण
११ थारू जनजाति
१२. सामाजिक सगठन के प्रमुख स्वरूप
१३ परिवार
१४ मातृवशीय समाज
१५ पितृवशीय समाज
१६ गोत्र और गोत्र समूह
१७ टोटम
१८ विवाह
१६ बहुपति-विवाह
२० नातेदारी व्यवस्था
२१ युवा सगठन
२२ भारतीय जनजातीय धर्म और जादू
२३ जनजातियाँ तथा हिन्दू कृपक-वर्ग

अध्याय २१—भारतीय जनजातियो की समस्याएँ और उनका निराकरण
(Indian Tribal Problems and Their Remedies) ५८६

१ भूमिका
२ जनजातीय समस्याओ के कारण
३ जनजातीय जीवन पर ईसाई मिशनरी कार्यों का प्रभाव
४ जनजातीय समस्याओ की प्रकृति
५ आर्थिक समस्याएँ
६ सामाजिक समस्याएँ
७. सास्कृतिक समस्याएँ
८ स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याएँ
६ शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ
१० जनजातीय कल्याण-कार्य

१

मानवशास्त्र
की
प्रकृति तथा क्षेत्र

(THE NATURE AND SCOPE OF ANTHROPOLOGY)

अध्याय १

मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र
(The Nature and Scope of Anthropology)

विषय-प्रवेश
(Introduction)

मानव का क्रम-विकास मानव से नही, पशु से हुआ है—मानव के विपय मे यही प्रथम वाक्य है और इसी मे उसका प्रथम या आदि-परिचय छिपा हुआ है। उद्विकासीय प्रक्रिया के फलस्वरूप अनेक स्तरो मे गुजरता हुआ मानव पशु-जगत् से पृथक् हो गया—पशु मानव वना, मानव वनकर उसने अपनी आदि-अवस्था को भूलने का प्रयत्न किया। उन्ही प्रयत्नो के फलस्वरूप पशुता के स्थान पर मानवता का जन्म हुआ, विकास हुआ—विभिन्न 'शास्त्र' या विज्ञानो का उद्भव हुआ जिनमे से प्रत्येक ने मानव की प्रगतिशील प्रवृतियो व क्षमताओ को प्रमाणित किया। इन्ही विज्ञानो की सहायता से मानव ने सव कुछ जानने का प्रयत्न किया। सव कुछ जान लेने की यह अभिलाषा दिन-प्रतिदिन वढती ही गयी। मानव ने प्रकृति के रहस्यो को उद्घाटित करना चाहा, पशु-जगत को ठीक-ठीक पहचानना चाहा, धरती से आकाश तक कुछ भी न छोडा, अपने को भी नही। वैज्ञानिक आधार पर कुछ जानने की मानव की इस अभिलापा ने मानव को मानव का ही शिकार वना दिया—मानवशास्त्र का जन्म हुआ। मानव द्वारा मानव का अध्ययन आरम्भ हुआ—मानव द्वारा मानव का वैज्ञानिक अध्ययन ही मानवशास्त्र है।

इमीलिये सच ही कहा गया है कि मानव 'प्रकृति' का सवसे आश्चर्यजनक भाग है। यह अनोखा मानव केवल प्रकृति का नही, स्वय अपने का भी अध्ययन करता है। आकाश, धरती, पेड-पौघा, पशु-पक्षी, नदी और समुद्र का अध्ययन उसके सम्मुख अनेक आश्चर्यजनक अनुभवो को उपस्थित करते हैं और उसके ज्ञान-विज्ञान के भण्डार को भरते रहते हैं, परन्तु स्वय अपना ही अध्ययन मानव के लिए और भी रोचक, अत्यन्त आश्चर्य-जनक अनुभवो से भरपूर और अनेक अनोखेपन से समृद्ध होता है। वह स्वय सस्कृति को सीचता है, विकसित करता है, धर्म, कला, प्रथा, परम्परा, साहित्य, भाषा को जन्म देता है, अनेक आश्चर्यजनक आविष्कारो द्वारा नित्य नये यत्रो का निर्माण करता और प्रकृति पर विजय पाता जाता है और फिर एक समय स्वय अपने ही सम्वन्ध मे सोचता और चकित रह जाता है कि "कितना अनोखा है यह मानव और उसके कार्य।" मानवशास्त्र

विषय-सूची—प्रथम अध्याय

१. विषय-प्रवेश
२ मानवशास्त्र का अर्थ और परिभाषा
३ मानवशास्त्र की प्रकृति
४. मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
५ मानवशास्त्रीय विज्ञान
६. मानवशास्त्र तथा अन्य विज्ञान
७. निष्कर्ष

अध्याय १

मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र
(The Nature and Scope of Anthropology)

विषय-प्रवेश
(Introduction)

मानव का क्रम-विकास मानव से नही, पशु से हुआ है—मानव के विषय मे यही प्रथम वाक्य है और इसी मे उसका प्रथम या आदि-परिचय छिपा हुआ है। उद्विकासीय प्रक्रिया के फलस्वरूप अनेक स्तरो मे गुजरता हुआ मानव पशु-जगत् से पृथक् हो गया—पशु मानव बना, मानव बनकर उसने अपनी आदि-अवस्था को भूलने का प्रयत्न किया। उन्ही प्रयत्नो के फलस्वरूप पशुता के स्थान पर मानवता का जन्म हुआ, विकास हुआ—विभिन्न 'शास्त्र' या विज्ञानो का उद्भव हुआ जिनमे से प्रत्येक ने मानव की प्रगतिशील प्रवृतियो व क्षमताओ को प्रमाणित किया। इन्ही विज्ञानो की सहायता से मानव ने सब कुछ जानने का प्रयत्न किया। सब कुछ जान लेने की यह अभिलाषा दिन-प्रतिदिन बढती ही गयी। मानव ने प्रकृति के रहस्यो को उद्घाटित करना चाहा, पशु-जगत को ठीक-ठीक पहचानना चाहा, धरती से आकाश तक कुछ भी न छोडा, अपने को भी नही। वैज्ञानिक आधार पर कुछ जानने की मानव की इस अभिलाषा ने मानव को मानव का ही शिकार बना दिया—मानवशास्त्र का जन्म हुआ। मानव द्वारा मानव का अध्ययन आरम्भ हुआ—मानव द्वारा मानव का वैज्ञानिक अध्ययन ही मानवशास्त्र है।

इसीलिये सच ही कहा गया है कि मानव 'प्रकृति' का सबसे आश्चर्यजनक भाग है। यह अनोखा मानव केवल प्रकृति का नही, स्वय अपने का भी अध्ययन करता है। आकाश, धरती, पेड-पौधा, पशु-पक्षी, नदी और समुद्र का अध्ययन उसके सम्मुख अनेक आश्चर्यजनक अनुभवो को उपस्थित करते हैं और उसके ज्ञान-विज्ञान के भण्डार को भरते रहते हैं, परन्तु स्वय अपना ही अध्ययन मानव के लिए और भी रोचक, अत्यन्त आश्चर्य-जनक अनुभवो से भरपूर और अनेक अनोखेपन से समृद्ध होता है। वह स्वय सस्कृति को सीचता है, विकसित करता है, धर्म, कला, प्रथा, परम्परा, साहित्य, भाषा को जन्म देता है, अनेक आश्चर्यजनक आविष्कारो द्वारा नित्य नये यत्रो का निर्माण करता और प्रकृति पर विजय पाता जाता है और फिर एक समय स्वय अपने ही सम्बन्ध मे सोचता और चकित रह जाता है कि "कितना अनोखा है यह मानव और उसके कार्य।" मानवशास्त्र

इसी अनोखे मानव और उसके कार्यों का अध्ययन है। यह पुस्तक उसी अध्ययन की एक विनम्र रूपरेखा है, 'सब कुछ' नही, केवल 'कुछ' है।

मानवशास्त्र का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Anthropology)

मानवशास्त्र (anthropology Greek word *anthropos* meaning 'man' and the noun ending *logy* meaning 'science') का शाब्दिक अर्थ 'मानव का विज्ञान' (the science of man) है। वास्तव मे यह शाब्दिक अर्थ अत्यन्त ही व्यापक और सामान्य है। अधिक यथार्थ और स्पष्ट रूप से मानवशास्त्र को हम मानव और उसके कार्यो का अध्ययन कह सकते है। परन्तु यहाँ भी यह स्मरण रखना होगा कि मानव और उसके कार्यों का अध्ययन केवल मात्र मानवशास्त्र के द्वारा ही नही होता है, अन्य सामाजिक विज्ञान भी इनका अध्ययन करते हैं, परन्तु मानव-जाति के जन्म से लेकर वर्तमान काल तक मानव और उसके कार्यो का जितना विस्तारित अध्ययन मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तंगत आता है उतना और किसी अन्य विज्ञान के क्षेत्र मे नही। यह तथ्य निम्नलिखित परिभाषाओ से स्पष्ट हो जायगा—

सर्वश्री जैकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) के अनुसार "मानवशास्त्र मनुष्य जाति के जन्म से लेकर वर्तमान काल तक मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास एव व्यवहारो का वैज्ञानिक अध्ययन है।"[1]

श्री हॉबल (Hoebel) के शब्दो मे, "मानवशास्त्र मानव एव उसके समस्त कार्यो का अध्ययन है। सम्पूर्ण अर्थ मे यह मनुष्य की प्रजातियो एव प्रथाओ का अध्ययन है।"[2]

श्री क्रोबर (Kroeber) ने मानवशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है, "मानव-शास्त्र मनुष्यो के समूहो, उनके व्यवहार और उत्पादनो का विज्ञान है।"[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि **मानवशास्त्र सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक की मानव-जाति के समग्र रूप का वह विज्ञान है जो कि उसके शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक उद्भव एव विकास का अध्ययन करता है।**

मानवशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Anthropology)

जैसा कि प्रारम्भ मे ही कहा कहा गया है मनुष्य प्रकृति का ही अश है। मानव-शास्त्र मे मानव का अध्ययन विश्व (universe) के एक अग के रूप मे ही किया जाता है।

---

1 "Anthropology is the scientific study of the physical, social, and cultural development and behaviour of human beings since their appearance on earth" M Jacobs and B J Stern, *General Anthropology*, Barns and Noble, New York, 1955, p 1

2 "Anthropology is the study of man and of all his works In its fullest sense it is the study of races and customs of mankind" E A Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw Hill Book Co , New York, 1949, p 1

3 "Anthropology is the science of groups of men and their behaviour and production" Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co , New York, 1948, p 1

इस कारण मानवशास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है। परन्तु, जैसा कि श्री हॉवल (Hoebel) का कथन है, "मानवशास्त्र की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि प्राकृतिक विज्ञान के रूप मे वह एक साथ शारीरिक तथा सामाजिक विज्ञान दोनो ही है।"[4] शारीरिक विज्ञान के रूप मे मानवशास्त्र मानव-जाति को पशु-जगत् का एक अत्यत महत्वपूर्ण अग मानकर उसके उद्भव तथा उद्विकास, शरीर-रचना आदि का अध्ययन करता है। साथ ही, सामाजिक विज्ञान के रूप मे मानवशास्त्र मानव के सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास एव व्यवहार के विभिन्न पहलुओ का विवेचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन करता है। मानव-जीवन की समस्त विविधताओ से सम्बधित विज्ञान—मानवशास्त्र—की यह दोहरी (duel) प्रकृति स्वाभाविक ही है क्योकि मानव केवल पशु-जगत् का एक प्राणी मात्र ही नहीं है, अपितु वह सस्कृति, इतिहास और विविध सामाजिक गुणो से सयुक्त एक प्राणी भी है। अत मानवशास्त्र शारीरिक (physical) या प्राणीशास्त्रीय (biological) और सामाजिक (social) विज्ञान दोनो ही है। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन के प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक पक्ष पर बल देते हुए श्री पेन्नीमैन (Penniman) ने मानवशास्त्र के विषय मे लिखा है कि "एक रूप मे यह (मानवशास्त्र) प्राकृतिक इतिहास की एक शाखा है और इसके अन्तर्गत जीव प्रकृति के क्षेत्र मे मानव की उत्पत्ति और स्थिति का अध्ययन आता है। दूसरे रूप मे मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान।"[5] अत स्पष्ट है कि मानवशास्त्र शारीरिक तथा सामाजिक विज्ञान के अतिरिक्त एक इतिहास का भी विज्ञान है। इतिहासकार एक सामाजिक वैज्ञानिक हो सकता है यदि वह सामाजिक परिवर्तन या क्रियाओ के सामान्य नियमो को ढूँढ निकालने मे प्रयत्नशील है। इन सामान्य नियमो को ढूँढने मे उसे नियमानुसार होने वाली पिछली अनेक घटनाओ का सावधानी से विश्लेपण तथा वर्गीकरण करना होता है। मानवशास्त्री भी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युगो के मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास एव व्यवहार से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यो तथा घटनाओ का विश्लेपण तथा वर्गीकरण करते हैं और उनके आधार पर शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक परिवर्तन या क्रियाओ के सामान्य नियमो को ढूढ निकालते हैं। इस प्रकार मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान है।

कुछ मानवशास्त्रियो जैसे, सर्वश्री मैलिनोवस्की (Malinowski), रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown), आदि का मत है कि मानवशास्त्र केवल विज्ञान के रूप मे ही अर्थपूर्ण हो सकता है। इस विज्ञान के क्षेत्र से इतिहास का पूर्णतया बहिष्कार होना

---

4 "The study of man, called anthropology (Gr *anthropos* man + *logia* study) when followed in accordance with the principles and methods of science, is consequently a natural science Its almost unique quality, however, is that as a natural science it is simultaneously a physical and a social science" E A Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p 1

5 "In one aspect it is a branch of Natural History, and embraces the study of his origin and position in the realm of animated nature In another aspect anthropology is the science of History" T K. Penniman, *A Hundred Years of Anthropology*, Gerald Duckworth & Co, Ltd, London, 1952, pp 13—14

चाहिए। मानवशास्त्रियो का सम्पर्क केवल उन समाजो और मनुष्यो के अध्ययन तक ही केन्द्रित होना चाहिए जिनका कि प्रत्यक्ष रूप से अवलोकन किया जा सके। उक्त विद्वानो का मत है कि उस प्राचीन इतिहास, समाज या घटनाओ की छान-बीन करना, जिसके लिये कोई भी लिखित प्रमाण नही मिलते हैं, किसी भी अर्थ मे किसी विज्ञान के लिए उचित नही है।

उपर्युक्त मत के विपरीत कुछ मानवशास्त्रियो के मतानुसार मानवशास्त्र केवल इतिहास है। ऐतिहासिक घटनाओ और तथ्यो पर ही मानवशास्त्रियो का सम्पूर्ण अध्ययन आधारित होना चाहिए।

परन्तु वास्तव मे मानवशास्त्र की स्थिति इन दो विरोधी मतो के बीच की ही है। इसमे कोई सन्देह नही कि ऐतिहासिक घटनाओ और तथ्यो को समझे बिना वर्तमान को समझना कठिन है, परन्तु उन घटनाओ तथा तथ्यो से, वास्तविक अवलोकन के आधार पर पुनर्परीक्षण किये बिना, कोई वैज्ञानिक परिणाम निकालना सम्भव नही। समाज और सस्कृति एक निरन्तर प्रक्रिया है जो कि भूतकाल पर आधारित, वर्तमान मे क्रियाशोल तथा भविष्य की ओर गतिशील है। मानवशास्त्र भूत तथा वर्तमान दोनो ही काल के मानव तथा उसकी सस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन है। देश और काल की सीमाओ मे अपने को बांधे बिना मानव-जाति का सम्पूर्ण अध्ययन करना इस विज्ञान का उद्देश्य है।

अन्तिम रूप मे, मानवशास्त्र एक विज्ञान है। विज्ञान किसे कहते हैं ? किसी भी अध्ययन-वस्तु के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा प्राप्त ज्ञान के क्रमबद्ध या नियमबद्ध सग्रह को विज्ञान कहते हैं। मानवशास्त्र की अध्ययन-वस्तु मानव, उसका समाज तथा सस्कृति है। मानवशास्त्री अवलोकन द्वारा तथ्यो का सग्रह, विश्लेषण और वर्गीकरण करते हैं, 'क्या है' का वर्णन करते हैं, 'कैसे' का उत्तर देते हैं, और 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा" की ओर सकेत करते है।

इतना तो निश्चित है कि मानवशास्त्र एक विज्ञान है, परन्तु यह प्राकृतिक विज्ञान है या सामाजिक विज्ञान, इसका भी स्पष्टीकरण यहाँ हो जाना आवश्यक है। इस विषय मे भी दो विरोधी मत हैं। एक ओर सर्वश्री फोर्टेज़ (Fortes), नैडल (Nadel) आदि के मतानुसार मानवशास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है और मानव-समाजो का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानो मे प्रयोग की जाने वाली पद्धतियो द्वारा करता है। मानवशास्त्र का वास्तविक कार्य भिन्न-भिन्न सस्कृतियो के सम्बन्ध मे लम्बे-चौडे विवरण प्रस्तुत करना नही, अपितु इन सस्कृतियो से सम्बन्धित समस्त घटनाओ तथा तथ्यो के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मानव-समाजो के उद्भव, विकास, कार्य तथा परिवर्तन के सम्बन्ध मे सामाजिक नियमो (social laws) का पता लगाना है। उक्त विद्वानो का मत है कि सामाजिक जीवन मे अनेक नियमावस्थाएँ (regularities) हैं जिन पर कि समय के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं होता। दूसरे शब्दों मे, सामाजिक जीवन की अनेक घटनाएँ कुछ निश्चित नियमानुसार होती हैं और इन नियमो (laws) का पता अवलोकन तथा तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसी प्रकार लगाया जा सकता है जैसे कि प्राकृतिक विज्ञानो मे प्राकृतिक नियमो

(natural laws) का पता लगाया जाता है। श्री फोर्टेज (Fortes) के मतानुसार यह सब इसलिये सम्भव है क्योंकि मनुष्य प्रकृति का ही एक अग है।

इस विचार-धारा के विरोध मे सर्वश्री क्रोबर (Kroeber), विडने (Bidney), इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) आदि कुछ दूसरे विचारक हैं जिनका मत है कि मानव-जीवन का केवल एक प्राकृतिक या शारीरिक और मानसिक (organic-cum-psychic) स्तर ही नही होता वल्कि एक सामाजिक स्तर भी होता है। मानव समाज सौर-मण्डल (solar system) की भाँति केवल एक प्राकृतिक व्यवस्था नही है, यह तो मानवीय या सामाजिक सम्बन्धो की एक व्यवस्था है। वास्तव मे समाज उन मानवीय सामाजिक अन्त सम्बन्धो (interrelations) का सम्पूर्ण क्षेत्र है जो एक समूह के व्यक्तियो के बीच पाया जाता है और जो उन्हे एक व्यवस्था के अन्तर्गत सगठित, नियन्त्रित तथा स्थिर रखता है। ये सामाजिक अन्त सम्बन्ध अनेक ऐतिहासिक घटनाओ, तथा सामाजिक आवश्यकताओ के फलस्वरूप उत्पन्न, स्थिर तथा परिवर्तित होते रहते है। अत समाज एक सामाजिक व्यवस्था है न कि प्राकृतिक। उसी प्रकार मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी हैं और चूकि मानवशास्त्र इसी मानव तथा उसके समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है, इस कारण इसकी गणना सामाजिक विज्ञानो (social sciences or humanities) मे होनी चाहिए।

वास्तव मे, जैसा कि हम आगे विस्तारपूर्वक पढेंगे, मानवशास्त्र के दो प्रमुख भाग, जो क्रमश मनुष्य और उसकी सस्कृति के अध्ययन से सम्बन्धित हैं, (१) शारीरिक मानवशास्त्र, और (२) सास्कृतिक मानवशास्त्र हैं। इनमे से शारीरिक मानवशास्त्र मानव की उत्पत्ति, उद्विकास, शारीरिक वनावट, भिन्नताओ आदि का अध्ययन है। इसके लिए इस विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानो की पद्धतियो पर अत्यधिक निर्भर रहना होता है। अत स्पष्ट है कि मानवशास्त्र का यह भाग—शारीरिक मानवशास्त्र—अध्ययन—वस्तु तथा पद्धति की दृष्टि से प्राकृतिक विज्ञानो के अधिक निकट है। परन्तु दूसरा भाग—सास्कृतिक मानवशास्त्र—जो कि मानव समाज तथा उसकी सस्कृति से सम्बद्ध है, सामाजिक विज्ञानो के अधिक निकट है। इस प्रकार मानवशास्त्र प्राकृतिक तथा सामाजिक दोनो ही प्रकार का विज्ञान है।

सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञान के रूप मे मानवशास्त्र (क) मानव के शरीर तथा सस्कृति से सम्बन्धित तथ्यो का ठीक-ठीक वर्णन करता है, (ख) तथ्यो और घटनाओ का उचित विश्लेषण एव वर्गीकरण करके सामान्य परिणाम निकालता है, (ग) परिवर्तन और प्रक्रियाओ के कारणो तथा दिशाओ को निश्चित करता है, तथा (घ) भविष्य मे होने वाले परिवर्तनो की ओर सकेत करता है। ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युगो के सभी मनुष्यो के ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक नियमो को प्रतिपादित करना इस विज्ञान का विशेष उद्देश्य है।[5A]

5A. Jacobs and Stern, *op cit*, pp 4—5

मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
(Subject-matter and scope of Anthropology)

समस्त जीवधारियो मे मनुष्य का स्थान सर्वोच्च है। मनुष्यो और पशुओ मे कुछ शारीरिक समानताएँ अवश्य ही हैं, परन्तु भिन्नताएँ अधिक हैं। इन शारीरिक भिन्नताओ के कारण ही प्राणी-जगत् मे केवल मनुष्य ही दो पैरो के बल सीधे चल सकता है, हाथो को विभिन्न कार्यों मे लगा सकता है, बोल सकता है, सोच-विचार और कल्पना कर सकता है, याद रख सकता है और भविष्य के सम्बन्ध मे अनुमान भी लगा सकता है। परन्तु प्राणी-जगत् मे केवल मनुष्य ही एकमात्र सामाजिक प्राणी नही है, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोडे तक के अपने-अपने समाज होते हैं। यह तो मानव की सस्कृति है जो उसे पशुओ से पूर्ण-तया पृथक् करती है। सास्कृतिक क्षेत्र मे मनुष्यो की विलक्षणताएँ या अनोखापन वास्तव मे सुस्पष्ट है। सास्कृतिक विकास के निम्नतम स्तर पर भी मनुष्य कुछ न कुछ औजारो तथा अन्य भौतिक वस्तुओ, भोजन प्राप्त करने की प्रविधियो (techniques), किसी न किसी रूप मे श्रम-विभाजन, सामाजिक तथा राजनैतिक सगठन, धर्म तथा सस्कार, विचार विनिमय के लिये भाषा आदि का अधिकारी रहा है। दूसरे शब्दो मे, आदिम तम मानव-समाज मे सस्कृति का जो स्वरूप था वह उन्नत-तम पशु-समाज मे भी नितान्त दुर्लभ है। इन समस्त विभिन्नताओ का अध्ययन मानवशास्त्र के अन्तर्गत होता है।

इस प्रकार, पशु और मानव मे अनेक शारीरिक, मानसिक तथा सास्कृतिक भेद हैं। परन्तु ये अन्तर केवल पशु और मानव मे ही नही हैं, स्वय मानव के विभिन्न समूहो या प्रजातियो मे भी अनेक शारीरिक तथा सास्कृतिक भेद पाये जाते हैं। मनुष्य-विज्ञान के प्रारम्भिक विद्वान एक प्रजाति को दूसरी से प्राय भाषा, धर्म, राष्ट्र आदि के आधार पर पृथक् करते थे। परन्तु मानवशास्त्रियो के वैज्ञानिक अध्ययन से यह क्रमश स्पष्ट होता गया कि राष्ट्र, धर्म, भाषा, सस्कृति—ये सब प्रजाति से सम्बन्धित नही हैं और इनको प्रजाति से सम्बन्धित करना वास्तव मे वैज्ञानिक तथ्यो की अवहेलना करना है। आज जितनी भी प्रजातियाँ और उप-प्रजातियाँ भूमण्डल पर रह रही हैं, वे सभी एक ही जाति (*Homo sapiens*) की सदस्य हैं और उन्हे कुछ सामान्य शारीरिक लक्षणो के आधार पर एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। ये शारीरिक भिन्नताएँ अनुकूलन (adaptation), उत्परिवर्तन (mutation), पृथक्करण (isolation), स्थान परिवर्तन (migration) आदि प्रक्रियाओ के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। मानवशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य-जाति की इन विभिन्न प्रजातियो की उत्पत्ति, वितरण तथा विशेषताओ का तुल-नात्मक अध्ययन होता है।

अत मानवशास्त्र का सम्बन्ध प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज के मानव से है क्योकि मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय समग्र रूप मे मानव (mankind as a whole) है। स्थान और समय के विना किसी सीमा के मनुष्य मे जो कुछ भी शारीरिक या प्राणी-शास्त्रीय, सामाजिक और सास्कृतिक तत्व हैं, वे सभी मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय हैं। मानव पशु से धीरे-धीरे मनुष्य मे किस प्रकार विकसित हुआ, इस उद्विकास मे उसकी शरीर-

रचना मे कौन-कौन से परिवर्तन हुए हैं और इन परिवर्तनो के फलस्वरूप विभिन्न मानव प्रजातियो का उद्भव किस प्रकार सम्भव हुआ है, ये सभी विषय मानवशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्राणी-जगत् मे मनुष्य की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि वह न केवल एक सामाजिक प्राणी है वल्कि सस्कृति का एकमात्र सृष्टिकर्त्ता भी है। चूँकि मानवशास्त्र सस्कृति का निर्माण करने वाले इस मानव का अध्ययन है इस कारण इसका (मानवशास्त्र का) अध्ययन-विषय न केवल मानव-समूहो की शरीर-रचना प्रजातीय भिन्नता आदि ही है, बलिक विभिन्न सस्कृतियो के विकास, समानताओ और विभिन्नताओ का विश्लेषण तथा वर्गीकरण भी मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र मे आ जाता है। इस प्रकार मानवशास्त्र एक ओर मानव की उत्पत्ति, प्राचीन तथा आधुनिक मानव प्रजाति के शारीरिक लक्षणो की समानताओ तथा भिन्नताओ का विश्लेषण करता है, और दूसरी ओर विभिन्न मानव-समाजो तथा सस्कृतियो—भाषा, साहित्य, धर्म, ज्ञान, विश्वास, कला, प्रथा, परम्परा, विवाह, राजनैतिक तथा आर्थिक सस्थाओ आदि—की उत्पत्ति और उद्विकास का भी अध्ययन करता है।

इस प्रकार मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय को हम दो प्रमुख भागो मे बाँट सकते हैं—

(१) मानव-समूहो या विभिन्न प्रजातियो की शरीर-रचना सम्बन्धी विषयो का अध्ययन मानवशास्त्र का प्रथम और प्रमुख अध्ययन-विषय है। इसके अन्तर्गत न केवल सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक मनुष्य की शारीरिक बनावट मे किस-किस प्रकार के अन्तर उत्पन्न हुए, इसका ही अध्ययन किया जाता है बल्कि मानव की उन समस्त शारीरिक विशेषताओ का भी अध्ययन किया जाता है जो कि मानव को पशु-जगत से पृथक् करते हैं जैसे, मनुष्य मे दो पैरो पर खडे होकर चल सकने योग्य पीठ की हड्डी, हाथ से दक्षतापूर्वक काम करने की क्षमता, वडा और जटिल मस्तिष्क आदि। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रजातियो की उत्पत्ति, विस्तार तथा वर्गीकरण भी मानवशास्त्र का एक प्रमुख अध्ययन-विषय है। मानवशास्त्र मानव की प्रजातियो के विभिन्न स्वरूपो का तुलनात्मक अध्ययन करता है। एक प्रजाति की दूसरी प्रजाति से उनकी खोपडी और नाक की बनावट, कद, रक्त-समूह (blood group) खोपडी का घनत्व, हाथ-पैर की लम्बाई, शरीर का रग, आँखो का रग, वाल, होठ, जवडो का ढाँचा आदि के आधार पर पृथक् किया जाता है। इन शारीरिक लक्षणो (traits) की नाप आदि करके विभिन्न प्रजातियो के शारीरिक भेदो को सिद्ध करना मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय का एक प्रमुख अग है।

(२) मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय का दूसरा क्षेत्र समस्त सस्थागत (institutionalised) व्यवहारो, आदतो और क्षमताओ का है जिसके द्वारा मनुष्यो और प्रकृति मे तथा मनुष्य और मनुष्य या समूह मे अनुकूलन सम्भव होता है। इसके अन्तर्गत उन समस्त आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक सगठनो और सस्थाओ का समावेश है, जो कि मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायक हैं। मानवशास्त्र विभिन्न आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक सस्थाओ (ज्ञान, विश्वास, प्रथा,

धर्म, जादू, ललित कला, सरकार, न्याय, विवाह, परिवार आदि) के उद्भव तथा उद्-विकास का अध्ययन करता है। सामाजिक तथा सास्कृतिक उद्विकास के विभिन्न स्तरो (stage) एव सम्कृति की समानताओ और विभिन्नताओ के अध्ययन मे विशेष रुचि रखते हैं। आदि कालीन अर्थ-व्यवस्था, आविष्कार, परिवार, विवाह, नातेदारी, भाषा, विज्ञान तथा प्राविधिक ज्ञान, विधान, न्याय तथा शासन-पद्धति, कला, साहित्य, सगीत, नृत्य, धर्म तथा जादू आदि समस्त विषयो का अध्ययन मानवशास्त्र के अन्तर्गत होता है जिसमे हमे इस बात का ज्ञान हो सके कि उक्त सस्थाओ का आदिकालीन रूप क्या था और किस प्रकार धीरे-धीरे उनका विकास होता-होता वर्तमान काल तक पहुँचा है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत मनुष्य-जाति के शरीर, समाज तथा सस्कृति से सम्बन्धित समस्त विषयो का समावेश है। साथ ही, मानवशास्त्र का अध्ययन किसी विशेष समय या समाज तक ही सीमित नहीं है—इसके अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत भूतकाल तथा वर्तमान, आदिकालीन तथा सभ्य मानव व समाज दोनो ही आ जाते हैं। मानवशास्त्र मानव का विज्ञान है, चाहे वह मानव आदि-कालीन हो या सभ्य युग का, चाहे वह मानव चीनी या जापानी या भारती या अफ्रीकन या अमेरिकन किसी भी समाज का सदस्य क्यो न हो। इस प्रकार मानव-समाज के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान काल तक मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक उद्-विकास के विभिन्न पक्ष मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र मे आते हैं। विभिन्न प्रजाति, समाज तथा सस्कृति का विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। मानवशास्त्री तुलनात्मक अध्ययन विशेषकर आधुनिक समूहो तथा सभ्यताओ के अध्ययन मे करते हैं। सास्कृतिक क्षेत्र मे मानव शास्त्रियो का ध्यान दुनिया के विभिन्न स्थानो पर बसे हुए मानव-समूहो की सास्कृतिक समानताओ तथा भिन्नताओ पर होता है। इन समस्त समानताओ तथा भिन्नताओ का विश्लेषण और वर्गीकरण करते हुए मानवशास्त्री उन नियमो या सिद्धान्तो को ढूँढ निकालने का प्रयत्न करते हैं जो कि मानव-समाजो तथा सस्कृतियो के उद्भव तथा विकास मे निर्णायक है। अत **मानवशास्त्र एक साथ शरीरधारी मानव तथा सामाजिक व सास्कृतिक मानव दोनो का ही विज्ञान है।**

मानवशास्त्रीय विज्ञान
(The Anthropological Sciences)

उपर्युक्त विवेचना के निष्कर्ष को यदि दोहराया जाय तो हम कह सकते हैं कि मानवशास्त्र समग्र रूप मे मानव के शारीरिक, सामाजिक एव सास्कृतिक उद्भव, विकास एव वितरण का वैज्ञानिक अध्ययन है। अन्य कोई भी विज्ञान इतने विस्तृत तथा समग्र रूप मे मानव का अध्ययन नही करता है। इस अर्थ मे मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र अन्य किसी भी विज्ञान से कही अधिक विस्तृत है क्योकि मानवशास्त्र का सम्पर्क सभी युग और सभी समाज से है। इस विस्तृत क्षेत्र का उचित तथा वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करने के लिए श्रम-विभाजन होना परम आवश्यक है। इस उद्देश्य से मानव के शारीरिक, सामा-जिक तथा सास्कृतिक उद्भव तथा विकास के विभिन्न पक्ष का अध्ययन करने के लिए

पृथक् पृथक् मानवशास्त्रीय विज्ञानो का विकास हुआ है। ये मानवशास्त्रीय विज्ञान मानवशास्त्र के पृथक् परन्तु परस्पर सम्बन्धित शाखाएँ या उपभाग हैं और इनमे से प्रत्येक उपभाग मानव के उपरोक्त अध्ययन के किसी एक पक्ष से विशेष सम्बन्ध रखता है। सर्वश्री जैकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने मानवशास्त्र के निम्नलिखित पाँच प्रमुख उपभागो का उल्लेख किया है[6]—

(१) मानव का उद्विकास या प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थि-पंजर का अध्ययन (Human Evolution, or the Study of Fossil Man)

(२) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)

(३) पुरातत्वशास्त्र या प्राग-इतिहास (Archaeology or Prehistory)

(४) सास्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)

(५) वैज्ञानिक भाषा-विज्ञान (Scientific Linguistics)

श्री पिडिंगटन (Piddington) ने मानवशास्त्रीय विज्ञानो को निम्न प्रकार से विभाजित किया है[7]—

(१) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)

(२) सास्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)

(क) प्रागैतिहासिक पुरातत्व (Prehistoric Archaeology)

(ख) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार मानवशास्त्रीय विज्ञान निम्न हैं[8]—

(१) शरीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)

(अ) मानव-मिति (Anthropometry)

(ब) मानव प्राणीशास्त्र (Human Biology)

(२) पुरातत्वशास्त्र (Archaeology)

(३) सास्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)

(क) प्रजातिशास्त्र (Ethnology)

(ख) भाषा-विज्ञान (Linguistics)

(ग) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)

श्री लिन्टन (Linton) ने मानवशास्त्रीय विज्ञानो का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है[9]—

(१) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)

(अ) पुरातन मानवशास्त्र (Human Paleontology)

(ब) मानव-शरीरशास्त्र (Somatology)

---

6 Jacobs and Stern *op cit*, p 1

7 Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952 p 2

8 E A Hoebel *op cit*, pp 4—10

9 Linton *The Study of Man* Appleton—Century, 1936 p 8

धर्म, जादू, ललित कला, सरकार, न्याय, विवाह, परिवार आदि) के उद्भव तथा उद्-विकास का अध्ययन करता है। सामाजिक तथा सास्कृतिक उद्विकास के विभिन्न स्तरो (stage) एव सस्कृति की समानताओ और विभिन्नताओ के अध्ययन मे विशेष रुचि रखते हैं। आदि कालीन अर्थ-व्यवस्था, आविष्कार, परिवार, विवाह, नातेदारी, भाषा, विज्ञान तथा प्राविधिक ज्ञान, विधान, न्याय तथा शासन-पद्धति, कला, साहित्य, सगीत, नृत्य, धर्म तथा जादू आदि समस्त विषयो का अध्ययन मानवशास्त्र के अन्तर्गत होता है जिससे हमे इस बात का ज्ञान हो सके कि उक्त सस्थाओ का आदिकालीन रूप क्या था और किस प्रकार धीरे-धीरे उनका विकास होता-होता वर्तमान काल तक पहुँचा है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत मनुष्य-जाति के शरीर, समाज तथा सस्कृति से सम्बन्धित समस्त विषयो का समावेश है। साथ ही, मानवशास्त्र का अध्ययन किसी विशेष समय या समाज तक ही सीमित नही है —इसके अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत भूतकाल तथा वर्तमान, आदिकालीन तथा सभ्य मानव व समाज दोनो ही आ जाते हैं। मानवशास्त्र मानव का विज्ञान है, चाहे वह मानव आदि-कालीन हो या सभ्य युग का, चाहे वह मानव चीनी या जापानी या भारती या अफ्रीकन या अमेरिकन किसी भी समाज का सदस्य क्यो न हो। इस प्रकार मानव-समाज के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान काल तक मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक उद्-विकास के विभिन्न पक्ष मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र मे आते हैं। विभिन्न प्रजाति, समाज तथा सस्कृति का विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। मानवशास्त्री तुलनात्मक अध्ययन विशेषकर आधुनिक समूहो तथा सभ्यताओ के अध्ययन मे करते हैं। सास्कृतिक क्षेत्र मे मानव शास्त्रियो का ध्यान दुनिया के विभिन्न स्थानो पर बसे हुए मानव-समूहो की सास्कृतिक समानताओ तथा भिन्नताओ पर होता है। इन समस्त समानताओ तथा भिन्नताओ का विश्लेषण और वर्गीकरण करते हुए मानवशास्त्री उन नियमो या सिद्धान्तो को ढूंढ निकालने का प्रयत्न करते हैं जो कि मानव-समाजो तथा सस्कृतियो के उद्भव तथा विकास मे निर्णायक है। अत **मानवशास्त्र एक साथ शरीरधारी मानव तथा सामाजिक व सांस्कृतिक मानव दोनों का ही विज्ञान है।**

मानवशास्त्रीय विज्ञान
(The Anthropological Sciences)

उपर्युक्त विवेचना के निष्कर्ष को यदि दोहराया जाय तो हम कह सकते हैं कि मानवशास्त्र समग्र रूप मे मानव के शारीरिक, सामाजिक एव सास्कृतिक उद्भव, विकास एवं वितरण का वैज्ञानिक अध्ययन है। अन्य कोई भी विज्ञान इतने विस्तृत तथा समग्र रूप मे मानव का अध्ययन नही करता है। इस अर्थ मे मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र अन्य किसी भी विज्ञान से कही अधिक विस्तृत है क्योकि मानवशास्त्र का सम्पर्क सभी युग और सभी समाज से है। इस विस्तृत क्षेत्र का उचित तथा वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करने के **लिए श्रम-विभाजन** होना परम आवश्यक है। इस उद्देश्य से मानव के शारीरिक, सामा-**जिक तथा सांस्कृतिक** उद्भव तथा विकास के विभिन्न पक्ष का अध्ययन करने के लिए

पृथक् पृथक् मानवशास्त्रीय विज्ञानो का विकास हुआ है। ये मानवशास्त्रीय विज्ञान मानव-शास्त्र के पृथक् परन्तु परस्पर सम्बन्धित शाखाएँ या उपभाग हैं और इनमे से प्रत्येक उप-भाग मानव के उपरोक्त अध्ययन के किसी एक पक्ष से विशेष सम्बन्ध रखता है। सर्वश्री जैकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने मानवशास्त्र के निम्नलिखित पाँच प्रमुख उपभागो का उल्लेख किया है[6]—

(१) मानव का उद्विकास या प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थि-पजर का अध्ययन (Human Evolution, or the Study of Fossil Man)

(२) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)

(३) पुरातत्वशास्त्र या प्राग-इतिहास (Archaeology or Prehistory)

(४) सास्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)

(५) वैज्ञानिक भाषा-विज्ञान (Scientific Linguistics)

श्री पिडिंगटन (Piddington) ने मानवशास्त्रीय विज्ञानो को निम्न प्रकार से विभाजित किया है[7]—

(१) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)

(२) सास्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)

(क) प्रागैतिहासिक पुरातत्व (Prehistoric Archaeology)

(ख) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार मानवशास्त्रीय विज्ञान निम्न हैं[8]—

(१) शरीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)

(अ) मानव-मिति (Anthropometry)

(ब) मानव प्राणीशास्त्र (Human Biology)

(२) पुरातत्वशास्त्र (Archaeology)

(३) सास्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)

(क) प्रजातिशास्त्र (Ethnology)

(ख) भाषा-विज्ञान (Linguistics)

(ग) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)

श्री लिन्टन (Linton) ने मानवशास्त्रीय विज्ञानो का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है[9]—

(१) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)

(अ) पुरातन मानवशास्त्र (Human Paleontology)

(ब) मानव-शरीरशास्त्र (Somatology)

---

6 Jacobs and Stern, *op cit*, p 1

7 Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p 2

8 E A Hoebel, *op cit*, pp 4—10

9 Linton, *The Study of Man*, Appleton—Century, 1936, p 8

(२) सास्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)

(क) पुरातत्वशास्त्र (Archeology)

(ख) प्रजातिशास्त्र (Ethnology)

(ग) भाषा-विज्ञान (Linguistics)

मानवशास्त्र के क्षेत्र तथा अध्ययन-विषय को भली-भाति समझने के लिए उपर्युक्त मानवशास्त्रीय विज्ञानो मे से प्रमुख-प्रमुख विज्ञानो के विषय मे सक्षेप में जान लेना आवश्यक होगा।

(१) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)

शारीरिक मानवशास्त्र मानव के उद्विकास, शारीरिक बनावट, ढाँचा, प्रकृति तथा भिन्नताओ का वैज्ञानिक अध्ययन है। सक्षेप मे, शरीरिक मानवशास्त्र मानव के शारीरिक पक्ष का अध्ययन करता है। किन-किन स्तरो मे से गुज़र कर मनुष्य पशु जगत् से पृथक् हो गया और फिर प्रथम मनुष्य होने के समय से वर्तमान समय तक उसके शारीरिक लक्षणो मे कौन-कौन से परिवर्तन हुए, इन समस्त विषयो का अध्ययन शारीरिक मानवशास्त्र करता है। साथ ही, शारीरिक मानवशास्त्र भूमण्डल के विभिन्न भागो मे बिखरे हुए मानव-समूहो मे जो शारीरिक भिन्नताएँ हैं उनका भी अध्ययन करता है और उनके शारीरिक लक्षणो के आधार पर उनका विभिन्न प्रजातीय-समूह मे वर्गीकरण करता है। इसीलिए श्री जे० एस० उईनर (J S Weiner) ने शारीरिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को दो प्रमुख भागो मे विभाजित किया है—(अ) उद्विकासीय प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न मानव का अध्ययन, और (ब) मानव जनसख्या का अध्ययन तथा विश्लेषण।[10] प्रथम विषय के अध्ययन के लिये शारीरिक मानवशास्त्रियो को सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक जो मनुष्य के शारीरिक परिवर्तन हुए हैं उनपर ध्यान केन्द्रित करना पडता है। वे ससार मे आदि मानव की खोज करते हैं और उसके शारीरिक लक्षणो से परवर्ती युग के मनुष्य के शारीरिक लक्षणो का तुलनात्मक अध्ययन करके उद्विकासीय प्रक्रिया की दिशा निर्धारित करते हैं। इस प्रकार हमे यह ज्ञात होता है कि किन-किन शारीरिक लक्षणो के उत्पन्न तथा विस्तार होने पर मनुष्य पशु-जगत् से पृथक् हो गया या किन-किन शारीरिक लक्षणो के क्रमश· लोप हो जाने पर मनुष्य पशु नही रह गया। इस अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत शारीरिक मानवशास्त्र साधारणतया निम्न प्रश्नो का उत्तर देता है—कहाँ और कब आदिमतम मनुष्यो का आविर्भाव हुआ ? ये लोग देखने मे किस प्रकार के थे और इनमे परस्पर कौन-कौन-सी समानताएँ या भिन्नताएँ थीं ? मानव-उद्भव से लेकर अब तक उनके शारीरिक विशेषताओ मे किस प्रकार परिवर्तन हुए हैं ?[11]

---

10 J S Weiner, "Physical Anthropology—An Appraisal", *American Scientist* Vol. 45, 1957, pp 79—87

11 Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co, New York, 1959, p 8

द्वितीय विषय अर्थात् मानव जनसख्या के अध्ययन तथा विश्लेषण मे शारीरिक मानवशास्त्र शारीरिक विशेषताओ के आधार पर विभिन्न मानव-समूहो मे अन्तर या भेद को स्पष्ट करता है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि ससार के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रो मे बिखरे हुए समस्त जीवित मानव-समूहो की उत्पत्ति एक ही मनुष्य-जाति, मेधावी मानव (*Homo sapiens*) से हुई है, परन्तु उत्परिवर्तन, पृथक्करण, अनुकूलन, स्थान-परिवर्तन आदि के कारण विभिन्न मानव-समूहो या प्रजातियो मे अनेक शारीरिक भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई है। इन्ही शारीरिक भिन्नताओ का पता लगाना तथा उन्ही के आधार पर प्रजातीय-समूहो का वैज्ञानिक वर्गीकरण करना शारीरिक मानवशास्त्र का एक विशिष्ट विषय है। इस प्रकार के प्रजातीय वर्गीकरण करने के लिए शारीरिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत मानव के निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक लक्षण जैसे कद, खोपडी का माप, रक्त समूहो का विश्लेषण, खोपडी का घनत्व, नासिका का माप, हाथ-पैर की लम्बाई, वक्ष-स्थल की परिधि, त्वचा, आँख और केश के रग, होठ, जबडो का ढाँचा आदि का अध्ययन होता है।

इस प्रकार शारीरिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न विषयो का समावेश होता है—(क) मानव उद्विकास का इतिहास, (ख) मनुष्यो और पशुओ मे अन्तर, (ग) विभिन्न मानव-प्रजातियो मे भेद के शारीरिक आधार, (घ) वशानुसक्रमण (heredity), उत्परिवर्तन (mutation) आदि की प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा शारीरिक विशेषताएँ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या एक समूह से दूसरे समूह को हस्तान्तरित होते है और इन शारीरिक विशेषताओ मे अन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, (ङ) मानव की शारीरिक भिन्नताओ के अन्य आधार या कारक। इसके अतिरिक्त शारीरिक मानवशास्त्र ऐसे प्रश्नो का भी उत्तर देने का प्रयत्न करता है जैसे, क्या प्रजातियो मे उच्चता या निम्नता का प्रश्न उचित है, इसका वास्तविक आधार क्या है? क्या शारीरिक लक्षणो मे अन्तर पर्यावरण (environment) के कारण भी उत्पन्न होते हैं? विभिन्न मानव-समूहो मे प्रजातीय-मिश्रण प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से उचित है या नही? बुद्धि को प्रजातीय वर्गीकरण का आधार क्यो नही मानना चाहिए अथवा वर्तमान समय मे शुद्ध प्रजाति की धारणा क्यो अवैज्ञानिक है?

अत स्पष्ट है कि शारीरिक मानवशास्त्र मे मनुष्यजाति के उद्भव तथा विकास एव शारीरिक विशेषताओ से सम्बन्धित समस्त विषयो का अध्ययन किया जाता है। और भी सक्षेप मे, श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "शारीरिक मानवशास्त्र मानव-जीव (hominids) की शारीरिक विशेषताओ का अध्ययन है।"[12] इस विस्तृत क्षेत्र मे अध्ययन कार्य को अधिक वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिये शारीरिक मानवशास्त्र स्वय भी कुछ उपशाखाओ अर्थात् सहायक-विज्ञानो मे विभाजित है। इन सहायक विज्ञानो मे प्रमुख निम्नलिखित हैं—

---

12 "Physical anthropology is the study of the Physical characteristics of the *hominids*", E A Hoebel, *op cit*, p 4

(अ) मानव उत्पत्तिशास्त्र (Human Genetics)—यह वह विज्ञान है जो मानव की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अध्ययन करता है। इसका विशेष सम्बन्ध मानव वशानुसक्रामण से होता है। सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया के अन्तर्गत वाहकाणु (genes) मे जो परिवर्तन होते हैं और उसके फलस्वरूप मनुष्य के शारीरिक लक्षणो मे जो भिन्नता आ जाती है इन समस्त विषयो का अध्ययन मानव उत्पतिशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। दो भिन्न समूहो मे यौन-सम्बन्ध (crossing) स्थापित हो जाने के फलस्वरूप जो वर्णसकर सन्तानो की उत्पत्ति होती है उससे एक नवीन प्रजाति-समूह की रचना हो जाती है। इस प्रक्रिया के अतिरिक्त उत्परिवर्तन (mutation) वाहकाणुओ की आकस्मिक हानि (accidental loss of genes), प्रवरण की प्रक्रिया आदि भी मानव उत्पत्तिशास्त्र का अध्ययन-विषय है। सक्षेप मे, मानव उत्पत्तिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत वशानुसक्रमण की प्रक्रियाएँ, वशानुसक्रमण मे परिवर्तन की विधियाँ तथा शारीरिक अनुकूलन की प्रक्रियाएँ आती है।[13]

(ब) पुरातन मानवशास्त्र (Human Polaeontology)—शारीरिक मानवशास्त्र की एक प्रमुख उपशाखा पुरातन मानवशास्त्र है जो कि प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थि-पजर तथा उनके अवशेषो (fossils remains) के अध्ययन तथा विश्लेषण द्वारा इस सत्य की खोज करती है कि मनुष्य के शारीरिक ढाँचे मे क्यो, कैसे, कब और कहाँ पशुओ से भिन्नता उत्पन्न हो गई। इस प्रकार के अस्थि-पजरो के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मानव उद्‌विकास का प्रारम्भिक स्वरूप क्या था और सम्भावित कितने वर्ष पहले बन्दर तथा मनुष्य मे स्पष्ट अन्तर उत्पन्न हो गये थे। इस प्रकार प्राचीन मानव के उद्‌विकास का अध्ययन सम्भव हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार के प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थि-पजरो को ढूंढ निकालना अत्यन्त कठिन है और अब तक बहुत ही कम प्राप्त हो पाए हैं, फिर भी इस उपाय से प्राचीन-मानव के विषय मे अर्थात बन्दर आदि से मानव के उद्‌विकास के सम्बन्ध मे कुछ प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त की गई है।

(स) मानव मिति (Anthropometry)—यह मानव के शारीरिक लक्षणो को नापने का विज्ञान है। इस विज्ञान मे मानव-शरीर के विभिन्न अगो जैसे, खोपडी, नाक आदि को नापने के लिए पृथक्-पृथक् देशना (Index) निश्चित हैं जिनकी सहायता से इन अगो को अको मे अभिव्यक्त करना सम्भव हो गया है। उदाहरणार्थ, सिर की चौडाई से सिर की लम्बाई का भाग देकर १०० से गुणा करने पर शीर्षदेशना (Caphalic-Index) निकल आती है। इसी देशना के अनुसार सिर तीन प्रकार के बताये जाते हैं— लम्बे सिर, माध्यमिक सिर और चौडा सिर। इसी प्रकार नासिका देशना (Nasal-Index) भी निकाली जाती है। ये सब शारीरिक लक्षण ही विभिन्न मानव प्रजातियो के तुलनात्मक अध्ययन के आधार हैं। दूसरे शब्दो मे, मानव-मिति की सहायता से हम विभिन्न मानव समूहो के शारीरिक लक्षणो को नापते हैं और उसी नाप के आधार पर एक मानव समूह को दूसरे समूह से पृथक् करते हैं। मानव-मिति मे मनुष्य के निश्चित तथा अनिश्चित दोनो ही प्रकार के शारीरिक लक्षणो का समावेश होता है। निश्चित

13. Beals and Hoijer, *op cit*, p 9

शारीरिक लक्षण वे हैं जिन्हे निश्चित रूप से नापा जा सकता है जैसे सिर, नाक, कद आदि का नाप। इसके विपरीत अनिश्चित शारीरिक लक्षण वे है जिन्हे निश्चित रूप से नही नापा जा सकता है जैसे शरीर का रग, बालो की बनावट, नेत्र का रग आदि। फिर भी मानव-मिति मानवशास्त्र की यथार्थता (exactness) प्रदान करने मे काफी सहायक सिद्ध हुई है।

(२) सांस्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मनुष्य और पशुओ मे कुछ शारीरिक समानताएँ होते हुए भी भिन्नताएँ अधिक है। दो पैरो के बल सीधे चल सकना, हाथो से विभिन्न कार्यो को करने की शक्ति, भाषा, अधिक विस्तृत तथा जटिल मस्तिष्क जिसके कारण विचारने, कल्पना करने तथा याद रखने की शक्ति का होना आदि मनुष्यो को पशुओ से पृथक् करता है। ये सभी शारीरिक विशेषताएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित है और इनके कारण ही मनुष्य यंत्र तथा औज़ारो का आविष्कार कर उन्हे बना सका है, रहने के लिये आवास का निर्माण कर सका है, खाने के लिये धरती पर अनाज उपजा सका है, ज्ञान, निर्माण-कला, धर्म, विश्वास, रीति-रिवाज, कला, साहित्य, सस्थाएँ, सामाजिक सगठन तथा अन्य ऐसी क्षमताओ और आदतो को विकसित एव स्थापित कर सका है। इनके द्वारा मनुष्यो की प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति और पर्यावरण से उनका अनुकूलन सम्भव हुआ है। इस प्रकार सस्कृति सम्पूर्ण पर्यावरण का वह भाग है जो मनुष्यो द्वारा बनाई गई है और जो कि वशानुसक्रमण की प्रक्रिया के द्वारा नही बल्कि मानवीय अन्त-क्रियाओ द्वारा हस्तान्तरित (transmitted) होती रहती है। समस्त जीवधारियो मे केवल मानव ही एकमात्र सस्कृति का सृष्टिकर्त्ता है और कुछ शारीरिक समानता होने पर भी मानव की सस्कृति ही उसे पशु-जगत् से पूर्णतया पृथक कर देती है। सास्कृतिक मानवशास्त्र इसी सस्कृति का अध्ययन है। इस विज्ञान का उद्देश्य मानव के सास्कृतिक विकास एव व्यवहार के विभिन्न पक्ष का अध्ययन तथा विभिन्न मानव-समूहो की सास्कृतिक जीवन मे भिन्नताओ के कारण का विश्लेषण तथा वर्णन करना है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइज़र (Beals & Hoijer) के शब्दो मे, "सस्कृतिक मानवशास्त्र मानव सस्कृतिओ की उत्पत्ति तथ इतिहास, उनका उद्‌विकास एव विकास और प्रत्येक स्थान तथा काल मे मानव सस्कृतियो के ढाँचे एव कार्यो का अध्ययन करता है।"[14] इस प्रकार सास्कृतिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत मानव सस्कृतियो की समस्त वास्तविकताएँ आ जाती है, चाहे वह सस्कृति आदिकालीन सस्कृति हो या किसी सभ्य समाज की। सस्कृतियो की उत्पत्ति, उनका विकास तथा विस्तार किस प्रकार होता है। सस्कृति के द्वारा मानव का अनुकूलन अपने प्राकृतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो से किस प्रकार सम्भव होता है, समय के बीतने के साथ-साथ तथा अन्य सस्कृतियो के सम्पर्क मे आने पर सास्कृतिक परिवर्तन किस प्रकार

14 "Cultural anthropology studies the origin and history of man's cultures, their evolution and development, and the structure and functioning of human cultures in every place and time" *Ibid*, p 9

होता है, किस प्रकार एक सस्कृति मे जन्म लेने के पश्चात् व्यक्ति धीरे-धीरे अपनी सस्कृति के साँचे मे ढलता चला जाता है और किस ढग से मनुष्य की यह सामाजिक विरासत (social heritage) एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तातरित होती रहती है, इन समस्त विषयो मे सास्कृतिक मानवशास्त्र विशेष रुचि रखता है । अत स्पष्ट है कि मानव के आविष्कार, निर्माण-कला, धर्म, विश्वास, रीति रिवाज, कला, साहित्य, सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक सगठन एव सस्थाएँ तथा इन सब के अन्तर्निहित नियमो (Laws) आदि सभी का अध्ययन सास्कृतिक मानवशास्त्र के विषय-क्षेत्र मे है ।

इस प्रकार सास्कृतिक मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसीलिए यह विज्ञान प्रमुख रूप से चार उप-विज्ञानो मे विभाजित है—पुरातत्वशास्त्र (archeology), प्रजातिशास्त्र (ethnology), भाषा-विज्ञान (linguistic) तथा सामाजिक मानवशास्त्र (social anthropology)। इनमे से प्रत्येक का अपना-अपना अध्ययन-विषय है जिनका कि अध्ययन वे अपनी-अपनी विशिष्ट अध्ययन-प्रणाली द्वारा करते हैं । यहाँ सक्षेप मे उक्त चार विज्ञानो के विषय मे जान लेना उचित होगा ।

(क) **पुरातत्वशास्त्र** (Archeology) प्राय एक शताब्दी पुराना पुरातत्वशास्त्र का शाब्दिक अर्थ है प्राचीन का अध्ययन (Archeology=Gr *archaios* ancient+*logia* study) । अधिक स्पष्ट रूप मे कहा जा सकता है कि पुरातत्वशास्त्र खुदाइओ (excavation) से प्राप्त ककालीय (skeletal) तथा अन्य भौतिक अवशेषो के आधार पर प्राचीन मानव तथा उसकी सस्कृति की उत्पत्ति, उत्थान और/अथवा पतन का अध्ययन है । सकुचित अर्थ मे पुरातत्वशास्त्र का अध्ययन-विषय मानव की हस्तकला (handicraft) के अवशेष हैं। परन्तु वास्तव मे, जैसा कि श्री नेल्सन (Nelson) का मत है, "पुरातत्वशास्त्र मनुष्य तथा उसकी सस्कृति की उत्पत्ति, प्राचीन अवस्था तथा विकास से सम्बन्धित समस्त भौतिक अवशेषो का अध्ययन है ।"[15] सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि "पुरातत्वशास्त्र या प्राग-इतिहास प्राथमिक रूप मे प्राचीन सस्कृतियो तथा आधुनिक सभ्यताओ के भूतकालीन अवस्थाओ का अध्ययन है ।"[16] इस विज्ञान का प्राथमिक सम्पर्क उस युग के मानव, समाज तथा सस्कृति से होता है जिसके सम्बन्ध मे कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नही है। इस कारण इसकी खोज का एकमात्र आधार खुदाइयो से प्राप्त भौतिक अवशेष ही होते है। इस प्रकार प्राप्त प्रागैतिहासिक औजारो, उपकरणो तथा मानव कलाकृति के अन्य अवशेषो का जब अध्ययन होता है तो मानव इतिहास की प्रक्रियाओ, सामाजिक जीवन, सस्कृति आदि अनेक विषयो पर प्रकाश पडता है तथा उससे प्राचीन सामाजिक जीवन की सामान्य विशेषताओ का वैज्ञानिक और इसलिए निर्भर योग्य ज्ञान प्राप्त होता है । उदाहरणार्थ, सन् १९२१ से

15 "Archaeology may be defined as the science devoted to the study of the entire body of tangible relics pertaining to the origin, the antiquity, and the development of man and of his culture" N C Nelson, cf Boas and others, *General Anthropology*, D C Heath and Co , New York, 1938, p 146

16 "Archeology or prehistory deals primarily with ancient cultures and with past phases of modern civilizations" Beals and Hoijer, *op cit* , p 10

पूर्व सिन्धु घाटी की सभ्यता के सम्बन्ध मे हमे कुछ भी ज्ञात न था। परन्तु मोहन जोदडो तथा हडप्पा की जो खुदाई हुई उससे जमीन के नीचे दबे हुए दो शहर तथा अन्य अनेक अवशेष प्राप्त हुए जिनसे कि सिन्धुघाटी की एक प्राचीन सभ्यता पर प्रकाश पडा। इसने, जैसा कि श्री आर० ई० एम० ह्वीलर (R E M Wheeler) ने कहा है, भारतीय सभ्यता के इतिहास को तीन हजार ई० पू० (B C) पीछे फेंक दिया है क्योकि मोहन जोदडो सभ्यता का काल ३२५० और २७५० ई० पू० के बीच निश्चित किया गया है। इसी प्रकार प्राचीन मानव सस्कृति तथा सभ्यता से सम्बन्धित अनेक विषयो का ज्ञान हमे पुरातत्व शास्त्रियो की खोजो से प्राप्त होता है। इनका काम कठिन अवश्य है परन्तु मानव इतिहास तथा सस्कृति के पुर्ननिर्माण मे इनके खोजो का महत्व भी उतना ही अधिक है। जिस युग के सम्बन्ध मे कोई भी लिखित प्रमाण उपलब्ध नही है, उस समय की सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक जीवन के प्रतिमान (pattern) के पुनर्निर्माण मे जमीन से खोदकर निकाले गये प्राचीन औजार, हथियार, मकान तथा अन्य इस प्रकार के भौतिक अवशेष ही एकमात्र साधन हैं। उदाहरणार्थ, यदि केवल तीर-धनुष ही प्राप्त होते हैं तो हम कह सकते है कि उस युग मे लोग शिकार करने की स्थिति (Hunting stage) मे थे। उसी प्रकार जमीन की खुदाई से प्राप्त अवशेषो के आधार पर ही मानव के सास्कृतिक विकास को प्रस्तर-युग (Stone age), ताम्र-युग (Copper age), कास्य-युग (Bronze age) तथा लौह-युग (Iron age) इन चार प्रमुख भागो मे विभाजित किया जाता है। यद्यपि इन अवशेषो के आधार पर निकाले गये निष्कर्षो पर पूर्णतया निर्भर नही रहा जा सकता है, फिर भी प्रागैतिहासिक युगो के मानव, समाज और सस्कृति के सम्बन्ध मे अनेक सम्भावित सत्यो का ज्ञान हमे अवश्य ही होता है।

अत स्पष्ट है कि पुरातत्वशास्त्र का उद्देश्य या लक्ष्य मानव-सस्कृति के इतिहास के सम्बन्ध मे हमारे ज्ञान को अधिकतम विस्तृत करना तथा मानव की प्राचीनतम कृतियो एव सास्कृतिक परिवर्तन के सामान्य नियमो अथवा अन्तर्धाराओ से हमे परिचित कराना है। यह विज्ञान मानव तथा उसकी सस्कृति की उत्पत्ति, उत्थान और/अथवा पतन एव भौगोलिक विवरण के सम्बन्ध मे हमे ज्ञान कराती है और यह भी बताती है कि प्रागैतिहासिक युगो मे प्रमुख मानव-आविष्कार कहाँ और कब हुए तथा वे कैसे ससार के विभिन्न भागो मे फैल गये।"[17] परन्तु चूंकि पुरातत्वशास्त्र के निष्कर्ष जमीन की खुदाइओ से उपलब्ध भौतिक अवशेषो पर आधारित होते हैं, इस कारण इस विज्ञान की सहायता से हमे प्राचीन मानव समाज के केवल भौतिक सस्कृति के सम्बध मे अधिक निश्चित ज्ञान हो पाता है। पुरातत्वशास्त्र हमे प्राचीन मानव के औजार, हथियार, वर्तन, मकान, आभूषण आदि के सम्बन्ध मे तो वता सकता है, किन्तु उनकी अभौतिक सस्कृति जैसे मनोविचार, जीवन-दर्शन, विश्वास, प्रथा, रीति-रिवाज, नियम-कानून आदि के सम्बन्ध मे कुछ भी वताना इस विज्ञान के लिए सम्भव होता है। इन विषयो पर जो कुछ भी थोडा-वहुत बताया जाता है वह पूर्णतया अनुमान पर निर्भर होता है। फिर भी पुरातत्वशास्त्रियो द्वारा उन प्रक्रियाओ तथा अन्तधाराओ के विश्लेपण तथा निरूपण से जिनके द्वारा मानवीय समाजो,

17 N C Nelson, *op cit*, *p* 148

संस्कृतियो तथा सभ्यताओ का क्रम-विकास हुआ है, हमे वर्तमान को समझने तथ भविष्य-वाणी करके भविष्य के मानवीय विकास को नियन्त्रित करने मे पर्याप्त सहायता मिली है।"[18]

(ख) प्रजातिशास्त्र (Ethnology)—कहा जा सकता है कि प्रजातिशास्त्र का कार्यक्षेत्र वही पर प्रारम्भ होता है जहाँ पुरातत्वशास्त्र का कार्यक्षेत्र समाप्त होता है।[19] शाब्दिक रूप से प्रजातिशास्त्र (Ethnology=Gr *ethnos* race, people+*logia* study) का अर्थ है प्रजातियो का अध्ययन। परन्तु यह शाब्दिक अर्थ प्रजातिशास्त्र का वास्तविक परिचय नही है। श्री हॉवल (Hoebel) के शब्दो मे, प्रजातिशास्त्र "प्रजातियो का अध्ययन नही है, यह कार्य तो शारीरिक मानवशास्त्र का है, प्रजातिशास्त्र ससार की सस्कृतियो का अध्ययन है।"[20] सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि प्रजातिशास्त्र सस्कृति का सिद्धात या विज्ञान है।[21] प्रजातिशास्त्री (ethnologist) भूमण्डल मे बिखरी हुई विविध सस्कृतिओ को खोजते, अध्ययन तथा वर्गीकरण करते हैं, चाहे वे सस्कृतियाँ पिछडी जनजातियो (tribes) की हो या सभ्य मानव की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रजातिशास्त्रियो को ससार के प्रत्येक भाग के अनेक प्रजातीय-समूहो के निकट सम्पर्क मे आना पडता है जिससे उनकी सस्कृतियो के विभिन्न स्वरूपो का विश्लेषण, निरूपण तथा तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो सके।

ससार की सस्कृतियो मे अनेक विविधताएँ हैं। उनमे समय तथा समाज के अनुसार भिन्नताएँ दिखाई देती हैं। फिर भी बहुतेरी सस्कृतियो मे, उनके एक-दूसरे से बहुत दूर होने पर भी, अनेक आश्चर्यजनक समानताएँ भी पाई जाती हैं। प्रजातिशास्त्र मानव-समूहो की विविध सस्कृतियो की इन समानताओ तथा भिन्नताओ के अध्ययन मे विशेष रुचि रखता है और इस बात की व्याख्या करता है कि ये समानताएँ तथा विभिन्नताएँ क्यो हैं। हाल मे प्रजातिशास्त्रियो ने सस्कृति का व्यक्तित्व के विकास मे महत्व तथा व्यक्ति का सास्कृतिक विकास या परिवर्तन मे कार्य (role) आदि विषयो पर भी विचार करना प्रारम्भ कर दिया है।

(ग) भाषा-विज्ञान (Linguistic)—मनुष्यो और पशुओ मे एक प्रमुख अन्तर भाषा का ही है। भाषा मानव-सस्कृति का एक महत्वपूर्ण अग होती है। भाषा-विज्ञान मानव की सस्कृति के इसी महत्वपूर्ण अग—भाषा—का वैज्ञानिक अध्ययन है। भाषा-वैज्ञानिको की विशेष रुचि एव भाषा, उसकी उत्पत्ति, विकास एव व्याकरणीय गठन (grammatical structure) मे होती है। वे ससार की प्राय २,७०० भाषाओ मे किन्ही का अध्ययन करते हैं और प्राय विभिन्न भाषाओ के शब्दो, उच्चारणो तथा व्याकरणो का

---

18 *Ibid*, p 148.

19 Beals and Hoijer, *op cit*, p 12

20 Ethnology is "not studies of races, which is the work of physical anthropology, but rather of the cultures of the world." E.A. Hoebel, *op cit*, p. 10

21 Beals and Hoijer, *op cit*, p 12.

तुलनात्मक अध्ययन करते हैं जिससे कि भाषा सम्बन्धी परिवर्तन (linguistic changes) तथा भाषाओ के पारस्परिक सम्बन्धो एव समानताओ के विषय मे कुछ सामान्य निष्कर्ष निकालना सम्भव हो सके।[22] साथ ही भाषा-वैज्ञानिक उन सामाजिक तथा सास्कृतिक कारको को भी निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं जिनके कारण भाषा मे परिवर्तन होते हैं।[23] भाषा-विज्ञान का क्षेत्र केवल उन लोगो की भाषा तक ही सीमित नही हैं जिनके लिखित-साहित्य उपलब्ध हैं। उसकी समान रुचि आदिम लोगो की भाषा मे भी है। अत स्पष्ट है कि भाषा-वैज्ञानिक सभी प्रकार की भाषाओ की उत्पत्ति, विकास व विस्तार का विश्लेषण तथा व्याकरणीय गठन के आधार पर उनका वर्गीकरण करता है और इस प्रकार उनके तुलनात्मक अध्ययन द्वारा विभिन्न भाषाओ की सामान्य विशेषताओ को एव मानव-समाज मे विशेषकर सस्कृति और सभ्यता के विकास मे भाषा के महत्त्व को खोज निकालना है। इस प्रकार मानव की सस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण अग का वैज्ञानिक ज्ञान हमे भाषा-विज्ञान से होता है। इसीलिए इसे सास्कृतिक मानवशास्त्र का एक प्रमुख उप-विज्ञान मानना ही उचित होगा, किन्तु इसका क्षेत्र इतना महत्त्वपूर्ण है कि मानवशास्त्र के अन्य उप-विज्ञानो की अपेक्षा भाषा-विज्ञान अधिक स्वतत्र तथा स्वय पूर्ण है।

(घ) **सामाजिक मानवशास्त्र** (Social Anthropology) :—बहुधा सामाजिक मानवशास्त्र और सास्कृतिक मानवशास्त्र मे कोई भेद समझा नही जाता है। परन्तु दोनो को एक समझना उचित न होगा। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सास्कृतिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय मानव की सम्पूर्ण सस्कृति है। इस प्रकार इसका क्षेत्र अधिक व्यापक है। सामाजिक मानवशास्त्र उसकी एक शाखा मात्र है क्योकि इसके अन्तर्गत केवल सस्थागत (institutionalized) सामाजिक व्यवहार, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक सगठन, न्याय-व्यवस्था आदि आते है। यह सम्पूर्ण सस्कृति का अध्ययन नही है। अगले अध्याय मे हम इस विज्ञान के सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

उपर्युक्त विवेचना से मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सम्पूर्ण मानव है। यह मानव आदिम सास्कृतिक स्तर पर हो या सभ्य समाज का सदस्य, अफ्रीका के जगली प्रदेश का निवासी हो या अमेरिका के आधुनिकतम नगर का, ऐतिहासिक युग का हो या प्रागैतिहासिक युग का—समस्त काल तथा स्थान के मानव का अध्ययन मानवशास्त्र है। सास्कृतिक स्तर, देश एव काल की सीमाओ से बाध्य न होकर मानव-जाति के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास एव व्यवहार के विभिन्न पक्ष इस विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र मे आते हैं। अति सक्षेप मे, **मानव द्वारा मानव का सम्पूर्ण व वैज्ञानिक अध्ययन मानवशास्त्र है।**

मानवशास्त्र तथा अन्य विज्ञान
(Anthropology and other Sciences)

मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि विज्ञान के रूप मे मानवशास्त्र ने अपने अध्ययन-कार्य को दो दिशाओ मे प्रसारित किया

22 Jacobs and Stern, *op cit*, p 3
23 *Ibid*, p 3

है—(क) जीवधारी के रूप मे मानव का अध्ययन, और (ख) सास्कृतिक तथा सामाजिक प्राणी के रूप मे मानव का अध्ययन। प्रथम भाग शारीरिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विपय है और द्वितीय भाग सास्कृतिक मानवशास्त्र का। जीवधारी के रूप मे मानव के अध्ययन मे प्राणीशास्त्रीय (biological) या शारीरिक विपयो की प्रधानता होती है। इस कारण मानवशास्त्र का यह भाग—शारीरिक मानवशास्त्र—प्राकृतिक विज्ञानो के अधिकतम निकट है। इसके विपरीत सास्कृतिक तथा सामाजिक प्राणी के रूप मे मानव एक 'विशिष्ट' प्राणी है और अनेक ऐसे गुणो अथवा विशेषताओ का अधिकारी है जो कि अन्य जीव-धारियो मे नही या बहुत कम दिखाई देता है। इन सामाजिक तथा सास्कृतिक विशेपताओ, तथ्यो या घटनाओं के अध्ययन से सम्बद्ध होने के कारण मानवशास्त्र का घनिष्ट सम्वन्ध सामाजिक विज्ञानो से भी है। इस प्रकार मानवशास्त्र एक ओर प्राकृतिक विज्ञानो से और दूसरी ओर सामाजिक विज्ञानो से सम्वन्धित है।

अनेक प्राकृतिक विज्ञानो से मानवशास्त्र का सम्बन्ध इस कारण है कि उन विज्ञानो की सहायता के बिना मानवशास्त्र का विकास ही सम्भव न था। उदाहरणार्थ, मानव-शास्त्र की एक उपशाखा पुरातन मानवशास्त्र (Human Palaeontology) मे प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थिपजरो के अध्ययन से मानव की जो आयु निश्चित की जाती है, वह तबतक सम्भव न होती जब तक इस कार्य मे चट्टानों की आयु निश्चित करने में भूतत्वशास्त्र (geology) की सहायता न प्राप्त होती। भूतत्वशास्त्री चट्टानो की जो आयु निश्चित करते हैं, प्रस्तरीकृत मानव की भी वही आयु मान ली जाती है। उसी प्रकार मानव के शारीरिक उद्विकास, बनावट, विशेषता आदि का अध्ययन करने मे मानवशास्त्र को प्राणीशास्त्र पर अत्यधिक निर्भर रहना पडता है।

मानवशास्त्र तथा प्राणीशास्त्र
(Anthropology and Biology)

प्रारम्भ से ही मानवशास्त्र का प्राणीशास्त्र से अत्यधिक घनिष्ट सम्पर्क रहा है। इस प्रारम्भिक दशा मे श्री डार्विन के जीवोद्विकास (organic evolution) के सिद्धात का प्रभाव मानवशास्त्र पर इतना स्पष्ट था कि कुछ लोग इसे (मानवशास्त्र को) डार्विन का बच्चा (the child of Darwin) कहने लगे। यद्यपि यह मानवशास्त्र की उचित व्याख्या नही है, फिर भी शारीरिक मानवशास्त्र और प्राणीशास्त्र के घनिष्ट सम्पर्क को अस्वीकार भी नही किया जा सकता। शारीरिक मानवशास्त्र मानव के शरीर से सम्वन्धित समस्त विपयो का अध्ययन करता है जो कि प्राणीशास्त्र का केन्द्रीय विपय है। मानव की उत्पत्ति, विकास, वशानुक्रमण की प्रक्रिया आदि समस्त विपयो का ज्ञान मानवशास्त्री को प्राणीशास्त्र से ही प्राप्त होता है। इसीलिए मानवशास्त्री को प्राणीशास्त्र के सामान्य सिद्धातो को ग्रहण करना होता है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने तो यहाँ तक कहा है कि एक अर्थ मे शारीरिक मानवशास्त्री केवल एक प्राणीशास्त्री ही है जो कि अपना ध्यान मानव पर केन्द्रित करता है।

केवल शारीरिक मानवशास्त्र का ही नही सास्कृतिक मानवशात्र का भी प्राणी-

शास्त्र से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। यद्यपि सास्कृतिक मानवशास्त्र मे अब मानव की उद्‌विकासीय धारणाओ का प्रयोग नही किया जाता है। तथापि मानव के सास्कृतिक पक्ष के अध्ययन करने के लिए उसके प्राणीशास्त्रीय पक्ष का अध्ययन आवश्यक है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के शब्दो मे "सस्कृति एक प्राणीशास्त्रीय घटना (Phenomenon) से कही अधिक है, परन्तु प्रत्येक समाज स्पष्टत अपनी सस्कृति के द्वारा ही मनुष्य की प्राणीशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है और उसी साधना के द्वारा कभी-कभी प्राणीशास्त्रीय कारको (factors) की क्रियाशीलता मे भी अति गम्भीर परिवर्तन कर सकता है। सस्कृति तथा मानव-प्राणीशास्त्र का अध्ययन नियमित रूप से परस्पर सम्बन्धित है।"[24]

अत. स्पष्ट है कि मानवशास्त्र तथा प्राणीशास्त्र दोनो का ही विषय मानव होने के कारण ये दो विज्ञान परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। फिर भी इनमे आधारभूत अन्तर यह है कि प्राणीशास्त्र का एकमात्र सम्पर्क मानव के प्राणीशास्त्रीय पक्ष से होता है जब कि मानवशास्त्र का सम्पर्क मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक सभी पक्षो से होता है। प्राणीशास्त्रियो की भाति मानवशास्त्रियो की दृष्टि मे मानव केवल एक जीवधारी ही नही अपितु एक सामाजिक तथा सास्कृतिक प्राणी भी है। इस प्रकार प्राणीशास्त्र मानव के एक विशिष्ट पक्ष का अध्ययन है जबकि मानवशास्त्र सम्पूर्ण मानव का।

मानवशास्त्र तथा भूतत्वशास्त्र
(Anthropology and Geology)

मानवशास्त्र का वह भाग जो कि मनुष्य तथा उसकी सस्कृति की उत्पत्ति, प्राचीन अवस्था तथा विकास से सम्बन्धित समस्त भौतिक अवशेषो का अध्ययन करता है, भूतत्वशास्त्र से अत्यधिक घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। प्राचीन मानव-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए मानवशास्त्रियो को प्रस्तरीकृत मानव अस्थि-पजर और उनके अवशेष पर ही निर्भर रहना पडता है तथा प्रागैतिहासिक युगो के इन अवशेषो मे मानव तथा उसकी सस्कृति के क्रमिक विकास के अलिखित इतिहास को पढने का प्रयत्न किया जाता है। इस कार्य मे एकमात्र भूतत्वशास्त्र ही उसे वैज्ञानिक ढग से सहायता कर सकता है। उदाहरणार्थ, प्रस्तरीकृत अवशेषो की आयु उस स्तर पर पाए गए चट्टान की आयु के आधार पर निश्चित की जाती है और चट्टानो की आयु भूतत्वशास्त्र के नियमो से पता चल जाती है। अत स्पष्ट है कि भूतत्वशास्त्र एक ओर शारीरिक मानवशास्त्र की एक प्रमुख उपशाखा पुरातन मानवशास्त्र से तथा दूसरी ओर सास्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा पुरातत्वशास्त्र (Archeology) से अत्यधिक घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। भूतत्वशास्त्र की सहायता से मानव के प्राचीन अस्थि-पजरो का अध्ययन करके शारीरिक मानवशास्त्री जहाँ एक ओर मानव

---

24 "Culture is more than a biological phenomenon, but every society apparently attempts, through its culture, to provide satisfactions for the basic biological and psychological necessities of man, and, in some cases at least it may, through the same means, profoundly modify the operation of biological factors The study of culture and the study of human biology are constantly interrelated" Beals and Hoijer, *op cit*, p 18

की उत्पत्ति तथा उद्विकास पर प्रकाश डालते हैं, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन मानव के सस्कृति से सम्बन्धित वस्तुओ, औजारो, उपकरणो आदि के अध्ययन द्वारा मानवीय सस्कृति के भौतिक पक्ष के क्रमिक विकास एव प्रगति के सम्बन्ध मे अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं।

भूतत्वशास्त्र पर मानवशास्त्र की अत्यधिक निर्भरता होते हुए भी इन दो शास्त्रो मे प्रमुख अन्तर यह है कि भूतत्वशास्त्र भूगर्भ मे छिपे हुए तत्त्वो का विशेष अध्ययन है, जब कि मानवशास्त्र प्रस्तरीकृत मानव का ही नही अपितु जमीन के ऊपर जीवित मानव का भी सम्पूर्ण अध्ययन है। प्रथम का केन्द्रीय विषय भूगर्भ है और द्वितीय का स्वय मानव। भूतत्वशास्त्र सम्पूर्ण रूप से प्राकृतिक विज्ञान है जब कि मानवशास्त्र प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञान दोनो ही है।

मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र
(Anthropology and Sociology)

शायद अन्य किसी विज्ञान का सम्बन्ध मानवशास्त्र से उतना घनिष्ट नही है जितना कि समाजशास्त्र का, और कभी-कभी तो इन दोनो विज्ञानो मे भेद करना भी कठिन हो जाता है। शायद इसीलिए श्री क्रोबर (Kroeber) ने इन्हे जुडवा बहने (twin sisters) कहा है। जैसा कि अब तक की विवेचना से स्पष्ट है, मानवशास्त्र मनुष्य और उसकी सस्कृति और सभ्यता का अध्ययन है। समाजशास्त्र का भी बहुत कुछ सम्बन्ध इनसे होने के कारण मानवशास्त्र और समाजशास्त्र का सम्बन्ध भी अत्यन्त घनिष्ट हो गया है। यह सम्बन्ध सामाजिक या सास्कृतिक मानवशास्त्र से और भी निकट है। आज सस्कृति की धारणा का प्रयोग समाजशास्त्रियो मे अत्यन्त व्यापक रूप मे होता है जिसके सम्बन्ध मे आधारभूत ज्ञान उन्हें मानवशास्त्र से ही प्राप्त होता है। आदिम मानव तथा उनकी सस्कृति—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सस्थाएँ—व्यवस्था और सगठन बहुत सादे, सरल और छोटे होते हैं जिनका अध्ययन मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। इन अध्ययनो से प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर समाजशास्त्रियो को आधुनिक, जटिल और विशाल समाजो को समझने और उनके विश्लेषण एव विवेचना मे अत्यधिक सहायता मिली है। दूसरी ओर समाजशास्त्रियो द्वारा आधुनिक समाजो के अध्ययनो से प्राप्त ज्ञान ने आदिम समाजो के अध्ययन के लिए मानवशास्त्रियो को अनेक उपकल्पनाएँ प्रदान की हैं। श्री नैडेल (Nadel) ने लिखा है कि व्यावहारिक समाजशास्त्री को भाँति मानवशास्त्री प्रधानत एक क्षेत्र-कार्यकर्त्ता (field worker) है, तथापि अपने प्रथम सिद्धान्तो (First Principles) की खोज मे वह सैद्धान्तिक समाजशास्त्री के भी घनिष्ट सम्पर्क मे आता है।[25] अत स्पष्ट है कि इन दोनो विज्ञानो मे अत्यधिक आदान-प्रदान (reciprocal) का सम्बन्ध है। इसी कारण श्री हॉबल (Hoebel) का मत है कि विस्तृत

25 "Like the practical sociologist, the anthropologist is primarily a field-worker, yet having to search for his own First Principles (as I put it), he rubs shoulders with the theoretical sociologist" S F Nadel, *The Foundations of Social Anthropology*, Cohen & West Ltd, London, 1953, p 9

अर्थों मे इन दोनो विज्ञानो को समान और एक मानना ही उचित होगा।

अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी इन दो विज्ञानो मे कुछ अन्तर है। प्रथम अन्तर यह है कि समाजशास्त्र का सम्पर्क आधुनिक सभ्य समाज के अध्ययन से है, जब कि मानवशास्त्र का ध्यान मूलतः आदिम समाज पर ही केन्द्रित रहता है, यद्यपि अब इस प्रकार की कोई सीमा निर्धारित नही है कि मानवशास्त्री आधुनिक समाजो का अध्ययन करते ही नही हैं। वास्तव मे आधुनिक समाजो से सबन्धित अनेको अध्ययन मानवशास्त्रियो ने किये हैं और कर रहे हैं। दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि आदिम और सभ्य समाज के अध्ययन मे भी इन दो विज्ञानो का विषय-क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। आदिम समाजो के अध्ययन मे मानवशास्त्री न केवल उसके सामाजिक सगठन का अध्ययन करते है अपितु उनके आर्थिक सगठन, धर्म, सरकार, भाषा, प्रथा, परम्परा, कला आदि सभी विषयो का अध्ययन करते हैं, जब कि समाजशास्त्र केवल सामाजिक ढाँचे, सामाजिक सगठन और सामाजिक अन्तःक्रियाओ के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखता है। तीसरा प्रमुख अन्तर दृष्टिकोण का है। श्री क्लूखौन (Kluckhohn) के शब्दो मे, "समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण व्यावहारिक तथा वर्तमान की ओर उन्मुख है और मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण विशुद्ध ज्ञान, और भूत की की ओर परिव्याप्त है।"[26] अन्तिम अन्तर इन दो विज्ञानो की अध्ययन-पद्धति का है। मानवशास्त्री को अपने अध्ययन मे अधिकतर अशग्रहण अवलोकन-पद्धति (Participant observation method) पर निर्भर रहना पडता है, अर्थात् मानवशास्त्री जिस समाज का अध्ययन करता है उसमे जाकर बस जाता है क्योकि आदिम समाजो के तथ्यो का लिखित प्रलेख (documents) आदि उपलब्ध नही हो पाता है। इसके विपरीत समाजशास्त्रीय अन्वेषण या अध्ययन मे प्रलेखो तथा साख्यिकीय आँकडो का पर्याप्त उपयोग होता है। सक्षेप मे, समाजशास्त्र का विशेष सम्पर्क समाज से होता है जब कि मानवशास्त्र का सम्पर्क मानव तथा उसकी सस्कृति से होता है।

मानवशास्त्र तथा इतिहास
(Anthropology and History)

एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप मे मानवशास्त्र का विकास उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे हुआ। इसके पूर्व यह विज्ञान सामान्यत इतिहास का एक अग माना जाता था। आज मानवशास्त्र इतिहास नही है, इतिहास से कुछ अधिक है, फिर भी इन दोनो मे अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। श्री राइट (Wright) के शब्दो मे, "इतिहास वास्तव मे घटित होने वाली घटनाओ की विधि के पुनर्निर्माण का अध्ययन है और उन घटनाओ का मनुष्य जाति की कहानी मे क्या महत्त्व है उसका मूल्याकन करने का प्रयत्न करता है।"[27] दूसरे शब्दो मे, अब इतिहास 'क्या था' का ही अध्ययन नही है, 'कैसे हुआ' का भी विश्लेषण

---

26 "The sociological attitude has tended towards the practical and present, the anthropology towards pure understanding and the past" C Kluckhohn, *Mirror For Man*, 1950, p 269

27 "History deals with reconstruction of the way in which events have actually occurred and seems to estimate the importance of those events in the story of mankind" F J Wright, *The Elements of Sociology*, p 52

और विवेचन है। आधुनिक इतिहास केवल महत्त्वपूर्ण अतीत (the significant past) का एक क्रमबद्ध वर्णन मात्र नही है, वल्कि उसी के आधार पर मानव-जीवन की धारा को समझने का प्रयत्न भी हैं। फलत आज इतिहास मानव-जीवन के और मानवशास्त्र के उत्तरोत्तर निकट आता जा रहा है। इतिहास मानव के अतीत काल के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सस्थाओ एव अन्य मानवीय कृतियो तथा कार्यो का जो अध्ययन तथा विश्लेपण करता है उससे मानवशास्त्रीय अध्ययन तथा निरूपण मे पर्याप्त सहायता मिलती है। सस्कृति या समाज कोई तात्कालिक या क्षणिक घटनाएँ (phenomena) नही हैं जो एक दिन मे वनती या विगडती हो। ये तो अतीत के अनेक युगो की मानवीय अन्त क्रियाओ के फलस्वरूप ही वनती हैं। इस अतीत (past) को उचित रूप से समझे विना वर्तमान को समझना और भविष्य को निहारना कदापि सम्भव नही। इसी से इतिहास और मानवशास्त्र का सम्वन्ध स्पष्ट हो जाता है क्योकि मानवशास्त्र का सम्पर्क केवल अतीत मानव तथा उसके कार्यों से ही नही है, वल्कि वर्तमान मानव और उसके कायो से भी वह समान रूप मे सम्वन्धित है।

दूसरी ओर मानवशास्त्र की एक उपशाखा पुरातत्वशास्त्र (Archaeology) इतिहास के अध्ययन-कार्य मे अत्यन्त सहायक है। पुरातत्वशास्त्र मानव के इतिहास को उन अन्धकारमय युगो तक ले जाता है जिनके सम्वन्व मे हमे कोई लिखित प्रमाण नही मिल सका है। इस प्रकार प्राचीनतम मानव-सस्कृति तथा सभ्यता से सम्वन्धित अनेक विषयो का ज्ञान हमे पुरातत्वशास्त्रियो की खोज से प्राप्त होता है और मानव तथा उसकी सस्कृति के क्रमिक विकास एव प्रगति के सम्वन्ध मे अनेक निश्चित निष्कर्ष निकालना भी सम्भव होता है। ये सभी ज्ञान व निष्कर्ष इतिहास के लिए अति महत्त्वपूर्ण होते हैं। क्योकि इन्ही के आधार पर इतिहासकार ऐतिहासिक युग के 'मानव की कहानी' का क्रमवद्ध वर्णन तथा उसका मूल्याकन करता है।

फिर भी, जैसा कि श्री नैडेल (Nadel) का कथन है, मानवशास्त्र इतिहास नही है।[28] इन दोनो शास्त्रो का अध्ययन-क्षेत्र, दृष्टिकोण तथा पद्धतियाँ पर्याप्त भिन्न हैं। इतिहास समान्यत अतीत की "विशिष्ट घटनाओ के क्रमो का वर्णन है", जव कि मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत मनुष्य-जाति के जन्म से लेकर वर्तमान काल तक मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक पक्षो के उद्भव, विकास तथा प्रगति आती है। दूसरे, ऐतिहासिक दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण अतीत की ओर उन्मुख होता है, जव कि मानवशास्त्र का सम्पर्क किसी विशेष युग या काल से नही होता है। यह तो अतीत तथा वर्तमान दोनो में ही निवास करने वाले मानव का सम्पूर्ण अध्ययन है। साथ ही, इतिहास की भाति केवल विशिष्ट घटनाओ का वर्णन तथा विश्लेषण ही नही सर्वदेशीय तथा सर्वकालीन सामाजिक नियमो का प्रतिपादन मानवशास्त्र का विशेप उद्देश्य है।

मानवशास्त्र और मनोविज्ञान
(Anthropology and Psychology)

मानवशास्त्र और मनोविज्ञान का पारस्परिक सम्वन्ध भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

28 S F Nadel, *op cit*, p 11

अति सक्षेप मे मनोविज्ञान मानव-स्वभाव व मानसिक प्रक्रियाओ का विज्ञान है, और मानव स्वभाव का प्रभाव मानव के समस्त सामाजिक तथा सास्कृतिक कार्यों पर अति गम्भीर रूप मे पडता है। दूसरे शब्दो मे, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान दोनो ही मानवीय व्यवहारो या कार्यों से अत्यधिक सम्बन्धित है। श्री सेलिगमैन (Seligman) का तो यह मत है कि मानवशास्त्र को मानव का वैज्ञानिक अध्ययन तभी कहा जा सकता है और इसे एक विज्ञान के रूप मे तभी सम्मानित किया जा सकता है जब कि वह अधिक से अधिक मानव-स्वभाव का प्रामाणिक अध्ययन करे। श्री लिन्टन (Linton) ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि व्यक्ति का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है, समाज का अध्ययन करना समाजशास्त्र का कार्य है और सस्कृति का अध्ययन मानवशास्त्र के अन्तर्गत आता है। परन्तु यदि वास्तव मे देखा जाय तो यह सुस्पष्ट है कि व्यक्ति, समाज तथा सस्कृति का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ट है और वे एक-दूसरे से इतना अधिक प्रभावित होते हैं तथा एक-दूसरे को इतना अधिक प्रभावित करते हैं कि उनका स्वतन्त्र अध्ययन एक अर्थ मे असभव है। यदि कोई भी विद्वान इनमे से किसी भी एक विषय का अध्ययन करना चाहे तो दूसरे विषयो का सहयोग लिये बिना वह आगे नही बढ सकेगा। श्री लिन्टन आशा करते हैं कि सम्भवत धीरे-धीरे एक ऐसे विज्ञान का विकास हो जाय जिसके द्वारा समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान की समस्त खोजो को अपनाकर मानव-स्वभाव सम्बन्धी कुछ सर्वमान्य तथ्यो को प्रस्तुत किया जा सके।

अत स्पष्ट है कि वैयक्तिक व्यवहार के आधारभूत तथ्यो को समझे बिना मानव के सामाजिक तथा सास्कृतिक कार्यों को समझना सम्भव नही। इस कारण व्यक्ति के व्यवहार के आधारभूत तथ्यो को समझने के लिए मानवशास्त्र को मनोविज्ञान पर निर्भर रहना पडता है। उसी प्रकार किसी भी व्यक्ति के व्यवहार को उसकी सास्कृतिक तथा राष्ट्रीय व सामाजिक पृष्ठभूमि को जाने बिना समझ सकना अत्यन्त कठिन है। अत मनोविज्ञान को व्यक्ति की सास्कृतिक, राष्ट्रीय व सामाजिक पृष्ठभूमि भलीभाति समझने के लिए मानवशास्त्र का सहारा लेना ही होगा।

फिर भी उक्त दो विज्ञानो मे कुछ प्रमुख अन्तर है। मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय प्रधानत वैयक्तिक व्यवहार है, जब कि मानवशास्त्र समूह व्यवहार मे विशेष रुचि रखता है। दूसरे, मनोविज्ञान मानव-जीवन के केवल मानसिक पक्ष का अध्ययन है, जब कि मानवशास्त्र मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक पक्षो का एक समग्र अध्ययन है। इसके अतिरिक्त इन दो विज्ञानो की अध्ययन-पद्धति, दृष्टिकोण आदि मे भी पर्याप्त अन्तर है।

मानवशास्त्र तथा भूगोल
(Anthropology and Geography)

मोटे तौर पर भूगोल प्राकृतिक दशाओ तथा ऐहिक (cosmic) घटनाओ का विज्ञान है। परन्तु आज भूगोल धरातल, जलवायु, खनिज पदार्थ या उपज का ही कोरा वर्णन नही है बल्कि इन सबका मानव-जीवन पर क्या प्रभाव है इसकी भी विवेचना है। इसीलिए कहा

गया है कि "भूगोल प्राकृतिक निर्जीव तत्त्वो तथा सजीव तत्त्वो के सिद्धान्त और क्रियाओ के पारस्परिक सम्बन्धो का विज्ञान है।" उक्त सजीव तत्त्वो मे सबसे प्रमुख मानव और उसकी क्रियाएँ है। इसी कारण भूगोल की एक नई शाखा 'मानव-भूगोल' (Human Geography) विकसित हुई है जिससे मानवशास्त्र और भूगोल का सम्बन्ध और भी घनिष्ट हो गया है।

मनुष्य की सभ्यता और सस्कृति का विकास और विनाश, उसका स्वास्थ्य, जनसख्या का वितरण, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एव धार्मिक सस्थाओ पर भौगोलिक दशाओ का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार से ही प्रभाव पडता है। चूँकि मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत उक्त सभी विषय सम्मिलित है, इस कारण इनके विषय मे जानकारी के लिए मानवशास्त्र को भूगोल और विशेषकर मानव-भूगोल का सहारा लेना पडता है। दूसरी ओर मानवशास्त्र भूगोल को मानव तथा उसकी सस्कृति के सम्बन्ध मे अनेक आवश्यक ज्ञान करवा कर उसे (भूगोल को) एक व्यावहारिक स्तर पर लाकर समाज के लिए उपयोगी बनाता है। श्री फोर्ड (Forde) ने उचित ही कहा है कि वह भूगोलशास्त्री जो कि उस स्थान के, जिसका कि वह अध्ययन कर रहा है, सस्कृति से परिचित नही है, भौगोलिक कारको के वास्तविक महत्त्व को, मानव क्रिया के मूल स्रोत की विवेचना मे, आँक नही सकता। मानव-भूगोल मे सामाजिक विज्ञानो के सम्बन्ध मे उतने ही ज्ञान की आवश्यकता है जितना कि भूगोल के सम्बन्ध मे।[29]

इन दोनो विज्ञानो मे पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ट होते हुए भी इसमे सबसे बडा अन्तर इन दोनो की अध्ययन वस्तुओ का है। भूगोल प्राकृतिक दशाओ और ऐहिक घटनाओ का विज्ञान है जब कि मानवशास्त्र मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक पक्षो का सम्पूर्ण अध्ययन।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम कुछ सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचते है। सबसे प्रमुख निष्कर्ष तो यह है कि अपनी-अपनी विशेष अध्ययन-वस्तु के आधार पर विभिन्न विज्ञान कार्य कर रहे हैं परन्तु इनकी अध्ययन-वस्तु मे ही ऐसे अनेक विषय है जो एकाधिक विज्ञान मे सामान्य है या दो विज्ञानो की सीमा-रेखा (border line) पर पडते है। ऐसी अवस्था मे इन विभिन्न विज्ञानो को पूर्णतया पृथक् करना सरल नही है। यह बात मानवशास्त्र के सम्बन्ध मे और भी सच है क्योकि यह विज्ञान मानव-जीवन की समस्त विविधताओ—शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक पक्षो को उनकी समग्रता

---

29 "The Geographer who is unversed in the culture of the people of the land he studies will, as soon as he begins to consider the mainsprings of human activity, finds himself groping uncertainly for geographic factors whose significance he cannot truly assess Human geography demands as much knowledge of humanity as of geography" C Daryll Forde, *Habitat, Economy and Society*, E P Dutton, New York, 1950, p 465

मे अध्ययन करने का यत्न करता है। मानव-जीवन को उसकी समग्रता मे देखने के इस प्रयास ने ही मानवशास्त्र को दूसरे विज्ञानो से एक ओर सामाजिक या सास्कृतिक आधार पर और दूसरी ओर पद्धतियो (methods) के आधार पर सम्बन्धित कर दिया है। मानव के शारीरिक पक्ष का अध्ययन करने के लिए एव अपने को यथार्थ विज्ञान की उच्चतर स्थिति मे प्रतिष्ठित करने के लिए मानवशास्त्र अध्ययन-पद्धतियो से सम्बन्धित विषयो मे उत्तरोत्तर प्राकृतिक विज्ञानो की ओर आकर्षित होता है, फिर भी मानव-जीवन के सामाजिक तथा सास्कृतिक पक्षो का अध्ययन मानवशास्त्र को सामाजिक विज्ञानो से दूर जाने से रोकता है। इसी कारण मानवशास्त्र प्राकृतिक विज्ञानो और सामाजिक विज्ञानो दोनो से ही सम्बन्धित है और यह सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढने की ही आशा की जाती है।

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959

2 Boas, *General Anthropology*, D C Heath & Co , New York, 1938

3 Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

4 Jacobs and Stern, *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955

5 Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co , New York, 1948

6 Kluckhohn, *Mirror for Man*, 1950

7. Linton, *The Study of Man*, Appleton-Century, 1936

8 Nadel, *The Foundation of Social Anthropology*, Cohen & West Ltd , London, 1953

9 Penniman, *A Hundred years of Anthropology*, Gerald Duck Worth & Co Ltd , London, 1952

10 Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd , London, 1952

२

सामाजिक मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र

(THE NATURE AND SCOPE OF SOCIAL ANTHROPOLOGY)

विषय-सूची—द्वितीय अध्याय

१ भूमिका
२ सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा
३ सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
४. आदिम समाजों का अध्ययन हम क्यों करते हैं
५ सामाजिक मानवशास्त्र के उद्देश्य
६ सामाजिक मानवशास्त्र तथा अन्य विज्ञान
७ निष्कर्ष

अध्याय २

सामाजिक मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र
(The Nature and Scope of Social Anthropology)

जैसा कि पिछले अध्याय मे ही उल्लेख किया जा चुका है कि बहुधा सामाजिक मानवशास्त्र और सास्कृतिक मानवशास्त्र मे कोई भेद नही समझा जाता है। वास्तव मे ऐसा समझना उचित न होगा क्योकि सास्कृतिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय मानव की सम्पूर्ण सस्कृति है जब कि सामाजिक मानवशास्त्र सास्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा के रूप मे केवल सस्थागत सामाजिक व्यवहार, सामाजिक तथा राजकीय सगठन, परिवार, न्याय-व्यवस्था आदि का अध्ययन करता है। सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण सस्कृति का अध्ययन नही है। फिर भी श्री लूई (Lowie) का मत है कि चूंकि सस्कृति सम्पूर्ण सामाजिक विरासत (social heritage) है इस कारण सस्कृति और समाज परस्पर सम्बन्धित धारणाएँ हैं। समस्त सम्भावित समाजो मे साम्कृतिक तथा मामाजिक मानवशास्त्र एक ही होगा।[1] श्री लेवी स्ट्रॉस (Levi-Strauss) ने इन दो विज्ञानो मे विभाजन-रेखा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मानव को दो प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है—उपकरण-निर्माणकारी प्राणी के रूप मे या सामाजिक प्राणी के रूप मे। अगर आप उसकी उपकरण-निर्माणकारी प्राणी के रूप मे विवेचना कर रहे हैं तो आप उपकरण से प्रारम्भ करते हैं और उपकरण के रूप मे मानते हुए उन सस्थाओ तक पहुँचते हैं जिसके कारण सामाजिक सम्बन्ध सम्भव होता है। यही सास्कृतिक मानवशास्त्र है। अगर आप मनुष्य को सामाजिक प्राणी के रूप मे विचारते हैं तो आप सामाजिक सम्बन्ध से प्रारम्भ करते हैं और उस विधि के रूप मे जिसके द्वारा सामाजिक सम्बन्ध स्थिर रहता है उपकरण तथा सस्कृति तक पहुँचते हैं। यही सामाजिक मानवशास्त्र है। इनमे भेद केवलमात्र दृष्टि-कोण का है और सामाजिक मानवशास्त्र तथा सास्कृतिक मानवशास्त्र की विधि-व्यवस्था

---

1 "Culture being the whole of the social heritage, culture and society are correlative concepts In the best of possible words cultural and social anthropology would be one" Lowie, see *An Appraisal of Anthropology Today*, The University of Chicago Press, Chicago, 1953, p 223

मे कोई गम्भीर अन्तर नही है ।[2] सक्षेप मे, इन दो विज्ञानो के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा न होते हुए भी सामान्यत सास्कृतिक मानवशास्त्र मानव को सस्कृति का एकमात्र निर्माता मानकर उसके आविष्कार, निर्माण-कला, सामाजिक सगठन, सस्थाएँ, साहित्य, कला, धर्म, विचार आदि का अध्ययन और विश्लेषण करता है, जब कि सामाजिक मानवशास्त्र उसी मानव को एक सामाजिक प्राणी मानकर उसके सामाजिक व्यवहारो, सस्थाओ तथा सगठनो का अध्ययन एव निरूपण है ।

सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Social Anthropology)

श्री रैडक्लिफ-ब्राऊन (Radcliffe-Brown) ने सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्र की वह शाखा है जो कि आदिम समाजो का अध्ययन करती है ।"[3] आपके अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओ (social systems) का अध्ययन है । सामाजिक मानवशास्त्र भी इन्ही सामाजिक व्यवस्थाओ का अध्ययन है परन्तु इसका सम्पर्क विशेष रूप से आदिम समाजो से होता है । इससे पूर्व अपने एक लेख मे श्री रैडक्लिफ ब्राऊन ने ही सामाजिक मानवशास्त्र को एक दूसरी तरह से परिभाषित किया था—"सामाजिक मानवशास्त्र विविध प्रकार के समाजो की क्रमबद्ध तुलना द्वारा मानव समाज की प्रकृति के सम्बन्ध मे खोज है ।"[4]

श्री इवान्स प्रिटचार्ड (Evans Pritchard) ने भी लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्रीय अध्ययनो की एक शाखा मानी जा सकती है—वह शाखा जो कि मुख्यत अपने को आदिम समाजो के अध्ययन मे लगाती है ।"[5] आपके अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवहार, सामान्यत सस्थागत स्वरूपो मे जैसे परिवार, नातेदारी व्यवस्था, राजनैतिक सगठन, वैधानिक विधियाँ, धार्मिक विश्वास इत्यादि और इन सस्थाओ मे पारस्परिक सम्बन्धो, का अध्ययन है, यह इन सबका अध्ययन उन समकालीन

---

2 "Man can be defined in two ways as a tool-making animal or as a social animal If you consider him as a tool-making animal, you start with tools and go to institutions as tools which make the social relations possible That is cultural anthropology If you consider him as a social animal, you start with social relations and reach tools and culture, in the wide sense of the term, as the way in which social relations are maintained The difference is exclusively one of point of view, and there is no deep difference between the approach of social anthropology and that of cultural anthropology" Levi-Strauss, *Ibid*, p 224

3 "Social anthropology is that branch of sociology which deals with 'primitive' or pre-literate societies" Radcliffe-Brown, "White's View of a Science of Culture," *American Anthropologist*, Vol 51, No 3, 1949, p 503

4 "Social anthropology is the investigation of the nature of human society by the systematic comparison of societies of diverse kinds" Radcliffe-Brown, *The Development of Social Anthropology*, University of Chicago, 1936, p 1

5 "*Social anthropology can be regarded as a branch of sociological studies*, that branch which chiefly devotes itself to primitive societies" E E Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1954, p 11

या ऐतिहासिक समाजो मे करता है जहाँ इस प्रकार के अध्ययन के लिए आवश्यक पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त हो सके।[6]

श्री नैडेल के अनुसार "सामाजिक मानवशास्त्र 'इतिहास विहीन' समाजो का और 'अपरिचित' प्रकृति की संस्कृतियो का अध्ययन है।"[7] एक परवर्ती लेख मे श्री नैडेल ने यह भी लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य आदिम मनुष्यो को, उनके द्वारा निर्मित संस्कृति को और उस सामाजिक व्यवस्था को, जिनमे वे रहते और कार्य करते है समझना है।"[8] श्री मुरडॉक (Murdock) के विचार मे "सामाजिक मानवशास्त्र सांस्कृतिक मानवशास्त्र की केवल मात्र वह शाखा है जो कि अन्त.वैयक्तिक सम्बन्धो का अध्ययन करती है।"[9]

इस प्रकार हम कह सकते है कि **सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा के रूप मे सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवहार तथा सम्पूर्ण सामाजिक संगठन, व्यवस्था या ढाँचे का वह विज्ञान है जो कि प्रधानतया आदिकालीन समाज तथा मनुष्यो पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।**

सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
(Subject-matter and Scope of Social Anthropology)

उपर्युक्त विद्वानो द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाओ से स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। उदाहरणार्थ, सर्वश्री रेडक्लिफ-ब्राऊन, नैडेल, पिडिंगटन आदि विद्वान सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को निश्चित रूप मे आदिकालीन समाज तथा मनुष्यो तक ही सीमित कर देते हैं, जब कि श्री इवान्स-प्रिटचार्ड के अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र 'मुख्यत' अपने को आदिम समाजो के अध्ययन मे लगाता है। अर्थात् सामाजिक मानवशास्त्र 'केवल' आदिम समाजो के अध्ययन तक ही सीमित है, इस बात से श्री इवान्स-प्रिटचार्ड सहमत नही है, यद्यपि आदिम समाजो का अध्ययन इस विज्ञान का विशेष उद्देश्य है। उसी प्रकार श्री रैडक्लिफ-ब्राऊन के मतानुसार उन समाजो या सामाजिक व्यवस्थाओ का अध्ययन है जिनकी 'समग्र' रूप

---

6 "It studies social behaviour, generally in institutionalized forms, such as the family, kinship system, political organization, legal procedures, religious cults, and the like, and the relations between such institutions, and it studies them either in contemporaneous societies or in historical societies for which there is adequate information of the kind to make such studies feasible" *Ibid*, p 5

7 "The social anthropology examines societies 'without history', and cultures of an 'exotic' nature" S F Nadel, *The Foundation of Social Anthropology*, 1953, p 6

8 "The primary object of social anthropology is to understand primitive peoples, the cultures they have created, and the social systems in which they live and act" S F Nadel, *Understanding Primitive People, Oceania*, Vol XXVI, No 3 1956, p 159

9 "Social anthropology seems to me to be simply the branch of cultural anthropology that deals with interpersonal relationships" Murdock, see *An Appraisal of Anthropology Today*, p 224

मे तुलना की जा सके। दूसरे शब्दो मे, सामाजिक मानवशास्त्र सीमित समाजो या सामाजिक व्यवस्थाओ को अपने अध्ययन का विषय बनाकर सामाजिक जीवन को उसकी समग्रता मे देखने और तुलना करने का यत्न करता है। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड श्री रैडक्लिफ ब्राऊन की भाँति सामाजिक व्यवस्थाओ पर नही, सामाजिक व्यवहार और सामाजिक सस्थाओ को सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत लाते हैं। श्री नैडेल सामाजिक व्यवस्थाओ को सामाजिक मानवशास्त्र का न्यायसगत अध्ययन-विषय मानते हुए भी उपर्युक्त दो विद्वानो से इस अर्थ मे असहमत हैं कि आप सस्कृति को सामाजिक मानवशास्त्र का उचित प्रसग (theme) स्वीकार कर लेते हैं। श्री पिडिंगटन के मतानुसार "सामाजिक मानवशास्त्री समकालीन आदिम समुदायो की सस्कृतियो का अध्ययन करते हैं।"[10]

उपर्युक्त विद्वानो के विभिन्न मतो की यथार्थता को समझने के लिए यह उचित होगा कि हम इस विषय पर ध्यान दें कि सामाजिक मानवशास्त्र वास्तव मे क्या अध्ययन करता है। इसके लिए सर्वप्रथम यह विवेचना करनी होगी कि सामाजिक मानवशास्त्री क्या 'नही' करते हैं। **प्रथम** सामाजिक मानवशास्त्रियो का अध्ययन केवल मात्र आदिम समाजो तक ही सीमित नही होता है। मानवशास्त्री ने देश एव काल की सीमाओ मे अपने को न बाँधते हुए सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो तथा प्रत्येक देश व काल के समाजो का वर्णन तथा विश्लेषण किया है और करते हैं। परन्तु वे अधिकांशत आदिम समाजो के अध्ययन मे अधिक प्रयत्नशील होते हैं क्योकि आदिम समाज छोटे, सरल तथा विभिन्नता-रहित होते हैं और इस कारण ऐसे समाजो का अध्ययन सुविधापूर्वक, सुसगठित एव सुनिश्चित रूप मे किया जा सकता है। इस प्रकार के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान आधुनिक जटिल समाजो के अध्ययन मे अत्यधिक सहायक होता है। **द्वितीय**, सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण सस्कृति का अध्ययन नहीं है। यह कार्य सास्कृतिक मानवशास्त्र का है। इस अर्थ मे सास्कृतिक मानवशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है। सामाजिक मानवशास्त्र उस व्यापक विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा हैं और इस रूप मे केवल सस्थागत सामाजिक व्यवहार सामाजिक सस्थाओ व सगठन तथा व्यवस्थाओ का अध्ययन करता है। **तृतीय**, चूँकि सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण सस्कृति का अध्ययन नही है, इसी कारण वह 'समग्र' (whole) समाज का अध्ययन या तुलना भी नहीं हो सकता है। वास्तव मे ऐसा सम्भव भी नही है। श्री पॉप्पर ने उचित ही कहा है कि "यदि हमे किसी चीज का अध्ययन करना है तो हमे उसके कुछ पहलुओ को चुनना ही होगा। हमारे लिए यह सम्भव नही है कि हम ससार के समग्र भाग को या प्रकृति के समग्र भाग का अवलोकन करें या उसका वर्णन करें क्योकि समस्त वर्णन ही आवश्यक रूप मे निर्वाचनात्मक (selective) होता है।"[11] इस

---

10 "Social anthropologists study the cultures of contemporary primitive communities" Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p 3

11 "If we wish to study a thing, we are bound to select certain aspects of it It is not possible for us to observe or to describe a whole piece of the world, or a whole piece of nature since all description is necessarily selective" K. R Popper, *The poverty of Historicism*, Routledge and Kegan Paul, London, 1957, p 77

प्रकार चुनाव या निर्वाचन के आधार पर सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत, जैसा कि श्री इवान्स-प्रिटचार्ड का मत है, केवल कुछ सस्थागत (institutionalized) व्यवहारो या सस्थाओ जैसे परिवार, नातेदारी व्यवस्था, राजनैतिक सगठन, वैधानिक विधियाँ, धार्मिक विश्वास, आर्थिक सकुल (economic complex) आदि आते हैं। सामाजिक मानवशास्त्र इन्ही को न कि समग्र समाज को, समझने, परिभाषित करने तथा तुलना करने का प्रयत्न करता है। श्री बीटी (Beattie) के शब्दो मे, "सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय सम्पूर्ण समाज या समाजो से अधिक यथार्थ रूप मे सस्थागत सामाजिक सम्बन्ध तथा वे व्यवस्थाएँ है जिनमे ये सम्बन्ध व्यवस्थित रह सकें।"[12]

इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि सामाजिक सम्बन्धो एव व्यवस्थाओ का आधार एक समाज विशेष के सदस्यो की मनोवृत्तियाँ (attitudes) है। **सामाजिक मनोवृत्ति मस्तिष्क की वह चेतन दशा है जो व्यक्ति को एक विशेष प्रकार से सोचने या व्यवहार करने को प्रेरित करती है।**[13] इसी मनोवृत्ति के कारण व्यक्ति एक परिस्थिति या वस्तु के विषय मे सोचता है, उसे विशेष दृष्टि से देखता है और उसका एक विशेष 'अर्थ' (meaning) लगाता है। व्यवहार के सामाजिक महत्त्व को तब तक कदापि समझा नही जा सकता जब तक न उस समाज के सदस्यो के दृष्टिकोण से उसका जो 'अर्थ' होता है उसे यथार्थ रूप मे समझ न लिया जाय। इतना ही नही, इन्ही अर्थों के आधार पर सामाजिक मूल्य (social values) पनपता है। सामाजिक मूल्य वे सामाजिक आदर्श है जो हमारे लिए कुछ अर्थ रखते हैं और जिन्हे हम अपने जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण समझते हैं। प्रत्येक समाज मे सामाजिक मूल्य होते हैं और उन्ही मूल्यो के आधार पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियो तथा विषयो का मूल्याकन किया जाता है। सामाजिक सम्बन्धो, व्यवस्थाओ या व्यवहारो से सम्बन्धित अर्थों तथा मूल्यो का अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। अत स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत तीन प्रकार के विषयो का समावेश है—(१) वे सस्थागत सामाजिक सम्बन्ध, घटनाएँ तथा व्यवहार जो वास्तविक रूप मे पाये जाते हैं या घटित होते हैं, (२) उस समाज के सदस्य इन सबका जो कुछ 'अर्थ' लगाते है, और (३) इन सबसे सम्बन्धित जो सामाजिक, वैधानिक एव नैतिक मूल्य उस समाज मे पाये जाते हैं।

इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र उन सस्थागत सामाजिक सम्बन्धो, व्यवहारो, व्यवस्थाओ तथा मूल्यो का अध्ययन करता है जो कि वास्तविक अवलोकन द्वारा पता

---

12 "So the subject-matter of social anthropology is more accurately characterised as institutionalized social relations and the systems into which these may be ordered, than as 'society' or 'societies', considered as totalities somehow given as empirical entities to the observer" J H M Beattie, in his article 'Understanding and Explanation in Social Anthropology', in *The British Journal of Sociology*, Vol X, No 1, March 1959, p 46

13 R N Mukherjee, *Social Welfare and Security in India*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1960, p 362

लगाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध मे किसी भी पूर्वधारणा को मान्यता नही दी जाती है, न ही विषयो का अध्ययन किसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्री अवलोकन (observation) पर अधिक बल देते हैं न कि निष्कासन (extraction) पर, गहन विश्लेपण पर अधिक बल देते है न कि विस्तृत खोजो पर, जिससे उन तथ्यो का सग्रह सम्भव हो जो कि समाजशास्त्रीय अनुसन्धान मे छूट जाते हैं और इतिहास के पन्ने मे अलिखित रह जाते हैं।[14] इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्री के "अध्ययन-क्षेत्र की सीमा ही उसकी शक्ति है।"

सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र की विवेचना करते हुए श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने सामाजिक मानवशास्त्र के जिन लक्षणो या विशेषताओ का उल्लेख किया है उनसे इस विज्ञान की प्रकृति तथा क्षेत्र को समझने मे पर्याप्त सहायता मिल सकती है। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं[15]—

(क) वैसे तो सामाजिक मानवशास्त्र सभी प्रकार के मानव-समाजो का अध्ययन है, फिर भी यह प्रधानत आदिम समाजो के अध्ययन मे ही अधिक ध्यान केन्द्रित करता है। क्योकि सीमित क्षेत्र तथा अल्प जनसख्या के कारण इन समाजो के सामाजिक जीवन, सामाजिक सम्बन्धो तथा सस्थाओ का विश्लेपण सुविधापूर्वक किया जा सकता है। परन्तु ध्यान रहे कि इन आदिम समाजो का अध्ययन करते हुए एक मानवशास्त्री वहाँ के लोगो की भाषा, कानून, धर्म, सामाजिक तथा राजनैतिक सस्थाओ, आर्थिक सगठन आदि का अध्ययन करता है। ये वे ही सामान्य विषय तथा समस्याएँ हैं जो कि सभ्य समाजो मे भी पाई जाती हैं। इस कारण आदिम समाजो के विषय मे विवेचना करने मे मानवशास्त्री सदैव ही उनकी अपने समाजो से तुलना करता जाता है।

(ख) सामाजिक मानवशास्त्र सस्थागत सामाजिक व्यवहारो व सम्बन्धो तथा सस्थाओ का विज्ञान है। यह समाजो की जनसख्या, उनकी आर्थिक व्यवस्था, उनकी वैधानिक तथा राजनैतिक सस्थाओ, उनके परिवार तथा नातेदारी की व्यवस्था, उनके धर्म आदि का अध्ययन सामान्य सामाजिक व्यवस्थाओ के अशो के रूप मे (as parts of general social systems) करता है।

(ग) सामाजिक मानवशास्त्र किसी न किसी सामाजिक सस्था, सम्बन्ध और व्यवस्था के विषय मे अध्ययन करता है जो कि 'वास्तविक तथ्यो पर आधारित खोज' (matter of fact inquiries) होते हैं। इस कारण इस विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र का भौगोलिक फैलाव (geographical spread) समस्त भूमण्डल पर होता है। चाहे वह

14 "We treat a familiar culture as though it were a strange one, without historical background We consciously choose this approach so that we may view the culture from a new angle and throw into relief features obscured by other forms of study Again, we concentrate upon observation rather than extraction, upon intensive analysis rather than wide-range surveys, hoping to discover things which the conventional sociological research would omit and historical documents fail to record" S F Nadel, *The Foundations of Social Anthropology*, Cohen and West Ltd, London, 1953, p 7

15 E E Evans-Pritchard, *op cit*, pp 3—20

समाज अफ्रीका का हो, चाहे अमेरिका, आस्ट्रेलिया, बर्मा, मलाया, साइबेरिया, भारतवर्ष या ध्रुवी क्षेत्र का हो, सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। केवल भौगोलिक फैलाव ही नही सामाजिक मानवशास्त्र का विषय-फैलाव भी अधिक है। इसके अध्ययन-विषयो के अन्तर्गत राजनैतिक सस्थाओ, धार्मिक सस्थाओ, रग, लिंग या स्थिति पर आधारित वर्ग विभेद (class distinctions), आर्थिक सस्थाओ, वैधानिक या अर्ध-वैधानिक (quasi-legal) सस्थाओ, विवाह, और साथ ही सामाजिक अनुकूलन (social adaptation) और सम्पूर्ण सामाजिक सगठन या सरचना (structure) का अध्ययन आता है। इसके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट विषयो जैसे आचार, जादू, लोक-कथा, आदि-कालीन विज्ञान, कला, भाषा आदि का भी अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र मे नही होता है, ऐसा नही। अत स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत केवल सभी देश के सभी प्रकार के समाज ही नही आते बल्कि विविध प्रकार के विषयो का भी समावेश है। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि सामाजिक मानवशास्त्री 'हरफन-मौला' (Jack of all trade) होते है। विभिन्न समाजो के सम्बन्ध मे सामान्य ज्ञान को पूंजी बनाकर वे भी अलग-अलग विषयो मे विशेषज्ञ होते है। इसके अतिरिक्त ससार के विभिन्न आदिम समाजो मे न केवल अनेक वाह्य समानताएँ होती हैं बल्कि सरचना-त्मक विश्लेषण (structural analysis) द्वारा उन्हे कुछ सीमित प्रकारो मे वर्गीकृत (classified) किया जा सकता है। इससे विषय की एकता उत्पन्न होती है और अध्ययन-क्षेत्र व विषय-वस्तु अत्यन्त विस्तृत होने पर भी अध्ययन-कार्य मे सरलता और यथार्थता सम्भव होती है। विषयो की एकता के कारण ही सामाजिक मानवशास्त्री एक ही प्रकार से आदिम समाजो का अध्ययन करते हैं चाहे वह समाज भारत का हो, या अफ्रीका का या आस्ट्रेलिया का और चाहे अध्ययन-विषय परिवार हो या राजनैतिक सस्थाएँ या धार्मिक विश्वास। सम्पूर्ण सामाजिक सरचना से सम्बन्धित करके विभिन्न विषयो का अध्ययन किया जाता है।

(घ) सामाजिक मानवशास्त्र समाजो का अध्ययन है न कि सस्कृतियो का। इस विज्ञान की प्रकृति, अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र की विवेचना मे इस सत्य को निरन्तर ध्यान मे रखना होगा। यही कारण है कि सामाजिक मानवशास्त्र के सभी लेखो तथा पुस्तको मे बहुत कुछ समाजशास्त्रीय झुकाव होता है अर्थात् उनमे प्रधानतया सामाजिक सम्बन्धो, समाज के सदस्यो और सामाजिक समूहो मे सम्बन्धो तथा विभिन्न सस्थाओ के पारस्परिक सम्बन्धो की विवेचना होती है। दूसरे शब्दो मे, सामाजिक मानवशास्त्र मे सामाजिक सम्बन्धो तथा सामाजिक सरचना के अध्ययन की प्रधानता होती है यद्यपि 'समाज' और 'सस्कृति' के बीच कोई दृढ विभाजन-रेखा खीचना न तो सरल है और न उचित ही। प्रत्येक सामाजिक जीवन मे अनेक एकरूपताएँ (uniformities) तथा नियमावस्थाए (regula-rities) होती हैं। उसी के आधार पर सामाजिक व्यवस्था (social order) सभव होती है और समाज के विभिन्न अगो मे एक शृखला उत्पन्न हो जाती है। यही सामाजिक सरचना (social structure) होती है। उस समाज के सदस्यो को इस सामाजिक सरचना का ज्ञान नही भी हो सकता है और अगर हो भी तो अस्पष्ट ज्ञान हो सकता है। सामाजिक

मानवशास्त्र का कार्य इसी को स्पष्ट करना है। इतना ही नही, एक सम्पूर्ण सामाजिक सरचना मे अनेक सहायक या उप-सरचनाएँ या व्यवस्थाएँ होती हैं और इन्ही को हम नातेदारी व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था आदि के नाम से पुकारते है। इन व्यवस्थाओ के अन्तर्गत सामाजिक क्रियाएँ विभिन्न सस्थाओ जैसे विवाह, सरकार, धर्म आदि के चारो ओर सगठित होती हैं। सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क इन सभी से होता है।

आदिम समाजो का अध्ययन हम क्यो करते है ?
(Why We Study Primitive Societies ?)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्री अपना ध्यान प्रधानत आदिम समाजो पर केन्द्रित करते है। परन्तु ऐसा क्यो ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि आदिम समाज किसे कहते हैं। यद्यपि आदिम समाज और सभ्य समाज के बीच कोई दृढ विभाजन रेखा खीचना सम्भव नही है तथापि आदिम समाजो या सस्कृति की कुछ प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख श्री पिडिंगटन (Piddington) ने किया है जिनके आधार पर एक समाज को आदिम समाज कहा जा सकता है। ये विशेषताएँ निम्नलिखित है[16]—

(क) निरक्षरता, लेखन या लिपि का न होना आदिम समाजो की सर्वप्रमुख विशेषता है और यही सभ्य समाज और आदिम समाज के बीच एक सामान्य अन्तर है।

(ख) सभ्य समाजो की भाँति राज्य, राष्ट्र या साम्राज्य के आधार पर नही बल्कि छोटे सामाजिक समूहो जैसे, गोत्र, ग्राम या जनजाति के आधार पर समाज का सगठन।

(ग) प्रौद्योगिक विकास का निम्न स्तर।

(घ) रक्त सम्बन्ध तथा स्थान के आधार पर सामाजिक सम्बन्ध सभ्य समाजो से कही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

(ङ) आदिम समाजो मे आर्थिक विशेषीकरण तथा सामाजिक समूहो की बहुलता नही होती है जैसा कि सभ्य समाजो मे होता है।

श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के अनुसार वे समाज जो कि जनसख्या, क्षेत्र और सामाजिक सम्पर्क की परिधि की दृष्टि से छोटे पैमाने का है और जो अधिक प्रगतिशील समाजो की तुलना मे सरल प्रौद्योगिक तथा आर्थिक स्तर पर है तथा जहाँ सामाजिक कार्यों का कम विशेषीकरण पाया जाता है, आदिम समाज कहलाते है।[17] श्री राबर्ट रेडफिल्ड (Robert Redfild) ने इन विशेषताओ के साथ साक्षरता साहित्य तथा क्रमबद्ध कला, विज्ञान और आध्यात्मविद्या (theology) के अभाव को भी जोड

---

16 Ralph Piddington, *op cit*, p 5

17 "When anthropologists use it (the word 'primitive society') they do so in reference to those societies which are small in scale with regard to numbers, territory, and range of social contracts, and which have by comparison with more advanced societies a simple technology and economy and little specialization of social function" Evans-Pritchard, *op cit*, p 8

दिया है ।[18]

यद्यपि उपर्युक्त सभी अन्तर या भेद हमारे अध्ययन-कार्य में सहायक सिद्ध होंगे, तथापि यह स्मरणीय है कि इनमें से प्रत्येक अन्तर सापेक्षिक (relative) है । उदाहरणार्थ, पश्चिमी अफ्रीका के एकाधिक आदिम समाजों के कुछ लोग पढ़ना-लिखना जानते हैं । अतः ये समाज वास्तव में निरक्षर नहीं कहे जा सकते, यद्यपि उनके अधिकतर सदस्य निरक्षर ही हैं । इसी प्रकार ऐसे भी आदिम समाज हैं जिनके प्रौद्योगिक स्तर अत्यन्त निम्न होते हुए भी राजनैतिक संगठन पर्याप्त विस्तृत है ।[19] अतः उपर्युक्त किसी एक-दो विशेषताओं के होने या न होने के आधार पर ही किसी समाज को प्रमाणित रूप से 'आदिम' या 'सभ्य' कह देना उचित न होगा ।

चूँकि समस्त मानव-समाज कुछ सामान्य मौलिक सिद्धान्तों (common basic principles) पर आधारित होता है इस कारण यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि सामाजिक मानवशास्त्री आदिम समाजों में ही विशेष रुचि क्यों रखते हैं ? इसके लिए कभी-कभी तो इनकी आलोचना भी की जाती है और यह सुझाव दिया जाता है कि यदि सामाजिक मानवशास्त्री उतने ही यत्न और परिश्रम से आधुनिक सभ्य समाजों की समस्याओं का अध्ययन तथा विश्लेषण करें तो वह अधिक कल्याणकारी या लाभप्रद होगा । जैसा कि पिछले पन्नों में कई बार कहा जा चुका है, यह सोचना गलत होगा कि सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क केवल मात्र आदिम समाजों से है । सभ्य समाजों के अध्ययन में मानवशास्त्रीय प्रविधियों (anthropological techniques) को काम में लाने के सम्बन्ध में एकाधिक मूल्यवान व लाभप्रद प्रयोग हुए भी हैं । फिर भी यह सच है कि सामाजिक मानवशास्त्रियों का विशेष झुकाव आदिम समाजों की ओर ही है ।

सामाजिक मानवशास्त्री विशेषतया आदिम समाजों का अध्ययन क्यों करते हैं इसका अति सामान्य और सरल उत्तर यह है कि इस प्रकार का झुकाव 'ऐतिहासिक घटना' (historical accident) मात्र है ।[20] १८वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् कच्चे माल तथा बनी हुई वस्तुओं के लिए उत्तम बाजार की खोज में यूरोप के कुछ लोगों ने अफ्रीका तथा एशिया में प्रवेश किया और उनके पीछे-पीछे आये अनेक उत्साही ईसाई मिशनरी । इन सब यात्रियों, पर्यटक तथा मिशनरियों ने अनेक आदिम समाजों में प्रवेश किया और उनके विषय में अनेक रोचक, अद्भुत तथा आकर्षक विवरण प्रस्तुत किये । इनमें से अधिकतर कथन, वर्णन या विवरण अतिरंजित तथा अस्पष्ट एवं अवैज्ञानिक अवधारणाओं पर आधारित थे, फिर भी इसी रोचक तथा अनोखे रूप में सर्वप्रथम आदिम समाजों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ जिसके कारण इसी १८वीं शताब्दी में यूरोप के कुछ राजनैतिक दार्शनिकों का ध्यान इन समाजों के प्रति आकर्षित हुआ ।

इसके पश्चात् सन् १८५९ में श्री डार्विन (Darwin) द्वारा 'प्राणीशास्त्रीय

---

18 Robert Redfield, 'The Folk Society', *The American Journal of Sociology*, 1947

19 Ralph Piddington, *op cit*, p 6

20 *Ibid*, p 6

उद्विकास' के सिद्धान्त के प्रतिपादित होने के पश्चात् आदिम समाजो के अध्ययन मे एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। श्री डार्विन के प्राणीशास्त्रीय उद्विकास (Biological evolution) के आधार पर श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने सामाजिक उद्विकास (social evolution) के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। श्री स्पेन्सर का विश्वास था कि उद्विकास केवल मानव के शारीरिक पक्ष का नही हुआ है अपितु सामाजिक जीवन का भी। इस धारणा की पुष्टि के लिए १९वी शताब्दी के अनेक मानवशास्त्रियो ने आदिम समाजो का अध्ययन करके उद्विकासीय तथ्यो को एकत्र करने का प्रयत्न किया।

एकाधिक प्रारम्भिक मानवशास्त्रियो ने आदिम समाजो के अनोखेपन तथा विचित्रताओ से आकर्षित होकर भी केवल ऐसे समाजो के अध्ययन मे अपने को नियोजित किया था। उन्होने अपने लेखो मे आदिम समाजो के इस अनोखेपन या अपरिचितता (strangeness) को स्पष्ट व्यक्त भी किया है। उदाहरणार्थ, आदिकालीन विधान (primitive law) की विवेचना करते हुए सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने लिखा है कि "आदिम समाजो की घटनाओ को समझना पहले-पहल कठिन होता है। यह कठिनाई उनके अनोखेपन के कारण होती है। आधुनिक दृष्टिकोण से उन घटनाओ को देखने पर हमे अचम्भा से शायद ही सरलता से छुटकारा मिल पाता है।"[21] उसी प्रकार आदिकालीन धर्म की विवेचना करते हुए श्री मॉर्गन (Morgan) ने भी स्वीकार किया है, इसकी (आदिकालीन धर्म की) पूर्णतया सन्तोषजनक व्याख्या कभी सम्भव नही है क्योकि सभी आदिकालीन धर्म असगत एव कुछ सीमा तक अबोध्य हैं।[22] आधुनिक मानवशास्त्री श्री क्रोबर (Kroeber) तक भी आदिम समाजो के उपर्युक्त अनोखेपन या अपरिचितता से प्रभावित प्रतीत होते हैं। आपने भी लिखा है कि अपरिचितता के सुरस से भरपूर सस्थाओ की ओर मानवशास्त्र ने अपने ध्यान को घुमाया है।[23] अत स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्रियो द्वारा विशेषकर आदिम समाजो के अध्ययन का एक कारण इन समाजो का अनोखापन या अपरिचितता भी है। जो कुछ भी अनोखा है, अद्भुत है उन सब के विषय मे छानबीन करने की इच्छा जितनी स्वाभाविक है, जिनके सम्बन्ध मे हम जानते नही हैं या जो कुछ अपरिचित है उनके सम्बन्ध मे जिज्ञासा भी मानव की एक बडी प्रेरणा-शक्ति है। यही प्रेरणा मानवशास्त्रियो को आदिम समाजो की ओर आकर्षित करती है यद्यपि आजकल

---

21 " the phenomena which early society present us with are not easy at first to understand It is a difficulty arising from their strangeness One does not readily get over the surprise which they occasion when looked at from a modern point of view" Sir Henry Maine, *Ancient Law*, 1888, pp 119-120

22 "It may never receive a perfectly satisfactory explanation since all primitive religions are grotesque and to some extent unintelligible" Lewis Morgan, *Ancient Society*, 1877, p 5

23 "The institutions strange in flavour" to which anthropology "turned its attention" Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co, New York, 1923, p 2

इन समाजो के अनोखेपन या अपरिचितता पर नहीं अपितु तुलनात्मक अध्ययन द्वारा आदिम समाजो और हमारे सभ्य समाजो मे समानता को ढूँढने पर अधिक बल दिया जाता है। वास्तव मे बहुधा यह निरूपण करने की इच्छा कि, कुछ भी हो, किस प्रकार मनुष्य सर्वत्र समान है, स्पष्टत प्रकट होती है।[24]

उपर्युक्त सामान्य कारणो के अतिरिक्त कुछ विशेष कारण भी है जिनके कारण सामाजिक मानवशास्त्रियो ने जानबूझ कर आदिम समाजो को अध्ययन करने के लिए चुना है। ये कारण निम्न है —

(१) श्री क्लूखोन (Kluckhohn) का मत है कि आदिम समाजो का अध्ययन हम इस कारण करते है कि इन समाजो का अध्ययन करने से हमारे लिए अपने सभ्य समाजो को समझना सरल हो जाता है। ऐसा दो कारणो से होता है। प्रथम तो यह है कि अगर हमे मानव-समाज के सम्बन्ध मे समझ कर कुछ निष्कर्ष निकालना है तो वह काम तब तक यथार्थ रूप मे सम्भव नही हो सकता जब तक हम सभी प्रकार के समाजो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त न कर ले। इन 'सभी' समाजो मे आदिम समाजो के अध्ययन को 'प्रथम' स्थान मिलना चाहिए क्योकि ये समाज ही प्रथम या आदि समाज है। द्वितीयत, बहुत सादे, सरल और छोटे आदिम समाजो के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसकी सहायता से अधिक विकसित समाजो का अध्ययन अत्यधिक सरल हो जाता है। आदिम समाजो के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान और अनुभव के आधार पर हमे आधुनिक जटिल व विशाल समाजो को समझने और उनके विश्लेषण तथा निरूपण मे ही नही, अपितु अनेक वर्तमान सामाजिक समस्याओ को सुलझाने मे भी सहायता मिली है क्योकि आदिम समाजो के अध्ययन द्वारा सामाजिक मानवशास्त्रियो का चरम लक्ष्य वैज्ञानिक ढग से उन सामान्य प्रक्रियाओ को प्रस्तुत करना है जिनके द्वारा मानवीय समाज एव सभ्यता विकसित एव कुसुमित होती है।

(२) श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के मतानुसार आदिम समाजो का अध्ययन उनके अन्तर्निहित मान या मूल्य (intrinsic value) के कारण भी होता है। वे स्वय ही रोचक है क्योकि उनके अध्ययन से जीवन के उन तरीको, मूल्यो तथा जनता के उन विश्वासो का पता चलता है जो कि हम लोगो की दृष्टि मे आराम और सभ्यता की न्यूनतम आवश्यकता से भी कम है।[25] आदिम समाजो का अन्तर्निहित मूल्य या निजी मान इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि वे विशाल मानव-समाज की बुनियादी इकाई या अग है जो कि स्वाभाविक रूप से मानव-जीवन को प्रतिबिम्बित (reflect) करती है। इन आदिम समाजो के अतिरिक्त बीते दिनो की हमारी अपनी ही प्रतिमूर्ति अधिक स्पष्ट, स्वाभाविक और सजीव रूप मे और कहाँ देखने को मिल सकती है? आदिम समाजो का अध्ययन अपने का ही अध्ययन है।

---

24 "To-day the tendency is to emphasize, not the strangeness of primitive society, but its akinness to our own Often, indeed, observers seem animated by the desire to demonstrate how, after all, man is the same everywhere" S F Nadel, *op cit*, p 5

25 E E Evans-Pritchard, *op cit*, p 9

(३) यह अनुभव की बात है कि उन लोगो के मध्य जिनकी कि मस्कृति हम लोगो से भिन्न है, अवलोकन-कार्य मरलता से हो सकता है क्योकि उनके जीवन का परायापन (otherness) सहज ही हमारा ध्यान उनकी ओर आकर्पित कर लेता है। चूंकि इनके सम्बन्ध मे हमारे मस्तिष्क मे कोई पूर्वधारणा नही होती है और चूंकि उनके प्रति एक प्रकार की 'परायेपन' की भावना होती है इस कारण 'अपने' समाज के अध्ययन मे जिस पक्षपातित्व (partiality) की आशका होती है, आदिम समाजो के अध्ययन मे उसकी सम्भावना न के समान होने के कारण अध्ययन तथ्ययुक्त भी होता है। एक वैज्ञानिक के रूप मे सामाजिक मानवशास्त्री के लिए यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

(४) मानवशास्त्रियो द्वारा आदिम समाजो के अध्ययन पर विशेप ध्यान देने का चतुर्थ कारण यह है कि आदिम समाज अति शीघ्रता से बदलते जा रहे हैं अर्थात् उनका आदिमपन (primitiveness) नष्ट या समाप्त होती जा रही है। इसका सर्वप्रमुख कारण इनका सभ्य समाजो के साथ बढता हुआ सास्कृतिक सम्पर्क (culture contact) है। इस सम्पर्क के कारण इन समाजो का आदि रूप (originality) नष्ट होती जा रही है और यदि मानवशास्त्री शीघ्रता न करेंगे तो उन्हे मानव-जीवन के अनेक आदि-तथ्यो के सम्बन्ध मे अनभिज्ञ (ignorant) ही रहना पडेगा। मानव-समाज, मस्कृति तथा सभ्यता को यथार्थ रूप मे जानने में प्रयत्नशील सामाजिक मानवशास्त्रियो के लिए यह कितनी भारी हानि होगी वह तो सहज ही अनुमेय है। इसी कारण आधुनिक सामाजिक मानवशास्त्री अविचलित निष्ठासहित आदिम समाजो के अध्ययन मे यत्नशील हैं। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के शब्दो मे, "ये लुप्त होती हुई सामाजिक व्यवस्थाएँ अपूर्व सरचनात्मक विभिन्नताओ को प्रस्तुत करती हैं जिनका कि अध्ययन मानव-समाज की प्रकृति को समझने मे हमे पर्याप्त सहायता करता है क्योकि सस्थाओ के तुलनात्मक अध्ययन मे समाजो की सख्या उतनी महत्त्व की नही होती जितनी कि उनकी विभिन्नताओ का दायरा।"[26] दूसरे शब्दो मे, जितनी ही विभिन्न प्रकार के सामाजिक व्यवस्थाओ का हम तुलनात्मक अध्ययन करेंगे, मानव-समाज के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान उतना ही प्रमाणित होगा। चूंकि आदिम समाज इन्ही विभिन्नताओ का साम्राज्य है, इस कारण सामाजिक मानवशास्त्री विभिन्न आदिम समाजो के अध्ययन मे विशेष रुचि रखते हैं।

इसके अतिरिक्त, सभ्य समाजो के साथ सास्कृतिक सम्पर्क बढने के साथ-साथ आदिम समाजो मे विविध सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक समस्याओ का भी जन्म होता जा रहा है। सास्कृतिक सम्पर्क के ये परिणाम तथा सस्कृतिकरण (acculturation) आदि की प्रक्रियाएं किसी भी मानवशास्त्री के लिए आकर्षक अध्ययन-विपय है।

(५) सामाजिक मानवशास्त्रियो का आदिम समाजो के अध्ययन मे विशेप

---

26 "These vanishing social systems are unique structural variations, a study of which aids us very considerably in understanding the nature of human society, because in a comparative study of institutions the number of societies is less significant than their range of variation" *Ibid*, p 9

यत्नवान होने का सर्वप्रमुख कारण पद्धति-सम्बन्धी (methodological) एक अलिखित नियम है। इस नियम के अनुसार वैज्ञानिक अनुसन्धान में यथा सम्भव सरल वस्तु या घटना से प्रारम्भ करके क्रमश अधिक जटिल या उलझी हुई वस्तु या घटनाओं की ओर बढ़ने की विधि है। ऐसा करना उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि जो 'चन्दा मामा आ जा' शीर्षक कविता को ही नहीं समझता है वह भला 'प्रसाद' जी के 'आंसू' को क्या समझेगा? इसे समझने के लिए 'चन्दा मामा आ जा' जैसी सरल कविता से ही आरम्भ करना होगा। सरल से धीरे-धीरे जटिल की ओर बढ़ने में जटिल भी क्रमश सरल हो जाता है। इस सत्य को सामाजिक मानवशास्त्री भूल नहीं जाते हैं और यही कारण है कि वे विशाल और जटिल आधुनिक समाजो के अध्ययन की अपेक्षा सादे, सरल तथा छोटे आदिम समाजो के अध्ययन को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। सीमित क्षेत्र, कम जनसंख्या, सांस्कृतिक तथा प्रजातीय एकरूपता, अल्पसंख्या में सामाजिक समूह, सामाजिक परिवर्तन की धीमी गति आदि के कारण आदिम समाजो के रूप में स्थिरता होती है और सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनैतिक जीवन में भिन्नताएँ उत्पन्न नहीं हो पाती। इन कारणों से सामाजिक व्यवस्थाओं, सरचना अथवा संस्थाओं का अध्ययन व विश्लेषण इन समाजो में सुविधापूर्वक किया जा सकता है। और इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान सभ्य समाजो के अध्ययन को सरल बना देता है। अत हम कह सकते हैं कि मानवशास्त्री सरल आदिम समाजो का अध्ययन करके अधिक विकसित एव जटिल समाजो के अध्ययन-कार्य को सरल बना रहे हैं। मानव-समाज को उचित रूप से समझने में सामाजिक मानवशास्त्रियों का यह अनुपम अनुदान है।

सामाजिक मानवशास्त्र के उद्देश्य
(Aims of Social Anthropology)

मानव-जीवन से सम्बन्धित किसी भी विज्ञान का उद्देश्य 'मानव-संसार' के किसी एक विशिष्ट अंग या भाग का अध्ययन करना और इस प्रकार तथ्यों के अध्ययन द्वारा सिद्धांतो को प्रतिपादित करना जिससे कि मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान सम्भव हो सके। इस ज्ञान के आधार पर या तो हम अपने अनुसन्धान को और आगे बढ़ाते हैं अथवा मानव कल्याण की वृद्धि के हेतु उस ज्ञान का व्यावहारिक रूप में प्रयोग करते हैं।[27] इस दृष्टिकोण से श्री पिडिंगटन (Piddington) ने सामाजिक मानवशास्त्र के निम्नलिखित दो प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख किया है[28]—

प्रथम. मानव-प्रकृति (human nature) के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना। मानव प्रकृति के सम्बन्ध में अनेक विरोधी मत प्रचलित हैं। कहा जाता है कि मानव-स्वभाव से या प्राकृतिक रूप में साम्यवादी, परार्थवादी और शान्तिप्रिय है। इसके विपरीत

27 "The aim of any science is to study a specified part of the real world and from a study of facts to formulate theories which shall serve as recipes for human conduct, whether that conduct be the carrying out of further research or the taking of practical steps for the promotion of human welfare" Ralph Piddington, *op cit*, p 7

28 *Ibid*, pp 9-10

यह भी कहा जाता है कि मानव वास्तव मे व्यक्तिवादी और युद्धप्रिय होता है, स्वभाव से धार्मिक होता है या धर्म और नीति आर्थिक परिवर्तन का ही परिणाम मात्र हैं। मानव-प्रकृति के सम्बन्ध मे इन समस्त आकर्षक वाद-विवाद मे आदिम मनुष्यो को अधिकतर खींच कर लाया जाता है ताकि उनके उदाहरण द्वारा वाद-विवाद करने वाले अपने-अपने मत की पुष्टि कर सकें। इन समस्त वाद-विवादो के मध्य सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य मानव-प्रकृति के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक तथा ठोस प्रमाणो को प्रस्तुत करना तथा मानव-प्रकृति तथा मानव-सम्बन्धो के अन्तर्निहित नियमो (Laws) को ढूंढ निकालना है।

द्वितीय सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रक्रिया तथा परिणामो का अध्ययन करना। दूसरे शब्दो मे, सामाजिक मानवशास्त्र का दूसरा प्रमुख उद्देश्य उन परिणामो या प्रभावो का अध्ययन करना है जो कि सभ्य समाजो के सम्पर्क मे आने के कारण आदिम समाजो मे दृष्टिगोचर होते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, सभ्य समाजो के सम्पर्क मे आने से आदिम मनुष्यो के जीवन मे अनेक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं जो कि दिन-प्रतिदिन उनके जीवन को विघटित कर रही हैं। इस स्थिति को अधिक दिन तक बना रहने देना उचित न होगा। उनकी उन समस्याओ को सुलझाना ही होगा। यह काम प्रशासको, सामाजिक नियोजको आदि का है और उनके इस काम मे समुचित सहायता मानवशास्त्रियो से प्राप्त हो सकती है। सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप उत्पन्न समस्त समस्याओ के सम्बन्ध मे यथार्थ ज्ञान का संग्रह है या समस्याएँ उत्पन्न करने वाले कारणो को ढूंढ निकालना है ताकि इस प्रकार संकलित ज्ञान के आधार पर प्रशासक (administrator) तथा नियोजक (planner) अपने-अपने कार्यों को उचित ढङ्ग से कर सकें।

ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड की शाही मानवशास्त्रीय संस्था की एक समिति ने सामाजिक मानवशास्त्र के प्रमुख उद्देश्यो का संक्षेप मे इस प्रकार उल्लेख किया है—(१) आदिम संस्कृति का उस रूप मे अध्ययन करना जिस रूप मे वह आज है। (२) सांस्कृतिक सम्पर्क तथा परिवर्तन या विशिष्ट प्रक्रियाओ के रूप मे अध्ययन करना। जिस संस्कृति मे कुछ भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई हैं, उसमे बाहरी समूहो के उन प्रभावो को ढूंढ निकालना जिनके कारण वे परिवर्तन हुए हैं। (३) सामाजिक इतिहास का पुनर्निर्माण करना, और (४) सार्वभौमिक रूप मे प्रमाणित सामाजिक नियमो (Universally valid Social Laws) को ढूंढना।[29]

इस प्रकार संक्षेप मे कहा जा सकता है कि सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य विशेषकर आदिम समाजो के सामाजिक जीवन व सम्बन्धो, सामाजिक व्यवस्थाओ एवं संस्थाओ का तुलनात्मक अध्ययन करना, सामाजिक परिस्थितियो मे व्यक्तियो के संस्थागत व्यवहारो का वर्णन करना तथा उन सामाजिक प्रक्रियाओ का विश्लेषण तथा निरूपण करना है जिनके द्वारा मानवीय समाज, संस्कृति तथा सभ्यता विकसित एवं स्थिर रहती

---

29 *Notes and Queries on Anthropology*, Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1954, p 39

है। सामाजिक मानवशास्त्र का चरम लक्ष्य नर्वक्षण से प्रमाणित सामाजिक नियमो को प्रतिपादित करना है।

सामाजिक मानवशास्त्र तथा अन्य विज्ञान
(Social Anthropology and other Sciences)

सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि यह विज्ञान मुख्यत आदिम समाजो का अध्ययन है। अत सामाजिक मानवशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान की अपेक्षा सामाजिक विज्ञान कहना ही उचित होगा। इस प्रकार इसका सम्बन्ध अन्य सामाजिक विज्ञानो—समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, इतिहास आदि—से घनिष्ठ होना स्वाभाविक ही है। उसी प्रकार चूंकि सामाजिक मानवशास्त्र विस्तृत विज्ञान मानवशास्त्र की ही एक उपशाखा है इस कारण इसका अन्य मानवशास्त्रीय विज्ञानो मे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक मानवशास्त्र के सम्बन्ध मे हमे अपनी धारणा और भी स्पष्ट करने के लिए इन विज्ञानो के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना करनी अति आवश्यक है।

(१) सामाजिक मानवशास्त्र तथा प्रजातिशास्त्र
(Social Anthropology and Ethnology)

प्रजातिशास्त्र से सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध सबसे घनिष्ट है। यह इस कारण है कि जिस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क मुख्यत. आदिम समाजो और कभी-कभी सभ्य समाजो से है उसी प्रकार प्रजातिशास्त्री भी भूमण्डल मे बिखरी हुई विविध सस्कृतियो को ढूंढते, अध्ययन तथा वर्गीकरण करते है। अत स्पष्ट है कि दोनो के अध्ययन-विषय मे बहुत कुछ समानता है। फिर आज ये दोनो ही पृथक् विज्ञान के रूप मे इस कारण माने जाते है क्योकि अब इन दो विज्ञानो के उद्देश्यो मे पर्याप्त भिन्नता आ गई है। प्रजातिशास्त्र प्रजातियो की शारीरिक विशेषताओ का अध्ययन नही है, यह कार्य तो शारीरिक मानवशास्त्र का है। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans Pritchard) के शब्दो मे, "प्रजातिशास्त्र का कार्य प्रजातीय एव सास्कृतिक विशेषताओ के आधार पर मनुष्यो का वर्गीकरण करना और फिर वर्तमान समय मे या भूतकाल मे उनके वितरण को मनुष्यो की गति तथा मिश्रण एव सास्कृतिक प्रसार के द्वारा व्याख्या करना है।"[30] आदिम समाजो का जो तुलनात्मक अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्री करते है उसमे प्रजातिशास्त्रियो द्वारा किया गया मनुष्यो तथा सस्कृतियो का वर्गीकरण अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। फिर भी सामाजिक मानवशास्त्र प्रजातिशास्त्र नही है क्योकि सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य मनुष्यो तथा सस्कृतियो का वर्गीकरण करना नही अपितु सामाजिक सस्थाओ और व्यवहारो का अध्ययन है।

30 "The task of ethnology is to classify peoples on the basis of their racial and cultural characteristics and then to explain their distribution at the present time, or in past times, by the movement and mixture of peoples and the diffusion of cultures" E E Evans-Pritchard, *op cit*, p 4

(२) सामाजिक मानवशास्त्र तथा पुरातत्वशास्त्र
(Social Anthropology and Archeology)

सामाजिक मानवशास्त्र तथा पुरातत्वशास्त्र मे भी घनिष्ट सम्बन्ध है। सक्षेप मे पुरातत्वशास्त्र प्राथमिक रूप से प्राचीन समाजो तथा सस्कृतियो का अध्ययन है। पुरातत्व-शास्त्र की सहायता से ही सामाजिक मानवशास्त्र उन अन्धकारमय युगो के समाजो के सम्बन्ध मे भी ज्ञान प्राप्त करता है जिनके सम्बन्ध मे कोई लिपिबद्ध प्रमाण उपलब्ध नही है। प्राचीन मानव-सस्कृति तथा सभ्यता से सम्बन्धित अनेक विषयो का जो ज्ञान सामाजिक मानवशास्त्रियो को पुरातत्वशास्त्रियो की खोजो से प्राप्त होता है उसी के आधार पर वे मानव-समाज तथा सस्कृति के क्रमिक विकास का पता लगाते हैं और समकालीन आदिम समाजो के अध्ययन मे उस जानकारी को काम मे लगाते हैं। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि पुरातत्वशास्त्र मानव-सस्कृति के इतिहास के सम्बन्ध मे ज्ञान को अधिक विस्तृत करके तथा मानव की प्राचीनतम कृतियो एव सास्कृतिक विकास के सामान्य नियमो अथवा अन्तर्धाराओ से परिचित कराके सामाजिक मानवशास्त्रियो के अध्ययन-कार्य मे अत्यधिक सहायता प्रदान करता है।

इन दो विज्ञानो मे सम्बन्ध घनिष्ट होते हुए भी इनमे अन्तर सुस्पष्ट है। पुरातत्व-शास्त्र जमीन की खुदाइयो से उपलब्ध भौतिक अवशेषो का अध्ययन एव विश्लेषण है जब कि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओ और सस्थागत व्यवहारो का अध्ययन एव निरूपण है। पुरातत्वशास्त्र उन प्राचीनतम मानव-कृतियो का अध्ययन है जिनके सम्बन्ध मे साधारणतया कोई लिपिबद्ध प्रमाण उपलब्ध नही है, जब कि सामाजिक मानवशास्त्र समकालीन मानव-समाजो, मुख्यत आदिम समाजो का वास्तविक अवलोकन के आधार पर अध्ययन है। इस प्रकार इन दो विज्ञानो की समस्याएँ, अध्ययन-विषय तथा लक्ष्य मे पर्याप्त भिन्नता है।

(३) सामाजिक मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र
(Social Anthropology and Sociology)

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि किन्ही-किन्ही बातो मे इनमे अन्तर करना बडा कठिन है। दोनो ही 'समाज' का अध्ययन है और दोनो का अन्तिम लक्ष्य सामाजिक नियमो का प्रतिपादन करना है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, आदिम मानव तथा उसका समाज—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सस्थाएँ, व्यवस्था या सगठन अत्यन्त सादे, सरल व छोटे होते हैं और इनका अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। इन अध्ययनो से प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर समाजशास्त्रियो को आधुनिक, जटिल व विशाल समाजो को समझने और उनके विश्लेषण एव निरूपण मे अत्यधिक सहायता मिलती है। दूसरी ओर समाजशास्त्रियो द्वारा आधुनिक समाजो की विभिन्न समस्याओ से सम्बन्धित जो विशेष अध्ययन हुए हैं उनसे आदिम समाजो के अध्ययन के लिए सामाजिक मानव-शास्त्रियो को अनेक नई उपकल्पनाएँ (hypothesis) मिलती रहती हैं। इस प्रकार यह

स्पष्ट है कि इन दो विज्ञानों में अत्यधिक आदान-प्रदान का सम्बन्ध है। इन दो विज्ञानों को एक-दूसरे के इतने निकट लाने के विषय में श्री दुर्खेम (Durkheim) का अनुदान विशेष उल्लेखनीय है। श्री दुर्खेम ने अपने विस्तृत अध्ययनों और प्रमाणों द्वारा एक नए रूप में समस्त सामाजिक घटनाओं का सामाजिक कारण ढूंढ निकाला और 'समाज' को इन घटनाओं की व्याख्या में सर्वप्रमुख स्थान प्रदान किया। अंग्रेज मानवशास्त्री श्री दुर्खेम की इन धारणाओं से अत्यन्त ही प्रभावित प्रतीत होते हैं जिनके कारण सामाजिक मानवशास्त्रीय अनेक अध्ययनों में श्री दुर्खेम की समाजशास्त्रीय उपकल्पनाओं को काम में लाया गया है। यद्यपि अमेरिका में यह सम्बन्ध उतना घनिष्ठ नहीं है, तथापि सामाजिक मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र के बीच कोई दृढ विभाजन रेखा खींचने का सचेत प्रयत्न नहीं किया गया है।

समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र में सम्बन्ध घनिष्ट होते हुए भी इन दो विज्ञानों में कुछ अन्तर भी है। सामान्यतया सामाजिक मानवशास्त्र आदिम समाजों का अध्ययन करता है जब कि समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र आधुनिक सभ्य समाज है। दूसरा प्रमुख अन्तर अध्ययन-पद्धति का है। सामाजिक मानवशास्त्रियों की सर्व प्रमुख पद्धति 'अनुग्रहण अवलोकन पद्धति' (participant observation method) है और इसी कारण उन्हें जिस समाज का अध्ययन करना होता है उनमें जाकर वे बस जाते हैं और फिर तथ्यों का संग्रह करते हैं। इसके विपरीत समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रलेखों (documents) तथा सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग होता है।

(४) सामाजिक मानवशास्त्र और मनोविज्ञान
(Social Anthropology and Psychology)

सामाजिक मानवशास्त्र का मनोविज्ञान से भी अति घनिष्ट सम्बन्ध है। मनोविज्ञान मानव-स्वभाव व मानसिक प्रक्रियाओं का विज्ञान है और मानव-स्वभाव का प्रभाव उसके सामाजिक कार्यों पर अति गम्भीर रूप में पडता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि समाज और संस्कृति का आधार मूलत मनोवैज्ञानिक है। पर्याप्त मनोवैज्ञानिक ज्ञान के बिना हम सामाजिक व्यवस्था को यथार्थ रूप में कदापि नहीं समझ सकते। दूसरे शब्दों में, मानव स्वभाव का प्रामाणिक अध्ययन किये बिना समाज या सामाजिक सम्बन्ध तथा संस्थाओं, चाहे वह आधुनिक हो या आदिम, का अध्ययन सम्भव नहीं है। सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध मनोविज्ञान से सामाजिक मनोविज्ञान के विकास के साथ-साथ और भी घनिष्ट हो गया है। सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक परिस्थितियों में और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर मानव-व्यवहार और व्यक्तित्व का अध्ययन करता है और सामाजिक मानवशास्त्र मानव-व्यवहार और व्यक्तित्व से सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्थाओं या सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करता है। इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान एक दूसरे के पूरक के रूप में नियत प्रगतिशील हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सामाजिक मानवशास्त्र तथा मनोविज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। मनोविज्ञान का केन्द्रिय विषय मानव की मानसिक प्रक्रियाएँ और अनुभव हैं, जब कि

सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओ या सस्थाओ का अध्ययन है। प्रथम का सम्पर्क व्यक्ति से है तो दूसरे का सम्पूर्ण समाज से। इन दो विज्ञानो के दृष्टिकोण मे भी पर्याप्त भिन्नता है। मनोविज्ञान का दृष्टिकोण मूलरूप मे वैयक्तिक (individualistic) है क्योकि यह प्रधानतया व्यक्तिगत मानसिक प्रक्रियाओ का अध्ययन करता है। इसके विपरीत सामाजिक मानवशास्त्र का दृष्टिकोण सामाजिक है क्योकि इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति के रूप मे किसी का भी अध्ययन नही किया जाता है। सामाजिक पृष्ठभूमि पर सामाजिक या सस्थागत मानव-व्यवहारो, सामाजिक व्यवस्थाओ व सस्थाओ का अध्ययन करना सामाजिक मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है।

(५) सामाजिक मानवशास्त्र और इतिहास
(Social Anthropology and History)

इतिहास भूतकाल की विशिष्ट घटनाओ का क्रमबद्ध वर्णन तथा उनके कार्य-कारण सम्बन्धो का विश्लेषण है। आधुनिक इतिहासकार घटनाओ का वर्णन तथा उनके कार्य-कारण सम्बन्धो के विश्लेषण द्वारा मानव-जीवन की धारा को भी समझने का प्रयत्न करते हैं। इससे सामाजिक मानवशास्त्रियो को उनके अध्ययन-कार्यो मे पर्याप्त सहायता मिलती है। जैसा कि पिछले अध्याय मे ही कहा जा चुका है, सस्कृति या समाज कोई तात्कालिक या क्षणिक घटना नही है जो एक दिन मे बनती या बिगडती है। यह तो अतीत के अनेक युगो की मानवीय अन्त क्रियाओ के फलस्वरूप ही बनती है। अतीत की इन मानवीय अन्त क्रियाओ से परिचित कराना आधुनिक इतिहासकार का एक प्रमुख कार्य है जिसके कारण सामाजिक मानवशास्त्रियो को उनके अनुसन्धान-कार्य के लिए अनेक उपयोगी उपकल्पनाएँ मिलती रहती हैं। दूसरी ओर सामाजिक मानवशास्त्री आदिम समाजो की उत्पत्ति, विकास आदि प्रक्रियाओ का जो अध्ययन करता है उससे इतिहास-कार को भूतकाल की विशिष्ट घटनाओ के काय-कारण सम्बन्धो का विश्लेषण करने तथा उन घटनाओ का मनुष्य जाति की कहानी मे क्या महत्त्व है उसका मूल्याकन करने मे पर्याप्त सहायता मिलती है। फिर भी इन दो शास्त्रो का अध्ययन-क्षेत्र, दृष्टिकोण तथा पद्धतियाँ पर्याप्त भिन्न हैं। इतिहास केवल अतीत के विशिष्ट घटनाओ का एक क्रमबद्ध वर्णन और उनके कार्य-कारण सम्बन्धो का विश्लेषण है, जब कि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवस्था या सस्थाओ का अध्ययन है। दूसरे, इतिहास का सम्पर्क केवल भूत-काल की घटनाओ से होता है, जब कि सामाजिक मानवशास्त्र भूत और समकालीन दोनो ही प्रकार के समाजो का अध्ययन है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मानव-समाज के अध्ययन के रूप मे सामा-जिक मानवशास्त्र मानवशास्त्रीय विज्ञानो तथा सामाजिक विज्ञानो के अत्यन्त निकट होकर भी उनमे पृथक् अस्तित्व रखता है। यह पृथक् अस्तित्व सामाजिक मानवशास्त्र के विशिष्ट अध्ययन-विषय तथा पद्धति के कारण है। फिर भी इन विज्ञानो के पारस्परिक आदान-प्रदान से आयोजित मानवीय अध्ययनो द्वारा हम मानव-जीवन के यथार्थ को

समझने का यत्न करते हैं। सामाजिक तथा मानवीय विज्ञानों की सार्थकता भी इसी में है।

SELECTED READINGS

1 Evans-Pritchard *Social Anthropology*, The Free Press Glencoe, Illinois 1954

2 Hoebel *Man in the Primitive World* McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

3 Kroeber *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co , New York, 1948

4 Nadel, *The Foundations of Social Anthropology* Cohen & West Ltd , London 1953

5 Piddington, *An Introduction to Social Anthropology* Oliver and Boyd , London, 1952

9 Radcliffe-Brown *The Development of Social Anthropology* University of Chicago, 1936

३

सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ

(METHODS OF SOCIAL ANTHROPOLOGY)

विषय-सूची—तृतीय अध्याय

१ भूमिका
२ वैज्ञानिक पद्धति की परिभाषा
३ सामाजिक मानवशास्त्र की सामान्य पद्धति
४. ऐतिहासिक पद्धति
५ तुलनात्मक पद्धति
६. प्रकार्यात्मक पद्धति
७ पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति
८. निष्कर्ष

अध्याय ३

सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ
(Methods of Social Anthropology)

भूमिका
(Introduction)

सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य, अन्य सभी विज्ञानो की भाति, प्रयोगसिद्ध और मौलिक प्रविधियो (techniques) का प्रतिपादन करना है जिनकी सहायता से निर्भर-योग्य व प्रामाणिक 'ज्ञान' (knowledge) को प्राप्त किया जा सके और तद्द्वारा सामाजिक घटनाओ (social phenomena) की यथार्थ व्याख्या, भविष्यवाणी और नियन्त्रण सम्भव हो सके। वास्तव मे, क्रमबद्ध रूप मे 'ज्ञान' के सकलन के हेतु प्रत्येक विज्ञान की ही अध्ययन-पद्धतियाँ होती हैं। ये पद्धतियाँ अनुसन्धानकर्त्ता के प्रयत्नो को एक सही दिशा मे चालित करती हैं और उसे प्रकृति या मानव-जीवन की वास्तविकताओ (realities) को समझने मे सहायता देती है। परन्तु उसका यह समझना, जानना या ज्ञान प्राप्त करना सदैव ही असम्पूर्ण रहता है, और वह इस अर्थ मे कि कल जो 'सत्य' (truth) था आज वह 'असत्य' हो सकता है और आज जिसे हम सत्य मानते है आगामी दिन वह भी असत्य सिद्ध हो सकता है। एक समय था जबकि पृथ्वी को चौरस (flat) माना जाता था और वही उस समय 'वास्तविक' था। परन्तु आज उसी वास्तविकता को अवास्तविक प्रमाणित करके पृथ्वी के आकार को प्राय गोल माना जाता है। यही बात अन्य प्राकृतिक तथा सामाजिक घटनाओ के विषय मे भी लागू होती है। इसी कारण आज के वैज्ञानिक एक महा-प्रश्न के उत्तर को खोजने का यत्न करते हैं और वह यह कि "इस समय हम जितनी चीजो को नि सन्देह ठीक-ठीक जानते हैं, उनमे से कितने वास्तव मे सत्य नहीं हैं ?"[1] समस्त विज्ञान की उन्नति या विकास भी इसी प्रश्न के उत्तर मे निहित है। श्री पास्तूर (Pasteur) ने सच कहा है, "सब लोग आपसे यह कहेगे कि आप सही हैं, यह प्रमाणित करने का प्रयत्न कीजिये, मैं आपसे यह कहूगा कि आप गलत हैं, यही प्रमाणित करने का

---

1 "How many of the things we now know *for sure*, aren't really true ?" This probably paraphrased statement has been informally credited to the late Charles F Kettering, world-famous inventor

आप प्रयत्न करे।"[2] किसी घटना को सही या गलत प्रमाणित करना वास्तविक तथ्यो (actual facts) पर निर्भर करता है। जिन तरीको से एक विज्ञान इन वास्तविक तथ्यो का संग्रह करता है, उनका वर्गीकरण करता है और उससे सामान्य निष्कर्ष व वैज्ञानिक नियमो का प्रतिपादन करता है उसे उस विज्ञान की पद्धति कहते हैं।

इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरणीय है कि विद्यमान ज्ञान का 'निर्माण' मनुष्य कुछ विचारो (ideas), तथ्यो (facts) और भौतिक उपकरणो (physical tools) के प्रयोग के द्वारा करता है। पर जिस प्रकार विचार, तथ्य और उपकरण चिरस्थायी या अपरिवर्तनीय नही होते हैं और इनमे भी परिवर्तन होते रहते हैं, उसी प्रकार कोई भी 'ज्ञान' अन्तिम (final) या शाश्वत नही है। वास्तविक तथ्यो मे परिवर्तन होने पर या नवीन विचारो के जागृत होने पर या उन्नत प्रकार के (improved) उपकरणो (tools) के आविष्कार होने पर ज्ञान मे भी सशोधन तथा परिवर्द्धन होता रहता है।

सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ
(Methods of Social Anthropology)

सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ क्षेत्र-कार्य (field-work) पर अर्थात् आदिम समाज के विभिन्न पक्षो के प्रत्यक्ष अध्ययन पर आधारित हैं। सामाजिक मानवशास्त्री पहले अपने अध्ययन-क्षेत्र को चुनता है और फिर उस क्षेत्र मे जाकर प्रत्यक्ष अवलोकन (direct observation) द्वारा अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित तथ्यो को एकत्रित करता है, और उसी के आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्षों को निकालता है। आदिम समाजो के विषय मे जो प्रत्यक्ष अवलोकन किये गये हैं उन्हे मोटे तौर पर दो भागो मे बाँटा जा सकता है—प्रथम तो वे अवलोकन जो कि भूतकाल मे अप्रशिक्षित (untrained) व्यक्तियो, जैसे पर्यटक (travellers), मिशनरी (missionaries) आदि के द्वारा किये गये थे। इनमे वैज्ञानिक दृष्टिकोण (scientific point of view) का नितान्त अभाव था, इस कारण ये अध्ययन वर्णन-प्रधान तथा अति-रजित ही होते थे। दूसरी श्रेणी मे वे अवलोकन आते हैं जो कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले आधुनिक मानवशास्त्रियो के द्वारा किये गये हैं और किये जा रहे हैं।

प्रथम प्रकार के अवलोकन अठारहवी शताब्दी के उतरार्द्ध से प्रारम्भ हुए थे जब कि आदिम समाज के लोगो का सभ्य समाज के साथ प्रथम सस्पर्श पर्यटक तथा मिशनरी के मार्फत हुआ। इन पर्यटको और मिशनरियो ने दुनिया के विभिन्न भागो मे निवास करने वाले आदिम लोगो के जीवन के विभिन्न पक्षो के विषय मे अनेक रोचक विवरण अपने देशवासियो को प्रस्तुत किये। परन्तु इन पर्यटको और मिशनरियो को आदिम जीवन के विभिन्न पक्षो का अध्ययन या अवलोकन करने का न तो वैज्ञानिक प्रशिक्षण (scientific training) प्राप्त था और न इन्हें इस कार्य को करने की किसी क्रमवद्ध पद्धति का ज्ञान ही था। फलत इन पर्यटको तथा मिशनरियो ने केवल उन वस्तुओ, प्रथाओ या सस्थाओ

2 "They will tell you to try to prove you are right I tell you to try to prove you are wrong" —Pasteur

को ही देखा और जाना जो कि उनके दृष्टिकोण से अधिक रोचक या अनोखे प्रतीत हुए या जिनके प्रति उनकी दृष्टि स्वभावत ही आकर्षित हुई। उन्होने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उन सब को देखा और समझा और फिर अनेक बातो को अपनी कल्पना के अनुसार जोड-तोड कर उन्हे अधिकाधिक रोचक रूप मे प्रस्तुत किया। अत स्पष्ट है कि इनके विवरण मे यथार्थता तो कम थी, पर अतिरंजना और कल्पना अधिक। इसी कारण इनकी वैज्ञानिक उपयोगिता भी अत्यन्त कम थी।

इसके पश्चात् श्री डार्विन (Darwin) की खोज के बाद विकासवादियो का एक वर्ग सामने आया। इस वर्ग ने विकासवादी (evolutionary) योजना को समस्त सामाजिक सस्थाओ के उद्भव तथा विकास मे प्रयोग किया। इस कार्य मे उन्हें उपरोक्त पर्यटको तथा मिशनरियो द्वारा प्रस्तुत विवरण से पर्याप्त सहायता मिली। परन्तु इन वैज्ञानिको की सर्वप्रमुख कमी यह थी कि ये लोग घर बैठे ही विकासवादी योजना को लागू करते और उससे निष्कर्ष निकालते रहे। आदिम समाजो मे जाकर वास्तविक अवलोकन द्वारा अपने इन निष्कर्षों की यथार्थता की जाँच करने की आवश्यकता इन विकासवादी लेखको ने अनुभव नही की। इस कारण वास्तविक तथ्यो से परे इनके सैद्धान्तिक निष्कर्षो मे वैज्ञानिक यथार्थता (scientific exactness) बहुत कम थी। चूंकि ये वैज्ञानिक घर बैठे सैद्धान्तिक निष्कर्षो को निकाला करते थे, इस कारण इन्हें आराम-कुर्सी वाले मानवशास्त्री (arm-chair anthropologist) कहा जाता है।

जिस प्रकार पर्यटको तथा मिशनरियो की 'अध्ययन-पद्धति' को आज स्वीकार नही किया जाता है उसी प्रकार आराम-कुर्सी वाले मानवशास्त्रियो की पद्धति को भी आज उचित नही माना जाता है। सैद्धान्तिक निष्कर्ष वास्तविक अथवा वैज्ञानिक नही भी हो सकता है, इस कारण इस पद्धति पर अधिक भरोसा करना उचित नही। सैद्धान्तिक निष्कर्षो को वास्तविक तथ्यो की कसौटी पर कस कर देखना चाहिये। इसीलिये आज के मानवशास्त्रियो ने अपनी अध्ययन-पद्धति मे सैद्धान्तिक निष्कर्ष के साथ वास्तविक अवलोकन (actual observation) को भी जोड दिया है और इन दोनो के समन्वय (synthesis) से ही आधुनिक सामाजिक मानवशास्त्र का वैज्ञानिक विकास सम्भव हुआ है। आज यह अनुभव और स्वीकार किया जाता है कि वास्तविक रूप मे अवलोकित तथ्यो के सुदृढ आधार पर आधारित किये बिना सैद्धान्तिक निष्कर्ष न तो यथार्थ और न ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि इस अध्ययन-पद्धति के अन्तर्गत सिद्धान्तो (theories) का कोई भी स्थान नही है। इसके विपरीत इस पद्धति के अन्तर्गत सिद्धान्तो के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार किया जाता है। आवश्यक तथ्यो के सग्रह के हेतु अवलोकन को सही दिशा मे निर्देशित करने के लिये यह आवश्यक है कि क्रमबद्ध सिद्धान्तो की एक रूपरेखा हमारे सम्मुख हो। परन्तु स्मरण रहे कि ये सिद्धान्त अध्ययन-विषय का केवल एक 'सम्भावित' (probable) आधार मात्र ही होता है जो कि वास्तविक तथ्यो और प्रमाणो के अनुसार या तो सत्य या असत्य प्रमाणित हो सकता है और होता भी है। दूसरे शब्दो मे, सिद्धान्त कोई पूर्व-कल्पित नियम नही, केवल अध्ययन-कार्य या अवलोकन को मनमाने ढंग से चलाने और अव्यवस्थित होने से बचाने के लिये एक व्यवस्थित आधार

होता है जो कि अवलोकन या अनुसन्धान के क्षेत्र को सीमित करके अधिक गलती होने से बचाता है और यह अवसर देता है कि अनुसन्धानकर्त्ता अपने अध्ययन-विषय के अधिक महत्त्वपूर्ण पहलुओ पर अपना ध्यान केन्द्रित करे तथा अनावश्यक पक्षो व सामग्रियो को छोड दे। इस प्रकार क्रमबद्ध सिद्धान्त या सैद्धान्तिक ज्ञान अनुसन्धानकर्त्ता के ध्यान को उसके अध्ययन-विषय पर केन्द्रित रखता है, अध्ययन की दिशा बतलाने मे सहायक होता है और व्यर्थ के तथ्यो को इकट्ठा करके इधर-उधर भटकने से बचाता है। सैद्धान्तिक ज्ञान वे लोरियाँ हैं जो व्यर्थ और अनावश्यक तथ्यो को गा-गाकर सुला देती हैं।

उपरोक्त सामान्य पद्धति के आधार पर सामाजिक मानवशास्त्र मे तीन विशेष पद्धतियो का विकास हुआ है। वे हैं —

(१) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)
(२) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)
(३) प्रकार्यात्मक पद्धति (Functional Method)

अब हम उक्त तीनो पद्धतियो के सम्बन्ध मे अलग-अलग विवेचन करेंगे।

(१) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)

जैसा कि प्रथम अध्याय मे ही कहा जा चुका है, एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप मे मानवशास्त्र का विकास उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे हुआ। इसके पूर्व यह विज्ञान सामान्यतः इतिहास का एक अग माना जाता था। आज मानवशास्त्र इतिहास नही है, इतिहास से कुछ अधिक है, फिर भी मानवशास्त्र मे विशेषकर सामाजिक मानवशास्त्र मे ऐतिहासिक पद्धति का महत्त्व आज भी सुस्पष्ट है। इतिहास, जैसा कि आज उसे समझा जाता है, केवल कोरी घटनाओ का एक सकलन मात्र नही है जो कि विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण सवतो, तारीखो और स्थानो के नाम और राजा-महाराजा, रानी-महारानी और सेनापतियो के कारनामो से भरा हुआ हो। आधुनिक इतिहास वास्तव मे घटित होने वाली घटनाओ की विधि के पुनर्निर्माण का अध्ययन है और उन घटनाओ का मनुष्य जाति की कहानी मे क्या महत्त्व है, उसका मूल्याकन करने का प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दो मे, आधुनिक इतिहास 'क्या था' का ही अध्ययन नही है, 'कैसे हुआ' का भी विश्लेषण और विवेचन है। कोई भी समाज, सस्था या सस्कृति एक दिन मे बनती या बिगडती नही है। इनमे से प्रत्येक का एक इतिहास होता है। ऐतिहासिक पद्धति की सहायता से इस 'इतिहास' को अर्थात् उन मानवीय अन्त -क्रियात्मक प्रक्रियाओ (human interactional processes) को, जिनके फलस्वरूप किन्ही सस्था या सास्कृतिक तत्त्व का क्रम-विकास हुआ है, सरलता से समझा जा सकता है। इस प्रकार ऐतिहासिक पद्धति विभिन्न युगो से गुजरते हुए मानव-जीवन की धारा को समझने मे पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकती है। इसी कारण प्रोफेसर क्रोबर (Prof Kroeber) आदि मानवशास्त्रियो ने इस पद्धति पर पर्याप्त भरोसा किया है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक पद्धति को उपयोग मे लाकर हम

यह जान सकते है कि एक विशेष प्रकार की सस्था या सस्कृति किस समय व किन परिस्थितियो मे सम्भव हो सकी थी और उस समय या उन परिस्थितियो मे परिवर्तन होने के फलस्वरूप उस विशिष्ट सस्था या सस्कृति मे किस प्रकार के परिवर्तन होते गये । इस प्रकार विभिन्न समयो या परिस्थितियो मे होने वाले परिवर्तनो की एक धारावाही प्रवृत्ति का पता चलाकर विभिन्न सस्थाओ तथा सास्कृतिक तत्त्वो के क्रम-विकास-सम्बन्धी सामान्य नियमो को खोजा जा सकता है। जब हम ऐतिहासिक पद्धति को अपनाते है तो हम किन्ही एक सस्कृति की या उस सस्कृति के किसी तत्व (element) की 'व्याख्या' करते है । यह व्याख्या इस भाँति होती है कि हम यह दर्शाने का प्रयत्न करते है कि अमुक सस्कृति या सास्कृतिक तत्त्व ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप किस प्रकार उस रूप मे है जिस रूप मे आज हम उसे पाते हैं। दूसरे शब्दो मे, किसी सस्कृति या सास्कृतिक तत्त्व या सस्था का वर्तमान रूप किस प्रकार से ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का परिणाम है, इसकी व्याख्या को ऐतिहासिक पद्धति अपनाकर ही अधिक सरलता से प्रस्तुत किया जा सकता है ।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि इस पद्धति को सर्वोत्तम रूप मे तभी काम मे लाया जा सकता है जबकि एक विषय के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण लिपिबद्ध या लिखित ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हो। केवल अनुमान पर निर्भर रहकर ऐतिहासिक पद्धति को अपनाने से गलतियाँ अधिक होने की सम्भावना रहती है। अत स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के विषयो के अध्ययन हेतु इस पद्धति की उपयोगिता उतनी नही हो सकती जितनी कि समाजशास्त्र के विषयो के अध्ययन के लिये, क्योकि सामाजिक मानवशास्त्र का, जैसा कि दूसरे अध्याय मे ही बताया जा चुका है, विशेष सम्पर्क आदिवासी समाजो और उनकी सस्कृतियो या सस्थाओ के साथ होता है जिनके सम्बन्ध मे लिपिबद्ध प्रमाण (documentary records) उपलब्ध नही होते है । थोडा-सा ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायगा कि इतिहास की पद्धति पिछली घटनाओ के पुनर्निर्माण (reconstruction) से विशेष रूप से सम्बन्धित होती है और कोई भी ऐतिहासिक निष्कर्ष या विश्लेषण उतना यथार्थ नही होता जितना कि दूसरे प्राकृतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण तथा निष्कर्ष। वास्तव मे ऐतिहासिक निर्धारण (historical determination) गुणात्मक खोज (subjective findings) ही होते हैं जो कि यथार्थता या वास्तविकता के निकट तक ही पहुँच पाते हैं, यथार्थ या वास्तव मे नही होते । और जिन विषयो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक प्रमाणो का अभाव होता है, उनके सम्बन्ध मे तो इतिहास का निष्कर्ष व्यर्थ का ही समझना चाहिये। इतिहास मे एक और कमी यह है कि यद्यपि इतिहास सामाजिक घटनाओ की प्रक्रियाओ की अवहेलना नही करता, फिर भी यह केवल इन प्रक्रियाओ को ही अपने अध्ययन-विषय के रूप मे स्वीकार भी नही करता। साथ ही, ऐतिहासिक व्याख्या या निष्कर्षों का प्रयोग (experiment) द्वारा जाचा भी नही जाता। यह तो घटनात्मक तथ्यो (phenomenal facts) को एकत्रित करता है । श्री क्रोबर ने लिखा है कि "ऐतिहासिक व्याख्या की तुलना हम उस सीमेंट से कर सकते हैं जो कि मानव-इतिहास के पृथक् तथा अर्थहीन तथ्यो

या घटनाओ को एक अर्थपूर्ण प्रतिमान या डिजाइन मे जोडता है।"[3]

उपरोक्त विवेचना से ऐतिहासिक पद्धति की कुछ कमियाँ स्पष्ट है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन ने इस पद्धति की तीन कमियो की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया है—(क) ऐतिहासिक पद्धति मे उपकल्पनात्मक पुनर्निर्माण (hypothetical reconstruction) अन्त तक उपकल्पना (hypothesis) ही रह जाता है क्योकि इसकी परीक्षा (verification) और पुन परीक्षा सम्भव नही होती। (ख) इस पद्धति की यथार्थता इसी कारण अनुमान (assumption) पर आधारित होती है। यह अनुमान सस्कृति की प्रकृति तथा उसके विकास के नियमो के सम्बन्ध मे होता है। दूसरे शब्दो मे, ऐतिहासिक पद्धति मे सस्कृति की यथार्थ प्रकृति तथा उसके विकास के नियमो के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान न होने के कारण हमे अनुमान पर ही निर्भर रहकर अपने निष्कर्षो को निकालना पडता है जिसके कारण इन निष्कर्षो की यथार्थता अधिक निर्भरयोग्य नही हुआ करती। (ग) फलत इस पद्धति से किसी भी चीज की वास्तविक व्याख्या नही हो सकती। इतिहास हमे विस्तारपूर्वक केवल अतीत (past) की कुछ वास्तविक अवस्थाओ व घटनाओ मे और एक सस्कृति मे पाये जाने वाले सम्बन्धो को बताता है।[4] ऐतिहासिक घटनाओ के क्रमिक विकास के सम्बन्ध मे ज्ञान करा देने के अतिरिक्त इस पद्धति का और कोई व्यावहारिक मूल्य (practical value) नही है।

(२) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)

सामाजिक मानवशास्त्र मे इस पद्धति का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे बहुत प्रयोग होता है। क्योकि इस पद्धति के आधार पर समग्र मानव-सस्कृतियो की सामान्य विशेषताओ का पता चल सकता है। जो इस पद्धति को काम मे लाते हैं वे सर्वप्रथम विभिन्न सस्कृतियो या उनके सकुलो या प्रतिमानो का अलग-अलग अध्ययन करते हैं, उनकी उत्पत्ति के कारणो का पता लगाते हैं तथा उनके विकास या विनाश के आधारो को ढूंढ निकालते हैं, और फिर उनमे जो सामान्य चीजें होती हैं उन्हें छाँट लेते हैं और उनके आधार पर सामान्य निष्कर्षों को निकालते हैं। इस तुलनात्मक पद्धति के द्वारा विभिन्न समाज की सस्कृति व सस्थाओ की उत्पत्ति, विकास और विनाश के सामान्य कारणो या आधारो का पता चल जाता है और हमे मानव-समाज मे क्रियाशील उन सामान्य प्रेरक शक्तियो का भी ज्ञान होता है जिनके कारण सस्कृति के विभिन्न अगो मे सगठन या एकता बनी रहती है। यदि विभिन्न समाज व सस्कृति से सम्बन्धित तथ्यो को सावधानी से एकत्रित किया जाय, उन्हें उचित ढग से प्रस्तुत किया जाय तथा उनमे पाये जाने वाली समानताओ और भिन्नताओ दोनो को ही वैज्ञानिक ढग से विश्लेषित किया जाय तो मानव-समाज,

---

3 "Historical interpretation may be compared to a cement which binds the isolated and *per su* meaningless facts or events of human history into a meaningful pattern or design" Kroeber, *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press, 1953, p 79

4 A R Radcliffe-Brown, *Method in Social Anthropology*, Edited by M N Srinivas, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p 34

सस्कृति व सस्थाओ के सम्बन्ध मे सामान्य नियमो को ढूँढा जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह परम आवश्यक है कि विषयो का चुनाव और तुलना वैज्ञानिक ढग से की जाय और अपनी निजी अभिमत तथा दृष्टिकोण को दृढता से दूर रक्खा जाय। दूसरे शब्दो मे, इस पद्धति का अनुसरण करने वाले को समाज या सस्कृति से सम्बन्धित तथ्यो को वैज्ञानिक ढग से एकत्रित करना चाहिए और इन तथ्यो को वास्तविक निरीक्षण, परीक्षण या प्रयोग के आधार पर तोलना चाहिये तथा इस प्रकार के अध्ययन-कार्य के किसी भी स्तर पर उसे आध्यात्मिक, दार्शनिक या उद्वेगात्मक (emotional) विचारो को अपने पास भटकने तक न देना चाहिये जिससे कि उसका तुलनात्मक कार्य और उसके आधार पर प्रतिपादित नियम (laws) या सिद्धात विकृत न हो जाएँ।

तुलनात्मक पद्धति मे कुछ मानवशास्त्री सास्कृतिक तत्त्वो (cultural traits) को ही आधार मानते है। दूसरे शब्दो मे, तुलना करने मे सास्कृतिक तत्वो को एक एक इकाई मान लिया जाता है और विभिन्न समाज की इन इकाइयो की तुलना की जाती है। इसके विपरीत श्री विसलर (Wissler) आदि कुछ विद्वान सास्कृतिक क्षेत्रो (culture areas) को अपने तुलनात्मक अध्ययन की इकाइयाँ मानते हैं। इन विद्वानो का कथन है कि अगर हम ध्यान से देखे तो हमे स्पष्ट ज्ञात होगा कि एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र मे कुछ सास्कृतिक तत्त्व और सस्कृति सकुल (culture complex) अपने विशिष्ट रूप मे पाये जाते है। यदि हम सतर्क होकर इन सास्कृतिक क्षेत्रो को पहले मालूम करलें और फिर एक सास्कृतिक क्षेत्र की तुलना दूसरे से करे तो मानव सस्कृति के अनेक सामान्य तथा विशिष्ट गुण या प्रकृति के सम्बन्ध मे हमे ज्ञान हो सकता है। श्री फ्राज बोआस (Franz Boas) ने समस्त ससार के सास्कृतिक परिवर्तन या प्रसार की एक साथ विवेचना करने के बजाय यह अधिक अच्छा समझा कि ससार को विभिन्न सास्कृतिक क्षेत्रो मे बाँट लिया जाय और तब एक-एक सास्कृतिक क्षेत्र का तुलनात्मक अध्ययन व विश्लेपण किया जाय और अन्त मे कुछ सामान्य निष्कर्षों को निकाला जाय जिससे सास्कृतिक विकास, प्रसार या परिवर्तन के आधारभूत कारणो का पता चल सके।

वास्तव मे सास्कृतिक तुलना की कोई भी वैज्ञानिक और निर्भरयोग्य प्रविधि (technique) अभी तक उपलब्ध नही है जिसकी सहायता से विभिन्न सस्कृतियो के प्रकार्यात्मक सम्बन्ध का ठीक-ठीक पता लगाया जा सके। फिर भी सर्वश्री रैडक्लिफ-ब्राउन, फिर्थ (Firth), रिचार्ड्स (Dr Audrey Richards) आदि विद्वानो ने इस प्रकार के कुछ अध्ययनो को प्रस्तुत किया है। अभी तक जितने भी तुलनात्मक अध्ययन प्रकाशित हुए हैं उनमे डा० नैडल (Dr S F Nadel) द्वारा प्रस्तुत नूबा पर्वत (Nuba Mountains) का अध्ययन सबसे अच्छा है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन हमारे लिए उपयोगी होते हुए भी एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक ही सीमित है। अधिक विस्तृत रूप मे या ढग से तुलनात्मक अध्ययन के लिए अधिक विस्तृत तुलनात्मक प्रविधि की आवश्यकता है, जिसका कि आज भी नितान्त अभाव है। उपस्थित ज्ञान के आधार पर हम अधिक से अधिक दो सस्कृतियो के विभिन्न पक्षो मे पाई जाने वाली समानताओ और भिन्नताओ को ढूँढ सकते हैं, इनके बीच पाये जाने वाले कार्य-कारण सम्बन्धो का तुलनात्मक अध्ययन

हम वास्तविक वैज्ञानिक आधारो पर नही कर सकते । तुलनात्मक पद्धति की यही सब से बडी कमजोरी है ।

(३) प्रकार्यात्मक पद्धति
(Functional Method)

प्रारम्भ के मानवशास्त्रियो ने सामाजिक सस्थाओ या सस्कृति के विभिन्न पक्षो के स्वरूपो के अध्ययन पर अधिक बल दिया । उनके विश्लेषणो से यह पता चलाना असम्भव-सा था कि सास्कृतिक तत्वो का एक स्वरूप (form) ही नही, बल्कि कुछ न कुछ कार्य (function) भी होता है । प्रकार्यात्मक पद्धति इस कमी को पूरा करती है और सस्कृति के विभिन्न पक्षो के कार्यों के विश्लेषण तथा निरूपण पर अधिक बल देती है । इस पद्धति का अनुसरण करने वालो मे सर्वश्री मैलिनोवस्की (Malinowski), इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard), रेमड फिर्थ (Raymond Firth), रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

सामाजिक मानवशास्त्रीय अध्ययन-पद्धति के विषय मे जो अस्पष्टता और अनिश्चितता पहले थी, उसे दूर करने का एक वैज्ञानिक कदम प्रकार्यात्मक पद्धति के प्रवर्तकों ने उठाया । इस पद्धति का पूर्ण विकसित रूप हमे सर्वप्रथम श्री मैलिनोवस्की की *A Scientific Theory of Culture and other Essays* (1944) और *The Dynamics of Culture Change* (1945) नामक पुस्तको मे देखने को मिलता है । श्री मैलिनोवस्की ने लिखा है कि आज मानवशास्त्र सस्कृति के विस्तृत विवरण को प्रस्तुत करने मे अपना समय नष्ट नही करता, अपितु इस बात की जांच करता है कि वह (सस्कृति) कैसे और क्यो कार्य करती है , किस प्रकार उसके विभिन्न पक्ष सम्पूर्ण प्रतिमान मे सबद्ध रहते हैं, उनके आधार पर कौनसी प्रेरक शक्ति क्रियाशील है और किस प्रकार से इसके विभिन्न पक्षो को सबद्ध रूप मे एक सजीवित व्यवस्था के रूप मे विकसित किया जा सकता है । प्रकार्यात्मक पद्धति इन समस्त प्रश्नो का उत्तर ढूंढने का एक उपयोगी साधन है ।

प्रकार्यात्मक पद्धति कुछ निश्चित आधारो या सिद्धातो को प्रस्तुत करती है, जो कि किसी भी सस्कृति के वैज्ञानिक विश्लेषण या अध्ययन के लिए आवश्यक हैं । प्रथम आधार तो यह है कि यह इस बात पर बल देती है कि मानव सस्कृति कुछ पृथक्-पृथक् तत्त्व (traits and elements) का सकलन मात्र नही है । इनमे एक सावयवी एकता (organic unity) हुआ करती है और इसलिये प्रत्येक अग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं । इस पद्धति का दूसरा आधार यह है कि सस्कृति के प्रत्येक अग, इकाई या तत्त्व (trait) का कोई न कोई कार्य अवश्य ही होता है । श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) का कथन है कि सावयव या शरीर के प्रत्येक अग का सम्पूर्ण सावयवी व्यवस्था (organic system) मे एक या कुछ विशेष कार्य होते है, कोई भी यह नही कह सकता कि इन मे से कोई अग किसी प्रकार का भी कार्य नही करता । प्रत्येक अग का कार्य अलग-अलग बँटा हुआ है फिर भी प्रत्येक अग अपने कार्यों को उचित ढग से करने के लिए दूसरे अगो से सम्बन्धित तथा उन पर आश्रित होता है । जो बात शरीर या सावयव के सम्बन्ध मे

सच है वही बात सस्कृति के सम्बन्ध मे भी ठीक है। सस्कृति के अन्तर्गत भी प्रत्येक इकाई का एक विशिष्ट महत्त्व तथा कार्य होता है जो कि सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता और निरतरता को बनाये रखने मे सहायक होते है। प्रत्येक के बिना सम्पूर्ण का अस्तित्व (existence) असम्भव है और सम्पूर्ण के बिना प्रत्येक अर्थहीन भी है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अग का सम्पूर्ण शरीर को जीवित रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार सस्कृति की प्रत्येक इकाई या सस्था का सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था की जीवन-विधि को कायम रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ करता है।[5] हो सकता है कि बाहरी तौर पर एक सस्कृति की एक प्रथा विशेष हमारे लिए अर्थहीन और अनोखी प्रतीत हो, परन्तु यदि सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे के सन्दर्भ मे उस प्रथा के कार्यों की हम सावधानी से विवेचना करे तो उसी प्रथा का वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट हो जायगा। फिर वह एक अनोखी या बेतुकी प्रथा न रह कर सामाजिक दृष्टिकोण से एक महत्त्वपूर्ण कार्य को करने वाली प्रतीत होगी। इसीलिए प्रकार्यात्मक पद्धति मे सस्कृति के किसी भी अग या तत्त्व को न तो व्यर्थ का माना जाता है और न ही अर्थहीन। यह पद्धति तो सस्कृति की प्रत्येक इकाई के कार्यों को खोजती है और इसी कार्य के आधार दूसरी इकाइयो के साथ इसके प्रकार्यात्मक सम्बन्ध को मालूम करने का प्रयत्न करती है जिससे कि अन्त मे उसे यह पता चल जाय कि ये समस्त इकाइयाँ उस समाज के, जिसे कि वह अध्ययन कर रहा है, सम्पूर्ण जीवन-विधि (the total life-way) को बनाये रखने मे मिलजुल कर कैसे काम करते है। इस पद्धति का **तीसरा** आधार यह है कि यह मानव-समाज के एक सामान्य सिद्धान्त (general theory) पर आधारित है। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि यह सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि मानव समाजो मे असख्य भिन्नताओ के बीच कुछ सार्वभौम मानवीय आवश्यकताओ के आधार पर प्रत्येक समाज मे एक प्रकार की सामान्य धारा बहती रहती है। इसीलिए प्रकार्यात्मक पद्धति मानव-क्रियाओ के प्रत्येक पहलू या पक्ष चाहे वह आर्थिक हो या राजनैतिक या सामाजिक या जादू या धर्म का अध्ययन, एक-दूसरे के कार्यो के आधार पर जो सम्बन्ध पाये जाते हैं उसके सन्दर्भ मे करती है ताकि यह पता चले कि ये समस्त पहलू किसी प्रकार मानव की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकताओ को पूरा करते हुए उसके अस्तित्व को बनाये रखते हैं। प्रकार्यात्मक पद्धति निश्चित रूप से यह स्वीकार करती है कि सस्कृति का हर एक तत्त्व किसी न किसी प्रकार की क्रिया करने के लिए जन्म लेता है, अर्थात् प्रत्येक तत्त्व का कोई कार्य होता है, वह मानव की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इस प्रकार सस्कृति का हर-एक तत्त्व दूसरे तत्त्वो से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relation) के कारण जकडा रहता है। इस प्रकार्यात्मक सम्बन्ध को ढूंढ निकालना तथा उसका विश्लेषण और निरूपण करना ही इस पद्धति का प्रमुख उद्देश्य है।

अत स्पष्ट है कि प्रकार्यात्मक पद्धति इस बात पर बल देती है कि सस्कृति के विभिन्न तत्त्व एक-दूसरे से आन्तरिक सम्बन्ध के कारण जकडे हुए है, और ये सारे-के-सारे

---

5 See A R Radcliffe-Brown, "On the concept of function in social science," *American Anthropologist*, Vol 37, 1935, pp 394-396

तत्त्व मिलकर ही सम्पूर्ण संस्कृति का निर्माण करते हैं। इसलिए किसी भी सांस
तत्त्व का हमें अन्य तत्त्वों से अलग करके अध्ययन नहीं करना चाहिये। सांस्कृतिक त
पृथक् कोई अस्तित्व नहीं, न ही उसका अलग-से कोई अर्थ होता है, सम्पूर्ण संस्
प्रसंग में ही वह सार्थक कहा जा सकता है और उसी रूप में उसका अध्ययन मानव
को करना चाहिये। संक्षेप में, इस पद्धति के अनुसार 'सम्पूर्ण संस्कृति' (total cul
या 'समग्र रूप में संस्कृति' (culture as a whole) का अध्ययन करना चाहिये
इसके विभिन्न पक्ष जैसे धर्म, जादू, विवाह आदि का पृथक् अध्ययन।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) के अनुसार प्रकार्यात्मक पद्धति के अ
सर्वप्रथम हम मानव की उन आवश्यकताओं (needs) का पता लगाते हैं जो कि
शारीरिक और मानसिक (bio-psychic) तथा अन्त में (finally) उच्चतर ब
अस्तित्व (higher intellectual survival) को बनाये रखता है। फिर हम उन त
(ways) या साधनों का पता लगाते हैं जिसके द्वारा इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो
शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करने के तरीकों या साधनों के समग्र
ही संस्कृति कहते हैं। वह संगठित व्यवस्था (integrated system) जिसमें एक
ढंग से शरीर का पोषण होता है, एक खास ढंग से यौन सम्बन्ध स्थापित होता है, एक
ढंग से अन्य शारीरिक, मानसिक व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साध
संचय होता है और एक खास ढंग से ये सब 'कार्य' कर रही होती है, वही स
कहलाती है। प्रकार्यवादी पद्धति के अन्तर्गत संस्कृति का अध्ययन इसी रूप में
है और श्री मैलिनोवस्की इस प्रकार के अध्ययन को ही संस्कृति का वास्तविक अ
कहते हैं।

श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने प्रकार्यात्मक पद्धति के सम्ब
लिखते हुए कहा है कि यह पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि संस्कृति एक
या संगठित व्यवस्था (integrated system) है। एक समुदाय विशेष के जीवन में स
का प्रत्येक तत्त्व एक विशिष्ट 'पार्ट' (part) अदा करता है अर्थात् उसका एक वि
कार्य होता है। यह पद्धति यह स्वीकार करती है कि सभी समाज या सभी संस्कृतिय
सामान्य 'कार्य के नियमों' (laws of function) के द्वारा नियन्त्रित और व्यव
होती है। प्रकार्यात्मक पद्धति का उद्देश्य इन्हीं सामान्य नियमों को खोज निकालना है
उस खोज के आधार पर किसी भी संस्कृति के किसी भी तत्त्व की व्याख्या या विश
प्रस्तुत किया जा सके। उदाहरणार्थ, यदि हम एक यह सामान्य नियम ढूंढ़ निका
संस्कार या उत्सवों का प्रमुख कार्य सामूहिक भावना को अभिव्यक्त करना तथा
द्वारा सामाजिक एकता को बनाये रखना है, तो इसी नियम के आधार पर हम किस
संस्कृति के संस्कारों या उत्सवों की व्याख्या कर सकते हैं और इस बात का विश्लेषण
कर सकते हैं कि उन संस्कारों या उत्सवों द्वारा कौन-कौन सी सामूहिक भावनाएँ
(express) होती हैं और इनको सामाजिक एकता बनाये रखने में क्या योगदान होत
श्री रैडक्लिफ-ब्राउन का दावा है कि जिस प्रकार की तार्किक पद्धतियों (lo
methods) का प्रयोग भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि प्राकृतिक विज्ञानों में होत

उसी प्रकार की पद्धतियो द्वारा प्रकार्यात्मक पद्धति भी मामान्य नियमो को खोजती तथा उनकी परीक्षा (verification) करती है।[6]

अत स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन मे ऐतिहासिक पद्धति की तुलना मे प्रकार्यात्मक पद्धति का महत्त्व अधिक है। इसका कारण यह है कि सामाजिक मानवशास्त्र का समस्त ध्यान सामाजिक सस्थाओ के विश्लेपण और उनके कार्यो के निरूपण पर ही केन्द्रित होता है, इसका (सामाजिक मानवशास्त्र का) अधिक सम्पर्क उन व्यक्तियो से नही होता है जिनकी कि ये सस्थाएँ होती हैं। दूसरे शब्दो मे, सामाजिक मानवशास्त्र, विशिष्ट अर्थ मे, व्यक्तियो या मनुष्यो का अध्ययन नही अपितु उनके द्वारा विकसित सामाजिक सस्थाओ या सस्कृति का अध्ययन है। व्यक्तियो या मनुष्यो का अध्ययन मानवशास्त्र और विशिष्ट अर्थ मे इतिहास करता है। सामाजिक सस्थाओ का अध्ययन करते हुए सामाजिक मानवशास्त्र इन सस्थाओ के कार्यो का विश्लेपण करने का प्रयत्न करता है और सम्पूर्ण सामाजिक जीवन मे प्रत्येक सस्था का क्या कार्य है, इसे मालूम करता है। यही प्रकार्यात्मक पद्धति का सक्षिप्त रूप है।

अभी तक प्रकार्यात्मक पद्धति के सम्बन्ध मे जो कुछ भी कहा गया है उससे स्पष्ट है कि इस पद्धति या प्रकार्यात्मक व्याख्या मे तीन प्रमुख तत्त्व होते हैं—प्रथम तो यह कि यह पद्धति सस्कृति के विभिन्न पक्षो या सस्थाओ मे पाये जाने वाले कारणात्मक सम्बन्ध को ढूंढने और प्रमाणित करने का प्रयत्न करती है। अगर धर्म का सम्पर्क या सम्बन्ध जादू-टोने से है तो यह पद्धति इस प्रश्न का उत्तर देगी कि कि यह सम्बन्ध क्यो है अर्थात् किन कारणो से है। दूसरे, यह पद्धति केवल सम्बन्ध के कारणो का पता लगाकर ही सतुष्ट नही होती है। वह यह भी पता लगाती है कि इनमे से प्रत्येक सस्था सम्पूर्ण सामाजिक या सास्कृतिक व्यवस्था मे कौनसा पार्ट अदा करती है अर्थात् उसका कार्य क्या है। सम्पूर्ण सामाजिक या सास्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता व निरतरता इसी बात पर निर्भर होती है कि ये विभिन्न इकाइयाँ या सस्थाएँ आपस मे कार्य-कारण सम्बन्ध को बनाये रखते हुए मिल कर क्रियाशील रहे। प्रकार्यात्मक पद्धति कार्यों के आधार पर एक अग का सम्पूर्ण से क्या सम्बन्ध है, उसे मालूम करने का प्रयत्न करती है। सक्षेप मे, यह पद्धति अग-सम्पूर्ण सम्बन्ध (part-whole relationship) को ढूंढती है। तीसरे, प्रकार्यात्मक पद्धति इस बात पर बल देती है कि सस्कृति की प्रत्येक इकाई या सस्था का स्वरूप उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यो पर ही निर्भर होता है। यहाँ तक कि इन इकाइयो का अस्तित्व भी उनके कार्यो पर ही निर्भर है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने तो स्पष्ट ही कहा है कि कार्यविहीन अस्तित्व (functionless survival) नाम की कोई चीज सस्कृति मे नही हो सकती। उनका कथन हैं कि सस्कृति का प्रत्येक तत्त्व किसी न किसी कार्य को करने के लिए प्रकट होता है, ऐसी हालत मे सस्कृति के किसी तत्त्व के विषय मे यह कहना

---

6 A R Radcliffe-Brown, *Method in Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, pp 34-35

कि बिना किसी काम को किये भी उसका अस्तित्व बना रहेगा, संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त को भुला देना है।

अत स्पष्ट है कि प्रकार्यात्मक व्याख्या (functional explanation) इस सिद्धान्त पर आधारित होता है कि—(१) संस्कृति वह साधन या उपकरण है जिसके द्वारा या जिसकी सहायता से मानव के लिए यह सरल हो जाता है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे अपने पर्यावरण का सामना कर सके, (२) संस्कृति एक ऐसी व्यवस्था है जिसका कि प्रत्येक अग किसी न किसी उद्देश्य (end) की पूर्ति का एक साधन (means) हुआ करता है अर्थात् संस्कृति का आधारभूत नियम ही यह है कि संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व या अग किसी न किसी काम को करता है, हमारी कोई न कोई आवश्यकता को पूरा करता है, (३) संस्कृति की इन इकाइयो, तत्त्वो, अगो का सबसे स्पष्ट स्वरूप सामाजिक संस्थाएँ होती हैं जो कि मानव की आधारभूत आवश्यकताओ की पूर्ति के स्थापित या मान्य साधन होते हैं, (४) संस्कृति के ये विभिन्न अग पृथक् पृथक् कार्यो को करते हैं, फिर भी इन्ही कार्यों के आधार पर वे सभी अग एक-दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं, अर्थात् संस्कृति वह सबद्ध या सगठित व्यवस्था है जिसके कि विभिन्न अगो मे अन्त सम्बन्ध और अन्त निर्भरता पाई जाती है, (५) संस्कृति का कोई भी विश्लेषण इन विभिन्न अगो के कार्यों तथा उनके अन्त सम्बन्ध तथा अन्त-निर्भरता के आधार पर ही होना चाहिये। इसीलिए प्रकार्यात्मक पद्धति को मानने वाले विद्वानो के दृष्टिकोण से 'कार्य' (function) का तात्पर्य उस अशदान (contribution) से है जो कि आशिक क्रिया (partial activity) का सम्पूर्ण क्रिया को होता है जिसका कि वह एक भाग है।[7] दूसरे शब्दो मे, कार्य से मतलब संस्कृति के प्रत्येक अग की उस क्रिया से होता है जिसके कारण केवल मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति ही नही बल्कि सम्पूर्ण संस्कृति का अस्तित्व व सगठन बना रहता है। इस दृष्टिकोण से सामाजिक व्यवस्था मे एक एकता (unity) होती है जिसे कि प्रकार्यात्मक एकता (functional unity) कहा जाता है। डाक्टर लेस्सर ने लिखा है कि अध्ययन की सुविधा के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि हम सामाजिक जीवन या संस्कृति के विशेष अग या पक्ष को चुन लें या उस पर विशेष ध्यान दें, परन्तु प्रकार्यात्मक पद्धति का अन्तिम उद्देश्य सामाजिक जीवन या संस्कृति को समग्र रूप मे या प्रकार्यात्मक रूप मे परिभाषित करना ही है।

(४) पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति
(Archeological Method)

उपरोक्त तीन पद्धतियो के अतिरिक्त सामाजिक मानवशास्त्र को बहुधा एक अन्य पद्धति—पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति—का भी सहारा लेना पडता है, विशेषकर जब मानवशास्त्री को अपने अध्ययन मे प्रागैतिहासिक युग के प्रमाणो को काम मे लाना होता है। ऐतिहासिक पद्धति हमे केवल ऐतिहासिक युग के सम्बन्ध मे ही बता सकती है, उससे

---

7 "Function is the contribution which a partial activity makes to the total activity of which it is a part" —A R Radcliffe-Brown

पुरानी बातो के सम्बन्ध मे वह चुप रहता है। इस कमी को पूरा करने के लिए हमे पुरातत्व-शास्त्रीय पद्धति का सहारा लेना पडता है। यह हमे इतिहास के पहले या प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध मे बताती है। इस पद्धति मे खुदाइयो (excavation) से प्राप्त ककालीय (skeletal) तथा अन्य भौतिक अवशेषो के आधार पर प्राचीन मानव तथा उसकी सस्कृति की उत्पत्ति, उत्थान और पतन का पता चलाया जाता है। इस पद्धति की सहायता से हम उस युग के मानव-समाज व सस्कृति के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिसके सम्बन्ध मे कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नही है। इस कारण इस पद्धति का एक मात्र आधार खुदाइयो से प्राप्त भौतिक अवशेष ही होते हैं। वैज्ञानिक इन अवशेषो का अध्ययन करके यह पता लगाते हैं कि वे किस युग के हैं। इनके युग का पता लगाने के अनेक तरीके हैं। पहला तरीका तो यही है कि वह अवशेष जिस जगह पर पाया गया है उस जगह की चट्टान की आयु मालूम कर ली जाती है। चट्टानो की आयु भूगर्भशास्त्र के नियमो से पता चल जाती है। इस पद्धति की सहायता से चट्टान की जो आयु निश्चित की जाती है, वह आयु उस अवशेष की भी मान ली जाती है। एक दूसरा तरीका यह है कि फ्लोरीन गैस की मात्रा के कम या ज्यादा होने के आधार पर भी खुदाइयो से प्राप्त अवशेषो की आयु निश्चित की जाती है। यह तरीका विशेषकर उन चीजो की आयु मालूम करने के लिए काम मे लाया जाता है जो कि फ्लोरीन गैस को अपने अन्दर सोख (absorb) सकती हैं। यह गुण विशेषकर हड्डियो मे पाया जाता है। वैज्ञानिको ने यह मालूम किया है कि जमीन मे दबी हड्डियाँ ज्यो-ज्यो पथराने लगती हैं, त्यो-त्यो फ्लोरीन गैस को अपने मे सोखती जाती हैं। जिस हड्डी मे जितनी अधिक फ्लोरीन गैस होगी, वह उतनी ही पुरानी होगी। इस उपाय से भी अनेक चीजो की आयु निश्चित कर ली जाती है। पुरातत्व-शास्त्रीय पद्धति के द्वारा जब प्रागैतिहासिक औजारो, उपकरणो तथा मानव-कलाकृति के अन्य अवशेषो का अध्ययन होता है तो मानव-इतिहास की प्रक्रियाओ, सामाजिक जीवन, सस्कृति आदि अनेक विषयो पर प्रकाश पडता है तथा उससे प्राचीन सामाजिक जीवन की सामान्य विशेषताओ का वैज्ञानिक और इसलिए निर्भरयोग्य ज्ञान प्राप्त होता है। यह पद्धति कठिन अवश्य ही है, परन्तु मानव-इतिहास तथा सस्कृति के पुनर्निर्माण मे इसका महत्त्व भी उतना ही अधिक है। इतना होने पर भी इस पद्धति मे प्रमुख कमी यह है कि इससे सामाजिक जीवन तथा सस्कृति का केवल आशिक ज्ञान ही हो सकता है। इस पद्धति के माध्यम से हम प्राचीन मानव के जीवन के केवल भौतिक पक्षो से ही परिचित हो सकते हैं। उससे सम्भवत हम यह जान सकते है कि वे कैसे घरो मे रहते थे, किस प्रकार के उपकरणो या औजारो को काम मे लाते थे, वे मूर्ति-पूजक थे या नही, उनके आभूषण किस प्रकार के और किस चीज के बने होते थे, वे किसी धातु का प्रयोग जानते थे या नही। परन्तु इस पद्धति के आधार पर हम प्राचीन मानव के जीवन के अभौतिक (non-material) पक्षो के विषय मे कुछ नही कह सकते, उस बीते हुए युग की समाज-व्यवस्था, सामाजिक नियम, कानून, आदर्श, मूल्य, विश्वास आदि विषयो पर कुछ भी प्रकाश डालना हमारे लिए असम्भव-सा ही होता है। इन विषयो के सम्बन्ध मे

जो निष्कर्ष हम निकालते हैं उसे अधिक से अधिक 'वैज्ञानिक अनुमान' ही कहा जा सकता है।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियो के दोष और गुण दोनो ही हैं। परन्तु अगर उन्हे एक योग्य अन्वेषक सही अर्थ मे और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रयोग करे तो निश्चिय ही वह वैज्ञानिक नियमो का प्रतिपादन कर सकता है। इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि कौन-सी पद्धति सबसे अच्छी है? इसके उत्तर मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सामाजिक मानवशास्त्र मानव की संस्कृति, सामाजिक जीवन तथा उनसे सम्बन्धित प्रक्रियाओ का विज्ञान है और ये संस्कृति, सामाजिक जीवन व प्रक्रियाएँ अनेक रूप मे तथा विभिन्न दशाओ और परिस्थितियो मे प्रकट होती हैं। इस कारण उनका किसी एक पद्धति से अध्ययन करना न तो उचित होगा और न किया ही जा सकता है। कुछ विषयो मे ऐतिहासिक पद्धति उपयुक्त होगी तो कुछ अन्य विषयो के अध्ययन मे तुलनात्मक पद्धति। ये सभी पद्धतियाँ वास्तव मे एक-दूसरे की सहयोगी हैं न कि पतियोगी, और किसी एक की सहायता से सामाजिक मानवशास्त्र का समुचित विकास नही हो सकता है। सच तो यह है कि एक पद्धति दूसरे के दोषो का नाश करती है। अत सामाजिक मानवशास्त्र की उपरोक्त पद्धतियो को एक-दूसरे का पूरक समझकर समय, अवसर, समाज तथा अध्ययन-विषय की माग के अनुसार एक या अधिक पद्धतियो का पृथक् रूप से या समन्वित उपयोग ही उपयुक्त होगा।

इस सम्बन्ध मे एक बात और स्मरणीय है और वह यह है कि सामाजिक मानवशास्त्र की विशेष पद्धतियाँ होते हुए भी इन पद्धतियो की वास्तविक उपयोगिता सामान्य पद्धति अर्थात् क्षेत्र-कार्य (field work) पद्धति के माध्यम से ही प्राप्त होती है या हो सकती है। इस सामान्य पद्धति—क्षेत्र कार्य के तीन आवश्यक आधार हैं—**प्रथम** तो उपकल्पना (hypothesis), **द्वितीय** निरीक्षण (observation) और **तृतीय** परीक्षण (verification)। प्रारम्भ मे, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सिद्धात बनाने वाले (theorist) अन्य लोगो के जैसे पर्यटक (travellers), मिश्नरी-पादरी आदि के निरीक्षण पर भरोसा करके नियमो का प्रतिपादन करते थे। परन्तु ये नियम **दो** कारणो से वैज्ञानिक या यथार्थ नही हो पाते थे—**प्रथम** तो यह कि यह पता नही चल पाता था कि वे पर्यटक, मिश्नरी-पादरी आदि जो कुछ खबर दे रहे हैं या एक विषय का जिस ढग से निरूपण कर रहे है वह ठीक भी है या नही। इस प्रकार इनके द्वारा प्रस्तुत बातो या इनके द्वारा देखी गई घटनाओ (phenomena) के वर्णन पर सिद्धात को प्रतिपादित करने वाले विद्वानो का कोई भी नियत्रण नही रहता था जिसके फलस्वरूप इनका निष्कर्ष यथार्थ (exact) ही है, यह दावा नही किया जा सकता था। **द्वितीय** इस प्रकार से सिद्धातो को प्रतिपादित करने वाले विद्वान अपनी उपकल्पनाओ (hypothesis) की परीक्षा आगे और निरीक्षण (further observation) के द्वारा नही कर पाते थे। किसी

भी अध्ययन को यथार्थ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उपकल्पनाओ की परीक्षा और पुन परीक्षा (verification and reverification) वास्तविक निरीक्षण के आधार पर की जाय। आधुनिक मानवशास्त्री आज यह स्वीकार करते है कि उपरोक्त दोनो कमियो को दूर किये बिना सामाजिक मानवशास्त्र मे कोई भी प्रगति सम्भव नही। प्रत्येक उपकल्पना की परीक्षा व पुन परीक्षा वास्तविक निरीक्षण के द्वारा होना अनिवार्य और आवश्यक दोनो ही है। ऐसा देखा गया है कि कुछ विद्वानो ने स्वय निरीक्षण किये बिना ही दूसरो की बातो या वर्णनो पर निर्भर रहकर एक समाज की जिन प्रथाओ के सम्बन्ध मे लिखा है, वे वास्तव मे वैसी कदापि नही है, और अगर ये विद्वान उन प्रथाओ का वास्तविक निरीक्षण करने का कष्ट करते तो वे कभी उन प्रथाओ को उस रूप मे प्रस्तुत नही करते जैसा कि उन्होने किया है। आधुनिक मानवशास्त्रियो ने यह भी अनुभव किया है कि कुछ सामान्य ज्ञान के आधार पर किसी समाज की किन्ही प्रथाओ के सम्बन्ध मे उपकल्पनाओ को बना लेना ही पर्याप्त नही है। ये उपकल्पनाएँ तब तक अर्थहीन हैं जब तक उनकी पुन परीक्षा वास्तविक निरीक्षण के द्वारा न कर ली जाय। हो सकता है कि वास्तविक निरीक्षण उन उपकल्पनाओ को पूर्णतया गलत ही प्रमाण कर दे।

अत स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र की सर्वप्रमुख पद्धति उपकल्पना के निर्माण और वास्तविक निरीक्षण पर निर्भर है। सर्वप्रथम तथ्यो (facts) का निरीक्षण किया जाना चाहिए और उसके आधार पर उपकल्पनाओ को बनाना चाहिए। परन्तु ये दोनो ही प्रारम्भिक कार्य मात्र हैं। इसके बाद हमे फिर से एक बार वास्तविक निरीक्षण का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए जिससे कि उन उपकल्पनाओ की परीक्षा व पुन परीक्षा सम्भव हो सके। ऐसा करने पर यह आवश्यकता अनुभव करेंगे कि जिस उपकल्पना को लेकर हम लोगो ने अध्ययन-कार्य प्रारम्भ किया था उसमे कुछ सुधार करना जरूरी है या उसे बिल्कुल ही बदलकर नई उपकल्पना का निर्माण आवश्यक है। यह प्रक्रिया तब तक चलनी चाहिए जब तक हमारी उपकल्पना की यथार्थता प्रमाणित न हो जाय।

अत निरीक्षण और उपकल्पना को एक साथ मिलाकर काम मे लाकर अध्ययन करने की पद्धति ही सामाजिक मानवशास्त्र की समस्त विशेष पद्धतियो का सार है। परन्तु इस पद्धति का प्रयोग क्षेत्र (field) मे अर्थात् उस समुदाय या समाज मे जाकर ही हो सकता है जिसका कि हमे अध्ययन करना है। आधुनिक मानवशास्त्रियो का दृढ मत है कि केवल इसी तरीके से हम मानवशास्त्रीय अध्ययन ठीक से कर सकते है या उन अध्ययनो को यथार्थ बना सकते है। इसलिए केवल निरीक्षण करने की प्रशिक्षा ही काफी नही है, जब तक हम उस समुदाय मे, जिसका कि हमे अध्ययन करना है, जाकर कुछ समय के लिए बस न जायँ। जिन लोगो का अध्ययन करना है उनके यथासम्भव निकट सम्पर्क मे रहे बिना उनके या उनके सामाजिक जीवन व सस्कृति के विषय मे कोई वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना कदापि सम्भव नही। इसलिए आधुनिक मानवशास्त्री केवल निरीक्षण ही नही करते हैं बल्कि लोगो के निकट सम्पर्क मे आकर और उनके साथ बसकर उनकी प्रथाओ, विश्वासो आदि के विषय मे भी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और उनसे सम्बन्धित

विषय सूची—चतुर्थ अध्याय

१ भूमिका
२ व्यावहारिक मानवशास्त्र की परिभाषा
३ व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र
४ औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र मे उपयोगिता
५ प्रजातीय भ्रान्तियाँ तथा मानवशास्त्र
६ उद्योग मे व्यावहारिक मानवशास्त्र
७ औषधिशास्त्र मे व्यावहारिक मानवशास्त्र
८ युद्ध और मानवशास्त्र
९ मानवशास्त्र की अन्य उपयोगिताएँ
१ निष्कर्ष

...नवशास्त्र की व्यावहारिकताएँ
या
व्यावहारिक मानवशास्त्र
...lications of Anthropology
or
...pplied Anthropology)

...ने के प्रयत्नो मे जब से मानवशास्त्रीय
... मानवशास्त्र का जन्म भी तभी हुआ ।
...ी है । स्वय अपने सम्बन्ध मे जानने की
... रही है, उसी मे मानवशास्त्र के जन्म
...रगमच है जिसपर मानव की विचित्र-
...बिखरी हुई हैं । इस धरती के विभिन्न
...धर्म, विश्वास, कला, भाषा, साहित्य
... उन लोगो के सम्मुख उद्घाटित करते
...ान है । मानवशास्त्री भी उन लोगो
... की तूलिका से अतिरजित, रोमाच-
...ास्तविक तथ्यो पर आधारित यथार्थ
...र्ण अध्ययन है, अत इसके अन्तर्गत
...नही बल्कि उन सामान्य सामाजिक
...म्मिलित है जिनके कारण मानव-
... । इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से
...न' की प्राप्ति होनी है जो 'विचित्र
...ाथ ही, यह उन सर्वदेशीय तथा
...ो कि मानव-समाज के सगठन,
...व्यक्ति है ।

...ता केवल सैद्धान्तिक समस्याओ
... क्षेत्र मे भी उसकी अनेक उप-
...जिक जीवन की ही नही सभ्य
...स्त्र सहायक सिद्ध हो रहा है।

सामान्य नियमो को खोजते हैं। सक्षेप मे, सामाजिक मानवशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन व सस्कृति का अध्ययन है, इस कारण इनका अध्ययन मानव-समाज के वास्तविक क्षेत्र मे वास्तविक निरीक्षण-परीक्षण द्वारा ही सम्भव है और होना भी चाहिए।

SELECTED READINGS

1 Hoebel and others · *Readings in Anthropology*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1955

2 Kroeber *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press, 1952

3 Radcliffe-Brown *Method in Social Anthropology*, Edited by M N Srinivas, Asia Publishing House, Bombay, 1960

४

मानवशास्त्र की व्यावहारिकताएँ
या
व्यावहारिक मानवशास्त्र

(APPLICATIONS OF ANTHROPOLOGY
OR
APPLIED ANTHROPOLOGY)

विषय सूची—चतुर्थ अध्याय

१ भूमिका

२ व्यावहारिक मानवशास्त्र की परिभाषा

३ व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र

४ औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र मे उपयोगिता

५ प्रजातीय भ्रान्तियाँ तथा मानवशास्त्र

६ उद्योग मे व्यावहारिक मानवशास्त्र

७ औषधिशास्त्र मे व्यावहारिक मानवशास्त्र

८ युद्ध और मानवशास्त्र

९ मानवशास्त्र की अन्य उपयोगिताएं

१ . निष्कर्ष

अध्याय ४

मानवशास्त्र की व्यावहारिकताएँ या व्यावहारिक मानवशास्त्र (Applications of Anthropology or Applied Anthropology)

भूमिका (Introduction)

विविध सामाजिक समस्याओ को सुलझाने के प्रयत्नो मे जब से मानवशास्त्रीय ज्ञान का उपयोग होना प्रारम्भ हुआ, व्यावहारिक मानवशास्त्र का जन्म भी तभी हुआ। वैसे भी मानवशास्त्र का सैद्धान्तिक महत्त्व कम नही है। स्वय अपने सम्बन्ध मे जानने की जो जिज्ञासा सदा से मानव-हृदय मे अँगडाई लेती रही है, उसी मे मानवशास्त्र के जन्म का रहस्य छिपा हुआ है। यह ससार ऐसा विचित्र रगमच है जिसपर मानव की विचित्र-तम् लीलाएँ अपनी कितनी ही विविधताओ सहित बिखरी हुई है। इस धरती के विभिन्न देशो के लोगो के रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, धर्म, विश्वास, कला, भाषा, साहित्य आदि कितने ही रूप-रस-गन्ध लिये अपने रहस्यो को उन लोगो के सम्मुख उद्‌घाटित करते है जो उनके सम्बन्ध मे जानने को उन्मुख और यत्नवान है। मानवशास्त्री भी उन लोगो मे एक है जो कि विचित्र मानव के सम्बन्ध मे कल्पना की तूलिका से अतिरजित, रोमाच-कारी और रहस्यमयी कपट कथाओ को नही, अपितु वास्तविक तथ्यो पर आधारित यथार्थ ज्ञान को प्रस्तुत करता है। मानवशास्त्र मानव का सम्पूर्ण अध्ययन है, अत इसके अन्तर्गत केवल मनुष्य 'क्या था' और 'क्या है' का ही अध्ययन नही बल्कि उन सामान्य सामाजिक नियमो या प्रक्रियाओ का विश्लेषण एव निरूपण भी सम्मिलित है जिनके कारण मानव-समाज तथा सभ्यता विकसित होती एव स्थिर रहती है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से मानवशास्त्र का महत्त्व यह है कि इसके द्वारा हमे उस 'ज्ञान' की प्राप्ति होनी है जो 'विचित्र मानव' की यथार्थताओ को समझने मे सहायक होता है, साथ ही, यह उन सर्वदेशीय तथा सर्वकालीन सामाजिक नियमो से परिचित कराता है जो कि मानव-समाज के सगठन, निरन्तरता एव स्थिरता के कारणो और शक्तियो की अभिव्यक्ति है।

परन्तु मानवशास्त्र का समस्त महत्त्व एव उपयोगिता केवल सैद्धान्तिक समस्याओ तक सीमित है यह सोचना उचित न होगा। व्यावहारिक क्षेत्र मे भी उसकी अनेक उप-योगिताएँ हैं जिसके कारण केवल आदिवासियो के सामाजिक जीवन की ही नही सभ्य समाज की भी अनेक समस्याओ को हल करने मे मानवशास्त्र सहायक सिद्ध हो रहा है।

मानवशास्त्र का यह व्यावहारिक अग ही व्यावहारिक मानवशास्त्र के नाम से परिचित है।

व्यावहारिक मानवशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Applied Anthropology)

व्यावहारिक मानवशास्त्र मानवशास्त्र की वह शाखा है जो कि मानवशास्त्रीय ज्ञान को व्यावहारिक रूप मे मानवीय समस्याओ को सुलझाने और सामाजिक परिवर्तन को नियोजित रूप मे नियन्त्रित करने मे प्रयुक्त होती है।

श्री इलियट चैपल (Elliot D Chapple) के अनुसार "व्यावहारिक मानवशास्त्र मानवशास्त्र का वह पक्ष माना जाता है जो कि मानव-सम्बन्धो मे परिवर्तनो का वर्णन करता है और इन्हे नियन्त्रित करने वाले सिद्धान्तो को पृथक् करता है।"[1]

व्यावहारिक मानवशास्त्र का उद्भव
(The Origin of Applied Anthropology)

जिस प्रकार सन् १८५९ को, जिस वर्ष श्री डार्विन (Darwin) की प्रख्यात पुस्तक *Origin of Species* प्रकाशित हुई थी, मानवशास्त्र का जन्म-वर्ष माना जाता है, उसी प्रकार सन् १९२१ को, जिस वर्ष 'अशान्ति' नामक जनजाति मे तृतीय विद्रोह फैला था, व्यावहारिक मानवशास्त्र का उद्भव-वर्ष कहा जाता है। इसके पहले न तो सरकार को और न ही जनता को यह विश्वास था कि मानवशास्त्रीय ज्ञान का कोई व्यावहारिक उपयोग भी सम्भव है और मानवशास्त्री किसी भी समाज की दैनिक समस्याओ को सुलझाने मे सहायता कर सकते हैं। परन्तु उक्त घटना ने मानवशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष की ओर सर्वप्रथम लोगो का ध्यान आकर्षित किया। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर निवास करने वाली इस अशान्ति जनजाति का राजा एक साधारण 'स्टूल' (Stool) पर बैठता था। पर अपने हाथ को प्राय उसी प्रकार के एक अन्य स्टूल पर, जिसका कि कुछ भाग सोने से ढका हुआ था, टेकता था। यह विश्वास किया जाता था कि वह स्टूल ईश्वर प्रदत्त है और इस कारण उसे अत्यन्त पवित्र और शक्तिशाली सामूहिक प्रतीक के रूप मे माना जाता था। सन् १८९६ के लगभग ब्रिटिश शासक तथा उक्त जनजाति मे कुछ सघर्ष उत्पन्न हुआ और ब्रिटिश अफसरो ने यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार उस सोने के स्टूल को अशान्ति लोगो से छीन ले। उनका अनुमान था कि ऐसा करने पर उस जन-जाति के लोगो को वश मे करना सरल होगा। परन्तु हुआ इसका उलटा। अशान्ति लोगो ने ब्रिटिश अफसरो के द्वारा स्टूल छीनने के प्रयत्नो का घोर विरोध किया और स्टूल को छिपा रखा गया। सन् १९२१ मे यह पता लगा कि कुछ अपराधियो ने स्टूल मे सोने की जो सजावट थी उसमे से सोना निकालकर बेच डाला है। बस अशान्ति लोगो ने अपना भयकर रूप धारण किया और यह माँग पेश की कि अपराधियो को मार डाला जाय।

---

1 "Applied anthropology is regarded as that aspect of anthropology which deals with the description of changes in human relations and in the isolation of the principles that control them" Elliot D Chapple, *Applied Anthropology in Industry*, 1953, p 819

परिस्थिति जब अत्यन्त गम्भीर हो चुकी थी और विद्रोह होने ही वाला था कि कैप्टन रैटरे (Captain Rattray) जो कि एक सरकारी मानवशास्त्री थे, मध्यस्थ हुए और अशान्ति लोगो को स्टूल को रखने और अपराधियो को निर्वासन-दण्ड से दण्डित करने की अनुमति प्रदान की। इस प्रकार उस गम्भीर समस्या का समाधान हुआ और मानवशास्त्र का व्यावहारिक महत्त्व स्पष्ट हुआ।

प्राय उसी समय भारत के छोटा नागपुर नामक आदिवासी क्षेत्र मे एक दूसरा झगडा खडा हुआ था। इस भाग के प्रत्येक उराँव गाँव का अपना एक विशेष प्रकार का झण्डा होता है जिसे कि वे प्रतिवर्ष अन्तर्जनजातीय (Inter-tribal) नृत्य उत्सव, जिसे कि वे लोग 'यात्रा' कहते है, मे योगदान करने जाते समय अपने साथ ले जाते है। इस उत्सव मे भिन्न-भिन्न गाँव और जनजातियो के लोग अश ग्रहण करते हैं। एक ठेकेदार को एक रेलवे पुल बनाने के कार्य मे निकटवर्ती दो गाँव के लोगो की सहायता प्राप्त हुई थी। इनमे से एक गाँव उराँव लोगो का था और दूसरा हिन्दुओ का। इन लोगो मे यह अन्धविश्वास था कि उस नदी पर कोई पुल नही बनाया जा सकता है। इस अन्धविश्वास को तोडने के लिए उक्त ठेकेदार ने हिन्दुओ के एक टूटे-फूटे मन्दिर को बनवाया और उराँव लोगो को एक झण्डा भेट किया, जिसपर रेल के इजन का चित्र अकित था और उन्हे विश्वास दिलाया कि इसी से उन्हे शक्ति मिलेगी और पुल-निर्माण का कार्य सफलता से हो सकेगा। पुल के बन जाने पर झण्डे की शक्ति पर उराँव लोगो का विश्वास दृढ हुआ और वे अपने उस झण्डे के साथ 'यात्रा' के लिए जाने लगे। इसी की देखा-देखी एक दूसरे गाँव के लोगो ने अपनी शक्ति को और भी बढाने के लिए प्रथम गाँव के लोगो के झण्डे से भी बहुत बडा एक झण्डा बनवाया और उसपर भी वही रेल के इजन का चित्र बनवाया। प्रथम गाँव के लोगो ने इस अनुकरण का घोर प्रतिवाद किया और दोनो गाँवो मे जो झगडा हुआ उसके फलस्वरूप दो व्यक्ति मारे गये और अनेक लोग घायल हुए। पुलिस को बाध्य होकर शाति-रक्षा करने के लिए दखल देना पडा। दूसरे वर्ष 'यात्रा' के समय इस प्रकार की कोई दुर्घटना को रोकने के लिए जिला मजिस्ट्रेट ने उस क्षेत्र के प्रसिद्ध मानवशास्त्री स्वर्गीय शरत् चन्द्र राय से सहायता करने की प्रार्थना की। श्री राय ने एक नया झण्डा बनवाया जिसपर रेल के इजन के स्थान पर हवाई जहाज़ का चित्र अकित किया और उसे दूसरे गाँव वालो को यह समझाते हुए भेट किया कि हवाई जहाज़ रेल के इजन से कही अधिक शक्तिशाली तथा उत्तम है। गाँव के लोगो की समझ मे यह बात शीघ्र ही आ गई और उन्होने रेल के इजन वाले झण्डे के स्थान पर हवाई जहाज़ के चित्र वाला झण्डा स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि दो गाँवो के बीच की वह शत्रुता सदैव के लिए दूर हो गई और वे फिर 'यात्रा' मे मित्रतापूर्वक अश ग्रहण करने और खुशियाँ मनाने लगे।

उक्त दोनो घटनाओ ने यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया कि मानवशास्त्र का समस्त महत्त्व एव उपयोगिता केवल सैद्धान्तिक समस्याओ तक ही सीमित नही है, अपितु उसका व्यावहारिक उपयोग मानव की अनेक समस्याओ को सुलझाने मे सहायक सिद्ध हो सकता है।

व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Applied Anthropology)

चूंकि सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क विशेषकर आदिम समाजो से होता है, इस कारण प्रारम्भ मे यह सोचा जाता था कि व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र केवल आदिवासियो की दैनिक समस्याओ को सुलझाने या उनकी कठिनाइयो को कम करने तक ही सीमित है। इसी कारण सबसे पहले शासक, व्यवसायी तथा मिशनरी लोगो ने गोरी जातियो और आदिमवासियो के बीच सास्कृतिक सम्पर्क के कारण उठने वाली समस्याओ को सुलझाने, उनपर शासन करने या उनमे ईसाई धर्म का प्रचार करने के प्रयत्नो मे मानवशास्त्रीय ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग करना प्रारम्भ किया। परन्तु धीरे-धीरे व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र विकसित होता गया।

सन् १९०९ से श्रीमती सेलिगमैन, श्री इवान्स-प्रिटचार्ड, डा० नैडल आदि की अध्यक्षता मे अनेक शोध-कार्य (research work) आदिवासियो के सम्बध मे प्रारम्भ हुए जिनका कि प्रमुख उद्देश्य था आदि-सस्कृतियो के सम्बन्ध मे अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करना तथा उस ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग करना। इस व्यावहारिक ज्ञान का क्षेत्र केवल आदिवासियो के समाजो तक ही सीमित न रहा अपितु सभ्य समाजो की समस्याओ को सुलझाने मे भी उपयोगी सिद्ध हुआ। सन् १९२८ मे श्री फ्रान्ज़ बोअस (Franz Boas) की *Anthropology and Modern Life* नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार अपराध मे वशानुसक्रमण का प्रभाव, प्रजाति का महत्त्व, शिक्षा के कार्य आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओ के अध्ययन मे मानवशास्त्री अपने को वास्तव मे उपयोगी सिद्ध कर सकते है। इस प्रकार मानवशास्त्रियो के प्रयत्नो से सभ्य समाज की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओ को सरलता से समझा और उन्हे सुलझाया जा सकता है। श्री बोआस ने स्वय भी अपने को इन समस्याओ के अध्ययन-कार्य मे नियोजित किया, विशेषकर उनके द्वारा किये गये वशानुसक्रमण की विशेषताओ पर पर्यावरण मे भिन्नताओ का प्रभाव-सम्बन्धी अध्ययन हमे अनेक अन्धविश्वासो और गलत धारणाओ से मुक्त करता है। श्री बोयास के इन अध्ययनो का सर्वप्रमुख परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र अब केवल आदि-समाजो की समस्याओ तक सीमित न रह कर मानव समस्याओ तक विस्तृत हो गया। इस प्रकार श्री बोआस ने मानवशास्त्र को मानवता की सेवा मे उत्सर्ग किया।

दूसरी ओर श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने एक दूसरे प्रकार से व्यावहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। आपने 'सस्कृति' का अध्ययन एक सैद्धान्तिक अवधारणा के रूप मे न करके सास्कृतिक तत्त्वो के कार्यों के जानने पर अत्यधिक बल दिया। इस कार्यवादी दृष्टिकोण से आपने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया कि "सस्कृति मनुष्य के लिये क्या कार्य करती है ?" आपका निष्कर्ष था कि सस्कृति मनुष्य को प्राकृतिक तथा प्राणीशास्त्रीय दासता से विमुक्त करती है तथा उसे अपने शारीरिक तथा सामाजिक अस्तित्व को बनाये रखने मे सहायता करती है और साथ

ही उसके मानसिक जीवन को भी उच्च-स्तर पर लाने का प्रयत्न करती है। प्रो० रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) भी कार्यवादी विचारधारा के समर्थक थे। परन्तु आपका मत है कि संस्कृति केवल 'व्यक्ति' को नहीं समग्र समाज के अस्तित्व को, उसकी संस्थाओं के द्वारा, बनाये रखने में सहायक होती है। इस प्रकार इन विद्वानों के अनुसार मानवशास्त्रीय ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि इस ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग इस प्रकार हो कि व्यक्ति तथा समाज का अस्तित्व सरल तथा सुन्दर हो और वे समस्त प्राकृतिक तथा प्राणीशास्त्रीय दासता से विमुक्त होकर उत्तरोत्तर प्रगति कर सकें।

श्री रेमंड फिर्थ (Raymond Firth) ने व्यावहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मानवशास्त्रियों का कार्य सामाजिक इंजीनियर के रूप में कार्य करना है। आपका मत है कि आदि समाज तथा सभ्य समाज के बीच जो विस्तृत खाई है उसे इस प्रकार और इतनी सावधानी से पाटना है कि आदि समाजों में विघटन की स्थिति उत्पन्न न हो सके। यह कार्य व्यावहारिक मानवशास्त्र का वास्तविक क्षेत्र है और इसीलिये इसे सामाजिक इंजीनियरिंग (social engineering) कहना ही उचित होगा क्योंकि एक इंजीनियर की भांति मानवशास्त्री भी उस 'पुल' (bridge) को बनाने में अपने को नियोजित रखता है (या रखना चाहिये) जो कि आदि समाज और सभ्य समाज को एक साथ मिलाता है। व्यावहारिक मानवशास्त्र विभिन्न समाजों और संस्कृतियों के बीच का एक 'वैज्ञानिक मिलन-सेतु' है।

श्री क्लूखौन (Kluckhohn) का मत है, जैसा कि श्री फिर्थ भी मानते थे, कि मानवशास्त्रियों के लिये सामाजिक इंजीनियर के रूप में कार्य करना शायद यथार्थ रूप में संभव नहीं भी हो सकता है क्योंकि सामाजिक पुनर्निर्माण-सम्बन्धी नीति का निर्धारण-कार्य मानवशास्त्री नहीं कर सकते, यह कार्य तो प्रशासकों का है। मानवशास्त्रियों के लिये अपने को प्रशासकों के स्तर तक ले आना उचित न होगा क्योंकि कुछ भी हो मानवशास्त्री एक वैज्ञानिक है और वैज्ञानिक के कार्य-क्षेत्र में नीति-निर्धारण नहीं आता है। जो सामाजिक पुनर्निर्माण-सम्बन्धी नीति को तय नहीं करता है वह सामाजिक इंजीनियर के रूप में कार्य कैसे करेगा? इस कारण अधिक अच्छा हो यदि मानवशास्त्री एक इंजीनियर के रूप में निर्माण-कार्य न करके एक डाक्टर के रूप में समाज का रोग-निर्णय (diagnosis) करने तथा औषधि-निर्देशन (Prescription) का कार्य करें। सामाजिक समस्याओं का वास्तविक स्वरूप और प्रकृति क्या है, इन समस्याओं का सामाजिक जीवन पर सम्भावित क्या-क्या प्रभाव हो सकता है, इन समस्याओं को, सामाजिक विघटन की प्रक्रियाओं से बचते हुए, किस प्रकार वैज्ञानिक तथा सरल ढंग से सुलझाया जा सकता है, इन समस्त विषयों में परामर्श देना तथा वास्तविकताओं से प्रशासकों को परिचित करवाना मानवशास्त्रियों का यथार्थ कार्य है। इस प्रकार श्री क्लूखौन के अनुसार सामाजिक औषधि (social medicine), न कि सामाजिक इंजीनियरिंग, व्यावहारिक मानवशास्त्र का वास्तविक क्षेत्र है।

इस सम्बन्ध में श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने लिखा है कि जो विद्वान व्यावहारिक मानवशास्त्र की तुलना सामाजिक औषधि या सामाजिक इंजीनियरिंग के साथ करते हैं, वे सामाजिक मानवशास्त्र को उस प्राकृतिक विज्ञान के रूप में देखते हैं

व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Applied Anthropology)

चूँकि सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क विशेषकर आदिम समाजो से होता है, इस कारण प्रारम्भ मे यह सोचा जाता था कि व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र केवल आदिवासियो की दैनिक समस्याओ को सुलझाने या उनकी कठिनाइयो को कम करने तक ही सीमित है। इसी कारण सबसे पहले शासक, व्यवसायी तथा मिशनरी लोगो ने गोरी जातियो और आदिमवासियो के बीच सास्कृतिक सम्पर्क के कारण उठने वाली समस्याओ को सुलझाने, उनपर शासन करने या उनमे ईसाई धर्म का प्रचार करने के प्रयत्नो मे मानवशास्त्रीय ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग करना प्रारम्भ किया। परन्तु धीरे-धीरे व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र विकसित होता गया।

सन् १९०९ से श्रीमती सेलिगमैन, श्री इवान्स-प्रिटचार्ड, डा० नैडल आदि की अध्यक्षता मे अनेक शोध-कार्य (research work) आदिवासियो के सम्बध मे प्रारम्भ हुए जिनका कि प्रमुख उद्देश्य था आदि-सस्कृतियो के सम्बन्ध मे अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करना तथा उस ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग करना। इस व्यावहारिक ज्ञान का क्षेत्र केवल आदिवासियो के समाजो तक ही सीमित न रहा अपितु सभ्य समाजो की समस्याओ को सुलझाने मे भी उपयोगी सिद्ध हुआ। सन् १९२८ मे श्री फ्रान्ज बोअस (Franz Boas) की *Anthropology and Modern Life* नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार अपराध मे वशानुसक्रमण का प्रभाव, प्रजाति का महत्त्व, शिक्षा के कार्य आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओ के अध्ययन मे मानवशास्त्री अपने को वास्तव मे उपयोगी सिद्ध कर सकते है। इस प्रकार मानवशास्त्रियो के प्रयत्नो से सभ्य समाज की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओ को सरलता से समझा और उन्हे सुलझाया जा सकता है। श्री बोआस ने स्वय भी अपने को इन समस्याओ के अध्ययन-कार्य मे नियोजित किया, विशेषकर उनके द्वारा किये गये वशानुसक्रमण की विशेषताओ पर पर्यावरण मे भिन्नताओ का प्रभाव-सम्बन्धी अध्ययन हमे अनेक अन्धविश्वासो और गलत धारणाओ से मुक्त करता है। श्री बोयास के इन अध्ययनो का सर्वप्रमुख परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र अब केवल आदि-समाजो की समस्याओ तक सीमित न रह कर मानव समस्याओ तक विस्तृत हो गया। इस प्रकार श्री बोआस ने मानवशास्त्र को मानवता की सेवा मे उत्सर्ग किया।

दूसरी ओर श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने एक दूसरे प्रकार से व्यावहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। आपने 'सस्कृति' का अध्ययन एक सैद्धान्तिक अवधारणा के रूप मे न करके सास्कृतिक तत्त्वो के कार्यों के जानने पर अत्यधिक बल दिया। इस कार्यवादी दृष्टिकोण से आपने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया कि "सस्कृति मनुष्य के लिये क्या कार्य करती है?" आपका निष्कर्ष था कि सस्कृति मनुष्य को प्राकृतिक तथा प्राणीशास्त्रीय दासता से विमुक्त करती है तथा उसे अपने शारीरिक तथा सामाजिक अस्तित्व को बनाये रखने मे सहायता करती है और साथ

ही उसके मानसिक जीवन को भी उच्च-स्तर पर लाने का प्रयत्न करती है। प्रो० रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) भी कार्यवादी विचारधारा के समर्थक थे। परन्तु आपका मत है कि सस्कृति केवल 'व्यक्ति' को नही समग्र समाज के अस्तित्व को, उसकी सस्थाओ के द्वारा, बनाये रखने मे सहायक होती है। इस प्रकार इन विद्वानो के अनुसार मानवशास्त्रीय ज्ञान की सार्थकता इसी मे है कि इस ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग इस प्रकार हो कि व्यक्ति तथा समाज का अस्तित्व सरल तथा सुन्दर हो और वे समस्त प्राकृतिक तथा प्राणीशास्त्रीय दासता से विमुक्त होकर उत्तरोत्तर प्रगति कर सकें।

श्री रेमड फिर्थ (Raymond Firth) ने व्यावहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मानवशास्त्रियो का कार्य सामाजिक इजीनियर के रूप मे कार्य करना है। आपका मत है कि आदि समाज तथा सभ्य समाज के बीच जो विस्तृत खाई है उसे इस प्रकार और इतनी सावधानी से पाटना है कि आदि समाजो मे विघटन की स्थिति उत्पन्न न हो सके। यह कार्य व्यावहारिक मानवशास्त्र का वास्तविक क्षेत्र है और इसीलिये इसे सामाजिक इजीनियरिंग (social engineering) कहना ही उचित होगा क्योकि एक इजीनियर की भाति मानवशास्त्री भी उस 'पुल' (bridge) को बनाने मे अपने को नियोजित रखता है (या रखना चाहिये) जो कि आदि समाज और सभ्य समाज को एक साथ मिलाता है। व्यावहारिक मानवशास्त्र विभिन्न समाजो और सस्कृतियो के बीच का एक 'वैज्ञानिक मिलन-सेतु' है।

श्री क्लूखौन (Kluckhohn) का मत है, जैसा कि श्री फिर्थ भी मानते थे, कि मानवशास्त्रियो के लिये सामाजिक इजीनियर के रूप मे कार्य करना शायद यथार्थ रूप मे सभव नही भी हो सकता है क्योकि सामाजिक पुनर्निर्माण-सम्बन्धी नीति का निर्धारण-कार्य मानवशास्त्री नही कर सकते, यह कार्य तो प्रशासको का है। मानवशास्त्रियो के लिये अपने को प्रशासको के स्तर तक ले आना उचित न होगा क्योकि कुछ भी हो मानवशास्त्री एक वैज्ञानिक है और वैज्ञानिक के कार्य-क्षेत्र मे नीति-निर्धारण नही आता है। जो सामाजिक पुनर्निर्माण-सम्बन्धी नीति को तय नही करता है वह सामाजिक इजीनियर के रूप मे कार्य कैसे करेगा? इस कारण अधिक अच्छा हो यदि मानवशास्त्री एक इजीनियर के रूप मे निर्माण-कार्य न करके एक डाक्टर के रूप मे समाज का रोग-निर्णय (diagnosis) करने तथा औषधि-निर्देशन (Prescription) का कार्य करे। सामाजिक समस्याओ का वास्तविक स्वरूप और प्रकृति क्या है, इन समस्याओ का सामाजिक जीवन पर सम्भावित क्या-क्या प्रभाव हो सकता है, इन समस्याओ को, सामाजिक विघटन की प्रक्रियाओ से बचते हुए, किस प्रकार वैज्ञानिक तथा सरल ढग से सुलझाया जा सकता है, इन समस्त विषयो मे परामर्श देना तथा वास्तविकताओ से प्रशासको को परिचित करवाना मानवशास्त्रियो का यथार्थ काय है। इस प्रकार श्री क्लूखौन के अनुसार सामाजिक औषधि (social medicine), न कि सामाजिक इजीनियरिंग, व्यावहारिक मानवशास्त्र का वास्तविक क्षेत्र है।

इस सम्बन्ध मे श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने लिखा है कि जो विद्वान व्यावहारिक मानवशास्त्र की तुलना सामाजिक औषधि या सामाजिक इजीनियरिंग के साथ करते हैं, वे सामाजिक मानवशास्त्र को उस प्राकृतिक विज्ञान के रूप मे देखते हैं

जिसका कि उद्देश्य सामाजिक जीवन के नियमो (laws) को स्थापित करना है, और एक बार सैद्धान्तिक निष्कर्षों के स्थापित हो जाने पर व्यावहारिक विज्ञान की स्थापना भी सम्भव हो जाती है। आज के अधिकतर सामाजिक मानवशास्त्री विना सशय के या स्पष्ट रूप मे प्राकृतिक विज्ञानो को अपने आदर्श नमूने के रूप मे स्वीकार करते हैं तथा यह मानते हैं कि मानवशास्त्र का उद्देश्य भविष्यवाणी तथा नियोजन द्वारा सामाजिक परिवर्तन को नियन्त्रित करना है। परन्तु श्री इवान्स-प्रिटचार्ड का व्यक्तिगत अभिमत यह है कि वह यह विश्वास नही करते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानो के समान कोई समाज का विज्ञान हो भी सकता है। वास्तव मे अभी तक किन्ही समाजशास्त्रीय नियमो का आविष्कार ही नही हो पाया है और जब ज्ञात नियम ही कुछ नही हैं तो उन्हे प्रयोग करने का प्रश्न ही नही उठता। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड ने अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, कि इसका तात्पर्य यह नही है कि सामाजिक मानवशास्त्र किसी भी रूप या अर्थ मे व्यावहारिक हो ही नही सकता। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि यह औषधि-विज्ञान या इजीनियरिंग के समान व्यावहारिक विज्ञान नही हो सकता।[२] व्यावहारिक मानवशास्त्र के विषय मे विवेचना करते हुए उसकी इस सीमा को समझ लेना उचित होगा।

सन् १९५३ मे अपनी पुस्तक *Anthropology and Modern Life* मे श्री नैडेल (Nadel) ने व्यावहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र के विषय मे जो अभिमत प्रस्तुत किये हैं उसके अनुसार व्यावहारिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध केवल आदिम समाजो की समस्याओ तक ही सीमित नही है बल्कि उसका अधिक घनिष्ठ सम्पर्क आधुनिक जीवन से है। श्री नैडेल का कथन है कि मानवशास्त्र को हम व्यावहारिक इसी अर्थ मे कहते हैं कि इसके द्वारा हम लोगो की अपने समय की अनेक समस्याओ का समाधान सम्भव हो सकता है। मानवशास्त्र औपनिवेशिक प्रशासन (colonial administration) के विषय मे सहायता कर सकता है, विभिन्न प्रकार की मानव-सस्कृतियो की यथार्थताओ को हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत कर सकता है और इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान के आधार पर अनेक मानवीय समस्याओ को हल करने मे सहायक सिद्ध हो सकता है। श्री नैडेल का कथन है कि ऐसा भी देखा गया है कि कभी कभी मानवशास्त्रीय ज्ञान

2 "Those who have spoken about applied medicine or engineering have regarded social anthropology as a natural science which aims at the establishment of laws of social life, and once theoretical generalizations can be established an applied science becomes feasible. The majority of the social anthropologists of to-day have, implicitly or explicitly, taken the natural sciences for their model and assumed that the purpose of anthropology is by prediction and planning to control social change I do not believe that there can ever be a science of society which resembles the natural sciences I do not think that there is any anthropologist anywhere who would seriously maintain that up to the present time any sociological laws have been discovered, and if there are no laws known, they cannot be applied This does not mean that social anthropology cannot be, even in a narrow and technical sense, applied in any way It only means that it cannot be an applied science like medicine or engineering" E E Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, 1954, pp 114—117

या खोजो का दुरुपयोग भी होता है। मानवशास्त्रियो का नैतिक कर्तव्य इस प्रकार के दुरुपयोगो को रोकना भी है। श्री नैडेल के अनुसार इन्ही अर्थो मे मानवशास्त्र व्यावहारिक है।[3]

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि अब व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र पर्याप्त रूप मे विकसित हो चुका है और इसी कारण यह विज्ञान आज केवल आदिवासियो की कठिनाइयो को दूर करने मे या उनकी समस्याओ को सुलझाने मे ही नही अपितु समस्त मानव की सेवा मे उपयोगी कार्य कर रहा है।

मानवशास्त्र की उपयोगिताएँ या व्यावहारिकताएँ
(Uses or applications of Anthropology)

मानवशास्त्र बहुत पुराना विज्ञान नही है। इसकी आयु प्राय एक सौ वर्ष की होगी। फिर भी इसके द्वारा मानव के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान पर्याप्त विकसित हुआ है और साथ ही अनेक मानवीय कठिनाइयो या समस्याओ के हल करने मे सहायता भी मिली है। आज का मानवशास्त्र केवल 'जगलियो' की रोचक कहानियाँ नही हैं, अपितु मानव और उसकी सस्कृतियो के सम्बन्ध मे यथार्थ ज्ञान का वितरक तथा 'मानवता का सेवक' है। दूसरे शब्दो मे, आज के मानवशास्त्र का केवल सैद्धान्तिक पक्ष ही नही, व्यावहारिक पक्ष भी विशेष उल्लेखनीय है। इस व्यावहारिक मानवशास्त्र की उपयोगिताएँ निम्न है—

(१) **औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र मे उपयोगिता** (Uses in the field of Colonial Administration) औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र मे मानवशास्त्र की उपयोगिता आज प्राय सभी लोग मानते हैं। गोरी जातियो (इगलैंड, हालैंड, फ्रास आदि) के द्वारा ससार मे जगह-जगह उपनिवेश की स्थापना साम्राज्यवाद का ही स्वाभाविक परिणाम था। इन स्थानो मे रहने वाले गोरी जातियो की दृष्टि मे अत्यन्त ही पिछडे हुए थे। इस कारण वे उनपर अपने विचार, आचार, धर्म, रीति-रिवाज तथा सस्थाओ को थोपने का प्रयत्न करते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे अपने देश से प्रशासक, धर्म-प्रचारक या पादरी आदि भेजते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश इन प्रशासको, धर्म-प्रचारको आदि को उपनिवेशवासियो के जीवन, उनके रीति-रिवाज, नियम-कानून, महत्त्वपूर्ण सस्थाओ आदि के विषय मे कोई भी ज्ञान न होने के कारण वे अपने ढग से उन आदिवासियो पर प्रभुत्व स्थापना का प्रयत्न करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि बहुधा आदिवासियो ने प्रशासको का विरोध किया और उनके धर्म, विचार, सस्था आदि को ग्रहण करने से इन्कार किया। इसके उत्तर मे, बिना कुछ समझे-विचारे, प्रशासको ने बल और सैनिक शक्ति का प्रयोग किया। इसके फलस्वरूप प्रशासको तथा आदिवासियो का पारस्परिक सम्बन्ध उत्तरोत्तर कटु और विषाक्त होता गया। यह परिस्थिति न तो प्रशासको के लिए और न ही प्रशासितो के लिए हितकर थी। ऐसी अवस्था मे मानवशास्त्रियो ने अपने ज्ञान और अनुभव से प्रशासक तथा प्रशासित दोनो को ही लाभ पहुँचाया। चूंकि मानव-

---

3 For detailed discussion please see S F Nadel, *Anthropology and Modern Life*, Australian National University, Canberra, 1953

जिसका कि उद्देश्य सामाजिक जीवन के नियमो (laws) को स्थापित करना है; और एक बार सैद्धान्तिक निष्कर्षों के स्थापित हो जाने पर व्यावहारिक विज्ञान की स्थापना भी सम्भव हो जाती है। आज के अधिकतर सामाजिक मानवशास्त्री बिना सशय के या स्पष्ट रूप मे प्राकृतिक विज्ञानो को अपने आदर्श नमूने के रूप मे स्वीकार करते हैं तथा यह मानते हैं कि मानवशास्त्र का उद्देश्य भविष्यवाणी तथा नियोजन द्वारा सामाजिक परिवर्तन को नियन्त्रित करना है। परन्तु श्री इवान्स-प्रिटचार्ड का व्यक्तिगत अभिमत यह है कि वह यह विश्वास नही करते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानो के समान कोई समाज का विज्ञान हो भी सकता है। वास्तव मे अभी तक किन्ही समाजशास्त्रीय नियमो का आविष्कार ही नही हो पाया है और जब ज्ञात नियम ही कुछ नही हैं तो उन्हे प्रयोग करने का प्रश्न ही नही उठता। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड ने अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, कि इसका तात्पर्य यह नही है कि सामाजिक मानवशास्त्र किसी भी रूप या अर्थ मे व्यावहारिक हो ही नही सकता। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि यह औषधि-विज्ञान या इजीनियरिंग के समान व्यावहारिक विज्ञान नही हो सकता।[2] व्यावहारिक मानवशास्त्र के विषय मे विवेचना करते हुए उसकी इस सीमा को समझ लेना उचित होगा।

सन् १९५३ मे अपनी पुस्तक *Anthropology and Modern Life* में श्री नैडेल (Nadel) ने व्यावहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र के विषय मे जो अभिमत प्रस्तुत किये हैं उसके अनुसार व्यावहारिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध केवल आदिम समाजो की समस्याओं तक ही सीमित नही है बल्कि उसका अधिक घनिष्ठ सम्पर्क आधुनिक जीवन से है। श्री नैडेल का कथन है कि मानवशास्त्र को हम व्यावहारिक इसी अर्थ मे कहते हैं कि इसके द्वारा हम लोगो की अपने समय की अनेक समस्याओ का समाधान सम्भव हो सकता है। मानवशास्त्र औपनिवेशिक प्रशासन (colonial administration) के विषय मे सहायता कर सकता है, विभिन्न प्रकार की मानव-सस्कृतियो की यथार्थताओ को हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत कर सकता है और इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान के आधार पर अनेक मानवीय समस्याओ को हल करने मे सहायक सिद्ध हो सकता है। श्री नैडेल का कथन है कि ऐसा भी देखा गया है कि कभी कभी मानवशास्त्रीय ज्ञान

2 "Those who have spoken about applied medicine or engineering have regarded social anthropology as a natural science which aims at the establishment of laws of social life, and once theoretical generalizations can be established an applied science becomes feasible The majority of the social anthropologists of to-day have, implicitly or explicitly, taken the natural sciences for their model and assumed that the purpose of anthropology is by prediction and planning to control social change I do not believe that there can ever be a science of society which resembles the natural sciences I do not think that there is any anthropologist anywhere who would seriously maintain that up to the present time any sociological laws have been discovered, and if there are no laws known, they cannot be applied This does not mean that social anthropology cannot be, even in a narrow and technical sense, applied in any way It only means that it cannot be an applied science like medicine or engineering" E E Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, 1954, pp 114—117

या खोजो का दुरुपयोग भी होता है। मानवशास्त्रियो का नैतिक कर्तव्य इस प्रकार के दुरुपयोगो को रोकना भी है। श्री नैडेल के अनुसार इन्ही अर्थो मे मानवशास्त्र व्यावहारिक है।[3]

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि अब व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र पर्याप्त रूप मे विकसित हो चुका है और इसी कारण यह विज्ञान आज केवल आदिवासियो की कठिनाइयो को दूर करने मे या उनकी समस्याओ को सुलझाने मे ही नही अपितु समस्त मानव की सेवा मे उपयोगी कार्य कर रहा है।

मानवशास्त्र की उपयोगिताएँ या व्यावहारिकताएँ
(Uses or applications of Anthropology)

मानवशास्त्र बहुत पुराना विज्ञान नही है। इसकी आयु प्राय एक सौ वर्ष की होगी। फिर भी इसके द्वारा मानव के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान पर्याप्त विकसित हुआ है और साथ ही अनेक मानवीय कठिनाइयो या समस्याओ के हल करने मे सहायता भी मिली है। आज का मानवशास्त्र केवल 'जगलियो' की रोचक कहानियाँ नही है, अपितु मानव और उसकी सस्कृतियो के सम्बन्ध मे यथार्थ ज्ञान का वितरक तथा 'मानवता का सेवक' है। दूसरे शब्दो मे, आज के मानवशास्त्र का केवल सैद्धान्तिक पक्ष ही नही, व्यावहारिक पक्ष भी विशेष उल्लेखनीय है। इस व्यावहारिक मानवशास्त्र की उपयोगिताएँ निम्न है—

(१) **औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र मे उपयोगिता (Uses in the field of Colonial Administration)** औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र मे मानवशास्त्र की उपयोगिता आज प्राय सभी लोग मानते हैं। गोरी जातियो (इगलैड, हालैड, फ्रास आदि) के द्वारा ससार मे जगह-जगह उपनिवेश की स्थापना साम्राज्यवाद का ही स्वाभाविक परिणाम था। इन स्थानो मे रहने वाले गोरी जातियो की दृष्टि मे अत्यन्त ही पिछडे हुए थे। इस कारण वे उनपर अपने विचार, आचार, धर्म, रीति-रिवाज तथा सस्थाओ को थोपने का प्रयत्न करते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे अपने देश से प्रशासक, धर्म-प्रचारक या पादरी आदि भेजते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश इन प्रशासको, धर्म-प्रचारको आदि को उपनिवेशवासियो के जीवन, उनके रीति-रिवाज, नियम-कानून, महत्त्वपूर्ण सस्थाओ आदि के विषय मे कोई भी ज्ञान न होने के कारण वे अपने ढग से उन आदिवासियो पर प्रभुत्व स्थापना का प्रयत्न करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि बहुधा आदिवासियो ने प्रशासको का विरोध किया और उनके धर्म, विचार, सस्था आदि को ग्रहण करने से इन्कार किया। इसके उत्तर मे, बिना कुछ समझे-विचारे, प्रशासको ने बल और सैनिक शक्ति का प्रयोग किया। इसके फलस्वरूप प्रशासको तथा आदिवासियो का पारस्परिक सम्बन्ध उत्तरोत्तर कटु और विषाक्त होता गया। यह परिस्थिति न तो प्रशासको के लिए और न ही प्रशासितो के लिए हितकर थी। ऐसी अवस्था मे मानवशास्त्रियो ने अपने ज्ञान और अनुभव से प्रशासक तथा प्रशासित दोनो को ही लाभ पहुँचाया। चूंकि मानव-

---

3 For detailed discussion please see S F Nadel, *Anthropology and Modern Life*, Australian National University, Canberra, 1953

शास्त्रियो को एक ओर उपनिवेशवासियो के जीवन, उनके रीति-रिवाज, नियम-कानून, सस्थाओ आदि के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरी ओर वे प्रशासको के दृष्टिकोण तथा इच्छाओ से परिचित होते हैं, इस कारण वे सरलता से ही प्रशासक तथा प्रशासितो के बीच मध्यस्थ का कार्य अति उत्तम एव उपयोगी ढग से कर सकते हैं। प्रशासन-कार्य मे सफलता तभी सम्भव है जब प्रशासितो को भली प्रकार से समझ लिया जाय तथा उनके प्रति वास्तविक सहानुभूति के आधार पर शासन-नीति को इस प्रकार आयोजित किया जाय कि प्रशासको को उनका विश्वास भी प्राप्त हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रशासक वर्ग ऐसा कुछ भी न करे जिससे आदिवासियो की भावनाओ को ठेस पहुँचे और वे भी प्रशासन-कार्य मे सक्रिय सहयोग प्रदान कर सकें। यह सब कुछ मानवशास्त्रीय ज्ञान के अधिकतम विस्तार पर ही निर्भर है। इसीलिए इगलैंड, हालैंड, फ्रास आदि देशो मे मानवशास्त्रीय शिक्षा उनके लिए अनिवार्य है जिनकी नियुक्ति औपनिवेशिक प्रशासको के रूप मे होती है, क्योकि आज यह सत्य सर्वस्वीकृत है कि आदिवासियो के सम्बन्ध मे अधिकतर गलतफहमियाँ तथा त्रुटियाँ प्रशासको की असहनशीलता, सकीर्णता तथा पक्षपात के कारण हैं। मानवशास्त्री ज्ञान प्राप्त आज के सभी औपनिवेशिक प्रशासक यह मानते हैं कि पिछले दिनो आदिवासियो के क्षेत्रो मे उठने वाली अनेक छोटी-बडी समस्याओ और सघर्षों का जन्म ही शायद न होता यदि उस समय के प्रशासक वर्ग आदिवासियो की जीवन-दृष्टि से लेश मात्र भी परिचित होते। प्रशासन मे व्यावहारिक मानवशास्त्र का महत्त्व तब वास्तव मे स्पष्ट होता है जब आदिवासियो के रीति-रिवाज, प्रथा आदि से सम्बन्धित किसी विशेष समस्या का अध्ययन तथा उसके निराकरण के लिए मानवशास्त्रियो का आह्वान किया जाता है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की एक जन जाति मे यह प्रथा थी कि एक युवक तभी विवाह करने के योग्य माना जाता था जब वह एक नर-मुण्ड प्राप्त करके अपनी वीरता का प्रमाण दे। गोरी जातियो की शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रथा को अत्यन्त घृणित तथा असभ्य प्रथा समझा गया। इस कारण इसे रोकने का प्रयत्न किया गया। परन्तु इस प्रयत्न के मार्ग मे उस जनजाति के लोगो की ओर से घोर बाधा आने और उससे शान्ति भंग होने की आशका की गयी। इसलिये बल या सैनिक शक्ति का प्रयोग न करके सरकार ने मानवशास्त्रियो की सहायता से इस समस्या को सुलझाना अधिक उचित समझा। मानवशास्त्रियो ने उक्त जनजाति की उस प्रथा का अध्ययन किया और उनके प्रति सहानुभूति रखते हुए उनके विश्वास को प्राप्त किया और उसी के बल पर जनजाति के नेताओ या मुखियाओ को समझा-बुझाकर एक नयी प्रथा का सूत्रपात कराया, जिसके अनुसार विवाह के पूर्व प्रत्येक युवक के लिए नर-मुण्ड ले आना आवश्यक न रहा, बल्कि उसके स्थान पर केवल एक जगली सुअर का सर ले आना ही उसकी वीरता एव योग्यता का पर्याप्त प्रमाण माना जाने लगा। इसी प्रकार की अनेक समस्याओ का समाधान मानवशास्त्रियो के द्वारा सम्भव हुआ है। अत स्पष्ट है कि प्रशासको तथा प्रशासितो के पारस्परिक सम्बन्ध को अधिकतर आन्तरिक तथा सहयोगी करने मे मानवशास्त्रियो की उपयोगिता अत्यधिक है। शासन-नीतियो का निर्धारण करते

समय प्रशासक वर्ग एक भारी गलती यह करते हैं कि वे एक ही नीति को सार्वभौमिक मानकर प्रत्येक प्रकार के समाज के लोगो पर उसे प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं। इस त्रुटि की ओर मानवशास्त्री ही प्रशासको का ध्यान आकर्षित करते है। प्रोफेसर फ्लोवर (Flower) के शब्दो मे, "उस शासक के लिए जो कि सफलतापूर्वक शासन करेगा यह नितान्त आवश्यक है कि वह मानव-प्रकृति को अमूर्त्त रूप मे न देखे और न ही सार्वभौमिक नियमो का उसपर प्रयोग करे, अपितु प्रत्येक प्रजाति के, जिसपर कि उसे शासन करना है, विशिष्ट आचार, बौद्धिक तथा सामाजिक क्षमताओ, आवश्यकताओ तथा अभिलाषाओ को ध्यान मे रक्खे।"[4] इस प्रकार प्रत्येक जनजाति की अपनी-अपनी विशेषताओ को ध्यान मे रखने से प्रशासको का कार्य अत्यन्त सरल ही नही हो जायगा बल्कि जनजातियो के सम्बन्ध मे अनेक गलत-फहमियाँ भी दूर हो सकती है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की अनेक जनजातियो मे विवाह करने के इच्छुक युवक को कन्या पक्ष को कन्यामूल्य (bride price) के रूप मे पशु देना पडता था। गोरे शासक इस पशु के देने का अर्थ कन्या को खरीदना समझते थे। इस कारण पादरी लोग इसे बुरा मानते थे और सरकार द्वारा यह प्रथा निषिद्ध थी। परन्तु मानवशास्त्रीय अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया कि जिस प्रकार अनेक सभ्य समाजो मे दहेज प्रथा का अर्थ लडके या वर को खरीदना नही है उसी प्रकार पशु देने का अर्थ भी कन्या का क्रय नही है। यह भी ज्ञात हुआ कि इस प्रथा को समाप्त कर देने पर न केवल विवाह वन्धन तथा पारिवारिक सम्बन्ध शिथिल हो जाने की सम्भावना है अपितु स्त्रियो की स्थिति मे भी पर्याप्त पतन होने की आशका स्पष्ट है। इन खोजो के पश्चात् पादरी तथा सरकार दोनो का ही मनोभाव उक्त प्रथा के प्रति आमूल बदल गया। शायद इसीलिए श्री कीसिग (Keesing) का कथन है कि व्यावहारिक मानवशास्त्र—अर्थात् वास्तविक समस्याओ को सुलझाने मे विज्ञान के दृष्टिकोण, ज्ञान तथा प्रविधियो (techniques) का प्रयोग—ससार के औपनिवेशिक क्षेत्रो मे सर्वाधिक विकसित तथा परीक्षित है।

अत स्पष्ट है कि मानवशास्त्रीय ज्ञान प्रशासन-कार्य मे अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। इतना ही नही, मानवशास्त्री अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर प्रशासको को किसी भी प्रशासन-कार्य के प्रभावो का यथार्थ मूल्याकन करके बता सकते है। इस प्रकार किसी भी शासन-नीति के वास्तविक परिणामो या प्रभावो से शासको को परिचित कराना मानवशास्त्रियो का कार्य है। फिर भी शासन-नीति को प्रतिपादित करना मानवशास्त्रियो का कार्य नही है, उसका कार्य तो तथ्यो या यथार्थताओ को प्रस्तुत करना है जिससे शासको के लिए नीति निर्धारण-कार्य सरल हो सके। कुछ भी हो औपनिवेशिक शासन के क्षेत्र मे मानवशास्त्र का महत्त्व सर्वस्वीकृत है और यह

4 "It is absolutely necessary for the statesman who would govern successfully, not to look upon human nature in the abstract and endeavour to apply universal rules, but to consider the special moral, intellectual and social capabilities, wants, and aspirations of each particular race with which he has to deal" W H Flower, The President's address, *Journal of the Anthropological Institute*, 1884, p 493

महत्त्व उत्तरोत्तर बढता ही जा रहा है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने तो यहाँ तक आशा प्रकट की है कि "स्वय विशुद्ध विज्ञान के अधिक द्रुत विकास तथा औपनिवेशिक शासनो के सहयोग के साथ-साथ हम एक ऐसा समय आने की भी आशा कर सकते हैं जब कि ससार के विभिन्न भागो के आदिवासियो की शिक्षा तथा सरकार मानवशास्त्रीय-विज्ञान द्वारा प्रतिपादित नियमो के व्यावहारिक प्रयोग पर आधारित एक कला के रूप मे विकसित हो सकेगी।"[5]

(२) **प्रजातीय भ्रान्तियाँ तथा मानवशास्त्र** (Racial myths and anthropology)—'प्रजाति' के सम्बन्ध मे अनेक भ्रान्तियाँ तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ हैं, जैसे 'प्रजाति' को लोग प्राय भाषा, धर्म, राष्ट्र आदि के साथ निरर्थक ही मिला देते हैं या बौद्धिक क्षमता तथा सास्कृतिक अग्रगति व पिछडेपन की प्रजातीय आधार पर व्याख्या करके विभिन्न प्रजातियो मे ऊँच-नीच की भावना को जन्म देते हैं। इन सब प्रजातीय भ्रान्तियो के कारण विश्व के इतिहास मे अनेक अत्याचारमयी भयकर घटनाएँ घटित हुई हैं। मानवशास्त्रीय ज्ञान ने हमे इन भ्रान्तियो के पजो से छुटकारा दिलाया है और प्रजाति के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक आधारो पर सोचने तथा निष्कर्ष निकालने को बाध्य किया है। प्रजातिवाद (Racism) की विकट समस्या जो कि आज भी अनेक मानव-समूहो को उत्पीडित कर रही है, मानवशास्त्रीय ज्ञान के आधार पर ही क्रमश निर्बल होती जा रही है। मानवशास्त्रियो ने आज स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि प्रजाति एक सास्कृतिक या क्षेत्रीय धारणा नही, अपितु एक विशुद्ध प्राणीशास्त्रीय विचार है और प्रजातियो के वर्गीकरण का आधार कुछ सामान्य शारीरिक लक्षण हैं, इस कारण इनमे उच्चता और निम्नता का कोई प्रश्न कदापि नही उठ सकता, प्रजातियो मे तथाकथित ऊँच-नीच का सस्तरण स्वय मनुष्य का अपना मनगढन्त या कपोल-कल्पित है, साथ ही बौद्धिक क्षमता केवल प्रजाति से ही सम्बन्धित नही है, क्योकि यह देखा गया है कि यदि पर्यावरण एक-सा है तो विभिन्न प्रजाति के सदस्यो के बुद्धि-स्तर मे कोई विशेष अन्तर नही होता। प्रजातियो के विषय मे इन मानवशास्त्रीय निष्कर्षों ने अन्तर्प्रजातीय (inter-racial) सम्बन्धो को अधिक मित्रतापूर्ण तथा प्रीतिकर बनाया है। प्रजातीय सघर्ष की सम्भावना कम होने पर विश्व-शान्ति की स्थापना सरल हो जायगी। मानवशास्त्र का यह अनुदान अत्यन्त महत्त्व का है।

(३) **उद्योग मे व्यावहारिक मानवशास्त्र** (Applied anthropology in industry)—मानवशास्त्रीय ज्ञान तथा प्रविधियो का प्रयोग उद्योगो मे भी उपयोगी

---

5 "With the more rapid advance of the pure science itself, and with the cooperation of colonial administration, we might even look forward to a time when the government and education of native peoples in various parts of the world would make some approach to being an art based on the application of discovered laws of anthropological science" A R Radcliffe-Brown, 'Applied Anthropology', *Report of Australian and New Zealand Association for the Advancement of Science*, Section F, 1930, p 3

सिद्ध हुआ है। इस प्रकार का प्रयत्न सर्वप्रथम प्रोफेसर एल्टन मेग्रो (Elton Mayo) ने किया था। आपने अपने अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित किया कि उद्योगो मे कम उत्पादन का एक प्रमुख कारण औद्योगिक थकान (industrial fatigue) है और थकान का मुख्य कारण उद्योगो मे स्वतन्त्रतापूर्वक मेल-मिलाप की सुविधाएँ न होना है। प्रोफेसर मेग्रो ने एक उद्योग मे पुरुष तथा स्त्री श्रमिको को एक साथ काम करने तथा उनके मेल-मिलाप की सम्पूर्ण सुविधाएँ प्रदान करने पर यह पाया कि वहाँ उत्पादन मे क्रमश वृद्धि होने लगी। इतना ही नही उनमे सामूहिक भावना का विकास भी शीघ्रता से होने लगा। इसी प्रकार उद्योगो से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओ का मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन सर्वश्री वार्नर (W Lloyd Warner), गार्डनर (B B Gardner), ह्वाइट (Whyte) आदि विद्वानो द्वारा किये गये हैं। इनके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के श्रमिको के पारस्परिक सम्बन्ध, मालिक और श्रमिको के आपसी सम्बन्ध तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न औद्योगिक समस्याओ को समझने मे पर्याप्त सुविधा हुई है। व्यावहारिक मानवशास्त्रियो ने इन समस्याओ को सुलझाने के लिए जिन सुझावो को प्रस्तुत किया है उनके अनुसार कार्य करके अनेक औद्योगिक सघर्षो से छुटकारा मिल सका है। आज प्राय सभी प्रगतिशील देशो मे औद्योगिक सम्बन्धो (industrial relations) के विषय मे वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करने के लिए मानवशास्त्रियो की सेवाओ का उपयोग किया जाता है।

(४) औषधिशास्त्र मे व्यावहारिक मानवशास्त्र (Applied anthropology in Medicine)—औषधिशास्त्र के क्षेत्र मे भी मानवशास्त्र ने व्यावहारिक दृष्टि से बडे महत्त्व का काम किया है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि आज रोगों के केवल प्राणीशास्त्रीय कारको पर ही नही सामाजिक कारको पर भी अधिक बल दिया जाने लगा है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि अनेक गम्भीर तथा मानसिक रोगो का उद्‌भव सामुहिक परिस्थितियो (group situations) एव विघटित मानवीय सम्बन्धो के फलस्वरूप होता है। इसी कारण आज रोग तथा स्वास्थ्य की प्राचीन परिभाषाओ को धीरे-धीरे बदला जा रहा है और रोगो की चिकित्साओ की अनेक ऐसी विधियो का सूत्रपात किया जा रहा है जो कि वहुतो के लिए इस समय भी अनोखी प्रतीत होगी। आज कुछ रासायनिक पदार्थों का योग मात्र ही औषधि नही है, अपितु अन्य अनेक प्रकार की औषधियो का प्रचलन हो रहा है जैसे पर्यावरण-सम्बन्धी औषधि (environmental medicine), सामाजिक औषधि (social medicine), मनोदैहिक औषधि (psychosomatic medicine) आदि इनमे से अनेको मे व्यावहारिक मानवशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। सर्वश्री पार्सन्स (Parsons), फीलिक्स (Felix), फ्रैंक (Frank), गैल्डस्टन (Galdston) आदि ने जो अध्ययन किए हैं उससे औषधिशास्त्र तथा मानवशास्त्र दोनो को ही लाभ पहुँचा है। श्री पार्सन्स ने तो औषधि को सामाजिक व्यवस्था (social system) के एक अग के रूप मे मानकर अध्ययन किया है जब कि श्री फ्रैंक (Lawrence K Frank) ने अपनी प्रख्यात पुस्तक का नाम 'समाज रोगी के रूप मे' (*Society as the Patient*) रक्खा है और उसमे यह विचार व्यक्त किया है कि समाज को ही डाक्टर के रूप मे

खोजने की आवश्यकता है।[6] दूसरे शब्दो मे, श्री फ्रैंक का मत है कि जिस प्रकार समाज रोगो को उत्पन्न करता है उसी प्रकार उन रोगो की औषधि भी समाज के पास ही है। दूसरी ओर श्री रॉबर्ट रॉपोपोर्ट (Robert Ropoport) तथा अन्य मानवशास्त्रियो की अध्यक्षता मे हाल ही मे 'मानसिक स्वास्थ्य का सामुदायिक अध्ययन' (community studies of mental health) भी प्रारम्भ किया है जिसके फलस्वरूप मानसिक रोग व स्वास्थ्य से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो का स्पष्टीकरण सम्भव हुआ है जैसे, मानसिक स्वास्थ्य के लिए केवल मानसिक कारको के अतिरिक्त अन्य कौनसे कारक उत्तरदायी हैं, व्यक्तित्व निर्माण तथा सामाजिक पर्यावरण मे वास्तविक सम्बन्ध क्या है, मानसिक विकार या रोग उत्पन्न करने मे सामाजिक पर्यावरण के कौनसे कारक सर्वप्रमुख हैं, इत्यादि। इस प्रकार के सभी अध्ययनो ने औषधिशास्त्र या चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र मे व्यावहारिक दृष्टि से बडे महत्त्व का काम किया है। उसी प्रकार लसीविद्या (serology) या रक्त समूहो (Blood groups) के सम्बन्ध मे अधिकाधिक अध्ययन करके मानवशास्त्री अपने ज्ञान को अधिक विस्तृत करने का जो प्रयत्न कर रहे हैं उससे औषधि सम्बन्धी शोधो (medical researches) मे पर्याप्त सहायता मिली है।

(५) **युद्ध और मानवशास्त्र** (War and anthropology)—मानवशास्त्रीय ज्ञान की उपयोगिता युद्ध के समय मे भी अत्यधिक है। इसकी सर्वप्रथम परीक्षा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मे ही हो गई थी। युद्ध के समय जहाँ कही भी मानव-सम्बन्धो से सम्बन्धित किसी समस्या का उद्भव हुआ, वही मानवशास्त्रियो ने अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर उस समस्या को सुलझाने मे यत्नवान प्रयत्न किए और उसे सुलझाया भी। श्री क्लूखौन (Kluckhohn) ने अमेरिका मे मानवशास्त्रियो के उन अशदानो (contributions) के विस्तृत विवरण प्रस्तुत किए हैं जिनके कारण युद्ध मे जीत सम्भव हो सकी। युद्ध के प्राय सभी महत्त्वपूर्ण विभागो मे मानवशास्त्रियो ने कार्य किये थे और अपने ज्ञान तथा अनुभव को राष्ट्र की सेवा मे नियोजित किया। उस समय मानवशास्त्रियो ने सर्वसाधारण की सहयोगिता प्राप्त करने तथा उनके नैतिक स्तर को ऊँचा उठाये रखने मे भी पर्याप्त हाथ बँटाया था। कोरिया के युद्ध मे भी मानवशास्त्रियो ने व्यावहारिक दृष्टि से बडे महत्त्व के काम किये थे।

(६) **मानवशास्त्र की अन्य उपयोगिताएँ** (Other uses of anthropology)—मानवशास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग उपर्युक्त विषयो के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयो मे किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, हम ग्रामीण पुनर्निर्माण योजना को ही ले सकते हैं। ग्रामीण पुनर्निर्माण योजना की सफलता इसी बात पर निर्भर है कि इस प्रकार की कोई भी योजना बनाते समय हम ग्रामवासियो के जीवन-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यो का उचित ध्यान रक्खे ताकि योजना उनकी भावनाओ को ठेस न पहुँचाये। उनके जीवन तथा मूल्यो के विषय मे वैज्ञानिक ज्ञान हमे मानवशास्त्र ही प्रदान कर सकता है। उसी प्रकार जनजातियो की समस्याओ का वास्तविक निराकरण तभी सम्भव है जब इस विषय मे हम मानव-

---

6 See Lawrence K Frank, *Society as the Patient*, Rutgers University Press, New Brunswick, 1948

शास्त्रियो की सहायता प्राप्त कर लेंगे क्योकि प्रत्येक जनजाति की उनके प्रदेश तथा सस्कृति के आधार पर अपनी अलग-अलग समस्याएँ हैं, इस कारण जो योजना एक सास्कृतिक क्षेत्र के लिये उचित है वह दूसरे के लिये उचित न भी हो सकती है। इस सत्य की ओर मानव-शास्त्री ही हमारे ध्यान को आकर्षित करते है। सक्षेप मे, कोई भी पुनर्निर्माण या पुनर्वास योजना मानवशास्त्रीय ज्ञान पर आधारित तथा आयोजित होनी ही उचित तथा लाभप्रद है। राष्ट्रीय चरित्र के अध्ययन मे भी मानवशास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार के अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा सस्कृति के उन तत्त्वो का स्पष्टीकरण हो जाता है जो कि व्यक्तित्व तथा मानव-व्यवहारो के विभिन्न पक्षो के विकास मे महत्त्वपूर्ण हैं। यह ज्ञान केवल सैद्धान्तिक महत्त्व का ही नही, अपितु व्याव-हारिक उपयोग का भी इस अर्थ मे है कि इस ज्ञान के आधार पर सामाजिक सगठन तथा सामाजिक नियन्त्रण-कार्य अधिक व्यवस्थित रूप मे हो सकता है। उसी प्रकार जनसख्या-सम्बन्धी समस्याएँ, समाज-स्वास्थ्य की समस्या, अल्पसख्यको की समस्याएँ, अपराध-चिकित्सा की समस्या आदि के वास्तविक स्वरूप को समझने मे तथा उनका वैज्ञानिक हल ढूंढने मे हमे मानवशास्त्र से अत्यधिक सहायता मिलती है।

मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय प्रधानत आदिम समाज है, परन्तु इन समाजो के अध्ययनो से प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव हमे अपने समाज को भी समझने मे सहायता करता है। इसीलिये अमेरिकन मानवशास्त्री श्री हरस्कोविट्स (Herskovits) का कथन है कि "हमारे आश्रयदाता समाज का जो ऋण हमपर है उसका भुगतान हम दीर्घकालीन शर्तों पर सस्कृति की प्रकृति तथा प्रक्रियाओ को समझने मे तथा उसके आधार पर अपनी आधार-भूत समस्याओ को हल करने मे अपने मौलिक अशदान द्वारा करते हैं।" दूसरो के समाजो तथा सस्कृतियो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करके ही हम अपने समाज और सस्कृति को अधिक सरलता से समझ सकते हैं और उनसे सम्बन्धित समस्याओ को हल करने मे अपने पिछले अध्ययनो से प्राप्त अनुभव तथा ज्ञान का सदुपयोग कर सकते हैं। एक वाक्य मे, मानवशास्त्र सर्वाधिक आश्चर्यजनक जीव—मनुष्य—को, चाहे वह किसी युग का या किसी समाज का हो, अधिक उत्तम रूप मे समझने मे सहायता करता है।

SELECTED READINGS

1 Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, the Free Press, Glencoe, Illinois, 1954.

2 Frank, Lawrence K, *Society as the Patient*, Rutgers University Press, New Brunswick, 1948

3 Kroeber and Others, *Anthropology Today*, The University of Chicago Press, Chicago, Illinois, 1953

4 Hoebels and Others, *Readings in Anthropology*, McGraw-Hill Book Company, New York, 1955

५

प्रजाति और प्रजातिवाद

(RACE AND RACISM)

विषय-सूची—पंचम अध्याय

१ भूमिका
२ प्रजाति के अर्थ के सम्बन्ध मे गलत धारणाएँ
३ प्रजाति की वैज्ञानिक अवधारणा
४ प्रजाति की वैज्ञानिक परिभाषाएँ
५ प्रजाति की उत्पत्ति
६ प्रजाति निर्धारण या वर्गीकरण के आधार
(अ) निश्चित शारीरिक लक्षण
(ब) अनिश्चित शारीरिक लक्षण
७ आधुनिक प्रजातियाँ
८ प्रजातियों का विभिन्न वर्गीकरण
९ मुख्य प्रजातियो की प्रमुख विशेषताएँ
१० प्रजातिवाद
११ प्रजाति के विषय मे आधुनिकतम निष्कर्ष
१२ निष्कर्ष

अध्याय ५

प्रजाति और प्रजातिवाद
(Race and Racism)

साधारण बोलचाल, साहित्य, यहाँ तक कि कुछ सामाजिक विज्ञानो के ग्रन्थो मे 'प्रजाति' शब्द का प्रयोग बहुधा किन्ही निश्चित अर्थों मे नही किया जाता है । फलत प्रजाति के सम्बन्ध मे अनेक भ्रान्तियो तथा अवैज्ञानिक धारणाओ का जन्म हुआ है और लोग इसके जैविकीय (biological) अर्थ के प्रति जानबूझ कर उदासीन रहे हैं । केवल इतना ही नही, इसी प्रजाति की धारणा को ससार के अनेक स्वार्थ समूहो ने, विशेषकर राजनैतिक नेताओ ने अपनी स्वार्थसिद्धि के साधन के रूप मे भी प्रयोग किया है जिसके कारण विश्व का इतिहास अनेक अत्याचारपूर्ण और भयकर घटनाओ से कलकित है । नाज़ियो (Nazis) ने 'आर्य' प्रजाति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे जिस कल्पित कथा को प्रचलित किया और लाखो यहूदियो के प्राण लिये उससे तो ससार परिचित ही है । जापानियो ने भी इसी प्रजातीय श्रेष्ठता की भ्रान्त धारणा को फैलाकर युद्ध की जिस आग को समस्त पूर्वीय देशो मे भडकाया था उसे भी भूल जाना शायद ही किसी के लिए सम्भव हो सके । अमेरिका जैसे प्रगतिशील तथा शिक्षित देश मे भी श्वेत (White) और श्याम (Black) प्रजातियो मे ऊँच-नीच का भेद-भाव उसके समस्त गौरवो पर कालिमा लेपन कर रहा है । इन सबका प्रमुख कारण 'प्रजाति' के अर्थ के सम्बन्ध मे अनेक गलत धारणाओ का होना है । ऐसी कुछ गलत धारणाएँ निम्न हैं :—

प्रजाति के अर्थ के सम्बन्ध में गलत धारणाएँ
(Misconceptions Regarding the Meaning of Race)

श्री हक्सले (Huxley) ने उचित ही कहा है कि 'प्रजाति' शब्द का प्रयोग मानव-समूहो के लिए करते समय हम प्राय उसका कोई जैविकीय अर्थ नही लगाते हैं। वास्तव मे होता यह है कि—'प्रजाति' शब्द को किसी जैविकीय अर्थ मे प्रयोग न करके लोग उसे भाषा, धर्म, सस्कृति और राष्ट्र के साथ भ्रान्त रूप से मिला देते हैं । उदाहरणार्थ इस शब्द का प्रयोग उस मानव-समूह के लिए किया जाता है जो एक स्थान पर कई पीढियों से निवास कर रहा है जैसे, अग्रेज प्रजाति, अमेरिकन प्रजाति या चीनी प्रजाति । किसी भी व्यक्तिसमूह के एक ही देश मे पीढियो से रहने से ही उसे प्रजाति नही कहा जा सकता है क्योकि प्रजाति कोई क्षेत्रीय अवधारणा नही है । दूसरे रूप मे प्रजाति शब्द का अवैज्ञानिक प्रयोग तब होता है जब इस शब्द द्वारा ऐसे मानव-समूह का बोध करवाया जाता है जो कि एक समान भाषा बोलते हैं, जैसे जर्मन प्रजाति, आर्य प्रजाति, इत्यादि । १९वीं

शताब्दी मे प्रचलित 'आर्यवाद' के अनुसार आर्य भाषा बोलने वाले सभी लोग आर्य प्रजाति के हैं। परन्तु वैज्ञानिक रूप से कोई आर्य प्रजाति नही है। आर्य भाषा तो अवश्य है परन्तु उसे बोलने वाले व्यक्तियो को आर्य प्रजाति कहना गलत होगा। भाषा और प्रजाति का कोई सम्बन्ध नही है। यह आवश्यक नही कि एक भाषा बोलने वालो की प्रजाति भी एक ही हो। अगर ऐसा होता तो अमेरिका मे आकर बसे हुए और अंग्रेजी भाषा बोलने वाले लाखो नीग्रो (Negroes) को श्वेत प्रजाति या काकेशायड (Caucasoid) कहा जाता। परन्तु कोई भी वैज्ञानिक ऐसा कहने को सहमत न होगा। उसी प्रकार जर्मन भाषा बोलने वाले भी जर्मन प्रजाति के नही हैं। जर्मन राज्य मे जर्मन भाषा बोलने वाली दो विभिन्न प्रजातियाँ हैं—उत्तरी जर्मनी के लोग नॉर्डिक (Nordic) प्रजाति के हैं और दक्षिणी जर्मनी के लोग आल्पाइन (Alpine) प्रजाति से सम्बन्धित हैं। भाषा सस्कृति का एक अग है और इसका कोई भी सम्बन्ध प्रजाति से नही है।

राष्ट्र भी प्रजाति नही है। परन्तु मानवशास्त्रीय-साहित्य (anthropological literature) तक मे इन दोनो को किन्ही-किन्ही विद्वानो ने इस ढग से प्रस्तुत किया है कि उनमे कोई अन्तर रह ही नही जाता। उदाहरणार्थ, सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) जैसे विद्वान का मत है कि प्रजाति और राष्ट्र मे कोई भेद नही है। आपका मत है कि देश प्रेम, समूह प्रवृत्ति (herd instinct), एकता की चेतना आदि जो तत्त्व राष्ट्र के विकास के लिए उत्तरदायी हैं वही प्रजाति-निर्माण के लिए भी अनिवार्य हैं। परन्तु आज अधिकतर मानवशास्त्री श्री कीथ के इस मत से सहमत नही हैं। सर्वश्री हक्सले और हैडेन आदि विद्वानो का तो यहाँ तक कहना है कि राष्ट्र और प्रजाति मे कोई अन्तर न मानने का ही फल है कि यूरोप मे उग्र-राष्ट्रवाद हिंसक-प्रजातिवाद के रूप मे व्यक्त हुआ है। दोनों ही विश्व बन्धुत्व और विश्व-शान्ति के मार्ग पर घोर बाधक हैं। इसलिए राष्ट्र की प्रजाति के रूप मे कल्पना करना भी उचित न होगा। एक राष्ट्र मे अनेक प्रजातीय तत्त्वो का समावेश हो सकता है। सयुक्त राज्य अमेरिका (U S A) का राष्ट्र अनेक प्रजातियो से मिलकर बना है। उसी प्रकार भारतवर्ष को भी प्रजातियो का अजायबघर (museum of races) कहा जाता है और इन समस्त प्रजातियो को मिलाकर ही भारतीय राष्ट्र का निर्माण हुआ है। अत स्पष्ट है कि प्रजाति और राष्ट्र को सर्वथा पृथक् श्रेणियाँ मानना ही उचित होगा क्योकि राष्ट्र सर्वथा एक क्षेत्रीय (territorial) अवधारणा है और प्रजाति से इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है।

'प्रजाति' के अवैज्ञानिक प्रयोग का एक-दूसरा रूप यह है कि कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग मनुष्यो के ऐसे समूहो के लिए भी किया जाता है जो कि एक विशेष धर्म को मानते हैं। इसीलिए हिन्दू प्रजाति, मुस्लिम प्रजाति, यहूदी प्रजाति आदि की चर्चा प्राय सुनने को मिलती है। परन्तु यह भी एक गलत धारणा है। धर्म भी सस्कृति का एक अग है और सस्कृति तथा प्रजाति को समानार्थक (synonymous) समझना 'प्रजाति' के वैज्ञानिक अर्थ के प्रति उदासीन रहना ही होगा क्योकि अनेक प्रजातियो की एक सामान्य सस्कृति हो सकती है जैसे, प्रशान्त महासागर के हवाई द्वीप समूह मे हवाई, जापानी, श्वेत आदि प्रजातियो की एक-सी सस्कृति है। इसके विपरीत एक ही प्रजाति की दो या

दो से अधिक सस्कृतियाँ भी हो सकती हैं जैसे, नीग्रो प्रजाति की सस्कृति अफ्रीका और अमेरिका मे सर्वथा भिन्न-भिन्न है। भाषा, धर्म या अन्य सास्कृतिक तत्त्व सामाजिक वस्तुएँ हैं और इनको किसी भी प्रजाति के सदस्य एक ही समाज मे या पृथक्-पृथक् समाज मे रहते हुए ग्रहण कर सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन मे स्पष्ट है कि राष्ट्र, धर्म, भाषा, भौगोलिक क्षेत्र, ये सब प्रजातीय अवधारणा से सम्बन्धित नही हैं और इनको प्रजाति से सम्बन्धित करना वास्तव मे प्रजाति शब्द का दुरुपयोग ही है।

प्रजाति की वैज्ञानिक अवधारणा
(Scientific Concept of Race)

वैज्ञानिक अवधारणा के अनुसार प्रजाति व्यक्तियो का वह विशाल समूह है जिसके सदस्यो को सामान्य शारीरिक लक्षणो के आधार पर पहचाना जा सके। इस प्रकार प्रजाति एक सास्कृतिक या क्षेत्रीय अवधारणा नही अपितु एक विशुद्ध जैविकीय (biological) सज्ञा है। प्रत्येक प्रजाति के सदस्यो की अपनी निजी शारीरिक विशेषताएँ या लक्षण होते हैं। ये लक्षण मूल रूप से वशानुगत (hereditary) होते है और इसी कारण एक प्रजाति के लोगो मे इन सामान्य शारीरिक लक्षणो का एक निश्चित सयोग होता है। इन्ही सामान्य लक्षणो के आधार पर हम एक प्रजाति को दूसरी प्रजातियो से अलग कर सकते है। ये शारीरिक लक्षण एक पीढी से दूसरी पीढी को प्रजनन के द्वारा माता-पिता से बच्चो को हस्तान्तरित होते रहते हैं और उसी रूप मे स्थिर बने रहते है। दूसरे शब्दो मे ये लक्षण, जिनके आधार पर प्रजातीय वर्गीकरण किया जाता है, अधिक परिवर्तनशील नही होते। इस कारण इनके आधार पर विभिन्न प्रजातियो का वर्गीकरण करना सरल न होते हुए भी बहुत कुछ निश्चित होता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह विशेषरूप से स्मरणीय है कि ससार की विभिन्न मानव-प्रजातियो मे जो कुछ भी अन्तर या भेद है वह केवल कुछ बाह्य शारीरिक लक्षणो का ही अन्तर है, ऐसा सोचना भी प्रजातीय अवधारणा की वैज्ञानिक सीमाओ का उल्लघन करना होगा। विभिन्न प्रजातियो मे कतिपय बाह्य (external) अन्तरो के अतिरिक्त कुछ आभ्यन्तरिक (internal) अन्तरो, जिनमे बौद्धिक अन्तर भी सम्मिलित है, का समावेश होता है। परन्तु इन अन्तरो पर सामाजिक, सास्कृतिक और यहाँ तक कि भौगोलिक पर्यावरण का इतना व्यापक प्रभाव पडता है कि वे अन्तर बहुधा निर्भरयोग्य नही रह जाते। इस कारण उनको प्रजातीय वर्गीकरण के आधार के रूप मे प्राय ग्रहण नही किया जाता है। आभ्यन्तरिक अन्तरो मे रक्त-समूहो (blood groups or types) का अन्तर सर्वाधिक निर्भरयोग्य तथा बुद्धि का अन्तर सबसे कम निर्भरयोग्य माना जाता है। इस विषय मे हम आगे विस्तारपूर्वक पढेंगे। अत स्पष्ट है कि मानव की विभिन्न प्रजातियो मे केवल बाह्य अन्तरो के अतिरिक्त कोई अन्य अन्तर ही नही होता, ऐसा सोचना उचित न होगा।

इस सम्बन्ध मे दूसरी स्मरणीय बात यह है कि जीव-विज्ञान मे सभी मनुष्य, चाहे वे नीग्रो हो या मगोल, एक ही जाति (species) से सम्बन्धित माने जाते हैं। इस कारण

शताब्दी मे प्रचलित 'आर्यवाद' के अनुसार आर्य भाषा बोलने वाले सभी लोग आर्य प्रजाति के हैं। परन्तु वैज्ञानिक रूप से कोई आर्य प्रजाति नही है। आर्य भाषा तो अवश्य है परन्तु उसे बोलने वाले व्यक्तियो को आर्य प्रजाति कहना गलत होगा। भाषा और प्रजाति का कोई सम्बन्ध नही है। यह आवश्यक नही कि एक भाषा बोलने वालो की प्रजाति भी एक ही हो। अगर ऐसा होता तो अमेरिका मे आकर बसे हुए और अग्रेजी भाषा बोलने वाले लाखो नीग्रो (Negroes) को श्वेत प्रजाति या काकेशायड (Caucasoid) कहा जाता। परन्तु कोई भी वैज्ञानिक ऐसा कहने को सहमत न होगा। उसी प्रकार जर्मन भाषा बोलने वाले भी जर्मन प्रजाति के नही हैं। जर्मन राज्य मे जर्मन भाषा बोलने वाली दो विभिन्न प्रजातियाँ हैं—उत्तरी जर्मनी के लोग नॉर्डिक (Nordic) प्रजाति के हैं और दक्षिणी जर्मनी के लोग आल्पाइन (Alpine) प्रजाति से सम्बन्धित हैं। भाषा सस्कृति का एक अग है और इसका कोई भी सम्बन्ध प्रजाति से नही है।

राष्ट्र भी प्रजाति नही है। परन्तु मानवशास्त्रीय-साहित्य (anthropological literature) तक मे इन दोनो को किन्ही-किन्ही विद्वानो ने इस ढग से प्रस्तुत किया है कि उनमे कोई अन्तर रह ही नही जाता। उदाहरणार्थ, सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) जैसे विद्वान का मत है कि प्रजाति और राष्ट्र मे कोई भेद नही है। आपका मत है कि देश प्रेम, समूह प्रवृत्ति (herd instinct), एकता की चेतना आदि जो तत्त्व राष्ट्र के विकास के लिए उत्तरदायी हैं वही प्रजाति-निर्माण के लिए भी अनिवार्य हैं। परन्तु आज अधिकतर मानवशास्त्री श्री कीथ के इस मत से सहमत नही हैं। सर्वश्री हक्सले और हैडेन आदि विद्वानो का तो यहाँ तक कहना है कि राष्ट्र और प्रजाति मे कोई अन्तर न मानने का ही फल है कि यूरोप मे उग्र-राष्ट्रवाद हिंसक-प्रजातिवाद के रूप मे व्यक्त हुआ है। दोनों ही विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति के मार्ग पर घोर बाधक हैं। इसलिए राष्ट्र की प्रजाति के रूप मे कल्पना करना भी उचित न होगा। एक राष्ट्र मे अनेक प्रजातीय तत्त्वो का समावेश हो सकता है। सयुक्त राज्य अमेरिका (U S A) का राष्ट्र अनेक प्रजातियो से मिलकर बना है। उसी प्रकार भारतवर्ष को भी प्रजातियो का अजायबघर (museum of races) कहा जाता है और इन समस्त प्रजातियो को मिलाकर ही भारतीय राष्ट्र का निर्माण हुआ है। अतः स्पष्ट है कि प्रजाति और राष्ट्र को सर्वथा पृथक् श्रेणियाँ मानना ही उचित होगा क्योकि राष्ट्र सर्वथा एक क्षेत्रीय (territorial) अवधारणा है और प्रजाति से इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है।

'प्रजाति' के अवैज्ञानिक प्रयोग का एक-दूसरा रूप यह है कि कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग मनुष्यो के ऐसे समूहो के लिए भी किया जाता है जो कि एक विशेष धर्म को मानते हैं। इसीलिए हिन्दू प्रजाति, मुस्लिम प्रजाति, यहूदी प्रजाति आदि की चर्चा प्राय सुनने को मिलती है। परन्तु यह भी एक गलत धारणा है। धर्म भी सस्कृति का एक अग है और सस्कृति तथा प्रजाति को समानार्थक (synonymous) समझना 'प्रजाति' के वैज्ञानिक अर्थ के प्रति उदासीन रहना ही होगा क्योकि अनेक प्रजातियो की एक सामान्य सस्कृति हो सकती है जैसे, प्रशान्त महासागर के हवाई द्वीप समूह मे हवाई, जापानी, श्वेत आदि प्रजातियो की एक-सी सस्कृति है। इसके विपरीत एक ही प्रजाति की दो या

दो से अधिक सस्कृतियाँ भी हो सकती हैं जैसे, नीग्रो प्रजाति की सस्कृति अफ्रीका और अमेरिका मे सर्वथा भिन्न-भिन्न है। भाषा, धर्म या अन्य सास्कृतिक तत्त्व सामाजिक वस्तुएँ हैं और इनको किसी भी प्रजाति के सदस्य एक ही समाज मे या पृथक्-पृथक् समाज मे रहते हुए ग्रहण कर सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राष्ट्र, धर्म, भाषा, भौगोलिक क्षेत्र, ये सब प्रजातीय अवधारणा से सम्बन्धित नही हैं और इनको प्रजाति से सम्बन्धित करना वास्तव मे प्रजाति शब्द का दुरुपयोग ही है।

प्रजाति की वैज्ञानिक अवधारणा
(Scientific Concept of Race)

वैज्ञानिक अवधारणा के अनुसार प्रजाति व्यक्तियो का वह विशाल समूह है जिसके सदस्यो को सामान्य शारीरिक लक्षणो के आधार पर पहचाना जा सके। इस प्रकार प्रजाति एक सास्कृतिक या क्षेत्रीय अवधारणा नही अपितु एक विशुद्ध जैविकीय (biological) सज्ञा है। प्रत्येक प्रजाति के सदस्यो की अपनी निजी शारीरिक विशेषताएँ या लक्षण होते हैं। ये लक्षण मूल रूप से वशानुगत (hereditary) होते है और इसी कारण एक प्रजाति के लोगो मे इन सामान्य शारीरिक लक्षणो का एक निश्चित सयोग होता है। इन्ही सामान्य लक्षणो के आधार पर हम एक प्रजाति को दूसरी प्रजातियो से अलग कर सकते हैं। ये शारीरिक लक्षण एक पीढी से दूसरी पीढी को प्रजनन के द्वारा माता-पिता से बच्चो को हस्तान्तरित होते रहते हैं और उसी रूप मे स्थिर बने रहते हैं। दूसरे शब्दो मे ये लक्षण, जिनके आधार पर प्रजातीय वर्गीकरण किया जाता है, अधिक परिवर्तनशील नहीं होते इस कारण इनके आधार पर विभिन्न प्रजातियो का वर्गीकरण करना सरल न होने पर भी बहुत कुछ निश्चित होता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह विशेषरूप से स्मरणीय है कि ससार की विभिन्न मानव-प्रजातियो मे जो कुछ भी अन्तर या भेद है वह केवल कुछ शारीरिक लक्षणो का ही अन्तर है, ऐसा सोचना भी प्रजातीय अवधारणा की सीमाओ का उल्लघन करना होगा। विभिन्न प्रजातियो मे कतिपय वाह्य (ex... अन्तरो के अतिरिक्त कुछ आभ्यन्तरिक (internal) अन्तरो, जिनमे बौद्धिक ... सम्मिलित है, का समावेश होता है। परन्तु इन अन्तरो पर सामाजिक, ... यहाँ तक कि भौगोलिक पर्यावरण का इतना व्यापक प्रभाव पडता है कि ... निर्भरयोग्य नही रह जाते। इस कारण उनको प्रजातीय वर्गीकरण के आधार ... ग्रहण नही किया जाता है। आभ्यन्तरिक अन्तरो मे रक्त-समूहो (blood ... types) का अन्तर सर्वाधिक निर्भरयोग्य तथा बुद्धि का अन्तर सबसे ... जाता है। इस विषय मे हम आगे विस्तारपूर्वक पढेंगे। अत स्पष्ट है कि ... प्रजातियो मे केवल वाह्य अन्तरो के अतिरिक्त कोई अन्य अन्तर ही नहीं ... उचित न होगा।

इस सम्बन्ध मे दूसरी स्मरणीय बात यह है कि जीव विज्ञान ... वे नीग्रो हो या मगोल, एक ही जाति (species) से सम्बन्धित ...

शारीरिक विशेषताओ के आधार पर भी विभिन्न प्रजातियो के बीच कोई दृढ विभाजक रेखा नही खीची जा सकती है। दूसरे शब्दो मे, जब हम मानव-जाति की समग्र रूप मे विवेचना करते हैं, तो विभिन्न प्रजातियो मे अनेक शारीरिक विशेषताएँ एक प्रकार की मिलती हैं। बहुत से नीग्रो हैं जो बिल्कुल काले नही होते या उनमे मगोल्न प्रजाति की कुछ विशेषताएँ होती हैं। उसी प्रकार ऐसे अनेक मगोल हैं जिनका रग सफेद और सिर के बाल लाल होते है। इसीलिये सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals & Hoijer) ने लिखा है कि "यद्यपि प्रजाति की अवधारणा व्यक्तियो मे पाये जाने वाले अन्तरो पर बल देती है; तथापि वे विशेषताएँ जिनके आधार पर व्यक्तियो मे अन्तर है, सापेक्षिक रूप मे अल्पसख्यक तथा नगण्य है। वास्तव मे सभी प्रजातियो के सदस्यो मे विशेषताओ के आधार पर यदि कुछ दर्जन भिन्नताएँ हैं तो सैकडो और शायद हजारो समानताएँ भी हैं। मानव-शरीर के अस्तित्व के लिए आवश्यक आधारभूत शारीरिक विशेषताओ के सम्बन्ध मे यह बात विशेष रूप से सत्य है।"[1] फिर भी सामान्य रूप से एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से पृथक् किया जा सकता है और किया जाता है, तथा पृथक् करने का आधार भी कुछ वशानुगत शारीरिक विशेषताएँ ही हैं जो पीढी-दर-पीढी प्राय उसी रूप मे स्थिर बनी रहती है। इस प्रकार 'प्रजाति' का सम्बन्ध मूलरूप से इन विशिष्ट शारीरिक विशेषताओ से होता है, न कि राष्ट्र या सस्कृति अथवा अन्य किसी से।

यहाँ पर 'विशिष्ट शारीरिक विशेषताओ' के सम्बन्ध मे दो शब्द और कह देने उचित होगे। जब हम यह कहते हैं कि प्रजाति का सम्बन्ध मूलरूप से एक समूह के सदस्यो मे पायी जानेवाली उनकी निजी विशिष्ट शारीरिक विशेषताओ से है तो हमारा तात्पर्य यह नही होता है कि प्रजाति के समस्त व्यक्तियो की शारीरिक बनावट, मुखाकृति, कद, आँखो का रग, त्वचा का रग, सिर का आकार और उसकी रचना आदि बिल्कुल एक समान होते है या उनमे शारीरिक लक्षणो के आधार पर कोई अन्तर ही नही होता। ऐसा नही है। इन सब विषयो मे व्यक्तिगत (individual) भिन्नता तो अवश्य होती है, किन्तु, जैसा कि डा० श्यामाचरण दुबे का कथन है, "प्राय उस समूह के प्रजाति-सम्बन्धी एक 'सामान्य' अथवा 'आदर्श' व्यक्तित्व की हम कल्पना अवश्य कर सकते हैं और उक्त समूह के अधिकाश व्यक्ति अपने बाह्य रूप मे प्राय इस कल्पित चित्र के आस-पास ही रहते हैं।" इस सम्बन्ध मे दूसरी बात यह है कि यह सोचना भी गलत होगा कि ये विशिष्ट शारीरिक विशेषताएँ पर्यावरण-सम्बन्धी परिस्थितियो (environmental conditions) से बिल्कुल ही परे हैं और उनमे कभी कोई परिवर्तन होता ही नही है। उनमे भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। फिर भी थोडे-बहुत परिवर्तनो के साथ प्रजाति की विशिष्ट शारीरिक विशेष-

[1] "The nature of the discussion of race and race criteria necessarily emphasizes the differences between men Yet the characteristics in which men differ are relatively few and minor in importance Actually human beings of all races are alike in hundreds, and perhaps thousands, of characteristics in contrast to the few dozens of ways in which they differ This is particularly true of the basic physical characteristics necessary to the survival of human organism" Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, New York, 1959, p 133

ताएँ पीढी-दर-पीढी प्राय उसी रूप मे स्थिर बनी रहती हैं। इसीलिए डा० मजुमदार का मत है कि "प्रजातीय अन्तर वातावरण के प्रभावो मे अप्रभावित विशेष आनुवशिक गुणो (hereditary traits) पर आधारित होना चाहिये।"

प्रजाति की वैज्ञानिक परिभाषाएँ (Scientific Definitions of Race)

प्रजाति की अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप मे समझने के लिये विभिन्न मानव-शास्त्रियो द्वारा दी गयी प्रजाति की वैज्ञानिक परिभाषाओ का निरूपण अत्यन्त आवश्यक है। डा० मजुमदार (Majumdar) ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सस्कृति का उपादान' मे प्रजाति को निम्न शब्दो मे परिभाषित किया है—"यदि व्यक्तियो के एक समूह को समान शारीरिक लक्षणो के आधार पर अन्य समूहो मे पृथक् पहचाना जा सके तो चाहे इस जैविकीय समूह के सदस्य कितने ही बिखरे क्यो न हो, वे एक-प्रजाति हैं।"[2]

श्री हर्डलिका (Hrdlicka) के अनुसार, "प्रजाति एक जाति (species) के अन्तर्गत वह स्थिर धारा (strain) या मोटे तौर पर रक्त-सम्बन्धित व्यक्ति है, जिनमे सतत अर्थात् वशानुगत रूप से कुछ निश्चित शारीरिक विशेषताएँ होती है जो कि उन्हे अन्य सभी धाराओ या प्रजातियो से स्पष्टत पृथक् करती हैं।"[3]

श्री हॉबल (Hoebel) के मतानुसार, "प्रजाति विशिष्ट जननिक रचना के फल-स्वरूप उत्पन्न होने वाली शारीरिक लक्षणो का एक विशिष्ट सयोग रखने वाले अन्त-सम्बन्धित मनुष्यो का एक बृहत् समूह है।"[4]

अत हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार प्रजाति **मनुष्यो का वह बृहत् समूह है जिसके सदस्यो मे सापेक्षिक रूप से स्थिर कुछ वशानुगत शारीरिक लक्षण समान सामान्य होते हैं जो कि प्रजनन द्वारा एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होते हुए भी प्रायः उसी रूप मे स्थिर बने रहते हैं और जिसके आधार पर एक प्रजातीय समूह को दूसरों से पृथक् किया जा सकता है।**

हमारी उपर्युक्त परिभाषा से प्रजाति की तीन प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हो जाति हैं —

(अ) प्रत्येक प्रजाति के कुछ विशिष्ट शारीरिक लक्षण या विशेषताएँ सामान्य होती हैं, जिनके आधार पर उसे दूसरी प्रजातियो से अलग किया जा सकता है।

---

2 "If a group of people who by their possession of a number of common physical traits can be distinguished from others, even if the numbers of this biological group are widely scattered, they form a race" D N Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p 16

3 "Race is a persistent strain, within any species, or broadly blood-connected individuals carrying steadily, i e hereditarily, more or less of well defined physical characteristics which distinguish them fairly from all other strains or races" Hrdlicka (1941)

4 "A race is a major grouping of interrelated people possessing a distinctive combination of physical traits that are the result of distinctive genetic composition" E A. Hoebel *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p 116.

(ब) ये वशानुगत शारीरिक लक्षण जिनके आधार पर प्रजातियो को एक दूसरे से पृथक् किया जाता है, पर्यावरण (environment) के प्रभावो से बहुत थोडा परिवर्तित होते रहने पर भी सापेक्षिक रूप से स्थिर बने रहते हैं, अर्थात् पीढी दर पीढी एक से बने रहते हैं।

(स) ये सामान्य लक्षण या विशेषताएँ एक विशाल जन-समूह मे पाये जाने पर ही उस समूह को प्रजाति कहेगे। यदि एक परिवार के व्यक्तियो मे कुछ शारीरिक विशेषताएँ सामान्य हैं तो उस समूह को एक प्रजाति नही कहा जायगा।

प्रजातियों की उत्पत्ति
(The Origin of Races)

आज यह सभी मानते है कि ससार के सभी जीवित मानव एक ही जाति (species)—मेधावी मानव (Homo sapiens)—की सन्तान हैं। परन्तु आज का मानव अनेक प्रजातीय समूहो और उप-समूहो मे बँटा हुआ है जो कि एक-दूसरे से कुछ विशिष्ट शारीरिक विशेषताओ के आधार पर पृथक् हो गए हैं। यदि विद्यमान प्रजातियाँ और उप-प्रजातियाँ एक ही पूवज की सन्तान हैं तो प्रजातियो के शारीरिक लक्षणो मे आज जो भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उन भिन्नताओ के क्या कारण हैं ? इन परिवर्तनो का इतिहास क्या है ? दूसरे शब्दो मे विभिन्न प्रजातियो की उत्पत्ति कैसे हुई, यह प्रश्न हम स्वाभावत ही कर सकते हैं। मानव-समूहो मे परिवर्तन लाने वाले कारणो के विषय मे हमे बहुत कम ज्ञान है, साथ ही, मानव-प्रजातियो के इतिहास के सम्बन्ध मे भी हमारा ज्ञान आज भी असम्पूर्ण है। यत्र-तत्र जो कुछ भी प्रमाण मिलते हैं, वे सभी निश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। इतिहास भी उक्त प्रश्नो का उत्तर नही दे सकता, क्योकि लिखित इतिहास के पहले ही मनुष्यो की विभिन्न प्रजातियाँ बन चुकी थी। यह सच है कि प्रागैतिहासिक पुरातत्वशास्त्र हमे मानव-इतिहास के उन अन्धकारमय युगो से भी परिचित करवाता है जिनके सम्बन्ध मे हमे कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नही है। फिर भी इसपर अधिक निर्भर नही रहा जा सकता है। अत , प्रख्यात मानवशास्त्री श्री क्रोबर (Kroeber) के शब्दो मे, "हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य की प्रजातियाँ जैसा कि आज पृथ्वी पर फैली हुई हैं, बनने मे कम से कम लाखो वर्ष अवश्य लगे होंगे। किन कारको ने उनमे अन्तर उत्पन्न किया, पृथ्वी के किस भाग पर प्रत्येक ने अपनी विशेपताओ को प्राप्त किया, वे आगे कैसे उपविभागो मे विभक्त हुए, उनको जोडने वाली कडियाँ कौनसी थी तथा विभिन्न प्रजातियाँ कैसे पुन मिश्रित हुई—इन सभी विपयो पर अभी तक उत्तर अपूर्ण है।"[5]

5 "We can conclude that the races of man as they are spread over the earth to-day must have been at least some tens of thousands of years in forming What caused them to differentiate, on which part of the earth's surface each took on its peculiarities, how they further subdivided, what were the connecting links between them, how the differentiating races may have reblended—on all these points the answer is as yet incomplete" Kroeber, *Anthropology*, New York, 1948, p 125

मानव-जाति मे प्रजातीय भिन्नताएँ अर्थात् प्रजातियो की रचना या उत्पत्ति निम्नलिखित कारको (factors) का फल है—(१) उत्परिवर्तन (mutation), (२) प्राकृतिक प्रवरण (natural selection), (३) जननिक प्रवाह (genetic drift), (४) वहिर्समूह यौन सम्वन्ध (crossing) और (५) पृथक्करण (isolation) । यहाँ हम इन कारको के विपय मे सक्षेप मे विचार करेंगे —

(१) **उत्परिवर्तन** (Mutation)—वशानुसक्रमण की वर्तमान वैज्ञानिक धारणा के अनुसार व्यक्ति के विभिन्न लक्षणो (traits) या विशेपताओ का निर्धारण वाहकाणुओ (genes) के द्वारा होता है। कभी-कभी एक वाहकाणु की सरचना (structure) मे परिवर्तन हो जाता है । इस प्रकार के परिवर्तन को ही उत्परिवर्तन कहते है । इस उत्परिवर्तन के कारण व्यक्ति के शारीरिक लक्षणो मे भी परिवर्तन हो जाता है । यह उत्परिवर्तन जब प्रवल (dominant) वाहकाणु मे होता है तो उसका प्रभाव व्यक्ति के अधिकतर बच्चो मे तुरन्त प्रकट होने लगता है । जब इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति अधिक तेजी से होती रहती है तो नवीन विशेपता वाले एक समूह की रचना हो जाती है। इस प्रकार के नये समूह के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि उत्परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्ति के शारीरिक लक्षण मे जो परिवर्तन हो वह उसके अस्तित्व को वनाए रखने मे भी सहायक सिद्ध हो ताकि अधिकाधिक व्यक्ति जीवित रहे और उस विशिष्ट शारीरिक लक्षण का विस्तार अधिक से अधिक व्यक्तियो और उनकी सन्तानो मे होता रहे । परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उत्परिवर्तन के कारण शारीरिक लक्षणो मे परिवर्तन हो जाने पर व्यक्ति का उसके पर्यावरण से अनुकूलन कठिन हो जाता है । ऐसी स्थिति मे उत्परिवर्तन लाभदायक न होकर हानिप्रद होता है । फिर भी यह स्मरणीय है कि पर्यावरण स्वय भी स्थिर नही रहता और उसमे भी परिवर्तन होते रहते हैं । ऐसे परिवर्तन के कारण वही उत्परिवर्तन जो पहले हानिप्रद था, एक समय लाभदायक हो सकता है । सक्षेप मे, अनुकूल पर्यावरण प्राप्त होने पर उत्परिवर्तन के कारण शारीरिक लक्षणो मे होने वाले परिवर्तन का विस्तार सरल और व्यापक होता है और अन्त मे एक प्रजातीय लक्षण (racial trait) के रूप मे स्पष्ट हो जाता है । परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उत्परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा प्रजातीय लक्षणो का विकास सरल तथा दो-चार वर्षो की वात है । अनुमान है कि यदि उत्परिवर्तन प्रवल वाहकाणु हो तो उसे एक प्रजातीय लक्षण के रूप मे विकसित होने मे प्राय तीन हजार वर्षों का समय लगेगा ।

(२) **प्राकृतिक प्रवरण** (Natural Selection)—श्री डार्विन (Darwin) के अनुसार जीवित प्राणियो से प्रकृति की यह सतत माँग है कि जीव अपने पर्यावरण से अनुकूलन करे । जो प्राणी अपने शारीरिक दोप या कमियो के कारण अनुकूलन करने मे असफल होते हैं, प्रकृति उन्हे नष्ट कर देने के लिए चुन लेती है । इसके विपरीत जो प्राणी सफलतापूर्वक अनुकूलन कर लेते हैं, प्रकृति उन्हे जीवित रखने के लिए चुन लेती है । यही प्राकृतिक प्रवरण या चुनाव है । प्रकृति का यह नियम है कि "केवल सवमे योग्य प्राणी ही जीवित रहेंगे" (Only fittest shall survive) । इस सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष

यह है कि एक विशेष प्रकार का शारीरिक लक्षण एक विशेष प्रकार के पर्यावरण के लिए अधिक उपयुक्त होता है, जैसे शरीर का काला रग अफ्रीका प्रदेश के पर्यावरण के लिए उपयुक्त तथा लाभकारी है क्योकि काले रग के शरीर की खाल (skin) पर अधिक तेज धूप का हानिकर प्रभाव नही पडता है। पर्यावरण से अनुकूलन करने मे सहायक है या पर्यावरण के लिए उपयुक्त तथा लाभकारी है, ऐसे शारीरिक लक्षणो को उत्पन्न करने वाले वाहकाणुओ का प्रकृति द्वारा चुनाव या प्रवरण होता है और उन लाभकारी वाहकाणुओ को विकसित होने मे पर्यावरण का सहयोग प्राप्त होता है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य की शारीरिक विशेषताओ का जो सयोग (combination) एक पर्यावरण विशेष के लिए लाभकारी और उपयुक्त होता है वह प्रत्येक पीढी मे क्रमश बढता चला जाता है क्योकि इस प्रकार के व्यक्ति तथा उनकी सन्तान प्राकृतिक प्रवरण के नियम से अधिकतम सख्या मे जीवित रहती है। इसके विपरीत वे व्यक्ति जिनमे उपयुक्त वाहकाणुओ का या दूसरे शब्दो मे उपयुक्त शारीरिक विशेषताओ का अभाव होता है, अधिक सख्या मे जीवित नही रह पाती। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक विशेष पर्यावरण मे उस पर्यावरण के लिए उपयुक्त या लाभकारी वाहकाणुओ का या शारीरिक विशेषताओ की अधिकतम सरक्षा होती है। इस सरक्षण के फलस्वरूप ही कुछ विशिष्ट प्रजातीय लक्षण विकसित हो जाते हैं जो कि एक नवीन प्रजाति को जन्म देते हैं।

(३) **जननिक प्रवाह** (Genetic Drift)—उपर्युक्त दो प्रक्रियाओ के अतिरिक्त एक तीसरी प्रक्रिया भी है जिसके कारण प्रजातियो की रचना हो सकती है। ऐसा भी देखा गया है कि एक मानव-समूह की जननिक रचना (genetic composition) मे उत्परिवर्तन या प्राकृतिक प्रवरण के बिना ही परिवर्तन हो जाय। यह 'सीवेल राइट प्रभाव' (Sewell Wright Effect) या 'जननिक प्रभाव' के फलस्वरूप होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मान लीजिए व्यक्तियो के एक समूह के एक नये क्षेत्र मे जाकर बस जाने से उस समूह का समस्त सम्पर्क उसके पूर्वज-समूह (ancestral group) से छिन्न हो जाता है। यह भी मान लाजिए कि बाद की पीढियो मे प्रथम समूह की सन्तान भी उस प्रथम समूह से दूर जाकर अन्य किसी स्थान पर पृथक् जनसख्या के रूप मे बस जाती है। इस प्रकार से बिखरने या छिटकने का परिणाम यह होगा कि छिटकने वाले समूहो का मूल समूह से शारीरिक या जननिक सम्बन्ध बिलकुल नहीं रह जायगा और हो सकता है कि छिटके हुए किसी समूह मे मूल समूह के सभी विशिष्ट वाहकाणु लुप्त हो जाएँ या दब जाएँ और उस छिटके हुए समूह मे एक नवीन जननिक प्रवाह प्रारम्भ हो। इस प्रकार के जननिक प्रवाह के फलस्वरूप एक नई प्रजाति विकसित हो जाती है। वास्तव मे होता यह है कि मूल समूह से पृथक् या दूर हो जाने से मूल समूह के वाहकाणुओ का प्रभाव भी धीरे-धीरे घटता रहता है क्योकि हर पीढी मे नये वाहकाणुओ का आयात होता जाता है। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि मूल समूह के वाहकाणु लुप्त हो जाते हैं और नये वाहकाणु नये प्रकार के शारीरिक लक्षण वाले समूह या प्रजाति को जन्म देते हैं। परन्तु यह भी अनेक पीढियो के बाद ही सम्भव होता है।

(४) **बहिर्समूह यौन सम्बन्ध** (Crossing)—भोजन तथा जीवन की अन्य आव-

श्यकताओ की पूर्ति के लिए मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने को बाध्य होता है। इस विषय मे सदैव ही मनुष्य पशुओ से कही अधिक गतिशील रहा है, क्योकि एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की शक्ति तथा विभिन्न पर्यावरण से अनुकूलन की क्षमता मनुष्य मे पशुओ से अधिक होती है। इसका एक परिणाम यह होता है कि मनुष्य अति सरलता से नये स्थानो मे जाकर स्थायी रूप से बस जाता है और वहाँ के मूल निवासियो से विवाह सम्बन्ध भी स्थापित करता है। बहिर्समूह से इस प्रकार यौन सम्बन्ध के फलस्वरूप वर्णसकर सन्तानो की उत्पत्ति होती है। ये सन्ताने आगे चलकर एक ऐसे समूह को विकसित करती हैं जिनमे कुछ विशिष्ट शारीरिक लक्षणो का सयोग होता है और जिससे कि एक नवीन प्रजाति की रचना हो जाती है। भारतवर्ष मे इस प्रक्रिया से कई प्रजातियो की रचना हुई है जिसके विषय मे हम अगले अध्याय मे विस्तृत विवेचना करेंगे।

(५) पृथक्करण (Isolation)—पृथक्करण का भी प्रजातियो की रचना मे काफी प्रभाव पडता है क्योकि इसके कारण मनुष्य अन्त यौन-सम्बन्ध (inbreeding) स्थापित करने को बाध्य होता है। सीमित समूह मे विवाह, यौन-सम्बन्ध तथा सन्तानोत्पत्ति का परिणाम यह होता है कि सन्तानो मे थोडे-बहुत परिवर्तनो के साथ कुछ निश्चित शारीरिक विशेषताएँ एक समान या स्थिर बनी रहती हैं। पृथक्करण दो प्रकार का होता है—भौगोलिक तथा सास्कृतिक। भौगोलिक पृथक्ता उस समय उत्पन्न होती है जब यातायात के साधनो के अभाव के कारण या अन्य प्राकृतिक बाधाओ के कारण दो समूहो का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता है। इससे प्रत्येक समूह की अपनी निजी शारीरिक विशेषताओ को स्थिर बनाये रखने मे बडी सरलता होती है। ये विशेषताएँ अधिक स्पष्ट होने पर ही प्रजाति की रचना होती है। सास्कृतिक पृथक्ता धर्म, भाषा, रीति-रिवाज आदि के भेद पर आधारित होती है। इस प्रकार के सास्कृतिक अन्तर के कारण भी दो समूह के सदस्य आपस मे हिल-मिल नही पाते है और एक-दूसरे से पृथक् रह जाते हैं। इसके फलस्वरूप उनमे यौन-सम्बन्ध स्थापित नही होता है और वे अपनी शारीरिक विशेषताओ को पीढी दर पीढी प्राय उसी रूप मे स्थिर बनाये रखने मे सफल होते हैं। अत स्पष्ट है कि पृथक्करण प्रजातियो की रचना मे एक महान कारक है।

उपर्युक्त विवेचना से हम यह सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सम्पूर्ण मानव-जाति एक ही मेधावी मानव की सन्तान होते हुए भी उनमे प्रजातीय भिन्नताएँ अनेक उद्विकासीय प्रक्रियाओ के क्रियाशील होने के फलस्वरूप उत्पन्न हो गई हैं। प्रजातियो की रचना मे उपरोक्त पाँच कारको को उद्विकासीय प्रक्रियाएँ इस अर्थ मे भी कह सकते हैं कि मनुष्य की विभिन्न प्रजातियो की, जैसी कि आज समस्त पृथ्वी पर फैली हुई है, रचना एकाएक या दो-चार सौ वर्ष मे नही हुई है। इसमे तो नि सन्देह ही लाखो वर्ष लगे होगे। इन लाखो वर्ष के दौरान मे प्रजातियो के निर्माण मे अनेक कारको का योग रहा होगा जिनमे से अधिकतर कारको के विषय मे हमारा ज्ञान आज भी अपूर्ण है। इस कारण प्रजातियो की उत्पत्ति के सम्पूर्ण निर्भरयोग्य कारको का निरूपण हमारे लिये सम्भव नही। इस सम्बन्ध मे दूसरी स्मरणीय बात यह है कि यद्यपि हम उद्विकासीय

प्रक्रियाओ तथा अन्य कारको की सहायता से प्रजातियो की रचना के सम्बन्ध मे विवेचना करते हैं और कुछ निश्चित शारीरिक लक्षणो को एक प्रजाति विशेष से सम्बन्धित मानते हैं, तथापि यह नही कहा जा सकता कि ससार मे कोई प्रजाति पूर्णतया शुद्ध है। इसका कारण यह है कि विभिन्न मानव-समूह किसी भी समय सम्पूर्णत पृथक् नही रहे हैं। यदि एक ओर वे एक दूसरे से पृथक् रहकर अलग अलग प्रजातियो मे विकसित हुए, तो दूसरी ओर उन प्रजातियो का आपस मे समिश्रण या मिलन भी होता रहा है। इस प्रकार विभाजन और मिलन प्रजातीय इतिहास के दो अविभाज्य (indivisible) 'खण्ड' हैं।

प्रजाति निर्धारण या वर्गीकरण के आधार
(Bases of Race Determination or Classification)

चूंकि प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है, इस कारण प्रजातियां कुछ शारीरिक लक्षणो (physical traits) के आधार पर निर्धारित की जाती हैं, अर्थात् प्रजातीय वर्गीकरण का आधार कुछ शारीरिक विशेषताएँ हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियो के विशिष्ट अगो की विभिन्न प्रणालियो मे परीक्षा और नाप-जोख कर उनका विभिन्न प्रजातियो मे वर्गीकरण किया जाता है। परन्तु वर्गीकरण का यह कार्य जितना सरल प्रतीत होता है, वास्तव मे वह उससे कही अधिक कठिन है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि जिन विशिष्ट शारीरिक विशेपताओ पर हम प्रजातियो का निर्धारण व वर्गीकरण करते हैं वे विशेपताएँ 'औसतन' या 'आदर्श' विशेपताएँ होती हैं और यह औसत विशेषताएँ उस प्रजाति के सदस्यो मे पाई जाने वाली व्यक्तिगत विशेपताओ से कुछ न कुछ भिन्न होती ही है जिसके कारण विभिन्न प्रजाति के सदस्यो को पृथक् करना कठिन हो जाता है। यह सच है कि एक नीग्रो और एक श्वेत प्रजाति के सदस्य को पहचानने मे या पृथक् करने मे कोई भूल नही करेगा, परन्तु ये तो दो चरम प्रकार (extreme type) हैं, इनके बीच जो हजारो विभिन्नताएँ हैं उनको वैज्ञानिक आधार पर छाँटकर वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। फिर भी मानवशास्त्रियो ने ऐसे अनेक वैज्ञानिक उपकरणो तथा प्रविधियो को विकसित कर लिया है जिनकी सहायता से शारीरिक लक्षणो की परीक्षा और नाप-जोख अधिकाधिक यथार्थ रूप मे हो सके।

सामान्यत प्रजातीय वर्गीकरण ऐसे शारीरिक लक्षणो को आधार मानकर किया जाता है जिनपर पर्यावरण का प्रभाव प्राय न के समान होता है और जिन पर होता भी है वह भी अल्प काल के लिये। उदाहरणार्थ, आर्द्र या नम जलवायु मे सिर के बाल घुंघराले हो जाते हैं तथा धूप मे खुला रखने पर त्वचा (skin) का रग काला पड जाता है। परन्तु इस प्रकार का प्रभाव पर्यावरण मे परिवर्तन होने पर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। साथ ही ऐसा कोई प्रमाण भी नही मिलता है कि इस तरह के पर्यावरण-सम्बन्धी प्रभावो के फलस्वरूप शारीरिक विशेषताओ मे जो परिवर्तन होता है वह प्रजनन द्वारा माता पिता से बच्चो को भी मिलता है।[6]

---

6 For detailed discussion of this point and the points that follow please see Beals and Hoijer, *op cit*, pp 133—136

शारीरिक विशेषताओ मे कद तथा शरीर के वजन पर भोजन तथा पोषण की मात्रा तथा गुणो का विशेष प्रभाव पडता है। इस कारण कद तथा वजन की भिन्नताओ मे वशानुसक्रमण का महत्त्व अधिक नही है। अत प्रजाति के शास्त्रीय वर्गीकरण मे ये विशेषताएँ अधिक निर्भरयोग्य नही हो सकती।

कभी-कभी सास्कृतिक रीति-रिवाज भी शारीरिक विशेषताओ को उत्पन्न कर सकता है जैसे, शिशु के सिर को बाँधकर एक निश्चित आकार देने का प्रयत्न, या कान मे भारी गहने लटका कर उसे लम्बे आकार का बनाना या चीनी लोगो द्वारा लडकियो के पैरो को छोटे से छोटे आकार का बनाने का प्रयत्न आदि। प्रजातीय अवधारणा मे इस प्रकार की शारीरिक विशेषताओ को सम्मिलित न करना ही उचित होगा।

चूकि मनुष्य, अन्य सभी पशुओ की भाँति, दीर्घ उद्विकासीय प्रक्रिया की उपज है, इस कारण प्राचीन मानव मे जो शारीरिक विशेषताएँ अति स्पष्ट थी, उनमे से अनेक विशेषताएँ आधुनिक मानव मे या तो बिल्कुल ही नही हैं या परिवर्तित रूप मे पायी जाती हैं। खोपडी का घनत्व, ठोडी (chin) या चिबुक का विकास, दाँतो की सरचना मे रूपान्तर आदि ऐसी ही शारीरिक विशेषताएँ है जो कि उद्विकासीय प्रक्रिया के फलस्वरूप आधुनिक मानव मे प्राचीन मानव से पर्याप्त परिवर्तित रूप मे मिलती है। आधुनिक प्रजातियो मे इन शारीरिक विशेषताओ के आधार पर कोई उल्लेखयोग्य अन्तर नही हैं।

प्रजातियो का वर्गीकरण करते समय यह निरतर ध्यान मे रखना होगा कि कोई भी एक शारीरिक लक्षण एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से पृथक् करने के लिये पर्याप्त नही है। अपर्याप्त इसलिये है क्योकि किसी प्रजाति विशेष की विशिष्टता बतलाने वाली शारीरिक विशेषताओ मे पृथक् रूप से कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी अफ्रीका के आदिवासियो मे गहरी भूरी त्वचा के रग (colour of skin) का मिलन छोटे घुँघराले केश के साथ हुआ है, परन्तु आस्ट्रेलिया मे वही गहरी भूरी त्वचा का रग उन लोगो का है जिनके केश लम्बे, लहरदार (wavy) है। सीधे केश (straight hair) अमेरिकन इण्डियन्स (American Indians) तथा मध्य एशिया के अधिकतर लोगो मे प्राय सार्वभौमिक हैं, परन्तु इनकी त्वचा के रग मे पर्याप्त अन्तर है। इस कारण प्रजातीय वर्गीकरण मे किसी एक शारीरिक लक्षण को आधार न मानकर अधिकाधिक लक्षणो को आधार मानना ही उचित होगा।

प्रजातीय वर्गीकरण को वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिये यह भी आवश्यक है कि अधिक से अधिक सख्या मे व्यक्तियो का अध्ययन किया जाय। अवलोकन तथा परीक्षण के लिये जितनी कम सख्या मे व्यक्ति उपलब्ध होगे, अध्ययन की यथार्थता उतनी ही कम होगी। इसके विपरीत किसी जनसख्या विशेष मे से जितनी अधिक सख्या मे व्यक्तियो के विशिष्ट अगो की परीक्षा तथा नाप-जोख की जायगी, उस जनसख्या की अपनी निजी शारीरिक विशेषताओ के सम्बन्ध मे उतना ही यथार्थ ज्ञान सम्भव होगा।

इस सम्बन्ध मे एक और स्मरणीय बात यह है कि प्रजातियो का निर्धारण

करते समय आयु और लिंग भेद को भी ध्यान मे रखना होगा। यह मानी हुई बात है कि एक शिशु की शारीरिक सरचना उसी प्रकार नही होगी जैसी कि एक बच्चे या एक युवक या एक प्रौढ या एक वृद्ध की। एक शिशु के अनेक अग पूर्णतया विकसित न होने के कारण उसकी शारीरिक विशेषताएँ स्पष्ट रूप मे प्रकट नही होती। इस कारण प्रजातियो के तुलनात्मक अध्ययन मे समान आयु-समूहो (same age groups) का होना आवश्यक है। उसी प्रकार लिंग भेद को भी ध्यान मे रखना होगा। कद मे स्त्रियाँ सामान्यत पुरुषो से छोटी होती है। उनकी हड्डियाँ भी हलकी होती हैं। उसी प्रकार अन्य अनेक शारीरिक लक्षणो मे स्त्रियो और पुरुषो मे भेद होता है। इस कारण किसी भी तुलनात्मक अध्ययन मे केवल समान आयु-समूह ही नही, समान लिंग-समूहो (sex groups) का होना भी आवश्यक है। इन भेदो का उचित ध्यान रखे बिना प्रजातीय वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार प्राप्त नही हो सकता।

प्रजातियो का शारीरिक लक्षणो के आधार पर वर्गीकरण करने से पूर्व विशेष रूप से ध्यान मे रखने योग्य उपर्युक्त सभी बातो को सक्षेप मे सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने निम्न रूप मे प्रस्तुत किया है[7]—

(१) शरीर-सरचना की विशेषताएँ या रक्त-समूह जैसे शारीरिक लक्षण ही एक मात्र प्रजातीय मापदड है।

(२) वे सरचनात्मक भिन्नताएँ जो कि प्रजातीय मापदड के रूप मे उपयोगी है, उनका वशानुगत तथा अ-अनुकूलनशील (non-adaptive) होना आवश्यक है।

(३) केवल एक लक्षण के आधार पर किसी भी प्रजाति का निर्धारण नही हो सकता। अनेक लक्षणो का प्रयोग करना होगा।

(४) जहाँ तक सम्भव हो सके एक प्रजाति के विशिष्ट शारीरिक लक्षणो का अवलोकन जनसख्या के अधिकाधिक व्यक्तियो मे करना चाहिये। केवल कुछ ही व्यक्तियो मे अवलोकन करने से हो सकता है कि वे लोग अपनी जनसख्या का पूर्ण प्रतिनिधित्व न कर सकें। दूसरे शब्दो मे, अति अल्प लोगो का अध्ययन करने से सम्पूर्ण जनसख्या के विशिष्ट शारीरिक लक्षणो का पता नही लग सकता और न ही उस जनसख्या मे व्यक्तिगत भिन्नता की मात्रा का ज्ञान हो सकता है।

(५) चूँकि आयु तथा लिंग प्रजातीय मापदड को प्रभावित कर सकते हैं, इसलिये सदैव समान आयु तथा लिंग समूहो के व्यक्तियो की ही तुलना करनी चाहिये।

(६) अन्तिम रूप मे प्रजाति मापदड प्रजनन-प्ररूपो (genotypes) पर ही आधारित होना चाहिये, परन्तु अब तक कुछ ही ऐसे लक्षण है, जैसे रक्त-समूह, जिनको इस कसौटी पर कसा जा सके।

उपर्युक्त बातो का ध्यान रखते हुए अब हम प्रजाति निर्धारण या वर्गीकरण के आधारो की विवेचना कर सकते हैं। शारीरिक लक्षण जिनके आधार पर प्रजातियो का निर्णय किया जाता है, दो प्रकार के होते हैं—(१) निश्चित शारीरिक लक्षण, तथा (२)

---

7 *Ibid*, p 136

अनिश्चित शारीरिक लक्षण। इन दोनो प्रकार के लक्षणो मे से कुछ लक्षणो पर हम यहाँ सक्षेप मे प्रकाश डालेगे।

(१) निश्चित शारीरिक लक्षण
(Definite Physical Traits)

निश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिनकी परीक्षा तथा निश्चित रूप से नाप-जोख की जा सकती है, साथ ही, इन लक्षणो पर पर्यावरण का प्रभाव भी न के समान पडता है। इसी कारण इन्हे निश्चित शारीरिक लक्षण कहते हैं। सिर की बनावट, नाक की बनावट, रक्त-समूह, कद आदि निश्चित शारीरिक लक्षण हैं। इन लक्षणो को विभिन्न प्रकार के उपकरणो से नापा जाता है। इन उपकरणो मे मानव-मापक यन्त्र (Anthropometer), परकार (Compass), वर्नियर कैलिपर (Vernier Caliper), इस्पात का टेप आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन उपकरणो की सहायता से शारीरिक लक्षणो की नाप-जोख मे पर्याप्त यथार्थता (exactness) आ गई है। निश्चित शारीरिक लक्षणो मे निम्नलिखित लक्षण विशेष महत्त्व के हैं—

(क) **सिर की बनावट (Cranial Shape)**—सिर की बनावट को मानव-शास्त्री सबसे अधिक स्थायी तथा निश्चित शारीरिक लक्षण मानते हुए अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो यह कि सिर की बनावट पर पर्यावरण का बहुत ही कम प्रभाव पडता है। इस सम्बन्ध मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मृत व्यक्तियो के सिरो को भी अनेक दिनो तक सुरक्षित रक्खा जा सकता है और इससे सिर के मौलिक प्ररूप या बनावट मे कोई अन्तर नही आता। साथ ही, सिर को ठीक-ठीक नापना भी बहुत कठिन कार्य नही है। सिर की बनावट मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात सिर की सबसे अधिक लम्बाई और चौडाई का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। सिर की सबसे अधिक लम्बाई माथे मे भौ की हड्डी के ऊपर नाक की रेखा मे स्थित एक छोटे-से गड्ढे (जिसे अग्रेजी मे glabella कहते हैं) से सिर के पीछे उक्त गड्ढे की सीध तक नापने से पता लगती है। उसी प्रकार सिर की सबसे अधिक चौडाई एक कान से कुछ ऊपर से शुरू करके सिर के ऊपर से जाकर दूसरे कान के कुछ ऊपर (प्रथम कान की सीध पर) तक की दूरी को नापने मे पता चलती है। सिर की चौडाई को १०० से गुणा करके तथा लम्बाई से भाग देने पर जो प्रतिशत निकलता है उसे कापालिक परिमिति या शीर्ष देशना (Cephalic Index) कहते है। यह देशना निम्न पैमाने मे अधिक स्पष्ट हो जाती है—

$$\text{शीर्ष देशना} = \frac{\text{सिर की चौडाई}}{\text{सिर की लम्बाई}}$$

उपर्युक्त शीर्ष देशना के अनुसार सिर की बनावट को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(अ) **दीर्घ कपाल या लम्बे सिर (Dolicho Cephalic)**—यदि शीर्ष देशना ७५ प्रतिशत से कम हो तो उस सिर को दीर्घ कपाल या लम्बे सिर कहेगे। इस प्रकार का सिर विशेषत नीग्रो, अमेरिकन-इण्डियन्स तथा यूरोप के उत्तरी और दक्षिणी भाग मे रहने वालो का होता है। भारतवर्ष मे लम्बे सिर वाले लोग प्रधानत पजाब, राजस्थान,

करते समय आयु और लिंग भेद को भी ध्यान मे रखना होगा। यह मानी हुई बात है कि एक शिशु की शारीरिक सरचना उसी प्रकार नही होगी जैसी कि एक बच्चे या एक युवक या एक प्रौढ या एक वृद्ध की। एक शिशु के अनेक अग पूर्णतया विकसित न होने के कारण उसकी शारीरिक विशेषताएँ स्पष्ट रूप मे प्रकट नही होती। इस कारण प्रजातियो के तुलनात्मक अध्ययन मे समान आयु-समूहो (same age groups) का होना आवश्यक है। उसी प्रकार लिंग भेद को भी ध्यान मे रखना होगा। कद मे स्त्रियाँ सामान्यत पुरुषो से छोटी होती है। उनकी हड्डियाँ भी हलकी होती हैं। उसी प्रकार अन्य अनेक शारीरिक लक्षणो मे स्त्रियो और पुरुषो मे भेद होता है। इस कारण किसी भी तुलनात्मक अध्ययन मे केवल समान आयु-समूह ही नही, समान लिंग-समूहो (sex groups) का होना भी आवश्यक है। इन भेदो का उचित ध्यान रखे बिना प्रजातीय वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार प्राप्त नही हो सकता।

प्रजातियो का शारीरिक लक्षणो के आधार पर वर्गीकरण करने से पूर्व विशेष रूप से ध्यान मे रखने योग्य उपर्युक्त सभी बातो को सक्षेप मे सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने निम्न रूप मे प्रस्तुत किया है[7]—

(१) शरीर-सरचना की विशेषताएँ या रक्त-समूह जैसे शारीरिक लक्षण ही एक मात्र प्रजातीय मापदड है।

(२) वे सरचनात्मक भिन्नताएँ जो कि प्रजातीय मापदड के रूप मे उपयोगी है, उनका वशानुगत तथा अ-अनुकूलनशील (non-adaptive) होना आवश्यक है।

(३) केवल एक लक्षण के आधार पर किसी भी प्रजाति का निर्धारण नही हो सकता। अनेक लक्षणो का प्रयोग करना होगा।

(४) जहाँ तक सम्भव हो सके एक प्रजाति के विशिष्ट शारीरिक लक्षणो का अवलोकन जनसख्या के अधिकाधिक व्यक्तियो मे करना चाहिये। केवल कुछ ही व्यक्तियो मे अवलोकन करने से हो सकता है कि वे लोग अपनी जनसख्या का पूर्ण प्रतिनिधित्व न कर सकें। दूसरे शब्दो मे, अति अल्प लोगो का अध्ययन करने से सम्पूर्ण जनसख्या के विशिष्ट शारीरिक लक्षणो का पता नही लग सकता और न ही उस जनसख्या मे व्यक्तिगत भिन्नता की मात्रा का ज्ञान हो सकता है।

(५) चूँकि आयु तथा लिंग प्रजातीय मापदड को प्रभावित कर सकते हैं, इसलिये सदैव समान आयु तथा लिंग समूहो के व्यक्तियो की ही तुलना करनी चाहिये।

(६) अन्तिम रूप मे प्रजाति मापदड प्रजनन-प्ररूपो (genotypes) पर ही आधारित होना चाहिये, परन्तु अब तक कुछ ही ऐसे लक्षण है, जैसे रक्त-समूह, जिनको इस कसौटी पर कसा जा सके।

उपर्युक्त बातो का ध्यान रखते हुए अब हम प्रजाति निर्धारण या वर्गीकरण के आधारो की विवेचना कर सकते हैं। शारीरिक लक्षण जिनके आधार पर प्रजातियो का निर्णय किया जाता है, दो प्रकार के होते हैं—(१) निश्चित शारीरिक लक्षण, तथा (२)

---

7 *Ibid*, p 136

अनिश्चित शारीरिक लक्षण। इन दोनो प्रकार के लक्षणो मे से कुछ लक्षणो पर हम यहाँ सक्षेप मे प्रकाश डालेगे।

(१) निश्चित शारीरिक लक्षण (Definite Physical Traits)

निश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिनकी परीक्षा तथा निश्चित रूप से नाप-जोख की जा सकती है, साथ ही, इन लक्षणो पर पर्यावरण का प्रभाव भी न के समान पडता है। इसी कारण इन्हे निश्चित शारीरिक लक्षण कहते हैं। सिर की बनावट, नाक की बनावट, रक्त-समूह, कद आदि निश्चित शारीरिक लक्षण है। इन लक्षणो को विभिन्न प्रकार के उपकरणो से नापा जाता है। इन उपकरणो मे मानव-मापक यन्त्र (Anthropometer), परकार (Compass), वर्नियर कैलिपर (Vernier Caliper), इस्पात का टेप आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन उपकरणो की सहायता से शारीरिक लक्षणो की नाप-जोख मे पर्याप्त यथार्थता (exactness) आ गई है। निश्चित शारीरिक लक्षणो मे निम्नलिखित लक्षण विशेष महत्त्व के हैं—

(क) **सिर की बनावट** (Cranial Shape)—सिर की बनावट को मानव-शास्त्री सबसे अधिक स्थायी तथा निश्चित शारीरिक लक्षण मानते हुए अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो यह कि सिर की बनावट पर पर्यावरण का बहुत ही कम प्रभाव पडता है। इस सम्बन्ध मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मृत व्यक्तियो के सिरो को भी अनेक दिनो तक सुरक्षित रक्खा जा सकता है और इससे सिर के मौलिक प्ररूप या बनावट मे कोई अन्तर नही आता। साथ ही, सिर को ठीक-ठीक नापना भी बहुत कठिन कार्य नही है। सिर की बनावट मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात सिर की सबसे अधिक लम्बाई और चौडाई का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। सिर की सबसे अधिक लम्बाई माथे मे भौ की हड्डी के ऊपर नाक की रेखा मे स्थित एक छोटे-से गड्ढे (जिसे अंग्रेजी मे glabella कहते हैं) से सिर के पीछे उक्त गड्ढे की सीध तक नापने से पता लगती है। उसी प्रकार सिर की सबसे अधिक चौडाई एक कान से कुछ ऊपर से शुरू करके सिर के ऊपर से जाकर दूसरे कान के कुछ ऊपर (प्रथम कान की सीध पर) तक की दूरी को नापने से पता चलती है। सिर की चौडाई को १०० से गुणा करके तथा लम्बाई से भाग देने पर जो प्रतिशत निकलता है उसे कापालिक परिमिति या शीर्ष देशना (Cephalic Index) कहते हैं। यह देशना निम्न पैमाने से अधिक स्पष्ट हो जाती है—

$$\text{शीर्ष देशना} = \frac{\text{सिर की चौडाई}}{\text{सिर की लम्बाई}}$$

उपर्युक्त शीर्ष देशना के अनुसार सिर की बनावट को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(अ) **दीर्घ कपाल या लम्बे सिर** (Dolicho Cephalic)—यदि शीर्ष देशना ७५ प्रतिशत से कम हो तो उस सिर को दीर्घ कपाल या लम्बे सिर कहेगे। इस प्रकार का सिर विशेषत. नीग्रो, अमेरिकन-इण्डियन्स तथा यूरोप के उत्तरी और दक्षिणी भाग मे रहने वालो का होता है। भारतवर्ष मे लम्बे सिर वाले लोग प्रधानत पजाब, राजस्थान,

काश्मीर, उत्तर प्रदेश आदि मे अधिक पाये जाते हैं। (ब) मध्य कपाल या बीच का सिर (Meso Cephalic)—यदि शीर्ष देशना ७५ और ८० प्रतिशत के बीच है तो वह सिर मध्य कपाल या बीच का सिर कहलाता है। इस प्रकार के सिर न तो अधिक चौड़े होते है और न लम्बे। नॉर्डिक (Nordic) प्रजाति इस प्रकार के सिर के सबसे उत्तम प्रतिनिधि हैं।[8] ये लोग विशेषत स्कैण्डिनेविया (Scandinavia), बाल्टिक देशो (Baltic countries) तथा उत्तरी जर्मनी मे पाये जाते है। वैसे तो भारतवर्ष मे नॉर्डिक प्रजाति के लोग सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी तथा स्वात, पजकोटा, कुनार, चितराल नदियो की घाटियो मे और हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण मे मिलते है तथा काश्मीर, पजाब और राजस्थान मे भी फैले हुए हैं, परन्तु यहाँ इस प्रजाति को लम्बे सिर वाला कहा गया है। शायद मध्य कपाल के शुद्ध प्रतिनिधि भारतवर्ष के किसी एक भाग मे केन्द्रित नही है। (स) पृथु-कपाल या चौडा सिर (Brachy Cephalic)—जब सिर की चौडाई उसकी लम्बाई के अनुपात मे अधिक होती है तो उसे पृथुकपाल या चौडा सिर कहते है। इस प्रकार के सिर की शीर्ष देशना ८० प्रतिशत से अधिक होती है। आल्पाइन (Alpine), आर्मीनॉयड (Armenoid) तथा डिनारी (Dinaric) प्रजातियो के सदस्यो के सिर इस श्रेणी मे आते हैं।[9] आल्पाइन प्रजाति के लोग केन्द्रीय तथा पूर्वी यूरोप मे, आर्मीनॉयड प्रजाति के लोग टर्की, साइरिया तथा पर्शीया मे और डिनारी प्रजाति के लोग प्रधानत पूर्वी आल्प्स (Alps) मे केन्द्रित है। भारतवर्ष की जनसख्या मे चौडे सिर वाले लोग मध्य-भारत, गुजरात, चटगाँव, बगाल, आसाम आदि मे विशेषकर पाये जाते हैं।

सिर के उपर्युक्त भेद केवल अध्ययन मे सरलता हो इस उद्देश्य से किये गये हैं। वास्तव मे एक जनसख्या मे विभिन्न प्रकार के सिर पाये जाते है। शीर्ष देशना उपप्रजातियो या जनजातियो मे भेद करने मे सहायक सिद्ध हो सकती है, परन्तु मुख्य प्रजातियो के वर्गीकरण मे शीर्ष देशना का आधार निर्भरयोग्य नही है। उदाहरणार्थ, काकेशॉयड (Caucasoid) प्रजाति के लोगो मे कोई निश्चित प्रकार के सिर नही मिलते हैं। उनमे लम्बे सिर, मध्यम सिर तथा चौडे सिर तीनो पाये जाते है। उसी प्रकार अमेरिकन इण्डियन्स सामान्यत एक ही प्रजाति से सम्बन्धित होते हुए भी विभिन्न प्रकार के सिर वाले हैं।[10] श्री फ्राज बोआस (Franz Boas) द्वारा पर्यावरण से सिर की बनावट की परिवर्तनशीलता सिद्ध करने के बाद इस लक्षण का महत्त्व और भी कम हो गया है। अन्य देशो से सयुक्त राज्य अमेरिका मे आकर बसने वाले लोगो की सन्तानो का जो विस्तारित अध्ययन श्री बोआस ने किया है उससे प्रमाणित होता है कि उन बच्चो की शीर्ष देशना और उनके माता-पिता की शीर्ष देशना मे उल्लेखनीय अन्तर है। किन्ही-किन्ही लोगो के बच्चो की शीर्ष देशना उनके माता-पिता की शीर्ष देशना से बढ गई है, तो किन्ही-किन्ही लोगो के बच्चो की शीर्ष देशना घट गई है।[11]

---

8 Beals and Hoijer, *Ibid*, p 176

9 *Ibid*, pp 176—178

10 Kroeber, *op cit*, pp 127—128

11 Beals and Hoijer, *op cit*, pp 140—141

(ख) नाक की बनावट (Nose Shape)—सिर की बनावट की भाति नाक की बनावट भी एक निश्चित शारीरिक लक्षण माना जाता है क्योकि इसे भी सरलता से नापा जा सकता है और पर्यावरण-सम्बन्धी परिस्थितियो का प्रभाव इसपर कम पडता है। प्रजातियो को निश्चित करने मे नाक की बनावट को आधार मानने का मुख्य श्रेय प्रोफेसर थामसन (Thompson) तथा बक्सटन (Buxton) को है। नाक की बनावट मे भी, सिर की बनावट की भाति, सबसे प्रमुख बात नाक की लम्बाई और चौडाई का पारस्परिक सम्बन्ध या अनुपात होता है। इसी कारण शीर्ष देशना की भाति नाक की चौडाई मे नाक की लम्बाई का भाग देकर १०० से गुणा करके नासिका देशना (Nasal Index) निकाली जाती है। अर्थात्—

$$\text{नासिका देशना} = \frac{\text{नाक की चौडाई}}{\text{नाक की लम्बाई}} \times १००$$

नासिका देशना के आधार पर नासिकाओ के तीन भेद किये जाते हैं—(अ) **पतली या लम्बी नासिका** (Leptorrhine)—यदि जीवित व्यक्तियो की नासिका देशना ७० से कम हो तो लम्बी नासिका होगी। मृत व्यक्तियो की खोपडियो या कर्परो की नासिका देशना यदि ४७ से कम हो तो उनकी नाको को लम्बी नासिका के अन्तर्गत माना जाता है। काकेशॉयड प्रजाति लम्बी नासिका की स्पष्ट प्रतिनिधि है। भारतवर्ष मे काश्मीर, पजाब तथा राजस्थान मे लम्बी नासिका पाई जाती है। (ब) **मध्य या चपटी नासिका** (Mesorrhine)—जीवित व्यक्तियो की जिन नाको की देशना ७० से ८४ के बीच मे हो, उन्हे मध्य या चपटी नासिका कहते हैं। कर्परो (Skulls) की नासिका देशना ४७ से ५१ के बीच मे होने पर उनकी नाको को मध्य या चपटी नासिका माना जाता है। मगोल (Mongoloid) प्रजाति के लोगो की नाक चपटी होती है। भारतवर्ष मे इस प्रजाति के लोग अधिकतर उत्तर-पूर्वी भारत मे पाये जाते हैं जैसे नेपाल और आसाम। **(स) चौडी नासिका** (Platyrrhine)—जीवित व्यक्तियो की जिन नासिकाओ की देशना ८४ से अधिक हो, उन्हे चौडी नासिका कहते हैं। जिन कर्परो की नासिका देशना ५१ से अधिक है उन्हे इस श्रेणी के अन्तर्गत माना जाता है। चौडी नासिका के यथार्थ प्रतिनिधि नीग्रो प्रजाति के लोग हैं। भारतवर्ष मे चौडी नासिका वाले लोग मद्रास, मध्य प्रदेश और छोटा नागपुर मे प्रधानत केन्द्रित हैं।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि आयु तथा लिग के अनुसार नासिका देशना मे भी अन्तर आता जाता है। अत तुलनात्मक अध्ययन के समय आयु तथा लिग-समूहो का ध्यान रखना आवश्यक है। साथ ही, जैसा कि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है, जीवित मृत की नासिका देशना मे भी अन्तर होता है।

(ग) **खोपड़ी का घनत्व** (Cranial Capacity)—स्पष्ट है कि खोपडी के घनत्व से सम्बन्धित कोई भी नाप-जोख मृत्यु के पश्चात् ही हो सकती है। इस प्रकार की नाप-जोख विशेषत प्रागैतिहासिक कर्परो के अध्ययन मे उपयोगी सिद्ध हुई है। इनके अध्ययन से पता चला है कि किन्ही-किन्ही कर्परो का घनत्व आधुनिक मनुष्यो की खोपडी के घनत्व से बहुत कम है, परन्तु ऐसे भी अनेक प्रागैतिहासिक कर्पर मिले हैं जिनका घनत्व आधुनिक

मनुष्यो के समान है। आधुनिक पुरुष की खोपडी का औसत घनत्व प्राय [illegible]२५ cc होता है, जब कि स्त्रियो की खोपडी का औसत घनत्व पुरुषो की अपेक्षा प्राय १५० cc कम होता है। विभिन्न प्रजातीय-समूहो के सदस्यो की खोपडी का औसत घनत्व ११०० cc से १५०० cc के बीच मे होता है।[12] सबसे अधिक घनत्व काकेशॉयड (Caucasoid) प्रजाति का और सबसे कम नीग्रो प्रजाति का होता है।

यद्यपि खोपडी का घनत्व और भेजा (मस्तिष्क) का आकार (size of the brain) परस्पर सम्बन्धित हैं, तथापि इसके आधार पर यह न समझना चाहिये कि मस्तिष्क के आकार का कोई सम्बन्ध बुद्धि (intelligence) से है। परन्तु लोग साधारणत यही गलत धारणा बना लेते है कि अधिक घनत्व की खोपडी मे चूँकि बडे आकार का मस्तिष्क या भेजा (brain) होता है इस कारण इस प्रकार के लोग अधिक बुद्धिमान होते हैं। कहा जाता है कि लम्बे सिर वाले नीग्रो प्रजाति के लोगो की खोपडी का घनत्व कम होने के कारण ही वे कम बुद्धिमान होते हैं। किन्तु ये सब गलत धारणाएँ है। स्त्रियो की खोपडी का घनत्व पुरुषो की अपेक्षा कम होता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि स्त्रियाँ पुरुषो से कम बुद्धिमान होती हैं। यही बात किसी भी प्रजाति के सम्बन्ध मे भी सत्य है। उदाहरणार्थ, मस्तिष्क का सर्वाधिक औसत आकार एस्किमो लोगो का माना जाता है, परन्तु ऐसा कोई प्रमाण अभी तक प्राप्त नही हुआ है जिससे यह प्रमाणित हो सके कि वे काकेशॉयड या अन्य किसी प्रजाति से श्रेष्ठ हैं।[13]

(घ) कद (Stature)—प्रजातीय वर्गीकरण मे कद भी एक निश्चित शारीरिक लक्षण है क्योकि इसे सरलता से नापा जा सकता है। यद्यपि कद पर पर्यावरण का अधिक प्रभाव पडता है, फिर भी विभिन्न प्रजातियो के कद मे कुछ स्पष्ट अन्तर होता ही है और एक निश्चित सीमा के अन्दर ही मनुष्य के कद का घटना या बढना सम्भव है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के शब्दो मे, "प्रागैतिहासिक मनुष्य के औसत कद तथा उनमे भिन्नताओ के सम्बन्ध मे पर्याप्त आँकडो का अभाव है, परन्तु उपलब्ध आँकडो से ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी पर मनुष्य के प्रथम आविर्भाव से लेकर अब तक उसके कद मे अल्प ही परिवर्तन हुए हैं। हाल मे कुछ क्षेत्रो मे कद मे जो वृद्धि हुई है उसका कारण दीर्घ काल मे होने वाले जननिक (genetic) परिवर्तन नही, बल्कि जीवन-धारणा की उन्नत अवस्थाएँ हैं।"[14]

उपर्युक्त विद्वानो के कद के आधार पर निम्नलिखित पाँच विभाग किये हैं[15]—

	पुरुष	स्त्री
बहुत छोटा	४′ ११″ से नीचे	४′ ७″ से नीचे

12 *Ibid*, p 138

13 Jacobs and Stern, *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955, p 41

14 "Adequate data on averages and ranges for prehistoric man are lacking, but the data available would seem to indicate that little change in stature has taken place since man's first appearance on earth Recent increases in stature in some areas probably represent responses to improved living conditions rather than to any long term genetic change" Beals and Hoijer, *op cit* p 157

15 *Ibid*, p 157

	पुरुष	स्त्री
छोटा	५′ ०″—५′ ३″	४′ ८″—४′ ११″
मध्यम	५′ ४″—५′ ७″	५′ ०″—५′ ३″
लम्बा	५′ ८″—५′ ११″	५′ ४″—५′ ६″
बहुत लम्बा	६′ ०″ से ऊपर	५′ ७″ से ऊपर

उक्त पॉच विभागो के बीच प्रत्येक प्रजाति मे अनेक भिन्नताएँ मिलती है। फिर भी सामान्य रूप मे आलपाइन प्रजाति का औसत कद ५ फीट ५ इच, आर्मीनॉयड प्रजाति का ५ फीट ६ इच, भूमध्यसागरीय प्रजाति का ५ फीट ४ इच, नॉडिक प्रजाति का ५ फीट ८ इच, मगोलियन प्रजातियो का ५ फीट से लेकर ५ फीट ८ इच तक तथा नीग्रिटो प्रजाति का ४ फीट ८ इच।[16] अफ्रीका के बुशमैन (African Bushman) का औसत कद ससार मे सबसे छोटा है। वे औसत से ४ फीट ६ इच के होते हैं। इसके विपरीत पैंटागोनियन्स (Pantagonians) अपनी ऊँचाई के लिए प्रसिद्ध हैं, उनका औसत कद ६ फीट ४ इच है।

भोजन का कद पर विशेष प्रभाव पडता है। एस्किमो, बुशमैन तथा पिग्मी सम्भवत. उचित भोजन के न मिलने के कारण ही नाटे होते हैं। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि कद को निश्चित करने मे भोजन ही सब कुछ है। यदि ऐसा ही होता तो दक्षिण अफ्रीका के दक्षिण मे तीरा डेल फ्यूगो (Tierra del Fuego) के भारतीय (Indians), जिनकी अवस्था भोजन तथा जीवनधारण की सामान्य अवस्थाओ की दृष्टि से एस्किमो के समान है, इतने अधिक लम्बे कद के न होते।[17]

(ङ) रक्त-समूह (Blood groups)—मानवशास्त्रियो ने विभिन्न प्रजातीय-समूह के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए एक नयी प्रविधि अपनायी है। यह प्रविधि रक्त-समूहो के वितरण पर आधारित है। प्रजातीय वर्गीकरण मे इसे भी एक निश्चित लक्षण इस कारण माना जाता है क्योकि रक्त-समूह एक जनक गुण (genic character) है जो कि वशानुसक्रमण के नियम के अनुसार माता-पिता से बच्चो को मिलता है। बहुत कम शारीरिक लक्षण हैं जो वाहकाणुओ (genes) पर पूर्णतया आश्रित है। केवल रक्त-समूह ही एक ऐसा अपवाद है जो मानव-जाति मे सरलता से पहचाने जाने वाले वाहकाणुओ द्वारा निश्चित या निर्धारित होते हैं। रक्त-कोषो मे पाये जाने वाले रक्त-सम्बन्धी या लसीय (Serological) अन्तर "विशुद्ध रूपेण शारीरिक हैं जो कि वशानुसक्रमण द्वारा निश्चित होते हैं और जिनपर पर्यावरण का कोई प्रभाव नही पडता।"[18] तीन, या अभी हाल मे प्राप्त सूचना के अनुसार चार, एलैलिक वाहकाणुओ (allelic genes) की अन्त क्रिया के फलस्वरूप चार रक्त-समूह उत्पन्न होते हैं जिन्हे A, B, O और A B का नाम दिया गया है। यद्यपि प्रत्येक प्रजाति मे इन चार प्रकार के रक्त-समूह के लोग होते हैं, फिर भी प्रत्येक प्रजाति मे सामान्यत एक विशेष रक्त-समूह की प्रधानता होती है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी यूरोप के लोगो मे A रक्त-समूह की प्रधानता है, जबकि अमेरिका के रेड् इडियनो मे O

---

16 *Ibid*, pp 176, 181 and 188
17 *Ibid*, p 158
18 *cf* D N Majumdar, *op cit*, p 69

रक्त-समूह का प्रतिशत सबसे अधिक है। श्री ओटनबर्ग (Ottenberg) ने सन् १९२५ मे लसीय आँकडो (Serological data) के आधार पर ससार की जनसख्या को छ' स्पष्ट भागो मे बाँटा था — (१) यूरोपीय, (२) माध्यमिक, (३) हूनान, (४) हिन्द-मन्चूरियाई, (५) अफ्रिकी दक्षिणी-एशियाई, तथा (६) प्रशान्त अमरीकी। श्री स्निडर (Snyder) ने सात भागो को स्पष्ट किया था। इन सब वर्गीकरणो से पता चलता है कि यूरोप के लोगो मे A का अनुपात अत्यधिक है, जब कि हिन्द-मचूरियाई (Indo-Manchurians) मे B के अनुपात की अधिकता है। रक्त-समूहो के विभिन्न अध्ययनो से आज यह स्पष्ट है कि यूरोप मे A और एशिया मे B रक्त-समूह की प्रधानता है, जब कि आदिवासियो और सीमान्त लोगो मे B और A B की मात्रा अति अल्प है। आदिवासियो तथा सीमान्त लोगो मे O का अनुपात अत्यधिक है और कही-कही उनमे A भी विद्यमान है। यो तो O सभी प्रजातियो मे मिलता है, पर केवल अमेरिकन इडियनो मे वह शुद्ध रूप मे पाया जाता है। हाल ही मे यह पता चला है कि मिश्रित अमेरिकन इडियनो मे A का अत्यधिक केन्द्रीकरण है। आस्ट्रेलियनो, अमेरिकन इडियनो तथा विशुद्ध पॉलिनेशियनो मे B की मात्रा बहुत कम है।[19]

सर्वश्री मेलोन (Malone), लाहिडी (Lahırı), मैकफार्लेन (Macfarlane), मजुमदार (Majumdar) आदि, जिन्होने भारत मे रक्त-समूहो के वितरणो के सम्बन्ध मे पडतालें की हैं, भारत मे B रक्त-समूह का अत्यधिक एकत्रीकरण पाया। चीन, जापान और मलायेशिया मे भी B की अधिकता देखने मे आती है। भारत मे नीलगिरी के टोडा मे ३८, मराठो मे ३४, जाटो मे ३७ २, बगाल के मुसलमानो तथा दलित जातियो मे क्रमश ४० और ४२ ७ और उत्तर प्रदेश के चमारो तथा डोमो मे क्रमश ३८ ३ और ३९ ४ प्रतिशत B पाया गया। उत्तर प्रदेश के मुसलमानो मे O की अधिकता और B की कमी सम्भवत इस प्रदेश के मुसलमानो के अधिक पृथक्करण और प्रजातीय शुद्धता की ओर सकेत करती है। भारत के बाहर के मुसलमानो मे B की कमी और A की अधिकता उन्हें भारतीय मुसलमानो से पृथक् करती है। भारत मे जाति और साम्प्रदायिक आधार पर हुए कुछ हाल के रक्त-समूह-पडतालो के अध्ययन से यह प्रकट हुआ कि जैसे-जैसे हम उच्च जातियो से निम्न जातियो की ओर चलते हैं A घटता जाता है और B की अधिकता होती जाती है, यद्यपि जनजातीय समूहो मे B नही मिलता है।[20]

प्रत्येक प्रजातीय जनसख्या मे रक्त-समूहो की इतनी विविधता होती है कि उन्हे उचित रूप से छाँटकर उसी आधार पर प्रजातियो का वर्गीकरण कठिन तथा अवैज्ञानिक भी होता है। इस कारण सावधान वैज्ञानिको द्वारा अन्य शारीरिक लक्षणो के आधार पर किये गये प्रजातीय वर्गीकरण, रक्त-समूहो के आधार पर किये गये वर्गीकरण से कभी मिलते नही हैं।[21] श्री हैलडन (Haldane) ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि "रक्त-समूहो का अध्ययन

19 *Ibid*, pp 75-76, 79 and 81

20 *Ibid*, pp 79, 80-85

21 "Race classifications ventured by cautious scientists, which are based on clusters of distinctive features as well as on probable differences in gene frequencies, have never seemed to agree with a classification based on differences in percentages of blood types" Jacobs and Stern, *op cit*, p 46

एक विशेष प्रणाली द्वारा ही किया जा सकता है और ये (रक्त-समूहो) एक दूसरे मे इस सीमा तक मिले-जुले हैं कि इनके द्वारा प्रजातीय अन्तरो का पता केवल कुछ सौ व्यक्तियो की जनसख्या मे ही लगाया जा सकता है।"[22] इसलिये प्रजातियो के वर्गीकरण के लिये यह आवश्यक है कि हम अन्य प्रकार के विभिन्न लक्षणो को भी ध्यान म रक्खे।

(च) अन्य निश्चित लक्षण (Other definite traits) —उपरोक्त लक्षणो के अतिरिक्त जबडो की बनावट, मुखाकृति, हाथ और पैर की लम्बाई, वक्षस्थल की परिधि आदि भी निश्चित शारीरिक लक्षण है, क्योकि इन्हे भी निश्चित रूप मे नापा जा सकता है। इस कारण ये भी प्रजातीय वर्गीकरण मे उपयोगी सिद्ध हुए है।

निश्चित शारीरिक लक्षणो के सम्बन्ध मे एक बात यह स्मरणीय है कि जब हम किसी शारीरिक लक्षण को 'निश्चित' कहते हैं तो उसका यह अर्थ कदापि नही होता कि 'निश्चित' शारीरिक लक्षण 'निश्चित' रूप मे विभिन्न प्रजातियो का निर्धारण करते है या उनके आधार पर प्रजातियो का जो वर्गीकरण किया जाता है वह 'निश्चित' या यथार्थ ही होता है। ये निश्चित लक्षण केवल इसी अर्थ मे हैं कि इनकी 'निश्चित' नाप-जोख सम्भव है।

(२) अनिश्चित शारीरिक लक्षण
(Indefinite Physical Traits)

प्रजातीय-भेद के अनिश्चित शारीरिक लक्षण वे है जिन्हे निश्चित रूप से नापा नही जा सकता जिनका केवल वर्णन ही किया जा सकता है। साथ ही, इस प्रकार के लक्षणो पर निश्चित लक्षणो की तुलना मे पर्यावरण का प्रभाव भी अत्यधिक पडता है। आँखो का रग, त्वचा का रग, केश-रचना, शरीर पर केश-वितरण—ये सब ऐसे लक्षण हैं जिनमे प्रत्येक प्रजाति की अपनी विशेषता तो होती है, परन्तु उन्हे निश्चित रूप मे नाप-जोख कर उनका वर्गीकरण करना कठिन होता है। इनमे से कुछ लक्षणो पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे —

(अ) त्वचा का रग (Skin Colour)—साधारण व्यक्ति त्वचा या खाल के रग के आधार पर मनुष्यो मे भेद बडी सरलता से कर सकता है, पर प्रजातीय वर्गीकरण मे मानवशास्त्री इस लक्षण पर अधिक बल नही देते है क्योकि त्वचा के रग के सूक्ष्म भेदो का वैज्ञानिक रूप से नापना बहुत कठिन है, साथ ही, जलवायु के अनुसार खाल के रग मे बहुत हेर-फेर भी हो जाती है। यह सच है कि जलवायु या पर्यावरण के प्रभाव से त्वचा का रग स्थायी रूप से नही बदल जाता है। उदाहरणार्थ, तेज धूप से खाल का रग काला अवश्य पड जाता है, परन्तु जैसे ही इस प्रकार का प्रभाव समाप्त हो जायगा वैसा ही खाल का रग अपने मूल रग का हो जायगा। कोई भी पर्यावरण-सम्बन्धी प्रभाव व्यक्ति के निजी रग को एक समय पश्चात् परिवर्तित नही कर सकता। इसका कारण निम्न विवेचना से स्पष्ट हो जायगा।

---

22 "The blood groups require a special technique for their study, and overlap to such an extent that racial differences can often only be detected in populations of some hundreds" J B S Haldane, *Anthropology and Human Biology*, 'Man', p 163

खाल का रंग खाल के निचले स्तर पर पायी जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म कृष्ण कणिकायों (melanin granules) द्वारा निश्चित होता है। इन कणिकाओं का सर्व-प्रमुख कार्य सूर्य की पराकाशनी (ultra-violet) किरणों या धूप से शरीर या रक्त की रक्षा करना है। साधारणत सभी मानव में ये कृष्ण कणिकाएँ पायी जाती हैं, केवल अन्तर इतना होता है कि किसी में इसकी मात्रा अधिक है तो किसी में कम। जब इनकी मात्रा बहुत कम या न के समान होती है तब व्यक्ति का रंग गोरा होता है और जैसे-जैसे इन कणिकाओं की मात्रा बढती जाती है वैसे-वैसे खाल का रंग भी काला होता जाता है। अत्यधिक तेज धूप से नीग्रो के रक्त की रक्षा करने के लिए ही उनके शरीर में उक्त कणिकाओं की मात्रा सर्वाधिक होती है, इस कारण उनकी त्वचा का रंग भी अत्यधिक काला होता है। ठंडे प्रदेशों में जहाँ सूर्य की धूप इतनी तेज न होने के कारण रक्त को इस प्रकार की रक्षा की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ इन कणिकाओं की मात्रा न्यूनतम होती है, अत वहाँ के निवासियों का रंग गोरा होता है। व्यक्ति के शरीर में इन कणि-काओं की मात्रा (amount) वंशानुगत कारकों (hereditary factors) द्वारा निर्धा-रित होती है। केवल उन रोगों को छोडकर जिससे इन कणिकाओं की मात्रा घटती-बढती है, व्यक्ति के जीवन काल में उसकी त्वचा के रंग में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं होता है। बच्चे की आयु बढने के साथ-साथ उसकी त्वचा का रंग अधिक स्पष्ट होता जाता है और वृद्धावस्था में कुछ कालापन आ जाता है।[23]

खाल के रंग तीन प्रकार के होते हैं—गोरा रंग (Leucoderm), पीला रंग (Xathnoderm) और काला रंग (Melanoderm)। इन तीन प्रकार के रंगों को मानव की तीन प्रमुख प्रजातियों से सम्बन्धित माना जाता है, जैसे काकेशॉयड प्रजाति का रंग श्वेत, मंगोलॉयड प्रजाति का रंग पीत या पीला और नीग्रोयाड प्रजाति का रंग श्याम या काला होता है। इसीलिये बहुधा इन तीन प्रजातियों को क्रमशः श्वेत प्रजाति, पीत प्रजाति और श्याम प्रजाति कहा जाता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि त्वचा के रंग के आधार पर उक्त वर्गीकरण केवल मोटा विभाजन (broad divison) है। इनमें से प्रत्येक की बहुत लम्बी श्रेणियाँ हैं और उन्हें संख्यात्मक रूप से प्रस्तुत करना भी असम्भव है। उदाहरणार्थ, यूरोप में गोरे रंग वाले व्यक्ति उत्तरी प्रदेशों में कुछ गुलाबी रंग के होते हैं, जबकि दक्षिणी प्रदेशों में कुछ पीले-भूरे-से होते हैं। उसी प्रकार उक्त तीनों प्रकार के रंगों के बीच भूरे, साँवले, सलेटी आदि अगणित रंग होते हैं जिनका वर्गी-करण और व्याख्या वास्तव में कठिन है। इन असुविधाओं के होते हुए भी, श्री क्रोबर (Kroeber) के अनुसार, त्वचा का रंग प्रत्येक वर्गीकरण में ध्यान आकर्षित करने योग्य पर्याप्त महत्त्वपूर्ण लक्षण है।[24]

(ब) **केश-रचना** (The texture of hair)—यद्यपि प्राचीन मनुष्यों के

---

23 Beals and Hoijer, *op cit*, p 154

24 "In spite of these drawbacks, however, complexion remains sufficiently important to warrant consideration in every classification" Kroeber, *op cit*, p 130

वर्गीकरण मे केश-रचना का उपयोग सम्भव नही है क्योकि मृत्यु के पश्चात् केश शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तथापि विद्यमान मानव के वर्गीकरण का अति उत्तम आधार है क्योकि अन्य लक्षणो की तुलना मे यह पर्यावरण द्वारा कम प्रभावित होता है।[25] फिर भी विद्यमान प्रविधियो की सहायता से केशो को निश्चित रूप से नापना सम्भव नही है। कुछ भी हो यह सबसे सरल लक्षण है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर ने मानव-केश के पाँच प्रकारो का उल्लेख किया है[26]—(१) **सीधे केश** (straight hair)—इस प्रकार के केश प्रधानत. मगोल प्रजाति के लोगो के होते है परन्तु काकेशॉयड प्रजाति के कुछ लोगो के केश भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। (२) **लहरदार केश** (wavy hair) - इस प्रकार के केश ऐनू (Ainu) तथा पॉलेनेशियनो (Polynesians) की प्रमुख विशेपता है, यूं तो ऑस्ट्रेलॉयड (Australoid), द्राविड (Dravidian), भूमध्यसागरीय, आर्मीनॉयड आदि प्रजातियो के अनेक सदस्यो के केश लहरदार ही होते है। (३) **घुंघराले केश** (curly hair)—पश्चिमी एशिया, यूरोप, भारत तथा आस्ट्रेलिया के मनुष्यो मे अधिकतर ऐसे केश पाये जाते हैं। (४) **ऐंठनदार केश** (kinky hair)—इस प्रकार के केश ओसियाना के नीग्रो (Oceanic Negro)—लोगो की एक विशेपता है। (५) **ऊनी केश** (wooly hair)—ये बाल भेड के मोटे ऊन की तरह होते है। अधिकतर नीग्रो लोगो के केश इसी प्रकार के होते है।

(स) **आँखो का रग और बनावट** (Eye Colour and Folds)—आँखो के रग का प्रजातीय वर्गीकरण के आधार के रूप मे कोई विशेष उपयोग नही किया जा सकता है क्योकि प्राय सभी प्रजाति की आँखो का रग काला होता है। केवल काकेशॉयड प्रजाति के लोगो की आँखो का रग नीला, भूरा आदि होता है। त्वचा के रग की भाँति ही जिन व्यक्तियो की आँखो के आस-पास काला पदार्थ (pigment) अधिक होता है, उनकी आखो का रग काला होता है। भारत मे आँखो की पुतली का रग प्राय काला होता है। बम्बई के कोकणस्थ ब्राह्मणो मे धूसर (grey) आँखे और उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेश के लोगो मे नीली आखे मिलती है।

आँखो की बनावट कुछ प्रजातियो की विचित्र होती है। उदाहरणार्थ, दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और जापान मे बादाम के आकार की तिरछी आँखें पायी जाती हैं। इस प्रकार की आँखो को अधखुली आँखें (slat eyes) भी कह सकते हैं। आँखो की दरार तिरछी और बाहर का कोना भीतर वाले कोने से कुछ ऊँचा तथा भीतर वाला कोना खाल की परत से ढका हुआ—ये मगोली आँखो के गुण हैं। मगोल तथा बुशमैन प्रजातियो के लोगो की आँखें देखने से ऐसा लगता है जैसे उनकी आंखो मे एक और विशेष प्रकार का खिचाव है।

उपसहार मे हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक लक्षणो को आधार मानकर हम विभिन्न प्रजातियो को निश्चित करते है या उनका वर्गीकरण करते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध मे ध्यान रहे कि इनमे से अधिकाश लक्षणो पर सतुलित

25 Jacobs and Stern, *op cit*, p 43
26 Beals and Hoijer, *op cit*, *p* 155

रूप से एक साथ विचार किये बिना विभिन्न प्रजातियो का निर्धारण अथवा वर्गीकरण वैज्ञानिक या प्रमाणित नही हो सकता। किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन मे इस बात को निरन्तर ध्यान मे रखना आवश्यक है।

आधुनिक प्रजातियाँ
(Modern Races)

ससार की जीवित मानव-प्रजातियो की सख्या के विषय मे सदा से ही विद्वानो मे मतभेद है। उदाहरणार्थ, अठारहवी शताब्दी के अन्त मे स्वीडिश विद्वान श्री लिनीयस (Linnaeus, 1707—1778) ने महाद्वीपो के आधार पर मानव-जाति को छ वर्गों मे बाँटा था। जर्मन प्राणीशास्त्री ब्लूमैनबाख (Blumenbach, 1752-1840) ने सर्वप्रथम मानव-जाति को काकेशियन (यूरोपियन), मगोल, ईथियोपियन, अमेरिकन और मलायन, इन पाँच प्रजातियो मे बाँटा था। उनके वर्गीकरण को वैज्ञानिक आधार पर प्रजातीय वर्गीकरण का सर्वप्रथम प्रयत्न कहा जा सकता है। बाद के अन्य विद्वानो ने मानव की तीन से तैंतीस प्रजातियो का उल्लेख किया है। सक्षेप मे, मानव-प्रजातियो के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे, विद्वानो मे कोई एक मत नही है। इस सम्बन्ध मे वर्गीकरण की कुछ समस्याओ का उल्लेख आवश्यक होगा।

प्रजातीय वर्गीकरण की समस्याएँ
(Problems of Racial Classification)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रजाति की अवधारणा जैविकीय (biological) होने के कारण एकाधिक शारीरिक लक्षणो को ही वर्गीकरण का आधार माना जाता है। ये शारीरिक लक्षण वशानुगत होते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध मे समस्या यह है कि—

(१) मानव के विभिन्न शारीरिक लक्षणो के निर्धारण मे वाहकाणुओ (genes) का प्रभाव, विशेषकर माता-पिता के अलग-अलग वाहकाणुओ के प्रभावो को निश्चित करना कठिन कार्य है, वास्तव मे असम्भव ही है। प्राय वशानुसक्रमण और पर्यावरण दोनो का ही प्रभाव मानव-विकास तथा शारीरिक लक्षणो को निश्चित करने मे महत्त्वपूर्ण होता है। शायद ही कोई शारीरिक लक्षण ऐसा है जो कि पर्यावरण के प्रभाव से बिलकुल ही नही बदलता हो। इस कारण शारीरिक लक्षणो को स्थिर मानकर वर्गीकरण करना एक कठिन समस्या है।

(२) प्रजातीय वर्गीकरण के शारीरिक लक्षणो के आधार के क्षेत्र मे भी समस्या सरल नही है। प्रजातियो के वर्गीकरण मे यह समस्या इस कारण जटिल है कि इस प्रकार का वर्गीकरण करने के लिए शारीरिक लक्षणो की जो सूची बनाई जाती है उससे यह पता लगाना कठिन होता है कि कहाँ एक प्रजाति समाप्त होती है और कहाँ से दूसरी प्रजाति प्रारम्भ होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक लक्षण एक से अधिक प्रजातियो मे पाया जाता है। खाल के रग को ही लीजिये—ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिन्हे कि उनके कुछ शारीरिक लक्षणो

के आधार पर काकेशॉयड प्रजाति के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है, परन्तु रग के विषय मे उनकी त्वचा का रग नीग्रो प्रजाति की भाँति होता है। भारतवर्ष मे भी अनेक व्यक्तियो का रग काला होता है पर उनकी शीर्ष देशना श्वेत प्रजाति की भाँति होती है। इन अवस्थाओ मे समस्या यह होती है कि ऐसे व्यक्तियो को किस प्रजाति के अन्तर्गत माना जाये।

(३) आधुनिक ससार मे यातायात के साधनो मे उत्तरोत्तर उन्नति होने के फलस्वरूप विभिन्न प्रजातियो मे इतना अधिक मिश्रण हो गया है कि सहसा उनके मौलिक (original) प्ररूपो को पाना असम्भव-सा ही है। विभिन्न प्रजातियो मे अन्तर्प्रजातीय (inter-racial) विवाह के कारण एक प्रजातीय समूह मे वाहकाणुओ का नया सयोग हो सकता है और होता भी है। इस नये सयोग का परिणाम यह होता है कि एक व्यक्ति अपनी मूल प्रजाति के एकाधिक शारीरिक लक्षणो को खो बैठता है और दूसरी प्रजाति से मिलता-जुलता हो जाता है। अत स्पष्ट है कि आधुनिक ससार मे प्रजातीय लक्षणो की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति की स्थिति किसी एक प्रजाति विशेष के अन्तगत स्थिर नही है। इस कारण प्रजातीय वर्गीकरण की समस्या और भी कठिन हो जाती है।

प्रजातीय वर्गीकरण आज सामान्य रूप से किसी एक शारीरिक लक्षण के आधार पर नही किया जाता है। प्राय एकाधिक लक्षणो का एक साथ विचार करके किसी मानव-समूह को एक या दूसरे प्रजाति-समूह मे रक्खा जाता है। साथ ही प्रजातीय वर्गीकरण मे रग या कद जैसे अनिश्चित लक्षणो पर अधिक बल नही दिया जाता है क्योकि इनसे गलती की सम्भावना अधिक रहती है, जैसे जापान के ऐनू (Ainu) जिसका रग श्वेत है, भ्रमवश श्वेत प्रजाति मे सम्मिलित कर लिये जा सकते हैं। उसी प्रकार बुद्धि (intelligence) को भी प्रजातीय विभाजन का आधार नही माना जाता है क्योकि अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियो या सामाजिक सुविधाओ के अनुसार बुद्धि का स्तर भी ऊँचा-नीचा हो सकता है।

प्रजातियो का विभिन्न वर्गीकरण
(Different Classifications of Races)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रजाति वर्गीकरण के सम्बन्ध मे मानवशास्त्रियो का एक मत नही है। इस कारण जितने लेखक हैं उतने ही वर्गीकरण भी है। हम यहाँ केवल प्रमुख वर्गीकरणो का उल्लेख करेंगे —

I क्रोबर का वर्गीकरण (Classification by Kroeber)—समस्त मानव-जाति को श्री क्रोबर ने तीन मुख्य प्रजातियो मे तथा ग्यारह उप-प्रजातियो मे बाँटा है जो निम्न हैं[27] —

(१) काकेशियन या श्वेत (Caucasian or White)
 (क) नार्डिक (Nordic)
 (ख) आल्पाइन (Alpine)

27 Kroeber, *op cit*, p 132

(ग) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
(घ) हिन्दू (Hindu)
(२) मगोलॉयड या पीत (Mongoloid or Yellow)
(क) मगोलियन (Mongolian)
(ख) मलेशियन (Malaysian)
(ग) अमेरिकन इण्डियन (American Indian)
(३) नीग्रॉयड या श्याम (Negroid or Black)
(क) नीग्रो (Negro)
(ख) मैलानेशियन (Melanesian)
(ग) पिग्मी ब्लेक (Pygmy Black)
(घ) बुशमैन (Bushman)

उपर्युक्त प्रजातियो तथा उप-प्रजातियो के अतिरिक्त श्री क्रोवर ने चार सन्देह-जनक (doubtful) प्रजातियो अर्थात् ऐसी प्रजातियो का जिनको कि वैज्ञानिक मापदड के अनुसार उपर्युक्त किसी भी प्रजाति या उप-प्रजाति के अन्तर्गत नही रखा जा सका, उल्लेख किया है। वे हैं—(क) ऑस्ट्रेलॉयड (Australoid), (ख) वेड्डॉयड (Veddoid or Indo-Austral), (ग) पॉलीनेशियन (Polynesian) और (घ) ऐनू (Ainu)

II हक्सले का वर्गीकरण (Classification by Huxley)—श्री हक्सले ने अपने वर्गीकरण मे उप-प्रजातियो का कोई उल्लेख न करके केवल पाँच प्रमुख प्रजातियाँ बतलाई है। वे निम्न हैं—(१) ऑस्ट्रेलॉयड (Australoids) जिसमे कि द्राविड (Dravidians) तथा मिस्र-निवासी (Egyptians) भी सम्मिलित है, (२) नीग्रॉयड (Negroids), (३) मगोलॉयड (Mongoloids), (४) ऐन्थोक्रॉय (Xanthochroi) जो कि बहुत-कुछ नॉडिक तथा आल्पाइन प्रजातियो के अनुरूप हैं, और (५) मैलेनोक्रॉय (Melanochroi) जो कि प्राय भूमध्यसागरीय (Mediterranean) प्रजाति ही है, परन्तु श्री हक्सले के विचार मे इनकी स्थिति ऑस्ट्रेलॉयड तथा ऐन्थोक्रॉय प्रजातियो के बीच मे है अर्थात् इन दो प्रजातियो की मिश्रित या वर्णसकर सन्तति ही मैलेनोक्रॉय प्रजाति को जन्म देने वाली है।[28]

III हॉबल का वर्गीकरण (Classification by Hoebel)—श्री हॉबल के मतानुसार यदि 'प्रजाति' की अत्यधिक प्रचलित परिभाषा को ध्यान मे रखा जाय तो छ प्रजातियो का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे काकेशॉयड, मगोलॉयड, नीग्रोलॉयड, ऑस्ट्रेलॉयड, अफ्रीकन बुशमैन और पॉलीनेशियन। परन्तु यदि अधिक परिशुद्ध अन्तरो पर भी विचार किया जाय तो मानव-जाति को तीन मुख्य प्रजातियो और प्रत्येक मुख्य प्रजाति को तीन उप-जातियो मे विभाजित किया जा सकता है। यह विभाजन निम्न है[29]—

---

28 *Ibid*, p 150
29 E A Hoebel, *op cit*, pp 129-130

(१) काकेशॉयड (Caucasoid)
(क) नॉर्डिक (Nordic)
(ख) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
(ग) आल्पाइन (Alpine)
(२) मंगोलॉयड (Mongoloid)
(क) एशियाटिक (Asiatic)
(ख) ओशियानिक (Oceanic)
(ग) अमेरिकन इण्डियन (American Indian)
(३) नीग्रॉयड (Negroid)
(क) अफ्रीकन (African)
(ख) ओशियानिक (Oceanic)
(ग) नीग्रिटो (Negrito)

IV **बील्स तथा हॉइजर का वर्गीकरण** (Classification by Beals and Hoijer)—सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर ने प्रजातीय वर्गीकरण और भी विस्तारित रूप मे प्रस्तुत किया है जो कि इस प्रकार है[30] .—

(१) काकेशॉयड (Caucasoid)
(A) आर्कइक काकेशॉयड प्रजातियाँ (Archaic Caucasoid Races)
(क) ऐनू (Ainu)
(ख) ऑस्ट्रेलॉयड (Australoid)
(ग) द्राविडियन (Dravidian)
(घ) वेड्डा (Vedda)
(B) प्राथमिक काकेशॉयड प्रजातियाँ (Primary Caucasoid Races)
(ङ) आल्पाइन (Alpine)
(च) आर्मीन्वायड (Armenoid)
(छ) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
(ज) नॉर्डिक (Nordic)
(C) द्वैतियक काकेशॉयड प्रजातियाँ (Secondary Caucasoid Races)
(झ) डिनारिक (Dinaric)
(ञ) पूर्वी बाल्टिक (East Baltic)
(ट) पॉलीनेशियन (Polynesian)
(२) मंगोलॉयड (Mongoloid)
(क) एशियाटिक मंगोलॉयड (Asiatic Mongoloid)
(ख) इन्डोनेशियन माले (Indonesian Malay)
(ग) अमेरिकन इण्डियन (American Indian)

---

30 Beals and Hoijer, *op cit*, pp 171-193

(३) नीग्रोयॉड (Negroid)
  (A) प्राथमिक नीग्रॉयड प्रजातियाँ (Primary Negroid Races)
    (क) फॉरेस्ट नीग्रो (Forest Negro)
    (ख) नीग्रिटो (Negrito)
  (B) द्वैतियक नीग्रोयॉड प्रजातियाँ (Secondary Negroid Races)
    (ग) बुशमैन-हॉटेनटॉट (Bushman-Hottentot)
    (घ) नाइलोटिक नीग्रो (Nilotic Negro)
    (ङ) ओशियानिक नीग्रो (Oceanic Negro)

मुख्य प्रजातियो की प्रमुख विशेषताएँ
(Chief Characteristics of the Main Races)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानो द्वारा मानव-प्रजातियो का वर्गीकरण विभिन्न तरीको से किया गया है और किया जा सकता है क्योकि विभिन्न प्रजातियो मे इतना अधिक मिश्रण हो गया है कि न तो आज कोई विशुद्ध और मौलिक प्रजाति ही है और न सहसा निकट भविष्य मे ऐसी प्रजाति की बनने की सम्भावना ही है। इस कारण प्रजातियो और विशेषकर उप-प्रजातियो के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे विद्वानो मे एक मत न होना ही स्वाभाविक है। फिर भी आज प्राय सभी मानवशास्त्री मानव-जाति को निम्नलिखित तीन मुख्य भागो मे बाँटने के सम्बन्ध मे एकमत हैं (क) काकेशॉयड, (ख) मगोलॉयड, और (ग) नीग्रॉयड। यह भी सभी मानवशास्त्री मानते हैं कि इन तीन मुख्य प्रजातियो की एकाधिक उप-प्रजातियाँ भी हैं। परन्तु प्रत्येक मुख्य प्रजाति की कितनी उप-प्रजातियाँ है इस सम्बन्ध मे उनमे मतभेद है। कुछ भी हो जनसख्या के आधार पर हम मानव-जाति को ग्यारह प्रजातियो मे विभाजित कर सकते हैं। ये ग्यारह प्रजातियाँ निम्न हैं—(१) काकेशॉयड, (२) मगोलॉयड, (३) अफ्रीकी नीग्रॉयड, (४) मेलानेशियन, (५) माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन, (६) कांगो या मध्य-अफ्रीकी पिग्मी, (७) सुदूर पूर्व के पिग्मी, (८) ऑस्ट्रेलॉयड, (९) बुशमैन-हॉटेनटॉट, (१०) ऐनू, और (११) वेड्डॉयड।[31]

मुख्य प्रजातियो की उपर्युक्त सूची प्रस्तुत करते हुए सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने इन प्रजातियो की प्रमुख विशेषताओ का निरूपण इस प्रकार किया है —

(१) काकेशॉयड (Caucasoid)—ससार मे यह प्रजाति सख्या मे प्राय दस खरब (One billion) है। सर्वसाधारण की भाषा मे इन्हे गोरी या श्वेत प्रजाति कहा जाता है। परन्तु वास्तव मे उन्हे श्वेत प्रजाति कहना उचित न होगा, क्योकि उनका रग पूर्णतया सफेद नही होता। इस प्रजाति मे सर्वाधिक हलके रग से लेकर गहरे भूरे रग तक विविध रगो के लोग पाये जाते हैं। सिर के केशो मे भी पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है, सीधे केशो से लेकर घुँघराले केशो तक सब भेद इस प्रजाति के लोगो मे

31 Jacobs and Stern, *op cit*, pp 48-64

मिलते है। केशो का रग राख की-सी सफेदी लिए हुए से लेकर काले रग तक का होता है। उनके शरीर पर भी पर्याप्त वाल होते हैं। आँखो का रग हल्के नीले से लेकर गहरा बादामी तक होता है। नाक अधिकतर पतली तथा ऊँची होती है। कद तथा शीर्ष देशना मे भी इस प्रजाति के लोगो मे पर्याप्त विविधता पाई जाती है। इस प्रजाति के अन्तर्गत उप-प्रजातियो के सम्बन्ध मे मानवशास्त्रियो मे एकमत नही है। फिर भी काकेशॉयड प्रजाति की **तीन उपप्रजातियां** उल्लेखनीय है—(अ) आल्पाइन (Alpine), (ब) भूमध्यसागरीय (Mediterranean), और (स) नार्डिक (Nordic)।

अल्पाइन प्रजाति के लोग आज विशेष रूप से यूरोप के केन्द्रीय तथा पूर्वी भागो मे पाये जाते हैं। इनकी प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ निम्न है—कद मध्यम दर्जे का (औसत कद ५ फीट ५ इच), सिर चौडा, लम्बी नासिका, कन्धे चौडे, छाती गहरी, शरीर और मुंह पर पर्याप्त बाल, केश तथा आँखो का रग मध्यम से लेकर गहरा भूरा, केश साधारणतया सीधे, होठ मध्यम से लेकर पतले और त्वचा का रग हल्का सफेद या पीला-भूरा। इस प्रजाति के नमूने भारत मे विशेष रूप से गुजरात मे मिलते हैं तथा मध्य भारत, पूर्वी उत्तर प्रदेश और विहार मे भी कही कही मिलते हैं।

भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोग भूमध्यसागरीय प्रदेशो मे तथा वहाँ से पूर्वीय दिशा मे भारत तक फैले हुए हैं। भारत मे इस प्रजाति के लोग पजाब, सिन्ध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे पाये जाते हैं। इनकी प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ निम्न हैं—कद मध्यम दर्जे का (औसत कद ५ फीट ४ इच), सिर लम्बा, लम्बी नासिका, होठ पतले, केश काले और लहरदार या घुंघराले तथा कभी-कभी सीधे होते है, चेहरे और शरीर के अन्य भागो मे बहुत कम बाल, वजन मे आल्पाइन प्रजाति के लोगो की अपेक्षा हल्के, आँखे बादामी और त्वचा का रग हल्का बादामी या फीका जैतूनी होता है।

नॉडिक प्रजाति के लोगो के सिर मध्यम आकार के और नाक ऊँची तथा पतली होती है। इनके शरीर लम्बे (औसत कद ५ फीट ८ इच) और पतले तथा चेहरे लम्बे होते है। इनके होठ पतले तथा बाल सीधे या लहरदार होते हैं। आँखें नीली या भूरी होती है। इनकी त्वचा का रग गुलाबीपन लिये हुए सफेद होता है। ये लोग विशेपत स्कैण्डिनेविया (Scandinavia), बाल्टिक देशो (Baltic Countries) तथा उत्तरी जर्मनी मे पाये जाते हैं। भारत मे इस प्रजाति के लोग मुख्यत काश्मीर, पजाब के पश्चिमी भाग और राजस्थान मे फैले हुए हैं।

(२) **मगोलॉयड** (Mongoloid)—जनसख्या की दृष्टि से मगोलॉयड प्रजाति के लोग ससार मे सबसे अधिक सख्या मे है। इस प्रजाति का सबसे प्रमुख शारीरिक लक्षण अधखुली आँखें (slant eyes) होती हैं। इन आँखो का रग बादामी या गहरा बादामी होता है। शरीर-रचना मे वे साधारणतया नाटे कद के तथा कुछ मोटे होते हैं। इस प्रजाति के लोगो के केश सीधे और कभी-कभी हल्के घुंघराले होते हैं। इनकी नाक छोटी और चपटी होती है और सिर चौडा और माथा सीधा होता है। त्वचा का रग पीला-सा या ताम्र गेहुँआ-सा होता है। इनके सिर पर के बाल काफी घने होते है परन्तु शरीर के अन्य भागो पर बाल बहुत ही कम होते हैं। इनके होठ साधारणतया मोटे और

ठोढी गोल होती है। इस प्रजाति के लोग विशेष रूप से उत्तर, मध्य तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे वास करते हैं। अनेक मानवशास्त्री अमेरिकन इण्डियनो को भी इसी प्रजाति का सदस्य मानते है। इस प्रजाति के उक्त भौगोलिक वितरण को ध्यान मे रखते हुए ही सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने इसकी तीन उपप्रजातियो का उल्लेख किया है—(क) एशियावासी मगोल, (ख) इण्डोनेशिया तथा मलायावासी मगोल, तथा (ग) अमेरिकन इण्डियन। परन्तु मगोलियन उप-प्रजातियो के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बहुत-कुछ मतभेद है। उदाहरणार्थ, कुछ विद्वानो का कथन है कि अमेरिका के इण्डियन लोगो मे थोडे-से काकेशॉयड तथा नीग्रयॉड लक्षण और हिन्द-एशिया-वासी समूहो मे भूमध्यसागरीय तत्त्व अधिक हैं।[32] फिर भी अधिकतर मानवशास्त्री इन दोनो मानव-समूहो को मगोल प्रजाति के अन्तर्गत ही उप-प्रजातियाँ मानते हैं। भारतवर्ष मे इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाएँ है—प्राचीन मगोलॉयड और तिब्बती मगोलॉयड। ये लोग आसाम, पूर्वी सीमान्त प्रान्त, चटगाँव, सिक्किम और भूटान मे पाये जाते हैं।

(३) **अफ्रीकी नीग्रॉयड** (The African Negroids)—मानव-जाति की तीसरी मुख्य प्रजाति अफ्रीकी नीग्रॉयड है जिसकी सदस्य-सख्या दस करोड के लगभग है। इस प्रजाति के लोग दक्षिणी सहारा से लेकर केप-ऑफ-गुडहोप तक फैले हुए हैं। यह सच है कि मानव की आधुनिक प्रजातियो मे नीग्रो लोगो का रग सबसे काला है फिर भी बहुत कम नीग्रो का रग वास्तव मे काला होता है। उनमे से अनेक का रंग गाढा बादामी या बादामी काला होता है। नीग्रो लोगो के केश रूखे, ऊनी और कडे घुँघराले होते हैं। शरीर पर बाल बहुत कम होते हैं। नाक बहुत चौडी, कान छोटे तथा ऊपर का जबडा आगे को बढा हुआ होता है। होठ दूसरी प्रजातियो की अपेक्षा मोटे तथा बाहर को निकले हुए और लटकते-से होते हैं। सिर पर के बाल घने, पर छोटे होते है। पुरुषो की दाढी-मूछो मे भी थोडे बाल होते हैं। कद मध्यम लम्बा (medium tall), हाथो की कुहनी से आगे का भाग लम्बा और पैर जमीन पर बैठा-सा (low-arched) होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस प्रजाति के लोग प्रधानत सहारा के दक्षिण मे अफ्रीकी प्रदेशो मे निवास करते रहे हैं, परन्तु १७वी से १९वी शताब्दियो के बीच कई लाख अफ्रीकी नीग्रो अपने मूल निवास स्थान से अमेरिका मे जाकर बस गये हैं। पूर्वी अफ्रीका के **नाइलोटिक नीग्रो** (Nilotic Negro) अपनी कुछ दूसरी ही विशेषताओ के कारण प्रसिद्ध हैं। इनके शरीर के बीच का भाग (body) पतला और छोटा होता है जो कि लम्बे पैरो पर टिका हुआ होता है जिसके फलस्वरूप इनका कद दुबला और काफी ऊँचा होता है। पुरुषो की औसत ऊँचाई छ फुट से भी अधिक होती है और आम (स्त्री-पुरुष दोनो को मिलाकर) औसत ऊँचाई ५ फीट १० इच या अधिक होती है। मुख्य नीग्रॉयड प्रजाति की एक और शाखा **ओशियानिक नीग्रो** (Oceanic Negro) के नाम से प्रसिद्ध है। ये लोग विशेषकर सॉलोमन्स (Solomons), न्यू हैब्रिडीज़ (New Hebrides), न्यू कैलेडोनिया (New Caledonia) तथा न्यू गिनी (New Guinea) मे पाये जाते हैं। इनकी शारीरिक विशेषताएँ प्राय अफ्रीकी नीग्रो लोगो के अनुरूप ही होती हैं, केवल

32 For detailed discussion please see E A Hoebel, *op cit*, p 133

अन्तर इतना होता है कि इनके बाल अधिक कुंचित (frizzly) तथा झाडी-से (bushy) होते हैं, चेहरे मे नाक प्रधान होती है जो अपनी जड के स्थान पर बहुत नीची होती है, और होठ अफ्रीकी नीग्रो लोगो की अपेक्षा पतले तथा बाहर की ओर कम लटके हुए होते हैं।[33]

(४) कागो या मध्य अफ्रीकी पिग्मी (The Congo or Central African Pygmies)—इनकी सख्या प्राय एक लाख है। अधिकतर विद्वान नीग्रो प्रजातीय परिवार की इस शाखा को अफ्रीकी नीग्रॉयड के अन्तर्गत ही मानते है, परन्तु सर्वश्री जैकव तथा स्टर्न के अनुसार इन दोनो मे इतना अधिक भेद है कि इन्हे एक ही वर्ग मे सम्मिलित नही किया जा सकता। इनका विद्यमान औसत कद ५ फीट से भी कम है (प्राय ४ फीट ९ इच)। दूसरे शब्दो मे 'पिग्मी' लोग, जैसा कि उनके नाम से ही स्पष्ट है, बोने और नाटे कद के होते हैं। उनका माथा विशेप रूप से निकला हुआ होता है। इनके केश विशिष्ट प्रकार के चक्करदार होते हैं जो कि बहुत घने रूप मे सिर को ढक लेते हैं। ये अफ्रीकी नीग्रॉयड तथा मैलेनेशियन जितने काले भी नही होते और इन दोनो से इनके शरीर पर वाल भी अधिक होते है। इन सब विशिष्ट लक्षणो ने ही उन्हे उनकी मूल प्रजाति से पृथक् कर दिया है।

(५) सुदूर-पूर्व के पिग्मी (The Far Eastern Pygmies)—इस प्रजाति के सदस्यो मे प्राय २,००० लोग अण्डमन द्वीप के निवासी हैं, २५,००० के लगभग लुज़ोन (Luzon), मिण्डानाओ (Mindanao) तथा फिलिपाइन (Philippine) के अन्य द्वीपो के निवासी है और कुछ-सौ मलय प्रायद्वीप के आदिवासी हैं। इण्डोनेशिया, न्यू गिनी तथा मैलेनेशिया मे भी इन नाटे कद वालो की अनिश्चित (undetermined) सख्या बिखरी हुई है। इन्हे मध्य-अफ्रीकी पिग्मी प्रजाति मे सम्मिलित करना उचित न होगा क्योकि इनकी अपनी निजी कुछ शारीरिक विशेषताएँ हैं, जैसे इनके होठ काफी मोटे, सिर के बाल ऊनी, त्वचा का रग बहुत काला, शरीर पर वाल बहुत कम और ऊँचाई ५ फीट के लगभग होती है।

(६) बुशमेन-हॉटेनटॉट (The Bushmen-Hottentot)—दक्षिणी अफ्रीका मे कालाहारी रेगिस्तान तथा आस-पास के प्रदेशो मे नाटे कद के पिग्मी प्रजाति से ही सम्बन्धित बीस हजार या उससे कुछ अधिक बुशमेन-हॉटेनटॉट प्रजाति का वास है। बन्तु (Bantu) भाषा बोलने वाले नीग्रॉयड प्रजाति के लोगो के आने के पूर्व तथा डच और ब्रिटिश द्वारा उस भाग मे औपनिवेशिकरण (Colonization) के पूर्व सम्पूर्ण दक्षिणी अफ्रीका मे यही बुशमेन-हॉटेनटॉट प्रजाति निवास करती थी। इन लोगो मे नीग्रो और मगोल इन दो प्रजातियो के शारीरिक लक्षणो का समावेश दिखायी पडता है। शरीर-रचना की दृष्टि से वे नाटे कद के पिग्मी अर्थात् नीग्रिटो प्रजाति की श्रेणी मे रक्खे जा सकते हैं, परन्तु उनकी त्वचा का रग मगोल प्रजाति का-सा पीला या पीला-भूरा (yellow brown) होता है। इनकी आँखें भी मगोल जैसी अधखुली और कुछ तिरछी-सी होती हैं। इनकी औसत ऊँचाई ४ फीट ९ इच से ५ फीट तक होती है।

33 This paragraph is mainly based on E A Hoebel, *Ibid*, pp 133-134

ठोढी गोल होती है । इस प्रजाति के लोग विशेष रूप से उत्तर, मध्य तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे वास करते हैं । अनेक मानवशास्त्री अमेरिकन इण्डियनो को भी इसी प्रजाति का सदस्य मानते हैं । इस प्रजाति के उक्त भौगोलिक वितरण को ध्यान मे रखते हुए ही सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने इसकी तीन उपप्रजातियो का उल्लेख किया है—(क) एशियावासी मगोल, (ख) इण्डोनेशिया तथा मलायावासी मगोल, तथा (ग) अमेरिकन इण्डियन । परन्तु मगोलियन उप-प्रजातियो के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बहुत-कुछ मतभेद है । उदाहरणार्थ, कुछ विद्वानो का कथन है कि अमेरिका के इण्डियन लोगो मे थोडे-से काकेशॉयड तथा नीग्रयॉड लक्षण और हिन्द-एशिया-वासी समूहो मे भूमध्यसागरीय तत्त्व अधिक हैं ।[32] फिर भी अधिकतर मानवशास्त्री इन दोनो मानव-समूहो को मगोल प्रजाति के अन्तर्गत ही उप-प्रजातियाँ मानते हैं । भारतवर्ष मे इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाएँ हैं—प्राचीन मगोलॉयड और तिब्बती मगोलॉयड । ये लोग आसाम, पूर्वी सीमान्त प्रान्त, चटगाँव, सिक्किम और भूटान मे पाये जाते हैं ।

(३) **अफ्रीकी नीग्रॉयड** (The African Negroids)—मानव-जाति की तीसरी मुख्य प्रजाति अफ्रीकी नीग्रॉयड है जिसकी सदस्य-सख्या दस करोड के लगभग है । इस प्रजाति के लोग दक्षिणी सहारा से लेकर केप-ऑफ-गुडहोप तक फैले हुए हैं । यह सच है कि मानव की आधुनिक प्रजातियो मे नीग्रो लोगो का रग सबसे काला है फिर भी बहुत कम नीग्रो का रग वास्तव मे काला होता है । उनमे से अनेक का रग गाढा बादामी या बादामी काला होता है । नीग्रो लोगो के केश रूखे, ऊनी और कडे घुँघराले होते हैं । शरीर पर बाल बहुत कम होते हैं । नाक बहुत चौडी, कान छोटे तथा ऊपर का जबडा आगे को बढा हुआ होता है । होठ दूसरी प्रजातियो की अपेक्षा मोटे तथा बाहर को निकले हुए और लटकते-से होते हैं । सिर पर के बाल घने, पर छोटे होते हैं । पुरुषो की दाढी-मूछो मे भी थोडे बाल होते हैं । कद मध्यम लम्बा (medium tall), हाथो की कुहनी से आगे का भाग लम्बा और पैर जमीन पर बैठा-सा (low-arched) होता है । जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस प्रजाति के लोग प्रधानत सहारा के दक्षिण मे अफ्रीकी प्रदेशो मे निवास करते रहे हैं, परन्तु १७वी से १९वी शताब्दियो के बीच कई लाख अफ्रीकी नीग्रो अपने मूल निवास स्थान से अमेरिका मे जाकर बस गये हैं । पूर्वी अफ्रीका के **नाइलोटिक नीग्रो** (Nilotic Negro) अपनी कुछ दूसरी ही विशेषताओ के कारण प्रसिद्ध हैं । इनके शरीर के बीच का भाग (body) पतला और छोटा होता है जो कि लम्बे पैरो पर टिका हुआ होता है जिसके फलस्वरूप इनका कद दुबला और काफी ऊँचा होता है । पुरुषो की औसत ऊँचाई छ फुट से भी अधिक होती है और आम (स्त्री-पुरुष दोनो को मिलाकर) औसत ऊँचाई ५ फीट १० इच या अधिक होती है । मुख्य नीग्रॉयड प्रजाति की एक और शाखा **ओशियानिक नीग्रो** (Oceanic Negro) के नाम से प्रसिद्ध है । ये लोग विशेषकर सॉलोमन्स (Solomons), न्यू हैब्रिडीज (New Hebrides), न्यू कैलेडोनिया (New Caledonia) तथा न्यू गिनी (New Guinea) मे पाये जाते हैं । इनकी शारीरिक विशेषताएँ प्राय अफ्रीकी नीग्रो लोगो के अनुरूप ही होती हैं, केवल

32 For detailed discussion please see E A Hoebel, *op cit*, p 133

अन्तर इतना होता है कि इनके वाल अधिक कुंचित (frizzly) तथा झाडी-से (bushy) होते हैं, चेहरे मे नाक प्रधान होती है जो अपनी जड के स्थान पर वहुत नीची होती है, और होठ अफ्रीकी नीग्रो लोगो की अपेक्षा पतले तथा बाहर की ओर कम लटके हुए होते हैं।[33]

(४) कागो या मध्य अफ्रीकी पिग्मी (The Congo or Central African Pygmies)—इनकी सख्या प्राय. एक लाख है। अधिकतर विद्वान नीग्रो प्रजातीय परिवार की इस शाखा को अफ्रीकी नीग्रॉयड के अन्तर्गत ही मानते हैं, परन्तु सर्वश्री जैकव तथा स्टर्न के अनुसार इन दोनो मे इतना अधिक भेद है कि इन्हे एक ही वर्ग मे सम्मिलित नही किया जा सकता। इनका विद्यमान औसत कद ५ फीट से भी कम है (प्राय ४ फीट ६ इच)। दूसरे शब्दो मे 'पिग्मी' लोग, जैसा कि उनके नाम से ही स्पष्ट है, बोने और नाटे कद के होते है। उनका माथा विशेप रूप से निकला हुआ होता है। इनके केश विशिष्ट प्रकार के चक्करदार होते हैं जो कि वहुत घने रूप मे सिर को ढक लेते हैं। ये अफ्रीकी नीग्रॉयड तथा मैलेनेशियन जितने काले भी नही होते और इन दोनो से इनके शरीर पर वाल भी अधिक होते है। इन सव विशिष्ट लक्षणो ने ही उन्हे उनकी मूल प्रजाति से पृथक् कर दिया है।

(५) सुदूर-पूर्व के पिग्मी (The Far Eastern Pygmies)—इस प्रजाति के सदस्यो मे प्राय २,००० लोग अण्डमन द्वीप के निवासी हैं, २५,००० के लगभग लुज़ोन (Luzon), मिण्डानाओ (Mindanao) तथा फिलिपाइन (Philippine) के अन्य द्वीपो के निवासी हैं और कुछ-सौ मलय प्रायद्वीप के आदिवासी है। इण्डोनेशिया, न्यू गिनी तथा मैलेनेशिया मे भी इन नाटे कद वालो की अनिश्चित (undetermined) सख्या विखरी हुई है। इन्हे मध्य-अफ्रीकी पिग्मी प्रजाति मे सम्मिलित करना उचित न होगा क्योकि इनकी अपनी निजी कुछ शारीरिक विशेषताएँ है, जैसे इनके होठ काफी मोटे, सिर के बाल ऊनी, त्वचा का रग वहुत काला, शरीर पर वाल वहुत कम और ऊँचाई ५ फीट के लगभग होती है।

(६) बुशमेन-हॉटेनटॉट (The Bushmen-Hottentot)—दक्षिणी अफ्रीका मे कालाहारी रेगिस्तान तथा आस-पास के प्रदेशो मे नाटे कद के पिग्मी प्रजाति से ही सम्वन्धित बीस हजार या उससे कुछ अधिक बुशमेन-हॉटेनटॉट प्रजाति का वास है। बन्तु (Bantu) भापा बोलने वाले नीग्रॉयड प्रजाति के लोगो के आने के पूर्व तथा डच और ब्रिटिश द्वारा उस भाग मे औपनिवेशिकरण (Colonization) के पूर्व सम्पूर्ण दक्षिणी अफ्रीका मे यही बुशमेन-हॉटेनटॉट प्रजाति निवास करती थी। इन लोगो मे नीग्रो और मगोल इन दो प्रजातियो के शारीरिक लक्षणो का समावेश दिखायी पडता है। शरीर-रचना की दृष्टि से वे नाटे कद के पिग्मी अर्थात् नीग्रिटो प्रजाति की श्रेणी मे रक्खे जा सकते हैं, परन्तु उनकी त्वचा का रग मगोल प्रजाति का-सा पीला या पीला-भूरा (yellow brown) होता है। इनकी आँखें भी मगोल जैसी अधखुली और कुछ तिरछी-सी होती हैं। इनकी औसत ऊँचाई ४ फीट ६ इच मे ५ फीट तक होती है।

33 This paragraph is mainly based on E A Hoebel, *Ibid*, pp 133-134

हॉटेनटॉट की लम्बाई बुशमेन से अधिक होती है। बुशमेन के सिर के वाल चक्करदार और हॉटेनटॉट के कुंचित होते हैं। कागो-पिग्मी लोगो की भाँति इनके शरीर पर बाल अधिक नही होते है। उन्नत-नितम्बता (steatopygy) इस प्रजाति का अपना निजी एक शारीरिक लक्षण है अर्थात् इनकी जाँघो का ऊपरी और कमर के नीचे का हिस्सा (नितम्ब) मासल होने के कारण उठा हुआ दिखायी देता है। इस प्रजाति मे मगोल प्रजाति के कुछ शारीरिक लक्षण विशेषकर अधखुली आँखो को देखकर कई विद्वानो का कहना है कि इस प्रजाति को मगोल-वाहकाणु (Mongoloid genes) काफी मात्रा मे प्राप्त हो गया है अर्थात् बुशमेन-हॉटेनटॉट प्रजाति की उत्पत्ति नीग्रो और मगोल प्रजातियो के मिश्रण से ही हुई है। परन्तु यह सिद्धान्त निश्चय ही कम तथ्ययुक्त (factual) और यथार्थ है। अधिक सम्भावना यह है कि इस प्रजाति की आँखो या रग का भी मगोलो की भाँति समानान्तर विकास (parallel evolution) हुआ है।[34]

(७) **मेलानेशियन** (Melanesians)—नीग्रॉयड-सी इस प्रजाति के लोगो की सख्या २० लाख से कुछ कम है। दक्षिणी प्रशान्त-द्वीपो (South Pacific islands) मे, जिन्हे मेलानेशिया कहा जाता है, और जो न्यू गिनी (New Guinea) से फीजी (Fiji) तक तीन हजार मील तक बिखरे हुए हैं, इस प्रजाति के लोगो का निवास है। मेलानेशियन प्रजाति के लोगो मे आस्ट्रेलॉयड और सुदूर-पूर्व के पिग्मी प्रजातीय तत्त्वो का समावेश दिखायी पडता है। इण्डोनेशियन द्वीपो (Indonesian islands) के निवासियो से मेलानेशिया के लोगो के मिश्रण के भी प्रमाण मिलते हैं जिसके फलस्वरूप कुछ विशिष्ट शारीरिक लक्षण वाले एक पृथक् प्रजातीय-समूह का विकास हो गया है।[35] त्वचा का रग काला या गहरा जैतूनी, कडे घुँघराले बाल तथा उभरी हुई भौएँ इस प्रजाति की प्रमुख विशेषताएँ है। उनका कद मध्यम, माथा गोलाई लिये तथा नाक चौडी होती है।

(८) **माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन** (Micronesians-Polynesians)—मेलानेशिया के उत्तर के द्वीपो मे प्राय एक लाख माइक्रोनेशियन तथा मेलानेशिया के पूर्व मे त्रिभुजाकार मे पाये जाने वाले द्वीपो मे प्राय तीन लाख पॉलीनेशियन निवास करते हैं। श्री कून (Coon) तथा उनके साथियो ने माइक्रोनेशियन लोगो की प्रजातीय स्थिति के सम्बन्ध मे कुछ बताया नही है, परन्तु पॉलिनेशियनो के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि इस वर्णसकर-समूह (hybrid group) की उत्पत्ति प्राय· दो हजार वर्ष पूर्व हुई थी। परन्तु इस वर्णसकर-समूह मे किन-किन प्रजातियो का मिश्रण हुआ है, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। अमेरिकन इण्डियनो को छोडकर प्राय सभी प्रजातियो ने इस प्रजाति के निर्माण मे अशदान (contribution) किये हैं, जिनमे मगोल तथा मलानेशियन प्रजातियो का अशदान विशेष उल्लेखनीय है। पॉलीनेशियन काकेशॉयड प्रजाति के लोगो से कुछ मिलते-जुलते है। परन्तु यह इस बात का प्रमाण नही है कि पालीनेशियनो मे काकेशॉयड प्रजाति के जननिक (genetic) गुणो का सयोग है।[36]

---

34 Jacobs and Stern, *op cit*, p 51
35 *Ibid*, p 59
36 *Ibid*, pp 60 61

माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन प्रजाति के लोगो के शरीर पर बाल कम, केश घने और लहरदार तथा त्वचा का रग कुछ हल्का होता है। मगोल लोगो की भाँति उनका सिर गोलाई लिये हुए होता है।

(९) आस्ट्रेलॉयड (Australoids)—इस प्रजाति के लोग सख्या मे चालीस हजार के लगभग है। इनका निवास स्थान आस्ट्रेलिया है। इन्हे किस प्रजाति के अन्तर्गत माना जाय, इस प्रश्न पर मानवशास्त्रियो मे काफी मतभेद है। त्वचा के रग को छोड कर इनकी बहुत-सी विशेषताएँ काकेशॉयड प्रजाति के लोगो से मिलती-जुलती है, अत कुछ विद्वान, जैसे सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer)[37] इन्हे काकेशॉयड प्रजाति की एक शाखा मानते हैं। परन्तु काकेशॉयड प्रजाति के साथ इनके जननिक (genetic) सम्बन्ध होने के कोई निश्चित और निर्भरयोग्य प्रमाण न होने के कारण अन्य विद्वान इन्हे स्वतन्त्र प्रजाति मानने के पक्ष मे हैं। इस प्रजाति की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—कद सामान्य, सिर लम्बा, केश काले या भूरे और लहरदार या घुँघराले, त्वचा का रग चाकलेटी, नाक चौडा तथा नासामूल (nasal root) दबा हुआ, भौएँ उठी हुई, आँखो का रग काला-भूरा, मुँह कुछ निकला हुआ-सा तथा होठ मोटे होते हैं। इस प्रजाति के लोग विन्ध्य प्रदेश तथा दक्षिणी भारत मे भी पाये जाते हैं।

(१०) ऐनू (Ainus)—जापान द्वीप-समूह जैसे होक्कायडो (Hokkaido) आदि मे ऐनू प्रजाति जापान की प्राचीन जनसख्या का प्रतिनिधित्व करती है। इनकी सख्या दस हजार के लगभग है। ऐनू प्रजाति के लोग दक्षिण-पूव आस्ट्रेलिया के आदिवासियो से मिलते-जुलते हैं, परन्तु इनका रग बहुत-कुछ यूरोप के काकेशियन लोगो की भाँति होता है। इस प्रजाति के लोगो की त्वचा का रग पीला न होकर बहुत-कुछ सफेद-सा होता है। इनके केश लहरदार, होठ पतले तथा शरीर, चेहरे आदि पर अत्यधिक बाल होते हैं। इनकी औसत ऊँचाई ५ फीट २ इच होती है। भौहो की हड्डियाँ आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोगो की भाँति भारी होती हैं। आँखो का रग हल्का भूरा या काला होता है। इनके केश लहरदार होते हैं।

(११) वेड्डायड (Veddoids)—इस प्रजाति के लोग देखने मे बहुत-कुछ द्रविड प्रजाति की भाँति होते हैं और केवल लका (Ceylon) मे बसे हुए है। इनकी सख्या कुछ ही सैंकडो की होगी। इनका सिर लम्बा और सकरा होता है तथा केश लहरदार या घुघराले होते हैं। त्वचा का रग चाकलेटी-भूरा होता है। इनके शरीर पर बालो का वितरण बहुत कम होता है। इनका कद अधिक नही होता, औसत ऊँचाई ५ फीट होती है। इन की नाक चौडी तथा होठ अधिक मोटे नही होते।

मानव प्रजातियो के उपर्युक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध मे भी अनेक विद्वानो को आपत्ति हो सकती है और वे या तो उक्त ग्यारह प्रजातियो मे से कुछ प्रजातियो को पृथक् प्रजाति के रूप में मानना न चाहेगे या अन्य कुछ उप-प्रजातियो को भी प्रजातीय वर्गीकरण मे सम्मिलित करना चाहेगे। उदाहरणार्थ, सर्वश्री कून, गार्न तथा बर्डसेल (Coon, Garn and Birdsell) ने अपने प्रजातीय वर्गीकरण मे छ मुख्य स्कन्धो (stocks) तथा तीस

37 Beals and Hoijer, *op cit*, p 172

प्रजातियो का उल्लेख किया है। वे छः स्कन्ध हैं—मगोलॉयड, श्वेत, नीग्रॉयड, ग्रास्ट्रेलॉयड, अमेरिकन इडियन तथा पॉलीनेशियन। इन विद्वानो का कथन है कि इन स्कन्धो को कदापि प्रजाति नही समझना चाहिये क्योकि इनमे से प्रत्येक के अन्तर्गत बहुत-कुछ एक से एकाधिक प्रजातियाँ आ जाती हैं। कुछ भी हो ग्यारह प्रजातियो के उपर्युक्त वर्गीकरण से हमे सामान्यत सभी मुख्य मानव प्रजातियो के सम्बन्ध मे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

प्रजातिवाद (Racism)

प्रजातिवाद का अर्थ
(Meaning of Racism)

जैसा कि आरम्भ मे ही कहा जा चुका है कि प्रजाति के सम्बन्ध मे युगो से अनेक भ्रान्तियाँ तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ चली आई हैं। इन अवैज्ञानिक धारणाओ के आधार पर ही विभिन्न प्रजातियो मे अनेक गलत विचारधाराएँ प्रचलित हैं और कुछ प्रजातियाँ अपने को अन्य प्रजातियो से अधिक श्रेष्ठ और शुद्ध समझने लगी हैं। इन गलत विचारधाराओ ने अनेक सामाजिक अन्यायो तथा बडे-बडे अत्याचारो को जन्म दिया है और विभिन्न प्रजातियो मे ऊँच-नीच की भावना को दृढ किया है। प्रजातियो के मानसिक गुणो, सृजनशीलता आदि के आधार पर कटु ऊँच-नीच की उग्र तथा आधुनिक भावना को ही प्रजातिवाद कहते है। सक्षेप मे, **प्रजातिवाद वह कटु विचारधारा है जो कि विभिन्न प्रजातियो मे ऊँच-नीच के सस्तरण को पनपाती है और जो प्रजातियो के शारीरिक तथा मानसिक गुणो, सृजनशीलता आदि से सम्बन्धित अवैज्ञानिक विभेदो पर आश्रित होती है।**

सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने प्रजातिवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मानवशास्त्र की खोजो के विपरीत प्रजातिवाद यह मानता है कि प्रत्येक मानव-समूह की अपनी निजी शारीरिक, मानसिक तथा स्वभाव-सम्बन्धी कुछ पैतृक विशेषताएँ होती हैं जो कि सापेक्षिक रूप से सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी या अन्य पर्यावरण सम्बन्धी प्रभावो से अप्रभावित रहती हैं, जन्मगत उत्तम और अधम प्रजातियाँ तथा उपप्रजातियाँ होती हैं और आनुवशिक कारण (hereditary factors) ही मनुष्य के सास्कृतिक जीवन के प्रत्येक पक्ष को निश्चित करता है। इन अवैज्ञानिक धारणाओ को विना समझे-बूझे स्वीकार करने की बाह्य अभिव्यक्ति के कारण अनेक अशिष्ट, विभेदकारी तथा विवेकहीन व्यवहार होते हैं।[38] प्रजातिवाद अपने उग्र रूप मे तब व्यक्त होता है जब कि एक प्रजाति अपने को अन्य प्रजाति या प्रजातियो की तुलना मे श्रेष्ठ समझने लगती है और उस प्रजाति के सम्बन्ध मे, जिसे कि वह अधम समझती है, केवल अनेक आर्थिक,

---

38 "Contrary to the findings of anthropology, racism holds that each population is characterized by a cluster of inherited physical, mental, and temperamental features peculiar to itself, which are relatively unaffected by social, educational, or other environmental influences, that there are innately superior and inferior races and ethnic subdivisions and that hereditary factors determine every phase of a people's cultural life Overt forms of snobbish, discriminatory, and irrational behaviour follow upon the uncritical acceptance of these unscientific premises" Jacobs and Stern, *op cit*, p 75

राजनैतिक और सामाजिक सकीर्ण विभेदो का ही पोषण नही करती बल्कि उस प्रजाति पर अनेक अन्याय, अत्याचार और अविचार भी करती रहती है। प्रजातीय भेदभाव का इतिहास तो काफी पुराना है, परन्तु प्रजातिवाद का उग्र रूप दहुत-कुछ आधुनिक ही है जैसा कि निम्न विवेचना से स्पष्ट होगा।

प्रजातिवाद का विकास
(Development of Racism)

प्रजातिवाद का आधुनिकरूप १८-१९वी शताब्दी मे प्रारम्भ हुआ जो कि आर्यवाद (Aryanism) के रूप मे प्रकट हुआ। इस आर्यवाद की उत्पत्ति उस समय के भाषा-शास्त्रियो की भाषा-सम्बन्धी खोज के आधार पर हुई। डब्लू० जोन्स (१७८८) ने सस्कृत, ग्रीक, लैटिन और जर्मन भाषाओ मे समानताएँ बतलायी और इन भाषाओ के मूल स्रोत को टामस यग (१८१३) ने इडोयूरोपियन नाम दिया। उसके पश्चात् सन् १८६१ मे मैक्स मूलर (Max Muller) ने अपने भाषा-सम्बन्धी अध्ययनो से यह निष्कर्ष निकाला कि जिन व्यक्तियो ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया और वहाँ नयी सस्कृति फैलायी, उनकी भाषा सस्कृत थी और वे आर्य प्रजाति के थे। सक्षेप मे, इन विद्वानो ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि कुछ भाषाओ को छोडकर यूरोप की अन्य सभी भाषाएँ सस्कृत भाषा से सम्बन्धित है। इस आधार पर यह विश्वास किया गया कि सस्कृत भाषा से सम्बन्धित भाषाओ के वोलने वाले एक ही परिवार के है और वे सभी लोग एक ही प्रजाति, जिसे 'आर्य प्रजाति' का नाम दिया गया, की सन्तान हैं। इस आर्य प्रजाति के लोगो ने ही प्राचीन काल मे भारत, यूनान, रोम आदि की उच्च सभ्यताओ को जन्म दिया था। दूसरे शब्दो मे, उच्च सभ्यता का विकास 'आर्य प्रजाति' के विना सम्भव नही क्योकि सभ्यता को विकसित करने के लिये जिन क्षमताओ और योग्यताओ की आवश्यकता होती है वे केवल 'आर्य प्रजाति' मे ही हैं, अर्थात् 'आर्य प्रजाति' सर्वश्रेष्ठ प्रजाति है। इस आर्य-वाद का सर्वाधिक कट्टु रूप पिछली शताब्दी मे श्री काउण्ट आर्थर डी गोबिनिउ (Count Arthur de Gobineau) की *Essay on the Inequality of Races* (1853 55) शीर्षक पुस्तक मे देखने को मिलता है।[39]

आर्यवाद के आधार पर ही नॉडिकवाद (Nordicism) का विकास हुआ। इसके अन्तर्गत यह भ्रान्त धारणा प्रचारित की गई कि 'विशुद्ध आर्य जाति' यूरोप के उत्तरी भाग मे रहती है। उत्तर (North जिसे जर्मन भाषा मे nord कहते हैं) मे रहने के कारण इसे नॉडिक प्रजाति (Nordic Race) कहा गया और साथ ही यह विश्वास दिलाया गया कि ससार की उच्चतम सभ्यता को तथा नेता, कलाकार, वैज्ञानिक आदि सभी महा-पुरुषो को इसी 'विशुद्ध नॉडिक' प्रजाति ने ही जन्म दिया है। इसी आधार पर जर्मनी के नाजियो (Nazis) ने जर्मनी के निवासियो को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ और शासक प्रजाति घोषित किया, दूसरी प्रजातियो से मिश्रण को रोकने और अपनी विशुद्धता को

39 Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, The Macmillan Co, New York, 1950, p 60

स्थिर रखने के लिये कठोर नियम बनाये और यहूदियो को अपने देश से निकाल दिया। नाज़ी जर्मन मे यहूदियो के प्रति जो अन्याय और अत्याचार हुआ था वह शायद अन्ध-विश्वासी 'सभ्य' समाज के माथे पर एक भारी कलक के रूप मे अमर रहेगा। उसी प्रकार हिटलर कालीन जर्मनी मे "नार्डिक प्रजाति की दैवी विशेषताओ तथा उनके ससार के शेष भाग पर राज्य करने के और उन्हे सभ्यता प्रदान करने के जन्मजात अधिकार-सम्बन्धी अवैज्ञानिक और अर्ध-वैज्ञानिक प्रलापो को अभी ससार भूला नही है।" नार्डिक-वाद केवल जर्मनी मे प्राथमिक रूप मे सीमित न रहा, बल्कि जर्मनी मे ही ट्यूटनवाद (Teutonism), इगलैण्ड मे ऐग्लो-सैक्सनवाद (Anglo-Saxonism), तथा फ्रास मे गैलिकवाद (Gallicism) के रूप मे विकसित और प्रचारित हुआ।[40]

इस प्रकार प्रजातिवाद का आधुनिक रूप यह है कि प्रजातिवाद के आधार पर एक प्रजातीय समूह दूसरे प्रजातीय समूह को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है और उसके प्रति ऐसी भ्रान्त और अवैज्ञानिक धारणाओ का पोषण करता है कि उससे विभेदो की सृष्टि होती है तथा अन्याय व अत्याचार का द्वार खुल जाता है। प्रजातीय श्रेष्ठता के आधार पर ही एक प्रजाति अपने से नीचे की प्रजाति से विवाह आदि नही करती है और न ही उनको कोई आर्थिक और राजनैतिक अधिकार ही देना चाहती है। ये विभेद सामाजिक जीवन मे भी स्पष्ट हो जाते हैं और तथाकथित (so called) निम्न प्रजाति के लिये अलग होटल, रेलगाडी और बसो मे अलग बैठने की सीटो की व्यवस्था करना तथा उन्हे शिक्षा आदि की सुविधायें प्रदान न करना सामाजिक अन्याय के रूप मे प्रकट होते हैं। इसका जीता-जागता उदाहरण अमेरिका और अफ्रीका है। नीग्रो लोगो के प्रति गोरे अग्रेजो और अमेरिकनो का मनोभाव न केवल अवहेलना का ही परिचायक है बल्कि घृणा और घोर सामाजिक अन्याय का भी। अमेरिका का ही उदाहरण लीजिये। वहाँ नीग्रो के प्रति कटु प्रजातीय भेदभाव देखने को मिलता है। उनके लिये रेलगाडी मे अलग डिब्बे (compartments) तथा स्टेशनो पर पृथक् प्रतीक्षालय (waiting-rooms) होते हैं। 'कानून के सन्मुख समानता' (equality before law) की सामान्य नीति भी नीग्रो के लिये उलट-सी जाती है। छोटे-छोटे अपराधो के लिये भी नीग्रो लोगो को जो कठोर सजा भुगतनी पडती है, उनके विषय मे सुनने से ही प्रजातिवाद का नग्न तथा भयकर रूप सामने आ जाता है। उदाहरणार्थ, सन् १९५१ मे एक अमेरिकन स्त्री पर बलात्कार करने के अपराध मे सात नीग्रो को मृत्यु-दण्ड की सजा दी गयी थी। प्रजातिवाद के आधार पर प्रगतिशील मानव का इससे अधिक पिछडापन व सकीर्णता और क्या हो सकती है? दक्षिणी अफ्रीका मे काले-गोरे का जो भेदभाव आज भी बरता जा रहा है, वह भी प्रजातिवाद के आधार पर बनी अग्रेज द्वारा अपने को श्रेष्ठ मानने की भावना और नीति का ही परिणाम है। वहाँ अग्रेज लोग 'जगली' नीग्रो को न केवल शासन के क्षेत्र से दूर रखते हैं बल्कि अपने सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन से भी उनका बहिष्कार करते हैं। वहाँ एक अँग्रेज मरीज को, जिसे कि रक्त की आवश्यकता है, बिना बताये किसी अन्य प्रजाति का रक्त देना अपराध है। उन्हे डर है कि कही उनका 'विशुद्ध'

40 *Ibid*, pp 60-61

गोरा रग 'अपवित्र' न हो जाय, उसपर काली छाया न पड जाय। इन सबको देखकर शायद मानवता बहुधा प्रश्न करती है, "वैज्ञानिक जगत् का मनुष्य इतना अवैज्ञानिक क्यो ?" इस प्रश्न का उचित उत्तर आज भी मिल नही सका है।

प्रजातिवाद का आधार
(Bases of Racism)

प्रजातिवाद का विष केवल यहाँ तक ही नही फैलता है कि गोरी प्रजाति काली या रगीन (coloured) प्रजातियो के प्रति भ्रान्त धारणाओ या घृणा भाव का पोषण करे और उसे अशिष्ट तथा विवेकहीन बाह्य व्यवहारो द्वारा व्यक्त करे, बल्कि गोरी प्रजातियो मे भी आपस मे फूट और विद्वेष इसी प्रजातिवाद के कारण ही पडता है। एक समूह दूसरे समूह की अपेक्षा अपने को अधिक श्रेष्ठ समझने लगता है और सामाजिक विभेदो के बीज को बोता है। आर्यवाद और नॉर्डिकवाद, जिनके सम्बन्ध मे हम पहले ही पढ चुके हैं, उसी बीज के विषवृक्ष हैं।[41]

अत स्पष्ट है कि प्रजातीय विद्वेष का आधार केवल रग नही है, यद्यपि त्वचा के रग के आधार पर प्रजातिवाद का क्षेत्र पर्याप्त स्पष्ट है। एक रगीन प्रजाति के सदस्य तथा एक गोरी प्रजाति के सदस्य के शारीरिक ढाँचे के विभिन्न अग—आँख, कान, नाक, पेट, दो हाथ, दो पैर सब कुछ गिनती मे और प्राणीशास्त्रीय कार्य की दृष्टि से एक-से हैं। नीग्रो स्त्री श्वेत पुरुष के साथ सहवास द्वारा सतान उत्पन्न कर सकती है। इतनी समानताओ के होते हुए भी केवल रग का भेद विभेद और विद्वेष उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। गोरी प्रजातियो का दावा है कि ससार मे केवल वे ही यथार्थत 'सभ्य' हैं, इसी कारण रगीन प्रजातियो तक सभ्यता का प्रकाश पहुचाने की वास्तविक योग्यता केवल उनमे ही है। साम्राज्यवाद ने इस धारणा को और भी उग्र रूप दिया। निर्बल राष्ट्रो को हराकर उन्हे गुलाम बनाकर उनपर शासन करने का एक अच्छा बहाना यह निकाला गया कि वे अपने देश का शासन-भार सभाल सके, इतनी योग्यता उनमे नही है, इस कारण गोरे लोग उस भार को सभालकर उन रगीन प्रजातियो का महा 'उपकार' कर रहे हैं। इस उपकार का जो मूल्य उन रगीन प्रजातियो को चुकाना पडा उससे ससार भली-भाँति परिचित ही है।

यह तो रगीन और गोरी प्रजातियो के बीच पाये जाने वाले विभेदो का आधार था, परन्तु जब गोरी प्रजातियो मे भी विभेदो की आवश्यकता हुई तो रग के आधार को छोडकर रक्त की शुद्धता, मानसिक या सास्कृतिक उच्चता के आधार को अपनाया गया। नॉर्डिकवाद, जैसा कि पिछले पृष्ठो मे दिये गए विवरण से स्पष्ट है, इन्ही आधारो पर आधारित था।

---

41 For an excellent discussion see M F Ashley Montagu, *Man's Most Dangerous Myth The Fallacy of Race*, Columbia University Press New York, 1945

प्रजातिवाद के आधारों का मूल्यांकन
(Evaluation of the Bases of Racism)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रजातिवाद के चार प्रमुख आधार हैं—(१) उत्तम रग का आधार, (२) रक्त की उच्चता व शुद्धता का आधार, (३) मानसिक योग्यता का आधार, और (४) सास्कृतिक श्रेष्ठता का आधार। एक प्रजाति को दूसरों से अधिक श्रेष्ठ प्रमाणित करने के लिए बहुधा इनमे से एक या अधिक आधारो को प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु आज सभी वैज्ञानिक इन आधारो को निराधार और अवैज्ञानिक ही मानते है। इस कारण इनका सक्षिप्त मूल्याकन आवश्यक है :—

(१) **उत्तम रग का आधार**—इस बात पर बल देता है कि रग मे भी उत्तम और अधम है, अर्थात् रग के आधार पर भी मानव-समूहो मे ऊँच-नीच का सस्तरण किया जा सकता है। केवल रग किस प्रकार व्यक्ति को या एक प्रजाति को अच्छा या बुरा, उत्तम या अधम बना सकता है, इसे वैज्ञानिक आधारो पर शायद ही प्रमाणित किया जा सके। त्वचा का एक विशेष रग का होना बहुत कुछ (पूर्णतया नही) पर्यावरण-सम्बन्धी शारीरिक अनुकूलन है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, नीग्रो लोगो के काले रग का प्रधान कारण उनकी त्वचा मे अधिक मात्रा मे पायी जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म कृष्ण कणिकाएँ (melanin granules) हैं, ये सूर्य की पराकाशनी (ultra violet) किरणो या अत्यधिक तेज धूप से नीग्रो लोगो के रक्त की रक्षा करती हैं। इस प्रकार रग काला होने से नीग्रो लोगो का अफ्रीका के पर्यावरण (जहाँ अत्यधिक तेज धूप होती है) से अनुकूलन सरल हो जाता है और उनके रक्त तथा शरीर की रक्षा होती है। ठडे प्रदेशो मे जहाँ सूर्य की धूप इतनी तेज न होने के कारण रक्त को इस प्रकार की रक्षा की आवश्यकता नही होती, वहाँ कृष्ण कणिकाओ की मात्रा बहुत कम होती है। इस कारण वहाँ रहने वालो का रग गोरा होता है। त्वचा के रग के द्वारा इस सरल अनुकूलन की प्रक्रिया के अन्तर्गत एक प्रजाति की उत्तम या अधम होने की सम्भावना ही नही हो सकती। यह सच है कि कृष्ण कणिकाओ की मात्रा वशानुसक्रमण द्वारा निर्धारित होती है, परन्तु अभी तक यह प्रमाणित नही हो पाया है कि कृष्ण कणिकाओ की मात्रा और व्यक्ति के मानसिक गुण या योग्यता मे कोई वास्तविक सम्बन्ध है। अत हम कह सकते हैं कि त्वचा के रग तथा व्यक्तियो अथवा प्रजातियो की मानसिक क्षमता मे कोई सम्बन्ध नही है।[42]

(२) **रक्त की उच्चता और शुद्धता का आधार** और भी निर्बल प्रतीत होता है। यद्यपि यह विचार अत्यन्त प्राचीन है। कही रक्त की शुद्धता नष्ट न हो जाय, इस डर से अन्तर्जातीय या अन्तर्प्रजातीय विवाह का विरोध किया जाता है। उदाहरणार्थ, एक गोरी प्रजाति का सदस्य एक नीग्रो से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना नही चाहता है

---

42 "No evidence has ever been adduced to show a causal interconnection between degree of concentration of melanin granules and the development level or quality of the central nervous system There is thus no relationship between skin colour and mental potentiality of individuals or races" Jacobs and Stern, *op cit*, p 43

क्योकि उसे डर है कि ऐसा करने पर उसके रक्त की शुद्धता नष्ट हो जायगी। इस कारण वह नीग्रो लोगो से दूर-दूर रहता है और उनके साथ हिल-मिल नही पाता है। यही दूर-दूर रहना प्रजातीय विद्वेष के रूप मे तब प्रकट हो जाता है जब एक प्रजाति या समूह द्वारा यह प्रचार किया जाता है कि उनका रक्त उच्च कोटि का है और दूसरे समूहो का रक्त निम्न श्रेणी का। इस प्रकार रक्त को आधार मानकर ऊँच-नीच की भावना धीरे-धीरे उग्र रूप धारण कर लेती है। यह भी प्रजातिवाद का एक स्वरूप है। परन्तु वास्तव मे ये सभी भ्रान्त तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ या युक्तियाँ हैं। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानो से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि मानव-रक्त को चार समूहो मे विभाजित तो किया जा सकता है परन्तु इन रक्त समूहो मे उत्तम-अधम का कोई प्रश्न नहीं उठता। कोई भी रक्त-समूह दूसरे किसी रक्त-समूह से श्रेष्ठ है, ऐसा कोई प्रमाण अभी तक मिला नहीं है। साथ ही ये चारो प्रकार के रक्त प्रत्येक प्रजाति मे पाये जाते है। पिछले महायुद्ध मे सैनिक अस्पतालो मे सेना के अधिकारियो ने नीग्रो रक्त से अनेक गोरे लोगो की प्राणरक्षा की थी। नीग्रो रक्त उतना ही जीवनदायक था जितना कि अन्य किसी भी प्रजाति का। ऐसी अवस्था मे रक्त के आधार पर किसी प्रजाति की श्रेष्ठता या अधमता कैसे प्रमाणित हो सकती है। अत स्पष्ट है कि रक्त की उच्चता का विचार मिथ्या एव अवैज्ञानिक है।

उसी प्रकार रक्त की शुद्धता का विचार भी भ्रमपूर्ण है। यह एक प्रमाणित सत्य है कि विभिन्न प्रजातियो मे इतना अधिक समिश्रण हो गया है कि कही, कोई भी समूह या प्रजाति या मनुष्य रक्त की शुद्धता का दावा नही कर सकता है। फलत न तो आजकल कोई विशुद्ध और मौलिक प्रजाति ही है और न सहसा निकट भविष्य मे ऐसी कोई शुद्ध प्रजाति की बनने की सम्भावना ही है। वास्तव मे एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की प्रवृत्ति मनुष्य मे जानवरो से कही अधिक है और आधुनिक युग मे यातायात के साधनो मे उत्तरोत्तर उन्नति होने के साथ-साथ यह प्रवृत्ति बढती ही चली जा रही है। बहुत प्राचीन काल से ही भोजन की आवश्यकता या अन्य उद्देश्यो को पूरा करने के लिए मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पडा है। इस प्रकार नये स्थान पर पहुँचकर मनुष्य वहाँ के मूल निवासियो के साथ हिल-मिल गया है, धीरे-धीरे उनसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया है और वर्णसकर सन्तानो को जन्म दिया है। आधुनिक युग मे तो यह प्रक्रिया और भी तेजी से कार्य कर रही है क्योकि आज विज्ञान ने विभिन्न प्रजातियो के बीच की दूरी या भौगोलिक पृथकता को पूर्णतया नष्ट कर दिया है। आधुनिक ससार मे परिस्थितियाँ ही कुछ इस प्रकार की हैं कि कोई भी प्रजाति अपने को दूसरो से पृथक् नही रख सकती। इतना ही नही, प्राचीन काल मे भी प्रजातियाँ बिलकुल विशुद्ध थी, यह भी निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। प्रो० गोर्डन चाइल्ड (Gordon Child) ने लिखा है कि डेनमार्क तथा स्वीडन मे जो नॉर्डिक प्रजाति से प्रस्तरित-ककाल (fossils) मिले है, उनमे भी कई प्रजातियो का समिश्रण है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रजातीय या रक्त-समिश्रण अति प्राचीन काल से ही होता आ रहा है जिसके कारण आज किसी भी प्रजाति द्वारा रक्त की शुद्धता का दावा समस्त वैज्ञानिक आधारो से परे है, इसका केवल काल्पनिक या अलौकिक आधार ही

प्रजातिवाद के आधारो का मूल्यांकन
(Evaluation of the Bases of Racism)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रजातिवाद के चार प्रमुख आधार है—(१) उत्तम रग का आधार, (२) रक्त की उच्चता व शुद्धता का आधार, (३) मानसिक योग्यता का आधार, और (४) सास्कृतिक श्रेष्ठता का आधार। एक प्रजाति को दूसरो से अधिक श्रेष्ठ प्रमाणित करने के लिए बहुधा इनमे से एक या अधिक आधारो को प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु आज सभी वैज्ञानिक इन आधारो को निराधार और अवैज्ञानिक ही मानते है। इस कारण इनका सक्षिप्त मूल्याकन आवश्यक है :—

(१) **उत्तम रग का आधार**—इस बात पर बल देता है कि रग मे भी उत्तम और अधम है, अर्थात् रग के आधार पर भी मानव-समूहो मे ऊँच-नीच का सस्तरण किया जा सकता है। केवल रग किस प्रकार व्यक्ति को या एक प्रजाति को अच्छा या बुरा, उत्तम या अधम बना सकता है, इसे वैज्ञानिक आधारो पर शायद ही प्रमाणित किया जा सके। त्वचा का एक विशेष रग का होना बहुत कुछ (पूर्णतया नही) पर्यावरण-सम्बन्धी शारीरिक अनुकूलन है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, नीग्रो लोगो के काले रग का प्रधान कारण उनकी त्वचा मे अधिक मात्रा मे पायी जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म कृष्ण कणिकाएँ (melanin granules) हैं, ये सूर्य की पराकाशनी (ultra violet) किरणों या अत्यधिक तेज धूप से नीग्रो लोगो के रक्त की रक्षा करती हैं। इस प्रकार रग काला होने से नीग्रो लोगो का अफ्रीका के पर्यावरण (जहाँ अत्यधिक तेज धूप होती है) से अनुकूलन सरल हो जाता है और उनके रक्त तथा शरीर की रक्षा होती है। ठडे प्रदेशो मे जहाँ सूर्य की धूप इतनी तेज न होने के कारण रक्त को इस प्रकार की रक्षा की आवश्यकता नही होती, वहाँ कृष्ण कणिकाओ की मात्रा बहुत कम होती है। इस कारण वहाँ रहने वालो का रग गोरा होता है। त्वचा के रग के द्वारा इस सरल अनुकूलन की प्रक्रिया के अन्तर्गत एक प्रजाति की उत्तम या अधम होने की सम्भावना ही नही हो सकती। यह सच है कि कृष्ण कणिकाओ की मात्रा वशानुसक्रमण द्वारा निर्धारित होती है, परन्तु अभी तक यह प्रमाणित नही हो पाया है कि कृष्ण कणिकाओ की मात्रा और व्यक्ति के मानसिक गुण या योग्यता मे कोई वास्तविक सम्बन्ध है। अत हम कह सकते हैं कि त्वचा के रग तथा व्यक्तियो अथवा प्रजातियो की मानसिक क्षमता मे कोई सम्बन्ध नही है।[42]

(२) **रक्त की उच्चता और शुद्धता का आधार** और भी निर्बल प्रतीत होता है। यद्यपि यह विचार अत्यन्त प्राचीन है। कही रक्त की शुद्धता नष्ट न हो जाय, इस डर से अन्तर्जातीय या अन्तर्प्रजातीय विवाह का विरोध किया जाता है। उदाहरणार्थ, एक गोरी प्रजाति का सदस्य एक नीग्रो से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना नही चाहता है

42 "No evidence has ever been adduced to show a causal interconnection between degree of concentration of melanin granules and the development level or quality of the central nervous system There is thus no relationship between skin colour and mental potentiality of individuals or races" Jacobs and Stern, *op cit*, p 43

क्योंकि उसे डर है कि ऐसा करने पर उसके रक्त की शुद्धता नष्ट हो जायगी। इस कारण वह नीग्रो लोगो से दूर-दूर रहता है और उनके साथ हिल-मिल नही पाता है। यही दूर-दूर रहना प्रजातीय विद्वेष के रूप मे तब प्रकट हो जाता है जब एक प्रजाति या समूह द्वारा यह प्रचार किया जाता है कि उनका रक्त उच्च कोटि का है और दूसरे समूहो का रक्त निम्न श्रेणी का। इस प्रकार रक्त को आधार मानकर ऊँच-नीच की भावना धीरे-धीरे उग्र रूप धारण कर लेती है। यह भी प्रजातिवाद का एक स्वरूप है। परन्तु वास्तव मे ये सभी भ्रान्त तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ या युक्तियाँ हैं। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानो से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि मानव-रक्त को चार समूहो मे विभाजित तो किया जा सकता है परन्तु इन रक्त समूहो मे उत्तम-अधम का कोई प्रश्न नही उठता। कोई भी रक्त-समूह दूसरे किसी रक्त-समूह से श्रेष्ठ है, ऐसा कोई प्रमाण अभी तक मिला नही है। साथ ही ये चारो प्रकार के रक्त प्रत्येक प्रजाति मे पाये जाते है। पिछले महायुद्ध मे सैनिक अस्पतालो मे सेना के अधिकारियो ने नीग्रो रक्त से अनेक गोरे लोगो की प्राणरक्षा की थी। नीग्रो रक्त उतना ही जीवनदायक था जितना कि अन्य किसी भी प्रजाति का। ऐसी अवस्था मे रक्त के आधार पर किसी प्रजाति की श्रेष्ठता या अधमता कैसे प्रमाणित हो सकती है। अत स्पष्ट है कि रक्त की उच्चता का विचार मिथ्या एव अवैज्ञानिक है।

उसी प्रकार रक्त की शुद्धता का विचार भी भ्रमपूर्ण है। यह एक प्रमाणित सत्य है कि विभिन्न प्रजातियो मे इतना अधिक समिश्रण हो गया है कि कही, कोई भी समूह या प्रजाति या मनुष्य रक्त की शुद्धता का दावा नही कर सकता है। फलत न तो आजकल कोई विशुद्ध और मौलिक प्रजाति ही है और न सहसा निकट भविष्य मे ऐसी कोई शुद्ध प्रजाति की बनने की सम्भावना ही है। वास्तव मे एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की प्रवृत्ति मनुष्य मे जानवरो से कही अधिक है और आधुनिक युग मे यातायात के साधनो मे उत्तरोत्तर उन्नति होने के साथ-साथ यह प्रवृत्ति बढती ही चली जा रही है। बहुत प्राचीन काल से ही भोजन की आवश्यकता या अन्य उद्देश्यो को पूरा करने के लिए मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पडा है। इस प्रकार नये स्थान पर पहुँचकर मनुष्य वहाँ के मूल निवासियो के साथ हिल-मिल गया है, धीरे-धीरे उनसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया है और वर्णसकर सन्तानो को जन्म दिया है। आधुनिक युग मे तो यह प्रक्रिया और भी तेजी से कार्य कर रही है क्योकि आज विज्ञान ने विभिन्न प्रजातियो के बीच की दूरी या भौगोलिक पृथकता को पूर्णतया नष्ट कर दिया है। आधुनिक ससार मे परिस्थितियाँ ही कुछ इस प्रकार की हैं कि कोई भी प्रजाति अपने को दूसरो से पृथक् नही रख सकती। इतना ही नही, प्राचीन काल मे भी प्रजातियाँ बिल्कुल विशुद्ध थी, यह भी निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। प्रो० गोर्डन चाइल्ड (Gordon Child) ने लिखा है कि डेनमार्क तथा स्वीडन मे जो नॉर्डिक प्रजाति से प्रस्तरित-ककाल (fossils) मिले हैं, उनमे भी कई प्रजातियो का समिश्रण है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रजातीय या रक्त-समिश्रण अति प्राचीन काल से ही होता आ रहा है जिसके कारण आज किसी भी प्रजाति द्वारा रक्त की शुद्धता का दावा समस्त वैज्ञानिक आधारो से परे है, इसका केवल काल्पनिक या अलौकिक आधार ही

हो सकता है। अत स्पष्ट है कि रक्त की शुद्धता या श्रेष्ठता का विचार मनुष्य की अपनी मन-गढत बाते है जिनका कि प्रचार और उपयोग राजनीतिज्ञों तथा सकीर्णता-पूर्ण प्रजातीय नीति मे विश्वास करने वाले विशेष स्वार्थ-समूहो द्वारा किया जाता है। कोई भी वैज्ञानिक इनका समर्थन नही कर सकता।

(३) मानसिक योग्यता का आधार उक्त दो आधारो की भाँति ही असार है। इस आधार के कई स्वरूप हैं। प्रथम खोपडी का घनत्व है। कहा जाता है कि कुछ प्रजातियो के लोगो की खोपडी का घनत्व अन्य प्रजातियो के लोगो से अधिक होता है और यह उनकी अधिक मानसिक योग्यता का प्रमाण है। यह प्रचार किया जाता है कि लम्बे सिर वाले नीग्रो प्रजाति के लोगो की खोपडी का घनत्व कम होने के कारण ही उनकी मानसिक योग्यता कम होती है। यह सच है कि विभिन्न प्रजातियो की खोपडी का घनत्व भिन्न-भिन्न होता है और यह भी सच है कि खोपडी का घनत्व और मस्तिष्क (brain) का आकार परस्पर सम्बन्धित हैं, परन्तु वैज्ञानिक रूप मे अभी तक यह प्रमाणित नही किया जा सका है कि मस्तिष्क के आकार का कोई सम्बन्ध बुद्धि से है। दूसरे शब्दो मे मानसिक योग्यता मस्तिष्क के आकार पर कदापि निर्भर नहीं है। यदि ऐसा ही होता हो तो एस्किमो लोगो की मानसिक योग्यता सबसे अधिक होनी चाहिए थी क्योकि मस्तिष्क का सर्वाधिक औसत आकार उन्ही लोगो का माना जाता है। परन्तु ऐसा कोई प्रमाण अभी तक प्राप्त नही हुआ है जिससे यह प्रमाणित हो सके कि उनकी मानसिक योग्यता काकेशॉयड या अन्य किसी प्रजाति से अधिक है।[43]

प्रजातियो की मानसिक योग्यता को प्रमाणित करने का दूसरा आधार 'बुद्धि परीक्षा' (Intelligence Test) है। बुद्धि-परीक्षा के मनोवैज्ञानिक परीक्षणो के आधार पर यह प्रचार किया जाता है कि गोरी प्रजाति के लोग अन्य प्रजातियो से अधिक मानसिक योग्यता या बुद्धि रखते हैं। परन्तु बुद्धि-परीक्षाओ की अपनी सीमाएँ है। आज के मनोवैज्ञानिक दो कारणो से इनपर अधिक भरोसा नही करते हैं—प्रथम तो यह कि 'बुद्धि' को यथार्थ रूप मे परिभाषित करना बहुत कठिन है क्योकि इसका विकास और अभिव्यक्ति विभिन्न क्षेत्र मे अलग-अलग होती है। एक ही व्यक्ति विभिन्न विषयो मे अलग-अलग बुद्धि का परिचय देता है। द्वितीयत बुद्धि-परीक्षाओ मे कितनी ही सावधानी क्यो न बरती जाय, पर्यावरण-सम्बन्धी कुछ न कुछ अन्तर रह ही जाता है और ऐसा अन्तर रह जाने पर बुद्धि-परीक्षा का फल भी गलत हो जाने की सम्भावना अधिक होती है।[44] अगर नीग्रो लोगो की बुद्धि-लब्धि ((Intelligence Quotient) गोरे लोगो से बहुत कम होती है तो उसका एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि नीग्रो लोगो को गोरे लोगो की अपेक्षा कही अधिक कम आर्थिक, सामाजिक, जीवन-सम्बन्धी और शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाये प्राप्त हैं जिसके कारण वे अपने व्यक्तित्व या बुद्धि या मानसिक योग्यताओ का पूर्णतया विकास नही कर पाते हैं। उन्हें भी अगर गोरे लोगो की भाँति सभी सुविधाएँ उपलब्ध होने लगें तो हो सकता है

43 *Ibid*, p 41
44 Beals and Hoijer, *op cit*, pp 212-213

कि बुद्धि-परीक्षाओ का फल ही और कुछ निकले। सर्वश्री जैकव तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने उचित ही लिखा है कि कोई नही जानता कि जीवन-धारण की आदर्श अवस्थाओ को प्राप्त कर लेने के पश्चात् समूहो या व्यक्तियो की बुद्धि परीक्षा का अक (score) कितना अधिक वढ जायगा।[45] उदाहरणार्थ, अमेरिका की सेना मे भरती किये गये सैनिको की जो बुद्धि-परीक्षा ली गई थी उससे पता चलता है कि उत्तरी अमेरिका के नीग्रो सैनिक उस देश के दक्षिणी भाग के नीग्रो सैनिको की अपेक्षा बुद्धि मे अधिक योग्य थे। साथ ही, उत्तरी अमेरिका के गोरे सैनिक भी बुद्धि मे दक्षिणी भाग के गोरो से अधिक योग्य थे, यहाँ तक कि उत्तर के कुछ नीग्रो सैनिक दक्षिणी भाग के कुछ गोरे सैनिको से कही अधिक योग्य निकले। इससे स्पष्ट है कि बुद्धि पर पर्यावरण का प्रभाव अत्यधिक होता है और इसी कारण किसी प्रजाति की मानसिक योग्यता या अयोग्यता को एक स्थिर आनुवशिक लक्षण (hereditary trait) मानकर उसी के आधार पर प्रजातीय विद्वेष का पोषण करना वडी भूल होगी। आज के मनोवैज्ञानिको का निश्चित मत यह है कि बुद्धि-परीक्षा द्वारा समूह की जन्मगत बुद्धि का उतना पता नही लगता जितना कि उसकी सामाजिक स्थिति, पृष्ठभूमि तथा शिक्षा के प्रभावो का।[46] एक बच्चे को जीवन की समस्त सुविधाएँ प्राप्त हैं, स्कूल जाता है, घर पर रेडियो सुनता है, विभिन्न प्रकार के लोगो मे मेल-मिलाप स्थापित करता है, इत्यादि—ये सभी परिस्थितियाँ उसकी बुद्धि को विकसित करने मे सहायक है। बुद्धि-परीक्षा मे प्राप्त अक उस बच्चे की केवल प्रकृतिदत्त बुद्धि या मानसिक योग्यता को ही व्यक्त नही करते बल्कि उस अक (score) मे उसे उसकी जीवन की परिस्थितियो तथा सामान्य सस्कृति से प्राप्त मानसिक योग्यता भी सम्मिलित है। इसी कारण बुद्धि-लब्धि (I Q) व्यक्ति की परिस्थिति के अनुसार बदल भी सकती है। मानसिक योग्यता जन्मजात नही है और उसके निर्धारण मे पर्यावरण का भी बहुत भारी योग है, इसे हाल के ही एक परीक्षण से प्रमाणित किया जा सकता है। न्यूयार्क के शिक्षा अधिकारियो ने एक विशेष विद्यालय होनहार विद्यार्थियो के लिए प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इसके लिये पूरे नगर के प्राथमिक स्कूलो से बुद्धि-परीक्षण द्वारा ५०० होनहार वच्चो को चुना गया। परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि इस प्रकार जितने बालक उस विशेष विद्यालय मे आये उनमे नीग्रो प्रजाति के उतने ही प्रतिशत वच्चे थे जितने प्रतिशत जनसख्या नीग्रो लोगो की उस नगर मे थी। न्यूयार्क नगर मे १० प्रतिशत नीग्रो थे और बुद्धि-परीक्षण द्वारा चुने गये ५०० वच्चो मे भी १० प्रतिशत अर्थात् ५० बच्चे नीग्रो प्रजाति के थे।[47] अत स्पष्ट है कि मानसिक योग्यता के आधार पर प्रजातियो को

---

45 "No one knows how high an intelligence test score of groups or individuals may rise after protracted enjoyment of a change to optimal conditions of living" Jacobs and Stern, *op cit*, p 69

46 "Increasing evidences substantiates the judgement that the test scores do not reveal the inherited intelligence of such groups, but reflect influences arising from social status, background, and education" *Ibid*, pp 68-69

47 *What is Race*, UNESCO Publication, Paris, 1952, p 57

उत्तम या अधम समझना और उसी अनुसार ऊँच-नीच की भावना को जागृत या प्रचारित करना अन्धविश्वास को ही प्रश्रय देना है। मानसिक योग्यता के आधार पर प्रजातीय श्रेष्ठता का सिद्धान्त सर्वथा भ्रान्त तथा अवैज्ञानिक है।

(४) **सांस्कृतिक श्रेष्ठता के आधार** को भी पुष्ट करने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही है। विभिन्न देशो की सस्कृति और सम्यता के विकास-सम्बन्धी जो वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध है उनके आधार पर किसी विशेष प्रजाति की सास्कृतिक श्रेष्ठता प्रमाणित नही होती है। यह प्रचार किया जाता है कि "मानवीय सभ्यता के विकास मे गोरी प्रजातियो का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है।" यह धारणा समस्त ऐतिहासिक प्रमाणो के विरुद्ध है कि सभ्यता, सस्कृति या विज्ञान किसी प्रजाति-विशेष की देन है। यह सच है कि आज के ससार मे गोरी प्रजातियाँ मानव-सभ्यता को शीघ्रता से विकसित करने मे पर्याप्त योगदान कर रही है, परन्तु इससे उनकी प्रजातीय श्रेष्ठता किसी प्रकार से भी प्रमाणित नही होती है, न ही यह माना जा सकता है कि मानव-सभ्यता आज जिस स्तर पर है उसका एक मात्र कारण गोरी प्रजातियाँ ही है। जिस समय यूरोप के लोग नगे जगलो मे घूमा करते थे तब चीन, मिस्र और भारत की सभ्यताएँ पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। मानव-सभ्यता का जो विराट महल आज खडा हुआ है उसकी नीव और प्रमुख स्तम्भो को यहाँ के लोगो ने ही चुना है, गोरी प्रजातियो ने नही। डा० दुबे ने लिखा है कि "ब्रिटेनवासियो के सम्बन्ध मे सिसरो का मत था कि वे अपनी जन्मजात मूर्खता के कारण दास बनाने योग्य भी नही थे। रोमन लोगो की दृष्टि मे जर्मन इतने बर्बर थे कि वे किसी भी प्रकार की उच्च स्तर की सभ्यता विकसित नही कर सकते थे। जब आज की विकसित प्रजातियो की यह स्थिति थी तब मध्य-अमेरिका के इडियन अपनी सुविख्यात माया-सभ्यता विकसित कर चुके थे।" चीन मे यूरोप के लोगो से बहुत पहले कागज बनाने तथा छापने की कला का आविष्कार हो चुका था। इन समस्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि मानव सभ्यता, सस्कृति या विज्ञान किसी प्रजाति-विशेष की देन नही है। सबने मिलकर इनकी रचना की है। अत सास्कृतिक श्रेष्ठता के आधार पर प्रजातिवाद को प्रोत्साहित करना सर्वथा अनुचित है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रजातिवाद का समस्त आधार काल्पनिक तथा अवैज्ञानिक है। मानव अपने असख्य शारीरिक तथा मानसिक स्वरूपो के मध्य प्रगटित है, उन स्वरूपो मे विविधता या विभिन्नता स्वाभाविक ही है। दो भाइयो मे भी अनेक शारीरिक तथा मानसिक भिन्नताएँ मिलती हैं। परन्तु इन भिन्नताओ के आधार पर उनमे ऊँच-नीच का सस्तरण करना कदापि उचित न होगा क्योकि इन अन्तरो को मानव की अनुकूल परिस्थितियाँ बहुत कुछ दूर कर सकती हैं। यह बात प्रजातियो के सम्बन्ध मे भी सत्य है। किसी प्रजाति मे ही कोई दैवी या अलौकिक विशेषता नही है। जो थोडा-बहुत अन्तर है वह कुछ तो विशिष्ट पर्यावरण के कारण और कुछ वशानुसक्रमण के कारण है। परन्तु इनमे से कोई कारक ऐसा नही है जो पूर्णतया स्थिर हो। इसलिये मानव-समूहो मे पाये जाने वाले अन्तर भी स्पष्ट तथा

स्थिर नही हैं। अत विभिन्न प्रजातियो मे ऊँच-नीच का सस्तरण सर्वथा निस्सार तथा अवैज्ञानिक है। प्रजातीय विद्वेष विश्व-शान्ति के लिए घातक है। प्रजातिवाद की निरर्थकता प्रजाति के सम्बन्ध मे विशेषज्ञो द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित आधुनिकतम निष्कर्षों से और भी स्पष्ट हो जायगी।

प्रजाति के विषय में आधुनिकतम निष्कर्ष
(Latest Conclusions regarding Race)

यूनेस्को (UNESCO) द्वारा बुलायी गयी शारीरिक मानवशास्त्र तथा मानव-अनुवश विद्या (Human Genetics) के विद्वानो की बैठक मे, जो कि सितम्बर सन् १९५२ मे हुई थी, प्रजाति के सम्बन्ध मे जिन निष्कर्षों की घोषणा की गयी थी, उनमे निम्न प्रमुख हैं[48] —

(१) समस्त वैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि आज जितने भी मनुष्य भू-मण्डल मे रह रहे हैं वे सभी एक ही जाति के सदस्य हैं जिसे मेधावी-मानव (*Homo Sapiens*) कहते हैं।

(२) कुछ शारीरिक लक्षणो मे अन्तर वशानुसक्रमण से और कुछ पर्यावरण से होते हैं, परन्तु साधारणतया इन दोनो का ही प्रभाव होता है।

(३) वशानुसक्रमण मे अन्तर दो प्रक्रियाओ के फलस्वरूप होता है—(अ) उत्परिवर्तन (mutation) और (ब) अन्तर्वर्ण-विवाह (cross marriage)।

(४) राष्ट्रीय, धार्मिक, भौगोलिक, सास्कृतिक और भाषा-समूह प्रजाति नही हैं। इनको प्रजाति समझना बडी भूल होगी।

(५) विभिन्न तरीको से मानव-प्रजातियो का वर्गीकरण किया गया है और किया जा सकता है, परन्तु आज सभी मानवशास्त्री मानव को निम्नलिखित तीन मुख्य प्रजातियो मे बाँटने के सम्बन्ध मे एक मत हैं —

(क) काकेशॉयड (Caucasoid)

(ख) मगोलॉयड (Mongoloid)

(ग) निग्रॉयड (Negroid)

यह वर्गीकरण किसी एक शारीरिक लक्षण के आधार पर नही है और न ही इनमे उच्चता या निम्नता का कोई प्रश्न उठता है।

(६) प्रजाति के वर्गीकरण मे बुद्धि को सम्मिलित नही किया जाता है क्योकि यह देखा गया है कि यदि पर्यावरण एक-सा है तो विभिन्न प्रजाति के बुद्धि-स्तर मे कोई विशेष अन्तर नही होगा। प्रत्येक प्रजाति मे बुद्धिमान व्यक्ति पाये जाते हैं।

(७) सास्कृतिक भिन्नताएँ प्रजातीय भिन्नताओ के कारण नही हैं।

(८) तथा-कथित (so called) विशुद्ध प्रजातियाँ आज कही नही पायी जाती हैं। प्रजातीय समिश्रण अतीत काल से होता चला आ रहा है। मनुष्य हमेशा से ही अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये एक जगह से दूसरी जगह को जाता

---

48 *Race concept*, UNESCO Publication, Paris, 1952

रहा और सम्मिश्रित होता रहा है। आज आवागमन के साधनों में उन्नति के साथ यह सम्मिश्रण और भी सरल और व्यापक हो गया है। ऐसे सम्मिश्रण में कोई हानि होती है, इसका कोई प्रमाण नहीं है और इसलिये ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता जिसके आधार पर अन्त-प्रजातीय विवाह को रोका जाये।

(६) मनुष्य-मनुष्य समान है और प्रत्येक को समान अवसर प्रदान किया जाना चाहिये तथा कानून के सम्मुख सब को समान मानना चाहिये।

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि दुर्भाग्यवश प्रजाति शब्द का प्रयोग प्राणी-शास्त्रीय अर्थ में वैज्ञानिक ढंग से नहीं किया जाता है। मनमाने अर्थों ने अनेक अनर्थों की सृष्टि तथा मानव-समूहों और राष्ट्रों पर बड़े-बड़े अत्याचार हुए हैं। इन सब के फलस्वरूप 'प्रजाति' शब्द के अर्थ में पर्याप्त अवैज्ञानिकता तथा निःसारता आ गयी है। अतएव सर्वश्री हक्सले तथा हडन (Huxley and Haddon) का मत है कि "प्रजाति" शब्द एक उपकल्पित भूत या एक अनिश्चित भविष्य के लिये ही उपयुक्त है, वास्तविक वर्तमान के लिये नहीं।"

उपर्युक्त परिस्थितियों में, जैसा कि अनेक विद्वानों का मत है, "यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्यों के समुदायों के लिये प्रयुक्त 'प्रजाति' शब्द वैज्ञानिक शब्दकोष से हटा देना चाहिये और प्रजाति शब्द के स्थान पर 'सम-शारीरिक लक्षण वाले समूह' या नृवंशीय समूह (Ethnic group)' शब्द का प्रयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। 'प्रजाति' शब्द से मानव-जाति को अत्यधिक हानि पहुँची है, इस कारण इससे जान-बूझकर बचना होगा, नहीं तो विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की कल्पना एक निरर्थक स्वप्न ही रह जायगी।

SELECTED READINGS

1 Ashley Montagu, M. F *Man's Most Dangerous Myth · The Fallacy of Race*, Columbia University Press, New York, 1945

2 Beals and Hoijer . *An Introduction to Anthropology*, New York, 1959

3 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

4 Jacobs and Stern *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955

5 Kroeber *Anthropology*, New York, 1948

6 Majumdar, D N *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958

7 UNESCO Publication *What is Race*, Paris, 1952

६

भारत की प्रजातियाँ

(RACES OF INDIA)

विषय-सूची—षष्ठम अध्याय

१ भारत मे प्रजातियों का अध्ययन
२. भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास
(क) प्रागैतिहासिक युग
(ख) ऐतिहासिक युग
३. नीग्रिटो प्रजाति के सम्बन्ध मे मतभेद
४ भारत मे प्रजातीय तत्त्व और उसका वर्गीकरण
५ उत्तरी भारत मे प्रजातीय तत्त्व
६ निष्कर्ष

अध्याय ६

भारत की प्रजातियाँ (Races of India)

भारतीय जनसख्या मे प्रजातीय तत्त्वो की समस्या न केवल अस्पष्ट है, अपितु जटिल भी। इसका उचित और वैज्ञानिक मूल्याकन एक कठिन कार्य है। इस कारण भारत की प्रजातियो का यह निरूपण कहाँ तक यथार्थ है या हो सकता है, यह वताना भी कठिन है।

प्रागैतिहासिक (pre-historic) समय से ही भारतवर्ष मे विभिन्न प्रजातियो का आगमन हुआ है। इसका कारण राजनैतिक उतना नही जितना कि भौगोलिक है। भारतवर्ष एक विस्तृत उप-महाद्वीप (sub-continent) है और यहाँ प्रारम्भ से ही समयानुसार जीवित रहने के साधन उपलब्ध थे। इन अनुकूल अवस्थाओ मे आकर्षित होकर अनेक विदेशी प्रजातीय-समूहो ने समय-समय पर इस देश पर आक्रमण किया और यहाँ के निवासियो को हराकर यहाँ वस गये। इनमे से कुछ आक्रमणकारी-समूह लूटपाट कर लौट भी गये, पर अधिकाश यही वस गये। इस कारण यहाँ धीरे-धीरे अनेक प्रजातियो का जमघट वढता ही गया। परन्तु प्राचीन काल मे, विशेषकर प्रागैतिहासिक युग मे कव और कौन-कौन-सी प्रजातियाँ यहाँ आयी, इसका अभी तक सही-सही पता नही लग पाया है। फिर भी अनुमान और अनुसन्धानो के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

भारत में प्रजातियो का अध्ययन (Studies Regarding Races in India)

भारतीय सिविल सर्विस के एक यशस्वी अधिकारी सर हर्वर्ट रिज़ले (Sir Herbert Risley, 1851—1911) ने सर्वप्रथम भारतीय जनसख्या मे प्राचीन तत्त्वो के अध्ययन का वीडा उठाया। सन् १८९० मे सर्वप्रथम आपने एक मानवशास्त्रीय पत्रिका (The Journal of Anthropological Institute) मे वगाल, विहार, सयुक्त प्रान्त (आज का उत्तर प्रदेश) और पजाव की ८९ प्रमुख जातियो के कद, खोपडी, नाक की लम्वाई-चौडाई आदि के नाप सक्षेप मे प्रस्तुत किये।[1] परन्तु आपको वास्तविक देन इससे कही वाद की थी। सन् १८९९ मे भारत सरकार ने सर रिज़ले को सन् १९०१ मे होने वाली जनगणना (census) का अध्यक्ष नियुक्त किया। सन् १९०१ की जनगणना की रिपोर्ट तथा सन् १९१५ मे प्रकाशित सर रिज़ले की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दी पीपल ऑफ इडिया'

---

1 Sir H H Risley, "The Study of Ethnology in India," published in *The Journal of Anthropological Institute*, 1890, Vol XX, p 235

(The People of India) भारत की प्रजातियो के अध्ययन की आधारशिला है।

इसके पश्चात् सन् १९३१ की जनगणना के अध्यक्ष श्री जे० एच० हट्टन (J H. Hutton) ने नये अनुसधानो के आधार पर डा० बी० एस० गुहा (B S Guha) को नये तौर पर मानवमितीय नाप (anthropometric measurements) लेने का कार्य सौपा। डा० गुहा ने भारतवर्ष की प्रजातियो का अध्ययन और वर्गीकरण सर रिज़ले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न रीति से किया। श्री हट्टन ने इसका समर्थन किया, पर डा० डी० एन० मजुमदार (D N. Majumdar), डा० एस० सी० सरकार (S C Sarkar) आदि कुछ विद्वानो ने डा० गुहा के प्रजातीय वर्गीकरण की कुछ बातो को स्वीकार नही किया है। सर रिज़ले से लेकर डा० मजूमदार तक के इन प्रजातीय अध्ययनो को समझने के लिए हमे भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को समझना होगा।

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास
(Racial History of India)

भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागो मे बाँटा जा सकता है—(१) प्रागैतिहासिक युग, तथा (२) ऐतिहासिक युग। इन दो युगो के विषय मे अब हम सक्षेप मे विवेचना करेगे।

(१) प्रागैतिहासिक युग
(Pre-historic Age)

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास, विशेषकर प्रागैतिहासिक युग का इतिहास, अत्यधिक अस्पष्ट और मुख्यत अनुमान पर ही आश्रित है क्योकि प्रजातीय तत्त्वो के अध्ययन मे सहायक हो सके—ऐसी पुरानी हड्डियो, अस्थि-पजरो तथा अन्य वस्तुओ का भारत मे नितान्त अभाव है। इस सम्बन्ध मे सर हर्बर्ट रिज़ले ने लिखा था कि, "यहाँ पर आदिम मनुष्यो के जीवन के उतार-चढावो का चित्रण करने वाली न कोई गुफाएँ, समाधियो के टीले, हड्डियो के ढेर, या उस प्रकार के किले-नुमा नगर ही हैं जैसा कि आधुनिक गवेषणा द्वारा यूनान मे ज़मीन से खोदकर निकाले जा रहे हैं, और न ही हड्डियो से बनी चीजे या हथियार प्राप्त हैं।" इसका एक कारण इस देश की जलवायु है। भारत की जलवायु उष्ण है जिसके कारण विभिन्न प्रकार की हड्डियो, नर-ककाल आदि सुरक्षित नही रह पाये क्योकि गर्म जलवायु मे हड्डियाँ शीघ्र गल जाती हैं और साथ ही ऐसी जलवायु मे कीडे-मकोडे भी अधिक होते हैं, जो कि ऐसी वस्तुओ को या तो खा जाते हैं या उन्हे नष्ट कर देते है। भारत जैसे गरीब देश के लोगो के लिए हड्डी आदि प्राप्त करने के हेतु खुदाई मे मग्न होना विलासिता मात्र होती, इस कारण भारतवासी इस ओर उदासीन ही रहे। साथ ही, मुगल तथा ब्रिटिश आदि विदेशी शासक भी अपने-अपने राज्य को दृढ बनाने मे लगे रहे और इस प्रकार की खुदाई आदि की ओर बिलकुल ध्यान नही दिया। इन सब कारणो से भारत मे थोडे ही कर्परीय (cranial) और ककालीय (skeletal) प्रजातीय प्रकार प्राप्त किये जा सके हैं, और जो प्राप्त भी हुए

हैं वह बहुत अधिक प्राचीन नही है। डा० मजुमदार (Dr Majumdar) ने उचित ही लिखा है कि "भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध मे हमे अब तक जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हो सकी है उसे एक आने के डाक-टिकट के पीछे लिखा जा सकता है।"[2] अत उस युग मे भारत के प्रजातीय तत्त्व के सम्बन्ध मे हमे अनुमान पर ही अधिक निर्भर रहना पडता है। हाल मे भारतीय प्रागैतिहास और पुरा-इतिहास की कुछ उपयोगी सामग्री मानवशास्त्रियो को प्राप्त हुई है जिससे प्रागैतिहासिक युग के प्रजातीय इतिहास के पुनर्निर्माण मे बहुत-कुछ सहायता मिली है, फिर भी पहले की ही भाँति अब भी समस्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राय अनुमान पर आश्रित हैं।

इस सम्बन्ध मे एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है और वह यह कि भारत के प्रागैतिहास की विवेचना बाकी एशिया के प्रागैतिहास से पृथक् करके नही की जा सकती है। बहुतेरे विषयो मे ये दोनो अभिन्न हैं। श्री क्रोपोटकिन का मत है कि सभ्यता के उद्भव का सबसे अनुकूल स्थान मेसोपोटामिया रहा होगा। श्री हड्डन (Haddon) के मत मे मनुष्य का उद्विकास दक्षिणी एशिया के किसी स्थान पर हुआ होगा।[3] अत स्पष्ट है कि भारत की बिल्कुल पृथक् रूप से विवेचना करना उचित न होगा।

प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी हमे २,५०,००० वर्ष पुरानी नर्मदा घाटी की सभ्यता तथा ५००० वर्ष पुरानी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो से प्राप्त होती है। परन्तु ये प्रमाण इतने अपर्याप्त तथा अस्पष्ट है कि इनपर अधिक निर्भर रहना उचित न होगा। फिर भी इनके आधार पर उस युग की भारतीय जनसख्यामे प्रजातीय तत्त्वो की एक रूपरेखा अवश्य ही प्रस्तुत की जा सकती है।

भारतवर्ष के दक्षिणी प्रायद्वीप के हिस्से की जमीन सबसे अधिक प्राचीन कही जाती है और वहाँ पर पाषाण युग की सस्कृति के तत्त्व भी मिलते हैं। इस आधार पर श्री स्टुअर्ट पिगट (Stuart Piggot) का मत है कि यहाँ के निवासी पूर्व-पुरुषभ (Palaeo anthropoid) के प्रतिनिधि और जावा (Java) मे पाये जाने वाले सर्वप्रथम 'सीधे चलने वाले मनुष्य' (Pithecanthropuseractus) से सम्बन्धित हो सकते हैं।

नवपाषाणकालीन (Neolithic) सस्कृति के तत्त्व भारत के पूर्वी भाग मे मिलते हैं। इसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि उस समय भारत के पूर्वी भाग मे रहने वाली प्रजाति ने ही इस सस्कृति को जन्म दिया था। परन्तु यह प्रजाति कौन-सी थी, इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ लोग इन्हे क्रो-मैगनन (Cro-Magnon) प्रजाति से सम्बन्धित मानते है और कुछ लोग इन्हे प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड (Proto-

---

2 "In any case, all the knowledge of the Indian pre-historic age we have had so far could be written on the back of an anna postage stamp" D N, Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p 20

3 *Ibid*, p 21

(The People of India) भारत की प्रजातियो के अध्ययन की आधारशिला है।

इसके पश्चात् सन् १९३१ की जनगणना के अध्यक्ष श्री जे० एच० हट्टन (J H. Hutton) ने नये अनुसधानो के आधार पर डा० बी० एस० गुहा (B S Guha) को नये तौर पर मानवमितीय नाप (anthropometric measurements) लेने का कार्य सौपा। डा० गुहा ने भारतवर्ष की प्रजातियो का अध्ययन और वर्गीकरण सर रिज़ले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न रीति से किया। श्री हट्टन ने इसका समर्थन किया, पर डा० डी० एन० मजुमदार (D N Majumdar), डा० एस० सी० सरकार (S C Sarkar) आदि कुछ विद्वानो ने डा० गुहा के प्रजातीय वर्गीकरण की कुछ बातो को स्वीकार नही किया है। सर रिज़ले से लेकर डा० मजूमदार तक के इन प्रजातीय अध्ययनो को समझने के लिए हमे भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को समझना होगा।

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास
(Racial History of India)

भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागो मे बाँटा जा सकता है—(१) प्रागैतिहासिक युग, तथा (२) ऐतिहासिक युग। इन दो युगो के विषय मे अब हम सक्षेप मे विवेचना करेंगे।

(१) प्रागैतिहासिक युग
(Pre-historic Age)

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास, विशेषकर प्रागतिहासिक युग का इतिहास, अत्यधिक अस्पष्ट और मुख्यत अनुमान पर ही आश्रित हे क्योकि प्रजातीय तत्वो के अध्ययन मे सहायक हो सके—ऐसी पुरानी हड्डियो, अस्थि-पजरो तथा अन्य वस्तुओ का भारत मे नितान्त अभाव है। इस सम्बन्ध मे सर हर्बर्ट रिजले ने लिखा था कि, "यहाँ पर आदिम मनुष्यो के जीवन के उतार-चढावो का चित्रण करने वाली न कोई गुफाएँ, समाधियो के टीले, हड्डियो के ढेर, या उस प्रकार के किले-नुमा नगर ही हैं जैसा कि आधुनिक गवेषणा द्वारा यूनान मे ज़मीन से खोदकर निकाले जा रहे हैं, और न ही हड्डियो से बनी चीजें या हथियार प्राप्त हैं।" इसका एक कारण इस देश की जलवायु है। भारत की जलवायु उष्ण है जिसके कारण विभिन्न प्रकार की हड्डियो, नर-ककाल आदि सुरक्षित नही रह पाये क्योकि गर्म जलवायु मे हड्डियाँ शीघ्र गल जाती हैं और साथ ही ऐसी जलवायु मे कीडे-मकोडे भी अधिक होते हैं, जो कि ऐसी वस्तुओ को या तो खा जाते है या उन्हे नष्ट कर देते है। भारत जैसे गरीब देश के लोगो के लिए हड्डी आदि प्राप्त करने के हेतु खुदाई मे मग्न होना विलासिता मात्र होती, इस कारण भारतवासी इस ओर उदासीन ही रहे। साथ ही, मुगल तथा ब्रिटिश आदि विदेशी शासक भी अपने-अपने राज्य को दृढ बनाने मे लगे रहे और इस प्रकार की खुदाई आदि की ओर बिल्कुल ध्यान नही दिया। इन सब कारणो से भारत मे थोडे ही कर्परीय (cranial) और ककालीय (skeletal) प्रजातीय प्रकार प्राप्त किये जा सके है, और जो प्राप्त भी हुए

हैं वह बहुत अधिक प्राचीन नही हैं। डा० मजुमदार (Dr Majumdar) ने उचित ही लिखा है कि "भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध में हमे अब तक जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हो सकी है उसे एक आने के डाक-टिकट के पीछे लिखा जा सकता है।"[2] अत उस युग मे भारत के प्रजातीय तत्त्व के सम्बन्ध मे हमे अनुमान पर ही अधिक निर्भर रहना पडता है। हाल मे भारतीय प्रागैतिहास और पुरा-इतिहास की कुछ उपयोगी सामग्री मानवशास्त्रियो को प्राप्त हुई है जिससे प्रागैतिहासिक युग के प्रजातीय इतिहास के पुनर्निर्माण मे बहुत-कुछ सहायता मिली है, फिर भी पहले की ही भाँति अब भी समस्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राय अनुमान पर आश्रित हैं।

इस सम्बन्ध मे एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है और वह यह कि भारत के प्रागैतिहास की विवेचना बाकी एशिया के प्रागैतिहास से पृथक् करके नही की जा सकती है। बहुतेरे विषयो मे ये दोनो अभिन्न हैं। श्री क्रोपोटकिन का मत है कि सभ्यता के उद्‌भव का सबसे अनुकूल स्थान मेसोपोटामिया रहा होगा। श्री हड्डन (Haddon) के मत मे मनुष्य का उद्‌विकास दक्षिणी एशिया के किसी स्थान पर हुआ होगा।[3] अत स्पष्ट है कि भारत की बिल्कुल पृथक् रूप से विवेचना करना उचित न होगा।

प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी हमे २,५०,००० वर्ष पुरानी नर्मदा घाटी की सभ्यता तथा ५००० वर्ष पुरानी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो से प्राप्त होती है। परन्तु ये प्रमाण इतने अपर्याप्त तथा अस्पष्ट है कि इनपर अधिक निर्भर रहना उचित न होगा। फिर भी इनके आधार पर उस युग की भारतीय जनसख्यामे प्रजातीय तत्त्वो की एक रूपरेखा अवश्य ही प्रस्तुत की जा सकती है।

भारतवर्ष के दक्षिणी प्रायद्वीप के हिस्से की जमीन सबसे अधिक प्राचीन कही जाती है और वहाँ पर पाषाण युग की सस्कृति के तत्त्व भी मिलते हैं। इस आधार पर श्री स्टुअर्ट पिगट (Stuart Piggot) का मत है कि यहाँ के निवासी पूर्व-पुरुषभ (Palaeo anthropoid) के प्रतिनिधि और जावा (Java) मे पाये जाने वाले सर्व-प्रथम 'सीधे चलने वाले मनुष्य' (Pithecanthropuseractus) से सम्बन्धित हो सकते है।

नवपाषाणकालीन (Neolithic) सस्कृति के तत्त्व भारत के पूर्वी भाग मे मिलते हैं। इसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि उस समय भारत के पूर्वी भाग मे रहने वाली प्रजाति ने ही इस सस्कृति को जन्म दिया था। परन्तु यह प्रजाति कौन-सी थी, इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ लोग इन्हे क्रो-मैगनन (Cro-Magnon) प्रजाति से सम्बन्धित मानते है और कुछ लोग इन्हे प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड (Proto-

---

2 "In any case, all the knowledge of the Indian pre-historic age we have had so far could be written on the back of an anna postage stamp" D N, Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p 20

3 *Ibid*, p 21

Australoid) से सम्बन्धित करते है। इस विषय मे कोई निश्चित निष्कर्ष आज भी नही हो पाया है।

मोहनजो-दडो, हरप्पा, चानूदारो आदि की खुदाई से प्राप्त वस्तुओ से इस प्रागैतिहासिक युग के प्रजातीय तत्त्वो पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। इन खुदाइयो से पचास नर-ककाल और ऐसी ही अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इनके अध्ययन से एकाधिक प्रजातीय तत्त्वो का प्रमाण मिलता है। इनमे से (अ) प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid), (ब) भूमध्यसागरीय (Mediterranean), और (स) आल्पाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा (Armenoid branch of Alpine Race) प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन प्रजातियो के विषय मे विस्तारपूर्वक कुछ बताना सम्भव न होगा क्योकि इनसे सम्बन्धित बहुत ही थोडे शारीरिक अवशेष जैसे कर्पर, ककाल, हड्डियाँ आदि प्राप्त किये जा सके हैं। सन् १९१२ मे एक कर्पर (crania) बयाना मे और एक कर्पर स्यालकोट मे पाया गया था। ये दोनो कर्पर बहुत प्राचीन नही थे और इनकी हड्डियो का रग मटमैला-भूरा था। सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) ने इन कर्परो की जाँच बम्बई मानव-शास्त्र समिति (Bombay Anthropological Society) के अनुरोध से की थी। आपके अनुसार ये कर्पर पुरुषो के थे, पर इनका आकार छोटा था। श्री कीथ के मत मे इन कर्परो के आकार और प्रकार बहुत-कुछ वैसे ही हैं जैसे आज के पजाब के लोगो के हैं और बयाना मे पाये गए कर्पर की पतली नाक की हड्डियो के आधार पर आपने उन्हे प्रमुख आर्य पुरुष के ही प्रतिनिधि माना है।[4] मोहनजो-दडो मे प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के उपलब्ध तीन कर्परो को सर्वश्री फ्रेडरिक और मुलर ने वेड्डॉयड (Veddoid) बताया है और हडप्पा के कब्रिस्तान की दो तहो मे विशेषत निचली तह मे प्राप्त कर्पर आस्ट्रेलॉयड प्रजाति से सम्बन्धित माने जाते हैं। स्यालकोट मे पाया गया कर्पर प्रमुख रूप से भूमध्यसागरीय प्रजातीय स्कन्ध (Stock) से मिलते हैं, जब कि बयाना के कर्पर को मिश्रित प्रकार माना जा सकता है। हैदराबाद मे रायचूर जिले के मस्की नामक स्थान मे प्राप्त ककालो मे दो प्रजातीय तत्त्व पाये गए हैं—एक भूमध्यसागरीय तथा दूसरी पश्चिमी आल्पाइन की आर्मीनॉयड शाखा। मस्की के उन ककालो मे प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व नही पाए गए परन्तु वहाँ एक दूसरा प्रमाण उपलब्ध है जिसके आधार पर प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व का भी होना प्रमाणित होता है। मस्की की वर्तमान जनसख्या लम्बे तथा चौडे सिर और पतली नाक वाली है परन्तु वहाँ लम्बे सिर और चपटी नाक वाले लोगो का भी अभाव नही है। ये लक्षण प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति से सम्बन्धित हैं। इससे वहाँ प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व का भी आभास होता है।[5] सक्षेप मे, बयाना, स्यालकोट, नाल, मरकान, मस्की मे पाई गई सामग्रियाँ या अवशेष प्रागैतिहासिक युग मे भारतीय जनसख्या मे तीन प्रजातीय तत्त्वो—प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड, भूमध्यसागरीय तथा आल्पाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा—की ओर सकेत करते हैं।

मोहनजो-दडो तथा हरप्पा मे पाई गई विभिन्न प्रजातियो के अस्थि-पजरो के

---

4 *Ibid*, p 25
5 *Ibid*, p 26

विश्लेषण के आधार पर प्रागैतिहासिक युग मे भारतीय जनसख्या मे प्रजातीय तत्त्वो के सम्बन्ध मे कर्नल स्युअल तथा डा० गुहा का मत कुछ भिन्न है। इन विद्वानो के अनुसार उक्त स्थानो मे पाये गए अस्थि-पजर चार प्रजातियो की सत्ता को सिद्ध करते है। वे चार प्रजातियाँ हैं—प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड, मगोलॉयड, भूमध्यसागरीय तथा आल्पाइन। मगोलॉयड तथा आल्पाइन प्रजातियो का केवल एक-एक कर्पर इन स्थानो मे मिला है, अधिक सख्या प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड तथा भूमध्यसागरीय कर्परो की है। इनमे भी प्रधानता भूमध्यसागरीय कर्परो की है। दूसरे शब्दो मे, सिन्धु-सभ्यता के मुख्य केन्द्र मोहनजो-दडो तथा हरप्पा की जनसख्या मे भूमध्यसागरीय प्रजातीय तत्त्व सर्वप्रमुख थे। इसी आधार पर यह माना जाता है कि सिन्धु-सभ्यता को विकसित करने का श्रेय भूमध्य-सागरीय प्रजाति को ही है। डा० गुहा (Dr. Guha) के इस मत से डा० मजुमदार, जैसा कि हम आगे पढेंगे, भी सहमत हैं, परन्तु आप (डा० मजुमदार) उस समय भारतीय जनसख्या मे मगोलॉयड प्रजातीय तत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार नही करते है। कुछ भी हो, इतना आज प्रायः सभी मानते हैं कि भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोगो (जिन्हे हम भारत मे द्राविड कहते है) ने ही सिन्धु-सभ्यता को जन्म दिया था। यह सत्य निम्न-लिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायगा।

मोहनजो-दडो तथा हरप्पा की सिन्धु-सभ्यता का काल आज से पाँच हजार वर्ष से भी पूर्व माना जाता है। यह सभ्यता ईसा से ३२५० वर्ष पूर्व (3250 B C) से लेकर २७५० वर्ष पूर्व (2750 B C) के बीच की है और सम्भवत इस सभ्यता के मुख्य लक्षण मेसोपोटामिया (Mesopotamia) से आए थे जहाँ कि भूमध्यसागरीय प्रजाति का निवास था। अनुमान है कि भारत मे भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोग समुद्र के मार्ग से आए थे, यद्यपि स्थल मार्ग (land route) से भी आना सम्भव था। यदि इस प्रकार जल मार्ग द्वारा मेसोपोटामिया से भूमध्यसागरीय लोगो के भारत आने की बात को सिद्ध न भी किया जा सके फिर भी मोहनजो-दडो और हरप्पा मे पाये गए सिचाई के साधन, कृषि के उद्देश्य से बनाये गए बाँध, बिलोचिस्तान के नाल नामक स्थान मे पाये गए मिट्टी के बर्तनो जैसे बर्तन, काँसे की वस्तुएँ आदि नि सन्देह उत्तर-पश्चिम से भूमध्यसागरीय सस्कृति के प्रवेश को सिद्ध करती हैं। अत. स्पष्ट है, मोहनजो-दडो या सिन्धु-सभ्यता को द्राविड लोगो ने जन्म दिया था और मोहनजो-दडो के लोगो का प्रमुख प्रजातीय प्रकार सम्भवत भूमध्यसागरीय था।[6]

कुछ विद्वानो का मत है कि मोहनजो-दडो की सभ्यता का विकास भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोगो के द्वारा नही हुआ है, यह सभ्यता प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति की देन है। परन्तु ऐतिहासिक तथा मानवशास्त्रीय प्रमाण प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के पक्ष मे नही है। डा० मजुमदार (Majumdar) के अनुसार जिस समय कि 'द्राविड' लोग सिन्धु घाटी मे एक उच्चकोटि की सभ्यता का निर्माण कर रहे थे, उस समय भारत के सबसे पुराने आदिवासी प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड नवपाषाणकालीन अवस्था मे थे। अपने तर्क को और भी स्पष्ट करते हुए डा० मजुमदार ने लिखा है कि मोहनजो-दडो की खुदाई से जो

6 *Ibid*, pp 26-27

Australoid) से सम्बन्धित करते है। इस विषय मे कोई निश्चित निष्कर्ष आज भी नही हो पाया है।

मोहनजो-दडो, हरप्पा, चानूदारो आदि की खुदाई से प्राप्त वस्तुओ मे इस प्रागैतिहासिक युग के प्रजातीय तत्त्वो पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। इन खुदाइयो से पचास नर-ककाल और ऐसी ही अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई है। इनके अध्ययन से एकाधिक प्रजातीय तत्त्वो का प्रमाण मिलता है। इनमे से (अ) प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid), (ब) भूमध्यसागरीय (Mediterranean), और (स) आल्पाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा (Armenoid branch of Alpine Race) प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन प्रजातियो के विषय मे विस्तारपूर्वक कुछ बताना सम्भव न होगा क्योकि इनसे सम्बन्धित बहुत ही थोडे शारीरिक अवशेष जैसे कर्पर, ककाल, हड्डियाँ आदि प्राप्त किये जा सके हैं। सन् १९१२ मे एक कर्पर (crania) बयाना मे और एक कर्पर स्यालकोट मे पाया गया था। ये दोनो कर्पर बहुत प्राचीन नही थे और इनकी हड्डियो का रग मटमैला-भूरा था। सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) ने इन कर्परो की जाँच बम्बई मानवशास्त्र समिति (Bombay Anthropological Society) के अनुरोध से की थी। आपके अनुसार ये कर्पर पुरुषो के थे, पर इनका आकार छोटा था। श्री कीथ के मत मे इन कर्परो के आकार और प्रकार बहुत-कुछ वैसे ही हैं जैसे आज के पजाब के लोगो के है और बयाना मे पाये गए कर्पर की पतली नाक की हड्डियो के आधार पर आपने उन्हे प्रमुख आर्य पुरुष के ही प्रतिनिधि माना है।[4] मोहनजो-दडो मे प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के उपलब्ध तीन कर्परो को सर्वश्री फ्रेडरिक और मुलर ने वेड्डॉयड (Veddoid) बताया है और हडप्पा के कब्रिस्तान की दो तहो मे विशेषत निचली तह मे प्राप्त कर्पर आस्ट्रेलॉयड प्रजाति से सम्बन्धित माने जाते हैं। स्यालकोट मे पाया गया कर्पर प्रमुख रूप से भूमध्यसागरीय प्रजातीय स्कन्ध (Stock) से मिलते हैं, जब कि बयाना के कर्पर को मिश्रित प्रकार माना जा सकता है। हैदराबाद मे रायचूर जिले के मस्की नामक स्थान मे प्राप्त ककालो मे दो प्रजातीय तत्त्व पाये गए हैं—एक भूमध्यसागरीय तथा दूसरी पश्चिमी आल्पाइन की आर्मीनॉयड शाखा। मस्की के उन ककालो मे प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व नही पाए गए परन्तु वहाँ एक दूसरा प्रमाण उपलब्ध है जिसके आधार पर प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व का भी होना प्रमाणित होता है। मस्की की वर्तमान जनसख्या लम्बे तथा चौडे सिर और पतली नाक वाली है परन्तु वहाँ लम्बे सिर और चपटी नाक वाले लोगो का भी अभाव नही है। ये लक्षण प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति से सम्बन्धित हैं। इससे वहाँ प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व का भी आभास होता है।[5] सक्षेप मे, बयाना, स्यालकोट, नाल, मरकान, मस्की मे पाई गई सामग्रियाँ या अवशेष प्रागैतिहासिक युग मे भारतीय जनसख्या मे तीन प्रजातीय तत्त्वो—प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड, भूमध्यसागरीय तथा आल्पाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा—की ओर सकेत करते हैं।

मोहनजो-दडो तथा हरप्पा मे पाई गई विभिन्न प्रजातियो के अस्थि-पजरो के

4 *Ibid*, p 25
5 *Ibid*, p 26

विश्लेषण के आधार पर प्रागैतिहासिक युग मे भारतीय जनसख्या मे प्रजातीय तत्त्वो के सम्बन्ध मे कर्नल स्युअल तथा डा० गुहा का मत कुछ भिन्न है। इन विद्वानो के अनुसार उक्त स्थानो मे पाये गए अस्थि-पजर चार प्रजातियो की सत्ता को सिद्ध करते है। वे चार प्रजातियाँ हैं—प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड, मगोलॉयड, भूमध्यसागरीय तथा आल्पाइन। मगोलॉयड तथा आल्पाइन प्रजातियो का केवल एक-एक कर्पर इन स्थानो मे मिला है, अधिक सख्या प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड तथा भूमध्यसागरीय कर्परो की है। इनमे भी प्रधानता भूमध्यसागरीय कर्परो की है। दूसरे शब्दो मे, सिन्धु-सभ्यता के मुख्य केन्द्र मोहनजो-दडो तथा हरप्पा की जनसख्या मे भूमध्यसागरीय प्रजातीय तत्त्व सर्वप्रमुख थे। इसी आधार पर यह माना जाता है कि सिन्धु-सभ्यता को विकसित करने का श्रेय भूमध्य-सागरीय प्रजाति को ही है। डा० गुहा (Dr. Guha) के इस मत से डा० मजुमदार, जैसा कि हम आगे पढेंगे, भी सहमत हैं, परन्तु आप (डा० मजुमदार) उस समय भारतीय जनसख्या मे मगोलॉयड प्रजातीय तत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार नही करते है। कुछ भी हो, इतना आज प्राय· सभी मानते है कि भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोगो (जिन्हे हम भारत मे द्राविड कहते है) ने ही सिन्धु-सभ्यता को जन्म दिया था। यह सत्य निम्न-लिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायगा।

मोहनजो-दडो तथा हरप्पा की सिन्धु-सभ्यता का काल आज से पाँच हजार वर्ष से भी पूर्व माना जाता है। यह सभ्यता ईसा से ३२५० वर्ष पूर्व (3250 B C) से लेकर २७५० वर्ष पूर्व (2750 B C) के बीच की है और सम्भवत इस सभ्यता के मुख्य लक्षण मेसोपोटामिया (Mesopotamia) से आए थे जहाँ कि भूमध्यसागरीय प्रजाति का निवास था। अनुमान है कि भारत मे भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोग समुद्र के मार्ग से आए थे, यद्यपि स्थल मार्ग (land route) से भी आना सम्भव था। यदि इस प्रकार जल मार्ग द्वारा मेसोपोटामिया से भूमध्यसागरीय लोगो के भारत आने की बात को सिद्ध न भी किया जा सके फिर भी मोहनजो-दडो और हरप्पा मे पाये गए सिंचाई के साधन, कृषि के उद्देश्य से बनाये गए बाँध, बिलोचिस्तान के नाल नामक स्थान मे पाये गए मिट्टी के बर्तनो जैसे बर्तन, काँसे की वस्तुएँ आदि नि सन्देह उत्तर-पश्चिम से भूमध्यसागरीय सस्कृति के प्रवेश को सिद्ध करती हैं। अतः स्पष्ट है, मोहनजो-दडो या सिन्धु-सभ्यता को द्राविड लोगो ने जन्म दिया था और मोहनजो-दडो के लोगो का प्रमुख प्रजातीय प्रकार सम्भवत भूमध्यसागरीय था।[6]

कुछ विद्वानो का मत है कि मोहनजो-दडो की सभ्यता का विकास भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोगो के द्वारा नही हुआ है, यह सभ्यता प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति की देन है। परन्तु ऐतिहासिक तथा मानवशास्त्रीय प्रमाण प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के पक्ष मे नही है। डा० मजुमदार (Majumdar) के अनुसार जिस समय कि 'द्राविड' लोग सिन्धु घाटी मे एक उच्चकोटि की सभ्यता का निर्माण कर रहे थे, उस समय भारत के सबसे पुराने आदिवासी प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड नवपाषाणकालीन अवस्था मे थे। अपने तर्क को और भी स्पष्ट करते हुए डा० मजुमदार ने लिखा है कि मोहनजो-दडो की खुदाई से जो

6 *Ibid*, pp 26-27

मूर्तियाँ मिली हैं उससे इस सम्बन्ध मे सारे वाद-विवाद का ही अन्त हो जाता है, क्योकि प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोग अवैयक्तिक सत्ता (impersonal power) पर विश्वास करते हैं और आज भी वे इस शक्ति को देवताओ के रूप मे या उनको व्यक्त करने वाली मूर्तियो के रूप मे स्थूल या साकार रूप देने मे सफल नही हुए हैं।[7] चूंकि मोहनजो-दडो की खुदाई से मूर्तियाँ मिली हैं और चूंकि प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोग मूर्तिपूजक नही थे, इससे स्पष्टत यह प्रमाणित होता है कि सिन्धु-सभ्यता का निर्माण प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के द्वारा नही हुआ है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो मे अनेक स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं जो नग्न दशा मे हैं। ऐसी नग्न-मूर्तियाँ बिलोचिस्तान, मेसोपोटामिया आदि मे भी मिलती हैं। यह प्रमाण भी सिन्धु-सभ्यता के निर्माण मे भूमध्यसागरीय प्रजातीय तत्त्व की प्रधानता की ओर सकेत करता है।

मोहनजो-दडो तथा हरप्पा मे पाए गये कुछ मृतक अवशेषो की अस्थि-परीक्षा से यह पता चलता है कि उनमे से कई की आक्रमण द्वारा हत्या हुई है। कुछ विद्वानो की यह धारणा है कि यह आक्रमण सम्भवतः आर्य लोगो का रहा होगा। जब आर्य लोग भारत मे आये तब यहाँ सिन्धु-सभ्यता विकसित और पुष्पित हो चुकी थी। आर्यों ने द्राविड लोगो पर आक्रमण किया और उन्हे हराया। द्राविड लोग कुछ तो युद्ध मे मरे और कुछ आर्यों की मार खाकर दक्षिण भारत की तरफ भाग खडे हुए और वही जा बसे। ये लोग भारत मे आने वाली भूमध्यसागरीय प्रजाति की सबसे पुरानी शाखा से सम्बन्धित थे जो कि अब कन्नड, तामिल तथा मलयालम भाषाभाषी प्रदेशो मे पायी जाती है। परन्तु ये सभी निष्कर्ष बहुत-कुछ कल्पनाओ पर आधारित हैं, इस कारण इनमे कितनी सत्यता है, यह कहा नही जा सकता।

उपर्युक्त विवेचना से प्रागैतिहासिक युग की भारतीय जनसख्या मे प्रजातीय तत्त्वो के सम्बन्ध मे एक अस्पष्ट या धुंधली धारणा मात्र होती है और इसी कारण इसके आधार पर हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नही पहुँच सकते। पर हाँ, इस सम्बन्ध मे इतना निश्चित ही है कि अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष की भूमि मे एक से अधिक प्रजातियो का जमघट रहा है और उनमे कुछ न कुछ सम्मिश्रण भी होता रहा है।

(२) ऐतिहासिक युग
(Historical Age)

ऐतिहासिक युग भारत मे आर्यों के आने के बाद से ही प्रारम्भ होता है। आर्यों के आने के बाद अनेक प्रजातियाँ भारत मे आयी। परन्तु उनके सम्बन्ध मे भी कोई निर्भर-योग्य जानकारी हमे प्राप्त न होने के कारण कोई निश्चित निष्कर्ष सम्भव नही है। ऐसे तो अनेक विद्वानो ने इस सम्बन्ध मे अनेक खोजें की हैं परन्तु पर्याप्त कर्परीय

---

7 "The iconic character of Mohenjo-daro civilization also puts the lid on the controversy for the proto-Australoids believe in impersonal force or power and even today they have not succeded in concretizing this power in the shape of gods or idols representing them" D N Majumdar, *Ibid*, p 27

(cranial) और ककालीय (skeletal) सामग्रियो के अभाव के कारण उनके अध्ययनो को एक वैज्ञानिक आधार नही मिल पाया है। जैसा कि हम पीछे बता चुके है, भारत की उष्ण जलवायु शारीरिक अवशेषो को सरक्षित रखने के अनुकूल नही है और यही कारण है कि इस देश मे मानव-ककालीय सामग्रियो का सदैव ही अभाव अनुभव किया गया है। इसीलिये यहाँ कोई प्रजातीय अध्ययन भी यथार्थ नही हो पाता है। अधिकतर हमे अनुमान की ही साक्षी पर निर्भर रहना पडता है। ऐतिहासिक युग मे भारतीय जन-सख्या मे प्रजातीय तत्व के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो का मत निम्नलिखित है —

(१) रिज़ले (Risley)—जैसा कि प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है, भारतवर्ष की विभिन्न प्रजातियो के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक ढग से सामग्री एकत्र करने का सर्वप्रथम श्रेय सर हर्बर्ट रिज़ले (Sir Herbert Risley) को है। आपके अनुसार भारतवर्ष मे सात प्रजातीय तत्त्वो का समावेश है।[8] इनमे केवल तीन प्रजातियाँ—द्राविड (Dravidian), मगोल (Mongoloid) और इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)—मौलिक है। शेष चार प्रजातियाँ इन तीन मौलिक प्रजातियो के परस्पर समिश्रण का परिणाम है। ये चार मिश्रित प्रजातियाँ तुर्को-ईरानियन (Turko-Iranian), सीथो-द्राविडियन (Scytho-Dravidian), आर्यो-द्राविडियन (Aryo-Dravidian), और मगोलो-द्राविडियन (Mongolo-Dravidan) है।

उपरोक्त सात प्रजातियो मे नीग्रिटो (Negrito) प्रजाति को सर रिज़ले ने सम्मिलित नही किया है क्योकि आपका मत है कि इस प्रजाति का भारत की जनसख्या के निर्माण मे कोई उल्लेखनीय हाथ नही है।

सर रिज़ले ने 'द्राविड प्रजाति' को भारत का प्राचीनतम आदिवासी माना है। आपने उन विद्वानो के मत को स्वीकार नही किया है जो कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियो और भारत के द्राविडो मे सम्बन्ध मानते हैं। सर रिज़ले ने सर विलियम टर्नर (Sir William Turner) द्वारा आस्ट्रेलियन तथा द्राविड खोपडियो पर किये गए परीक्षणो के आधार पर इन दोनो को सर्वथा भिन्न माना है, साथ ही, आपने अण्डमान तथा फिलिप्पाइन द्वीपो के नीग्रिटो लोगो के साथ भी द्राविडो का कोई सम्बन्ध नही माना है।[9] सक्षेप मे, सर रिज़ले अपने इस सिद्धात पर अटल रहे हैं कि द्राविड प्रजाति भारत की मूल और प्राचीनतम निवासी है। ये लोग प्रारम्भ से ही भारत मे रहते थे और इस कारण इनके बाहर से आने का प्रश्न नही उठता। द्राविड को छोडकर शेष प्रजातियाँ भारत मे बाहर से आयी। इण्डो-आर्यन प्रजाति के लोगो ने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त से भारत मे प्रवेश किया था। ये लोग एक साथ भारत मे नही आए, बल्कि धीरे-धीरे आते रहे और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और पजाब मे बस गए। सर रिज़ले के अनुसार उत्तर प्रदेश तथा बिहार मे विशुद्ध आर्य प्रजाति के लोग नही पाए जाते। इन स्थानो के लोग आर्यो-द्राविडियन अर्थात् आर्य और द्राविड इन दो प्रजातियो के मिश्रण है।[10] मगोल बाहर से आकर

---

8 H H Risley, *The People of India*, 1915, pp 32-61
9 *Ibid* pp 47-48
10 *Ibid* p 55

उत्तर-पूर्वी भारत विशेषत आसाम और नेपाल मे बसने वाली दूसरी प्रजाति थी। प्रागैतिहासिक काल मे ही मगोल प्रजातीय तत्त्व का भारतीय जनसख्या मे होने का कुछ आभास मिलता है परन्तु ऐतिहासिक काल मे इनके यहाँ आने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। बाद मे इनका मिश्रण द्राविड लोगो से हुआ जो कि बगाल और उडीसा मे पाये जाते हैं। भारत मे बाहर से आकर बसने वाली तीसरी प्रजाति मध्य एशिया के रहने वाले सीथियन या शक थे। इन लोगो ने अपने को सिन्ध, पजाब, राजपूताना, काठियावाड, गुजरात और मध्यभारत मे विस्तृत कर लिया था, परन्तु बाद मे उनपर जो आक्रमण हुए उनके कारण उन्हे विवश होकर दक्षिण की ओर बढना पडा जहाँ द्राविड लोगो से उनका मिश्रण हुआ। मराठा लोग इसी समिश्रण के फल हैं।[11] इस प्रकार, सर रिज़ले के अनुसार, भारत मे बाहर से आकर बसने वाली तीन प्रजातियाँ इण्डो-आर्यन, मगोल तथा सीथियन या शक थे। इन प्रजातियो के भारत मे फैलने और यहाँ के मूल निवासी द्राविडो से समिश्रित होने के फलस्वरूप अन्य तीन मिश्रित प्रजातियो आर्यो-द्राविडियन, मगोल-द्राविडियन तथा सीथो-द्राविडियन का जन्म हुआ। सातवी प्रजाति उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त की तुर्को-ईरानियन है। इन सातो प्रजातियो की शारीरिक विशेषताओ तथा भारतीय जनसख्या मे उनके वितरण का विस्तृत विवरण हम आगे देंगे।

सन् १९३१ की जनगणना के अध्यक्ष श्री जे० एच० हट्टन (J H Hutton) ने सर रिज़ले के उपर्युक्त मत मे अनेक दोषो का उल्लेख किया है।[12] इनमे सबसे प्रमुख यह है कि (क) सर रिज़ले ने भी भाषा-समूहो को प्रजातियाँ समझने की भूल की है। 'द्राविड' तथा 'आर्य' शब्द प्रजातिसूचक नही हैं, ये तो केवल भाषा-समूह सूचक हैं। बाद के अनुसन्धानो के आधार पर आज यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्राविड भाषा बोलने वाले सभी व्यक्तियो को एक प्रजाति समझना गलत है क्योकि इनमे एकाधिक प्रजातीय तत्त्व पाये गए है। श्री रिज़ले ने यही गलती की है, उन्होने जिन्हे एक प्रजाति 'द्राविड' के अन्तर्गत सम्मिलित किया है, वास्तव मे उसमे कम से कम तीन स्पष्ट प्रजातियो का समावेश है। (ख) सर रिज़ले की इस धारणा से भी अनेक विद्वान सहमत नही हैं कि द्राविड इस देश के सबसे प्राचीन आदिवासी थे। इन विद्वानो का कथन है कि, जैसा कि आगे की विवेचना से स्पष्ट होगा, प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड यहाँ सबसे पहले रहने वाली प्रजाति थी। (ग) इसके अतिरिक्त सर रिज़ले ने भारत के प्रजातीय वर्गीकरण मे ऐसी एकाधिक प्रजातियो का कोई भी उल्लेख नही किया है "जिनकी लहरे समय-समय पर भारत मे आयी और जिनके शरीर-वैशिष्ट्य के गुण अभी भी, विश्लेषण करने पर, हमे भारतीय समाज मे मिलते हैं।"

(२) हड्डन (Haddon)—सर रिज़ले के बाद भारतवर्ष के प्रजातीय तत्त्वो के सम्बन्ध मे अनुसधान का दूसरा प्रयत्न श्री ए० सी० हड्डन (A C Haddon) द्वारा हुआ था। आपने सर रिज़ले के दो प्रमुख निष्कर्षों का खण्डन किया। प्रथम तो यह कि द्राविड भारत की सबसे पुरानी प्रजाति नही है। द्राविड प्रजाति भारत मे बाहर

11 *Ibid*, p 61
12 *Census of India*, 1931, Vol I, Part I, p 440

से आयी थी। उस प्रजाति के लोगो के भारत-प्रवेश के पूर्व यहाँ पूर्व-द्राविड (Pre-Dravidian) प्रजाति के लोग रहते थे। वास्तव मे भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति यही पूर्व-द्राविड है। दूसरे, श्री हड्डन के अनुसार सर रिज़ले का यह कथन भी गलत है कि भारत मे पाये जाने वाले चौडे सिर वाले व्यक्ति मगोल प्रजाति के हैं। श्री हड्डन के मतानुसार ये आल्पाइन (Alpine) प्रजाति के है और मगोल प्रजाति के भारत मे आने से पहले ही यहाँ आये थे।

अत स्पष्ट है कि श्री हड्डन ने भारत की सबसे पुरानी प्रजाति पूर्व-द्राविड मानी है। इस प्रजाति के अन्तर्गत वे सभी जगली जनजातियाँ (Jungle Tribes) आ जाती हैं जो कि द्राविड जाति के भारत मे आने से पूर्व यहाँ निवास करती थी। इन विभिन्न जनजातियो के सदस्यो मे स्पष्ट प्रजातीय समानताएँ थी। इसी कारण श्री हड्डन ने इन्हे एक ही प्रजाति के अन्तर्गत माना है। आपका अनुमान है कि द्राविड प्रजाति सबसे पहले पश्चिमी बगाल मे गगा की घाटी मे रहती होगी। इसके बाद इस प्रजाति के लोग देश के अनेक स्थानो मे घूमते हुए अन्त मे मुख्यत छोटा नागपुर मे आकर बसे होगे। आर्य-भाषा बोलने वाली प्रजाति ईसा के लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत मे सर्वप्रथम आयी थी।[13] भारतीय जनसख्या मे चौडे सिर वाले व्यक्ति, जैसा कि पहले ही कहा गया है, श्री हड्डन के अनुसार आल्पाइन प्रजातीय तत्त्व के होने का प्रमाण है, यद्यपि इस प्रजाति के भारत आकर बसने का इतिहास अभी अधूरा ही है। भारत मे मगोल प्रजाति का प्रवेश भारत के पूर्व तथा उत्तर-पूर्व की ओर से हुआ है, ऐसा अनुमान श्री हड्डन का है। इस प्रकार श्री हड्डन ने भारत की जनसख्या मे पाँच प्रजातीय तत्त्वो का समावेश पाया जो क्रम से (अ) प्राग या पूर्व द्राविड (Pre-Dravidian), (ब) द्राविड (Dravidian), (स) इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan), (द) इण्डो-आल्पाइन, और (य) मगोल (Mongolian) है।[14]

(३) हट्टन (Hutton)—श्री जे० एच० हट्टन का कथन है कि यद्यपि भारतीय प्रजातियो के सम्बन्ध मे उनका मत अन्तिम (final) नही है, फिर भी उन्होने अब तक के प्राप्त तथ्यो के आधार पर अविकृत रूप मे प्रजातियो का विश्लेषण एव निरूपण करने का प्रयत्न किया है। आपके मतानुसार भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति नीग्रिटो (Negrito) है जिनकी जन्मभूमि अफ्रीका है। ये अफ्रीका से अरब होते हुए, ईरान और बिलोचिस्तान के समुद्रतट के साथ चलते हुए भारत आये थे।[15] चूँकि इन्हे इनके बाद आने वाली प्रजातियो ने पूर्णतया नष्ट कर दिया था, इस कारण नीग्रिटो प्रजाति का कोई चिन्ह अब भारत के मुख्य भागो मे नही है। नीग्रिटो प्रजाति के बाद

---

13 "The Dravidians may have been the original inhabitants of the valley of the Ganges in Western Bengal After many wanderings, apparently across India, they settled mainly in Chhota Nagpur" "The Aryan-speaking people first migrated into India early in the second millennium B C" A C Haddon, *cf* D N Majumdar, *op cit*, p 30

14 *Ibid*, pp 30-31

15 *Census of India, op cit*, p 442

भारत मे आने वाली दूसरी प्रजाति प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid) थी। श्री हट्टन का मत है कि इस प्रजाति के लोगो के पूर्वज पैलेस्टाइन मे निवास करते थे और ये लोग भारत मे पश्चिम से आये थे। यह परिणाम पश्चिमी एशिया और भारत मे पाये गए पुराने कर्परो के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर निकाला गया है। इसके पश्चात् भारतवर्ष मे भूमध्यसागरीय (Mediterranean) प्रजाति का प्रवेश हुआ। इस प्रजाति का मूल स्थान सम्भवत. पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेश था। इस प्रजाति के लोग दो शाखाओ मे बँटकर भारत मे आये थे। इनमे पहली शाखा को खेती का ज्ञान था और दूसरी को धातुओ का प्रयोग आता था। श्री हट्टन का विश्वास है कि इस दूसरी शाखा ने सिन्धु-सभ्यता का विकास किया। भारतीय जनसख्या मे पाये जाने वाले चौडे सिर वाले लोग आलपाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा (Armenoid branch of Alpine Race) से सम्बन्धित हैं। ये लोग द्राविड भाषा बोलते थे और इन लोगो ने मेसोपोटामिया मे ईसा के चार हजार वर्ष पूर्व अपनी सस्कृति का पर्याप्त विकास कर लिया था। इसके बाद पूर्व की ओर से मगोल (Mongoloid) प्रजाति की एक शाखा दक्षिण की ओर धीरे-धीरे बढती हुई बगाल की खाडी और इडोनेशिया (Indonesia) तक फैल गयी। अन्त मे ईसा के १५०० वर्ष पूर्व इडो-आर्यन (Indo-Aryan) प्रजाति ने पजाब मे प्रवेश किया।

(४) गुहा (Guha)—डा० बी० सी० गुहा (B C Guha) ने भारतीय जनसख्या मे प्रजातीय तत्त्वो का जो विश्लेपण प्रस्तुत किया है वह सन् १६३१ की जनगणना के समय किये गए मानवमितीय (anthropometric) नापो पर आधारित है और श्री हट्टन के प्रजातीय वर्गीकरण से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। डा० गुहा के मतानुसार नीग्रिटो प्रजाति भारतवर्ष की सबसे प्राचीन प्रजाति है, परन्तु वर्तमान मे इस प्रजाति के प्रमुख लक्षण भारतीय जनसख्या मे अब बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ, नीग्रिटो प्रजाति के कुछ लक्षण कोचीन और ट्रावन्कोर की पहाडियो तथा आसाम मे रहने वाली एक-दो जनजातियो मे मिलते हैं। इसके बाद भारत मे प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति का प्रवेश हुआ था। इस प्रजाति के लोग सम्भवत पैलेस्टाइन से आये थे। इनके तथा आस्ट्रेलिया के मूल निवासियो की शारीरिक विशेषताओ मे अनेक समानताएँ थी। प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के बाद भारत मे आने वाली एक दूसरी प्रजाति मगोलॉयड थी। भारत मे इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाओ का प्रवेश हुआ है—प्रथम शाखा प्राचीन मगोलॉयड तथा दूसरी शाखा तिब्बती-मगोलॉयड है। भारतीय जनसख्या मे पायी जाने वाली एक और प्रजाति भूमध्यसागरीय है। भारत मे इस प्रजाति की कई शाखाएँ तथा नमूने आये हैं। डा० गुहा के अनुसार भारतवर्ष मे चौडे सिर केवल आर्मीनॉयड शाखा की देन नही हैं, वल्कि यहाँ के चौडे सिर वाले लोग आल्पाइन, डिनारिक तथा आर्मीनॉयड, इन तीन प्रजातियो से सम्बन्धित हैं। इन प्रजातियो के अतिरिक्त भारतीय जनसख्या मे नॉर्डिक प्रजातीय तत्त्व का भी समावेश है। डा० गुहा ने अपने प्रजातीय विश्लेपण का उपसहार निम्न शब्दो मे दिया है—"यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि भारत मे प्रजातियो का कोई दृढ विभाजन

या पृथक्करण सम्भव नही है क्योकि यहाँ विभिन्न प्रजातीय तत्त्व एक-दूसरे के क्षेत्र मे मिले जुले पाये गए हैं। फिर भी मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत नॉर्डिक लोगो का क्षेत्र है और वे भूमध्यसागरीय तथा पूर्वी-प्ररूप(oriental type) के साथ मिले हुए है। इस क्षेत्र को प्रायद्वीपीय दक्षिण भारत से स्पष्ट रूप से पृथक् किया जा सकता है जहाँ कि प्राचीन-भूमध्यसागरीय तत्त्व पाया जाता है। इस क्षेत्र के दोनो ओर अन्य प्रजातीय प्रकारो से मिले हुए आल्पो-डिनारिक क्षेत्र है। आदिम काले तत्त्व (primitive darker element) सर्वत्र अन्य प्रजातियो, विशेपकर प्राचीन भूमध्यसागरीय प्रजाति सें मिश्रित हैं और जनसख्या के निम्नभाग का निर्माण करते हैं। मगोलॉयड उत्तरी तथा पूर्वी पहाडो के निचले भागो मे पाये जाते है और कई स्थानो पर जनसख्या के निर्माण मे इनका बहुत बडा योग रहा है।"[16]

डा० गुहा का उपर्युक्त वर्गीकरण प्रजातीय दृष्टि से भारतीय समाज का प्राय पूर्ण विश्लेपण है और इसके नीग्रिटो तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सभी बातो को अधिकांश विद्वान स्वीकार करते है। डा० डी० एन० मजुमदार (D N Majumdar) तथा कुछ अन्य विद्वान श्री हट्टन और डा० गुहा के इस मत से सहमत नही है कि नीग्रिटो भारतवर्प की मबसे पुरानी प्रजाति है। इन विद्वानो ने नीग्रिटो तत्त्व के विरोध मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं।

नीग्रिटो प्रजाति के सम्बन्ध मे मतभेद
(Disagreement about Negrito Strain)

डा० मजुमदार ने इस मत की कडी आलोचना की है कि भारतवर्प की सवसे पुरानी प्रजाति नीग्रिटो है। आपने अनेक विद्वानो के अनुसधानो तथा निष्कर्षो को आधार मानकर जिन युक्तियो को प्रस्तुत किया है, वे निम्न हैं[17] —

(१) अगर नीग्रिटो यहाँ की प्राचीनतम प्रजाति होती तो इसका प्रभाव और चिह्न भारत के मूल भागो मे अवश्य ही होता। परन्तु ऐसा नही है, न तो उत्तरी न ही दक्षिणी भारत मे इस प्रजाति के स्पष्ट लक्षण देखने को मिलते है। हाँ, अण्डमान द्वीप मे इस प्रजाति के लक्षण अवश्य ही मिलते है, परन्तु यह कल्पना करनी कदापि उचित और वैज्ञानिक न होगी कि इस प्रजाति के लोग अण्डमान द्वीप से आकर भारत-वर्ष मे फैले तथा इस बृहत् देश की जनसख्या मे अपने प्रभावो को विस्तृत किया। इसी कारण श्री रिजले (Risley) ने स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि अण्डमानी लोगो ने भारत की जनसख्या के निर्माण मे कोई भाग नही लिया।[18] सर विलियम फाउलर (Sir William Fowler) तथा सर विलियम टर्नर (Sir William Turner) भी इस मत से सहमत हैं। इन दोनो विद्वानो का मत है कि अण्डमान निवासियो की खोपडी द्राविड लोगो की खोपडी से अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो मे भिन्न है तथा सर टर्नर का

16 B C Guha, *Racial Elements in Indian Population,* Oxford Pamphlet on Indian Affairs No 22, Oxford University Press, Bombay, 1944, p 26
17 D N Majumdar, *op cit*, pp 34-36
18 H H Risley, *op cit*, p 32

कथन है कि भूतकाल मे या वर्तमान मे भारतीय जनसख्या मे नीग्रिटो तत्त्व होने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण अभी तक प्राप्त नही हो पाया है। श्री एल० ए० के० अय्यर (L A K Iyer) ने ट्रावन्कोर-कोचीन की कादर, उराली, कनिकर आदि जनजातियो मे कुँचित (Frizzly) केश को देखकर भारत मे नीग्रिटो तत्त्व होने की बात कही है, परन्तु श्री अय्यर ने न तो यह बताया है कि कुँचित केश का लक्षण इन जनजातियो के कितने लोगो मे और किस मात्रा मे पाया जाता है और न ही इनके बालो की अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा ऐसी कोई परीक्षा की गयी है जिससे श्री अय्यर के निष्कर्ष की पुष्टि हो सके। साथ ही, केवल कुँचित केश के आधार पर किसी समूह के लोगो को नीग्रिटो प्रजाति का समझ लेना कदापि उचित न होगा। श्री ऐयप्पन (Aiyappan) द्वारा किये गए अनुसन्धानो से भी यह प्रमाणित होता है कि भारतीय जनसख्या मे नीग्रिटो प्रजातीय तत्त्व वास्तव मे नहीं है। आपने लिखा है कि दक्षिण भारत मे दो-एक जनजातियो के मुट्ठी-भर व्यक्तियो मे नीग्रिटो प्रजाति की विशेषताएँ मिलती हैं परन्तु उन जनजातियो के अधिकाश लोगो की विशेषताएँ प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति की भाँति है। श्री ऐयप्पन के अनुसार उक्त जन जातियो को मैदानो मे रहने वाले लोगो से प्रजातीय दृष्टि से पृथक् मानना गलत होगा। यद्यपि कादर आदि जनजातियो के कुछ लोगो मे कुँचित केश पाये जाते हैं, पर इस विशेषता को रखने वाले व्यक्तियो की सख्या उँगलियो पर गिनी जा सकती है। अधिकाँश जनजातियाँ प्रजातीय दृष्टि से आस-पास के प्रदेशो के मैदानी भाग मे रहने वाले उन लोगो से भिन्न नही हैं जोकि प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय लक्षण वाले हैं।[19] भारतीय जनसख्या मे नीग्रिटो प्रजातीय तत्त्व होने के विपक्ष मे एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि सन् १८७७ मे सर्वप्रथम भारतीय जनता मे नीग्रिटो तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले फ्रेंच विद्वान श्री क्वात्रेफेजेस (Quatrefages) ने नीग्रिटो लोगो को चौडे सिर वाला (brachy cephalic) बताया था और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह सही भी है। परन्तु डा० गुहा ने कादर जनजाति को लम्बे सिर वाला (dolicho cephalic) बतलाया है। इस कारण कादर जनजाति के लोग, जो कि डा० गुहा के सिद्धान्त के प्रमुख आधार है, नीग्रिटो प्रजाति के नही कहे जा सकते।

(२) रक्त-समूहो (blood groups) की परीक्षा से भी भारत की जनसख्या मे नीग्रिटो प्रजातीय तत्त्व का होना प्रमाणित नही होता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नीग्रिटो लोगो मे 'बी' रक्त-समूह अधिक मात्रा मे पाया जाता है जब कि भारत के आदिवासियो मे 'ए' रक्त की प्रतिशत मात्रा अधिक मिलती है और जिन जनजातियो में 'बी' रक्त की मात्रा अधिक भी है जैसे मुण्डा और भील, उनमे नीग्रिटो लोगो की कोई अन्य विशेपता नही पायी जाती। सक्षेप मे, भारतीय जनजातियो मे 'ए' रक्त-समूह की प्रधानता है और यह 'ए' रक्त-समूह भी प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजाति की ओर सकेत करता

19 For detailed discussion see A Aiyappan, *Report on the Socio-Economic Conditions of the Aboriginals Tribes in the Province of Madras*, Madras Govt Press, 1948

है। श्री एस० सी० सरकार (S C Sarkar) को भी मानवमिति तथा लसीविद्या (Serology) के आधार पर नीग्रिटो तत्त्व के सम्बन्ध मे कोई निर्भरयोग्य प्रमाण नही मिले हैं।[20]

उपर्युक्त अनुसन्धानो, प्रमाणो तथा निष्कर्षों के आधार पर डा० मजुमदार का कथन है कि "प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड या इण्डो-आस्ट्रेलॉयड को भारतवर्ष के सबसे आदिकालीन निवासी मान लेने के एकाधिक कारण है।"[21]

भारत में प्रजातीय तत्त्व और उसका वर्गीकरण
(Race Element in India and Its Classification)

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि भारत की जनसख्या का आधार अनेक प्रजातीय तत्त्व हैं, जिनका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। उनमे से कुछ प्रमुख वर्गीकरण निम्नलिखित हैं —

(१) रिज़ले का वर्गीकरण
(Classification by Risley)

सर रिजले ने भारतवर्ष की जनसख्या मे सात प्रजातीय तत्त्वो का उल्लेख किया है। वे निम्नलिखित हैं[22] —

(१) **तुर्को-ईरानियन** (Turko-Iranian)—बिलोचिस्तान के बलोच और ब्राहुई लोग और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के अफगान इसी प्रजाति के लोग हैं। ये लोग तुर्की और ईरानी तत्त्वो के समिश्रण हैं। औसत से ऊँचा कद, गोरा रग, प्राय काली पर कभी-कभी धूसर (grey) आँखें, चौडा सिर, नाक लम्बी और बाल अधिक इस प्रजाति के मुख्य शारीरिक लक्षण है।

(२) **इण्डो-आर्यन** (Indo-Aryan)—इस प्रजाति के लोग पजाब, राजपूताना और काश्मीर मे पाये जाते हैं। इनके मुख्य शारीरिक लक्षण निम्न हैं—कद प्राय ऊँचा, रग गोरा, आँखें काली, चेहरे पर बाल घने, सिर लम्बा, नाक पतली और सुन्दर पर अधिक लम्बी नही।

(३) **सीथो-द्राविडिन** (Scytho-Dravidian)—इस प्रजाति के लोग मध्य प्रदेश, सौराष्ट्र और कुर्ग के पहाडी क्षेत्रो मे अधिकतर पाये जाते हैं। इसके मुख्य प्रतिनिधि गुजरात के नागर ब्राह्मण, महाराष्ट्र के मराठा ब्राह्मण और कुर्गवासी कुर्ग हैं। इस प्रजाति का निर्माण सीथियन और द्राविड तत्त्वो के सम्मिश्रण से हुआ है। इनकी मुख्य शारीरिक विशेषताएँ निम्न हैं—चौडा सिर, गोरा रग, दाढी-मूँछ का कम उगना, मध्यम कद, नाक सुन्दर, पर अधिक लम्बी नही।

(४) **आर्यो-द्राविडियन** (Aryo-Dravidian)—इस प्रजाति के लोग पजाब

---

20 S C Sarkar, *The Aboriginal Races of India*, 1954 pp 70-91

21 "There are therefore more reasons than one, we think, to regard the earliest inhabitants of India as proto-Australoids or Indo-Australoids" D N Majumdar, *op cit*, p 46

22 H H Risley, *The People of India*, 1915, pp 32-61

पहाडियो मे रहने वाली कादर और पलयन नामक जनजातियो मे, आसाम के अगामी नागाओ मे और पूर्वी बिहार की राजमहल की पहाडियो की जनजातियो मे मिलते हैं।

(२) **प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड** (Proto-Australoid)—इस प्रजाति के लोगो के सिर लम्वे, कद छोटा, बाल घुंघराले, खाल का रग चॉकलेटी, नाक चौडी और होठ मोटे होते हैं। इनके बालो का रग काला और आँखो का काला और भूरा होता है। मध्य भारत की अधिकाश जनजातियाँ इसी प्रजाति की हैं। दक्षिण भारत मे भी ये लोग पाये जाते है। भील और चेनचू जनजातियाँ इसी प्रजाति की मानी जाती हैं।

(३) **मगोलॉयड** (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोगो की प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ पीला या भूरा रग, चपटा चेहरा, गालो की हड्डियाँ उभरी हुई, नाक छोटी और चपटी, सिर चौडा, और होठ मोटे होते है। भारत मे इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाएँ हैं—प्रथम शाखा प्राचीन मगोलॉयड है। इनमे लम्वे सिर और चौड़े सिर, यह दो भेद होते हैं। लम्बे सिर वाले आसाम और सीमान्त प्रान्त मे बसी जनजातियो मे, और चौडे सिर वाले चटगाँव तथा बर्मा मे पाये जाते हैं। दूसरी शाखा तिब्बती मगोलॉयड है। ये लोग सिक्किम और भूटान मे तिब्बत से आकर बस गये हैं।

(४) **भूमध्यसागरीय** (Mediterranean)—इस प्रजाति के लोगो की सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं—मध्यम कद, लम्वे सिर, हल्का भूरा रग, चौडा मुँह, पतले होठ और घुंघराले वाल। भारत मे इसकी तीन शाखाएँ हैं, पर सभी लम्वे सिर वाले हैं। इन तीन शाखाओ मे सबसे पुरानी उप-प्रजाति प्राचीन-भूमध्यसागरीय है जो कि कन्नड, तामिल तथा मलयालम भाषा-भाषी प्रदेशो मे पायी जाती है। दूसरी शाखा भूमध्यसागरीय है जो पजाब और गगा की ऊपरी घाटी मे मिलती है, और तीसरी शाखा पूर्वी-प्ररूप है जो पजाव, सिन्ध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे पायी जाती है।

(५) **पश्चिमी चौडे सिर वाले** (Western Brachy Cephalic)—भारतवर्ष की जनसख्या मे इस प्रजाति के भी तीन प्रकार हैं। पहला प्रकार आल्पाइन (Alpainoid) है। इसका सवसे महत्त्वपूर्ण शारीरिक लक्षण चौडा सिर है। इसके अतिरिक्त मध्यम कद, नाक छोटी पर ऊँची और खाल का रग पीलेपन के साथ भूरा होता है। यह गुजरात मे विशेष रूप से पायी जाती है और मध्य भारत, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार मे भी कही-कही मिलती है। इस प्रजाति की दूसरी शाखा डिनारी (Dinaric) है। यह बगाल, उडीसा, काठियावाड, कन्नड और तामिल भाषा-भाषी प्रदेश मे मिलती है। कुर्ग मे इस शाखा का सबसे शुद्ध रूप मिलता है। इस प्रजाति की तीसरी शाखा आर्मीनॉयड है। वम्बई के पारसी लोग इस शाखा के ही प्रतिनिधि हैं।

(६) **नॉडिक** (Nordic)—इस प्रजाति के लोगो के प्रमुख शारीरिक लक्षण लम्वे सिर, ऊँची और पतली नाक, लम्वे कद, पतले होठ, वाल सीधे और साधारण घुंघराले और रग गोरा या गेहुँआ होता है। इस प्रजाति के लोग सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी तथा स्वात, पचकोटा, कुनार, चितराल नदियो की घाटियो मे और हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण मे मिलते हैं। ये काश्मीर, पजाव और राजस्थान मे भी फैले हुए है।

उत्तरी भारत में प्रजातीय तत्त्व
(Race Element in Northern India)

(१) रिज़ले (Risley)—उत्तरी भारत मे एकाधिक प्रजातियो का एक अच्छा जमघट है। अगर हम सर रिज़ले के प्रजातीय प्रकारो को आधार मानें तो उत्तरी भारत मे निम्न प्रजातीय तत्त्व स्पष्ट हैं —

(क) इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)— इस प्रजाति के लोग पजाब और काश्मीर मे पाये जाते है। इसके सर्वोत्तम प्रतिनिधि पजाबी खत्री और काश्मीरी ब्राह्मण हैं।

(ख) आर्यो-द्राविडियन (Aryo-Dravidian)—यह प्रजाति पजाब की पूर्वी सीमा से बिहार के दक्षिणी छोर तक फैली हुई है। यह प्रजातीय तत्त्व गगा-यमुना की घाटियो और हिमालय की तलहटी मे पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश की जनसख्या में इस प्रजाति के लोग विशेष रूप से पाये जाते है।

(ग) मगोलॉयड (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोग विशेषकर हिमालय और नेपाल मे पाये जाते हैं। उत्तर-पूर्वी भारत मे इनकी सख्या अधिक है।

(२) गुहा (Guha)—यदि हम डा० बी० एस० गुहा के प्रजातीय वर्गीकरण को आधार मानते हैं तो उत्तरी भारत मे निम्नलिखित प्रजातीय तत्त्व हैं.—

(क) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)—इस प्रजाति के लोग विशेषकर पजाब और गगा की ऊपरी घाटी मे बसे हुए हैं। इसी प्रजाति की एक दूसरी शाखा पूर्वी-प्ररूप (Oriental Type) के लोग मुख्य रूप से पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे पाये जाते हैं।

(ख) आल्पाइन (Alpinoid)—इस प्रजाति के कुछ लोग उत्तर प्रदेश मे मिलते हैं।

(ग) मगोल (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोग उत्तरी भारत मे पहाडो के निचले भागो मे पाये जाते हैं।

(घ) नॉर्डिक (Nordic)—इस प्रजाति के लोग पजाब और गगा की ऊपरी घाटी मे अन्य प्रजातियो के साथ समिश्रित रूप मे पाये जाते हैं।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना और भारत के प्रजातीय इतिहास से एक बात स्पष्ट ही है कि भारत की जनसख्या के निर्माण मे एक नही अनेक प्रजातियो का योग रहा है। ये विभिन्न प्रजातियाँ विभिन्न समय मे भारत आयी और एक-दूसरे से मिश्रित होती रही। सबमे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि भारत की सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि इनमे से प्रत्येक प्रजाति को इनमे कोई न कोई स्थान मिल ही गया और वे यहाँ के सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे की एक अभिन्न अग बन गयी। इससे उनको आपस मे समिश्रित होने के अधिक अवसर प्राप्त हो सके। ऐसी परिस्थिति मे किसी भी प्रजाति के लिये यह सम्भव न था कि वह अपने शुद्ध रूप को बनाये रक्खे। यही कारण है कि आज ससार के अन्य

देशो की भाँति भारत मे भी कोई विशुद्ध प्रजाति नही है। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि "स्मरणातीत युगो से भारत परस्पर विरोधी प्रजातियो और सभ्यताओ का सगमस्थल रहा है और इनमे आत्मसात्करण तथा समन्वय की प्रक्रियाएँ चलती रही हैं।" और इसी कारण यह कहने मे भी अतिशयोक्ति न होगी कि "भारत प्रजातियो का एक अजायबघर है" (India is a museum of races) या "भारत प्रजातियो का एक द्रावणपात्र है" (India is a melting pot of the races)।

SELECTED READINGS

1 Aiyappan, A *Report on the Socio-economic Conditions of the Aboriginals Tribes in the Province of Madras*, Madras Govt Press, 1948

2 Guha, B C *Racial Elements in Indian Population*, Oxford University Press, Bombay, 1944

3 Govt of India Publication *Census of India*, 1931, Vol I, Part I

4. Majumdar, D N *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958

5 Risley, H H *The People of India*, 1915

७

संस्कृति की अवधारणा

(CONCEPT OF CULTURE)

विषय-सूची—सप्तम अध्याय

१. भूमिका—मानव सस्कृति-निर्माता के रूप मे
२ सस्कृति की परिभाषा
३ सस्कृति की प्रकृति
४ सस्कृति के सम्बन्ध मे कुछ विरोधाभास
५ सस्कृति के उपादान
(क) सास्कृतिक तत्त्व
(ख) सस्कृति-सकुल
(ग) सस्कृति-प्रतिमान
(घ) सांस्कृतिक क्षेत्र
६ सस्कृति का विकास
(अ) उद्विकास
(ब) प्रसार
(स) नवीनीकरण
(द) सस्कृतीकरण
७ सस्कृति का सगठन
(क) प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
(ख) सरूपणात्मक दृष्टिकोण
(ग) लयात्मक दृष्टिकोण
८ सस्कृति व व्यक्तित्व
९ व्यक्तित्व की आधारभूत सरचना
१०. प्रजाति और सस्कृति

अध्याय ७

संस्कृति की अवधारणा
(Concept of Culture)

भूमिका—मानव : सस्कृति-निर्माता के रूप मे
(Introduction—Man as a Creator of Culture)

मनुष्य एक अनोखा प्राणी है, और वह अनोखा इसलिये हो पाया है कि वह सस्कृति का निर्माता है। यह सस्कृति ही है जो कि मनुष्य को अन्य सभी पशुओ से अलग कर देती है। इमीलिये प्राय यह कहा जाता है कि सस्कृति का उद्भव मानव के मध्य ही होता है। पशु सस्कृति के अधिकारी नही होते और यदि होते भी हैं तो वह नाम मात्र के लिये या 'ना' के बराबर। किसी ने सच कहा है कि "मनुष्य के पास से उसकी सस्कृति को छीन लीजिये, जो कुछ शेष रहेगा वह निश्चय ही मानव नही, बल्कि एक प्रकार का बन्दर।" इसी कारण श्री हॉवल का कथन है कि सस्कृति अनोखे रूप मे एक मानव-घटना (human phenomenon) है और वह इस अर्थ मे कि पशु जगत् मे अन्य सभी प्राणियो मे मनुष्य ही अकेला एक ऐसा प्राणी है जो कि सस्कृति को बनाने और उसे बनाये रखने की क्षमता रखता है। इसी सस्कृति की अवधारणा (concept) की सहायता से मानव के सम्बन्ध मे अनेक रहस्यो (mysteries) का उद्घाटन होता है।

यह सच है कि मानव सस्कृति का निर्माता है, फिर भी सस्कृति-निर्माण की क्षमताएँ मानव को प्रकृति से ही मिली हैं और वह इस अर्थ मे कि मानव को प्रकृति से कुछ इस प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ या क्षमताएँ मिल गयी हैं जिनके सम्मिलित उपयोग से सस्कृति का निर्माण मनुष्य के लिये सम्भव हो गया है। श्री ह्वाइट (White) ने प्रकृति से मानव को प्राप्त इस प्रकार की पांच क्षमताओ का उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् हैं[1] —

(१) मानव की सीधे खडे हो सकने की क्षमता जिसके कारण मनुष्य उन्ही हाथो को, जिन्हे कि दूसरे पशु चलने के काम मे लाते हैं, दूसरे उपयोगी कार्यो मे लगा सकता है।

(२) स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा-सकने-वाले हाथ (opposable thumb) जिनकी सहायता से मानव वस्तुओ को अधिक अच्छी तरह और सरलता से पकड सकता है। मानव के हाथो मे स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने की क्षमता उसे इस इस योग्य

1 Leslie A White, *The Evolution of Culture*, McGraw-Hill Book Co, New York, 1959, p 3

बना देती है कि वह सामान्य तीर-धनुष से लेकर वडी से वडी मशीनो को भी सरलता से चला सकता है और उनपर नियन्त्रण कर सकता है। यदि यह क्षमता न होती तो वास्तुकला (architecture) से लेकर चित्रकला तक कोई भी रचनात्मक सृष्टि मानव के लिये सम्भव न होती।

(३) मानव की तीक्ष्ण एव केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि (stereoscopic and chromatic vision) जिसके कारण मानव को यह योग्यता प्राप्त है कि वह प्राकृतिक तथा अन्य घटनाओ (phenomena) का निरीक्षण करे और उनके सम्बन्ध मे नयी-नयी खोज करे।

(४) मेधावी मस्तिष्क जिसकी सहायता से मनुष्य अन्य पशुओ से कही अधिक अच्छी तरह विचार सकता है, योजना वना सकता है, तर्क प्रस्तुत कर सकता है, और कार्य-कारण सम्वन्ध को ढूंढ सकता है। समस्त आविष्कार इसी मेधावी मस्तिष्क की उपज होते हैं, जो नित्य नयी शक्ति से मानव को शक्तिवान बनाता रहता है। इस प्रकार मेधावी मस्तिष्क मानव का सबसे प्रमुख बल है। कुछ विद्वान इस सत्य को स्वीकार नही करते। उदाहरणार्थ, श्री डार्विन (Darwin) ने यह घोषणा की थी कि मानसिक क्षमताओ के विषय मे मनुष्य तथा ऊँची जाति के दूध पिलाने वाले जानवरो (higher mammals) मे कोई भी आधारभूत अन्तर नही है, उनमे जो कुछ भी अन्तर है वह मुख्यत यह है कि मनुष्य मे विविध प्रकार की आवाज तथा विचारो को जोडने की अत्यधिक शक्ति है, और इस अर्थ मे उच्च जाति के जानवरो तथा मनुष्यो की मानसिक शक्ति मे जो अन्तर है वह प्रकार (kind) का नही, वल्कि मात्रा (degree) का है।[2] प्रोफेसर लिन्टन (Professor Ralph Linton) का भी कथन है कि "मनुष्यो तथा पशुओ के व्यवहारो मे अनेक अन्तर हैं, परन्तु ये अन्तर मात्रा (quantity) के हैं, न कि प्रकार (quality) के।" हम इन विचारो से सहमत नही हो सकते क्योकि यह प्रमाणित करना कठिन नही कि मनुष्यो तथा पशुओ की मानसिक शक्ति मे अन्तर केवल मात्रा का नही वल्कि प्रकार का भी है। इसी अन्तर के कारण मनुष्य अनेक ऐसे काम कर सकता है जो पशुओ के लिये करने असम्भव हैं। केवल मनुष्य ही गगाजल मे और नल के पानी मे अन्तर वता सकता है, कोई भी कुत्ता, विल्ली या वन्दर इस अन्तर को नही समझ सकता, केवल मनुष्य ही वहन और वहू मे अन्तर जानता है, कोई पशु नहीं, केवल मनुष्य ही धनुष-वाण से लेकर जहाज तक वना सकता है, कोई भी जानवर ये काम कर सकता है, यह सोचना भी मूर्खता है। केवल मनुष्य ही जादू का चमत्कार दिखा सकता है, कोई भी पशु नही, केवल मनुष्य का ही भगवान, शैतान, दानव-देवता, स्वर्ग और नरक होता है केवल मनुष्य ही अमरत्व को अनुभव करता है, मृत्यु को जानता

2 "There is no fundamental difference between man and the higher mammals in their mental faculties," that the difference between them consists "solely in his (man's) almost infinitely larger power of associating together the most diversified sounds and ideas . the mental powers of higher animals do not differ in kind, though greatly in degree, from corresponding powers of man" Charles Darwin, *The Descent of Man*, 1904, Chapter 3, p 18

है, कोई भी पशु नही। ये सभी अन्तर मनुष्य तथा पशु के मस्तिष्क मे केवल मात्रा-भेद के कारण ही नही, बल्कि प्रकार-भेद के कारण ही सम्भव हैं। यह प्रकार-भेद ही मनुष्य की शक्ति है, मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने मे सहायक है।

(५) मानव को सस्कृति-निर्माता के रूप मे प्रतिष्ठित करने मे मानव की भाषा और प्रतीको (symbols) के माध्यम से विचारो के आदान-प्रदान की क्षमता सर्वप्रमुख है। यह सच है कि बहुत से पशु, जैसा कि श्री डार्विन (Darwin) बहुत पहले ही लिख गये हैं, शब्दो और वाक्यो को समझते हैं, फिर भी यह केवल मनुष्य ही है जो कि प्रतीको (symbols) को जन्म देता है और उनको अर्थयुक्त (meaningful) करता है। इन अर्थपूर्ण प्रतीको को भाषा के माध्यम से व्यक्त करने की तथा तद्द्वारा विचारो के आदान-प्रदान करने की क्षमता मनुष्य मे अनोखी है जो कि किसी भी पशु की क्षमता से परे है। भाषा के द्वारा मनुष्य ज्ञान और विज्ञान को प्राप्त करता है। मनुष्य और पशु मे जो सबसे बडा अन्तर है, वह भाषा का ही है। भाषा के न होने से पशुओ मे ज्ञान का अभाव और इसलिये सस्कृति का भी अभाव है। पशु अपने अनुभवो को दूसरो तक नही पहुँचा सकते, परन्तु मनुष्य भाषा व प्रतीको के सहारे अपने ज्ञान और अनुभव को एक पीढी से दूसरी पीढी तक पहुँचा सकता है। इन भाषा व प्रतीको के सहारे प्रत्येक समाज मे बचपन से ही मनुष्य को अनुभव का पुज मिलता है और नवीन सास्कृतिक तत्वो का जन्म, सास्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता तथा निरतरता सम्भव होती है। अत स्पष्ट है कि सस्कृति के निर्माण, विकास, परिवर्तन तथा विस्तार मे भाषा और प्रतीको का बहुत बडा योग है।

संस्कृति की परिभाषा
(Definition of Culture)

सस्कृति की परिभाषाएँ असख्य है। अलग-अलग विद्वानो ने अपने-अपने ढग से सस्कृति को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। साहित्यकारो के लिये सस्कृति जीवन का प्रकाश और कोमलता है। कुछ विद्वान सस्कृति से नैतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उन्नति समझते हैं। शाब्दिक अर्थ मे 'सस्कृति' शब्द 'सस्कार' का रूपान्तर है। एक हिन्दू को अपने जीवन को परिमार्जित करने के लिये अनेक प्रकार के सस्कारो को करना पडता है और उसके बाद वह कही 'सस्कृत' (परिमार्जित या cultured) कहा जाता है। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक एक हिन्दू की शुद्धि (refinement) के लिये आवश्यक कृत्यो या सस्कारो की योजना को 'सस्कृति' मान लिया जाता है। उसी तरह इतिहासकारो के लिये एक देश का कलात्मक अथवा बौद्धिक विकास ही सस्कृति है।

परन्तु मानवशास्त्री 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ मे करते है। उनके लिये सस्कृति सीखे हुए व्यवहार (learned behaviour) की वह समग्रता है जिसमे कि एक बच्चे का व्यक्तित्व पलता और पनपता है। प्रारम्भिक मानवशास्त्रियो मे श्री टायलर (Tylor) ने सर्वप्रथम सस्कृति शब्द को परिभाषित किया और इस शब्द का विस्तृत प्रयोग अपनी कृतियो मे किया। आपके अनुसार, "सस्कृति वह जटिल समग्रता

बना देती है कि वह सामान्य तीर-धनुष से लेकर बडी से बडी मशीनो को भी सरलता से चला सकता है और उनपर नियन्त्रण कर सकता है। यदि यह क्षमता न होती तो वास्तुकला (architecture) से लेकर चित्रकला तक कोई भी रचनात्मक सृष्टि मानव के लिये सम्भव न होती।

(३) मानव की तीक्ष्ण एव केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि (stereoscopic and chromatic vision) जिसके कारण मानव को यह योग्यता प्राप्त है कि वह प्राकृतिक तथा अन्य घटनाओ (phenomena) का निरीक्षण करे और उनके सम्बन्ध मे नयी-नयी खोज करे।

(४) मेधावी मस्तिष्क जिसकी सहायता से मनुष्य अन्य पशुओ से कही अधिक अच्छी तरह विचार सकता है, योजना बना सकता है, तर्क प्रस्तुत कर सकता है, और कार्य-कारण सम्बन्ध को ढूंढ सकता है। समस्त आविष्कार इसी मेधावी मस्तिष्क की उपज होते हैं, जो नित्य नयी शक्ति से मानव को शक्तिवान बनाता रहता है। इस प्रकार मेधावी मस्तिष्क मानव का सबसे प्रमुख बल है। कुछ विद्वान इस सत्य को स्वीकार नही करते। उदाहरणार्थ, श्री डार्विन (Darwin) ने यह घोषणा की थी कि मानसिक क्षमताओ के विषय मे मनुष्य तथा ऊँची जाति के दूध पिलाने वाले जानवरो (higher mammals) मे कोई भी आधारभूत अन्तर नही है, उनमे जो कुछ भी अन्तर है वह मुख्यत यह है कि मनुष्य मे विविध प्रकार की आवाज तथा विचारो को जोडने की अत्यधिक शक्ति है, और इस अर्थ मे उच्च जाति के जानवरो तथा मनुष्यो की मानसिक शक्ति मे जो अन्तर है वह **प्रकार** (kind) का नही, बल्कि मात्रा (degree) का है।[2] प्रोफेसर लिन्टन (Professor Ralph Linton) का भी कथन है कि "मनुष्यो तथा पशुओ के व्यवहारो मे अनेक अन्तर हैं, परन्तु ये अन्तर **मात्रा** (quantity) के हैं, न कि **प्रकार** (quality) के।" हम इन विचारो से सहमत नही हो सकते क्योकि यह प्रमाणित करना कठिन नही कि मनुष्यो तथा पशुओ की मानसिक शक्ति मे अन्तर केवल **मात्रा** का नही बल्कि **प्रकार** का भी है। इसी अन्तर के कारण मनुष्य अनेक ऐसे काम कर सकता है जो पशुओ के लिये करने असम्भव हैं। केवल मनुष्य ही गगाजल मे और नल के पानी मे अन्तर बता सकता है, कोई भी कुत्ता, बिल्ली या बन्दर इस अन्तर को नही समझ सकता, केवल मनुष्य ही बहन और बहू मे अन्तर जानता है, कोई पशु नहीं, केवल मनुष्य ही धनुष-बाण से लेकर जहाज तक बना सकता है, कोई भी जानवर ये काम कर सकता है, यह सोचना भी मूर्खता है। केवल मनुष्य ही जादू का चमत्कार दिखा सकता है, कोई भी पशु नही, केवल मनुष्य का ही भगवान, शैतान, दानव-देवता, स्वर्ग और नरक होता है केवल मनुष्य ही अमरत्व को अनुभव करता है, मृत्यु को जानता

---

2 "There is no fundamental difference between man and the higher mammals in their mental faculties," that the difference between them consists "solely in his (man's) almost infinitely larger power of associating together the most diversified sounds and ideas the mental powers of higher animals do not differ in kind, though greatly in degree, from corresponding powers of man" Charles Darwin, *The Descent of Man*, 1904, Chapter 3, p 18

है, कोई भी पशु नही। ये सभी अन्तर मनुष्य तथा पशु के मस्तिष्क मे केवल मात्रा-भेद के कारण ही नही, बल्कि प्रकार-भेद के कारण ही सम्भव है। यह प्रकार-भेद ही मनुष्य की शक्ति है, मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने मे सहायक है।

(५) मानव को सस्कृति-निर्माता के रूप मे प्रतिष्ठित करने मे मानव की भाषा और प्रतीको (symbols) के माध्यम से विचारो के आदान-प्रदान की क्षमता सर्वप्रमुख है। यह सच है कि बहुत से पशु, जैसा कि श्री डार्विन (Darwin) बहुत पहले ही लिख गये हैं, शब्दो और वाक्यो को समझते है, फिर भी यह केवल मनुष्य ही है जो कि प्रतीको (symbols) को जन्म देता है और उनको अर्थयुक्त (meaningful) करता है। इन अर्थपूर्ण प्रतीको को भाषा के माध्यम से व्यक्त करने की तथा तद्द्वारा विचारो के आदान-प्रदान करने की क्षमता मनुष्य मे अनोखी है जो कि किसी भी पशु की क्षमता से परे है। भाषा के द्वारा मनुष्य ज्ञान और विज्ञान को प्राप्त करता है। मनुष्य और पशु मे जो सबसे बडा अन्तर है, वह भाषा का ही है। भाषा के न होने से पशुओ मे ज्ञान का अभाव और इसलिये सस्कृति का भी अभाव है। पशु अपने अनुभवो को दूसरो तक नही पहुँचा सकते, परन्तु मनुष्य भाषा व प्रतीको के सहारे अपने ज्ञान और अनुभव को एक पीढी से दूसरी पीढी तक पहुँचा सकता है। इन भाषा व प्रतीको के सहारे प्रत्येक समाज मे बचपन से ही मनुष्य को अनुभव का पुज मिलता है और नवीन सास्कृतिक तत्वो का जन्म, सास्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता तथा निरतरता सम्भव होती है। अत. स्पष्ट है कि सस्कृति के निर्माण, विकास, परिवर्तन तथा विस्तार मे भाषा और प्रतीको का बहुत बडा योग है।

संस्कृति की परिभाषा
(Definition of Culture)

सस्कृति की परिभाषाएँ असख्य है। अलग-अलग विद्वानो ने अपने-अपने ढग से सस्कृति को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। साहित्यकारो के लिये सस्कृति जीवन का प्रकाश और कोमलता है। कुछ विद्वान सस्कृति से नैतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उन्नति समझते हैं। शाब्दिक अर्थ मे 'सस्कृति' शब्द 'सस्कार' का रूपान्तर है। एक हिन्दू को अपने जीवन को परिमार्जित करने के लिये अनेक प्रकार के सस्कारो को करना पडता है और उसके बाद वह कही 'सस्कृत' (परिमार्जित या cultured) कहा जाता है। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक एक हिन्दू की शुद्धि (refinement) के लिये आवश्यक कृत्यो या सस्कारो की योजना को 'सस्कृति' मान लिया जाता है। उसी तरह इतिहासकारो के लिये एक देश का कलात्मक अथवा बौद्धिक विकास ही सस्कृति है।

परन्तु मानवशास्त्री 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ मे करते है। उनके लिये सस्कृति सीखे हुए व्यवहार (learned behaviour) की वह समग्रता है जिसमे कि एक बच्चे का व्यक्तित्व पलता और पनपता है। प्रारम्भिक मानवशास्त्रियो मे श्री टायलर (Tylor) ने सर्वप्रथम सस्कृति शब्द को परिभाषित किया और इस शब्द का विस्तृत प्रयोग अपनी कृतियो मे किया। आपके अनुसार, "सस्कृति वह जटिल समग्रता

(complex whole) है जिसमे ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा ऐसी ही अन्य क्षमताओ और आदतो का समावेश रहता है जिन्हे मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।"[3] इस परिभाषा मे इस बात पर बल दिया गया है कि संस्कृति मानव की सामाजिक विरासत (social heritage) है, यह व्यक्ति को समाज का 'उपहार' है जो कि उसे समाज के सदस्य के नाते प्राप्त होता है। और भी स्पष्ट रूप मे, श्री टायलर के अनुसार संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस 'सब कुछ' से होता है जिसे मानव अपने सामाजिक जीवन मे सीखता है या समाज से पाता है। संस्कृति प्रकृति की देन नही, बल्कि समाज की देन है, यह समाज का मानव को श्रेष्ठतम वरदान है। इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए श्री लैन्डिस (Landis) ने लिखा है कि "संस्कृति वह दुनिया है जिसमे कि एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाये रखता है।"[4]

श्री पिडिंगटन (Piddington) ने संस्कृति को एक दूसरे ढग से परिभाषित किया है। आपके शब्दो मे, "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनो या उपकरणो का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"[5] इस प्रकार श्री पिडिंगटन के अनुसार किसी भी मानव की संस्कृति मे दो प्रकार की घटनाओ (phenomena) का समावेश होता है—**प्रथमत**, भौतिक वस्तुएँ (material objects) जिन्हे कि मानव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये बनाता है जैसे, उपकरण, औजार, बर्तन, वस्त्र, मकान, मन्दिर, मूर्तियाँ आदि। **द्वितीयत**, ज्ञान, विश्वास, मूल्य (values) आदि अभौतिक या अमूर्त्त घटनाओ (phenomena) का भी समावेश संस्कृति मे होता है। संस्कृति के ये दोनो पक्ष एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

श्री बिडने (Bidney) ने अपनी परिभाषा मे संस्कृति के तत्त्वो का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि संस्कृति कृषि-सम्बन्धी तथ्यो (argo facts), प्राविधिक तथ्यो (arti facts), सामाजिक तथ्यो (soci facts) तथा मानसिक तथ्यो (menti facts की उपज है। दूसरे शब्दो मे, संस्कृति मे कृषि कला, प्रौद्योगिकी, सामाजिक सगठन, भाषा, धर्म, कला आदि का समावेश होता है।

प्रो० रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने संस्कृति को एक प्रतिमान (pattern) के रूप मे माना है। आपके शब्दो मे, "व्यक्ति की भाँति संस्कृति भी विचार और क्रिया

---

3 Culture is "that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom, and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society" E B Tylor, *Primitive Culture*, New York, 1874, p 1

4 "Culture then is, in a very vital sense, the world in which one lives and moves and has his being from the time he is first housebroken to the time he is ceremoniously laid down" —Landis

5 "The culture of a people may be defined as the sum total of the material and intellectual equipment whereby they satisfy their biological and social needs and adapt themselves to their environment" Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, pp 3-4

का एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान है।"[6] इस अर्थ मे सस्कृति एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान या व्यवस्था है जिसमे मानव के सामाजिक जीवन के विचारो और क्रियाओ का समावेश होता है। एक समाज की सस्कृति का अध्ययन करने से हमे यह पता चल सकता है कि उस समाज के सदस्यो ने क्या-क्या सोचा और क्या-क्या किया। इस प्रकार, सक्षेप मे, सस्कृति मानव की समस्त कीर्तियो तथा मानसिक उपजो की एक सुस्थिर प्रतिमान है। उपरोक्त परिभाषा मे 'प्रतिमान' शब्द पर अधिक बल दिया गया है क्योकि लेखिका के अनुसार सस्कृति कोई अव्यवस्थित व असबद्ध या बिखरी हुई व्यवस्था नही है, बल्कि इसके विभिन्न तत्त्व या अग एक-दूसरे से सबद्ध रहते हुए इस प्रकार क्रियाशील होते हैं कि वे एक प्रतिमान (pattern) की रचना करते है। यह प्रतिमान प्रत्येक समाज मे अलग-अलग होता है और प्रत्येक समाज मे इस प्रतिमान की सबद्धता (integration), सुस्थिरता तथा सम्पूर्णता की मात्रा (degree) भी भिन्न-भिन्न होती है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) के अनुसार, "सस्कृति प्राप्त आवश्यकताओ की एक व्यवस्था तथा उद्देश्यमूलक क्रियाओ की एक सगठित व्यवस्था है।"[7] आपके मतानुसार सस्कृति के अन्तर्गत जीवन के समग्र तरीके या ढग (total ways of life) आ जाते है जो कि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति करते है और उसे प्रकृति के बन्धनो मे मुक्त करते हैं। इम प्रकार श्री मैलिनोवस्की के अनुसार सस्कृति मानव का वह साधन है जिसके द्वारा या जिसके माध्यम मे वह अपने साधनो को प्राप्त करता है अर्थात् अपनी विभिन्न आवश्यक्ताओ की पूर्ति करता है।

श्री हॉबल (Hoebel) के मतानुसार उन सब व्यवहार-प्रतिमानो (behaviour pattern) की समग्रता को सस्कृति कहते हैं जिन्हे मानव अपने सामाजिक जीवन मे सीखता है। आपके शब्दो मे, "सस्कृति सबद्धित सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानो का सम्पूर्ण योग है जो कि एक समाज के सदस्यो की विशेषताओ को बतलाता है और जो, इसीलिये, प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नही होता है।"[8] श्री हॉबल के मतानुसार सस्कृति वशानुसक्रमण के द्वारा निर्धारित नही होती है। सस्कृति तो पूर्णतया सामाजिक आविष्कारो (social inventions) का परिणाम होती है। दूसरे शब्दो मे, सस्कृति सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन के रूप मे मानव का आविष्कार है। इसी कारण यह विचारो के आदान-प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित

---

6 "A culture, like an individual, is a more or less consistent pattern of thought and action Within each culture there come into being characteristics purposes not necessarily shared by other types of society" Ruth Benedict, *Patterns of Culture*, Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1934, p 46

7 Culture may be defined as "a system of derived needs and an organized system of purposeful activities" —Malinowski

8 "Culture is the sum total of integrated learned behaviour patterns which are characteristic of the members of a society and which are therefore not the result of biological inheritance" E A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co, New York, 1958, p 7

होती रहती है और इस प्रकार इसकी निरन्तरता बनी रहती है । अत , श्री हॉवल के अनुसार, सस्कृति मे किसी सामाजिक समूह विशेष की जीवन-विधि (life way) निहित होती है ।

सस्कृति की एक सक्षिप्त तथा उपयोगी परिभाषा श्री हर्षकाविट्स (Herskovits) ने दी है । आपके शब्दो मे, "सस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित (man-made) भाग है ।"[9] यह परिभाषा हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करती है कि मानव-जीवन दो प्रकार के पर्यावरणो मे पलता है—प्रथम तो प्राकृतिक पर्यावरण और दूसरा सामाजिक पर्यावरण । मानव का सम्पूर्ण सामाजिक पर्यावरण ही उसकी सस्कृति है । इस सामाजिक पर्यावरण को मानव स्वय बनाता है । इस निर्माण-कार्य मे प्राकृतिक घटनाओ या पर्यावरण का कुछ भी योग नही होता, ऐसी बात नही परन्तु एक प्राकृतिक चीज से जो कुछ भी मानव बनाता है वह उसकी कृति (work) होती है और इनके सम्पूर्ण योग से ही सस्कृति का निर्माण होता है । उदाहरणार्थ, मिट्टी एक प्राकृतिक वस्तु है परन्तु उसी मिट्टी से मनुष्य जब अपने लिए बर्तन,मूर्ति आदि बना लेता है तो वे सब उसकी सस्कृति के अग बन जाते हैं । वायु या पानी या पहाड सस्कृति नही हैं क्योकि ये सभी प्राकृतिक पर्यावरण के अग हैं और इनका निर्माण मानव ने नही किया है । सस्कृति के अन्तर्गत तो सम्पूर्ण पर्यावरण के उस भाग की उन वस्तुओ को सम्मिलित करते है जिन्हे स्वय मानव ने बनाया है । 'वस्तुओ' से यहाँ हमारा तात्पर्य केवल भौतिक वस्तुओ (material things) से ही नही है बल्कि अभौतिक (non-material) वस्तुओ से भी है । इस प्रकार सस्कृति मे उपकरण, औजार, मशीन, आभूषण, मकान, प्रथा, परम्परा, कला, आचार, धर्म, भाषा आदि सभी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओ का समावेश रहता है । क्योकि इन सभी को मनुष्य ने बनाया है । उपरोक्त परिभाषा से इस बात का भी स्पष्टीकरण होता है कि सस्कृति एक प्राणिशास्त्रीय घटना (biological phenomenon) से कही अधिक है और वह इस अर्थ मे कि सस्कृति के अन्तर्गत मानव की परिपक्व क्षमताओ से भी सभी तत्त्व (elements) आ जाते हैं जिन्हे कि वह अपने समूह से सचेत रूप मे या अनिवार्य प्रक्रियाओ के माध्यम से सीखता है और इस सीखने की प्रक्रिया मे विविध प्रकार की प्रविधियो (techniques), सामाजिक सस्थाओ, प्रथाओ, विश्वासो तथा आचरण के तरीको का योग होता है । यह सच है कि सस्कृति का सृजन मानव-मस्तिष्क मे ही होता है, परन्तु सस्कृति के अन्तर्गत मस्तिष्क का समावेश नही होता है । दूसरे शब्दो मे, सस्कृति मानव-मस्तिष्क की ही उपज है, परन्तु सस्कृति नही है । सस्कृति तो मस्तिष्क से भी कुछ अधिक है । इस अर्थ मे, सस्कृति की तुलना उन कच्चे मालो (raw materials) से की जा सकती है जिनसे कि सस्कृति का बाहरी तथा अन्दरूनी भाग बनता है । प्राकृतिक दुनिया से जो कच्चा माल प्राप्त होता है उनमे मानव अपनी विद्यमान (existing) आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विविध वस्तुओ को बनाता है । यह सस्कृति का बाहरी रूप है । इसके विपरीत, मनुष्य अपने जन्मजात लक्षणो (inborn traits) या क्षमताओ को भी इस प्रकार

9 "Culture is the man-made part of the environment" M J Herskovits, *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956, p 17

ढालता है जिससे उसे व्यवहार करने के कुछ निश्चित प्रतिमान प्राप्त हो और जो कि ज्ञान, विज्ञान, विश्वास, प्रथा, परम्परा, धर्म, कला आदि के रूप मे अभिव्यक्त होते हो। ये सस्कृति के आन्तरिक पक्ष हैं। अत स्पष्ट है कि सस्कृति के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चा माल हमे प्रकृति तथा वशानुसक्रमण (heredity) या प्राणीशास्त्रीय घटनाओ (phenomena) से प्राप्त होता है, परन्तु इस कच्चे माल से जो कुछ भी तैयार होता है वह सम्पूर्ण पर्यावरण का मानव-निर्मित (man-made) भाग होता है जिमे कि सस्कृति कहा जाता है। इसीलिए श्री हर्षकॉविट्स के अनुसार 'मस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग है।'

श्री लिन्टन (Linton) ने मस्कृति की परिभाषा को और भी सक्षेप मे प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार सस्कृति 'सामाजिक वशानुमक्रमण' (social heredity) है और श्री लोई (Lowie) के शब्दो मे सस्कृति 'सम्पूर्ण सामाजिक परम्परा' (the whole of social tradition) है। श्री लिन्टन ने अपनी परिभाषा मे जो 'वशानुसक्रमण' शब्द का प्रयोग किया है वह शायद उचित नही है, क्योकि इससे यह गलत धारणा वन सकती है कि शारीरिक विशेषताओ की भाँति सस्कृति भी प्रजनन के माध्यम से (genetically) व्यक्ति को मिलती है। परन्तु वास्तव मे ऐमा नही है। 'मनुष्य सस्कृति मे जन्म लेता है, सस्कृति सहित जन्म नही लेता'। सास्कृतिक गुण, लक्षण या विशेषताएँ तो उसे सामाजिकरण या सस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होती है। इस अर्थ मे सस्कृति एक मामाजिक अवधारणा है, न कि एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा (concept) जैसा कि श्री लिन्टन की परिभाषा से प्रतीत होता है, परन्तु यदि आपकी परिभाषा मे 'वशानु-सक्रमण' (heredity) शब्द के स्थान पर 'विरासत' (inheritance) शब्द का प्रयोग किया जाय तो उनकी परिभाषा का वहुत-कुछ वही अर्थ होगा जो कि श्री लोई की 'सामाजिक परम्परा' से प्रकट होता है।

श्री क्लूखौन (Kluckhohn) ने श्री लिन्टन की परिभाषा के एक और दोप या कमी की ओर हमारा ध्यान आकर्पित किया है। सस्कृति को 'सामाजिक वशानुसक्रमण' कहकर परिभापित करने से यह गलत धारणा भी पनप सकती है कि वशानुसक्रमण की भाँति सस्कृति भी वहुत-कुछ स्थिर (stable) है और इसके निर्माण मे मानव का कोई भी हाथ या योग नही होता। यह परिभापा यह सुझाती है कि मनुष्य विना किसी प्रयत्न और विना किसी विरोध के सस्कृति के तत्त्वो को उसी प्रकार प्राप्त करता है जैसे कि वह वाहकाणुओ (genes) को प्राप्त किया करता है। यह परिभापा हमे यह स्वीकार कर लेने को प्रेरित करती है कि मनुष्य, जैमा कि श्री डोलार्ड (Dollard) का कथन है, "सामाजिक परम्परा का निष्क्रिय वाहक (passive porter) है।" परन्तु वास्तव मे ये सभी वातें गलत हैं। न तो मस्कृति वशानुमक्रमण की भाँति स्थिर है, और न ही वाह-काणुओ की भाँति सस्कृति को मानव विना किमी प्रयत्न और विना किसी विरोध के प्राप्त करता है। जैमा कि श्री सिम्मन्स (Simmons) ने अभी हाल मे ही हमे याद दिलाया है कि मनुष्य सस्कृति का केवल वाहक (carrier) और दास (creature) ही नही, वल्कि उसका निर्माता (creator) और सशोधक भी है।

श्री सी० एस० फोर्ड (C S Ford) के मतानुसार सस्कृति मे **समस्याओ को सुलझाने के परम्परात्मक तरीको** (traditional ways of solving problems) या **समस्याओं से सीखे हुए हलो** (learned problem solutions) का समावेश होता है। श्री क्लूखौन का कथन है कि इस रूप से भी सस्कृति की परिभाषा असन्तोषजनक है। आपके मतानुसार यह सच है कि अन्य चीजो के साथ सस्कृति मे बाहरी पर्यावरण तथा दूसरे मनुष्यो के साथ अनुकूलन करने की कुछ प्रविधियो (techniques) का भी समावेश होता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि ये प्रविधियाँ या समस्याओ को सुलझाने के तरीके ही सब कुछ हैं और इन्ही को सस्कृति समझा जा सकता है। इस प्रकार परिभाषाओ के लेखक यह भूल जाते हैं कि सस्कृति आवश्यकताओ को जन्म देती है और उनकी पूर्ति के साधनो को भी जुटाती है।

सर्वश्री लिन्टन, फोर्ड आदि की उपरोक्त परिभाषाओ की त्रुटियो को दूर करने के लिये सस्कृति को निम्न शब्दो मे परिभाषित किया है—"सस्कृति से तात्पर्य ऐतिहासिक रीति से रचित जीवनयापन के स्पष्ट और उपलक्षित, तर्कसगत, अतर्कसगत और तर्कहीन इन सभी नमूनो से है जो **एक समय विशेष** मे मनुष्यो के व्यवहार के शक्तिशाली पथ-प्रदर्शक के रूप मे विद्यमान होते हैं।"[10] इस परिभाषा मे 'एक समय विशेष मे' (at any given time) यह वाक्याश (phrase) यह सुझाता है कि सस्कृति एक गतिशील (dynamic) अवधारणा है। प्रत्येक समय या युग मे इसका रूप या स्वरूप एक समान नही रहता बल्कि ऐतिहासिक विकास के दौरान मे अर्थात् समय-परिवर्तन के साथ-साथ सस्कृति मे परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहता है जिसके फलस्वरूप एक सस्कृति मे अनेक नये तत्त्व जुडते हैं, अनेक पुराने तत्त्वो मे परिवर्तन होता है और कुछ तत्त्वो का अन्त भी होता है। इस प्रकार श्री क्लूखौन ने इस बात पर बल दिया है कि सस्कृति की किसी भी परिभाषा से यह धारणा नही बननी चाहिए कि सस्कृति स्थिर या पूर्णतया स्थायी है। यदि ऐसा होता है तो वह परिभाषा दोषपूर्ण है। वास्तव मे नयी आवश्यकताओ के अनुसार अपने-आपमे आवश्यक परिवर्तन कर लेने की शक्ति या गुण सस्कृति मे होता है। सस्कृति की किसी भी वैज्ञानिक परिभाषा के लेखक को इस सत्य को न भूलना चाहिये।

उपरोक्त परिभाषाओ की विवेचना से स्पष्ट है कि मानवशास्त्री, जैसा कि सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals & Hoijer) ने लिखा है, सस्कृति शब्द का प्रयोग कुछ निश्चित अर्थो मे करते है जैसे, सस्कृति (१) समस्त मानव-जाति मे एक समय विशेष मे सामान्य जीवन के तरीके (ways of life) या जीवनयापन या रहन-सहन के नमूने (designs for living) हैं, या (२) समाजो के एक समूह, जिनमे कि थोडी-बहुत अन्त क्रिया होती रहती है, के रहन-सहन के तरीके हैं, या (३) व्यवहार के प्रतिमान (patterns of behaviour) हैं जो कि एक समाज विशेष मे विशिष्ट रूप मे पाए जाते

10 Culture may be defined as "all those historically created designs for living, explicit and implicit, rational, irrational and nonrational, which exist at any given time as potential guides for the behaviour of men" Clyde Kluckhohn and William Kelly, "The Concept of Culture", *The Science of Man in the World Crisis*, ed Ralph Linton, Columbia University Press, New York, 1945, p 97

हैं, या (४) व्यवहार करने के वे विशिष्ट तरीके है जो कि वडे और जटिल रूप मे सगठित ममाज के विभिन्न भागो मे विशेष रूप से पाए जाते हैं।[11]

संस्कृति की प्रकृति
(The Nature of Culture)

उपरोक्त परिभाषाओ से सस्कृति की प्रकृति का वहुत-कुछ स्पष्टीकरण हो गया होगा। फिर भी सस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ उसकी वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करने मे सहायक होगी —

(१) सस्कृति सीखी जाती है (Culture is learned)—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानो (behaviour patterns) के सम्पूर्ण योग को सस्कृति कहते हैं। प्रजातीय या शारीरिक विशेषताओ की भाँति सस्कृति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को प्राप्त नही होती, वल्कि वह जिस सस्कृति मे जन्म लेता है उससे वह उसे सीखता है। मानव की भाषा व प्रतीको के माध्यम से विचारो के आदान-प्रदान की शक्ति इस वात की द्योतक है कि वह दूसरो से सस्कृति के तत्त्वो को सीख सकता है। सस्कृतियो मे भिन्नताएँ इस कारण नही होती हैं कि लोगो की जन्मजात क्षमताएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं, वल्कि इसलिए होती हैं कि उन्हे अलग-अलग तरीके से पाला-पोसा जाता है। जन्म के समय वच्चो मे सस्कृतिसगत व्यवहार करने का कोई भी तरीका नही होता है, इन्हें तो वह वडे होने के साथ-साथ सीखने की जटिल प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त करता है।

इस सम्वन्ध मे एक वात यह स्मरणीय है कि जव हम यह कह सकते हैं कि सस्कृति सीखी जाती है, तो इसका यह अर्थ कदापि नही है कि सभी सीखे हुए व्यवहार सस्कृति हैं। पशु भी वहुत-कुछ मीख जाते है, परन्तु शायद ही कोई मानवशास्त्री उन्हे सस्कृति का अधिकारी मानता हो। पशुओ द्वारा सीखे हुए व्यवहार और मानव के सस्कृति पर आधारित व्यवहार मे जो अन्तर है उमे समझे विना सस्कृति की वास्तविक प्रकृति को नही समझा जा सकता है।[12] यह सच है कि पशु मानव की भाँति कुछ व्यवहारो को मीख सकता है व सीखता भी है और इसी के आधार पर उसमे कुछ आदते भी पनप जाती हैं। परन्तु केवल आदतो के आवार पर ही सस्कृति की यथार्थ व्याख्या सम्भव नही। इस सत्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि सस्कृति मे आदतो या व्यवहारो का समावेश रहता है, परन्तु सस्कृति मे निहित ये आदतें तथा व्यवहार-तरीके व्यक्तिगत (individual) आदतो तथा व्यवहारो से इस अर्थ मे भिन्न है कि वे आदतें तथा व्यवहार-तरीके किमी व्यक्ति विशेष

---

11 "To summarise 'Culture', as the term is used by the anthropologist, may be applied (1) to the ways of life or 'designs for living common at any one time to all mankind, (2) to the ways of living peculiar to a group of societies between which there is a greater or less degree of interaction, (3) to the patterns of behaviour peculiar to a given society, and (4) to] special ways of behaving characteristic of the segments of a large and complexly organized society" Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co, New York, 1959, pp 228-229

12 " , p 240

के नही बल्कि एक समाज के सभी या अधिकतर सदस्यो की सामान्य (common) आदतें तथा व्यवहार-तरीके होते हैं। पशुओ द्वारा सीखे हुए व्यवहार वैयक्तिक होते हैं इसीलिए उसे सस्कृति नही कहा जा सकता, इसके विपरीत मानव की सास्कृतिक व्यवस्था के व्यवहार-तरीके या आदतें 'सामूहिक आदतें' (group habits) होती हैं जिसे कि हम जनरीति (folk ways), रूढि (mores) या प्रथा (customs) कहते है। इस प्रकार की कोई भी चीज पशु-समाज मे नही मिलती। इस दृष्टिकोण से आज भी चिम्पाजी या बन्दर उसी स्तर पर है जिसपर कि वे सौ साल पहले थे, पर मानव आज वह नही है जो दस साल पहले था। नित्य नये ढग से प्रकृति का विकास मानव ही कर सकता है और करता भी है, मानव ही एकमात्र सस्कृति का निर्माण करने वाला प्राणी है। दूसरे शब्दो मे, सस्कृति मानव-समाज मे ही पनपती है, मानव द्वारा मानव-समाज मे ही सस्कृति का निर्माण, विकास, परिमार्जन और विस्तार होता है।

(२) सस्कृति मे सचारित या हस्तान्तरित होने का गुण निहित है (Culture has transmissive quality)—सस्कृति को केवल सीखा ही नही जा सकता, अपितु इसे एक मानव से दूसरे मानव तक फैलाया या एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित भी किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पशु भी बहुत-कुछ सीखने की क्षमता रखते हैं, परन्तु उनके इन सीखे हुए व्यवहारो व अनुभवो से दूसरे पशु लाभ नही उठा सकते क्योंकि अपने विचारो तथा अनुभवो को दूसरो तक पहुँचाने या फैलाने की क्षमता उनमे नही होती। मानव अपनी भाषा और प्रतीको (symbols) की सहायता से यह काम बडी सरलता से कर सकता है और अपनी सस्कृति को दूसरे लोगो मे फैला देता है या एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित कर देता है। सस्कृति के इस गुण का तात्पर्य यह हुआ कि मानव अपनी पिछली पीढियो की कृतियो के आधार पर अपना वर्तमान जीवन-तरीका प्रारम्भ करता है और प्रत्येक पीढी को फिर शुरू से सब कुछ सीखना या आविष्कार करना नही पडता है। उदाहरणार्थ, यदि एक पीढी बैलगाडी का आविष्कार करती है तो दूसरी पीढी को फिर से बैलगाडी बनाने के तरीको को नही खोजना पडेगा, वह अपनी पिछली पीढी से बैलगाडी बनाने के तरीको को सीख लेगी और इस प्रकार प्राप्त अनुभवो और ज्ञानो के आधार पर बैलगाडी से अधिक उन्नत ढग के यातायात के साधन का आविष्कार करने का प्रयत्न करेगी जिसके फलस्वरूप साइकिल या रेलवे इजन का आविष्कार होगा। अत स्पष्ट है कि सस्कृति मे सचारित तथा हस्तान्तरित होने के गुण निहित होने के कारण ही सस्कृति का विकास, विस्तार, परिमार्जन और परिवर्द्धन सम्भव होता है। इससे सस्कृति की एक अन्य विशेषता स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि सस्कृति अपने विकास, विस्तार तथा निरन्तरता के लिए किसी एक व्यक्ति या समूह पर निर्भर नही रहती क्योंकि सस्कृति अनेक व्यक्तियो की अन्त क्रिया तथा एकाधिक पीढियो की कीर्तियो (achievements) का फल होती है।

(३) सस्कृति प्रत्येक समाज मे एक विशेष प्रकार की होती है (Culture is distinctive in every separate society)—प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट

सस्कृति होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक तथा समाजिक परिस्थितियाँ भी अलग-अलग होती है। सस्कृति पूर्णतया सामाजिक आविष्कार का परिणाम होती है। आविष्कार करने की जरूरत मानव-आवश्यकताओ के कारण होती है। ये सामाजिक आवश्यकताएँ प्रत्येक समाज मे भिन्न-भिन्न होती हैं इसी कारण सस्कृति का रूप या स्वरूप भी प्रत्येक समाज मे अलग होता है। इन सास्कृतिक भिन्नताओ का परिणाम यह होता है कि एक समाज के सदस्यो के व्यवहारो की विशेषताएँ दूसरे समाज के सदस्यो के व्यवहारो से पृथक् होती है। इतना ही नही, सस्कृति मे परिवर्तन तभी होता है जब कि उस समाज के विशिष्ट व्यवहारो मे परिवर्तन होता है। इन विशिष्ट व्यवहारो मे परिवर्तन सभी समाजो मे एक-से नही होते, इस कारण सभी समाजो मे सास्कृतिक परिवर्तन की दिशा, गति और स्वरूप भी एक-सा नही होता। अत स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज मे सस्कृति की भिन्नता स्वाभाविक ही है। फिर भी, सस्कृति के कुछ तत्त्व सभी समाजो मे एक-से या सामान्य होते हैं जिन्हे कि श्री मुर्डाक (Murdock) ने 'सस्कृति का सामान्य हर' (The Common Denominator of Culture) कहा है।[13] सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि न्यूयार्क या पेरिस और एस्किमो की सस्कृतियो मे पर्याप्त अन्तर है, परन्तु यदि इन दोनो सस्कृतियो का विश्लेषण किया जाय तो उनमे सामान्य विशेषताओ को ढूँढा जा सकता है।[14] विभिन्न सस्कृतियो की सामान्यता को ढूढने का सबसे सीधा तरीका यह है कि उनके कार्यो का विश्लेषण किया जाय। ऐसा करने पर यह मालूम होगा कि कुछ सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिये प्रत्येक सस्कृति मे अलग-अलग तरीके हैं। किसी भी सस्कृति के अध्ययन से यह पता चलता है कि सस्कृति समाज के सदस्यो की कुछ शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। सस्कृति उन साधनो को प्रस्तुत करती है जिनकी सहायता से मनुष्य को वस्त्र तथा निवास प्राप्त होता है, वह जिन्दा रहता है और समाज की निरतरता बनी रहती है। परन्तु समाज की निरतरता के लिये इतना ही पर्याप्त नही है, समाज-व्यवस्था (social order) भी आवश्यक है। सस्कृति समाज के सदस्यो के सम्बन्धो को नियमित (regulate) करती है और उन्हे ज्ञान और अनुभव हस्तान्तरित करती है। साथ ही, अनेक प्रकार की प्रथा, परम्परा, जनरीति, धर्म आदि के माध्यम से भी सस्कृति अपने समाज के सदस्यो के व्यवहार मे एकरूपता उत्पन्न करती है। ये कुछ ऐसे काय हैं जो कि प्रत्येक समाज की सस्कृति की ही विशेपता है यद्यपि इनके स्वरूपो मे भिन्नताएँ होती ही है। इस प्रकार विभिन्न समाज की सस्कृतियो मे भिन्नताएँ और समानताएँ दोनो ही होती है। स्वरूपो मे भिन्नताएँ और अनेक कार्यो मे समानताएँ या एकता सभी सस्कृतियो की एक प्रमुख विशेपता है।

(४) सस्कृति मे सामाजिक गुण निहित होता है (Culture has social

---

13 G P Murdock, "The Common Denominator of Culture," in Ralph Linton (ed), *The Science of Man in the World Crisis*, pp 123-142

14 Beals and Hoijer, *op cit*, p 245

quality)—संस्कृति की प्रकृति निश्चय ही सामाजिक है क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संस्कृति मानव-आवश्यकताओं की प्रतिक्रियास्वरूप सामाजिक आविष्कार का फल है। समाज की परम्परा संस्कृति को जीवित रखती है। संस्कृति सामाजिक इस अर्थ में भी है कि संस्कृति किसी व्यक्ति-विशेष या दो-चार व्यक्तियों की घरोहर नहीं होती, उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है, अर्थात् संस्कृति समाज के समस्त या अधिकतर सदस्यों का सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान होती है और इसीलिये संस्कृति एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधि (life way) का प्रतिनिधित्व करती है। इसी सामाजिक गुण के कारण समाज का प्रत्येक सदस्य संस्कृति को अपनाता है। चूँकि संस्कृति 'सब का' सीखा-हुआ व्यवहार-प्रतिमान या 'व्यवहार-प्रकारों की समग्रता' है, इस कारण इसमें व्यक्तिगत व्यवहारों पर सामाजिक दबाव डालने की शक्ति होती है। इसी सामाजिक दबाव (social pressure) के कारण, सदस्यों की व्यवहार-विधि में अधिक अन्तर या भिन्नताएँ उत्पन्न नहीं हो पाती और इसके फलस्वरूप समाज के व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) में एकरूपता होती है और संस्कृति के रूप या स्वरूप में भी एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है। परन्तु इस 'स्थिरता' का तात्पर्य यह नहीं कि संस्कृति में परिवर्तन होता ही नहीं है, इसका तात्पर्य केवल इतना है कि संस्कृति एक अव्यवस्थित अवधारणा (concept) नहीं है क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यह तो सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधियों का प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही, एक समाज के सदस्यों को अपनी संस्कृति से कुछ आशाएँ (expectations) होती हैं। सदस्यों की ये आशाएँ भी संस्कृति के सामाजिक गुण को ही बतलाती हैं और वह इस अर्थ में कि ये आशाएँ सामाजिक या सामूहिक अनुभवों, आदतों आदि की ही उपज होती हैं। संस्कृति के अन्तर्गत जो प्रथा, परम्परा, जनरीति, रूढ़ि, धर्म, भाषा, कला आदि का समावेश होता है, उसी से यह स्पष्ट है कि संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होते हैं क्योंकि ये प्रथा, परम्परा, जनरीति, धर्म आदि व्यक्तिगत जीवन-विधि को नहीं बल्कि सामाजिक या सामूहिक जीवन-विधि को व्यक्त करते हैं।

(५) **समूह के लिये संस्कृति आदर्श होती है** (Culture is ideal for the group)—श्री मुर्डाक (Murdock) ने संस्कृति की इस विशेषता या प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। आपके मतानुसार, "काफी हद तक सामूहिक आदतों को, जिनसे संस्कृति का निर्माण होता है, व्यवहार के आदर्श नियम या प्रतिमान (pattern) माना या कहा जाता है।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक समाज या समूहों के सदस्यों की दृष्टि में उनकी संस्कृति सामाजिक व्यवहार का एक आदर्श मान (standard) है और इस कारण उसे स्वीकार करना और उसी के अनुरूप अपने व्यवहार को ढालना ही उचित है। यद्यपि यह सच है कि व्यावहारिक तौर पर इन आदर्शों को आदर्श के रूप में शायद ही ग्रहण किया जाता हो, फिर भी इस विषय में सचेतता अवश्य ही पायी जाती है विशेषकर जब अपनी संस्कृति की तुलना दूसरी संस्कृति से करने की आवश्यकता होती है तो अपनी संस्कृति को आदर्श रूप में प्रस्तुत

करने का मनोभाव उस समाज के अधिकतर लोगो मे पाया जाता है। उदाहरणार्थ, धर्म को ही लीजिये। जब एक ईसाई पादरी एक हिन्दू को ईसाई धर्म को स्वीकार करने को कहता है तो वह हिन्दू धर्म की बुराइयो तथा ईसाई धर्म की अच्छाइयो को अतिरजित रूप मे प्रस्तुत करता है। उसी प्रकार एक भारतवासी को प्राय अपनी भारतीय सस्कृति के गुण-गान मे मुखरित होते देखा जाता है। सस्कृति आदर्श इसलिये भी है कि यह व्यवहार-प्रतिमान किसी व्यक्ति का व्यवहार नही है, बल्कि सारे समूह का व्यवहार है। इसी कारण ये व्यवहार आदर्श व्यवहार हैं। इन्हे मानने से समाज या समूह से प्रशसा प्राप्त होती है और न मानने से निन्दा मिलती है। इसीलिये इन आदर्श सास्कृतिक प्रतिमानो से सम्बन्धित सामूहिक अभिमतियो (group sanctions) के बारे मे व्यक्ति बहुत कुछ सचेत रहता है।

(६) **सस्कृति मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति करती है** (Culture satisfies human wants)—मानव-समाज मे सस्कृति के कुछ विशिष्ट कार्य होते हैं। वह मानव के प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक दोनो ही प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन जुटाती है। किसी सस्कृति या सास्कृतिक तत्त्व अथवा प्रतिमान की निरतरता इसी बात पर निर्भर होती है कि उसमे शारीरिक तथा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने की क्षमता है या नही? जिस प्रकार व्यक्तिगत आदत (individual habit) तभी बनी रहती है जब कि उससे व्यक्ति की सचेत या अचेत इच्छा या प्रेरणा (drive) की तृप्ति या पूर्ति होती है, उसी प्रकार सस्कृति की सामूहिक आदतो मे भी समूह की आवश्यकताओ की पूर्ति करने का गुण होता है। सम्पूर्ण सस्कृति तक की समाप्ति हो सकती है यदि वह निरन्तर अपने समाज के सदस्यो की महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक व सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे असफल रहे। वास्तव मे एक सस्कृति के अन्तर्गत अनेक भाग और उपभाग होते है जो कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था मे सगठित होते है यद्यपि इनमे से प्रत्येक भाग का एक विशिष्ट स्वरूप होता है जैसे कि एक नाव या एक बर्तन, एक मूर्ति या एक प्रथा का एक स्वरूप होता है। इनमे से प्रत्येक का सम्पूर्ण जीवन-विधि मे या सामाजिक जीवन मे कोई न कोई कार्य होता ही है। ये व्यर्थ मे ही नही बने रहते। इन समस्त भागो और उपभागो मे जो पारस्परिक सम्बन्ध तथा प्रभाव होता है उनके सम्पूर्ण योग से ही सस्कृति के ढाँचे का निर्माण होता है और प्रत्येक भाग की सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था मे जो योगदान (contribution) होता है उसे उस भाग का कार्य (function) कहते हैं, जो कि उसके स्वरूप (form) से पृथक् होता है।[15] इस प्रकार एक नाव, जिसका कि स्वरूप नाप और चित्रो द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, कुछ कार्यो को भी करती है जैसे, यातायात के साधन के रूप मे या मछली पकडने मे सहायक के रूप मे कार्य करती है। उसी प्रकार बाहरी तौर पर, एक सस्कृति की एक प्रथा विशेष हमारे लिये अर्थहीन और अनोखी प्रतीत हो सकती है, परन्तु यदि सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे के सन्दर्भ मे उस प्रथा के कार्यो की हम सावधानी से विवेचना करे तो उसी प्रथा का वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट हो जायगा। फिर वह एक अनोखी या बेतुकी प्रथा न रहकर सामाजिक तौर पर एक महत्त्वपूर्ण कार्य को करने वाली प्रतीत होगी। इस प्रकार संस्कृति के

15 L A Hoebel, *op cit*, p 164

अन्तर्गत प्रत्येक इकाई का एक विशिष्ट महत्त्व तथा कार्य होता है जो कि सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता तथा निरन्तरता को बनाये रखने मे, सहायक होता है। प्रत्येक के बिना सम्पूर्ण का अस्तित्व (existence) असम्भव है और सम्पूर्ण के बिना प्रत्येक अर्थहीन भी है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अग का सम्पूर्ण शरीर को जीवित रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रथा या प्रत्येक सस्था का सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था की जीवन-विधि को कायम रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ करता है। सस्कृति के अध्ययन मे प्रकार्यवादियो (functionlists) ने, जिनमे सर्वश्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) तथा मैलिनोवस्की (Malinowski) का नाम विशेष उल्लेखनीय है, सस्कृति के इस प्रकार्यात्मक (functional) पक्ष पर विशेष बल दिया है।[16]

(७) **सस्कृति मे अनुकूलन करने का गुण होता है (Culture has adaptive quality)**—सस्कृति की इस विशेषता या गुण के दो स्पष्ट पहलू हैं—प्रथम तो यह कि सस्कृति जड और स्थिर नही होती, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है, और दूसरा यह कि इस गतिशीलता या समय-समय पर सस्कृति मे होने वाले परिवर्तनो के फलस्वरूप इसका अनुकूलन बाहरी शक्तियो से होता रहता है। इस प्रकार के अनुकूलन मे सस्कृति का भौगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन विशेष रूप से उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है। एक जगल मे रहने वाला समुदाय अपनी सास्कृतिक व्यवस्था का अनुकूलन जगल की परिस्थितियो से करता है या टुण्ड्रा निवासियो की सस्कृति वहाँ के बर्फीले पर्यावरण के अनुकूल होती है। परन्तु इसका यह मतलब कदापि नही है कि भौगोलिक पर्यावरण सस्कृति को निश्चित करता है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि भौगोलिक पर्यावरण सास्कृतिक विकास की कुछ सीमाओ को निश्चित करता है जिससे आगे एक निश्चित सास्कृतिक स्तर के लोग नही जा सकते। बर्फ से ढँके हुए टुण्ड्रा प्रदेश के अत्यधिक प्रतिकूल भौगोलिक पर्यावरण मे अमेरिका जैसी सस्कृति का विकास सम्भव नही। भौगोलिक पर्यावरण उन कच्चे मालो को प्रदान करता है जिससे सस्कृति के निर्माण-कार्य मे सहायता मिलती है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रहे कि मनुष्य स्वय अपनी सस्कृति का निर्माता है, भौगोलिक पर्यावरण का कार्य उस निर्माण-कार्य मे आवश्यक कच्चे माल को प्रदान करना है। परन्तु उस कच्चे माल से सस्कृति की झोपडी बनेगी या महल, इसे तो मनुष्य स्वय ही निश्चित करता है। मानव भौगोलिक पर्यावरण के हाथ मे एक कठपुतली मात्र नही कि वह जैसे भी चाहे उसे नचा सकता है। ज्यो-ज्यो मानव की सस्कृति का विकास होता है, त्यो-त्यो भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव कम होता जाता है। अत स्पष्ट है कि सस्कृति परिवर्तनशील या गतिशील होती है। प्रत्येक सस्कृति का प्रमुख उद्देश्य तथा कार्य मानव के शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना होता है। अत इन आवश्यकताओ के अनुसार सस्कृति का

16 See A. R Radcliffe-Brown, "On the Concept of Function in Social Science", American Anthropologist, Vol 37, 1935, pp 394-395 and B. Malinowski, "Culture", *Encyclopaedia of the Social Sciences*, Vol 4, 1931, pp 621-646

स्वरूप भी प्रभावित होता है और इनमे होने वाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ-साथ सस्कृति के ढाँचे तथा स्वरूप मे भी परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक युग की माग पृथक्-पृथक् होती है, समय-परिवर्तन के साथ-साथ अनेक नयी आवश्यकताएँ पनपती हैं और अनेक पुरानी आवश्यकताएँ समाप्त हो जाती है। इन दोनो अवस्थाओ के साथ ही अपना अनुकूलन कर सकने का गुण सस्कृति मे होता है। अनेक मानवीय आवश्यकताओ तथा पर्यावरण-सम्बन्धी व ऐतिहासिक परिस्थितियो या घटनाओ (phenomena) के कारण सस्कृति के ढाँचे मे परिवर्तन होता रहता है। परन्तु सस्कृति के सम्पूर्ण ढाँचे मे एकाएक परिवर्तन शायद ही होता हो। वास्तव मे सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था के विभिन्न अगो या इकाइयो मे विभिन्न समय मे परिवर्तन होता रहता है और इन परिवर्तनो के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि दूसरे अग या इकाइयाँ भी अपना अनुकूलन परिवर्तित भागो या इकाइयो के अनुरूप करती रहे। और चूँकि अपनी विविध आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए मनुष्य सस्कृति या इसकी विभिन्न इकाइयो को काम मे लाता है इसलिये मनुष्य को भी इन निरन्तर परिवर्तनशील इकाइयो के साथ अपना अनुकूलन करना पडता है। अत स्पष्ट है कि सस्कृति के अपने-आप के ढाँचे मे परिवर्तन कर सकने के गुण ने समस्त पशुओ मे मनुष्य को सर्वाधिक अनुकूलनशील (adaptive) प्राणी बना दिया है।

(८) **सस्कृति मे सतुलन तथा सगठन होता है** (Culture has the integrative quality)—सस्कृति एक अखण्ड व्यवस्था नही है। सस्कृति के अन्तर्गत अनेक खण्ड या इकाइयाँ होती है, परन्तु ये सब आकस्मिक और अव्यवस्थित (random and haphazard) नही होती। सस्कृति के इन खण्डो या इकाइयो मे एक पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त निर्भरता होती है जिसके कारण सस्कृति मे एक प्रकार का सतुलन तथा सगठन पाया जाता है। यह वास्तव मे इसलिये होता है कि सस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ बिल्कुल पृथक् होकर कार्य नही करती, प्राय वे दूसरी इकाइयो के साथ मिलकर कार्य करती हैं। इस सम्बन्ध मे दूसरी बात यह है कि इन इकाइयो का अस्तित्व शून्य (vacuum) मे नहीं होता, ये एक सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत व्यवस्थित ढग से गुथी हुई या सम्बद्ध होती है। इस ढाँचे के अन्दर प्रत्येक इकाई की एक निश्चित स्थिति तथा कार्य होता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि सस्कृति के सम्पूर्ण ढाचे मे सन्तुलन और सगठन होता है। और चूँकि सस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर आधारित होती हैं इस कारण सस्कृति के एक भाग मे कोई परिवर्तन होने पर उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव दूसरे भागो पर भी अवश्य पडता है। अत सक्षेप मे हम कह सकते है कि सस्कृति के विभिन्न भागो या इकाइयो मे, जैसा कि श्री समनर (Sumner) ने कहा है, "एकरूपता की ओर एक खिचाव" (a strain towards consistency) होता है जिसके फलस्वरूप ये विभिन्न भाग एक-साथ मिलते है और एक बहुत-कुछ पूर्णतया सगठित समग्रता (more or less completely integrated whole) का निर्माण करते हैं। यह सम्पूर्ण समग्रता ही सस्कृति है। सस्कृति की यह विशेषता सादे, छोटे तथा पृथक् समाजो मे अधिक स्पष्ट रूप मे देखने को मिलती है क्योकि ऐसे समाजो मे तनाव

उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ कम होती हैं और संस्कृति के विभिन्न पक्षो तथा तत्त्वो मे अधिक शीघ्रता से परिवर्तन भी नही होते।

(६) **संस्कृति अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी है** (Culture is both Super-individual and Super-organic)—संस्कृति की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि यह अधि-वैयक्तिक और अधि-सावयवी दोनो ही है। इन दोनो विशेषताओ की विवेचना हम पृथक्-पृथक् कर सकते हैं। पहले संस्कृति अधि-वैयक्तिक है, इस विशेषता को लीजिये। यह सच है कि व्यक्ति संस्कृति का वाहक (carrier) है और इन व्यक्तियो को निकालकर किसी भी संस्कृति के अस्तित्व की चिन्ता करना मूर्खता है। फिर भी संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की रचना है, यह सोचना भी गलत है। "जो कुछ भी एक मानव प्राणी या व्यक्ति विशेष अपने अधिकार मे रख सकता है या अपने काम मे लगा सकता है, कोई भी संस्कृति उससे कही अधिक होती है" (Any culture is more than any individual human being can grasp or manipulate)। साथ ही, संस्कृति की स्थिरता या निरन्तरता किसी एक व्यक्ति विशेष पर निर्भर नही है क्योकि संस्कृति व्यक्ति का व्यवहार नही है, वह तो समूह-व्यवहारो की समग्रता (the whole of group habits) है। एक वैयक्तिक आदत या व्यवहार-विधि उस व्यक्ति की मृत्यु के बाद समाप्त हो सकती है परन्तु सामूहिक आदतो या व्यवहार-विधियो की निरन्तरता इस प्रकार समाप्त नही होती है—यह तो असंख्य व्यक्तियो की अन्त क्रिया (interaction) और विचारो के आदान-प्रदान के माध्यम से पीढी-दर-पीढी हस्तान्तरित होती रहती है। चूँकि संस्कृति की रचना और निरन्तरता दोनो ही किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नही हैं, इसीलिये यह (संस्कृति) अधि-वैयक्तिक (Super-individual) है। संस्कृति अधि-वैयक्तिक एक-दूसरे अर्थ मे भी है और वह यह कि संस्कृति के सम्बन्ध मे व्यक्ति एक स्वतन्त्र कर्त्ता नही है। व्यक्ति एक संस्कृति मे ही जन्म लेता है और उसी मे पलता है। उसका यह पलना या व्यक्तित्व का निर्माण पूर्णतया व्यक्ति की इच्छाओ पर निर्भर नही है। सांस्कृतिक पर्यावरण हर पल उसके जीवन पर अपना प्रभाव-विस्तार करता रहता है और व्यक्ति इन सांस्कृतिक प्रभावो से अपने को पूर्णतया मुक्त नही कर सकता। व्यक्ति चाहे या न चाहे पर संस्कृति का प्रभाव उसके जीवन पर, व्यक्तित्व पर, आदतो, विचारो और अनुभवो पर जन्म से मृत्यु तक निरन्तर पडता रहता है। संस्कृति के इन प्रभावो से व्यक्ति अपने को मुक्त नही रख सकता। केवल इतना ही नहीं, प्रत्येक सांस्कृतिक इकाई का अपना एक इतिहास होता है जो कि किसी एक व्यक्ति से सदैव ही परे होता है। संस्कृति सामाजिक आविष्कार का फल होती है, परन्तु ये आविष्कार किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नही होते, इस प्रकार के सभी आविष्कारो का एक 'सांस्कृतिक आधार' होता है। श्री विली (Willey) ने स्पष्ट ही लिखा है कि यद्यपि एक आविष्कार एक व्यक्ति विशेष के द्वारा होता है, फिर भी इस दिशा मे आविष्कारक के लिये कोई भी कदम उठाना तब तक शायद ही सम्भव हो जब तक उसके लिये आवश्यक आधार उनसे पहले के लोगो के द्वारा प्रस्तुत न किया गया हो, चाहे वह आविष्कारक कितना ही क्षमतासम्पन्न क्यो न हो। चूँकि आविष्कारक उस हस्तान्तरित की गई संस्कृति का

उपयोग करता है और उसके द्वारा सीमाबद्ध है, इस कारण यह कहा जा सकता है कि आविष्कार अधि-वैयक्तिक (Super individual) है।[17] यह कथन वैयक्तिक प्रतिभा को अस्वीकार नहीं करता, न ही उसके महत्त्व को नीचे गिराता है, यह तो केवल इतना ही कहता है कि इसके कारण ही संस्कृति का उद्भव, विकास और विस्तार होता है, यह सोचना गलत है। संस्कृति में निर्माण, विकास, परिमार्जन तथा विस्तार की प्रक्रिया ऐतिहासिक धारा-प्रवाह के साथ निरन्तर चलती रहती है। इस प्रवाह को रोकने या वश में करने की शक्ति किसी एक व्यक्ति में नहीं हो सकती। इस अर्थ में भी संस्कृति अधि-वैयक्तिक (Super-individual) है।[18]

संस्कृति की इस विशेषता को श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने इस प्रकार समझाया है कि आज हमारे समाज में लाखों व्यक्ति अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में, कुछ निश्चित ढंग से कुछ वर्णन-योग्य सीमाओं के अन्दर रहते हुए व्यवहार करते हैं। जैसे, साधारणतया स्त्रियाँ खेतों में जाकर हल नहीं चलायेंगी, परिवार में एक पति-पत्नी और बच्चे होंगे न कि एक पुरुष की बहुत-सी पत्नियाँ, चर्च में हैट (hat) सिर पर न होगा, आत्मपरिजन के मर जाने पर उसे दफना दिया या कब्र दे दिया जायगा, इत्यादि। इन सब व्यवहारों के सम्बन्ध में हम पहले से ही बता सकते हैं क्योंकि इन निश्चित परिस्थितियों में इसी प्रकार का व्यवहार हमारे दादा-परदादा के समय से लोग करते आ रहे हैं। इसलिए उसी धारा-प्रवाह में आज भी लोग जाने या अनजाने बहते जाते हैं और उस बहाव से अपने को पूर्णतया विमुक्त नहीं कर पाते। जीवन के ये परम्परात्मक तरीके, बिना किसी व्यक्ति विशेष के अस्तित्व या कार्य से प्रभावित हुए ही, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत हम दो स्पष्ट चीजों का समावेश पाते हैं—**प्रथम** तो सदा परिवर्तनशील समूह जो कि मनुष्यों द्वारा बनता है और ये मनुष्य इन समूहों में जन्म लेते हैं, रहते हैं और मर जाते हैं, और दूसरा, जीवन-विधियों की समग्रता जो कि समूह के ऐतिहासिक विकास के दौरान में विकसित, परिमार्जित तथा विस्तृत होती रहती है। इसीलिए संस्कृति अधि-वैयक्तिक है। परन्तु केवल ऐतिहासिक विकास के दृष्टिकोण से ही नहीं, बल्कि किसी एक समय विशेष में भी संस्कृति व्यक्ति से ऊपर है और वह इस अर्थ में कि किसी भी एक समय विशेष में कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितने ही छोटे समाज का सदस्य क्यों न हो, अपनी संस्कृति से सम्बन्धित समस्त चीजों को पूर्णतया नहीं जानता है, उसे अपनी सांस्कृतिक विरासत (cultural heritage) का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति व्यक्ति से कुछ अधिक है। सभी व्यक्ति अपने-अपने संस्कृति के साँचे में अपने व्यवहारों को ढालते

17 While each step in an invention is made by a specific individual, no step can be taken until necessary *antecedents have* been established, no matter what the abilities of the *inventor* Because the inventor utilizes the transmitted culture and is limited by it it may be said that invention is Super-individual" M M Willey, "The Validity of the Culture Concept", *American Journal of Sociology*, Vol 35, 1929, p 210

18 See George P Murdock, "The Science of Culture," *American Anthropologist*, Vol 34, 1932, pp 200-215

हैं। व्यक्ति सस्कृति का निर्माता होकर भी सस्कृति से तुच्छ ही बना रहता है।

सस्कृति अधि-वैयक्तिक ही नही, अधि-सावयवी (Super-organic) भी है। यह विचार श्री क्रोबर (Kroeber) का है। अधि-मावयवी की अवधारणा को सर्वप्रथम सन् १८८६-१८८७ मे श्री लिप्पर्ट ने प्रस्तुत किया था, यद्यपि यह अवधारणा श्री हर्बर्ट स्पेन्सर के नाम के साथ अधिक प्रचलित व उनके लेखो मे अधिक विकसित है। परन्तु मानवशास्त्र मे इसका सुस्पष्ट विश्लेषण तथा निरूपण सन् १९१७ मे श्री क्रोबर के द्वारा ही हुआ है।[19] आपके अनुसार इस सत्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि सस्कृति अधि-सावयवी (Super-organic) है। परन्तु इसका मतलब यह कदापि नही है कि यह असावयवी (non-organic) या सावयवी के प्रभाव से विमुक्त (free of organic influence) है, और न ही इसका यह तात्पर्य है कि सस्कृति सावयवी जीवन (organic life) से परे है, जैसे कि कुछ आध्यात्मवेत्ता यह कहते है कि एक आत्मा (soul) होती है जो कि जीवित शरीर से बिलकुल परे है या हो सकती है। 'अधि-सावयवी' (Super organic) का अर्थ केवल इतना ही है कि जब हम सस्कृति की विवेचना करते हैं तो हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि वह सावयवी तो है पर सावयवी से कुछ अधिक भी है। इस अवधारणा के अनुसार प्रकृति की घटनाओ (phenomena of nature) को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—(१) ना-सावयवी (in-organic), (२) सावयवी (organic), और (३) अधि-सावयवी (Super-organic)। प्राकृतिक घटनाओ के उद्विकास (evolution) मे सबसे निम्नतम स्तर ना-सावयवी (in-organic) या जिसके अन्तर्गत धरती-सम्बन्धी तथा ऐहिक (cosmic) चीजें आ जाती हैं। जीवन (life) के उद्भव से कुछ नवीन चीजो का योग हुआ। ना-सावयवी सावयवी हुई। सावयवी का उद्भव ना-सावयवी से ही हुआ परन्तु सावयवी ना-सावयवी नहीं है। सावयवी मे प्राण या जीवन का होना ही उमे ना-सावयवी से प्रकार मे (in kind) पूर्णतया भिन्न या पृथक् कर देता है और उसके स्थान को भी ना-सावयवी से ऊपर उठा देता है। इमके बाद सावयवी उद्विकास के दौरान में मानसिक या मस्तिष्क का विकास उत्तरोत्तर होता गया और केवल मस्तिष्क का विकास ही नही, मानव की शरीर-रचना मे भी कुछ विशिष्ट परिवर्तन हुए जैसे, सीधे खडे हो सकने की क्षमता, स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने वाले हाथो की रचना, तीक्ष्ण तथा केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि, भाषा बोल सकने की क्षमता, इत्यादि। सस्कृति-निर्माण की मानवीय क्षमता का रहस्य इस सावयवी उद्विकास मे ही छिपा हुआ है। दूसरे शब्दो मे, इन क्षमताओ के सम्मिलित उपयोग से ही मानव ने अपनी जटिल सस्कृतियाँ विकसित की हैं। स्मरण रहे कि इन समस्त क्षमताओ का आधार सावयवी है, फिर भी इस सावयवी आधार पर आधारित जो सस्कृति विकसित हुई वह सावयवी से बढकर (the more than organic) है, अधि-सावयवी है। श्री क्रोबर के मतानुसार इसी अर्थ मे सस्कृति अधि-सावयवी (Super-organic) है।

---

19 See A L Kroeber, *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press, Chicago, 1952, Chapter 3 on 'The Super-organic', 1917

अत स्पष्ट है कि जिस प्रकार सावयवी (organic) घटनाएँ (phenomena) ना-सावयवी (in-organic) घटनाओ मे उच्च कोटि की है, उसी प्रकार अधि-सावयवी घटनाएँ सावयवी घटनाओ मे उच्चतर कोटि की है। सस्कृति के सम्बन्ध मे 'अधि-सावयवी' शब्द का प्रयोग श्री क्रोबर ने, इस अर्थ मे तथा इस बात पर बल देने के लिये किया था कि चूँकि प्राणिशास्त्रीय (सावयवी) क्षमताएँ और सस्कृति (अधि-सावयवी) भिन्न कोटि की घटनाएं (phenomena) हैं, इसलिये सस्कृति का स्थान सावयवी से ऊँचा मान लेना ही उचित है और वह भी इस अर्थ मे कि सस्कृति मानव-जीवन को परिभाषित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करती है। मानव इसके प्रभावो मे प्रभावित हुए बिना रह नही सकता, सस्कृति की धारा-प्रवाह मे उसे बहना ही पडता है। सस्कृति अधि-सावयवी इसलिए भी हैं कि केवल सावयवी घटनाएँ सस्कृति को जन्म नही दे सकती। अगर यह सम्भव होता तो सभी पशु सस्कृति के अधिकारी होते। पशु भी समाज मे रहते हैं, पर वे सस्कृति को नही रखते क्योकि सस्कृति, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शारीरिक विशेषताओ की भाति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को नही मिलती। सावयवी घटनाएँ अथवा वशानुसक्रमण सास्कृतिक लक्षणो को एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित करने की क्षमता नही रखते। श्री क्रोबर ने इस सत्य को एक उदाहरण देकर समझाया है। चीटियो के बहुत से ताजे अण्डो मे से केवल दो अण्डो को चुन लीजिए, और बाकी सबको नष्ट कर दीजिए। उन दो अण्डो की गर्मी, नमी आदि के विषय मे, थोडा-सा ध्यान रखिए। उन अण्डो से जो चीटियाँ उत्पन्न होगी उनमे चीटी 'समाज' की समस्त विशेषताएँ अन्य चीटियो की भाँति ही स्पष्ट होगी, उनमे क्षमता, शक्ति, क्रियाशीलता आदि किसी भी विषय मे कोई कमी नही होगी। परन्तु एक रेगिस्तानी प्रदेश या निर्जन स्थान मे सर्वाधिक सभ्य राष्ट्र के सर्वोच्च वर्ग मे से सर्वोत्तम वशानुसक्रमण वाले दो चार सौ मानव-शिशुओ को चुन लीजिए और उन्हे खाने, पीने, रहने आदि की चीजो को देते रहिये पर उनको एक-दूसरे से पृथक् रखिये। यह सच है कि वे शिशु आयु मे बढते रहेगे परन्तु और कुछ भी न होगा। उन्हें उस सस्कृति का एक-दहाई तो क्या एक कण भी प्राप्त न होगा जिससे कि उन्हें पृथक् रखा गया है, उनसे केवल कला, ज्ञान, विज्ञान धर्म आदि सबसे रहित गूँगो (mutes) के एक झुण्ड मात्र का ही निर्माण होगा। इनमे सस्कृति या सभ्य मानव की विशेषताओ का नाम मात्र न होगा। उन्हें देखकर यह कभी प्रतीत न होगा कि उनके बाप-दादा सभ्य थे। वशानुसक्रमण या सावयवी घटनाएँ उन मानव-शिशुओ को सभ्य या सस्कृति का अधिकारी नही बना सकती क्योकि सस्कृति अधि-सावयवी है। श्री क्रोबर (Kroeber) के शब्दो मे, "वशानुसक्रमण पीढी-दर-पीढी चीटियो के लिये उन सबको बनाये रखता है जो कुछ भी उनका होता है, परन्तु वशानुसक्रमण सभ्यता या सस्कृति के एक कण को भी, जो विशेष रूप से मानवीय वस्तु है, बनाये नही रखता और न रक्खा है क्योकि वह उसे बनाये रख भी नही सकता।"[20] अत स्पष्ट है, सस्कृति

---

20 "Heredity saves for the ant all that she has, from generation to generation But heredity does not maintain, and has not maintained, because it can

अधि-सावयवी (Super-organic) है ।

सक्षेप मे, सस्कृति इस अर्थ मे अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी है कि यद्यपि सस्कृति का निर्माता, वाहक तथा उसमे अश ग्रहण करने वाले सावयवी व्यक्ति ही होते हैं, फिर भी सस्कृति को सामाजिक जीवन मे अनिवार्य सस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा सीख कर ही प्राप्त किया जाता है । 'मनुष्य सस्कृति मे जन्म लेता है, सस्कृतिसहित जन्म नही लेता', और यह सस्कृति ही उसके अधिकतर कार्यों को निर्धारित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करती हुई उसके जीवन की अन्तर्वस्तु (content of life) को निश्चित करती है । सस्कृति की इन दो विशेपताओ को एक अन्य उदाहरण की सहायता मे और भी स्पष्ट रूप से समझा सकता है । हिन्दी भाषा को लीजिये । हिन्दी भापा भारतीय सस्कृति का एक अग या भाग है । इस भापा को बोलने या समझने की क्षमता सावयवी है । यह सच है कि इस भापा मे प्रयोग होने वाले शब्दो की ध्वनि (sounds of words) व्यक्तियो के द्वारा ही उच्चारण की जाती है, वे ध्वनियाँ अन्य व्यक्तियो तक पहुँचती है और उन्हें समझने वाले भी व्यक्ति होते हैं, फिर भी, शब्दावली, अक्षर, वाक्य, व्यजन, व्याकरण, अर्थ आदि सबका योग जिससे कि हिन्दी भापा बनी है, सचयी (cumulative) तथा पिछली अनेक शताब्दियो के करोडो व्यक्तियो के सयुक्त प्रयत्नो का परिणाम है । हम मे से किसी एक व्यक्ति ने उस हिन्दी भापा का निर्माण या आविष्कार नही किया जिसे कि वह बोलता है । उसे वह उसी रूप मे बोलता है जैसी कि उसे उसके बडे-बूढो तथा साथियो से प्राप्त हुई है । इस हिन्दी भाषा मे वह कुछ नयी चीजे जोड सकता है, परन्तु किसी भी अर्थ मे वह यह दावा नही कर सकता कि अकेले वह ही इस भाषा का निर्माता है । स्पष्टत हिन्दी भाषा इस अर्थ मे अधि-वैयक्तिक है कि यह किसी एक व्यक्ति की भापा या भाषण से कही अधिक ऊँचे स्तर की और कही अधिक महत्त्व की है, और उस व्यक्ति की वह भाषा या भाषण हिन्दी भापा को जितना प्रभावित करता है या कर सकता है उससे कही अधिक हिन्दी भाषा उस व्यक्ति की भाषा या भाषण को प्रभावित कर सकती है और करती भी है। उसी प्रकार हिन्दी भाषा इस अर्थ मे अधि-सावयवी है कि इसकी शब्दावली, अर्थ, व्याकरण आदि सावयवी घटनाओ का प्रत्यक्ष परिणाम नही है । हिन्दी भाषा बोलने की क्षमता या गुण या लक्षण (trait) हमे अपने वशानुसक्रमण से नही अपितु अपने समाज से प्राप्त होता है । हम आज हिन्दी भापा को किस प्रकार बोलते हैं, यह इस बात पर निर्भर है कि हम से पहले लोग उसे कैसे बोलते थे । इस प्रकार सस्कृति एक सावयवी घटना नही, बल्कि ऐतिहासिक घटना (historical phenomenon) है ।

परन्तु, जैसा कि श्री क्लूखोन (Klukhohn) का मत है, सस्कृति को अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी मानने का यह अर्थ कदापि नही है कि हम यह मान लें कि सस्कृति का अस्तित्व उसमे अश ग्रहण करने वाले सभी व्यक्तियो के मर जाने के

---

not maintain, one particle of the civilization which is the one specifically human being" A L Kroeber, "The Super-organic," *American Anthropologist*, Vol. 19, p 178

बाद या सभी मावयवी घटनाओ के नष्ट हो जाने के बाद भी बना रहेगा। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि सस्कृति का निर्माण, अस्तित्व और निरन्तरता किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नही है और न ही सस्कृति हमें वशानुसक्रमण से प्राप्त होती है। इसी अर्थ मे सस्कृति अधि-वैयक्तिक और अधि-सावयवी है।

सस्कृति के सम्बन्ध मे कुछ विरोधाभास
(Some Paradoxes about Culture)

सस्कृति की प्रकृति को और भी स्पष्ट रूप मे समझने के लिये यह आवश्यक है कि श्री हर्सकॉविट्स (Herskovits) द्वारा उल्लेखित सस्कृति के सम्बन्ध मे कुछ विरोधाभासो की भी विवेचना यहाँ की जाय। ये विरोधाभास (paradoxes) निम्नवत् है[21] —

(१) मानव के अनुभव मे सस्कृति विश्वव्यापी है फिर भी प्रत्येक समाज मे इसका एक विशिष्ट या अनोखा रूप है (Culture is universal in man's experience, yet each local or regional manifestation of it is unique)—'मानव सस्कृति का निर्माता है', यह कथन इस सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है कि दुनिया मे जहाँ-जहाँ भी मानव का निवास है वहाँ वहाँ सस्कृति भी है। सस्कृति का अधिकारी होना मानव की एक विशिष्ट विशेषता है, चाहे यह मानव कही भी रहता हो या कैसे भी जीवनयापन करता हो। इतना ही नही, प्रत्येक सस्कृति मे कुछ ऐसी विशेपताएँ और पहलू (aspects) होते है जो कि सभी सस्कृतियो मे सामान्य रूप से (in common) पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्येक सस्कृति मे जीविका-पालन के कुछ न-कुछ तरीके अवश्य ही होते है, सभी समाजो मे परिवार नामक सस्था होती है और राजनैतिक नियत्रण के लिये किसी-न-किसी प्रकार की व्यवस्था भी होती है। उसी प्रकार प्रत्येक सस्कृति मे किसी-न-किसी रूप मे एक धार्मिक व्यवस्था का समावेश होता है। इतना सब कुछ होते हुए भी अगर हम विभिन्न समाज मे पाये जाने वाले सस्कृति के इन पहलुओ की विस्तारपूर्वक विवेचना करें तो स्पष्टत पायेगे कि विस्तृत रूप मे कोई भी दो प्रथाएँ, धार्मिक व्यवस्थाएँ, राजनैतिक नियत्रण से साधन एक समान नही है। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक समाज मे सस्कृति के विभिन्न पक्ष विभिन्न रूप मे अभिव्यक्त होते है। इस अर्थ मे कोई भी दो सस्कृतियाँ समान नही हैं। ये भिन्नताएँ अनेक स्थानीय (local) परिस्थितियो और ऐतिहासिक प्रक्रियाओ के कारण होती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि एक सस्कृति को तब तक नही समझा जा सकता है जब तक उसकी स्थानीय प्रकृति तथा भूत (past) को भी ध्यान मे न रक्खा जाय।

(२) सस्कृति स्थिर है, पर सस्कृति गतिशील भी है और इसमे निरतर परिवर्तन होते रहते हैं (Culture is stable, yet culture is also dynamic, and manifests continuous and constant change)—अगर हम समस्त सम्भावित प्रमाणो को इकट्ठा करे तो यह स्पष्ट होगा कि सस्कृति नि सन्देह ही गतिशील है, पूर्णतया जड या स्थिर सस्कृति तो विनाश प्राप्त सस्कृति (dead culture) ही हो सकती है। जैसा कि

21 M J Herskovits, *op cit*, pp 18-21

पहले ही कहा जा चुका है, सस्कृति का रूप मानव के शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओ से प्रभावित होता है और ये आवश्यकताएँ समय-समय पर बदलती रहती हैं और इनमे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ ही सस्कृति मे भी परिवर्तन होता है। परन्तु ये परिवर्तन इस प्रकार के नही होते हैं कि सस्कृति की व्यवस्था ही बिखर जाय। अनेक परिवर्तनो के बीच भी सस्कृति मे सतुलन तथा सगठन होता है जो कि उसे एक प्रकार की स्थिरता प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, लाखो वर्ष बीत जाने पर भी भारतीय सस्कृति के प्रमुख तत्त्व आज भी स्थिर हैं, यद्यपि इस दौरान मे असख्य परिवर्तन भी इस सस्कृति के विभिन्न भागो मे हुए हैं। इसी कारण सास्कृतिक परिवर्तन का अध्ययन सास्कृतिक स्थिरता के सन्दर्भ मे ही किया जा सकता है। परन्तु इस 'स्थिरता' का यह अर्थ कदापि नही है कि एक सस्कृति के आधारभूत तत्त्वो मे कभी और किसी भी परिस्थिति मे परिवर्तन होता ही नही है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन तत्त्वो मे परिवर्तनशीलता के साथ स्थिरता भी होती है।

(३) **सस्कृति हमारे जीवन की दिशा को अधिकतर निश्चित करती है, फिर भी हमारे सचेत विचार मे शायद ही प्रवेश करती हो** (Culture fills and largely determines the course of our lives, yet rarely intrudes into conscious thought)—सस्कृति हमारे जीवन को जन्म से लेकर मृत्यु तक घेरे रहती है और हमारी जीवन-विधियो को निर्धारित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करती है, परन्तु उनमे से अधिकतर विषयो के सम्बन्ध मे हम प्राय सचेत नही होते। वास्तव मे, सस्कृति सीखे हुए व्यवहारो की समग्रता है और इस सीखने की प्रक्रिया मे केवल सचेत प्रयत्न ही नही, अनेक अचेत क्रियाओ का भी समावेश होता है। जो कुछ भी एक व्यक्ति विशेष अपने काम मे लाता है या अपने वश मे कर सकता है, सस्कृति उससे कही अधिक है। इसीलिये सस्कृति के अनेक पक्षो और प्रभावो के विषय मे हमे पूर्ण ज्ञान नही होता है।

संस्कृति के उपादान
(The Components of Culture)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सस्कृति मे सतुलन और सगठन होता है। यह सगठन अनेक तत्त्वो, इकाइयो, भागो और उपभागो को मिलाकर बनता है। ये तत्त्व या भाग छोटे से छोटे या बडे से बडे हो सकते हैं। इनमे जो पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त निर्भरता पायी जाती है उसी के कारण सस्कृति के ढाँचे मे सतुलन और सगठन उत्पन्न होता है। मानवशास्त्री सम्पूर्ण सस्कृति को एकाएक या एक साथ न समझ सकता है और न ही समझना सम्भव है। इसलिये सस्कृति की विभिन्न इकाइयो या उपादान की विवेचना आवश्यक हो जाती है। सस्कृति के विभिन्न उपादानो को, जिनसे कि उसके ढाँचे का निर्माण होता है, सास्कृतिक तत्त्व, सस्कृति-सकुल, सस्कृति-प्रतिमान और सास्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी सस्कृति के क्रमश बढने वाले उपादान हैं और वह इस अर्थ मे कि सास्कृतिक तत्त्व (culture trait) सस्कृति की सब से छोटी इकाई है जो कि परस्पर मिलकर एक सस्कृति सकुल (culture complex) का निर्माण करती है। ये सस्कृति-

सकुल सस्कृति के ढांचे मे एक विशेष ढग मे व्यवस्थित रहते है जिससे कि एक सस्कृति को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्राप्त होता है। सस्कृति के इस विशिष्ट स्वरूप को सस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) कहते है। इस सस्कृति-प्रतिमान का अर्थात् एक प्रकार की जीवन-विधियो का फैलाव एक विशिष्ट क्षेत्र मे पाया जाता है, जिसे कि सास्कृतिक क्षेत्र (culture area) कहते हैं। सस्कृति के इन उपादानो की विवेचना अब हम विस्तार-पूर्वक करेगे।

सास्कृतिक तत्त्व
(Culture Trait or Element)

सस्कृति के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन-विधियो (life ways) का समावेश होता है। अत स्पष्ट है कि सस्कृति मे अनेक विधियो या तरीको का एक सतुलित सगठन होता है। एक-एक विधि सस्कृति की एक-एक इकाई या तत्त्व है। सस्कृति की इन इकाइयो या तत्त्वो को सास्कृतिक तत्त्व कहते है। ये सास्कृतिक तत्त्व भौतिक और अभौतिक (material and non material) दोनो प्रकार के ही हो सकते है। जैसे, एक वर्तन या एक मेज या एक कहावत या एक जनरीति। इस प्रकार के असख्य सास्कृतिक तत्त्वो को मिलाकर सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे का निर्माण होता है। अत हम कह सकते है कि सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे की सबसे छोटी इकाई को सास्कृतिक तत्त्व कहते है। किसी भी सस्कृति के विश्लेषण तथा निरूपण मे इन इकाइयो या सास्कृतिक तत्त्वो को पहले एकत्रित करना परमावश्यक हो जाता है क्योकि इनके बिना सस्कृति के आधारभूत तत्त्वो या उपादानो को समझा नही जा सकता। प्रत्येक सास्कृतिक तत्त्व की सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था मे एक निश्चित स्थान तथा कार्य होता है और इस प्रकार काम आने की दृष्टि से एक सास्कृतिक तत्त्व का आगे और विभाजन या टुकडा नही हो सकता है। जिस प्रकार पदार्थ का सूक्ष्म भाग परमाणु होता है जो कि फिर विभाजित नही किया जा सकता है, उसी प्रकार **सास्कृतिक तत्त्व सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी वह इकाई है जिसका कि मानव-जीवन मे काम आने की दृष्टि से और विभाजन नहीं हो सकता।**

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "एक सास्कृतिक तत्त्व व्यवहार का एक प्रकार या इस प्रकार के व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है जिसे कि सास्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है।"[22] श्री हर्षकॉविट्स ने सास्कृतिक तत्त्व को एक सस्कृति विशेष मे सबसे छोटी पहचानी जा सकने वाली इकाई (the smallest identifiable unit in a given culture) कहा है,[23] और श्री क्रोबर ने इसे "सस्कृति का न्यूनतम परिभाष्य तत्त्व" (minimal definable element of culture) के रूप मे स्वीकार किया है।[24] अत सक्षेप मे, किसी काम मे आ सके, इस प्रकार की एक सस्कृति

22 "A culture element is a pattern of behaviour (or the material product of such behaviour) that may be treated as the smallest unit of its order' A E Hoebel, *op cit*, p 167

23 M J Herskovits, *op cit*, p 170

24 A L Kroeber, 'Culture Element Distributions III Area and Climax', *University of California Publications in American Archaeology and Ethnology*, 1936, p 101

पहले ही कहा जा चुका है, सस्कृति का रूप मानव के शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओ से प्रभावित होता है और ये आवश्यकताएँ समय-समय पर बदलती रहती हैं और इनमे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ ही सस्कृति मे भी परिवर्तन होता है। परन्तु ये परिवर्तन इस प्रकार के नही होते हैं कि सस्कृति की व्यवस्था ही बिखर जाय। अनेक परिवर्तनो के बीच भी सस्कृति मे सतुलन तथा सगठन होता है जो कि उसे एक प्रकार की स्थिरता प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, लाखो वर्ष बीत जाने पर भी भारतीय सस्कृति के प्रमुख तत्त्व आज भी स्थिर है, यद्यपि इस दौरान मे असख्य परिवर्तन भी इस सस्कृति के विभिन्न भागो मे हुए हैं। इसी कारण सास्कृतिक परिवर्तन का अध्ययन सास्कृतिक स्थिरता के सन्दर्भ मे ही किया जा सकता है। परन्तु इस 'स्थिरता' का यह अर्थ कदापि नही है कि एक सस्कृति के आधारभूत तत्त्वो मे कभी और किसी भी परिस्थिति मे परिवर्तन होता ही नही है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन तत्त्वो मे परिवर्तनशीलता के साथ स्थिरता भी होती है।

(३) **सस्कृति हमारे जीवन की दिशा को अधिकतर निश्चित करती है, फिर भी हमारे सचेत विचार मे शायद ही प्रवेश करती हो** (Culture fills and largely determines the course of our lives, yet rarely intrudes into conscious thought)—सस्कृति हमारे जीवन को जन्म से लेकर मृत्यु तक घेरे रहती है और हमारी जीवन-विधियो को निर्धारित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करती है, परन्तु उनमे से अधिकतर विषयो के सम्बन्ध मे हम प्राय सचेत नही होते। वास्तव मे, सस्कृति सीखे हुए व्यवहारो की समग्रता है और इस सीखने की प्रक्रिया मे केवल सचेत प्रयत्न ही नही, अनेक अचेत क्रियाओ का भी समावेश होता है। जो कुछ भी एक व्यक्ति विशेष अपने काम मे लाता है या अपने वश मे कर सकता है, सस्कृति उससे कही अधिक है। इसीलिये सस्कृति के अनेक पक्षो और प्रभावो के विषय मे हमे पूर्ण ज्ञान नही होता है।

संस्कृति के उपादान
(The Components of Culture)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सस्कृति मे सतुलन और सगठन होता है। यह सगठन अनेक तत्त्वो, इकाइयो, भागो और उपभागो को मिलाकर बनता है। ये तत्त्व या भाग छोटे से छोटे या बडे से बडे हो सकते हैं। इनमे जो पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त निर्भरता पायी जाती है उसी के कारण सस्कृति के ढाँचे मे सतुलन और सगठन उत्पन्न होता है। मानवशास्त्री सम्पूर्ण सस्कृति को एकाएक या एक साथ न समझ सकता है और न ही समझना सम्भव है। इसलिये सस्कृति की विभिन्न इकाइयो या उपादान की विवेचना आवश्यक हो जाती है। सस्कृति के विभिन्न उपादानो को, जिनसे कि उसके ढाँचे का निर्माण होता है, सास्कृतिक तत्त्व, सस्कृति-सकुल, सस्कृति-प्रतिमान और सास्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी सस्कृति के क्रमश बढने वाले उपादान हैं और वह इस अर्थ मे कि सास्कृतिक तत्त्व (culture trait) सस्कृति की सब से छोटी इकाई है जो कि परस्पर मिलकर एक सस्कृति सकुल (culture complex) का निर्माण करती है। ये सस्कृति-

सकुल सस्कृति के ढांचे मे एक विशेष ढग से व्यवस्थित रहते है जिससे कि एक सस्कृति को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्राप्त होता है। सस्कृति के इस विशिष्ट स्वरूप को सस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) कहते है। इस सस्कृति-प्रतिमान का अर्थात् इस प्रकार की जीवन-विधियो का फैलाव एक विशिष्ट क्षेत्र मे पाया जाता है, जिसे कि सास्कृतिक क्षेत्र (culture area) कहते है। सस्कृति के इन उपादानो की विवेचना अब हम विस्तार-पूर्वक करेगे।

सास्कृतिक तत्त्व (Culture Trait or Element)

सस्कृति के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन-विधियो (life ways) का समावेश होता है। अत स्पष्ट है कि सस्कृति मे अनेक विधियो या तरीको का एक सतुलित सगठन होता है। एक-एक विधि सस्कृति की एक-एक इकाई या तत्त्व है। सस्कृति की इन इकाइयो या तत्त्वो को सास्कृतिक तत्त्व कहते है। ये सास्कृतिक तत्त्व भौतिक और अभौतिक (material and non material) दोनो प्रकार के ही हो सकते है। जैसे, एक बर्तन या एक मेज या एक कहावत या एक जनरीति। इस प्रकार के असख्य सास्कृतिक तत्त्वो को मिलाकर सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे का निर्माण होता है। अत हम कह सकते है कि सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे की सबसे छोटी इकाई को सास्कृतिक तत्त्व कहते है। किसी भी सस्कृति के विश्लेषण तथा निरूपण मे इन इकाइयो या सास्कृतिक तत्त्वो को पहले एकत्रित करना परमावश्यक हो जाता है क्योकि इनके बिना सस्कृति के आधारभूत तत्त्वो या उपादानो को समझा नही जा सकता। प्रत्येक सास्कृतिक तत्त्व की सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था मे एक निश्चित स्थान तथा कार्य होता है और इस प्रकार काम आने की दृष्टि से एक सास्कृतिक तत्त्व का आगे और विभाजन या टुकडा नही हो सकता है। जिस प्रकार पदार्थ का सूक्ष्म भाग परमाणु होता है जो कि फिर विभाजित नही किया जा सकता है, उसी प्रकार **सास्कृतिक तत्त्व सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी वह इकाई है जिसका कि मानव-जीवन मे काम आने की दृष्टि से और विभाजन नहीं हो सकता।**

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "एक सास्कृतिक तत्त्व व्यवहार का एक प्रकार या इस प्रकार के व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है जिसे कि सास्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है।"[22] श्री हर्षकॉविट्स ने सास्कृतिक तत्त्व को एक सस्कृति विशेष मे सबसे छोटी पहचानी जा सकने वाली इकाई (the smallest identifiable unit in a given culture) कहा है,[23] और श्री क्रोबर ने इसे "सस्कृति का न्यूनतम परिभाष्य तत्त्व" (minimal definable element of culture) के रूप मे स्वीकार किया है।[24] अत सक्षेप मे, किसी काम मे आ सके, इस प्रकार की एक सस्कृति

22 "A culture element is a pattern of behaviour (or the material product of such behaviour) that may be treated as the smallest unit of its order" A E Hoebel, *op cit*, p 167

23 M J Herskovits, *op cit*, p 170

24 A L Kroeber, 'Culture Element Distributions III Area and Climax', *University of California Publications in American Archaeology and Ethnology*, 1936, p 101

की सबसे छोटी इकाई को साम्कृतिक तत्त्व कहते हैं।

परन्तु परिभाषा से सास्कृतिक तत्त्व का जो अति सरल स्वरूप प्रकट होता है, वास्तव मे वह उतना सरल या सीधा नही है। समग्र रूप मे, या केवल एक खण्ड मे ही सस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ इतनी अधिक घुली-मिली रहती हैं या इनमे इतना अधिक पारस्परिक योग और अन्त निर्भरता होती है कि सबसे छोटी इकाई को पृथक् और परिभाषित करना एक प्रकार से असम्भव न सही फिर भी कठिन अवश्य ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक मकान को लीजिए जिसमे कि एक परिवार निवास करता है। इसका प्रत्येक कमरा इस मकान की एक-एक इकाई है। तो क्या इनमे से प्रत्येक कमरा एक सास्कृतिक तत्त्व है? इस प्रश्न का उत्तर सूझने से पहले ही दूसरे और प्रश्न हमे परेशान कर सकते है। जैसे, इन कमरो मे एक कमरा सोने का कमरा है जिसमे कि दो पलग, दो-एक टेबुल, कुछ किताबें, एक घडी, एक-दो टेबुल लैम्प, चद्दर, तकिया, गद्दा, दरी आदि कितनी ही इकाइयाँ मौजूद हैं। अगर हम उस सोने के कमरे को एक सास्कृतिक तत्त्व मानते हैं तो उसके अन्दर ये सब टेबुल, तकिया, लैम्प, दरी, चद्दर, किताबें, घडी आदि भी तो एक-एक सास्कृतिक तत्त्व हैं। केवल इतना ही नही, इनमे से प्रत्येक इकाई मे भी अनेक अन्य इकाइयो का समावेश हो सकता है जैसे, पलग मे लकडी के अनेक टुकडे, कील, पेंच (screw), निवाड आदि। वास्तव मे ये सब भी एक एक इकाइयाँ या सास्कृतिक तत्त्व हैं, जो कि मानव के किसी न किसी काम मे आते हैं। परन्तु इनका आगे और विभाजन सम्भव नही। जैसे, कील या पेंच के दो टुकडे कर देने पर फिर उससे कील या पेंच का काम नही लिया जा सकेगा, उसी प्रकार पलग को दो-चार टुकडो मे काट डालने से फिर वह पलग का काम नही देगा। घडी मे भी अनेक पुर्जे हैं, वे सभी घडी की एक-एक इकाई हैं, पर उनको अलग-अलग रखने से घडी की उपयोगिता हमे नही मिलेगी—वे सब एक साथ मिलकर ही घडी का निर्माण करते हैं और उस प्रकार की निर्मित घडी को एक निश्चित काम मे लाते हैं। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य के किसी काम मे आने की दृष्टि से आगे विभाजित न हो सकने वाली सबसे छोटी इकाई को सास्कृतिक तत्त्व कहते हैं।

सास्कृतिक तत्त्व की **तीन** प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख किया जाता है जो कि निम्नवत् हैं :—

(१) प्रत्येक सास्कृतिक तत्त्व का, उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे, एक इतिहास होता है, चाहे वह इतिहास छोटा हो या बडा। उदाहरणार्थ, सर्वप्रथम घडी का आविष्कार किसने किया और कब किया, पहले की सूर्य-घडी से आधुनिक स्वय क्रियाशील या आप से आप चलने वाली (automatic) घड़ी का क्रम-विकास कैसे हुआ, इत्यादि के सम्बन्ध मे एक इतिहास है। उसी प्रकार एक विशेप प्रकार के विश्वास का या किसी पशु या पौधे को टोटम (totem) के रूप मे स्वीकार करने का एक इतिहास ढूँढा जा सकता है।

(२) सास्कृतिक तत्त्व, सस्कृति की भाँति, स्थिर नही होता, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेपता है। सास्कृतिक तत्त्व से सम्बन्धित व्यक्ति (अर्थात् जो लोग सास्कृतिक तत्त्व के अधिकारी होते हैं या उन्हे काम मे लाते हैं) जैसे-जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान को फैलते रहते हैं या दूसरे लोगो के सम्पर्क मे आते हैं, वैसे-वैसे सास्कृतिक तत्त्व भी

फैलते रहते है। एक संस्कृति-समूह दूसरे संस्कृति-समूह से मिलता है, तो सांस्कृतिक तत्त्वो का आदान-प्रदान होता है। आधुनिक युग मे यातायात तथा संचार के साधनो मे उत्तरोत्तर उन्नति होने के फलस्वरूप सांस्कृतिक तत्त्वो की गतिशीलता और भी बढ गयी है। अब तो अनेक जनजातियो (tribes) के सांस्कृतिक तत्त्व सभ्य समाजो मे भी तेजी से फैलते जा रहे है और बहुत से फैल भी गये है। सांस्कृतिक तत्त्व की यह विशेषता अन्त तक सांस्कृतिक परिवर्तन का एक कारण बन जाती है और संस्कृति के ढांचे मे परिवर्तन लाती भी है।

(३) सांस्कृतिक तत्त्वो मे पृथक्-पृथक् या छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नही होती है। वे फूलो के गुलदस्ते की तरह एक साथ घुल-मिलकर रहते है क्योकि कोई भी तत्त्व अकेला स्थायी नही रह सकता। उदाहरणार्थ, घडी एक सास्कृतिक तत्त्व है, परन्तु समस्त मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति केवल घडी से ही नही हो सकती, इसके लिए अन्य अनेक सास्कृतिक तत्त्वो की आवश्यकता होगी। इस कारण ये सभी सांस्कृतिक तत्त्व एक साथ मिलकर संस्कृति को एक या विविध आवश्यकताओ की पूर्ति करते है। यदि केवल घडी को ही लिया जाय तो भी हम यही पायेंगे कि घडी के विभिन्न पुर्जो या इकाइयो मे एक शृंखला या संगठन है, सभी पुर्जो को एक क्रम मे लगाया जाना चाहिये, नही तो घडी नही चलेगी। कोई भी पुर्जा इधर-उधर हो जाने से घडी बेकार हो जाएगी। इस अर्थ मे भी सास्कृतिक तत्त्वो से छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नही होती है।

सास्कृतिक तत्त्वो का सर्वप्रमुख महत्त्व यह है कि इन तत्त्वो को समझे बिना किसी भी संस्कृति का पूर्णतया समझना सम्भव नही है। किसी भी संस्कृति के अध्ययन, विश्लेषण तथा निरूपण मे ये सास्कृतिक तत्त्व वे प्राथमिक चरण या आधार हैं, जिनपर कि सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचा निर्भर रहता है। सर्वश्री गिफोर्ड तथा क्रोबर (Gifford & Kroeber) ने संस्कृति का अध्ययन सास्कृतिक तत्त्व सम्बन्धी प्रश्नावली (a trait question list) की सहायता से किया था। उसी प्रकार सर्वश्री रे (Ray), क्लिमेक आदि ने भी साकृतिक तत्त्वो के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। इन तत्त्वो के अध्ययन से एक और लाभ यह होता है कि इनके आधार पर दो या अधिक संस्कृतियो का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो जाता है। श्री टायलर (Tylor) ने इसी आधार पर विभिन्न संस्कृतियो का अध्ययन किया था। उसी प्रकार श्री बोआस (Boas) ने यह अध्ययन करने के लिए कि पौराणिक कथाओ (mythology) का क्या प्रभाव मानव जीवन के तरीको पर पडता है, विभिन्न संस्कृतियो के सास्कृतिक तत्त्वो को तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। कुछ भी हो, अध्ययन-कार्य मे इनको प्रयोग करने के सम्बन्ध मे पर्याप्त सावधानी बरतनी पडती है क्योकि ये सास्कृतिक तत्त्व आपस मे इस प्रकार घुले-मिले रहते है कि इनमे से किसी एक का पृथक् मूल्याकन सम्भव नही होता।

संस्कृति-संकुल
(Culture Complex)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सास्कृतिक तत्त्वो की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि वे फुलो के गुलदस्तो की भाँति घुले-मिले रहते है। मानव-संस्कृति या समाज

मे एक सास्कृतिक तत्त्व का कोई अर्थ ही नही होता है। प्राय अनेक सास्कृतिक तत्त्व एक साथ गुंथे हुए रहकर मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। जब कुछ या अनेक सास्कृतिक तत्त्व आपस मे घुल-मिलकर मानव आवश्यकता की पूर्ति करते हैं या मानव-उपयोग (use) मे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है तो सास्कृतिक तत्त्वो के उस गुच्छे या सकुल को सस्कृति-सकुल कहते हैं। और भी सक्षेप मे, **सस्कृति-सकुल सास्कृतिक तत्त्वों का वह गुच्छा या मिलित रूप है जो कि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।**

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "सस्कृति-सकुल परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित प्रतिमानो का एक जाल है।"[25]

सर्वश्री सदरलैण्ड तथा वुडवार्ड के शब्दो मे सस्कृति-सकुल "सास्कृतिक तत्त्वो का वह समग्र समूह है जो कि एक अर्थपूर्ण अन्त सम्बन्ध मे परस्पर गुंथे होते हैं।"[26]

उपरोक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि सस्कृति-सकुल सास्कृतिक तत्त्वो का ही एक मिलित रूप या गुच्छा (cluster) है जिनमे कि मिलित होने पर एक अर्थपूर्ण ढग का पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है और जो सम्पूर्ण सस्कृति के अन्तर्गत उसके एक अग के रूप मे कार्य करता है जिसके फलस्वरूप मानव की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति सम्भव होती है। भाषा एक सस्कृति-सकुल है क्योकि इसके अन्तर्गत अनेक शब्दो, वाक्यो, कहावतो, व्याकरण आदि का, जो कि एक-एक सास्कृतिक तत्त्व हैं, समावेश होता है। स्मरण रहे कि केवल शब्दो या वाक्यो के मनमाने सग्रह से ही भाषा नही बन जाती है, इन शब्दो और वाक्यो का अर्थपूर्ण ढग से मिलन भी भाषा के निर्माण मे आवश्यक है। उदाहरण के लिए, एक सामान्य वाक्य (sentence) के निर्माण को ही लीजिये। 'हम', 'खाना', 'आज', 'साथ', 'तुम', 'साथ', 'खायेंगे,—ये सभी अलग-अलग शब्द हैं, इन्हे इसी रूप या क्रम से प्रस्तुत करने से इनमे कोई भी अर्थ नही निकलता है परन्तु अगर हम इन्ही शब्दो को अर्थपूर्ण ढग से परस्पर सम्बन्धित कर दे तो उसका रूप इस प्रकार होगा—'आज हम तुम साथ-साथ खाना खायेंगे।' और इस रूप मे इन शब्दो के द्वारा हम अपने विचार को व्यक्त कर सकते हैं। यही बात भाषा के सम्बन्ध मे भी सत्य है जो कि अनेक शब्दो, विचारो, व्याकरण, कहावत आदि का एक अर्थपूर्ण सग्रह है और जिसके द्वारा विचारो का आदान-प्रदान सम्भव है। इसीलिए मैंने अपनी सस्कृति-सकुल की उपरोक्त परिभाषा मे इसे (सस्कृति-सकुल) सास्कृतिक तत्त्वो का वह गुच्छा या मिलित रूप कहा है जो कि मानव आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। यहाँ पर 'मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति करता है' इस वाक्याश से यह भ्रम न होना चाहिए कि सस्कृति-सकुल एक सस्था नही है क्योकि मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति करने के स्वीकृत (accepted) या स्थापित (established) साधनो को ही सस्था कहा जाता है। पर सस्कृति-सकुल मे यह जरूरी नही कि वह मानव-आवश्यकताओ की

25 "A complex is a network of closely related patterns" Hoebel, *op cit*, p 167

26 Culture Complex is "a whole set of culture traits that 'cluster' together in a meaningful interrelationship" Sutherland and Woodward, *Introductory Sociology*, J B Lippin Cott Co, New York, 1948, p 34

पूर्ति का स्वीकृत या स्थापित साधन ही हो। वास्तव मे, जैसा कि श्री पिडिंगटन (Piddington) का कथन है, सस्कृति-सकुल मे सास्कृतिक तत्त्वो का सयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) के कारण या महज आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण हो।[27] उदाहरणार्थ, भारत मे खेती, यह एक सास्कृतिक तत्त्व (culture trait) है परन्तु इस खेती से सम्बन्धित अन्य तत्त्व है जैसे, खेत जोतने के पहले हल और बैल की पूजा करना, चिडियो से फसल की रक्षा के लिये खेत मे 'धोख' लगाना, फसल काटकर खलियान मे रखना व नौ प्रकार के नये अनाज से खाना पकाना आदि अन्य सास्कृतिक तत्त्वो का सयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) ही है। इसके विपरीत हिन्दू स्त्रियो के सौन्दर्य-सकुल (beauty complex) के अन्तर्गत कौन कौन से सास्कृतिक तत्त्वो (culture traits) का समावेश होगा यह अनेक आकस्मिक कारको पर निर्भर करेगा क्योकि उपरोक्त खेती-सकुल की भांति सौन्दर्य-सकुल के अन्य सास्कृतिक तत्त्वो का सम्मिलन किसी प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (functional point of view) से अनिवार्य या आवश्यक नही है। इसीलिये हिन्दू स्त्रियो के सौन्दर्य-सकुल के अन्तर्गत चूडी, कगन तथा अन्य आभूषण (ornaments), सिंदूर, बिन्दी, सुर्मा पाउडर, लिपिस्टिक, नाखूनो की लाली, आलता, तेल, सेन्ट आदि का समावेश आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण कहा जा सकता है, क्योकि फैशन आदि मे परिवर्तन के साथ-साथ इस सकुल मे सास्कृतिक तत्त्वो का प्राय नये तौर पर घटना-बढना सम्भव है। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध मे इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि सस्कृति-सकुल मे एकाधिक सास्कृतिक तत्त्वो का समावेश होता है, और ये सास्कृतिक तत्त्व परस्पर अन्त क्रिया करते हुए एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) को निश्चित करते है। इसीलिये सस्कृति सकुल को सास्कृतिक तत्त्वो के अन्त क्रिया का प्रतिमान (pattern of the interaction of culture traits) कहकर भी परिभाषित किया जाता है।

सस्कृति-सकुल के अनेक उदाहरण हमे अपने समाज तथा आदिम समाज दोनो मे ही मिल सकते हैं। श्री विली (Willey) ने 'फुटबाल-सकुल' (football complex) का अति रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। आपने लिखा है कि खेल मे प्रयोग की जाने वाली हर चीज एक-एक तत्त्व (trait) है जैसे स्वय गेंद, गोल-पोस्ट (goal posts), मैदान (stadium), वर्दी (uniform) विशेष प्रकार के जूते, गोलकीपर के दस्ताने, रेफरी की सीटी (whistle) आदि। परन्तु ये सब चीजें सम्पूर्ण फुटबाल के खेल के केवल कुछ ही तत्त्व हैं, इनके अलावा भी अनेक तत्त्वो (traits) का समावेश इस खेल मे है जैसे, खेल से सम्बन्धित अनेक नियम स्वय ही अनेक तत्त्वो का सग्रह है। इसके अतिरिक्त खेल के समय बजने वाले बैण्ड (band), दर्शको का हर्ष-ध्वनि या ताली पीटना और खिलाडियो को प्रोत्साहित करना, मैदान के चारो कोनो मे लगे हुए झण्डे, टिकट, सीट

---

27 "The aggregation of traits in a complex may be due to functional association or to what is called *adhesion*, that is, the apparently accidental co-existence of culture traits" Ralph Piddington, *op cit*, p 22

मे एक सास्कृतिक तत्त्व का कोई अर्थ ही नही होता है। प्राय अनेक सास्कृतिक तत्त्व एक साथ गुँथे हुए रहकर मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। जब कुछ या अनेक सास्कृतिक तत्त्व आपस मे घुल-मिलकर मानव आवश्यकता की पूर्ति करते हैं या मानव-उपयोग (use) मे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है तो सास्कृतिक तत्त्वो के उस गुच्छे या सकुल को सस्कृति-सकुल कहते हैं। और भी सक्षेप मे, **संस्कृति-सकुल सास्कृतिक तत्त्वों का वह गुच्छा या मिलित रूप है जो कि मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति करता है।**

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "सस्कृति-सकुल परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित प्रतिमानो का एक जाल है।"[25]

सर्वश्री सदरलैण्ड तथा वुडवार्ड के शब्दो मे सस्कृति-सकुल "सास्कृतिक तत्त्वो का वह समग्र समूह है जो कि एक अर्थपूर्ण अन्त सम्बन्ध मे परस्पर गुँथे होते हैं।"[26]

उपरोक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि सस्कृति-सकुल सास्कृतिक तत्त्वो का ही एक मिलित रूप या गुच्छा (cluster) है जिनमे कि मिलित होने पर एक अर्थपूर्ण ढग का पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है और जो सम्पूर्ण सस्कृति के अन्तर्गत उसके एक अग के रूप मे कार्य करता है जिसके फलस्वरूप मानव की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति सम्भव होती है। भाषा एक सस्कृति-सकुल है क्योकि इसके अन्तर्गत अनेक शब्दो, वाक्यो, कहावतो, व्याकरण आदि का, जो कि एक-एक सास्कृतिक तत्त्व है, समावेश होता है। स्मरण रहे कि केवल शब्दो या वाक्यो के मनमाने सग्रह से ही भाषा नही बन जाती है, इन शब्दो और वाक्यो का अर्थपूर्ण ढग से मिलन भी भाषा के निर्माण मे आवश्यक है। उदाहरण के लिए, एक सामान्य वाक्य (sentence) के निर्माण को ही लीजिये। 'हम', 'खाना', 'आज', 'साथ', 'तुम', 'साथ', 'खायेंगे,—ये सभी अलग-अलग शब्द हैं, इन्हे इसी रूप या क्रम से प्रस्तुत करने से इनमे कोई भी अर्थ नही निकलता है परन्तु अगर हम इन्ही शब्दो को अर्थपूर्ण ढग से परस्पर सम्बन्धित कर दें तो उसका रूप इस प्रकार होगा— 'आज हम तुम साथ-साथ खाना खायेंगे।' और इस रूप मे इन शब्दो के द्वारा हम अपने विचार को व्यक्त कर सकते हैं। यही बात भाषा के सम्बन्ध मे भी सत्य है जो कि अनेक शब्दो, विचारो, व्याकरण, कहावत आदि का एक अर्थपूर्ण सग्रह है और जिसके द्वारा विचारो का आदान-प्रदान सम्भव है। इसीलिए मैंने अपनी सस्कृति-सकुल की उपरोक्त परिभाषा मे इसे (सस्कृति-सकुल) सास्कृतिक तत्त्वो का वह गुच्छा या मिलित रूप कहा है जो कि मानव आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। यहाँ पर 'मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति करता है' इस वाक्याश से यह भ्रम न होना चाहिए कि सस्कृति-सकुल एक सस्था नही है क्योकि मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति करने के स्वीकृत (accepted) या स्थापित (established) साधनो को ही सस्था कहा जाता है। पर सस्कृति-सकुल मे यह जरूरी नही कि वह मानव-आवश्यकताओ की

25 "A complex is a network of closely related patterns" Hoebel, *op cit*, p 167

26 Culture Complex is "a whole set of culture traits that 'cluster' together in a meaningful interrelationship" Sutherland and Woodward, *Introductory Sociology*, J B Lippin Cott Co, New York, 1948, p 34

पूर्ति का स्वीकृत या स्थापित साधन ही हो। वास्तव मे, जैसा कि श्री पिडिगटन (Piddington) का कथन है, सस्कृति-सकुल मे सास्कृतिक तत्त्वो का सयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) के कारण या महज आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण हो।[27] उदाहरणार्थ, भारत मे खेती, यह एक सास्कृतिक तत्त्व (culture trait) है परन्तु इस खेती से सम्बन्धित अन्य तत्त्व है जैसे, खेत जोतने के पहले हल और बैल की पूजा करना, चिडियो से फसल की रक्षा के लिये खेत मे 'घोख' लगाना, फसल काटकर खलियान मे रखना व नौ प्रकार के नये अनाज से खाना पकाना आदि अन्य सास्कृतिक तत्त्वो का सयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) ही है। इसके विपरीत हिन्दू स्त्रियो के सौन्दर्य-सकुल (beauty complex) के अन्तर्गत कौन कौन से सास्कृतिक तत्त्वो (culture traits) का समावेश होगा यह अनेक आकस्मिक कारको पर निर्भर करेगा क्योकि उपरोक्त खेती-सकुल की भाँति सौन्दर्य-सकुल के अन्य सास्कृतिक तत्त्वो का सम्मिलन किसी प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (functional point of view) से अनिवार्य या आवश्यक नही है। इसीलिये हिन्दू स्त्रियो के सौन्दर्य-सकुल के अन्तर्गत चूडी, कगन तथा अन्य आभूषण (ornaments), सिदूर, बिन्दी, सुर्मा पाउडर, लिपिस्टिक, नाखूनो की लाली, आलता, तेल, सेन्ट आदि का समावेश आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण कहा जा सकता है, क्योकि फैशन आदि मे परिवर्तन के साथ-साथ इस सकुल मे सास्कृतिक तत्त्वो का प्राय नये तौर पर घटना-बढना सम्भव है। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध मे इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि सस्कृति-सकुल मे एकाधिक सास्कृतिक तत्त्वो का समावेश होता है, और ये सास्कृतिक तत्त्व परस्पर अन्त क्रिया करते हुए एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) को निश्चित करते है। इसीलिये सस्कृति सकुल को सास्कृतिक तत्त्वो के अन्त क्रिया का प्रतिमान (pattern of the interaction of culture traits) कहकर भी परिभाषित किया जाता है।

सस्कृति-सकुल के अनेक उदाहरण हमे अपने समाज तथा आदिम समाज दोनों मे ही मिल सकते हैं। श्री विली (Willey) ने 'फुटबाल-सकुल' (football complex) का अति रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। आपने लिखा है कि खेल मे प्रयोग की [illegible] वाली हर चीज एक-एक तत्त्व (trait) है जैसे स्वय गेंद, गोल-पोस्ट (goal post) मैदान (stadium), वर्दी (uniform) विशेप प्रकार के जूते, गोलकीपर के [illegible] रेफरी की सीटी (whistle) आदि। परन्तु ये सब चीजें सम्पूर्ण फुटबाल के खेल [illegible] कुछ ही तत्त्व हैं, इनके अलावा भी अनेक तत्त्वो (traits) का समावेश इस [illegible] जैसे, खेल से सम्बन्धित अनेक नियम स्वय ही अनेक तत्त्वो का सग्रह है। इसके [illegible] खेल के समय बजने वाले बैण्ड (band), दर्शको का हर्ष-ध्वनि या ताली [illegible] खिलाडियो को प्रोत्साहित करना, मैदान के चारो कोनो मे लगे हुए झ[illegible]

27 "The aggregation of traits in a complex may be due to [illegible] ciation or to what is called *adhesion*, that is, the apparently acc[illegible] tence of culture traits" Ralph Piddington, *op cit*, p 22

सुरक्षित (reserve) कराने की व्यवस्था, टिकट-घर, बेंच या कुर्सियाँ, पत्रकारो तथा विशेष अतिथियो (guests) के लिये बैठने का विशेष प्रबन्ध, सोडा वाटर की बोतलें, चनाचूर और चीना बादाम के पैकेट आदि सभी चीजे फुटवाल के खेल मे ही आ जाती हैं और इनके बिना खेल पूरा भी नही हो सकता। परन्तु फुटबाल-सकुल का अन्त यहीं नहीं होता क्योकि खेल समाप्त होने के बाद खेल का जो विस्तारित विवरण समाचार-पत्र मे निकलता है, कालेज आदि मे विशेष खेल के दिनो मे जो छुट्टियाँ होती हैं, खेल के बाद जो कप और शील्ड विजयी दल को दिया जाता है और उस विजय की खुशी मे उसी रात को जो पार्टियाँ दी जाती हैं, वे सभी मिलकर वास्तव मे इस सकुल को पूरा करते हैं क्योकि इन सबका आधार फुटबाल का खेल ही है। इन तमाम तत्त्वो (traits) के इस 'महा मिलन' या सम्पूर्ण योग को ही फुटबाल-सकुल कहते हैं।[28] उसी प्रकार हिन्दुओ मे 'विवाह-संकुल' के अन्तर्गत केवल ऐसे सास्कृतिक तत्त्व जैसे मगल कलस, मडवा, हवन-सामग्री, आभूषण, वस्त्र, दान-सामग्री, दहेज, भोज की चीजें, सप्तपदी, मत्र तथा ऐसे ही अनेक प्रथा, रीति-रस्म व सस्कार ही सम्मिलित नही हैं, बल्कि सोहाग रात मनाने के लिये आवश्यक वस्तुएँ तथा रीतियाँ, 'गौना' (द्विरागमन) से सम्बन्धित चीजें तथा रीति-रिवाज, पत्नी के पहली बार 'माँ' बनने पर 'पचवासा' या 'सतवासा' के अवसर पर होने वाली रस्मे या पत्नी के बाँझ होने पर पुत्र-प्राप्ति के लिये दूसरी शादी आदि कितने ही सास्कृतिक तत्त्वो का समावेश हिन्दुओ के विवाह-सकुल मे होता है।

ऐसे भी कुछ सस्कृति-सकुल होते है जिन्हे कि सह-सकुलो (component complexes) मे विभाजित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक समाज के याता-यात-सकुल (transport complex) मे विभिन्न सह-सकुलो का समावेश होता है जैसे, वायु यातायात-सकुल, रेल यातायात-सकुल, जल यातायात-सकुल आदि।

सस्कृति-प्रतिमान
(Culture Pattern)

जैसा कि अब तक की विवेचना से स्पष्ट है, अनेक सास्कृतिक तत्त्वो के सम्मिलन से एक सस्कृति-संकुल बनता है, परन्तु सस्कृति के ये सकुल शून्य मे रहकर कार्य नही करते, बल्कि सम्पूर्ण सास्कृतिक ढांचे के अन्तर्गत प्रत्येक सकुल का एक निश्चित स्थान या स्थिति और कार्य होता है। ये सब मिलकर या मिलित रूप मे एक सस्कृति की प्रमुख विशेषताओ को व्यक्त करते हैं। **सास्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत सस्कृति-सकुलों की उस व्यवस्था (arrangement) को, जिससे कि सम्पूर्ण सस्कृति की विशेषताएं व्यक्त हों, सस्कृति-प्रतिमान कहते हैं।**

सर्वश्री सदरलैण्ड तथा वुडवार्ड के शब्दो मे, "सम्पूर्ण सस्कृति की एक प्रकार का समान्यकृत चित्र के रूप मे सकुलो का एक सग्रह सस्कृति-प्रतिमान है।"[29] श्री

---

28 M M Willey, in Davis, Barnes, *An Introduction to Sociology*, D C Heath and Co, p 524

29 "The culture pattern is a grouping of trait complexes into a sort of generalized picture of the culture as a whole" Sutherland and Woodward, *op cit*, p 36

हर्षकॉविट्स ने सस्कृति-प्रतिमान की परिभाषा और भी विस्तृत रूप मे प्रस्तुत की है। आपके मतानुसार, सस्कृति-प्रतिमान "एक सस्कृति के तत्त्वो का वह डिजाइन है जो कि, उस समाज के सदस्यो के व्यक्तिगत व्यवहार-प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ, जीवन के तरीके को सबद्धता, निरन्तरता तथा विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है।"[30]

उपरोक्त परिभाषाओ से सस्कृति-प्रतिमान की प्रकृति का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है। सस्कृति-प्रतिमान की किसी भी विवेचना मे यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि सस्कृति कोई गडबड-झाले की या अव्यवस्थित चीज नही है। प्रत्येक सस्कृति मे, चाहे वह आदिम समाज की हो या सभ्य समाज की, एक सगठन होता है। यह सगठन इस कारण दिखायी पडता है कि सस्कृति के विभिन्न पक्ष और तत्त्व या सकुल एक विशिष्ट ढग या फैशन से सस्कृति के ढाँचे के अन्दर सजे हुए होते हैं। सस्कृति इन तत्त्वो या सकुलो से इस प्रकार बनी होती है जिस प्रकार पत्थरो से एक मकान। परन्तु केवल सस्कृति-सकुलो (culture complexes) का एकत्रीकरण उसी प्रकार सस्कृति नही कहा जा सकता जिस प्रकार पत्थरो के ढेर को मकान नही कह सकते। मकान कहलाने के लिये इन पत्थरो मे एक व्यवस्था (arrangement), क्रम (order) या ढग होना चाहिये। एक विशिष्ट ढग से पत्थरो को सयुक्त करने से एक कमरा बनता है और इन कमरो को एक क्रम से लगाने या सजाने पर मकान बनता है। ठीक उसी प्रकार सस्कृति-सकुलो के एक विशिष्ट ढग से व्यवस्थित हो जाने से सस्कृति-प्रतिमान बनता है और इन सस्कृति-प्रतिमानो की सम्पूर्ण व्यवस्था को सस्कृति कहते है। अत स्पष्ट है कि **सम्पूर्ण सस्कृति के ढाँचे के अन्दर एक विशिष्ट ढग या क्रम से सजे हुए सस्कृति-सकुलो के मिलित रूप को सस्कृति-प्रतिमान कहते है।**

सस्कृति-प्रतिमान के सम्बन्ध मे प्रो० रुथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने महत्त्वपूर्ण विचारो को प्रस्तुत किया है। इनकी विवेचना हमने इसी अध्याय मे 'सरूपणात्मक दृष्टिकोण' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक करेंगे। यहाँ केवल इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि एक सस्कृति के अन्तर्गत छोटे-छोटे अनेक खण्ड या इकाइयाँ होते हैं, ये इकाइयाँ अलग-अलग नही रहते बल्कि एक साथ इस प्रकार सगठित हो जाते हैं कि सस्कृति को एक विशिष्ट रूप या डिजाइन प्राप्त हो जाता है। सस्कृति के विभिन्न खण्डो या उपखण्डो के इस सम्बद्ध रूप को ही सस्कृति-प्रतिमान कहते है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सस्कृति-प्रतिमान के अध्ययन से एक सस्कृति की प्रमुख विशेषताओ का ज्ञान सरलता से हो सकता है और सस्कृति-प्रतिमान की अवधारणा का यही सबसे उल्लेखनीय महत्त्व है। उदाहरणार्थ, भारतीय सस्कृति के अन्तर्गत पाये जाने वाले सस्कृति-प्रतिमान जैसे, जाति प्रथा, पचायत, सयुक्त-परिवार, धार्मिक भिन्नता, खेती, गाधीवाद, अध्यात्म जीवन-दर्शन आदि भारतीय सस्कृति की विशेषताओ

30 Culture pattern is "the designs taken by the elements of a culture which, as consenses of the individual behaviour patterns manifest by the members of a society, give to this way of life coherence, continuity, and distinctive form" M J Herskovits, *op cit*, p 202

और आधारो को बताते है। सामाजिक मानवशास्त्र मे इसी कारण सस्कृति-प्रतिमान के अध्ययन का महत्त्व किसी न किसी रूप मे दिन-प्रति-दिन बढता ही जा रहा है।

सास्कृतिक-क्षेत्र
(Culture Area)

उपरोक्त पक्षो के अतिरिक्त प्रत्येक सस्कृति का भौगोलिक पक्ष भी होता है जिसके सम्बन्ध मे कुछ विवेचना कर लेना आवश्यक है। अगर हम एक महाद्वीप (continent) के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा करें तो हम यह पायेंगे कि दो अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रो के सास्कृतिक तत्त्वो (culture traits) और संस्कृति-सकुलों (culture complexes) मे कुछ न कुछ अन्तर अवश्य ही है। दो आस-पास के क्षेत्रो की अपेक्षा यदि हम दूर-दूर के क्षेत्रो का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह भिन्नता या अन्तर और भी स्पष्ट हो जायेगा कि दो क्षेत्रो के सास्कृतिक तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं। इसी को दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि सास्कृतिक तत्त्वो या सकुलो का फैलाव एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र मे ही विशेष रूप से होता है। वह भौगोलिक क्षेत्र **जिसमे कि सस्कृति के एक से तत्त्व (traits) या सकुल (complexes) विशेष रूप से पाये जाते है, सास्कृतिक क्षेत्र कहलाता है।** श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) के शब्दो मे, "उस क्षेत्र को जिसमे कि एक-सी सस्कृतियाँ पायी जाती हैं, एक सास्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है।"[31]

उपरोक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि सस्कृति या उसके तत्त्वो का फैलाव एक भौगोलिक क्षेत्र मे विशेष रूप से होता है। सस्कृति को चूंकि सीखा जाता है इस कारण कोई भी व्यक्ति किसी भी सस्कृति को सीख सकता है। परन्तु अपने पास-पडोस वाली सस्कृति को सीखना जितना सरल है उतनी सरलता से दूर की सस्कृतियो को नही सीखा जा सकता। इस कारण सास्कृतिक तत्त्वो मे गतिशीलता का गुण होते हुए भी एक निश्चित भूभाग मे ही वे विशेष रूप से पाये जाते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि एक ही सास्कृतिक तत्त्व विभिन्न क्षेत्रो मे समान या एक से हो, फिर भी सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था या सस्कृति-सकुल मे उनका स्थान और विशेषता भिन्न-भिन्न क्षेत्र मे अलग-अलग होता है। सास्कृतिक क्षेत्र की किसी भी विवेचना मे इस सत्य को न भूलना चाहिए।

श्री क्लार्क विसलर (Clark Wissler) का कथन है कि सास्कृतिक तत्त्व और सकुल, विशेषकर अगर वे अभौतिक (non-material) है, दूसरे सस्कृति के तत्त्वो और सकुलो के साथ मिश्रित हुए विना अधिक दूर तक फैल नही सकते। इसका प्रभाव यह होता है कि ये सास्कृतिक तत्त्व और सकुल अपने मूल रूप मे केवल एक सीमित क्षेत्र मे ही पाये जाते हैं। श्री विसलर के मतानुसार प्रत्येक सास्कृतिक क्षेत्र का, जिसमे कि कुछ सस्कृति-सकुल पाये जाते हैं, एक केन्द्रीय भाग या 'केन्द्र स्थान' ढूंढा जा सकता

---

31 "The area in which similar cultures are found is called a culture area" M J Herskovits, *op cit.*, p 183

है जहाँ मे कि सास्कृतिक तत्त्व अन्य क्षेत्रो मे फैलते हैं और वहाँ के सास्कृतिक तत्त्वो से मिश्रित होते रहते हैं। दूसरे शब्दो मे, श्री विसलर का यह विश्वास है कि एक सास्कृतिक क्षेत्र मे एक ऐसा भी स्थान होता है जहाँ कि कुछ सास्कृतिक तत्त्व अपने विशिष्ट रूप मे पाये जाते है और वे सास्कृतिक तत्त्व उस रूप मे और कहीं नही मिलते। अगर मिलते भी है तो मिश्रित रूप मे। श्री विसलर का यह भी कहना है कि अधिक दूरी, पर्वत, सागर व महासागर, घने जगल या विस्तृत रेगिस्तान सास्कृतिक तत्त्वो के फैलने मे प्रमुख बाधा है।

वैसे तो श्री सापिर (Sapir) तथा अन्य विद्वानो ने सास्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा को सैद्धान्तिक रूप मे प्रयोग किया था, पर श्री विसलर ही प्रथम विद्वान थे जिन्होने इसकी क्रमबद्ध और वास्तविक विवेचना प्रस्तुत की। आपकी यह विवेचना अमेरिकन, इण्डियन के सस्कृतियो के अध्ययन पर आधारित है। इसी विवेचना के दौरान मे आपने सास्कृतिक क्षेत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि नयी दुनिया (New World) के आदिवासियो को सास्कृतिक तत्त्वो के अनुसार बाँटा जाय तो हमे भोजन-क्षेत्र, वस्त्र-क्षेत्र, धर्म-क्षेत्र आदि प्राप्त हो सकते है। परन्तु यदि हम एक साथ सभी तत्त्वो (traits) को ध्यान मे रक्खें और अपने दृष्टिकोण को सामाजिक या जनजातीय इकाइयो की ओर घुमाये, तो हम बहुत कुछ निश्चित समूहो का पता लगा सकते है। यही सास्कृतिक क्षेत्र है अर्थात् सास्कृतिक तत्त्वो के आधार पर सामाजिक समूहो का वर्गीकरण।"[32] श्री विसलर ने सामाजिक समूहो को ही आधार मानकर सास्कृतिक क्षेत्र की परिभाषा निम्न शब्दो मे की है—"सास्कृतिक क्षेत्र वह भौगोलिक प्रदेश है जिसमे काफी सख्या मे एक-सी सस्कृति वाली बहुत कुछ स्वतन्त्र जनजातियाँ निवास करती हैं।[33] परन्तु इस सम्बन्ध मे, श्री विसलर के मतानुसार, यह ध्यान मे रखना होगा कि यह समानता सस्कृति के कुछ छिटके हुए तत्त्वो मे पाये जाने से ही काम नही चलेगा, यह समानता आम जनता द्वारा अपनाए गए महत्त्वपूर्ण सस्कृति-सकुलो मे होनी चाहिए।

जैसा कि 'क्षेत्र' शब्द से पता चलता है, सास्कृतिक क्षेत्र की कोई निश्चित सीमा-रेखा नही होती है और वह इस अर्थ मे कि हम स्पष्टत यह नही कह सकते कि अमुक स्थान पर एक सास्कृतिक क्षेत्र समाप्त हुआ और दूसरा सास्कृतिक क्षेत्र प्रारम्भ हुआ। एक सास्कृतिक क्षेत्र के जितने भी आस-पास के क्षेत्र या प्रदेश होगे, उन सबमे उस सास्कृतिक क्षेत्र की विशेपतायें अनेक रूप मे देखने को मिल सकती है। परन्तु सास्कृ-

---

32 If "the natives of the New World could be grouped according to culture traits, this would give us food areas, textile areas, ceramic areas etc, If, however, we take all traits into simultaneous consideration and shift our point of view to the social, or tribal units, we are able to form fairly definite groups This will give us culture area, or a classification of social groups according to their culture traits" C Wissler, *The American Indian*, 2nd edition, New York, 1922, p 218

33 "Culture area is a geographical region in which reside a considerable number of relatively independent tribes with similar cultures" Clark Wissler, *An Introduction to Social Anthropology*, Henry Holt and Co, New York, 1929, p 345.

तिक क्षेत्र का यह फैलाव अनेक बातो पर निर्भर करेगा जैसे, यातायात और सचार के उपलब्ध साधन, सास्कृतिक सम्पर्क स्थापित करने मे प्राकृतिक बाधायें, उस प्रदेश की अन्य भौगोलिक परिस्थितियाँ इत्यादि। आधुनिक युग मे यातायात और सचार के साधनो मे उत्तरोत्तर प्रगति होने के कारण सास्कृतिक आदान-प्रदान के अवसर तथा साधन दिन-प्रतिदिन बढते ही जा रहे है जिनके कारण सास्कृतिक क्षेत्र की सीमा-रेखाएँ (boundaiy lines) और भी अनिश्चित होती जा रही हैं।

अत स्पष्ट है कि अब सास्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा केवल उन केन्द्रो (centres) का पता लगाने का एक मोटा-सा या साधारण तरीका है जहाँ कि कुछ सास्कृतिक तत्त्व या सकुल विशेष रूप से या अपने 'विशुद्ध' (pure) रूप मे पाये जाते है। इस अवधारणा की उपयोगिता अब केवल सभ्य समाज के सम्पर्क से दूर आदिम समाजो की सस्कृतियो के अध्ययन तक ही सीमित है क्योकि अब केवल ऐसे ही समाजो की सस्कृति एक भौगोलिक क्षेत्र-विशेष मे कुछ हद तक सीमाबद्ध कहा जा सकता है। आधुनिक समाजो मे यातायात तथा सचार के साधनो ने तो इस सीमा को तोड दिया है। आधुनिक समाज की सस्कृति का वास्तविक भौगोलिक क्षेत्र या सांस्कृतिक क्षेत्र तो सारी दुनिया है।

संस्कृति का विकास
(Growth of Culture)

प्रारम्भ से ही मानवशास्त्रीय अध्ययन की एक प्रमुख समस्या यह रही कि विभिन्न सस्कृतियो का विकास कैसे और किन अवस्थाओ से गुजरता हुआ होता है। क्या सभी समाजो मे सास्कृतिक विकास की प्रक्रिया एक-सी होती है? क्या सास्कृतिक विकास के कुछ निश्चित स्तर होते है? इस सास्कृतिक विकास मे कौन-कौन से कारक सहायक सिद्ध होते हैं? इसी प्रकार के अनेक प्रश्नो का उत्तर विभिन्न समय के मानवशास्त्रियो ने देने का प्रयत्न किया है। अब हम इन विद्वानो के द्वारा प्रस्तुत सास्कृतिक विकास के विभिन्न सिद्धान्तो की विवेचना करेंगे।

(१) उद्विकास
(Evolution)

श्री डार्विन (Darwin) के प्राणीशास्त्रीय उद्विकास के सिद्धान्त के आधार पर अनेक मानवशास्त्रियो ने, जिनके कि नेता श्री हर्बर्ट स्पेन्सर थे, समाज तथा सस्कृति के विकास को भी समझाने का प्रयत्न किया। श्री डार्विन के उद्विकासीय सिद्धान्त मे चार प्रमुख बातें थीं—(क) प्रारम्भ मे प्रत्येक जीवित वस्तु सरल होती है और उसके विभिन्न अग इस प्रकार एक साथ घुले-मिले होते हैं कि उन्हे अलग नही किया जा सकता, पर धीरे-धीरे विभिन्न अग स्पष्ट तथा पृथक् हो जाते हैं। जैसे, एक बीज प्रारम्भ मे बहुत सरल होता है और उसके विभिन्न अग (जैसे जड, तना, फल, फूल इत्यादि) अलग-अलग नहीं होते पर धीरे-धीरे ये अग स्पष्ट हो जाते हैं और उनमे भिन्नता उत्पन्न होती है। इस प्रकार अभिन्न समग्रता (undifferentiated totality) का विभिन्न भागो मे विकसित

होना उद्‌विकास का प्रथम सिद्धान्त है, (२) विभिन्न अगो के विकसित होने पर भी इनमे अन्त सम्वन्ध तथा अन्त निर्भरता का बना रहना, (३) उद्‌विकास की प्रक्रिया का निरन्तर जारी रहना, तथा (४) उद्‌विकास का कुछ निश्चित स्तरो से गुजर कर होना जिस दौरान मे सरल धीरे-धीरे जटिल रूप धारण कर लेता है। वास्तव मे एक सादा और सरल चीज का धीरे-धीरे एक जटिल अवस्था मे वदल जाना ही उद्‌विकास है।

श्री डार्विन के उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर ही श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने उद्‌विकास की परिभाषा निम्न शब्दो मे की है—"उद्‌विकास तत्त्व (matter) का समन्वय तथा उसमे सम्बन्धित गति है जिसके दौरान मे तत्त्व एक अनिश्चित, असबद्ध समानता से निश्चित, सबद्ध भिन्नता मे बदलता है।"[34] श्री स्पेन्सर के मतानुसार यही नियम समाज और सस्कृति के सम्बन्ध मे भी लागू होता है। उदाहरणार्थ, अति आदिम युग मे प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने बारे मे ही जानता और करता था। सामाजिक सगठन या सस्कृति के सम्वन्ध मे उन्हे कोई ज्ञान भी नही था। इस दृष्टिकोण से सभी व्यक्ति बहुत कुछ एक-से थे। साथ ही, इस स्तर पर कुछ भी निश्चित न था—न तो जीवन और न ही सामाजिक सगठन और सस्कृति। उन्हें एक साथ मिलकर काम करना तक नही आता था। इस प्रकार उनकी यह अवस्था 'अनिश्चित, असबद्ध समानता' की होती है। परन्तु धीरे-धीरे उनके अनुभव, विचार तथा ज्ञान मे उन्नति होती है, उन्हे मिलकर काम करना आ जाता है, सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन के विभिन्न अग स्पष्ट और पृथक् हो जाते हैं, श्रम-विभाजन होता है, प्रत्येक व्यक्ति वही काम करता है जिससे वह सब से अच्छी तरह कर सकता है और इस प्रकार सब मिलकर, सगठित रूप मे एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढते हैं। यह स्थिति 'निश्चित, सबद्ध भिन्नता' की होती है।

उपरोक्त उद्‌विकासीय योजना को प्रत्येक सामाजिक घटना के विकास को समझाने मे प्रयोग किया गया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण सर्वश्री मोर्गन (Morgan), टायलर (Tylor), हड्डन आदि की कृतियो मे मिलता है। मानवशास्त्र का कोई भी क्षेत्र इससे अप्रभावित न रहा। आर्थिक क्षेत्र मे उद्‌विकास के तीन प्रमुख स्तरो (stages) का उल्लेख किया जाता है। वे स्तर हैं—(क) शिकार करने और फल इकट्ठा करने की स्थिति, (ख) चरागाह की स्थिति, और (ग) कृषि की स्थिति। उसी प्रकार प्रौद्योगिकी (technology) के उद्‌विकास के भी तीन स्तर बताये जाते है—(अ) पाषाण युग, (ब) ताम्र युग, और (स) लौह युग।

इस सम्बन्ध मे श्री लूईस मोर्गन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होने मानव-समाज के उद्‌विकास मे तीन प्रमुख स्तरो का उल्लेख किया है। आपके मतानुसार विकासवाद का 'सरल का धीरे-धीरे जटिल रूप मे बदल जाने का सिद्धान्त' मानव-समाज व सस्कृति के विकास मे भी सत्य प्रतीत होता है। सर्वप्रथम मानव की सस्कृति जगली-

---

34 "Evolution is the integration of matter and concomitant dissipation of motion during which matter passes from an indefinite incoherent homogeneity to a definite, coherent heterogeneity" Herbert Spencer, *First Principles*, D Appleton & Co, New York, 1906, p 396

अवस्था (Savage stage) मे थी, उसके बाद असभ्य-अवस्था (Barbarian stage) मे और अन्त मे सभ्य-अवस्था (Civilized stage) मे आयी है। इस प्रकार श्री मौर्गन के मतानुसार मानव की सस्कृति जगली-अवस्था से असभ्य-अवस्था मे से गुजरती हुई सभ्य-स्तर तक एक क्रम से धीरे-धीरे विकसित हुई है। आपका यह भी कथन है कि इन तीनो स्तरो के **तीन-तीन उप-स्तर** (sub-stages) हैं—प्राचीन काल, मध्य-काल तथा उत्तर-काल। **जगली-स्तर** के प्रथम उपस्तर मे मानव जगल मे मारा-मारा फिरता था और शायद ही किसी प्रकार की उल्लेखनीय सस्कृति का अधिकारी था। इस स्तर के मध्यकाल मे लोगो को मछली पकडने तथा आग जलाने की कला आ गयी और उत्तर काल मे तीर-धनुष का भी प्रयोग मे लाना सीखा। इसके पश्चात् मानव ने जब बर्तनो का आविष्कार किया तो उसने **असभ्य-अवस्था** के प्रथम उपस्तर मे कदम रक्खा। इस अवस्था का मध्यम काल तब आया जब कि मानव को पशु पालने तथा पौधे उगाने की कला आ गयी। इसके बाद जब तक लोगो को लोहे को गलाकर उससे लोहे के बर्तन तथा औजार बनाना न आया तब तक वे असभ्य-अवस्था के उत्तर काल मे बने रहे। इसके पश्चात् मानव-सस्कृति का **सभ्य-अवस्था** मे प्रवेश तब हुआ जब कि अक्षरो और लिखने की कला का श्रीगणेश हुआ।

श्री मौर्गन (Morgan) ने विवाह तथा परिवार की उत्पत्ति व विकास को भी उद्विकासीय सिद्धान्त के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया। आपके मतानुसार प्रारम्भ मे मानव-समाज मे विवाह नामक कोई भी सस्था न थी, जो भी जिस से चाहे यौन-सम्बन्ध (sex relation) स्थापित कर सकता था। इसके बाद विवाह-सम्बन्धी कुछ अस्पष्ट नियमो का विकास हुआ और एक समूह के समस्त लडको के साथ दूसरे समूह की समस्त लडकियो का विवाह अर्थात् समूह-विवाह (Group marriage) की स्थिति आयी। इस अवस्था के बाद समान-रुधिर-विवाह (Consanguine marriage) प्रारम्भ हुआ। और इसी प्रकार धीरे-धीरे आधुनिक युग मे पाये जाने वाले एक-विवाह (Monogamy) का उद्विकास हुआ।

जहाँ तक परिवार के उद्विकास का प्रश्न है, श्री मौर्गन ने ऐसी पांच अवस्थाएँ बतलायी हैं जिनको पार कर परिवार अपनी वर्तमान स्थिति पर पहुँचा है। वे पांच स्तर क्रमश निम्नलिखित हैं—(अ) **प्रथम अवस्था समान रुधिर वाले परिवार** (Consanguine family) की थी जिसमे केवल रक्त-सम्बन्धी ही रहते थे और रक्त का कोई भी सकोच किये बिना भाइयो और बहनो तक मे परस्पर विवाह होते थे। (ब) **दूसरी अवस्था समूह-परिवार** (Punaluant family) की थी। इसमे एक परिवार के भाइयो का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनो के साथ हुआ करता था, परन्तु उनमे आपस मे यौन-सम्बन्ध अनिश्चित था अर्थात् प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियो का पति होता था और प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषो की पत्नी होती थी, और इसी के अनुसार उनमे यौन-सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। (स) **तीसरी अवस्था सिंडेस्मियन परिवार** (Syndasmian family) की थी। इस प्रकार के परिवार मे यद्यपि एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ विवाह होता था, परन्तु उसी परिवार मे व्याही हुई अन्य स्त्रियो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की प्रत्येक पुरुष को स्वतन्त्रता रहती थी। (द) **चौथी अवस्था**

पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal family) की थी। इसमे पुरुष का एकाधिपत्य था। वह एक से अधिक स्त्रियो के साथ विवाह करता था और उन सबके साथ यौन-सम्बन्ध रखता था। (२) पाँचवीं अवस्था एक-विवाह परिवार (Monogamous family) की है। इसमे एक समय मे एक पुरुष की एक पत्नी होती है। यही विवाह और परिवार का वर्तमान रूप है।

धर्म के उद्विकास के सम्बन्ध मे किसी भी विद्वान ने निश्चित स्तरो का उल्लेख करने का उतना साहस नही किया जितना कि श्री स्पेन्सर ने किया था। आपके विचार श्री टायलर के विचारो से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। श्री टायलर के अनुसार धर्म की उत्पत्ति आत्मा मे विश्वास के कारण हुई है। श्री स्पेन्सर भी यही बात मानते थे। साथ ही, उनका विश्वास था कि समस्त धार्मिक सस्कार, कृत आदि का उद्भव पूर्वज पूजा से हुआ है और इन सबका आधार 'डर' (fear) था। इसी आधार पर श्री स्पेन्सर ने अपने प्रख्यात नियम को प्रतिपादित किया था। आपके मतानुसार, "सभी धर्मों की उत्पत्ति मरे हुए लोगो के डर के कारण और समस्त समाजो की उत्पत्ति जिन्दा लोगो के डर के कारण हुई है।"[35] इस सम्बन्ध मे श्री टायलर का मत यह है कि चूँकि धर्म की उत्पत्ति आत्मा मे विश्वास के आधार पर हुई और चूँकि आत्माएँ अनेक है, इसलिये धर्म का सर्वप्रथम और सबसे सरल स्वरूप बहु-देवत्ववाद (Polytheism) था जो कि धीरे-धीरे उद्विकासीय प्रक्रिया मे से गुजरता हुआ अद्वैतवाद (Monotheism) की स्थिति मे आ पहुँचा है। यही अद्वैतवाद या एक ईश्वर पर विश्वास धर्म की आधुनिक अवस्था है।

इस सम्बन्ध मे स्मरण रहे कि धर्म के सम्बन्ध मे श्री टायलर की उपरोक्त उद्विकासीय योजना श्री अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte 1798—1857) से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। श्री कॉम्ट के अनुसार इस दिशा मे तीन स्तर रहे हैं और वे हैं—(१) जीवितसत्तावाद (Fetichism), (२) बहु-देवत्ववाद (Polytheism), और (३) अद्वैतवाद (Monotheism)। प्रथम अवस्था मे मानव अलौकिक शक्ति के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध मे बिल्कुल ही अज्ञान था और वह प्रत्येक चीज मे एक जीवित सत्ता का अनुभव करता था। इसी के आधार पर इस स्तर पर अनेक जादू-टोनो पर विश्वास किया जाता था। द्वितीय स्तर पर मनुष्य का मस्तिष्क अधिक सुसगठित हुआ और इस कारण जादू-टोनो से मानव परेशान हो गया और उन्हे एक सम्मिलित रूप देने की भावना उसमे जागृत हुई जिसके फलस्वरूप जीवन के विभिन्न पहलुओ से सम्बन्धित एक-एक देवी-देवता का जन्म होता है। यही बहु-देवत्ववाद का स्तर था। परन्तु इन अनेक देवी-देवताओ के कारण भी मानसिक उलझनें बनी रही। इस कारण मानव अपने समस्त श्रद्धा-विश्वास को अनेक देवी देवताओ मे न बाँटकर किसी एक ईश्वर पर अपनी समस्त श्रद्धा, विश्वास आदि को निछावर करने के लिये उन्मुख हुआ जिसके फल-स्वरूप तृतीय स्तर या अद्वैतवाद का प्रादुर्भाव होता है।

---

35 "All religion had come from the fear of the dead and all society from the fear of living"
—Spenser

कला का क्षेत्र भी उद्विकासीय योजना से विमुक्त न हुआ। अपनी पुस्तक *Evolution in Art* मे श्री हड्डन (Haddon) ने कला के क्षेत्र मे होने वाली उद्विकासीय प्रक्रिया का सविस्तार विवरण प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार कला अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे 'यथार्थवादी' (realistic) थी। इस कारण इस अवस्था मे वस्तुएँ या प्राकृतिक चीजे जैसे पशु, पक्षी और पेड जैसी दीखती थी, उसका उसी रूप मे चित्रण कर दिया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे इस अवस्था मे परिवर्तन हुआ और कला का स्वरूप सरल से जटिल होता गया। दूसरे शब्दो मे, कला का यथार्थवादी स्वरूप धीरे-धीरे सकेतवादी (symbolic) मे बदलता गया और रेखागणित के ढग से (geometrically) कला का चित्रण होने लगा।

यह सच है कि उद्विकासीय सिद्धान्त के उपरोक्त प्रवर्तको ने अपने सिद्धान्तो द्वारा सास्कृतिक प्रक्रियाओ को समझने तथा आगे और कुछ छानबीन करने मे काफी सहायता की है, फिर भी उनका एक-तरफा (one sided) विश्लेषण ही उनकी सब से बडी कमजोरी है। इन विद्वानो ने साम्कृतिक विकास को जिन निश्चित सीमाओ मे बाँधा था, उससे आज के अधिकतर मानवशास्त्री सहमत नही हैं। उद्विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तको की प्रमुख दुर्बलताएँ निम्नलिखित थी —

(१) इन विद्वानो ने यह मान लेने की भूल की कि प्रत्येक समाज मे सास्कृतिक विकास का एक-समान तथा निश्चित स्तर या अवस्था रही होगी। अगर ये विद्वान विभिन्न समाजो के ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक प्रमाणो का विश्लेपण करते तो उन्हे उनकी गलती स्वय पता चल जाती। यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियाँ अलग-अलग होती है और इसका प्रभाव सास्कृतिक विकास-प्रक्रियाओ पर पडना स्वाभाविक है। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि परिस्थितियाँ अलग-अलग होते हुए भी प्रत्येक समाज मे उद्विकासीय प्रक्रिया एक-समान ही रही होगी ? वास्तविकता यह है कि प्रत्येक समाज मे भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियो के अनुमार उद्विकासीय प्रक्रिया भी अलग-अलग ढग से होती है।

(२) उद्विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तको का यह दावा (claim) भी गलत है कि प्रत्येक समाज मे सास्कृतिक विकास के विभिन्न स्तर (stages) एक ही क्रम से आये हैं। उदाहरणार्थ, यह कहना ठीक न होगा कि प्रत्येक समाज मे आर्थिक जीवन का उद्विकास शिकार करने की स्थिति से पशुपालन की स्थिति और उससे कृपि-स्थिति— इसी क्रम से हुआ है। मानवशास्त्रीय प्रमाणो से इस विचार की पुष्टि नही होती। जैसे, हम यह कह सकते हैं कि शिकार करने की स्थिति यद्यपि जगली अवस्था की परिचायक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक प्राचीन है फिर भी शिकार की स्थिति आर्थिक विकास के अन्य सभी स्तरो मे अव तक विद्यमान है। साथ ही, आर्थिक विकास मे कोई ऐसा भी समय था जब कि लोग 'केवल' शिकार करते थे, इसका भी प्रमाण हमे नही मिलता। आदिम दुनिया के सर्वेक्षण (survey) से यह पता चलता है कि अनेक ऐसी जनजातियाँ भी है (जैसे उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की जनजातियाँ) जो कि खेती तो करती हैं पर वे पशुपालन की स्थिति से भी गुजरी हैं, ऐसा प्रमाण

नही मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अमेरिका मे, जैसा कि अफ्रीका मे भी हुआ है, शिकार करने व फल इकट्ठा करने की स्थिति के बाद, बिना पशु-पालन या चरागाह की स्थिति से गुजरे ही, कृषि अवस्था आ गयी। इसी प्रकार प्रौद्योगिकी (technology) के उद्‌विकास के भी तीन स्तर—पाषाण युग, ताम्र युग तथा लौह युग—इसी निश्चित क्रम से प्रत्येक समाज मे प्रकट हुए हैं, यह निष्कर्ष उचित नही है। यद्यपि यूरोप के देशो के अध्ययन से प्रौद्योगिकीय उद्‌विकास के उपरोक्त तीनो स्तर स्पष्ट रूप मे देखने को मिलते है, फिर भी अफ्रीका आदि देशो से जो प्रमाण हमे प्राप्त होते है उससे यही मालूम होता है कि वहाँ पाषाण युग के बाद एकदम लौह युग का प्रादुर्भाव हुआ, ताम्र युग के सम्बन्ध मे कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता है। अत स्पष्ट है कि उद्‌विकासीय सिद्धान्त की निश्चित सीमा-रेखा के अन्दर मानव-सस्कृति के क्रम-विकास की यथार्थ व्याख्या सम्भव नही।

(३) उद्‌विकासवादी लेखको की पद्धति भी दोषपूर्ण थी। वास्तव मे ये सभी विद्वान, यहाँ तक कि श्री स्पेन्सर भी, अपने अध्ययन मे वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने के विषय मे बहुत-कुछ उदासीन रहे और वह इस अर्थ मे कि इन विद्वानो ने अपने सिद्धान्त व कथनो को वास्तविक तथ्यो की कसौटी पर कसकर नही देखा, अर्थात् विभिन्न जनजातीय समुदायो का अध्ययन वास्तविक निरीक्षण (actual observation) के आधार पर करने की आवश्यकता अनुभव नही की। इन्हे तो जो कुछ विवरण पर्यटको (travellers) तथा मिशनरियो (missionaries) से प्राप्त हो जाते थे उसी पर निर्भर रहकर वे अपना निष्कर्ष निकालते थे। ये विवरण गलत है या सही, इसकी जाँच करने का इन विद्वानो ने कभी प्रयत्न नही किया।

(४) अपनी पूर्वधारणाओ (preconceptions) से उद्‌विकासवादी लेखक इतना अधिक प्रभावित रहे कि वे प्रसार (diffusion) के सिद्धान्त तक को भूल गये, अर्थात वे ये भी भूल गये कि सस्कृति एक जगह से दूसरी जगह को फैलती है। वास्तव मे, जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, गतिशीलता सस्कृति की एक उल्लेखनीय विशेषता है। एक सस्कृति को मानने वाले लोग जैसे-जैसे दूसरी सस्कृति के सम्पर्क मे आते है वैसे-वैसे सस्कृति का लेन-देन या प्रसार बढता जाता है। वास्तविक निरीक्षण से यही बात स्पष्ट होती है कि अनेक सास्कृतिक परिवर्तन व विकास इसी प्रसार के सिद्धान्त के आधार पर होते है।

(५) श्रीगोल्डनविज़र (Goldenweiser) ने उद्‌विकासीय सिद्धान्त की एक और दुर्बलता का उल्लेख किया है और वह यह कि इस सिद्धान्त के प्रवर्तक 'प्रसार' की भाँति आविष्कार के महत्त्व को भी भूल गये हैं। 'सस्कृति सामाजिक आवश्यकताओ द्वारा जीवित मानव का आविष्कार है।' ऐतिहासिक प्रमाणो से यह स्पष्ट होता है कि सस्कृति मे उस अर्थ मे उद्‌विकास नही होता जिस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग उद्‌विकासवादी लेखक करते हैं। समाज की परम्परा सस्कृति को जीवित रखती है और इसके निर्माण मे अनेक पीढियो का योग रहता है। प्रत्येक पीढी मे नवीन ज्ञान, विचार, वस्तुएँ आदि निरतर सस्कृति को विकसित, परिमार्जित तथा विस्तृत करते रहते हैं। परन्तु क्या इस प्रक्रिया को उद्‌विकास कहा जाय ? यदि कहा भी जाय तो भी इस सत्य को नही भूलना

चाहिये कि उद्‌विकास से तात्पर्य केवल आकारमे ही परिवर्तन नही, बल्कि गुण मे भी परिवर्तन है। गुणात्मक परिवर्तन रचनात्मक क्रियाओ के माध्यम से ही सम्भव होता है जिसकी कि अभिव्यक्ति (expression) सामाजिक आविष्कार के रूप मे होती है। सस्कृति सामाजिक आविष्कारो की ही उपज है। श्री गोल्डनविजर के अनुसार सस्कृति न तो पृथक्-पृथक् या असबद्ध पक्षो का सकलन है और न ही शरीर की भाँति पूर्णतया सगठित (integrated) एक समग्रता है। वास्तव मे सस्कृति तो एक जटिलता है जिसके विभिन्न पक्ष अपनी स्वतन्त्र सत्ता को बनाये रखते हुए एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित रहते हैं। परन्तु इस स्वतन्त्र सत्ता या पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्येक समाज मे अलग-अलग गति व रूप होता है और प्रत्येक समाज मे इसकी पूर्णता भी विभिन्न मात्रा मे पायी जाती है।[36]

उपरोक्त कमियो को ध्यान मे रखते हुए कुछ विद्वानो ने उद्‌विकासीय सिद्धान्त को सशोधित रूप मे प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि इस सिद्धान्त की प्राय सभी कमजोरियाँ दूर हो सकती है, यदि हम इस सत्य को स्वीकार कर लें कि उद्‌विकास की एक सीधी दिशा नही होनी है बल्कि उसमे एक 'एकेन्द्रीय घुमाव' (parabolic curve) की प्रवृत्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि कोई एक सस्था पहले एक विशेष रूप मे शुरू होती है, फिर धीरे-धीरे उसका बिल्कुल विपरीत रूप विकसित हो जाता है और फिर वह रूप अपने मूल रूप की ओर घूमता या मुडता है, यद्यपि बाद का यह रूप मूल रूप से अधिक उच्च-स्तर का होता है। कुछ उदाहरणो की सहायता से इसे और सरलता से समझा जा सकता है। आदिम समाज मे सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार (communal ownership) हुआ करता था। धीरे-धीरे इसका एक विपरीत रूप निजी सम्पत्ति (private property) की सस्था विकसित हुई। परन्तु अब झुकाव इस ओर है कि जनता के सरक्षक के रूप मे राज्य के माध्यम से एक उन्नत ढग का सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होना चाहिए। उसी प्रकार पहले आदिम लोग कपडो का प्रयोग नही करते थे, धीरे-धीरे इसका एक विपरीत रूप विकसित हुआ और लोग अपने सारे शरीर को वस्त्र से ढँकने लगे, पर अब हम फैशन का नाम देकर फिर से अपनी आदिम दशा मे लौटते जा रहे है और शरीर का अधिकाश भाग खुला रखना भी आपत्तिजनक (objectionable) या अनुचित नही समझा जाता है। उसी प्रकार यौन-सम्बन्ध को भी लीजिए। पहले यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्धना के समान थे, धीरे-धीरे इसका एक विपरीत रूप विकसित हुआ और एक-विवाह (Monogamy) को आदर्श के रूप मे अपनाते हुए यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध कठोरतम किये गए। पर आज फिर से ये प्रतिबन्ध धीरे-धीरे ढीले पडते जा रहे हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि उद्‌विकासीय सिद्धान्त की अपनी अनेक कमजोरियाँ हैं जिसके कारण आधुनिक मानवशास्त्री इसे स्वीकार नही करते। फिर

36 "Culture is neither an aggregate of disparate aspects nor is it a thoroughly integrated or organic whole Rather is it a complex the different aspects of which, while preserving their autonomy, ever tend to enter into interrelations with each other, but at different rates and with varying degree of completeness"
—A Goldenweiser

भी इस सिद्धान्त से सास्कृतिक विकास के अध्ययन का एक अच्छा सिलसिला मिल जाता है।

(२) प्रसार
(Diffusion)

यह सिद्धान्त, एक अर्थ मे, उद्विकासीय सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के रूप मे प्रस्तुत किया गया उद्विकासवादी लेखक इस बात पर बल देते थे कि शरीर के विकास की भाँति सास्कृतिक विकास भी आप-से-आप तथा कुछ आन्तरिक कारको (internal factors) के कारण होता है। दूसरे शब्दो मे, इन विद्वानो का मत था कि सास्कृतिक विकास मे बाहरी कारको का कोई हाथ नही रहता है। अनेक विद्वान इस मत से सहमत नही हो पाये क्योकि विभिन्न समाजो की सस्कृतियो के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अनेक सास्कृतिक तत्त्वो (culture traits) का आदान-प्रदान विभिन्न सास्कृतिक समूहो मे हुआ है। उपलब्ध तथ्यो (available facts) के आधार पर उदविकासीय सिद्धान्त को इसीलिये अनेक विद्वानो ने स्वीकार नही किया है। उनका मत है कि साधारण निरीक्षण से भी हम यह जान सकते है कि सास्कृतिक तत्त्व और सास्कृतिक सकुल भी यातायात तथा सचार के साधनो के माध्यम से तथा लोगो के एक देश से दूसरे देश को आने-जाने से एक समूह से दूसरे समूह को गतिशील रहते है। यह सास्कृतिक आदान प्रदान या सास्कृतिक विस्तार विशेषकर उन सास्कृतिक समूहो मे अधिक होता है जो कि एक-दूसरे के आस-पास होते हैं। चूँकि सस्कृति सीखी जाती है इस कारण यह सीखने की प्रक्रिया उनके लिए आसान हो जाती है जो कि एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे रहते हैं क्योकि इस प्रकार के सम्पर्क से वे एक-दूसरे के वस्त्र, बर्तन, मकान, भाषा, आचार तथा प्रथाओ को देखकर और सुनकर सीखते रहते हैं। उसी प्रकार सास्कृतिक तत्त्व या सकुल एक देश से दूसरे देश या एक सास्कृतिक समुदाय से दूसरे सास्कृतिक समुदाय मे जाकर बसने वाले लोगो के साथ-साथ प्रसारित हो सकता है और होता है। उदाहरणार्थ, भारत के देश-विभाजन के बाद भारत मे पाकिस्तान से आ बसने वाले शरणार्थियो के साथ-साथ उनका सास्कृतिक तत्त्व भी यहाँ आ गया है और यहाँ के लोगो मे फैल गया। पाश्चात्य सस्कृति का भारतवर्ष मे प्रसार तब हुआ जब कि इगलैंड के निवासियो ने यहा आकर शासन की बागडोर अपने हाथो मे ले ली। इस प्रकार एक सास्कृतिक समूह से दूसरे सास्कृतिक समूह मे सास्कृतिक तत्त्वो या सकुलो के फैलाव या विस्तार को 'प्रसार' (diffusion) कहते है।

इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि प्रसार होता क्यो है? इस प्रश्न के दो सम्भावित उत्तर हो सकते हैं—**प्रथम** तो यह कि सस्कृति को सीखा जा सकता है और सीखा जाता भी है। इस कारण देखकर, सुनकर, जान-बूझकर अनुकरण (imitation) करके दूसरो की सस्कृति को अपना लेने से सस्कृति का प्रसार होता है। **और दूसरा** स्वय कोई चीज आविष्कार करने की अपेक्षा दूसरो से नई चीजें ग्रहण करना आसान मालूम होता है। इसीलिए देखा गया है कि अनेक सास्कृतिक तत्त्व व सकुल

सारी पृथ्वी पर फैल जाते हैं, यद्यपि इस प्रकार से फैलने मे उन्हें काफी समय लग जाता है। श्री क्रोवर ने लिखा है कि तम्बाखू (tobacco) का प्रयोग सर्वप्रथम मध्य अमेरिका मे प्रारम्भ हुआ और वहाँ से बहुत तेजी से दूसरे स्थानो को फैलने लगा, परन्तु एस्किमो (Eskimo) प्रदेश तक फिर भी पहुँच न सका। फिर जैसे ही स्पेन के निवासियो ने इसे अपनाया वैसे ही यह प्रथा फिर नयी गति से पूर्व की ओर के देशो मे प्रसारित होने लगी और दुनिया का चक्कर लगाती हुई अमेरिका मे फिर से प्रवेश किया और अलस्का (Alaska) के उन प्रदेशो मे फैल गयी जहाँ इसके पहले धूम्रपान (smoking) नही किया जाता था। इस प्रकार धूम्रपान दुनिया का चक्कर लगाकर फिर कही एस्किमो प्रदेश मे प्रसारित हुआ।[37]

सास्कृतिक प्रसार के सम्बन्ध मे एक यह बात स्मरणीय है कि प्रसार बिना किसी शर्त के प्राय नही होता है। एक नयी चीज या एक सास्कृतिक तत्त्व (trait) का एक दूसरे प्रदेश या सास्कृतिक समूह मे तभी प्रसार होगा जब उस तत्त्व को उस नये प्रदेश मे एक सास्कृतिक आधार प्राप्त हो जाय। दूसरे शब्दो मे, एक सास्कृतिक समूह दूसरे के सास्कृतिक तत्त्व को तभी अपनायेगा जब कि उसकी अपनी सस्कृति के दृष्टिकोण से वह सास्कृतिक तत्त्व अर्थपूर्ण तथा लाभकारी हो। यदि ऐसा नही है तो उस समूह मे उस तत्त्व का प्रसार असम्भव न सही कठिन अवश्य है। दूसरे समूहो से कोई भी चीज व्यर्थ मे कोई अपनाता नही है। आधुनिक समाज मे अत्यधिक प्रयोग मे आने वाली अलार्मदार घडी (alarm clock) का प्रसार एक आदिम या जगली समाज के लोगो मे शायद ही हो, इसके सिवा कि वे उस घडी को एक अनोखी चीज या खिलौने के रूप मे दो-चार बार उठाएँ और रक्खें क्योकि उस घडी को और उसके जटिल यन्त्रो (complicated machinery) को अपनाने के लिये जिस आधार की आवश्यकता होती है उनमे उसका अभाव है। साथ ही, समय की पाबन्दी की भी वे आवश्यकता नही अनुभव करते और जब तक इस प्रकार की आवश्यकता न होगी तब तक वह घडी उन आदिवासियो की सस्कृति का एक अग नही बन सकती क्योकि सस्कृति का कोई अग या इकाई बेकार की और अर्थहीन नही होती है।

इस सम्बन्ध मे दूसरी स्मरणीय बात यह है कि प्रसार के दौरान मे प्राय. सास्कृतिक तत्त्व (culture trait) काफी परिवर्तित हो जाते हैं ताकि वे नवीन पर्यावरण मे फिट (fit) बैठ सकें। वास्तव मे एक समाज दूसरे के सास्कृतिक तत्त्वो को ग्रहण करते समय अपने सास्कृतिक प्रतिमान के अनुरूप उनमे आवश्यक परिवर्तन कर लेता है। उदाहरणार्थ, ईसाई मिशनरियो को प्राय यह देखकर दु ख और आश्चर्य होता है कि उन हिन्दुओ को जिन्हे कि उन्होने ईसाई बनाया है, ईसाइयो के केवल एक-ईश्वर को अपने परम्परागत असख्य देवी-देवताओ के साथ अजीब ढग से मिला दिया है। उसी प्रकार कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी व्यवस्था का जो रूप रूस मे है उसको उसी रूप मे अमेरिका मे पाने की आशा करना मूर्खता ही होगी।

---

37 A L Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace & Co , New York, 1933, p 213

इस सम्बन्ध मे **तीसरी** बात यह याद रखनी है कि यद्यपि प्रसार की दिशा साधारणतया 'उच्च' या अधिक जटिल सस्कृति से 'निम्न' या कम जटिल सस्कृति की ओर होती है, फिर भी इस रूप मे एक-दूसरे के सम्पर्क मे आयी हुई दोनो ही सस्कृतियो मे कुछ न कुछ आदान-प्रदान सदैव ही होता है। जब 'उच्च' सस्कृति वाले समूह का शासन निम्न सस्कृति वाले समूह पर होता है और जब शासन-प्रबन्ध को चलाने के लिये प्रथम समूह को दूसरे समूह के देश मे जाकर बस जाना होता है, तब उपरोक्त आदान-प्रदान की प्रक्रिया और भी तेजी से क्रियाशील होती है।

इस सम्बन्ध मे **चौथी** स्मरणीय बात यह है कि सास्कृतिक प्रसार सास्कृतिक या सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख कारण भी बन सकता है। प्राय देखा जाता है कि जो नये सास्कृतिक तत्त्व प्रसार के द्वारा एक समाज मे आते है उनसे दो परिणाम होते है। पहला तो यह कि इस प्रकार प्रसारित हुए कुछ सास्कृतिक तत्त्व तो सरलता से नये समाज के सास्कृतिक प्रतिमान मे घुल-मिल जाते हैं, और दूसरा यह कि कुछ सास्कृतिक तत्त्व उस प्रतिमान मे बिना उथल-पुथल मचाये नही रहते या उन सास्कृतिक तत्त्वो को ग्रहण करने से आगे चलकर ऐसे परिणाम भी होते है जिनकी कि प्रारम्भ मे कोई आशा नही थी। कुछ सास्कृतिक तत्त्वो की प्रकृति ही ऐसी होती है कि उन्हे ग्रहण करने का अर्थ ही होता है सामाजिक परिवर्तन। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य देश के अनेक प्रकार के यत्रो और मशीनो को भारतीय समाज ने अपनाया है जिसके फलस्वरूप इस देश मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। इस परिवर्तन का दबाव प्रत्येक समाज मे समान नही होता, फिर भी ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ सास्कृतिक तत्त्वो का प्रभाव ग्रहण करने वाले समाज पर भी प्राय उतना ही पडता है जितना कि उस समाज पर पडा था जहाँ उस तत्त्व का आविष्कार हुआ था। उदाहरणार्थ, भाप से चलने वाली मशीन का प्रभाव यूरोप के देशो पर जितना पडा, प्राय उतना ही प्रभाव भारतवर्ष पर पडा है। परन्तु एक सास्कृतिक तत्त्व को सारे मानव-समाज मे फैलने मे काफी समय लगता है और इसके लिये यह आवश्यक है कि इस प्रक्रिया मे निरतरता बनी रहे। अत स्पष्ट है कि सास्कृतिक प्रसार मे निरतरता के साथ फैलने का गुण होता है। कुछ भी हो, प्रसार से सास्कृतिक तत्त्व को ग्रहण करने वाले समाज मे कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य ही हो जाते है।[38]

उपरोक्त आधारो पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कोई भी सास्कृतिक तत्त्व स्पष्ट रूप से स्थापित हो जाने के बाद आप-से-आप ही दूसरे समाजो की सस्कृति मे फैलने लगता है। दुनिया के सास्कृतिक इतिहास के अध्ययन से यही बात प्रमाणित होती है परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि सास्कृतिक तत्त्व का प्रसार होगा ही। हाँ, मोटे तौर पर हम यह कह सकते है कि सास्कृतिक तत्त्व का प्रसार होगा यदि उस प्रसार को रोकने के लिये कोई या कुछ कारक (factors) क्रियाशील न हो।[39]

---

38 A L Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace & Co, New York, 1948, p 412.

39 *Ibid*, p 415

सास्कृतिक इतिहास या सास्कृतिक गतिशीलता या दोनो के अध्ययन मे तीन विभिन्न सम्प्रदायो (Schools) ने प्रसार के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया है। वे सम्प्रदाय है—(अ) ब्रिटिश प्रसारवादी सम्प्रदाय या पॉन-इजिप्शियन (Pan-Egyptian) सम्प्रदाय, (ब) जर्मन-आस्ट्रियन सस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय (German-Austrian Culture-historical School), तथा (स) अमेरिकन सम्प्रदाय (American School)। इनका सक्षिप्त विवरण निम्नवत् है[40] —

(अ) ब्रिटिश प्रसारवादी या पॉन-इजिप्शियन सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक सर्वश्री इलियट स्मिथ (Elliot Smith) तथा पैरी (W J. Perry) हैं। श्री स्मिथ एक मानवशास्त्री नही, वरन् एक शरीर-रचना विशेषज्ञ (anatomist) थे और काफी दिनो तक अपने शोध-कार्य (research work) के लिये मिश्र (Egypt) मे रहे। आप उस देश की प्राचीन सस्कृति से अत्यधिक प्रभावित थे और उसके विभिन्न पक्षो का अध्ययन करके इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि ससार मे सबसे प्रथम सस्कृति का जन्म मिश्र मे हुआ और वही से उसके तत्त्व (traits) दुनिया के अनेक देशो मे प्रसारित हुए। आपका विश्वास था कि केवल भूमध्यसागरीय देशो मे अफ्रीका, भारतवर्ष आदि की सस्कृतियो का ही नही बल्कि इण्डोनेशिया, पॉलीनेशिया तथा अमेरिका की सस्कृतियो का भी आदि-स्रोत मिश्र की सस्कृति है। श्री पैरी (Perry) ने भी इस मत का समर्थन किया है। आपके विचारो का विस्तृत विवरण आपकी पुस्तक *The Children of the Sun* मे मिलता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार प्रसार ही एक मात्र साधन है जिससे सास्कृतिक परिवर्तन सम्भव हो सकता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि मनुष्य का मस्तिष्क स्वभाव से ही आविष्कार के लिए उपयुक्त नही है, आविष्कार तो तभी सम्भव होता है जब कि उसे अत्यधिक अनुकूल (favourable) परिस्थितियो या पर्यावरण से प्रेरक-शक्ति प्राप्त हो। इस सम्प्रदाय के अनुसार इस प्रकार की अनुकूल परिस्थतियाँ केवल प्राचीन मिश्र मे ही पायी जाती थी। इसीलिये सूर्य-पुत्र (the Children of the Sun) मिश्रवासी ही समस्त उच्च सस्कृति के जनक हैं। मिश्र को ही सस्कृति और सभ्यता का आदि-स्रोत मानने के कारण ही इस सम्प्रदाय को पॉन-इजिप्शियन सम्प्रदाय (Pan-Egyptian School) कहा जाता है।

उपरोक्त सिद्धान्त को देखकर हम कह सकते हैं कि उसमे बातो को बिना किसी प्रमाण के अत्यधिक बढा-चढाकर प्रस्तुत किया गया है। यह बात कोई भी वैज्ञानिक स्वीकार नही कर सकता कि एक मिश्र की ही सस्कृति आदि सस्कृति है और अन्य सभी सस्कृतियो का उद्भव उसी से हुआ है। यह हो सकता है कि विभिन्न देशो के सास्कृतिक तत्त्व एक समान हो, परन्तु इन समानताओ से यह कदापि सिद्ध नही होता कि सबका मूल-स्रोत भी एक ही होगा। ऐसा देखा गया है और इसके अनेक प्रमाण भी हैं कि बिल्कुल ही पृथक् कारणो से तथा भिन्न प्रदेशो मे एक ही प्रकार का सामाजिक आविष्कार हुआ है। उदाहरणार्थ, बन्दूक का आविष्कार स्वतन्त्र रूप मे एशिया तथा

40 M J Herskovits, *op cit*, pp 505-522

फ्रास दोनो ही देशो मे हुआ था। अत स्पष्ट है कि उपरोक्त सम्प्रदाय के विचारो से सहमत होना एक प्रकार से असम्भव ही है।

(ब) जर्मन-प्रसारवादी या सस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय (*Kulturhistorische Schule*) के प्रमुख प्रवर्तक सर्वश्री ग्रैबनर (F Graebner), फॉय (E Foy) आदि थे। इनका सिद्धान्त प्रसारवादी होते हुए भी इसमे उद्विकासीय सिद्धान्त का स्पर्श है। इन विद्वानो के अनुसार विकासवादियो का यह निष्कर्ष ठीक है कि अलग-अलग स्थानो मे स्वतन्त्र रूप से विविध सास्कृतिक-सकुल उत्पन्न हुए, परन्तु इसके साथ यह भी मानना पडेगा कि उन सास्कृतिक-सकुलो (culture complexes) का बाद मे वहाँ से ससार के अन्य भागो मे प्रसार भी हुआ। अत स्पष्ट है कि ब्रिटिश-प्रसारवादी और जर्मन-प्रसारवादी विचारधारा मे एक प्रमुख अन्तर यह है कि ब्रिटिश-प्रसारवादी लेखको के मतानुसार सस्कृति का विकास या प्रसार एक ही स्थान (मिश्र) से ससार-भर मे हुआ जब कि जर्मन-विकासवादी लेखको के अनुसार सस्कृति का विकास या विस्तार एक किसी स्थान विशेष से नही, बल्कि विभिन्न स्थानो से हुआ। एक ही जगह प्रत्येक चीज का आविष्कार सम्भव नही, विभिन्न चीजो का आविष्कार तो विभिन्न स्थानो व विभिन्न समय मे होता है और हुआ भी है। फिर उन विभिन्न स्थानो से वे आविष्कार या सस्कृति सकुल ससार के विभिन्न स्थानो या समाजो मे फैल गये। सस्कृति का विकास इसी प्रकार की 'प्रक्रिया' का परिणाम है। इसे 'प्रक्रिया' इस अर्थ मे कहा गया है कि विभिन्न स्थानो से ससार के अन्य भागो मे सास्कृतिक-सकुलो का प्रसार निरन्तर रूप मे (continuously) चलता रहता है। जर्मन-प्रसारवादी लेखको का कथन है कि यदि हम एक सस्कृति का सतर्कता से विश्लेषण करे तो हम उसमे उन भिन्न-भिन्न सास्कृतिक तत्त्वो (culture traits) की तहो (layers) को स्पष्टत देख सकते हैं जो कि दूसरे स्थानो से विभिन्न समय मे प्रसार की प्रक्रिया के माध्यम से उस सस्कृति मे आ मिली है। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न स्थानो से सास्कृतिक तत्त्वो के चक्र अलग-अलग समय पर उठते रहते हैं और इनका प्रसार ससार के अन्य भागो मे होता रहता है। परन्तु इस प्रसार की प्रक्रिया मे यह आवश्यक नही कि प्रत्येक सास्कृतिक तत्त्व या सकुल ससार के हर भाग मे फैल ही जाएँ, प्रत्येक तत्त्व या सकुल के प्रसार का एक घेरा (circle) या प्रदेश (district) हो सकता है। इसलिये इस सम्प्रदाय को सस्कृति-चक्रवादी या सस्कृति-प्रदेशवादी सम्प्रदाय (The *Kulturkreise* School) भी कहते हैं। परन्तु इससे यह तात्पर्य कदापि न लगाना चाहिये कि सास्कृतिक तत्त्वो या सकुलो का एक निश्चित घेरे या प्रदेश के अन्दर ही प्रसार होता है। इनके प्रसार की कोई सीमा नही है, फिर भी ऐतिहासिक प्रमाणो से यह जाना जा सकता है कि एक सस्कृति की अमुक इकाई का अमुक स्थान से प्रसार हुआ। 'प्रदेश', 'चक्र' या 'घेरा' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया गया है।

इस सम्बन्ध मे श्री ग्रैबनर (Graebner) की प्रमुख देन यह है कि सास्कृतिक प्रसार के अध्ययन मे उन्होने दो स्पष्ट आधारो को निश्चित कर दिया है। वे आधार है स्वरूप (form) तथा परिमाण (quantity) का आधार। यदि हमे दो समूहो की

सस्कृतियो मे समानताएँ दिखलायी पडें, तो उन्ही समानताओ के आधार पर ही प्रसार का निर्णय कर लेना उचित न होगा। समानताओ की विवेचना मे दो बातो को ध्यान मे रखना होगा। प्रथम तो स्वरूप की समानता और द्वितीय परिमाण की समानता। इन दोनो बातो मे दो सस्कृतियो मे जितनी अधिक समानता होगी, प्रसार की सम्भावना भी उसी अनुपात मे अधिक होगी।

उपरोक्त सिद्धान्त की सबसे प्रमुख कमजोरी यह है कि इस प्रकार के सिद्धान्त हमे अधिक से अधिक सास्कृतिक प्रसार 'क्या है' केवल इतने का ही उत्तर मिलता है। सास्कृतिक प्रसार 'क्यो' होता है इस प्रश्न का उत्तर नही मिलता। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि सास्कृतिक प्रसार के कारणो का विश्लेपण इसके क्षेत्र (scope) से बिल्कुल ही बाहर है। अत सास्कृतिक विकास या परिवर्तन को पूर्णतया समझाने मे यह सिद्धान्त सफल न हो सका।

(स) अमेरिकन प्रसारवादियों (American diffusionists) ने, जिसके कि नेता श्री फ्राज़ बोआस (Franz Boas) थे, सस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय की उपरोक्त कमी को दूर करने का प्रयत्न किया और सास्कृतिक प्रसार 'क्यो' होता है इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत किया। साथ ही साथ, इस सास्कृतिक प्रसार का क्या प्रभाव सास्कृतिक तत्त्वो को ग्रहण करने वाले समुदायो पर पडता है, इसकी विवेचना भी इस सम्प्रदाय के विद्वान करते हैं। इन विद्वानो ने समस्त ससार के सास्कृतिक प्रसार की एक साथ विवेचना करने के बजाय यह अधिक अच्छा समझा कि ससार को विभिन्न सास्कृतिक क्षेत्रो (culture areas) मे बाँट लिया जाय और तब तक एक-एक सास्कृतिक क्षेत्र के उन सास्कृतिक तत्त्वो का विश्लेषण किया जो कि उस क्षेत्र मे प्रसार के द्वारा आये हैं, और अन्त मे इस प्रकार के कारणो को ढूँढा जाय। इन कारणो को ढूंढने मे, श्री बोआस के अनुसार, हमे मानव के मनोवैज्ञानिक या मानसिक (psychic) आधारो की अवहेलना न करनी चाहिये। श्री बोआस के अनुयायी श्री क्लार्क विसलर (Clark Wissler) ने इस बात पर भी बल दिया कि प्रसार के दौरान मे सास्कृतिक तत्त्वो या सकुलो के मूल रूप (original form) मे अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। विशेपत यदि सास्कृतिक तत्त्व अभौतिक हैं तब तो ऐसे तत्त्व बिना परिवर्तित हुए अधिक दूर तक फैल नही सकते। सास्कृतिक तत्त्वो के इस प्रसार मे, श्री विसलर के अनुसार, पहाड, महासमुद्र, रेगिस्तान, घने जगल आदि प्रमुख बाधाएँ हैं।

(३) नवीनीकरण
(Innovation)

सस्कृति के विकास की एक और महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया नवीनीकरण है। सास्कृतिक विकास मे नवीनीकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत नवीन आविष्कारो व ज्ञान के आधार पर सस्कृति के तत्त्वो को नया या सशोधित रूप दिया जाता है। नवीनीकरण मे यह आवश्यक नही है कि आविष्कार या ज्ञान जिसके आधार पर हम अपनी सस्कृति को नवीन रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह हमारे ही समाज का हो। यह आविष्कार

या ज्ञान किसी भी समाज का हो सकता है, और एक समाज दूसरे समाज या समाजो से ऐसे आधारो को प्राप्त कर सकता है जिनसे उस समाज के सांस्कृतिक तत्त्वो का पुराना रूप बदल सके। यही कारण है कि श्री हर्सकॉविट्स (Herskovits) के अनुसार नवीनीकरण के अन्तर्गत पुराने कामो को नये ढग से करने के लिए नये तरीको को स्वीकार करना (the acceptance of new ways of doing old things), या पुरानी रीतियो मे सशोधनो को स्वीकार करना (the acceptance of modifications of old ways), या दूसरो से ग्रहण करके नये परिवर्तनो को करना सम्मिलित है।[41] यातायात और सचार के साधनो मे उन्नति होने के साथ साथ दूसरे समाजो से ग्रहण करने की प्रक्रिया बढती जाती है। ससार मे पाश्चात्य संस्कृति और विशेषकर प्रौद्योगिकीय (technological) वस्तुओ के विस्तार ने विभिन्न समाजो मे नवीनीकरण की रफ्तार बराबर बढ रही है। यह बात आदिम समाजो के सम्बन्ध मे भी लागू किया जा सकता है। परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि इस विस्तार द्वारा प्रस्तुत तत्त्वो को जनजातीय लोगो ने बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया है या उन तत्त्वो मे कोई सशोधन किये बिना ही उन्हे ले लिया है। इसके विपरीत, उन्होने वही किया जो कि सभी मानव-समूह किसी नई चीज के प्रस्तुत किये जाने पर करते है। उन्होने अपने पूर्व अनुभवो के आधार पर ही नई वस्तुओ के प्रति प्रतिक्रिया की है—जो उन्हे लाभकर लगा उसे स्वीकार किया है और जो उन्हे अव्यावहारिक या अलाभकर प्रतीत हुआ, उसे उन लोगो ने त्याग दिया अर्थात् स्वीकार नही किया। जहाँ पर उनपर परिवर्तन जबरदस्ती लादा गया है वहाँ पर भी उन लोगो ने अपने अनुभवो के आधार पर ही प्रतिक्रिया की है—या तो उन परिवर्तनो को उन लोगो ने हृदय से ग्रहण नही किया और आन्तरिक रूप मे उनको त्याग दिया, या फिर खुले तौर पर विद्रोह किया अथवा अपनी अस्वीकृति को व्यक्त किया।

इसी के आधार पर हम नवीनीकरण की **प्रथम विशेषता** का उल्लेख कर सकते हैं और वह यह कि नवीनीकरण की प्रक्रिया, प्रसार की ही भाँति बिना किसी शर्त के प्राय नही होता है। एक समाज अपने सांस्कृतिक तत्त्व या तत्त्वो को एक नवीन रूप देने या उन्हे सशोधित करने के लिए तभी राजी होता है जबकि उसके पिछले अनुभवो की कसौटी पर वह नवीन रूप या सशोधन खरा उतरता है, अर्थात् जब पूर्व अनुभव के आधार पर वह यह समझता है कि वह नवीनीकरण उस समाज के लिये हितकर या कम से कम व्यावहारिक है। यदि ऐसा नही है तो आन्तरिक या वाह्य रूप मे वह समाज, उसकी परम्परा, प्रथा, रूढि, धर्म आदि उस नवीनीकरण का विरोध करता है।

इसी से नवीनीकरण की **दूसरी विशेषता** भी स्पष्ट है और वह यह कि नवीनीकरण की प्रक्रिया अचेत नही, अपितु सचेत प्रक्रिया है। इसे जान-बूझकर अपनाया जाता है। दूसरे शब्दो मे, सांस्कृतिक तत्त्वो मे नवीनता या सशोधन आप से आप नही हो जाता है, उसके लिये सामाजिक आविष्कार या ज्ञान के आधार पर कुछ-न-कुछ प्रयत्न अवश्य ही करना पडता है। उदाहरणार्थ, आज भारत मे हम ग्रामीण सांस्कृतिक

41 M J Herskovits, *op cit*, pp 481-482

तत्त्वो मे नवीनता लाने या उन्हे सशोधित करने के लिये औद्योगिकीय उपकरणो, वैज्ञानिक ज्ञान आदि का उपयोग सचेत रूप मे कर रहे हैं। पचायत और सामुदायिक विकास कार्यक्रम हमारे उस सचेत प्रयत्न का ही प्रमाण है।

नवीनीकरण की **तीसरी** विशेषता यह है कि यह अपने मे एक चक्र को उत्पन्न करता है। इसका तात्पर्य यह है कि अगर किसी एक समाज मे नवीनीकरण की प्रक्रिया से सास्कृतिक तत्त्वो को नया या सशोधित रूप प्राप्त हो गया है तो वह नया या सशोधित तत्त्व दूसरे समाजो का भी ध्यान आकृष्ट कर सकता है जिसके फलस्वरूप दूसरे समाज के कुछ सास्कृतिक तत्त्वो मे नवीन या सशोधित रूप प्राप्त हो सकता है। उसी प्रकार दूसरे समाज का प्रभाव तीसरे पर पड सकता है। इसी प्रकार सास्कृतिक तत्त्वो मे परिवर्तन लाने या उन्हे सशोधित करने का एक चक्र चल पडता है।

नवीनीकरण की **चौथी** विशेषता यह है कि यह आवश्यक नही है कि नवीनीकरण मे केवल उन्ही सास्कृतिक तत्त्वो को नवीन रूप मिलता है या केवल उन्ही सास्कृतिक तत्त्वो मे सशोधन होता है जो कि उसी समाज के सास्कृतिक तत्त्व हैं। नवीनीकरण के अन्तर्गत एक समाज दूसरे समाज या समाजो से एक या एकाधिक ऐसे सास्कृतिक तत्त्वो को ग्रहण कर सकता है जो कि ग्रहण करने वाले समाज के लिये नवीन हो। दूसरे समाज से इस प्रकार नवीन सास्कृतिक तत्त्वो को ग्रहण करके भी नवीनीकरण किया जा सकता है।

पर इससे हमे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि ग्रहण करने का कार्य एक-तरफा होता है, चाहे ग्रहण करने वाला समाज आदिम समाज ही क्यो न हो। आदिम समाज जब सभ्य समाजो से कुछ ग्रहण करता है तो चूंकि उस ग्रहण-कार्य से उस आदिम समाज मे कुछ स्पष्ट परिवर्तन या नवीनीकरण हो जाता है, इसलिए हम प्राय यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि ग्रहण करने का कार्य एक-तरफा होता है। परन्तु यह निष्कर्ष गलत है। ग्रहण करने का कार्य दोनो ही पक्षो द्वारा होता है। हाँ, कोई समाज अधिक ग्रहण करता है और कोई समाज उससे कम। उदाहरणार्थ, अग्रेजी शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद से पाश्चात्य सस्कृति के साथ भारतीयो का सम्पर्क बढ़ता ही गया और हम लोगो ने उनसे अनेक बातो या सास्कृतिक तत्त्वो को ग्रहण किया है जिसके फलस्वरूप हमारी वेश-भूषा, खाने-पीने की आदतो, भाषा, सगीत, जाति-प्रथा, सयुक्त परिवार, जीवन-दर्शन आदि जीवन के उल्लेखनीय पहलुओ मे अनेक नवीनता व सशोधन आज पनप गया है। परन्तु इसका तात्पर्य कदापि यह नही है कि यूरोपीय-अमेरिकी समाजो ने भारतीय समाज से कुछ भी ग्रहण नही किया है या हमारे साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने के बाद उनकी सास्कृतिक तत्त्वो मे कोई नवीन बात या सशोधन नही हुआ है। ऐसा सोचना गलत है। अत स्पष्ट है कि नवीनीकरण की प्रक्रिया एक-तरफा प्रक्रिया नही है। यह इस प्रक्रिया की **पांचवी** विशेषता है।

इस सम्बन्ध मे **छठी या अन्तिम** बात यह है कि नवीनीकरण की प्रक्रिया किसी एक या कुछ समाज तक ही सीमित नही है। यह तो सार्वभौम (universal) प्रक्रिया है। किन्ही भी दो सस्कृतियो का रूप या स्वरूप बिलकुल एक-सा नही होता और कोई

भी सस्कृति बिलकुल स्थिर नही होती । सस्कृति परिवर्तनशील है और यह परिवर्तन जितने कारणो से घटित होता है उनमे नये सास्कृतिक तत्वो को स्वीकार करना या पुरानी रीतियो मे सशोधन करना या दूसरे समाज से कुछ तत्वो को ग्रहण करके अपने समाज मे नवीनता लाना भी सम्मिलित है । और यदि ऐसा है तो सास्कृतिक परिवर्तन व विकास के साधन के रूप मे नवीनीकरण की सार्वभौमता को भी हमे स्वीकार करना ही पडेगा ।

(४) सस्कृतीकरण (Acculturation)

सास्कृतिक विकास की प्रकिया को कुछ विद्वानो ने सस्कृतीकरण के आधार पर भी समझाने का प्रयत्न किया है । जब सास्कृतिक तत्त्व या सकुल एक समूह से दूसरे समूह को फैल जाते है तो उसे प्रसार (diffusion) कहते हैं, परन्तु जब दूसरी सस्कृति के प्रभाव से एक सास्कृतिक समूह को सम्पूर्ण जीवन-विधि (life way) ही बदलने की प्रक्रिया मे होती है तो उसे सस्कृतीकरण कहते हैं । इसीलिए श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने स्पष्ट ही लिखा है कि प्रसार 'प्राप्त सास्कृतिक सप्रेषण' (achieved cultural transmission) है जब कि सस्कृतीकरण 'सास्कृतिक सप्रेषण की प्रक्रिया' (cultural transmission in process) है।[42] अत स्पष्ट है कि **सस्कृतीकरण सास्कृतिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक सस्कृति के मूल प्रतिमान मे, दूसरी सस्कृति के निरन्तर सम्पर्क मे आने के कारण, उल्लेखनीय परिवर्तन हो जाता है, यद्यपि इस प्रकार परिवर्तित होने वाला सास्कृतिक समूह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व या आधार-भूत विशिष्टता को पूर्णतया नहीं खो देता है ।**

सस्कृतीकरण की परिभाषा सर्वप्रथम सन् १९३६ मे सर्वश्री रेडफील्ड (Redfield), लिन्टन (Linton) तथा हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने स्पष्ट तथा क्रमबद्ध रूप मे प्रस्तुत की थी । इन विद्वानो के अनुसार, "सस्कृतिकरण से उन घटनाओ (phenomena) को समझा जाता है जो कि तब होती हैं जब कि विभिन्न सस्कृति वाले व्यक्तियो के समूह एक-दूसरे के निकट व निरन्तर सम्पर्क मे आते हैं जिसके फलस्वरूप उन समूहो मे से किसी एक के या दोनो के मूल सास्कृतिक प्रतिमान मे परिवर्तन हो जाते हैं ।"[43] यद्यपि इस परिभाषा की कटु आलोचना अन्य विद्वानो ने ही नही बल्कि उक्त लेखको ने भी की है, फिर भी इसी परिभाषा का प्रयोग सर्वाधिक होता है ।

इस सम्बन्ध मे श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि "सास्कृतिक परिवर्तन दो प्रकार के कारको और शक्तियो का परिणाम हो सकता है—प्रथम तो वे

---

42 M J Herskovits, *op cit*, p 525

43 "Acculturation comprehends those phenomena which result when groups of individuals having different cultures come into continuous first-hand contact, with subsequent changes in the original cultural patterns of either or both groups" Redfield, Linton and Herskovits, "Memorandum on the Study of Acculturation", *American Anthropologist*, XXXVIII, 1936, p 149

कारक और शक्तियाँ जो कि आप से आप समुदाय मे उत्पन्न होती हैं जिनके फलस्वरूप आविष्कार होता है। दूसरे, सास्कृतिक परिवर्तन विभिन्न सस्कृतियो के पारस्परिक सम्पर्क या प्रभाव के कारण भी हो सकता है। यह दूसरी प्रक्रिया वह है जिसे कि मानवशास्त्र मे प्राय प्रसार कहा जाता है।" श्री मैलिनोवस्की जिस प्रक्रिया को 'प्रसार' कहते है उसी को अमेरिका के अधिकतर मानवशास्त्री सस्कृतिकरण की प्रक्रिया मानते हैं।

कुछ भी हो, सामान्य रूप मे यह कहा जा सकता है कि दो विभिन्न सास्कृतिक समूहो के निरन्तर सम्पर्क के फलस्वरूप सस्कृति मे होने वाले परिवर्तन को सस्कृतीकरण कहते है। सस्कृतीकरण, जैसा कि श्री थर्नवाल्ड (Thurnwald) ने उचित ही कहा है, "एक प्रक्रिया है, न कि एक पृथक् घटना। 'जीवन की नवीन अवस्थाओ से अनुकूलन करने की इस प्रक्रिया को हम सस्कृतीकरण कहते हैं।" अत. स्पष्ट है कि एक सास्कृतिक समूह से दूसरे सास्कृतिक समूह मे तत्त्वो (traits) के चले या फैल जाने को ही सस्कृतीकरण नही कहते हैं, सस्कृतीकरण तो विभिन्न सस्कृति वाले समूहो मे होने वाली अन्त क्रियाओ (interaction) की एक निरन्तर प्रक्रिया है।

इस सम्बन्ध मे सस्कृतिकरण (acculturation) और सात्मीकरण (assimilation) मे जो अन्तर है उसे भी समझ लेना चाहिये। एक अर्थ मे, जैसा कि अधिकतर मानवशास्त्री आज मानते हैं, इन दोनो मे केवल मात्रा (degree) का अन्तर है। सात्मीकरण से तात्पर्य सस्कृतीकरण की उस मात्रा (degree) से है जब कि एक सस्कृति अपने मूल स्वरूप को पूर्णतया खो बैठती है और दूसरे की सस्कृति मे इस प्रकार घुल-मिल जाती है कि उसका पृथक् या विशिष्ट अस्तित्व कुछ रह ही नही जाता। इसके विपरीत सस्कृतीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत एक-दूसरे के सम्पर्क मे आयी हुई दो सस्कृतियो मे से दोनो सस्कृतियाँ परस्पर के सास्कृतिक तत्त्वो से मिश्रित (mixed) तो हो जाती है पर अपने पृथक् अस्तित्व या मूल स्वरूप को नही खो बैठती। और भी स्पष्ट रूप से हम कह सकते हैं कि सस्कृतिकरण से एक सस्कृति के मूल स्वरूप या तत्त्वो मे कुछ रूपान्तर (modification) तो अवश्य ही हो जाता है, फिर भी उसके विशिष्ट गुण वैसे ही बने रहते हैं और इस कारण उसे दूसरी सस्कृतियो से अलग पहचाना जा सकता है।

तब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि सस्कृतिकरण एक दो-तरफा प्रक्रिया (two way process) है जिससे कि एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने वाली दोनो ही सस्कृतियाँ प्रभावित होती है। फिर भी ऐसी कुछ अवस्थाएँ (conditions) हैं जिनमे कि यह प्रक्रिया अधिक तेजी से क्रियाशील होती है। ये अनुकूल अवस्थाएँ या परिस्थितियाँ निम्नवत् हैं—
(१) दोनो सास्कृतिक समूहो मे घनिष्ट तथा निरन्तर (close and continuous) सम्पर्क हो। कभी-कभी के सम्पर्क से सस्कृतीकरण शायद ही सम्भव हो। (२) दोनो समूहो के सास्कृतिक प्रतिमानो मे कुछ-न-कुछ समानता हो। यदि दोनो मे अत्यधिक भिन्नता है तो उन दोनो के लिये परस्पर के घनिष्ट सम्पर्क मे आना सम्भव न होगा जिसके फलस्वरूप एक-दूसरे मे सास्कृतिक आदान-प्रदान रुक जायगा। (३) दोनो समूहो मे उद्देश्यो की समानता भी सस्कृतीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित कर सकती है।

वास्तव मे सस्कृतीकरण की प्रक्रिया का रहस्य मानव के ही विशिष्ट स्वभाव मे

निहित है। श्री हैलोवेल (Hallowell) ने उचित ही कहा है कि मानव-जाति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि अन्य पशुओ की भाँति मानव की भी अनुकूलन करने की कोई सुस्थिर सीमा वशानुमक्रमण (heredity) के द्वारा निश्चित नही होती। मनुष्य अपने आविष्कार करने, सीखने तथा प्रतीको (symbols) के माध्यम से विचारो के आदान-प्रदान करने की क्षमता के कारण अनुकूलन की प्रक्रिया को किसी भी सीमा तक और किसी भी दिशा की ओर ले जा सकता है। मानव-अनुकूलन वास्तव मे सास्कृतिक अनुकूलन ही है। सस्कृतिकरण उसी अनुकूलन का एक पक्ष है।

संस्कृति का संगठन
(Integration of Culture)

पिछले पन्नो मे 'सस्कृति की प्रकृति' की विवेचना करते हुए हमने लिखा है कि सस्कृति के अन्तर्गत अनेक खण्ड, इकाइयाँ या तत्त्व (element or trait) होते हैं। परन्तु इन इकाइयो या तत्त्वो को मनमाने ढग से इकट्ठा कर देने या जोड देने या मिला देने से ही किसी समाज की सस्कृति बन नही जाती। यहाँ तक कि इन इकाइयो को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक करके अध्ययन करने पर सस्कृति के सम्बन्ध मे कोई यथार्थ ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। इसका कारण यह है कि ये सब इकाइयाँ आकस्मिक या अव्यवस्थित नही होती है। सस्कृति के इन खण्डो या इकाइयो मे एक पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त निर्भरता होती है जिसके कारण सस्कृति मे एक प्रकार का सतुलन पाया जाता है। इस सतुलन का तात्पर्य यह है कि सस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ पृथक्-पृथक् कार्य नही करती, अपितु, उनमे एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करने की एक प्रवृत्ति पायी जाती है। साथ ही, ये सास्कृतिक तत्त्व एक सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत व्यवस्थित ढँग से एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। सास्कृतिक इकाईयो या तत्त्वो की इसी व्यवस्थित सम्बद्धता को सस्कृति का सगठन (integration of culture) कहते हैं। यह सगठन कैसे सम्भव होता है और किस भाँति बना रहता है, इसकी चर्चा विभिन्न सम्प्रदायो या विद्वानो द्वारा अलग-अलग ढग से की गयी है। इनमे प्रकार्यात्मक (functional), सरूपणात्मक (configurational) तथा लयात्मक (themetic) दृष्टिकोण (approaches) उल्लेखनीय हैं। अब हम इन्ही के बारे मे विवेचना करेंगे।

प्रकार्यवाद या प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
(Functionalism or Functional Approach)

सस्कृति की अवधारणा (concept) को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये सर्वश्री मैलिनोवस्की तथा रैडक्लिफ-ब्राउन के प्रकार्यवादी दृष्टिकोण (functional point of view) की भी विवेचना आवश्यक है। श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार सस्कृति वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने शारीरिक तथा मानसिक और अन्तिम रूप मे बौद्धिक अस्तित्व को बनाये रखने मे सफल होता है। मानव केवल एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी ही नही, अपितु एक सामाजिक प्राणी भी है और इन दोनो ही रूपो मे उसकी अनेक शारीरिक, मानसिक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओ की पूर्ति किये बिना सामाजिक

प्राणी के रूप मे मानव का अस्तित्व कदापि बना नही रह सकता। इन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये मानव सस्कृति का निर्माता बनता है और उसके द्वारा अपने शारीरिक तथा मानसिक या बौद्धिक अस्तित्व को बनाये रखता है दूसरे शब्दो मे, सस्कृति के विभिन्न अगो का एक विशिष्ट स्वरूप (form) ही नही होता बल्कि एक विशिष्ट कार्य (function) भी होता है। सस्कृति का कोई भी तत्त्व (trait) या इकाई बेकार की नही होती है, उससे मानव का कोई न कोई काम अवश्य ही निकलता है। किसी भी सास्कृतिक तत्त्व का अस्तित्व इसी बात पर निर्भर करता है कि वह मानव के किसी काम मे आ रहा है या नही। सक्षेप मे, यही श्री मैलिनोवस्की का प्रकार्यवाद है।

मानव की आवश्यकताएँ अनेक हैं जैसे कि आर्थिक आवश्यकताएँ, सामाजिक आवश्यकताएँ तथा मानसिक आवश्यकताएँ। इन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये मानव धर्म, भाषा, कला, प्रविधि, साहित्य, तथा अन्य अनेक भौतिक तथा अभौतिक (material and non-material) वस्तुओ का, जिनके कि सम्पूर्ण योग या समग्रता को हम सस्कृति कहते हैं, सहारा लेता है। अगर हम ध्यानपूर्वक यह जानने का प्रयत्न करे कि इन सब चीजो का अर्थात् सस्कृति की विभिन्न इकाइयो का उद्भव क्योकर हुआ तो हमे स्पष्टत ज्ञात होगा कि इनमे से प्रत्येक इकाई की जड मानव की कोई न कोई आवश्यकता ही है। मानव अपनी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ही धनुष-बाण से लेकर बडी-बडी मशीनो का प्रयोग करता है, सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये सामाजिक सस्थाओ को काम मे लगाता है, मानसिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भाषा, धर्म, कला आदि की सहायता लेता है। अत स्पष्ट है कि सस्कृति की इकाई का किसी न किसी रूप मे कोई न कोई कार्य (function) अवश्य ही होता है। अगर एक मोमबत्ती भी है तो उसका भी सास्कृतिक ढाँचे मे या मानव की सम्पूर्ण जीवन-विधि मे कोई न कोई कार्य होगा ही। यह मोमबत्ती रोशनी देने का काम करती है, यही मोमबत्ती धार्मिक जीवन का प्रतीक हो सकती है या किसी कम्पनी का व्यापार-चिह्न भी हो सकती है। किसी भी सस्कृति में इस मोमबत्ती के समस्त कार्यों को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम इस मोमबत्ती का सस्कृति की अन्य सभी इकाइयो या पक्षो से जो प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relation) है उसे ढूंढ निकाले। इसी तरह जब हम सस्कृति की प्रत्येक इकाई का अन्य इकाइयों से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध मालूम कर लेंगे, तब कही हमे यह निश्चित रूप से पता चलेगा कि उस समूह के सदस्यो की सम्पूर्ण जीवन-विधि को बनाये रखने मे वे सब इकाइयाँ किस प्रकार सब मिलकर कार्य करती हैं।

अत स्पष्ट है कि एक सस्कृति की विभिन्न इकाइयो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व न तो होता है और न ही होना सम्भव है। इनमे से प्रत्येक का प्रत्येक के साथ एक प्रकार्यात्मक (functional) सम्बन्ध होता है। परन्तु यह सम्बन्ध क्यो होता है? इसका सरल उत्तर यह है कि मानव की आवश्यकताएँ भी अलग-अलग नही है, वे सब एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं क्योकि इन सबका उद्भव-स्थान एक ही है और वह उद्भव स्थान है मानव स्वय। क्योकि मनुष्य स्वय इन सब आवश्यकताओ का स्रोत है, इसलिये ये सब आवश्यकताएँ एक-दूसरे से जुडी हुई हैं और इसीलिये इन आवश्यकताओ को पूरा करने

के साधन के रूप मे काम मे आने वाली मस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ या पक्ष भी अन्त-सम्बन्ध से बँधे हुए हैं। इस अन्त मम्बन्ध का आधार मानव की प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाएँ तथा आवश्यकताएँ हैं। किसी भी सस्कृति के सगठन का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानव की उपरोक्त प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन उपलब्ध करना है।

इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की का विश्वास है कि मस्कृति का कोई भी तत्त्व, अग या इकाई ऐमी नही हो सकती जो कुछ भी काम नही देती, अर्थात् जो कार्यहीन (functionless) है। आपका कथन है कि सस्कृति का प्रत्येक तत्त्व (trait) किमी न किसी कार्य को करने के लिए हुआ करता है और उसका अम्तित्व उसी समय तक बना रहता है जब तक वह सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था मे कोई न कोई कार्य करता रहता है। किमी भी सस्कृति के सगठन का, जैमा कि हम अभी ऊपर बता चुके है, एक आधारभूत उद्देश्य मानव-जीवन की विविध आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये कार्य करना है। यदि यह मच है तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि किसी भी सास्कृतिक तत्त्व का कार्यविहीन अस्तित्व (functionless survival) हो। चूंकि सम्पूर्ण जीवन-विधि या जीवन-व्यवस्था को बनाये रखने मे प्रत्येक सास्कृतिक तत्त्व का कुछ-न-कुछ योगदान अर्थात् कोई न कोई कार्य (function) होता है, इसलिये सस्कृति के प्रत्येक तत्त्व (trait) का हर दूसरे तत्त्वो के साथ एक आन्तरिक व प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है जिसके फलस्वरूप ये असख्य सास्कृतिक तत्त्व एक-दूसरे से प्रथक् नही, बल्कि एक-दूमरे से जकडे हुए या सम्बन्धित होते हैं और सब मिल कर सस्कृति को एक समग्रता (wholeness) प्रदान करते है। इस प्रकार, श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार, सास्कृतिक सगठन (cultural integration) का आधारभूत कारण उस सस्कृति की प्रत्येक इकाई द्वारा किया जाने वाला कार्य (function) है। सास्कृतिक सगठन के सम्बन्ध मे यही श्री मैलिनोवस्की का प्रकार्यवादी सिद्धान्त (functional theory) या दृष्टिकोण है। निम्नलिखित विवेचना से यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार सस्कृति मानव की प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओ द्वारा जनित मानव का आविष्कार है। मानव का शारीरिक-मानसिक अस्तित्व (bio-psychic survival) जिन साधनो से बना रहता है, उन साधनो की समग्रता को ही सस्कृति कहते हैं। श्री मैलिनोवस्की ने मनुष्य की सात आधारभूत प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओ (biological needs) का उल्लेख किया है। वे हैं—शरीर-पोषक (metabolic), उत्पादक (reproductive), शारीरिक आराम (bodily comforts), सुरक्षा (safety), गति (movement), वृद्धि (growth), तथा स्वास्थ्य (health) सम्बन्धी आवश्यकताएँ। इनमे से प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति मानव-निर्मित विभिन्न सास्कृतिक तत्त्वो के द्वारा होती है। दूसरे शब्दो मे, इन सात आधारभूत आवश्यकताओ की पूर्ति विविध सास्कृतिक तत्त्व एक साथ मिलकर या सयुक्त रूप मे कार्य करते हुए करते हैं। यह सच है कि ये सास्कृतिक तत्त्व या उपरोक्त आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन प्रत्येक समाज मे एक-से नही होते, प्रत्येक समाज मे इन सास्कृतिक तत्त्वो के प्रकार तथा स्वरूप भिन्न भिन्न हुआ करते हैं और इसीलिये प्रत्येक समाज की सस्कृति का गठन या ढाँचा या रूप भी अलग-अलग होता है। रूप या स्वरूप कुछ भी हो, पर मानव की उपरोक्त सात महत्त्वपूर्ण

शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओ की नियमित पूर्ति की योजना प्रत्येक सस्कृति मे पायी जाती है। योजना की सफलता इसकी विभिन्न इकाइयो के सगठन (integration) पर निर्भर है। अगर विभिन्न इकाइयाँ बिखरी हुई हैं, एक-दूसरे से असवद्ध या पृथक् हैं तो कोई भी योजना कदापि सफल नही हो सकती। उसी प्रकार सस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ भी एक-दूसरे से सबद्ध रहती हैं, उनमे एक प्रकार का सगठन होता है क्योकि सगठित रूप मे मानव की महत्त्वपूर्ण शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओ की नियमित पूर्ति करना ही इन तत्त्वो का प्रमुख कार्य और इनके अस्तित्व का आधार है। अपने-अपने कार्य मे लगे हुए इन सब सास्कृतिक तत्त्वो के समग्र रूप को ही, श्री मेलोनिवस्की के अनुसार, सस्कृति कहते हैं। इनके कार्यों से पृथक् करके इन सास्कृतिक तत्त्वो के या समग्र सस्कृति के अस्तित्व की कल्पना करना भी मूर्खता है। चूँकि श्री मैलिनोवस्की सास्कृतिक तत्त्वो के कार्यो (functions) पर अत्यधिक वल देते हैं, इस कारण उनके दृष्टिकोण को प्रकार्यवाद (functionalism) कहते हैं।

श्री मैलिनोवस्की के दृष्टिकोण मे सबसे बडी दुर्बलता यह है कि आपने मनुष्य को आवश्यकताओ और इच्छाओ का एक वडल मात्र मान लिया है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना मानव की उच्चतर भावनाओ और आदर्शों की अवहेलना करना है।

प्रकार्यवाद के दूसरे प्रमुख प्रवर्तक श्री रैडक्लिफ-व्राउन (Radcliffe-Brown) थे। आपने भी श्री मैलिनोवस्की की भाँति सास्कृतिक तत्त्वो के कार्यों पर अत्यधिक वल दिया। परन्तु श्री मैलिनोवस्की की तरह श्री रैडक्लिफ-व्राउन ने सास्कृतिक तत्त्वो के इन कार्यों के द्वारा 'व्यक्ति' के अस्तित्व पर अधिक जोर न देकर 'समाज' के अस्तित्व को अधिक प्रधानता दी। आपके मतानुसार सास्कृतिक तत्त्व जो कार्य करते रहते हैं उनसे अन्तिम रूप मे समाज का ही अस्तित्व वना रहता है या बना रहना सम्भव होता है। आपने अपने विचार को और भी स्पष्ट करने के लिये सास्कृतिक सगठन की सावयवी सगठन (organic integration) से तुलना की है।[44] एक सावयव (organism) अनेक कोष्टो (cells) की एक सगठित तथा जटिल व्यवस्था होती है और इन कोष्टों से ही सावयव या शरीर के विभिन्न अग बनते हैं। इन अगो मे से प्रत्येक अग की सम्पूर्ण सावयवी व्यवस्था (organic system) मे एक या कुछ विशेष कार्य होता है। कोई भी यह नही कह सकता कि इनमे से कोई अग किसी प्रकार का भी कार्य नही करता। प्रत्येक अग का कार्य बँटा हुआ है, फिर भी ये अग एक-दूसरे से परे नही हैं, प्रत्येक अग अपने कार्यों को उचित ढग से करने के लिये दूसरे अगो से सम्वन्वित तथा उनपर आश्रित होता है। इस प्रकार कार्यों के आधार पर शरीर के विभिन्न अगो मे अन्त सम्वन्ध तथा अन्त निर्भरता हुआ करती है, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर या सावयव मे एक प्रकार का सगठन पाया जाता है। जव तक सावयव जीवित है तव तक यह सगठन भी अनिवार्य है। साथ ही, यह स्मरण रहे कि सम्पूर्ण सावयव या कोष्ट इनके कार्यों के विना वास्तव मे अर्थहीन ही हैं। जो वात सावयव और इसके विभिन्न कोष्टो के सम्वन्ध मे सच है,

---

44 A R Radcliffe-Brown, "On the Concept of Function in Social Science", *American Anthropologist*, Vol 37, 1935, pp 394-395

वही बात सस्कृति, उसके तत्त्वो और उनमे पाये जाने वाले सगठन के सम्बन्ध मे भी सच है।

प्रकार्यवादी लेखक सस्कृति के कार्यो पर अधिक बल देने की धुन मे इतना मस्त रहे कि इनकी कृतियो मे सस्कृति के अन्य पक्षो की अवहेलना हुई है। इस कारण उनके सिद्धान्त मे पर्याप्त सत्यता होते हुए भी वह सस्कृति की प्रकृति व विशेषताओ का केवल आशिक विश्लेषण तथा निरूपण है।

सरूपणात्मक दृष्टिकोण (Configurational Approach)

कुछ विद्वानो ने सस्कृति को एक सरूपण (configuration) के रूप मे देखा है। उदाहरणार्थ, श्री रेल्फ लिण्टन (Ralph Linton) के अनुसार सस्कृति सीखे हुए व्यवहारो का एक सरूपण है और उन व्यवहारो का फल है जिसके तत्त्व एक विशेष समुदाय के सदस्यो मे पाए जाते हैं तथा उनके द्वारा प्रसारित किये जाते है। सस्कृति के ये तत्त्व आपस मे इस प्रकार सगठित होते है कि ये सब तत्त्व एक-साथ मिलकर एक समाज की सस्कृति को एक विशिष्ट 'रूप' या स्वरूप प्रदान करते है। यह इसलिये होता है कि प्रत्येक समाज मे सीखे हुए व्यवहारो की एक परम्परा होती है। यह परम्परा प्रत्येक समाज मे अलग-अलग होती है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज की सस्कृति की अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ प्राप्त हो जाती हैं और उन्ही विशेषताओ के आधार पर एक समाज की सस्कृति को हम दूसरे से अलग कर सकते हैं।

सरूपणात्मक दृष्टिकोण से सस्कृति की विवेचना प्रोफेसर रुथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) के अध्ययनो तथा कृतियो मे भी देखने को मिलता है। वास्तव मे सस्कृति के सरूपण की चर्चा प्रो० बेनेडिक्ट ने सस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) की अवधारणा को विकसित करते हुए ही किया है और इस अवधारणा की लोकप्रियता प्रो० बेनेडिक्ट की कृतियो के कारण ही हुई है। आपका कथन है कि एक सस्कृति मे सगठन (integration) इसके अन्तर्वस्तु (content) के विभिन्न खण्डो का एक स्थायी या अर्द्ध-स्थायी (semi-permanent) रूप या डिजाइन मे व्यवस्थित हो जाने पर उत्पन्न होता है। प्रो० बेनेडिक्ट के मतानुसार प्रत्येक सस्कृति के कुछ महत्त्वपूर्ण तथा बडे खण्ड (segment) होते हैं। इन खण्डो के भी छोटे-छोटे उपखण्ड होते हैं। ये उपखण्ड एक विशिष्ट ढग या 'स्टाइल' (style) से परस्पर सयुक्त होकर या मिलकर एक बडे खण्ड को एक विशिष्ट रूप या डिजाइन प्रदान करते है और इन बडे खण्डो के ये विशिष्ट रूप या डिजाइन परस्पर मिलकर सम्पूर्ण सस्कृति के डिजाइन को निर्धारित करते हैं। इसे ही सस्कृति का सम्बद्ध-स्थिति या सरूपण (Configuration) कहते हैं। अत स्पष्ट है कि प्रो० बेनेडिक्ट के मतानुसार सस्कृति के ये महत्त्वपूर्ण और बडे-बडे खण्डो, जो कि अन्य अनेक उपखण्डो का सम्बद्ध रूप है, को ही सस्कृति प्रतिमान कहते हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रतिमानो के मिलने से एक विशाल प्रतिमान बन जाता है। जो कि सम्पूर्ण सस्कृति होती है। इस प्रकार अनेक प्रतिमानो से सम्पूर्ण सस्कृति का निर्माण होता है।

परन्तु इस सम्बन्ध मे, प्रो० बेनेडिक्ट के अनुसार, यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि सस्कृति-प्रतिमान या सम्पूर्ण सस्कृति अनेक भागो (parts) से मिलकर बनते हैं फिर भी इन भागो के केवल मात्र योग मे ही न तो सस्कृति-सकुल का निर्माण होता है और न ही सस्कृति का। सम्पूर्ण सस्कृति या सकुल तो इन भागो की एक विशिष्ट व्यवस्था (unique arrangement) तथा अन्त -सम्बन्ध का ही परिणाम होता है। जिसके फलस्वरूप एक नवीन चीज की सृष्टि होती है।[45] जिस प्रकार ईंटो के योग मात्र से ही मकान नही बनता है बल्कि इन ईंटो की एक विशिष्ट व्यवस्था तथा अन्त -सम्बन्ध से ही एक नयी चीज का निर्माण होता है और निर्माण हो जाने के बाद उसे ईंट या ईंटो का ढेर या एकत्रीकरण नही कहते बल्कि 'मकान' के नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार सस्कृति के विभिन्न तत्त्वो के विशिष्ट व्यवस्था तथा अन्त -सम्बन्ध से जिस नवीन चीज की सृष्टि होती है उसे तत्त्वो का योग मात्र नही बल्कि सस्कृति-प्रतिमान कहते हैं और इन सस्कृति-प्रतिमानो से बने हुए विशाल-प्रतिमान को सस्कृति कहते हैं।

उपरोक्त आधार पर ही प्रो० बेनेडिक्ट ने लिखा है कि, "व्यक्ति की भाँति सस्कृति भी विचार और क्रिया का एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान है। प्रत्येक सस्कृति के अन्तर्गत ऐसे विशिष्ट लक्ष्यो या उद्देश्यो का जन्म होता है जोकि अन्य प्रकार के समाज मे न पाये जाते हो। इन उद्देश्यो का पालन करते हुए प्रत्येक समाज अपने अनुभव का उत्तरोत्तर एकीकरण करता जाता है जिसके फलस्वरूप व्यवहार के विभिन्न मदो (item) मे अधिकाधिक एकरूपता उत्पन्न हो जाती है।"[46]

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रत्येक सस्कृति मे अनेक सास्कृतिक तत्त्व समान होते हैं, फिर उन तत्त्वो से बनने वाले सस्कृति-प्रतिमान एक-से क्यो नही होते हैं। इस प्रश्न का अति सरल उत्तर यह है कि सास्कृतिक तत्त्व एक-से होते हुए भी उनमे सम्बद्ध या सगठित (integrate) होने का तरीका या डिजाइन या रूप एक-सा नही होता है। जिसके कारण सस्कृति-प्रतिमान का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है। एक ही प्रकार के सास्कृतिक तत्त्वो (culture trait) को अपनी आवश्यकताओ, अनुभव या समझ के अनुसार प्रत्येक समाज के सदस्य विभिन्न रूप मे सम्बद्ध या सगठित करते है जिसके फलस्वरूप सस्कृति-प्रतिमान का डिजाइन या रूप भी प्रत्येक समाज मे भिन्न-भिन्न होता है। एक ही प्रकार का ईंट, सिमेंट आदि दो-तीन अलग-अलग राज (mason) को दे दीजिए, पर एक राज उस सामान से जिस डिजाइन का कमरा बनायेगा, यह

---

45 "The whole, as modern science is insisting in many fields, is not merely the sum of all its parts, but the result of a unique arrangement and interrelation of the parts that has brought about a new entity" Ruth Benedict, *Patterns of Culture*, p 47

46 "A culture like individual, is a more or less consistent pattern of thought and action Within each culture there come into being characteristic purposes not necessarily shared by other types of society In obedience to these purposes, each people further and further consolidate its experience, and in proportion to the urgency of these drives the heterogeneous items of behaviour take more and more congruous shape" *Ibid*, p 46

जरूरी नही कि दूसरा या तीसरा राज भी उसी डिजाइन का कमरा बनायेगा, प्रत्येक के डिजाइन मे कुछ पृथकता, भिन्नता या विशेषता होगी ही। उसी प्रकार प्रत्येक समाज मे सास्कृतिक तत्त्वो से बनने वाले सस्कृति-प्रतिमान के डिजाइन मे या उनके सगठन (integration) मे भिन्नता अवश्य ही होती है, परन्तु हाँ, सगठन प्रत्येक सस्कृति मे होता अवश्य है।

प्रो० बेनेडिक्ट का कथन है कि सस्कृति मे यह सगठन (integration) प्रत्येक सस्कृति मे अन्तर्निहित एक अन्दुरूनी प्रवृत्ति (tendency) या झुकाव (trend) के कारण ही होता है। आपने इस प्रवृत्ति या झुकाव को सस्कृति की 'आत्मा' (genius) कहकर पुकारा है। सस्कृति की सम्बद्ध-स्थिति (configuration) सस्कृति की आत्मा से ही बनती है। श्रीमती बेनेडिक्ट का विश्वास था कि सस्कृति की यह आत्मा दो प्रकार की हो सकती है—या तो यह आत्मा 'अपोलोनियन' (Apollonian) हो सकती है या 'डायोनीशियन' (Dionysian) भी हो सकती है। 'अपोलोनियन' शब्द 'अपोलो' (Apollo) से बना है। अपोलो ग्रीसवासियो के कृपालु तथा सुखदायक सूर्य-देवता का नाम है। अत स्पष्ट है कि अपोलोनियन-सस्कृति से श्रीमती बेनेडिक्ट का अभिप्राय ऐसी सस्कृति से है जिसमे शान्त-गुण प्रधान हो जिसके कारण सस्कृति के विभिन्न भागो मे एक प्रकार का सगठन बना रहता है। इसके विपरीत, 'डायोनीशियन' शब्द डायोनीसियस (Dionysius) से बना है। डायोनीशियस ग्रीसवासियो के कष्टदायक, मदमस्त देवता का नाम है। इस प्रकार डायोनीशियन आत्मा वाले सस्कृति मे सगठन भोग-विलास तथा अहिसा के आधार पर होगा। प्रो० बेनेडिक्ट ने इन दो प्रकार की आत्माओ के आधार पर विभिन्न सस्कृति के विभिन्न अगो या पक्षो मे पाये जाने वाले सगठन (integration) को समझाया है।

उपर्युक्त दो प्रकार की 'आत्माओ' की प्रकृति को दो विरोधी सस्कृति-प्रतिमानो की विवेचना से अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। ये दो सस्कृतियाँ हैं—प्युब्लो (Pueblo) सस्कृति तथा अलोरेस (Alorese) सस्कृति। अमेरिका के दक्षिणी-पश्चिमी भाग मे रहने वाली प्युब्लो प्रजाति की सस्कृति अपोलोनियन सस्कृति का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस सस्कृति मे एक प्रकार का सयम तथा व्यवस्था देखने को मिलती है और इसके सदस्य अपने व्यवहार मे किसी भी प्रकार से उद्वेगात्मक आधिक्य (emotional excess) को प्रकट नही करते है और शान्तिपूर्ण ढग से सह-योगिता के सिद्धान्त को अपनाते हुए अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति मे लगे रहते है। उनका विश्वास है कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक निश्चित स्थिति तथा कार्य है और इस विषय मे सचेत रहना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। जब तक समाज का प्रत्येक सदस्य परम्परा द्वारा निर्धारित कार्यों को उचित ढग से करता रहता है, तब तक सब की प्रगति निश्चय ही होती रहती है, क्योकि समस्त का या सबका प्रत्येक से अन्त -सम्बन्ध अति घनिष्ट तथा परस्पर आदान-प्रदान का है। प्रत्येक को सबसे और सबको प्रत्येक से बहुत कुछ मिलता रहता है। प्युब्लो लोगो का विश्वास है कि जब तक प्रत्येक व्यक्ति सहयोग द्वारा अपने-अपने कार्यों को करते रहेगे तब तक वर्षा के देवता वर्षा लायेंगे, पेड-पौधो

के देवता फसल को उगायेंगे और उसे पकायेंगे और आनन्द-दायक देवता उनके आमोद-प्रमोद के साधनो को जुटायेंगे। परन्तु अगर किसी ने अपने कार्यों को ठीक से नहीं किया तो ये सब कुछ नहीं होगा और उनका जीवन विघटित हो जायेगा। पूजा, प्रार्थना, उत्सव, खेती, मकान आदि सभी विषयो मे ज्युन्लो लोग अपने सहयोगपूर्ण या सहकारी उत्तरदायित्व को भूल नही जाते है।

इसके विपरीत इण्डोनेशिया (Indonesia) की अलोर जनजाति की सस्कृति मे समस्त रजोगुणो का समावेश मिलता है। इनका प्रदेश जगल का है और उसमे ये लोग बगीचा लगाते हैं। स्त्रियो का प्रमुख कार्य इन बगीचो मे काम करना है जबकि पुरुष धन के लेन-देन तथा सूद इकट्ठा करने के काम मे अपने को अत्यधिक व्यस्त रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यही प्रयत्न करता है कि वह उधार देकर दूसरो को अपने पजे मे कर ले। अपनी सम्पत्ति का दूसरो के सामने दिखावा करने की प्रवृत्ति भी इनमे अत्यधिक होती है। इसी कारण विवाह, जन्म, मृत्यु आदि के अवसरो पर वे धन की खूब बर्बादी करते हैं। आमोद-प्रमोद तथा उत्सवो मे भी समस्त वासनाओ को नगा रूप दिया जाता है और अनेक प्रकार के हुरदगे मचाये जाते हैं। इन लोगो मे धन का सचय अपने ही जाति के दूसरे लोगो पर धाक जमाने के उद्देश्य से किया जाता है। यहाँ तक की पारिवारिक जीवन मे पति-पत्नी तक मे कोई सहयोग की भावना नहीं होती है। इसके फलस्वरूप पारिवारिक तनाव इनके समाज मे एक सामान्य घटना बन जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि बच्चो के व्यक्तित्व का विकास भी असबद्ध रूप मे होता है। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन मे असुरक्षा (insecurity) का भय सदा घेरे रहता है और यही भय लोगो को एक-दूसरे से सबद्ध करता है। दूसरे शब्दो मे, व्यक्ति के जीवन मे पाये जाने वाली असुरक्षा ही अलोरेस सस्कृति मे पाये जाने वाले सगठन का आधार है।

लयात्मक दृष्टिकोण या सास्कृतिक लय
(Themetic Approach or Culture Theme)

सस्कृति के सगठन को समझाने के लिए प्रकार्यात्मक तथा सरूपणात्मक दृष्टिकोणो (approaches) के अतिरिक्त एक और दृष्टिकोण लयात्मक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण सरूपणात्मक दृष्टिकोण को यथार्थ (exact) मानने से इनकार करता है और सास्कृतिक लय की अवधारणा को विकसित करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सास्कृतिक लय मे ही सास्कृतिक सगठन का वास्तविक रहस्य छिपा हुआ है। यह दृष्टिकोण प्रो० बेनेडिक्ट के विचारो की आलोचना से आरम्भ होता है। जैसा कि श्री मोरिस ओपलर (Morris Opler) का कथन है, "डाक्टर बेनेडिक्ट की व्याख्या मे अनेक कमियाँ हैं जिन्हें कि उचित ढग से कभी भी नही समझाया गया है।" आपके मतानुसार अगर हम प्रो० बेनेडिक्ट के सिद्धान्तो को अपनाये तो हम यही पायेंगे कि उस दृष्टिकोण मे अधिकतर सस्कृति असगठित ही है, क्योंकि प्रो० बेनेडिक्ट ने सास्कृतिक सगठन (cultural integration) के केवल दो सम्भावित आधारो या आत्माओ—अपोलोनियन और डायोनीशियन—को निश्चित कर दिया है। यह सास्कृतिक सगठन की अति सकुचित

व्याख्या है क्योंकि संस्कृति के विभिन्न पक्षो या भागो का सगठन केवल इन दो आधारो पर ही नही, अन्य अनेक आधारो पर हो सकता है और होता भी है। इस कारण संस्कृतियो के विश्लेषण, निरूपण तथा तुलना मे यदि प्रो० बेनेडिक्ट की अवधारणा को हम उपयोगी तथा व्यवहारिक बनाना चाहते हैं तो उसे और भी विस्तृत रूप मे प्रयोग करना होगा।

प्रो० बेनेडिक्ट के सिद्धान्त की कमी को दूर करने के लिये श्री ओपलर ने अपने सास्कृतिक लय (culture theme) के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। आपके मतानुसार सास्कृतिक सगठन के प्रेरक-कारण केवल दो ही नही, अनेक हो सकते है जो कि विभिन्न संस्कृतियो मे अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक संस्कृति मे मनुष्य के व्यवहार मे कुछ-न-कुछ विशेषता होती ही है और उसका कारण संस्कृति मे पाये जाने वाले लय (themes) होते हैं। लय वे सामान्य प्रेरणायें (general motivations) है जिनके कारण एक समाज के सदस्यो मे विभिन्न प्रकार के विशिष्ट व्यवहार पाये जाते हैं। श्री ओपलर के शब्दो मे, "लय, कहा हुआ या माना हुआ एक वह स्वयसिद्ध सिद्धान्त या स्थिति है जो कि प्राय व्यवहार को नियत्रित करती या क्रिया को प्रेरणा प्रदान करती है और जो एक समाज मे आप-से-आप मान्य हो या खुले-आम विकसित किया गया हो।"[47] सास्कृतिक लय कोई विशेष 'टाइप' नही है जैसा कि श्रीमती बेनेडिक्ट के सिद्धान्त से पता चलता है। इसकी अभिव्यक्ति श्री ओपलर के अनुसार, प्रत्येक संस्कृति मे अलग होती है क्योकि लय व्यवहार करने के वे समान्य तरीके है जो कि एक समाज मे फैले होते है। दूसरे शब्दो मे, एक समाज मे फैले हुए व्यवहार करने के तरीको मे अन्तर्निहित प्रेरक-कारण या बहाव या धारा को उस संस्कृति का लय कहते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक सगीत की एक विशिष्ट लय होती है जिसके आधार पर उस सगीत के विभिन्न अगो मे एक शृखला या सगठन बना रहता है और सम्पूर्ण सगीत को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रत्येक संस्कृति मे एक या कुछ लय होती है, जो कि उस संस्कृति के विभिन्न अगो को सगठित करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री ओपलर का सिद्धान्त श्रीमती बेनेडिक्ट के सिद्धान्त से अधिक व्यापक है।

सास्कृतिक लय का एक उत्तम उदाहरण श्री ओपलर ने छिरिकाहुआ अपाछी (Chiricahua Apache) संस्कृति का प्रस्तुत किया है।[48] इस संस्कृति का एक लय इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—"पुरुष स्त्रियो की तुलना मे शारीरिक, मानसिक और नैतिक सभी विषयो मे अधिक श्रेष्ठ होते हैं।" इस लय की उपस्थिति छिरिकाहुआ लोगो के अधिकाश व्यवहारो मे देखा जा सकता है। माँ के गर्भ का बच्चा अगर अधिक

---

47 A theme is defined as "a postulate or position, declared or implied, and usually controlling behaviour or stimulating activity, which is tacitly approved or openly promoted in a society" Morris Opler, "Some Recently Developed Concepts Relating to Culture" *Southwestern Journal of Anthropology*, 4, 107-122 (1948), p 120

48 Morris E Opler, "Themes as Dynamic forces in Culture", *American Journal of Sociology*, No 3 Nov 1945, pp 192-206

सजीव है तो वहाँ के लोग यह भविष्यवाणी करते हैं कि गर्भ का वह बच्चा लडका है। उसी प्रकार वहाँ स्त्रियो के लिए यह कहा जाता है कि वे जल्द ही उत्तेजित हो जाती हैं और उनके मन की कोई स्थिरता भी नही होती है, इस कारण वे ऐसी बातें कह सकती हैं या ऐसे काम कर सकती हैं जिससे पारिवारिक कलह उत्पन्न हो। उनकी इच्छा-शक्ति भी पुरुषो की अपेक्षा कम होती है और उनमे काम-वासनाएँ भी अधिक होती हैं। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रहे कि उपरोक्त निर्णय या मत केवल पुरुषो का ही नही है, बल्कि स्त्रियाँ भी उसे स्वीकार करती हैं और उसी प्रकार का व्यवहार भी करती है।

छिरिकाहुआ लोगो के सामाजिक व राजनीतिक जीवन मे भी उपरोक्त सास्कृतिक-लय की छाप सुस्पष्ट है। सभी जनजातीय नेता पुरुष हैं और सभी प्रमुख पदो (posts) पर पुरुष ही नियुक्त हैं। रास्ता चलते समय पुरुष स्त्रियो से आगे चलते हैं, भोज (feasts) के अवसरो पर पुरुषो के लिए विशेष स्थान की व्यवस्था की जाती है जबकि स्त्रियो को जहाँ कही भी जगह मिलती है वही बैठकर भोजन कर लेती हैं। अगर घर पर अतिथि (guests) आ जाते हैं तो पुरुष-अतिथि का प्रत्येक विषय मे अधिक ध्यान रखा जाता है। धार्मिक कृत्यो से स्त्रियो को सावधानी से दूर रखा जाता है, रजस्वला (menstruating) स्त्रियो को विशेषकर अपवित्र और अयोग्य माना जाता है। इतना ही नही, मनोरजन का क्षेत्र भी उपरोक्त सास्कृतिक लय के प्रभावो से अप्रभावित नही है। स्त्रियाँ सामाजिक उत्सवो मे नाच या गीत नही गा सकती हैं। उन्हे अन्य सामूहिक खेल (game) से भी यह डर दिखाकर दूर रखा जाता है कि उनमे सम्मिलित होने पर वे अधी हो जायेंगी। अत स्पष्ट है कि छिरिकाहुआ लोगो मे यह सास्कृतिक लय कि 'शारीरिक, मानसिक और नैतिक सभी विषयो मे पुरुष स्त्रियो से श्रेष्ठ हैं' उनके सस्कृति के विभिन्न पक्षो मे फैला हुआ है और इसी के कारण इन पक्षो मे सगठन है।

श्री ओपलर ने यह भी कहा है कि यद्यपि कुछ सस्कृतियो मे केवल एक ही लय (theme) सम्पूर्ण सस्कृति को नियन्त्रित करता है, फिर भी इसे अपवाद (exception) ही समझना चाहिये, न कि नियम। नियम तो यह है कि प्रत्येक या अधिकतर सस्कृतियो मे एकाधिक या अनेक लय देखने को मिलते है। इन सास्कृतिक लयो के सन्तुलन और अन्त क्रिया से ही, श्री ओपलर के मतानुसार, सस्कृति मे सगठन (integration) उत्पन्न होता है।

संस्कृति और व्यक्तित्व
(Culture and Personality)

व्यक्तित्व की अवधारणा
(Concept of Personality)

'व्यक्तित्व' अग्रेजी शब्द 'personality' का हिन्दी रूपान्तर है। अग्रेजी का यह personality शब्द लैटिन भाषा के *persona* शब्द से विकसित हुआ है जिसका

अर्थ 'नकाब' (mask) है। यह *persona* शब्द स्वय ग्रीक *prosopon* से लिया गया मालूम पडता है जिसका अर्थ है आकृति या चेहरे का भाव। इस शब्दार्थ के आधार पर मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि 'व्यक्तित्व' का अर्थ किसी व्यक्ति का वह बाह्य या बाहरी रूप है जो दूसरे व्यक्तियो के सम्मुख प्रगट होता है, अर्थात् ऊपरी तौर पर हम एक व्यक्ति को जैसा देखते या पाते हैं वह 'जैसा' उसका व्यक्तित्व है। परन्तु 'व्यक्तित्व' का गहन व वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्वान व्यक्तित्व के उपरोक्त अर्थ से सन्तुष्ट नही हैं। प्रोफेसर ऑलपोर्ट (Allport) का कथन है कि किसी व्यक्ति की बाह्य स्थिति तथा व्यक्तित्व एक नही है, क्योकि उसकी बाह्य स्थिति या ख्याति उसके व्यक्तित्व से बिलकुल भिन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति हमे प्रभावित करता है तो हमपर पडने वाला यह प्रभाव केवल उसके व्यक्तित्व पर ही निर्भर नही है, वह तो स्वय हमारे व्यक्तित्व पर भी निर्भर है। अर्थात् व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति से सम्बन्धित केवल बाह्य अवस्थाएँ ही नही, वरन् आन्तरिक अवस्थाओ का भी समावेश होता है। यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगी।

बच्चा कुछ जन्म-जात लक्षणो के साथ पैदा होता है। वशानुसक्रमण (hareditary) प्रक्रिया द्वारा अपने माता-पिता से उसे शरीर का कद और ढाँचा, कुछ मूल-प्रवृत्तियाँ (instincts), प्रेरणा (motivation) आदि प्राप्त होती हैं। परन्तु जन्म के समय वह बच्चा न तो सामाजिक होता है और न ही समाज-विरोधी, वह तो केवल असामाजिक होता है। उसकी मानसिक और शारीरिक विशेषताएँ, प्रेरणाएँ, मूल प्रवृत्तियाँ, सवेग आदि सभी कुछ केवल मात्र कच्चे माल की भाँति होते हैं। पर इन कच्चे मालो से सामाजीकरण (socialization) की प्रक्रिया द्वारा समाज अपनी सस्कृति के आधार पर उसे एक सामाजिक प्राणी के रूप मे विकसित करता है। सक्षेप मे, एक व्यक्ति को जो कुछ भी वशानुसक्रमण के माध्यम से प्राप्त होता है, उसका विकास सस्कृति के लीलाक्षेत्र मे ही होता है। वास्तव मे जन्म के समय मानव प्राणी उन सब गुणो से रहित होता है जिनसे उसे 'मानव' या 'सामाजिक' कहा जा सके। उन गुणो या विशेषताओ को प्राणी धीरे-धीरे अपने समाज या सस्कृति से प्राप्त करता या सीखता है। जन्म से मृत्यु तक व्यक्ति, समाज और सस्कृति मे निरन्तर अन्त क्रिया होती रहती है जिसके फलस्वरूप मनुष्य के अपने कुछ विचार, लक्षण, मनोवृत्ति, आदतें आदि बन जाती हैं। शारीरिक व मानसिक विशेषताओ को छोडकर एक व्यक्ति से सम्बन्धित इन्ही सब सामाजिक विचार, लक्षण, मनोवृत्ति, आदते आदि के सगठित पुज को हम उस व्यक्ति का व्यक्तित्व कहते है।

व्यक्तित्व की परिभाषा
(Definition of Personality)

श्री ड्रीवर (Dever) ने लिखा है कि मनोवैज्ञानिक और सामान्य रूप से 'व्यक्तित्व' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयोग हुआ है, परन्तु सबसे अधिक व्यापक और सन्तोषजनक **परिभाषा** के अनुसार व्यक्तित्व व्यक्ति के उस शारीरिक, मानसिक, नैतिक

सजीव है तो वहाँ के लोग यह भविष्यवाणी करते हैं कि गर्भ का वह बच्चा लड़का है। उसी प्रकार वहाँ स्त्रियों के लिए यह कहा जाता है कि वे जल्द ही उत्तेजित हो जाती हैं और उनके मन की कोई स्थिरता भी नहीं होती है, इस कारण वे ऐसी बातें कह सकती हैं या ऐसे काम कर सकती हैं जिससे पारिवारिक कलह उत्पन्न हो। उनकी इच्छा-शक्ति भी पुरुषों की अपेक्षा कम होती है और उनमें काम-वासनाएँ भी अधिक होती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि उपरोक्त निर्णय या मत केवल पुरुषों का ही नहीं है, बल्कि स्त्रियाँ भी उसे स्वीकार करती हैं और उसी प्रकार का व्यवहार भी करती हैं।

छिरिकाहुआ लोगों के सामाजिक व राजनीतिक जीवन में भी उपरोक्त सांस्कृतिक-लय की छाप सुस्पष्ट है। सभी जनजातीय नेता पुरुष हैं और सभी प्रमुख पदों (posts) पर पुरुष ही नियुक्त हैं। रास्ता चलते समय पुरुष स्त्रियों से आगे चलते हैं, भोज (feasts) के अवसरों पर पुरुषों के लिए विशेष स्थान की व्यवस्था की जाती है जबकि स्त्रियों को जहाँ कहीं भी जगह मिलती है वहीं बैठकर भोजन कर लेती हैं। अगर घर पर अतिथि (guests) आ जाते हैं तो पुरुष-अतिथि का प्रत्येक विषय में अधिक ध्यान रखा जाता है। धार्मिक कृत्यों से स्त्रियों को सावधानी से दूर रखा जाता है, रजस्वला (menstruating) स्त्रियों को विशेषकर अपवित्र और अयोग्य माना जाता है। इतना ही नहीं, मनोरंजन का क्षेत्र भी उपरोक्त सांस्कृतिक लय के प्रभावों से अप्रभावित नहीं है। स्त्रियाँ सामाजिक उत्सवों में नाच या गीत नहीं गा सकती हैं। उन्हें अन्य सामूहिक खेल (game) से भी यह डर दिखाकर दूर रखा जाता है कि उनमें सम्मिलित होने पर वे अंधी हो जायेंगी। अतः स्पष्ट है कि छिरिकाहुआ लोगों में यह सांस्कृतिक लय कि 'शारीरिक, मानसिक और नैतिक सभी विषयों में पुरुष स्त्रियों से श्रेष्ठ हैं' उनके संस्कृति के विभिन्न पक्षों में फैला हुआ है और इसी के कारण इन पक्षों में संगठन है।

श्री ओपलर ने यह भी कहा है कि यद्यपि कुछ संस्कृतियों में केवल एक ही लय (theme) सम्पूर्ण संस्कृति को नियन्त्रित करता है, फिर भी इसे अपवाद (exception) ही समझना चाहिये, न कि नियम। नियम तो यह है कि प्रत्येक या अधिकतर संस्कृतियों में एकाधिक या अनेक लय देखने को मिलते हैं। इन सांस्कृतिक लयों के सन्तुलन और अन्तःक्रिया से ही, श्री ओपलर के मतानुसार, संस्कृति में संगठन (integration) उत्पन्न होता है।

संस्कृति और व्यक्तित्व
(Culture and Personality)

व्यक्तित्व की अवधारणा
(Concept of Personality)

'व्यक्तित्व' अंग्रेजी शब्द 'personality' का हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी का यह personality शब्द लैटिन भाषा के *persona* शब्द से विकसित हुआ है जिसका

और सामाजिक गुणों का सुसगठित और गतिशील सगठन है जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियो के साथ रोज के सामाजिक जीवन के आदान-प्रदान मे एक-दूसरे के प्रति प्रदर्शित करते हैं।[49]

श्री किम्बल यग (Kimball Young) के शब्दो मे, "व्यक्तित्व एक व्यक्ति की आदतो, मनोवृत्तियो, लक्षणो तथा विचारो का एक ऐसा सगठित योग (integrated body) है जो कि बाहरी तौर पर तो विशिष्ट एव सामान्य कार्यों व स्थितियो (roles and statuses) के रूप मे तथा आन्तिरिक रूप से उसकी आत्म-चेतना (self conscousiness), 'अह' (self) की धारणा, विचारो, मूल्यो तथा उद्देश्यो के चारो ओर सगठित होता है ।"[50] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के अन्तर्गत कुछ बाहरी और कुछ आन्तरिक तत्त्वो का समावेश होता है। इन बाह्य तथा आन्तरिक तत्त्वो या लक्षणो के सगठित रूप को ही हम व्यक्तित्व कहते हैं।

प्रिंस मार्टन (Prince Morton) समस्त प्राणीशास्त्रीय गुणो तथा अर्जित प्रवृत्तियो के सम्पूर्ण योग को ही 'व्यक्तित्व' की सज्ञा देते है।

व्यक्तित्व की आधारभूत सरचना
(Basic Personality Structure)

उपरोक्त परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व की एक सरचना (structure) होती है जिसके अन्तर्गत अनेक आन्तरिक तथा बाह्य तत्त्वो का समावेश होता है। इन आन्तरिक तथा बाह्य तत्त्वो को हम इस प्रकार क्रमबद्ध रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं —

(१) शारीरिक बनावट व स्वास्थ्य—आरम्भ मे और आज भी साधारण जनता के मस्तिष्क मे व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे जो धारणा है वह सामान्यत एक व्यक्ति के शारीरिक बनावट और स्वास्थ्य से ही सम्बन्धित है। जिस व्यक्ति के शरीर का डील-डौल अच्छा होता है तथा रग-रूप आकर्षक होता है, उसके व्यक्तित्व को अच्छा कहा जाता है। इसके विपरीत अपग या नाटे कद वाले बालको को उसी उम्र के अन्य बच्चे अवहेलना या अपमानजनक दृष्टि से देखते हैं। अधिक मोटापा या दुर्बलता शारीरिक व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव डालती है। परन्तु शारीरिक बनावट का महत्त्व स्वय मे उतना नही है, जितना उसके प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया का। अगर किसी व्यक्ति की शारीरिक बनावट अच्छी नही है अथवा किसी अग मे कोई दोष है तो उसे

---

49 "Personality is a term used in several senses, both popularly and psychologically, the most comprehensive and satisfactory being the integrated and dynamic organization of the physical, mental and social qualities of the individual as that manifests itself to other people, in the give and take of social life." Drever, *Dictionary of Psychology*

50 "We define personality as the more or less integrated body of habits, attitudes, traits and ideas of an individual as these are organised *externally* into specific and general roles and statuses and internally around self-consciousness and the concept of the self, and around the ideas, values and purposes which are related to motives, roles and status" —Kimball Young

देखकर लोग हँसते हैं या घृणा से मुँह फेर लेते हैं। इस प्रतिक्रिया से उस व्यक्ति के अहम् (ego) को आघात लगता है और उसमे हीन-भाव (feeling of inferiority) पनपता है। वह किसी से बोलने या उसके सामने जाने मे सकोच का अनुभव करता है। यही हीन-भाव चरम सीमा पर पहुँच जाने पर व्यक्ति आत्म-हत्या तक कर सकता है। अत स्पष्ट है कि शारीरिक बनावट व्यक्तित्व की सरचना का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

(२) **बुद्धि एव मेधा**—यद्यपि बुद्धि (intelligence) तथा मेधा (talent) जन्म-जात होती है, इस बात को आज स्वीकार नही किया जाता है, फिर भी व्यक्तित्व की सरचना मे इनका काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस व्यक्ति की बुद्धि तेज होती है, वह किसी भी नयी परिस्थिति अथवा समस्या को शीघ्र समझकर उसका हल ढूंढ सकता है। साथ ही, विभिन्न परिस्थितियो से अनुकूलन करने की शक्ति भी उसमें अधिक होती है। ये सब बातें उसके व्यक्तित्व के विकास मे सहायक होती है। बिलकुल बुद्धिहीन व्यक्ति कभी किसी समाज मे नेता का पद प्राप्त कर पाया है, ऐसा सुना नही गया है। इसी प्रकार कला, सगीत, कौशल आदि की मेधा का होना या न होना व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

(३) **स्नायु मण्डल**—स्नायु-मण्डल (nervous system) की क्रियाओ का प्रभाव भी व्यक्तित्व-विकास पर पर्याप्त मात्रा मे पडता है क्योकि ये मानसिक योग्यता, क्रियात्मक कौशल आदि को प्रभावित करती है। दूसरे शब्दो मे, स्नायु-मण्डल व्यक्तित्व के अन्तर्गत आने वाले कुछ योग्यता के विकास की एक सीमा निर्धारित कर देता है। यह निश्चित है कि एक जड को विद्वान नही बनाया जा सकता। श्री केम्फ (Kemph) के अनुसार हमारी इच्छाओ की उत्पत्ति स्वत सचालित स्नायु-मण्डल से होती है।

(४) **अन्त स्रावी ग्रन्थियाँ**—अधिकांश मनोवैज्ञानिको ने अन्त स्रावी ग्रन्थियो (endocrine glands) को व्यक्तित्व की सरचना मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इन ग्रन्थियो से स्राव होता रहता है। इन ग्रन्थियो से द्रव या स्राव जब सतुलित मात्रा मे निकलकर रक्त मे मिलता रहता है, तभी व्यक्ति के जीवन या व्यक्तित्व के अनेक गुणो का सतुलित विकास होता रहता है। अत्यधिक स्राव होने पर बालक या व्यक्ति अधिक जोशीला, अधिक क्रोधी, अशान्त आदि हो जाता है, और कम स्राव होने पर बालक आलसी, सुस्त, काम-चोर, दुर्बल आदि हो जाता है। सामान्य रूप से इन ग्रन्थियो का प्रभाव शारीरिक विकास और पाचन-क्रिया पर ही पडता है, परन्तु कभी-कभी ये हमारे व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं।

(५) **प्रत्यक्ष-बोध**—व्यक्तित्व की सरचना मे प्रत्यक्ष-बोध (perception) या प्रत्यक्षीकरण (perceiving) का भी अत्यन्त महत्त्व है। श्री किम्बल यग के शब्दो मे "प्रत्यक्ष-बोध का अर्थ भौतिक तथा सामाजिक दोनो प्रकार की वस्तुओ का ज्ञान करने, अर्थ लगाने तथा उनके महत्त्व को समझने की क्रिया है।" सर्वप्रथम किसी वस्तु का ज्ञान हम किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा प्राप्त करते हैं। आँख, कान, नाक, माँस-पेशियाँ, जिह्वा आदि प्रमुख ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जिनके द्वारा हम देखकर, सुनकर, सूँघकर, स्वाद लेकर तथा स्पर्श करके हम विभिन्न चीजो के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करते हैं। परन्तु यह ज्ञान वास्तव

मे ज्ञान नही होता, यह तो आभास-ज्ञान या सवेदना (sensation) मात्र होता है। एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। जब बच्चा जन्म लेता है तो उसे किसी भी वस्तु का ज्ञान नही होता है। वह जोर की आवाज सुनता है तो चौक उठता है, किसी को देखता है तो हँसने लगता है या रो उठता है, किसी वस्तु को देखकर पकडना चाहता है, उसे उठाकर मुँह मे रख लेता है। पर उसे उस स्वर, व्यक्ति या वस्तु का वास्तविक या प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता, केवल सवेदना होती है। वह समझ नही पाता कि कौन-सी वस्तु खाने की है, कौन-सी खेलने की, कौन अपना है कौन पराया आदि। इसीलिये वह गर्म-लाल लोहे के टुकडे को भी खिलौना समझकर पकड सकता है और मिट्टी के ढेले को मुँह मे डालकर चूस सकता है। परन्तु जैसे-जैसे अनुभव बढता है, वैसे-वैसे विभिन्न वस्तुओ के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष, वास्तविक या सार्थक ज्ञान बच्चे को प्राप्त होता रहता है, वह एक वस्तु का ज्ञान करने, अर्थ लगाने और उसके महत्त्व को समझने लगता है। इसी को प्रत्यक्ष-ज्ञान (perception) कहते हैं। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे प्राप्त ज्ञान के आधार पर उस वस्तु का अर्थ लगाना या उसके महत्त्व को समझना एक व्यक्ति के सामाजिक व सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर निर्भर होता है। उदाहरणार्थ, हिन्दू कृष्णजी की मूर्ति का जो अर्थ व महत्त्व समझता है, वह अमेरिकावासियो की समझ से पृथक् होगा ही। इसी प्रत्यक्ष-बोध के कारण हम पर्यावरण की कुछ चीजो को अधिक महत्त्वपूर्ण समझकर चुन लेते हैं, तो कुछ को त्याग देते हैं। प्रत्यक्ष-बोध की कारण ही व्यक्तित्व मे सगठन तथा बल (organization and emphasis) के गुण-पनपते हैं तथा व्यक्तित्व को स्थिरता व दृढता प्राप्त होती है।

(६) **कल्पना तथा स्मृति**—व्यक्तित्व की सरचना मे कल्पना तथा स्मृति का भी अपना महत्त्व है। सफल व्यक्तित्व के लिये कल्पना तथा स्मृति शक्ति का प्रखर होना भी आवश्यक है। ऊँचे दर्जे के नेताओ मे ये दोनो ही गुण पाये जाते हैं। यह सच है कि कल्पना तथा स्मृति-शक्ति का प्रखर होना या न होना अनेक सामाजिक तथा सास्कृतिक कारको पर निर्भर करता है।

(७) **मनोवृत्तियाँ**—समाज की विभिन्न परिस्थितियो तथा वस्तुओ के प्रति मानसिक चेतना को मनोवृत्ति कहते है। दूसरे शब्दो मे, एक परिस्थिति या वस्तु के विषय मे हम जो सोचते हैं और उसे जिस दृष्टिकोण से देखते हैं, या उसके प्रति जो मनोभाव—घृणा, भय, प्रेम आदि—रखते हैं, वही हमारी मनोवृत्ति है। इन मनोवृत्तियो का भी अपना महत्त्व व्यक्तित्व की सरचना मे होता है। निम्न मनोवृत्तियाँ उत्तम व्यक्तित्व का परिचायक नही है।

(८) **प्रेरणाएँ**—प्रेरणा (motive) वह आन्तरिक मन.शारीरिक प्रक्रिया (psycho-physiological process) है जो व्यक्ति को एक विशेष क्रिया करने के लिए प्रेरित करती है तथा उस क्रिया को किसी लक्ष्य की ओर निर्देशित करती है। प्रेरणा की उत्पत्ति उस समय होती है जब व्यक्ति शारीरिक या मानसिक असन्तुलन का अनुभव करता है। उदाहरणार्थ, जब व्यक्ति भूखा रहता है तो शारीरिक असतुलन का अनुभव करता है, यह असतुलन उसे क्रियाशील बनाती है और वह भोजन प्राप्त करने के लिये

प्रयास करता है और भोजन खाकर शारीरिक सन्तुलन को फिर से प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रेरणाओ के दो प्रमुख कार्य हैं—(१) हमारे अन्दर प्रयासो को उत्पन्न करना या कार्य करने के लिए प्रेरित करना, तथा (२) उन प्रयासो को निश्चित लक्ष्य की ओर तब तक निर्देशित करते रहना, जब तक खोये हुए सतुलन की प्राप्ति न हो जाये। इन प्रेरणाओ का जब व्यक्तित्व मे अभाव होता है तो व्यक्ति बहुत कुछ निष्क्रिय व मृतवत् हो जाता है। उसमे किसी भी प्रकार का काम करने का उत्साह नही रहता।

(९) **स्थायी-भाव**—सवेग (emotion) जब अधिक जटिल व स्थायी हो जाता है तो उसे स्थायी भाव (sentiment) कहते हैं। यह एक ऐसी विषम व जटिल मनोवृत्ति है कि इसके आधार पर व्यक्ति विशिष्ट पदार्थ, स्थान, व्यक्ति या विचार के सम्बन्ध मे विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न सवेगो को अनुभव करता है। स्थायी-भावो (sentiments) का निर्माण प्रत्यक्षात्मक स्तर (perceptual level) पर नही होता है, अपितु विचारात्मक स्तर (conceptual level) या भावनात्मक स्तर पर ही सम्भव होता है। इसीलिये भाव-मिश्रित विचारो या भावात्मक विश्वासो को हम स्थायी भाव कहते है। मातृभक्ति या राष्ट्रीयता का स्थायी-भाव ऐसी ही विषम भावात्मक मनोवृत्ति है। स्थायी-भावो के कारण व्यक्तित्व मे अनेक सद्‌गुणो का विकास हो सकता है जिसकी अभिव्यक्ति मातृ-भक्ति से लेकर देशभक्ति तक किसी भी रूप मे हो सकती है।

(१०) **आदर्श तथा मूल्य**—व्यक्तित्व की सरचना मे आदर्श तथा मूल्य के महत्त्व को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व मे उच्च आदर्शों तथा अच्छे मूल्यो का समावेश करने मे सफल होते हैं उनके व्यक्तित्व को भी उच्च स्तर का माना जाता है। यदि एक व्यक्ति भूख, प्यास, निद्रा, काम-वासना आदि की तुलना मे धन, मान, प्रतिष्ठा, शिक्षा आदि को अधिक मूल्य प्रदान करेगा या देश की सुरक्षा के लिये धन, धान, रक्त, स्वर्ण आदि देने के आदर्श को अपने व्यक्तित्व मे खरा उतारेगा, तो वह निश्चय ही औरो की आँखो मे ऊपर उठ जायेगा।

(११) **'स्व' या अहम्**—'स्व' (self) को व्यक्तित्व की सरचना का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। 'स्व' की धारणा जन्मजात नही होती, बल्कि इसे अर्जित या प्राप्त किया जाता है। 'स्व' का विचार उस समय विकसित होता है जब बच्चा दूसरो के सन्दर्भ मे अपने सम्बन्ध मे कुछ जानने लगता है। उसके बारे मे दूसरे लोग क्या सोचते या कहते हैं, उसे देख, सुन और जानकर वह अपने सम्बन्ध मे कुछ अच्छी या बुरी धारणाएँ बना लेता है, अपनी कुछ विशेषताओ के सम्बन्ध मे जागरूक हो जाता है। यदि 'स्व' के सम्बन्ध मे उसके मन या मस्तिष्क मे हीन धारणाओ ने घर कर लिया है तो उससे उसमे जो हीनता की भावना (inferiority complex) पनप जायेगा, वह उसके व्यक्तित्व के सफल विकास मे बहुत बडी बाधा बना जायेगा।

(१२) **स्थिति तथा कार्य**—व्यक्तित्व की सरचना का एक बाह्य तत्त्व व्यक्ति की स्थिति तथा कार्य (status and role) है। व्यक्ति को अपने समाज के विभिन्न समिति व समूह मे अलग-अलग स्थिति प्राप्त होती है और प्रत्येक स्थिति से सम्बन्धित कुछ कार्य (roles) होते हैं। परिवार मे एक व्यक्ति को अगर पिता की स्थिति प्राप्त

है तो उस पिता की स्थिति मे उस व्यक्ति को कुछ कार्य भी करने पडते हैं। जब एक व्यक्ति अपने प्रयत्नो तथा गुणो के आधार पर एक विशेष स्थिति को प्राप्त करता है तो उसे अर्जित स्थिति (achieved status) कहते हैं, परन्तु यदि कोई स्थिति उसे सामाजिक नियम, परम्परा आदि के आधार पर प्राप्त हुई है तो उसे प्रदत्त स्थिति (ascribed status) कहते हैं। दोनो ही प्रकार की स्थितियो के साथ कुछ अलग-अलग कार्य जुडे हुए होते हैं। इन विभिन्न स्थितियो तथा कार्यों मे सन्तुलन को बनाये रखने मे सफल होना, सफल व्यक्तित्व का परिचायक है।

व्यक्तित्व के आधार
(Bases of Personality)

आज प्राय सभी विद्वान इस मत से सहमत हैं कि व्यक्तित्व के तीन प्रमुख आधार होते हैं—शरीर-रचना, समाज और सस्कृति। इन तीनो आधारो की अन्त क्रिया के फलस्वरूप ही व्यक्तित्व का विकास होता है। सर्वश्री क्लूखौन तथा मरे (Kluckhon and Murray) ने उचित ही लिखा है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ अशो मे (क) दूसरे सब लोगो की तरह होता है (like all other men), (ख) दूसरे कुछ लोगो की तरह होता है (like some other men), और (ग) दूसरे किसी भी मनुष्य की तरह नही होता है। ये तीनो विशेषताएँ उपरोक्त तीन आधारो का ही परिणाम होती हैं। इन तीनो आधारो को हम सक्षेप मे इस प्रकार समझा सकते है —

(क) यह स्पष्ट है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ अशो मे दूसरे सब लोगो की ही तरह होता है। उदाहरणार्थ, आधारभूत आवश्यकताओ के विषय मे सब मनुष्य समान हैं। सभी मे एक जैसी दैहिक आवश्यकताएँ हैं। सभी को ऑक्सीजन, जल, भोजन, विश्राम, नीद और शारीरिक सुरक्षा की आवश्यकता है। उसी प्रकार विस्तृत प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से सम्पूर्ण मानव-जाति के कुछ न कुछ शारीरिक लक्षण सार्वभौमिक होते है। सभी के दो हाथ, दो पैर, दो आँख, दो कान, एक नाक आदि होते हैं। सभी मनुष्यो मे लगभग एक ही प्रकार के स्नायु, मासपेशी और ग्रथियाँ (glands) होती हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य दूसरे सब लोगो के समान इसलिये है कि सीखने के नियम चाहे वे जैसे क्यो न हो सम्पूर्ण मानव जाति पर लागू होते हैं। अन्त मे, प्रत्येक मनुष्य दूसरे सब मनुष्यो के समान इसलिये भी है कि मानव-आकाक्षाएँ तथा मानव-प्रेरणाएँ प्रत्येक समाज मे एक-सी ही होती हैं।

(ख) यह भी सच है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ दूसरे मनुष्यो के समान होते है। प्रत्येक समाज मे कुछ सामान्य व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) होते हैं जो कि व्यक्तियो द्वारा सामान्य रूप से ग्रहण कर लिये जाते हैं। कुछ ऐसे भी व्यवहार करने के तरीके होते है जिन्हे लोग अपनी पसन्द से चुनते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक मनुष्य उन दूसरे लोगो की तरह होता है जो उसके समान कार्य या व्यवहार करते हैं। यह व्यक्ति की सामाजिक परिस्थितियो या पर्यावरण का ही परिणाम होता है।

(ग) उपरोक्त दो प्रकार की समानताओ के होने पर भी यह देखा जाता है कि

प्रत्येक व्यक्ति मे विशिष्ट प्रकार के वहुत-कुछ सगठित विचार, मनोवृत्तियाँ, लक्षण और आदते हैं जो कि दूसरे किसी मनुष्य की तरह नही होती हैं। यही उस व्यक्ति का विशिष्ट गुण होता है और इसीलिये मानव-व्यक्तित्व मे भिन्नता होती है। यह इस कारण होता है कि जिन सास्कृतिक पर्यावरणो मे मनुष्यो का विकास हुआ है वे भिन्न भिन्न होते हैं। जापानियो के व्यक्तित्व के सामान्य गुण भारतवासियो के सामान्य व्यक्तित्व-गुणो के समान नही हो सकते क्योकि इन दोनो के सास्कृतिक पर्यावरण एक समान नही हैं। यह वात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायगी।

सस्कृति और व्यक्तित्व
(Culture and Personality)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वशानुसक्रमण द्वारा प्राप्त पूँजी मे ही व्यक्तित्व का निर्माण नही हो सकता। समाज और सस्कृति को भी अपना महत्त्वपूर्ण कार्य या सहायता प्रदान करनी होती है। समाज की सरचना सस्कृति के आधार पर ही वनती है। एक समाज के व्यक्ति और समितियाँ उन कार्यो को ही करती है जो कि उनकी सस्कृति ने उनके लिये निश्चित किये है। सस्कृति ही मनुष्य के व्यक्तित्व की दिशा निर्धारित करती है।

उस परिवार का स्वरूप जहाँ वच्चा पैदा होता है और जहाँ उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये सभी प्रारम्भिक पूँजी प्राप्त होती है, उस समाज की सस्कृति के अनुसार ही निश्चित होती है। सस्कृति द्वारा निर्धारित परिवार का एक विशिष्ट स्वरूप वच्चे के व्यक्तित्व के विकास के आधारभूत स्तरो (stages) को प्रभावित करता है और अपने परिवार से जिन विचारो, भावनाओ, आदतो आदि को वच्चा प्राप्त करता है या सीखता है वे प्राय आजीवन स्थायी रहती हैं। उदाहरणार्थ, एक वैष्णव परिवार का वालक बचपन से ही घर मे राधा-कृष्ण के चित्र व मूर्तियो को देखता है, प्राय रोज वह किसी न किसी रूप मे उनकी लीला-कथाओ को सुनता है, गले मे कठी पहनता है, उनके उत्सवो मे सम्मिलित होता है, उनकी स्तुति मे भजन और गीत सुनता और गाता है, इत्यादि। इन सवकी छाप उस परिवार मे पलने वाले वच्चे के मस्तिष्क और चेतना पर सदा के लिये पड जाती है जो उसके व्यक्तित्व, विचार और व्यवहार पर गहरा प्रभाव डालती है।

केवल परिवार ही नही, अन्य सभी प्राथमिक और द्वैतीयक समूह जो कि उसके व्यक्तित्व के विकास मे सहायक है, उस समाज की सस्कृति की ही छाया होते है। इसलिये सस्कृति ही वास्तव मे व्यक्तित्व को विशिष्ट, रूप और रग, अर्थ और तत्त्व प्रदान करती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अटलाण्टा विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे प्रो० वुडवर्थ (Woodworth) ने विभिन्न प्रजातियो के लोगो की कष्ट सहने की क्षमता का पता चलाने का प्रयत्न किया। इस परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि एक सामान्य अमेरिकन की तुलना मे एक रेड-इण्डियन मे कष्ट महने की अधिक क्षमता है। इसके कारणो की खोज करने पर यह ज्ञात हुआ कि इसका कोई प्राणीशास्त्रीय या

प्रजातीय कारण नही है, वास्तव मे उन रेड-इण्डियनो की सस्कृति की कुछ विशेषताएँ ही इस प्रकार की हैं जिसके कारण उनमे कष्ट सहने की क्षमता का अधिक होना स्वाभाविक है। बचपन से मृत्यु तक रेड-इण्डियनो को कष्ट सहन करने की शिक्षा दी जाती है और उसका अभ्यास कराया जाता है। यहाँ तक कि वह अपनी खोपडी को अपने समुदाय के आदर्शों के अनुसार रूप देने के लिये कठोर कष्ट को सहर्ष स्वीकार करता है। बचपन से ही युवा-सगठन (dormitory) मे वीर-गाथाएँ सुन-सुनकर वह अपने को कठोर बनाता है। यौवनावस्था की रस्मे उसे कष्ट-सहन मे अभ्यस्त बना देती हैं। सास्कृतिक पर्यावरण मे पलने वाले रेड-इण्डियनो मे कष्ट सहन करने की क्षमता अधिक होना स्वाभाविक है। अमेरिकन सस्कृति इससे पर्याप्त भिन्न है। वहाँ बचपन से ही बच्चो को कष्टकर परिस्थितियो से दूर रक्खा जाता है। कष्ट सहन करने का अभ्यास करना तो दूर रहा, उन्हे दर्द दूर करने वाली दवाइयाँ दी जाती हैं। ऐसी अवस्था मे अमेरिकन लोगो मे कष्ट सहने की क्षमता का कम होना स्वाभाविक है।

श्रीमती मार्ग्रेट मीड (Margaret Mead) ने व्यक्तित्व के विकास पर सस्कृति के महत्त्व को तीन जनजातियो के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आरापेश (Arapesh) जनजाति के पुरुषो और स्त्रियो दोनो मे ही नारी गुण मिलता है। इस प्रजाति मे कुछ-एक सास्कृतिक तत्त्व प्रधान है, जिसके कारण उस व्यक्ति की प्रशसा होती है जो शर्मीला हो और जो आक्रमणकारी इच्छाओ का दमन करे। न्यू गायना (New Guinea) की इस आरापेश जनजाति मे बचपन मे ही बच्चे को बडी कोमलता से पाला जाता है और उसके स्वभाव मे मृदुता (softness) लाने का प्रयत्न किया जाता है। उसी न्यू गायना की दूसरी एक जनजाति (tribe) मे अवस्था विल्कुल भिन्न है। वहाँ स्त्री-पुरुष दोनो ही निर्दयी और आक्रमणकारी होते हैं। उनमे शक्ति तथा पद प्राप्त करने के लिए आपस मे सदा ही सघर्ष चलता रहता है। इसका कारण भी उनकी सस्कृति मे ढूँढा जा सकता है। यहाँ केवल एक पक्ष का ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा। इस जनजाति की स्त्रियाँ शिशु को जन्म देना अर्थात् माँ वनना और वच्चो का पालन-पोषण करना पसन्द नही करती। सच तो यह है कि वे शिशु को ही पसन्द नही करती और इसलिये उसे दूध पिलाते समय बैठने का परिश्रम तक नही करती। ये काम वे खडे खडे ही कर लेती है और जैसे ही वच्चा छीन-झपटकर किसी तरह कुछ दूध पी लेता है, वैसे ही वे बच्चे को इस प्रकार झपटकर हटा देती है जैसे कि दूध पिलाने का कार्य विवश होकर किया गया है। अर्थात् इस जनजाति के वच्चो को शिशुकाल से ही माता की ममता से वञ्चित रहना पडता है। इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पडता है, उसमे निर्दयता तथा आक्रमणात्मक भावनाएँ पनप जाती हैं और वे अपनी इच्छाओ की पूर्ति छीना-झपटी द्वारा ही करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। तीसरी जनजाति टेनाम्बुली (Tenambuli) मे अवस्था और भी विचित्र है। इस जनजाति मे स्त्रियाँ शासक और प्रवन्धक होती हैं और पुरुष भावुक, स्त्रियो पर निर्भर और अनुत्तरदायी (irresponsible) होते हैं। पुरुषो का कर्तव्य वच्चो को खिलाना, भोजन वनाना, और घर की देखभाल करना है और स्त्रियो का कर्तव्य घूमना और

सहेलियो के यहाँ गप्पे हाँकना। स्त्री को पति का चुनाव करने का अधिकार है, परन्तु पुरुषो को पत्नी का चुनाव करने का अधिकार नही। इस जनजाति मे स्त्रियो की मनोवृत्ति दूसरो पर प्रभाव जमाने की होती है, जब कि पुरुष विनयशील होते है। स्त्रियाँ सामाजिक जीवन से अनुकूलन करने मे अधिक सफल है। पुरुषो मे दूसरो पर अविश्वास करने की मनोवृत्ति प्रधान होती है। व्यक्तित्व के इन समस्त लक्षणो या गुणो का कारण इस जनजाति की सास्कृतिक परिस्थितियाँ है।

यदि हम व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणो या गुणो की पृथक्-पृथक् विवेचना करे तो हम यही पाएँगे कि उन पर भी संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ, सास्कृतिक प्रतिमान के अनुसार व्यक्तिगत व्यवहारो को ही लीजिये। जापान मे फूत्कार (hissing) सामाजिक क्षेत्र मे सम्मानित व्यक्तियो के प्रति आदर दिखाने का एक नम्र ढग है, बसूटो फूत्कार द्वारा सराहना करते हैं, परन्तु इगलैण्ड मे यह अत्यन्त अभद्र व्यवहार है और किसी अभिनेता या वक्ता के प्रति असम्मान प्रकट करने का ढग है। ससार के अधिकतर भागो मे किसी व्यक्ति पर थूकना घृणा का चिह्न है, परन्तु अफ्रीका की मसाई जनजाति मे यह व्यवहार स्नेह और भलाई का चिह्न है, और अमेरिकन इण्डियन चिकित्सक का रोगी पर थूकना इलाज का एक विशेष ढग है। यूरोप और भारत मे अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति की उपस्थिति मे खडा हुआ जाता है, जब कि फीजी और टोगा लोग बैठ जाते है। उसी प्रकार विभिन्न सास्कृतिक पर्यावरण के मनुष्य के व्यक्तित्व मे पाये जाने वाले पक्षपात (prejudice) को ही लीजिये। एक अमेरिकन बच्चा बचपन से ही देखता है कि उसके समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति नीग्रो को प्रत्येक विषय मे नीचा समझता है और उसी रूप मे उससे व्यवहार करता है, इसका परिणाम यह होता है कि उसमे भी धीरे-धीरे नीग्रो के प्रति पक्षपात पनपता है। एक कट्टर ब्राह्मण का लडका हरिजनो के स्पर्श से भी बचने का प्रयत्न करता है और उनसे कोई भी सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष मे नही होता। इतना ही नही, शीलता (modesty) का व्यक्तित्व-गुण भी सस्कृति के द्वारा निर्धारित होता है। ड्रुस (Druse) लडकी के लिये यही शीलता है कि वह बाहर के लोगो को एक आँख दिखाये, दो आँखें दिखाना एक प्रकार का सामाजिक अपराध-सा है। बुर्का पहनना मुसलमान स्त्री के लिये शीलता का परिचायक है, परन्तु एक अग्रेज स्त्री के लिये नही।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सस्कृति का व्यक्तित्व पर अत्यधिक प्रभाव पडता है, परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि सस्कृति एक ऐसा साँचा या ठप्पा है जो कि सब व्यक्तियो को एक ही रूप या रग मे ढाल देता है। मानव-व्यक्तित्व सास्कृतिक वातावरण का प्रतिविम्ब नही होता है। एक ही सास्कृतिक वातावरण मे रहने वाले मनुष्यो मे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व-गुण प्रधान होगे। वास्तव मे, एक ही सस्कृति मे पले प्रत्येक व्यक्ति मे व्यक्तिगत भिन्नता उसकी क्षमता, योग्यता, अनुभव, धारणा, विचार आदि के आधार पर पायी जाती है और हमेशा पायी जायगी। कोई भी सस्कृति अपने समस्त सदस्यो पर समान प्रभाव कदापि नही डाल सकती। श्रीमती रूथ बेनेडिक्ट ने सच ही कहा है, "कोई भी मानवशास्त्री जिसे कि दूसरी सस्कृतियो के सम्बन्ध मे ज्ञान है यह

विश्वास नही करता है कि व्यक्ति अपनी सभ्यता का गुलाम है और यन्त्रवत् उसके समस्त आदेशो का पालन करता है। अभी तक कोई भी सस्कृति ऐसी नही देखी गयी है जो कि अपने सदस्यो के स्वभाव की समस्त भिन्नताओ को दूर कर सकी हो। सस्कृति और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध सदैव ही लेन-देन का है।"[51] वास्तव मे, व्यक्ति सस्कृति का दास ही नही बल्कि सस्कृति का निर्माता भी है।

प्रजाति और संस्कृति
(Race and Culture)

प्रजाति, जैसा कि हम अध्याय ५ मे विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं, एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है। कुछ शारीरिक लक्षणो (traits) के आधार पर जब हम मानव के एक बडे समूह को दूसरो से अलग करते हैं तो उस मानव-समूह को हम प्रजाति कहते हैं। प्रजाति का सम्बन्ध ठोस मानव-समूह और उसकी प्राणीशास्त्रीय या शारीरिक विशेषताओ से होता है। प्रजाति वास्तव मे प्राणीशास्त्रीय विरासत (biological inheritance) का परिणाम होता है। इसके विपरीत "सस्कृति सम्बद्धित सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानो का सम्पूर्ण योग होता है जो कि एक समाज के सदस्यो की विशेषताओ को बतलाता है और जो, इसीलिये, प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नही होता है।" प्रजाति मे हम एक समूह को कुछ शारीरिक विशेषताओ के आधार पर दूसरे से पृथक् करते हैं, परन्तु एक सास्कृतिक समूह को हम उसके धर्म, प्रथा, भाषा, विवाह सस्था, प्रविधि आदि के आधार पर दूसरे समूहो से पृथक् करते है। प्रजातीय विशेषताएँ वशानुसक्रमण (heredity) की प्रक्रिया के आधार पर एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होता रहता है। इसके विपरीत सस्कृति सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन के रूप मे मानव का आविष्कार है और इसी कारण यह विचारो के आदान-प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से ही एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होती रहती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रजाति व सस्कृति एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न है और इन दोनो का आपस मे कोई सम्बन्ध नही है। इनके बीच किसी भी प्रकार की समानता या सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न करना अवैज्ञानिक है।

१५वी शताब्दी के अन्त मे योरुप की शक्तियों ने अफ्रीका, एशिया और अमेरिका पर आक्रमण करके उनपर उपनिवेशो की स्थापना की और साथ ही अपनी सस्कृति को भी फैलाना चाहा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक भ्रमपूर्ण विचार यह फैलाया गया कि प्रजाति और सस्कृति मे आपस मे घनिष्ट सम्बन्ध है और वह इस रूप मे कि कुछ प्रजातियो मे सस्कृति को जन्म देने की विशेष शक्ति होती है और कुछ मे

---

51 "No anthropologist with a background of experiences of other cultures has ever believed that individuals were automatous, mechanically carrying out the decrees of their civilizations No culture yet observed has been able to eradicate the differences in the temperaments of the persons who compose it It is always a give and take " —Ruth Benedict.

बिलकुल नही। योरुप की प्रजातियाँ इस मामले मे सबसे आगे हैं क्योकि केवल वहाँ की प्रजातियाँ ही सस्कृति को जन्म दे सकती है। चूंकि इन लोगो की प्रौद्योगिक (technological) शक्ति अन्य देशो की तुलना मे बहुत अधिक थी, इसलिये लोगो मे यह गलत विश्वास पनप गया कि वास्तव मे ही केवल गोरी प्रजाति सस्कृति को जन्म दे सकती है। इस आधार पर यह प्रमाणित किया गया कि नीग्रो-प्रजाति की अपनी कोई सस्कृति नही है क्योकि वे जगली हैं और प्राकृतिक स्थिति (state of nature) मे निवास करती है। मानवशास्त्रीय अध्ययनो व खोजो के परिणामस्वरूप ये सभी भ्रम धीरे-धीरे दूर हो गए है। मानवशास्त्र के अध्ययनो से यह पता चलता है कि ससार मे मनुष्यो का कोई भी समाज ऐसा नही है जो जानवरो की भाँति बिलकुल प्राकृतिक स्थिति मे रहता हो। हर समाज मे कपडा पहनना, शृगार करना, शरीर मे गोदना-गुदाना, भाषा, कुछ न कुछ सामाजिक नियम व परम्परा आदि पाये जाते है। ये लक्षण मनुष्य को प्राकृतिक स्थिति से ऊँचा उठाए है तथा पशु जगत से उसे पृथक् कर देते हैं। इतना ही नही, सामाजिक आदान-प्रदान व भाषा के सहारे मनुष्य अपने ज्ञान व अनुभव को या सस्कृति को एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित करता है। बचपन से ही मनुष्य अपनी सामाजिक विरासत (social heritage) का धीरे-धीरे अधिकारी होने लगता है। प्रजातीय प्रक्रिया से मनुष्य को कतिपय शारीरिक लक्षण प्राप्त होते हैं परन्तु सास्कृतिक प्रक्रिया द्वारा उसे एक 'जीवन-विधि' (life-way) मिलता है। ऐसा हर मानव-समाज मे होता है।

अत सस्कृति को जन्म देना और उसका अधिकारी बनना किसी विशेष प्रजाति का विशेषाधिकार है, यह धारणा अवैज्ञानिक है। हाँ, इतना अवश्य है कि हर समाज की सस्कृति एक समान नही होती है, इसमे पर्याप्त विभिन्नताएँ देखने को मिलती है। कुछ भी हो इतना निश्चय है कि सस्कृति दृष्टिकोण से या सस्कृति के आधार पर प्रजातीय श्रेष्ठता की धारणा बिलकुल गलत है। प्रजाति एक प्राणिशास्त्रीय अवधारणा है और इसका कोई भी कार्य-कारण सम्बन्ध सस्कृति से नहीं है। इस सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना हम अध्याय ५ मे 'प्रजातिवाद' के अन्तर्गत कर चुके हैं।

SELECTED READINGS

1 Benedict, R *Patterns of Culture*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1934

2 Beals and Hoijer *Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959

3 *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol 4, 1937

4 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

5 Herskovits, M J *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956

6. Kroeber *Anthropology*, Harcourt Brace and Co , New York, 1948

7. Kroeber, A L. *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press, Chicago, 1952

8. Piddington, R. *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952

9 Tylor, E B. *Primitive Culture*, New York, 1874

10. White, L A *The Evolution of Culture*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1959

11. Wissler, Clark *An Introduction to Social Anthropology*, Henry Holt and Co , New York, 1929.

८

आदिम सामाजिक संरचना
व
सामाजिक संगठन

(PRIMITIVE SOCIAL STRUCTURE AND SOCIAL ORGANIZATION)

विषय-सूची—अष्टम अध्याय

१. सामाजिक सरचना की अवधारणा

२ सामाजिक सगठन क्या है ?

३ आदिम सामाजिक सगठन के आधार

४ आदिम समाजों मे स्थिति तथा कार्य

(क) यौन-भेद

(ख) आयु-भेद

(ग) सम्पत्ति-भेद

५ आदिम समाज मे स्त्रियों की स्थिति

६ वर्ग-व्यवस्था

७ निष्कर्ष

अध्याय ८

आदिम सामाजिक संरचना व सामाजिक सगठन

(Primitive Social Structure and Social Organization)

सामाजिक सरचना की अवधारणा (Concept of Social Structure)

समाज एक अखण्ड व्यवस्था नही है, उसके अनेक अग होते हैं, ये विभिन्न अग व्यवस्थित ढग से सयुक्त होकर एक ढाँचे या रूपरेखा की रचना करते है। इसी को सामाजिक सरचना कहते हैं। यह सरचना प्रत्येक समाज की अलग अलग होती है क्योकि प्रत्येक समाज के विभिन्न अग या निर्मायक इकाइयाँ (constituent units) जिनसे सामाजिक सरचना का निर्माण होता है, अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ— एक सावयव (organism) को ही लीजिए। इस सावयव के विभिन्न अगो के एक विशिष्ट प्रकार के सयोग से एक विशेप प्रकार की शरीर-रचना या ढाँचे का निर्माण होता है। इसी को हम प्राणीशास्त्रीय सरचना या सावयवी सरचना (organic structure) कहते हैं। परन्तु यदि एक कुत्ते के ककाल को और एक मनुष्य के ककाल को पास-पास रक्खा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि वे दोनो एक समान नही हैं क्योकि उनके शरीर के विभिन्न अगो या निर्मायक इकाइयो मे भिन्नता होती है। सरचना एक विशिष्ट प्रतिमान (pattern) को प्रस्तुत करती है, जिसके आधार पर एक को दूसरे से अलग किया जा सकता है।

श्री पारसन्स (Parsons) के अनुसार सामाजिक सरचना परस्पर सम्बन्धित सस्थाओ, एजेन्सियो और सामाजिक प्रतिमानो तथा साथ ही समूह मे प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किये गये पदो तथा कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता (arrangement) को कहते हैं।"[1]

श्री रैडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, "सामाजिक सरचना के अग (components) मनुष्य ही है और स्वय सरचना सस्थात्मक रूप मे परिभाषित तथा नियमित सम्बन्धो

1 "Social structure is the term applied to the particular arrangement of the interrelated institutions, agencies and social patterns, as well as the statuses and roles which each person assumes in the group" Talcott Parsons, *Essays in Sociological Theory*, The Free Press, Gleneve, Illinois, 1958, pp 89-90

के अन्तर्गत व्यक्तियो का एक व्यवस्थित-रूप या क्रमवद्धता (arrangement) है।"[2]
आपने यह भी लिखा है कि प्रत्यक्ष निरीक्षण से हमे ज्ञात होता है कि मनुष्य परस्पर सामाजिक सम्बन्धो के जटिल जाल द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित है। वास्तविक रूप मे विद्यमान सम्बन्धो के इस जाल को दर्शाने के लिये ही 'सामाजिक सरचना' वाक्यांश का प्रयोग किया गया है। सस्थागत रूप मे परिभाषित व नियमित सम्बन्ध व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से एक निश्चित ढग से सयुक्त करता है। इस सयुक्तीकरण के फलस्वरूप समाज के सदस्य अपनी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत एक निश्चित ढग से सज जाते हैं। इस प्रकार सजे ढग से या व्यवस्थित रूप मे समाज के सदस्य जिस प्रतिमान को बनाते हैं, वही सामाजिक सरचना है। अपने इस मत को अधिक स्पष्ट रूप मे समझाने के लिये श्री ब्राउन ने आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के जनजातीय समाजो का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन समाजो मे नातेदारी (kinship) व्यवस्था सस्थागत सम्बन्धो की ही अभिव्यक्ति है। ये सम्बन्ध एक विशिष्ट ढग से नातेदारो को एक-दूसरे से सयुक्त करते हैं और उन्हे कतिपय निश्चित स्थिति (position) भी प्रदान करते हैं। इन स्थितियो पर विराजमान ये नातेदार सम्मिलित रूप मे जिस प्रतिमान का निर्माण करते हैं, उसे नातेदारी सरचना (kinship structure) कहते हैं। यही ढग या क्रमवद्धता (arrangement) सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी देखने को मिलती है। उदाहरण के लिये विवाह को ही लीजिये। दक्षिणी अफ्रीका की थोगा और बाँटू जनजातियो (tribes) मे वधू-मूल्य (bride price) के रूप मे ढोर, जिसे कि, 'लावोला' (*labola*) कहा जाता है, देने की प्रथा है। विवाह से सम्बन्धित यह प्रथा अनेक लोगो को एक-दूसरे से सयुक्त करती है और वह इस रूप मे कि 'लावोला' को एकत्रित करने मे केवल एक व्यक्ति के अपने ही परिवार के सदस्य नही, बल्कि उसके निकट नाते-रिश्तेदार भी सहायता करते हैं। यह व्यवस्था जिस प्रतिमान (pattern) का निर्माण करती है वह सामाजिक सरचना की ही एक उप-सरचना (sub-structure) होती है। ऐसी ही अनेक उप-सरचनाओ को मिलाकर ही एक सामाजिक सरचना का निर्माण होता है।

सामाजिक सगठन क्या है ?
(What is Social Organization ?)

समाज, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, कोई गडवड-झाला या असवद्ध अवधारणा (concept) नही है। प्रत्येक समाज मे ही कुछ-न-कुछ व्यवस्था हुआ करती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक सामाजिक समूह या समितियाँ, मानव स्वय तथा सामाजिक सम्बन्धो का एक ताना-बाना आ जाता है। ये सव एक-दूसरे से असवद्ध और स्वतन्त्र होकर नही रहते। ये सव एक सवद्ध समग्र (integrated whole) के सयुक्त भाग (coherent part) हैं और उसी रूप मे सव मिलकर सुचारु ढग से कुछ स्थापित

---

2 "The components of social structure are human beings the structure itself being an arrangement of persons in relationship institutionally defined and regulated." D Forde and A R Radcliffe-Brown, *African System of Kinship and Marriage*, 1950, p 82

नियमानुसार काम करते रहते है, जिसके फलस्वरूप उस समाज के सदस्यो का पारस्परिक सम्बन्ध और सामाजिक जीवन नियन्त्रित होता है। इसी को सामाजिक सगठन कहते है। अत स्पष्ट है कि सामाजिक सगठन वह व्यवस्था है जिसके अन्तगत समाज के निर्मायक भाग (constituent parts) एक-दूसरे से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध रखते हुए कुछ न कुछ निश्चित ढग से बँटे और परम्पराओ से नियन्त्रित होते है जिसके फलस्वरूप समाज के प्रत्येक सदस्य की स्थिति (status) तथा कार्य (role) निर्धारित तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध नियमित (regulate) होता है। मानव-शरीर सगठन का एक उत्तम उदाहरण है। शरीर के अनेक अग है और प्रत्येक अग के अलग-अलग कार्य होते है। भोजन या वायु को प्राप्त करने के लिए अलग-अलग अग है। उसी प्रकार देखने, सुनने, चखने और सूँघने की इन्द्रियाँ अलग-अलग है। फिर भी वे एक दूसरे से स्वतन्त्र नही हैं, वे एक-दूसरे के साथ अन्त क्रिया करती रहती है, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर सतुलित रहता है। यही सगठन है। उसी प्रकार समाज के भी विभिन्न अग जब एक-दूसरे मे सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर निर्भर रहते हुए क्रियाशील व व्यवस्थित रहते है, तो उसे सामाजिक सगठन कहते हैं।

इस सम्बन्ध मे एक बात यह स्मरणीय है कि प्रत्येक समाज मे दो विरोधी शक्तियाँ काम करती हैं। इनमे से एक वह शक्ति होती है जो कि समाज के विभिन्न अगो को एक-दूसरे से सम्बद्ध करने मे सहायक सिद्ध होती है। इसके विपरीत, समाज मे दूसरी वह शक्ति भी होती है जो कि सामाजिक व्यवस्था को विघटित करने की ओर क्रियाशील होती है। प्रत्येक समाज मे ही ये दोनो विरोधी शक्तियाँ काम करती रहती हैं और यह हो नही सकता कि किसी भी समाज मे इनमे से किसी भी शक्ति का पूर्णतया अभाव हो। सामाजिक सगठन इन दोनो विरोधी शक्तियो की सतुलित अवस्था है।

सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने सामाजिक सगठन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "सामाजिक सगठन वह दशा या स्थिति है जिसमे एक समाज की विभिन्न सस्थाएँ अपने स्वीकृत अथवा उपलक्षित (implied) उद्देश्यो के अनुसार कार्य कर रही हैं।"[3] श्री जोन्स (Marshal E Jones) के अनुसार, "सामाजिक सगठन वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज के विभिन्न भागो मे आपस मे तथा पूरे समाज के साथ एक अर्थपूर्ण ढग से सम्बन्ध स्थापित होना है।"[4]

आदिम सामाजिक संरचना व सगठन के आधार
(Bases of Primitive Structure and Social Organization)

ससार के विभिन्न समाजो के सामाजिक सगठन के अध्ययन से यह पता चलता

---

3 "Social organization is a state of being, a condition, in which the various institutions, in a society are functioning in accordance with their recognized or implied purposes" Elliott and Merrill, *Social Disorganization*, Harper & Bros, New York, 1950, p 4

4 "Social organization is a system by which the parts of society are related to each other and to the whole society in a meaningful way" M E Jones, *Basic Sociological Principles*, Ginn and Co, New York, 1949, p 195

है कि सामाजिक सगठन के कुछ सामान्य कारक होते हैं, यद्यपि इस 'सामान्य' शब्द से हमारा तात्पर्य यह नही है कि ये कारक सभी समाजो मे समान रूप से पाये जाते हैं। विभिन्न सामाजिक सगठनो के कारको मे विविधता होते हुए भी इनमे अधिक महत्त्व-पूर्ण तथा सामान्य कारक, श्री पिडिंगटन (Piddington) के अनुसार, निम्नवत् हैं—यौन-भेद (sex), आयु, नातेदारी (kinship), स्थान (locality), सामाजिक स्थिति (social status), राजनैतिक शक्ति, व्यवसाय, धर्म व जादू, टोटमवाद तथा ऐच्छिक समितियाँ।[5] सामाजिक सगठन के ये दस कारक या आधार अधिकतर आदिम समाजो मे पाये जाते हैं, यद्यपि वे सभी कारक आदिम समाजो मे पाये जाते है, यह कहना भी ठीक न होगा क्योंकि आदिम सामाजिक ढाँचो (social structures) मे अत्यधिक भिन्नता देखने को मिलती है।

सामाजिक सगठन के अन्तर्गत पायी जाने वाली सस्थाओ को, श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) के अनुसार मोटे तौर पर दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है[6]—प्रथम तो वे जो कि नातेदारी (kinship) के आधार पर पनपती हैं और दूसरे वे जिनका कि कोई सम्बन्ध नातेदारी व्यवस्था से नही होता।

सामाजिक सरचना व सगठन की प्रथम इकाई परिवार है। आदिम समाजो मे तो इसका महत्त्व और भी अधिक है। इन समाजो मे सदस्यो की अधिकतर आवश्यकता की पूर्ति परिवार के द्वारा ही होती है। परिवार अनेक प्रकार के होते है जैसे कि प्रारम्भिक या मूल परिवार और सयुक्त परिवार, मातृसत्तात्मक या पितृसत्तात्मक परिवार आदि। परिवार के बाद सामाजिक सगठन का अन्य एक आधार गोत्र (clan) है जो कि कई वशो का समूह होता है। गोत्र के सभी लोग अपना एक सामान्य पूर्वज (common ancestor) मानते हैं इस कारण उनमे एक हम की भावना होती है जिसके कारण सामाजिक सगठन बना रहता है। परिवार की भाँति गोत्र भी वह सस्था है जो कि नातेदारी के आधार पर पनपती है। नातेदारी के आधार पर पनपने वाले अन्य सगठनो मे विशेष उल्लेख-नीय गोत्र-समूह (phratry), द्विदल सगठन (dual organization) आदि हैं। आदिम सामाजिक सगठन का एक और आधार टोटमवाद है। टोटमवाद वह विश्वास है जिसके आधार पर एक गोत्र-समूह के सदस्य अपना एक अलौकिक सम्बन्ध किसी प्राकृतिक वस्तु पेड़-पौधा या पशु से मानते हैं। चूँकि एक सामान्य टोटम के प्रति सबके दिल मे बहुत कुछ समान भावनाएँ, श्रद्धा-भक्ति होती है इस कारण उस सामान्यता (commonness) के आधार पर हम की भावना भी पनपती है और सामाजिक सगठन बना रहता है। सामाजिक सगठन के इन आधारो की विस्तृत विवेचना हम अगले अध्यायो मे करेंगे। यहाँ हम केवल आदिम समाजो मे पायी जाने वाली स्थिति और कार्य (status and role), वर्ग प्रथा (class system), स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित समितियाँ आदि सामाजिक सगठन के अन्य आधारो की विवेचना करेंगे।

---

5 Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, pp 107-108

6 M. J Herskovits, *Man and His Works*, New York, 1956, p 289

आदिम समाजो मे स्थिति तथा कार्य
(Status and Role in Primitive Society)

प्रत्येक समाज, चाहे वह आधुनिक हो या आदिम, अपने सदस्यो के लिये कुछ निश्चित स्थिति तथा कार्य को निर्धारित करता है। व्यक्ति की स्थिति से तात्पर्य उस पद (position) से है जो वह अपने यौन-भेद, आयु, जन्म, विवाह, शारीरिक गुण, कृतियो तथा कर्तव्यो के कारण प्राप्त करता है। और कार्य वह पार्ट है जो वह व्यक्ति प्रत्येक पद के कारण अदा करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की एक स्थिति या पद होता है क्योकि वह अपने माता-पिता की सन्तान है, पुरुष अथवा स्त्री है, युवक अथवा वृद्ध है, विवाहित अथवा अविवाहित है, कृषक या पुजारी है, राजा या प्रजा है। इन स्थितियो से सम्बन्धित कुछ कार्य भी होते है जिन्हे कि व्यक्ति अपनी स्थिति के कारण करता रहता है। पुजारी और कृषक का कार्य एक समान नही है, पुरुष और स्त्री का कार्य एक समान नही है, पिता और पुत्र का कार्य भी एक समान नही है क्योकि इनकी स्थिति भी एक समान नही है अर्थात् भिन्न है। व्यक्ति के कुछ पद प्रदत्त (ascribed) होते है जो कि उसे समाज से आप से आप बिना किसी प्रयास के प्राप्त हो जाते है। पिता का पद एक व्यक्ति को समाज से स्वत ही प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत कुछ पद या स्थितियाँ अर्जित (achieved) होती है जो कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयास से प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, एक निरक्षर बालक अपने प्रयास से विद्वान बनकर समाज मे ऊँची स्थिति प्राप्त कर सकता है, यह उसकी अर्जित स्थिति होगी। साथ ही, एक ही समय मे किसी व्यक्ति की एक से अधिक स्थितियाँ हो सकती है और इस कारण उसका एक से अधिक कार्य होना भी स्वाभाविक ही है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्तियो की स्थिति अलग-अलग होने के मुख्य कारण यौन-भेद, आयु-भेद, सम्पत्ति-भेद तथा योग्यताओ और प्रवृत्तियो पर आधारित भेद हैं। यहाँ आदिम समाज के सदर्भ मे इन कारको की विवेचना कर लेना उचित होगा।

(१) **यौन भेद** (Sex Dichotomy)—ससार की विभिन्न सस्कृतियो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी न किसी रूप मे स्त्री और पुरुष की स्थिति व कार्यो मे महत्त्वपूर्ण अन्तर पाये जाते हैं। प्राणीशास्त्रीय आधारो पर इस प्रकार के अन्तर को समझाया जा सकता है। साथ ही इस प्रकार के अन्तर का कारण सास्कृतिक भी हो सकता है। प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से स्त्रियो की स्थिति पुरुषो से प्राय नीची समझी जाती है। अनेक समाजो मे यह सोचा जाता है कि नारी अबला और शक्तिहीन होती है और उसे प्रत्येक अवस्था मे, जन्म से लेकर मृत्यु तक, किसी न किसी पुरुष के सरक्षण (protection) की आवश्यकता रहती है। अनेक सस्कृतियो मे धर्म और जादू के क्षेत्र मे स्त्रियो की स्थिति पुरुषो की अपेक्षा कही अधिक गिरी हुई होती है। उदाहरणार्थ नीलगिरी की टोडा जनजाति, जो कि विशुद्ध रूप से पशुपालक है, स्त्रियो को मासिकधर्म आदि के कारण अपवित्र तथा अयोग्य मानती है, स्त्रियाँ इस जनजाति की भैसशालाओ के पास तक नही जा सकती। इनके मुख्य पुरोहित पोलोल को अविवाहित रहना पडता है। इसके

है कि सामाजिक सगठन के कुछ सामान्य कारक होते हैं, यद्यपि इस 'सामान्य' शब्द से हमारा तात्पर्य यह नही है कि ये कारक सभी समाजो मे समान रूप मे पाये जाते है। विभिन्न सामाजिक सगठनो के कारको मे विविधता होते हुए भी इनमे अधिक महत्त्व-पूर्ण तथा सामान्य कारक, श्री पिडिंगटन (Piddington) के अनुसार, निम्नवत् हैं—यौन-भेद (sex), आयु, नातेदारी (kinship), स्थान (locality), सामाजिक स्थिति (social status), राजनैतिक शक्ति, व्यवसाय, धर्म व जादू, टोटमवाद तथा ऐच्छिक समितियाँ।[5] सामाजिक सगठन के ये दस कारक या आधार अधिकतर आदिम समाजो मे पाये जाते हैं, यद्यपि वे सभी कारक आदिम समाजो मे पाये जाते है, यह कहना भी ठीक न होगा क्योकि आदिम सामाजिक ढाँचो (social structures) मे अत्यधिक भिन्नता देखने को मिलती है।

सामाजिक सगठन के अन्तर्गत पायी जाने वाली सस्थाओ को, श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) के अनुसार मोटे तौर पर दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है[6]—प्रथम तो वे जो कि नातेदारी (kinship) के आधार पर पनपती हैं और दूसरे वे जिनका कि कोई सम्बन्ध नातेदारी व्यवस्था से नही होता।

सामाजिक सरचना व सगठन की प्रथम इकाई परिवार है। आदिम समाजो मे तो इसका महत्त्व और भी अधिक है। इन समाजो मे सदस्यो की अधिकतर आवश्यकता की पूर्ति परिवार के द्वारा ही होती है। परिवार अनेक प्रकार के होते हैं जैसे कि प्रारम्भिक या मूल परिवार और सयुक्त परिवार, मातृसत्तात्मक या पितृसत्तात्मक परिवार आदि। परिवार के बाद सामाजिक सगठन का अन्य एक आधार गोत्र (clan) है जो कि कई वशो का समूह होता है। गोत्र के सभी लोग अपना एक सामान्य पूर्वज (common ancestor) मानते हैं इस कारण उनमे एक हम की भावना होती है जिसके कारण सामाजिक सगठन बना रहता है। परिवार की भाँति गोत्र भी वह सस्था है जो कि नातेदारी के आधार पर पनपती है। नातेदारी के आधार पर पनपने वाले अन्य सगठनो मे विशेष उल्लेख-नीय गोत्र-समूह (phratry), द्विदल सगठन (dual organization) आदि हैं। आदिम सामाजिक सगठन का एक और आधार टोटमवाद है। टोटमवाद वह विश्वास है जिसके आधार पर एक गोत्र-समूह के सदस्य अपना एक अलौकिक सम्बन्ध किसी प्राकृतिक वस्तु पेड-पौधा या पशु से मानते हैं। चूँकि एक सामान्य टोटम के प्रति सबके दिल मे बहुत कुछ समान भावनाएँ, श्रद्धा-भक्ति होती है इस कारण उस सामान्यता (commonness) के आधार पर हम की भावना भी पनपती है और सामाजिक सगठन बना रहता हैं। सामाजिक सगठन के इन आधारो की विस्तृत विवेचना हम अगले अध्यायो मे करेंगे। यहाँ हम केवल आदिम समाजो मे पायी जाने वाली स्थिति और कार्य (status and role), वर्ग प्रथा (class system), स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित समितियाँ आदि सामाजिक सगठन के अन्य आधारो की विवेचना करेंगे।

---

5 Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, pp 107-108

6 M J Herskovits, *Man and His Works*, New York, 1956, p 289

आदिम समाजो मे स्थिति तथा कार्य
(Status and Role in Primitive Society)

प्रत्येक समाज, चाहे वह आधुनिक हो या आदिम, अपने सदस्यो के लिये कुछ निश्चित स्थिति तथा कार्य को निर्धारित करता है। व्यक्ति की स्थिति से तात्पर्य उस पद (position) से है जो वह अपने यौन-भेद, आयु, जन्म, विवाह, शारीरिक गुण, कृतियो तथा कर्तव्यो के कारण प्राप्त करता है। और कार्य वह पार्ट है जो वह व्यक्ति प्रत्येक पद के कारण अदा करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की एक स्थिति या पद होता है क्योकि वह अपने माता-पिता की सन्तान है, पुरुष अथवा स्त्री है, युवक अथवा वृद्ध है, विवाहित अथवा अविवाहित है, कृषक या पुजारी है, राजा या प्रजा है। इन स्थितियो से सम्बन्धित कुछ कार्य भी होते है जिन्हे कि व्यक्ति अपनी स्थिति के कारण करता रहता है। पुजारी और कृषक का कार्य एक समान नही है, पुरुष और स्त्री का कार्य एक समान नही है, पिता और पुत्र का कार्य भी एक समान नही है क्योकि इनकी स्थिति भी एक समान नही है अर्थात् भिन्न है। व्यक्ति के कुछ पद प्रदत्त (ascribed) होते है जो कि उसे समाज से आप से आप बिना किसी प्रयास के प्राप्त हो जाते हैं। पिता का पद एक व्यक्ति को समाज से स्वत. ही प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत कुछ पद या स्थितियाँ अर्जित (achieved) होती है जो कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयास से प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, एक निरक्षर बालक अपने प्रयास से विद्वान बनकर समाज मे ऊँची स्थिति प्राप्त कर सकता है, यह उसकी अर्जित स्थिति होगी। साथ ही, एक ही समय मे किसी व्यक्ति की एक से अधिक स्थितियाँ हो सकती हैं और इस कारण उसका एक से अधिक कार्य होना भी स्वाभाविक ही है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्तियो की स्थिति अलग-अलग होने के मुख्य कारण यौन-भेद, आयु-भेद, सम्पत्ति-भेद तथा योग्यताओ और प्रवृत्तियो पर आधारित भेद हैं। यहाँ आदिम समाज के सदर्भ मे इन कारको की विवेचना कर लेना उचित होगा।

(१) **यौन भेद (Sex Dichotomy)**—ससार की विभिन्न सस्कृतियो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी न किसी रूप मे स्त्री और पुरुष की स्थिति व कार्यों मे महत्त्वपूर्ण अन्तर पाये जाते है। प्राणीशास्त्रीय आधारो पर इस प्रकार के अन्तर को समझाया जा सकता है। साथ ही इस प्रकार के अन्तर का कारण सास्कृतिक भी हो सकता है। प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से स्त्रियो की स्थिति पुरुषो से प्राय नीची समझी जाती है। अनेक समाजो मे यह सोचा जाता है कि नारी अबला और शक्तिहीन होती है और उसे प्रत्येक अवस्था मे, जन्म से लेकर मृत्यु तक, किसी न किसी पुरुष के सरक्षण (protection) की आवश्यकता रहती है। अनेक सस्कृतियो मे धर्म और जादू के क्षेत्र मे स्त्रियो की स्थिति पुरुषो की अपेक्षा कही अधिक गिरी हुई होती है। उदाहरणार्थ नीलगिरी की टोडा जनजाति, जो कि विशुद्ध रूप से पशुपालक है, स्त्रियो को मासिकधर्म आदि के कारण अपवित्र तथा अयोग्य मानती है, स्त्रियाँ इस जनजाति की भैसशालाओ के पास तक नही जा सकती। इनके मुख्य पुरोहित पोलोल को अविवाहित रहना पडता है। इसके

विपरीत ऐसी सस्कृतियाँ भी हैं जहाँ पर धर्म तथा जादू के क्षेत्र मे स्त्रियो की स्थिति पर्याप्त ऊँची है उदाहरणार्थ, खासी (Khasi) जनजाति मे इन दोनो ही क्षेत्रो मे स्त्रियो की स्थिति पुरुषो की तुलना मे कही अधिक ऊँची है। टोडा और खासी इन दोनो जनजातियो के बीच की स्थिति अण्डमान प्रायद्वीप की जनजाति की है। वहाँ पर स्त्री व पुरुष दोनो की ही स्थिति प्राय समान है और दोनो ही समान रूप से धर्म और जादू के मामलो मे भाग लेते है। यह तो स्थिति की बात रही। कार्यों के सम्बन्ध मे भी स्त्री-पुरुष मे भेद प्राणीशास्त्रीय और सास्कृतिक दोनो ही आधारो पर हो सकता है। प्राणीशास्त्रीय आधार को ही लीजिये। स्त्रियाँ अण्डकोष्ट (egg cell) को उत्पन्न करती हैं और पुरुष शुक्रकोष्ट (sprem cell) को। स्त्रियो को मासिकधर्म होता है, पुरुषो को नही। बच्चो को गर्भ मे रखने और जन्म देने का काम स्त्रियाँ ही करती है, पुरुष नही। इसी प्रकार प्रत्येक समाज अपनी सस्कृति के अनुसार स्त्री और पुरुष के लिये अलग-अलग कार्यों को निश्चित करता है, यद्यपि प्रत्येक सस्कृति मे यह विभाजन एक समान नही होता। श्री ह्वाइटमैन (Whiteman) ने प्युब्लो (pueblo) जनजाति का उदाहरण देते हुए लिखा है कि इस जनजाति मे पुरुषो के अधिकतर कार्य सहकारिता के आधार पर होते हैं जब कि स्त्रियो के कार्य प्रतियोगिता पर आधारित होने के कारण पृथक्-पृथक् किए जाते हैं। इस जनजाति मे पुरुष खेती का काम करते है, शिकार करते हैं और पशुओ की खाल से पोशाक बनाते हैं, टोकरी बुनते हैं, घर बनाते हैं, जगल से लकडी काटकर ले आते हैं, इत्यादि। सक्षेप मे, प्युब्लो जनजाति मे पुरुषो का कार्य 'घर से बाहर' होता है, जबकि स्त्रियो के लिये वे काम हैं जो कि 'घर के अन्दर' के होते हैं जैसे घर की देख-रेख करना, अनाज को पीसना, खाना पकाना, बच्चो का पालन-पोषण करना, मिट्टी के बर्तनो को बनाना, घर को सजाना, इत्यादि। श्री पाउडरमेकर (Powder-maker) ने भी एक अन्य जनजाति लेसू (Lesu) का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस जनजाति मे स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर श्रम-विभाजन का कठोरता से पालन किया जाता है। स्त्रियो के लिये जो काम निश्चित कर दिये गये है उन्हे पुरुष लोग कदापि नही करते, यद्यपि ऐसे कुछ कार्य भी हैं जो स्त्री और पुरुष दोनो ही मिलकर करते हैं। पुरुषो के कार्यों मे बगीचा लगाने के लिये जमीन को साफ करना, पौधे लगाना, मछली पकडना, शिकार करना, इनके लिये आवश्यक उपकरणो या औजारो को बनाना, घर बनाना या उसकी मरम्मत करना इत्यादि उल्लेखनीय हैं। स्त्रियो के हिस्से मे बगीचो की घास-पात को हटाना, अनाज को इकट्ठा करना और उन्हे घर तक ले आना, पशुओ को चारा देना, पानी भरना, झाड़ू देना, खाना पकाना, बोझा ढोना आदि कार्य आत हैं। समुद्री कीडे-मकोडो को पकडना, चटाई और टोकरी बनाना, बच्चो की देख-रेख करना, दवा-दारू तथा जादू-टोना आदि से सम्बन्धित कार्य करना, कुछ ऐसे कार्य हैं जिसे कि लेसू स्त्री-पुरुष दोनो मिलकर करते हैं।

यद्यपि स्त्री और पुरुष के विशिष्ट-विशिष्ट कार्यों का एक सार्वभौम प्रतिमान (universal patten) होता है, पर ऐसे भी समाज हैं जहाँ कि वे काम पुरुष करते हैं जिन्हें कि अधिकतर समाज मे स्त्रियाँ करती हैं, और स्त्रियाँ वे काम करती है जो कि

वास्तव मे पुरुषो का है । उदाहरणार्थ, आसाम की पहाडियो मे रहने वाली खासी जनजाति मे पुरुषो का कार्य बच्चो को खिलाना, भोजन बनाना, घर की देखभाल करना इत्यादि है और स्त्रियो का कार्य 'घर के बाहर' के कामो को करना, घूमना आदि है । अत स्पष्ट है कि सास्कृतिक भिन्नता के साथ साथ स्त्री-पुरुष के कार्यो मे भेद होना भी स्वाभाविक ही है । नाभाहो (Navaho) जनजाति मे कम्बल बुनने का काम स्त्रियो का है, जब कि उसके पडोसी होपी (Hopi) जनजाति मे कातना और बुनना दोनो ही पुरुषो के कार्य हैं । मैरीकोपा इण्डियनो (Maricopa Indians) मे मिट्टी के बर्तन बनाना केवल स्त्रियो का ही काम है जब कि बुनने का काम केवल पुरुष ही करते है । इन सब तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए मानवशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि स्त्रियाँ स्वभावत. ही गृहणी होती है, या कुछ विशेष कार्यो को पुरुषो की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर लेती है, यह सोचना ठीक नही है । फिर भी उनका यह निष्कर्ष है कि कुछ ऐसे कार्य है जो कि अधिकतर समाजो मे स्त्रियाँ करती है और कुछ काम विशेष रूप से पुरुष । उदाहरणार्थ, श्री मुरडॉक (Murdock) ने विविध प्रकार के २२४ समाजो का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि प्राय. तीन-चौथाई समाजो मे खाने पकाने, आग के लिये लकडी चुनने, अनाज पीसने, बर्तन बनाने, कपडा या चटाई बुनने आदि के काम स्त्रियो के ही सुपुर्द है । शिकार करने का काम सभी समाजो मे पुरुषो का होता है, ८६ प्रतिशत मे मछली पकडना तथा ८५ प्रतिशत मे पशु चराने का काम भी पुरुष ही करते हैं ।[7] अत हमारा अन्तिम निष्कर्ष यह है कि प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से कुछ कार्यों के लिए पुरुष अधिक उपयुक्त होते हैं और कुछ कार्यों के लिये स्त्रियाँ, यद्यपि इस विभाजन के सास्कृतिक आधारो पर अनेक रूपान्तर हो सकते हैं । दूसरे शब्दो मे, प्राणीशास्त्रीय सीमाओ (limits) के अन्दर सस्कृति स्त्री-पुरुष के कार्यों को बहुत-कुछ बदल या पलट सकती है । 'प्राणीशास्त्रीय सीमाओ' से हमारा तात्पर्य यह है कि कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हे कुछ प्राणीशास्त्रीय विशिष्टता के कारण केवल स्त्री या पुरुष ही कर सकते हैं और सस्कृति लाख प्रयत्न करने पर भी उसे बदल नही सकती। जैसे, बच्चे को गर्भ मे रखने और जन्म देने का काम स्त्रियो को ही करना होगा, सस्कृति इस काम को पुरुषो पर लाद नही सकती ।

(२) आयु-भेद (Age differences)—आयु के आधार पर स्थिति-भेद भी ससार के प्रत्येक समाज या सस्कृति मे पाया जाता है । एक छोटे बच्चे की स्थिति वह कदापि नही हो सकती जो कि एक बूढे व्यक्ति की होती है । उसी प्रकार किशोर, युवा, प्रौढ आदि की भी स्थितियाँ प्राय प्रत्येक समाज मे अलग-अलग होती है । यह हो सकता है कि किसी समाज मे बच्चो का महत्त्व अत्यधिक हो, परन्तु उन्हे वह सम्मान शायद कोई भी समाज नही देता जो कि प्रौढो या वृद्धो को मिलता है । श्री सिम्मन्स (L Simmons) अपने अध्ययनो से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्राय सभी समाजो मे प्रौढ जनो की स्थिति सम्मान, आदरभाव तथा विशेष सुविधाओ से घिरी हुई होती

7 G P Murdock, "Comparative Data on the Division of Labour by Sex", *Social Forces*, Vol 15, 1937, pp 551-553

है और वह केवल इसीलिये की उनकी आयु अधिक है। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि केवल आयु मे बडे होने के नाते ही किसी को सम्मानित स्थिति प्राप्त हो जाती है, यह सोचना गलत होगा। आयु के बढने के साथ-साथ अनुभव तथा सामाजिक विषयो मे ज्ञान का सचय भी बढता जाता है। केवल आयु नही बल्कि आयु से सम्बन्धित अनुभव तथा ज्ञान ही व्यक्ति की स्थिति को ऊँचा उठाने का कारण बनता है। इसी कारण गोड (Gond) जनजाति मे वयस्क लोगो का काफी आदर इस कारण होता है कि अनेक जनजातीय समस्याओ के सम्बन्ध मे उनका परामर्श बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। अधिकतर आदिम समाजो मे राजनीति, सरकार, धर्म, जादू और आर्थिक सगठन के क्षेत्रो मे बडे-बूढो को ही प्राय एकाधिकार होता है क्योकि उनके दृष्टिकोण से ये सभी विषय 'गम्भीर' (serious) होते हैं और इसलिये बालक, किशोर या युवाओ की समझ के बाहर हैं। विशेषकर जादू-सम्बन्धी तथा धार्मिक मामलो मे तो आदिम लोगो का यह विश्वास है कि अगर इन विषयो मे कम आयु के लोगो को हस्तक्षेप करने की स्वतन्त्रता दे दी जायगी तो उससे अनर्थ होने की सम्भावना अधिक होगी क्योकि वे लोग इन विषयो को हल्के तौर पर (lightly) लेंगे जिससे की अलौकिक शक्ति (supernatural power) अप्रसन्न होकर उस समुदाय को घोर नुकसान पहुँचायेगी।

आयु के आधार पर स्थिति-भेद के सम्बन्ध मे एक बात और स्मरणीय है और वह यह कि आयु के आधार पर प्रौढ या बूढे पुरुषो को प्रौढा या बूढी स्त्रियो की अपेक्षा अधिक ऊँचा पद या स्थिति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि 'घर से बाहर' के क्षेत्र मे अर्थात् राजनीति, सरकार, धर्म, जादू और आर्थिक सगठन मे स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो का अधिक सक्रिय भाग होता है और साथ ही इन क्षेत्रो मे अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने के साधन भी उन्हे पर्याप्त उपलब्ध होते हैं।

इस सम्बन्ध मे तीसरी बात यह स्मरणीय है कि बूढो की स्थिति उन आदिम समाजो मे अधिक सुरक्षित होती है जहाँ कि जीवित रहने के साधनो को प्राप्त करने के लिये सघर्ष अत्यधिक कटु नही है। जहाँ इस प्रकार की स्थिति है अर्थात् जीवन का सघर्ष अत्यधिक कटु है वहाँ बूढो को भार समझा जाता है। उदाहरणार्थ, एस्कीमो प्रदेश मे बूढो को उनकी सतान बर्फ के घर मे बन्द करके या अन्य उपायो से मार डालती है क्योकि वे फिर समुदाय के उत्पादक-कार्य मे भाग लेने मे असमर्थ होने के कारण परिवार या समुदाय के लिये बोझ बन जाते हैं। यह बात वहाँ के बूढे लोग जानते हैं और अपनी असमर्थता पर लज्जा अनुभव करते हैं, इसीलिये एक निश्चित आयु पार कर लेने के बाद बहुधा वे स्वय ही अपनी सतान से यह अनुरोध करते हैं कि उन्हे मार डाला जाय। कुछ जनजातियो मे इस प्रकार के बूढो को इस प्रकार की प्राकृतिक परिस्थितियो के बीच रखा जाता है कि वे शीघ्र ही मर जाते है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि बूढो के प्रति उनके दिल मे असम्मान की भावना हो। प्राय सभी मानवशास्त्रीय अध्ययन से यही पता चलता है कि जनजातियो मे बडे-बूढो का आदर ही होता है। हाँ, दक्षिणी अफ्रीका के बुशमैन (Bushman) तथा दक्षिणी अमेरिका के उइटोटो (Witotos) लोगो मे बूढो के प्रति सम्मान प्रदर्शित नही किया जाता। भारत की जनजातियो मे भी सामान्यत

बडे-बूढो की स्थिति सम्मान की ही होती है। शासन-प्रबन्ध मे इनका विशेष योगदान होता है। जनजातीय शासन-प्रबन्ध बहुधा गोत्रो के आधार पर होता है और प्रत्येक गोत्र (clan) का एक मुखिया होता है। इस मुखिया (clan chief) को सलाह परामर्श देने के लिये बडे-बूढो की एक परिषद् (a council of the elders) होती है। आस्ट्रेलिया की जनजातियो मे भी यह पक्ष तो इतना विकसित है कि वहाँ के शासन-प्रबन्ध को 'वयस्कों का शासन' ('the rule of the elders' or *gerontocracy*) कहते है।

(३) सम्पत्ति-भेद (Distinction of Wealth)— व्यक्ति की स्थिति को निश्चित करने मे सम्पत्ति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार है। परन्तु स्मरण रहे कि सम्पत्ति या धन की धारणा प्रत्येक युग और समाज मे अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ लोहा, कोयला, पेट्रोल आदि औद्योगिक समाज के लिये बहुमूल्य हो सकते है, परन्तु वे ही एक जनजातीय समाज के लिये, जो कि उनको प्रयोग करना नही जानता, कौडी मूल्य के भी नही हैं। उसी प्रकार एक पशुपालक समाज के लिये पशु ही सम्पत्ति है, कृषि प्रधान देश के लिये जमीन, हल और बैल श्रेष्ठ सम्पत्ति है और औद्योगिक समाज के लिये मशीन, मिल और कारखाना। इतना ही नही, कोई युग था जब कि पशुओ को सम्पत्ति का आधार माना जाता था, उसके बाद गुलामो की सख्या अधिकार और सम्पत्ति का द्योतक हो गयी, परन्तु आधुनिक युग मे वे आधार नष्ट होकर अन्य अनेक आधार विकसित हो गये है। फिर भी, स्थिति-निर्धारण के क्षेत्र मे सम्पत्ति, चाहे उसका रूप कुछ भी हो, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्राय देखा जाता है कि वे लोग, जिनके कि और कोई गुण नही होते, सम्पत्ति पर अधिकार होने के कारण समाज मे ऊँची स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी अनेक जनजातियाँ है जिनमे व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा या ऊँची स्थिति तब प्राप्त करता है जब वह अपनी सम्पत्ति का अधिकाधिक त्याग कर देता है। भारत मे अनेक शिकार करने वाली जनजातियो मे उसे नेता और आदरणीय समझा जाता है जो कि अपने धनुष-बाण को, पशुओ की खाल को या पालतू पशुओ को अपने मित्रो, पडोसियो और अतिथियो को दे देने की क्षमता रखता हो। अमेरिका के इण्डियनो मे भी ऐसे अनेक समुदाय हैं जहाँ कि उन लोगो की सामाजिक स्थिति ऊँची होती है जो कि अपने घर को खूब सजाकर रखते है, भोजन-सामग्रियो से अपना भण्डार भरकर रखते हैं। उत्तम पोशाको को पहनते हैं, इत्यादि। परन्तु जिनके पास ये सब होता है, उनकी सामाजिक स्थिति उतनी ऊँची नही होती है जितनी कि उन लोगो की जो कि इन सब चीजो के अधिकारी होते हुए उन चीजो को मुक्तहस्त होकर उदारता से दूसरो को दान भी करते है। उनके लिये सम्पत्ति का त्यागना ही सम्मान है, उसे इकट्ठा करना मूर्खता है। इसी प्रकार साइबेरिया के याकूत जनजाति के लोगो मे भी आर्थिक मामलो मे नि स्वार्थता या आत्मत्याग की भावना ऊँची स्थिति प्रदान करती है, उनमे भोजन-सामग्रियो को बाँटकर खाने का नियम प्रधान है। उत्तरी अमेरिका की उत्तर-पश्चिम तटवर्ती (Northwest Coast) क्वाकियूतल (Kwakiutls) जनजाति मे सदैव सम्पत्ति इकट्ठा करने की दौड-धूप रहती है परन्तु जो व्यक्ति सम्पत्ति को जितना अधिक बर्बाद करता है या बिना कारण व्यय करता है उसकी सामाजिक स्थिति उतनी ही ऊँची होती

है। इस जनजाति मे पाटलेच (Potlatch) नामक व्यय-साध्य (expensive) भोज देकर अपनी प्रतिष्ठा या स्थिति को ऊँचा उठाने की प्रथा है। सब एक-दूसरे से बढ-चढ कर दावतें करते हैं। जिस व्यक्ति की दावत दूसरे की अपेक्षा अधिक शानदार होती है उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढती है।

उपरोक्त उदाहरणो से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्ही लोगो को समाज मे ऊँची स्थिति प्राप्त होती है जो कि सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। फिर भी आदिम लोगो मे सम्पत्ति को केवल इकट्ठा करने से ही ऊँची स्थिति प्राप्त नही होती जब तक उस सम्पत्ति का दिखावा उसे मुक्तहस्त से व्यय करके न किया जाय। सम्पत्ति की सार्थकता उसे दूसरो को दे देने या दान कर देने या उपहार मे दे देने मे है, न कि उसे केवल एकत्रित करने मे।

आदिम समाज में स्त्रियो की स्थिति
(The Status of Women in Primitive Society)

प्रत्येक समाज मे स्त्रियो या पुरुषो की स्थिति उनसे सम्बन्धित आदर्शों और कार्यों के अनुसार निश्चित होती है। ये आदर्श, मूल्य और कार्य प्रत्येक समाज मे समान नही हुआ करते। इसीलिये प्रत्येक आदिम समाजो मे भी स्त्रियो की स्थिति एक समान नही है। वास्तविकता तो यह है कि स्त्रियो की स्थिति तब तक पूर्णतया परिभाषित नही की जा सकती जब तक उस समाज के सम्पूर्ण सास्कृतिक प्रतिमान का हमे ज्ञान न हो क्योंकि समाज के सदस्यो की स्थिति भी उन प्रतिमानो का एक आवश्यक अग हुआ करती है। उस समाज का स्त्रियो के प्रति मनोभाव क्या है, स्त्रियो को किस प्रकार के कार्य करने होते हैं, सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो मे उनका कितना और किस रूप मे योगदान रहता है, उसके साथ पुरुषो का व्यवहार कैसा है इत्यादि सभी बातो को ध्यान मे रखकर ही स्त्रियो की स्थिति की विवेचना की जा सकती है। उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत की नीलगिरी निवासी टोडा जनजाति को ही लीजिये। ये लोग विशुद्ध रूप से पशुपालक हैं। उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार भैंस पालना है। कुछ भैंसें इतनी पवित्र समझी जाती हैं कि जहाँ इनका दूध निकाला और दही मथा जाता है वह स्थान इस जन-जाति का मन्दिर होता है। यहाँ बडी ऊँची तथा शकु के आकार वाली छतदार पवित्र झोपडी मे बडे जटिल कर्मकाण्ड का अनुसरण करते हुए पुरोहित इन भैंसो का दूध निकालते हैं। स्त्रियो को मासिकधर्म आदि के कारण अपवित्र तथा अयोग्य समझा जाता है और भैंसो से सम्बन्धित सभी कार्यों मे उनकी स्थिति सबसे निम्न है, यहाँ तक कि वे इन भैंसशालाओ के निकट तक भी नही जा सकती। इनके मुख्य पुरोहित पोलोल को अविवाहित रहना पडता है। स्त्रियाँ केवल भैंसशाला से सम्बन्धित कार्यों के लिये ही अयोग्य नही हैं बल्कि उनकी निर्योग्यताएँ दूध से बनने वाले सामानो को बनाने या ऐसे भोजन को, जिसमे दूध-व्यवहार होता है, पकाने के सम्बन्ध मे भी लागू होती हैं। इसका तात्पर्य यह नही है कि सामान्य जीवन मे भी टोडा स्त्रियो के प्रति निर्दयता या असम्मान-जनक व्यवहार किया जाता है। अन्य सभी विषयो मे उनकी स्थिति और कैसी भी हो,

दयनीय नही है। स्त्रियो के प्रति दया का व कोमल व्यवहार किया जाता है और उनके सुझावो पर ध्यान भी दिया जाता है। अत स्पष्ट है कि स्त्रियो की स्थिति की विवेचना उस समाज विशेष की आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए करना ही उचित होगा।

कुछ विद्वानो ने स्त्रियो की स्थिति का ऊँचा या नीचा होना परिवार के स्वरूप से सम्बन्धित माना है। इस विचारधारा के अनुसार जिन समाजो मे मातृसत्तात्मक परिवार (Matriarchal family) पाये जाते है वहाँ पर स्त्रियो की स्थिति उन समाजो से ऊँची या अच्छी होती है जहाँ कि पितृसत्तात्मक (Patriarchal) परिवार पाये जाते हैं, यद्यपि इस मत मे काफी सच्चाई है, फिर भी इस आधार पर कोई दृढ विभाजन-रेखा खीचना या अन्तिम निष्कर्ष निकालना उचित न होगा। यहाँ दो-एक उदाहरण की सहायता से हम आदिम समाजो मे स्त्रियो की स्थिति का वास्तविक मूल्याकन करने का प्रयत्न करेंगे।

आसाम की पहाडियो मे पायी जाने वाली खासी जनजाति मातृसत्तात्मक है। इन लोगो मे विवाह के पश्चात् पति को अपनी पत्नी के घर जाकर रहना पडता है। इनसे उत्पन्न बच्चो का वश-नाम माता की ओर का ही होता है। अत स्पष्ट है कि निवास-स्थान तथा वश-नाम दोनो के ही सम्बन्ध मे माता या स्त्री की स्थिति पुरुषो से कही अधिक ऊँची है। शायद इसीलिये इस जनजाति मे प्रचलित लोक-कथाओ मे इनके आदि-प्रवर्तक के रूप मे स्त्रियो का ही नाम आता है। इनके अधिकतर देवताओ के नाम भी स्त्री-लिगी हैं। सम्पत्ति भी उत्तराधिकार के रूप मे माता से पुत्री को ही मिलती है। पुरुष जो कुछ भी कमाता है उसपर उसके विवाह से पूर्व तक माता के परिवार का अधिकार होता है और विवाह के बाद पत्नी के परिवार का। धार्मिक कार्यों को स्त्रियाँ ही करती है। इनमे पूर्वज-पूजा करने की प्रथा पायी जाती है, पर ये सब पूर्वज स्त्रियाँ ही होती हैं। इस प्रकार देवताओ को नही, देवियो को ही खासी लोग पूजते हैं और यह विश्वास करते है कि ये देवियाँ ही उनकी रक्षा करती है, उन्हे रोग-मुक्त करती हैं तथा मृत्यु का भी कारण बन सकती है। धार्मिक क्रियाओ और उत्सवो के समय प्रमुख स्थान पुरोहितिनो का होता है, यद्यपि पुरोहित भी उपस्थित रहते हैं पर उनका काम केवल पुरोहितिनो के कार्य मे सहायता करना होता है। धार्मिक क्षेत्र मे ही नही, राजनीतिक क्षेत्र मे भी शासन-प्रबन्ध स्त्रियो के हाथो मे ही होता है। परन्तु उन सबका तात्पर्य यह नही है कि खासी समाज मे पुरुषो की स्थिति दयनीय हो। वास्तव मे समाज मे और स्त्रियो के द्वारा भी पुरुषो का सम्मान होता है, घर के मामलो मे भी उनकी (पुरुषो की) इच्छा को नही टाला जाता, विवाह-विच्छेद पति-पत्नी दोनो की सहमति से होता है और दोनो ही अपने-अपने मामलो मे स्वतन्त्र है।

आसाम की एक और जनजाति, जो कि 'गारो' नाम से परिचित है, मातृसत्तात्मक है। इस जनजाति मे बच्चो का वशपरिचय माता के वश के अनुसार ही होता है। इनके पूर्वज भी स्त्रियाँ ही हैं और ये लोग देवियो की ही पूजा करते हैं। सम्पत्ति पर पुत्री का अधिकार होता है, फिर भी अपनी पत्नी की सम्पत्ति को पति अपनी इच्छानुसार काम मे ला सकता है, परन्तु पत्नी की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पर न तो पति का और न

पुत्र का वल्कि पुत्री का अधिकार होगा। गारो जनजाति मे वहु-पत्नी विवाह का प्रचलन है, कन्यामूल्य की प्रथा नही है, विधवाओ को वार-बार पुनर्विवाह करने की छूट नही है। पुरुष व्यभिचार करे तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता है, परन्तु स्त्रियो के सम्बन्ध मे प्रारम्भ मे कुछ छूट है। स्त्री व्यभिचारिणी हो तो पहले-पहल उसके कान छेद दिये जाते हैं, कपडे फाड दिये जाते हैं, पर यदि वह उसे वार-वार दोहराये, तो उमे भी प्राणदण्ड दिया जाता है।

इसके विपरीत पितृसत्तात्मक परिवारो मे स्त्रियो की स्थिति, विशेपकर निवास स्थान और सम्पत्ति पर अधिकार के मामलो मे, उतनी ऊँची नही होती जितनी कि मातृसत्तात्मक परिवारो मे। उन समाजो मे, जहाँ कि पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं, विवाह के पश्चात् स्त्री को अपने पति के घर पर रहना पडता है। चूँकि वह घर पति का होता है इस कारण वहाँ पति का स्थान भी प्रत्येक प्रकार से पत्नी से ऊँचा होता है। उसी प्रकार सम्पत्ति पर भी अधिकार पिता से पुत्र को ही प्राप्त होता है, पुत्री को नही। इतना ही नही, ऐसे समाजो मे कुछ ऐसे विचार, विश्वास या प्रथाएँ भी पनप जाती हैं जो कि स्त्रियो की स्थिति को गिरा देती हैं। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति मे स्त्रियो के मासिक-धर्म, प्रसूत आदि से सम्बन्धित जो विचार, विश्वास या आदर्श पनप गये है उसके फलस्वरूप भैस, दूध और दूध से बनने वाली सभी चीजो के सम्बन्ध मे अनेक निर्योग्यताएँ भी स्त्रियो पर लग गई हैं। परन्तु इन सब उदाहरणो से यह निष्कर्ष निकालना भी गलत होगा कि पितृसत्तात्मक समाजो मे स्त्रियो की स्थिति अनिवार्यत गिरी हुई होगी ही, ऐसा नही है। उदाहरणार्थ, हो जनजाति पितृसत्तात्मक है, फिर भी वहाँ अपनी पत्नियो पर प्रभुत्व करने वाले और उनसे दवकर रहने वाले दोनो प्रकार के ही पुरुष पाये जाते है। पितृसत्तात्मक गोड जनजाति मे भी पति को चुनने, तलाक देने या विवाह से पूर्व यौन-सम्बन्ध स्थापित करने आदि विषयो मे स्त्रियाँ स्वतत्र हैं। उसी प्रकार पितृसत्तात्मक थारू जनजाति मे भी स्त्रियो की स्थिति अपने पतियो से श्रेष्ठ है। खासा जनजाति भी पितृसत्तात्मक है, परन्तु इनमे स्त्रियो के सम्बन्ध मे 'दोहरा नैतिक नियम' है। जब तक स्त्रियाँ अपने पति के घर पर रहती हैं तव तक तो उनकी स्थिति दवी हुई होती है और वे आज्ञाकारिणी पत्नी के रूप मे रहती हैं, परन्तु वही स्त्रियाँ जितने दिन अपने पिता के घर मे रहती हैं, उतने दिन उन्हे अपनी मनमानी करने की छूट होती है, यहाँ तक कि उन्हे यौन-सम्बन्ध स्थापित करने तक की स्वतत्रता रहती है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि आदिम समाजो मे स्त्रियो की स्थिति नीची या ऊँची है, इस सम्बन्ध मे कोई अन्तिम निष्कर्प सम्भव नही। वहुधा यह सोचा जाता है कि आदिम समाज के लोग 'जगली' या अर्द्ध-सभ्य होते हैं इसलिये उनके समाज मे स्त्रियो का उचित सम्मान नही होगा, यह धारणा गलत है। उसी प्रकार यह विचार भी गलत है कि सभी आदिम समाजो मे स्त्रियो की स्थिति ऊँची है। वास्तव मे स्त्रियो की स्थिति प्रत्येक समाज मे भिन्न-भिन्न है। आसाम के नागाओ मे अनेक जनजातियाँ हैं और प्रत्येक जनजाति मे स्त्रियो की स्थिति अलग-अलग है। मध्य भारत की जनजातियो मे स्त्री-पुरुष दोनो को ही समान अधिकार प्राप्त हैं और वे एक-दूसरे के कन्धे-से-कन्धा

मिलाकर काम करते है। इसी प्रकार की अनेक सम्भावनाएँ हो सकती है और वह निर्भर है उस समाज के सास्कृतिक प्रतिमान, या सामाजिक मूल्य (value), आदर्श तथा भावनाओ पर।

वर्ग-व्यवस्था
(Class System)

आदिम सामाजिक सगठन का एक और आधार वर्ग-व्यवस्था है। पर इस विषय मे कुछ लिखने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि वर्ग-व्यवस्था का वास्तविक तात्पर्य क्या है।

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) के शब्दो मे, "सामाजिक वर्ग एक समुदाय का कोई एक भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर शेष भाग से पृथक् दिखता है।"[8] सर्वश्री ऑगवर्न तथा निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के मतानुसार, "एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियो का योग है जिसकी कि आवश्यक रूप से एक समाज विशेष मे एक-सी सामाजिक स्थिति हो।"[9]

सामाजिक वर्ग के सम्बन्ध मे एक बात यह स्मरणीय है कि सामाजिक चेतनता (consciousness) के बिना वर्ग का निर्माण असम्भव है। जब समुदाय के किसी एक भाग के सदस्य सामाजिक भेदो (चाहे वह भेद-सम्पत्ति भेद, शिक्षा-भेद, व्यवसाय-भेद या अन्य योग्यताओ व प्रवृत्तियो पर आधारित भेद क्यो न हो) के सम्बन्ध मे जागरूक या चेतन हो जाते है और उसी चेतनता के आधार पर अपने को दूसरो से पृथक् समझने लगते हैं तभी वर्ग का जन्म होता है, इसीलिये श्री हॉबल (Hoebel) ने लिखा है कि "एक सामाजिक वर्ग एक समाज के अन्तर्गत वह समूह है जिसके सदस्यो की कतिपय सामाजिक स्थितियाँ (status) सामान्य (common) होती हैं और जो इन स्थितियो से सम्बन्धित कार्यों को करते हुए अपने कुछ ऐसे समान (like) हितो के सम्बन्ध मे एक जागरूकता विकसित कर लेते है जो कि दूसरे समूहो के हितो और लक्षणो से भिन्न होती है।"[10] सक्षेप मे, **सामाजिक वर्ग समाज का वह भाग है जिसके सदस्यो की कुछ विशिष्ट और सामान्य सामाजिक स्थितियाँ तथा कार्य होते हैं जिनके आधार पर उनमे यह जागरूकता पनप जाती है कि वे समाज के अन्य समूहो से भिन्न हैं।**

आदिम समाजो तथा आधुनिक समाजो के तुलनात्मक अध्ययन से एक बात का

---

8 "A social class is any portion of a community marked off from the rest by social status" MacIver and Page, *Society*, Macmillan & Co, London, 1950, p 348

9 "A social class is the aggregate of persons having essentially the same social status in a given society" Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, Routledge and Kegan Paul, London, 1956, p 210

10 "A social class is a group within a society, whose members hold a number of distinctive status in common and who, through the operation of the roles associated with these statuses, develop an awareness of their like interests as against the unlike traits, and interests of other groups" E A Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p 415.

स्पष्टत पता चलता है कि सामाजिक वर्ग का विद्यमान होना बहुत-कुछ सस्कृति के स्तर (stage of culture) पर निर्भर करता है। सस्कृति का स्तर जितना ही ऊँचा होगा, या सस्कृति जितनी ही जटिलता को प्राप्त होगी, सामाजिक वर्ग का विद्यमान होना भी उतना ही निश्चित होगा। सास्कृतिक दृष्टिकोण से अत्यधिक पिछडे हुए तथा सरल समाजो मे वर्ग-भेद शायद ही स्पष्ट रूप मे पाया जाता हो। एस्कीमो लोगो मे, अण्डमान प्रायद्वीप के निवासियो मे, आस्ट्रेलिया की जनजातियो मे, सेमग, वेद्दा, अफ्रीकन बुशमैन आदि मे वर्ग-प्रथा पायी ही नही जाती। इसका कारण यह है कि इन समाजो मे स्थिति-समूहो का उतार-चढाव, ऊँच-नीच की भावना तथा वर्ग-चेतना इसलिये पनप ही नही पाती है कि इन समाजो मे धन या सम्पत्ति का सचय (accumulation) सम्भव नही है, सभी को प्राकृतिक साधन समान रूप से प्राप्त हैं और किसी का भी उल्लेख राजनैतिक शक्ति मे नही होता है। हम स्वय ही अन्दाजा लगा सकते हैं कि एक शिकार करने तथा फल-मूल इकट्ठा करने वाले समाज मे जहाँ उदरपूर्ति करके किसी प्रकार जीवित रहना ही पर्याप्त होता है, जहाँ जीवित रहने के साधन इतने सीमित हैं कि आधिक्य (surplus) का कोई प्रश्न ही नही उठता और जहाँ पेट भरने के लिये जगलो मे मारे-मारे फिरना पडता है, वहाँ वर्ग-व्यवस्था पनप ही कैसे सकती है। अत स्पष्ट है कि शिकार तथा फल-मूल इकट्ठा करने वाले समाजो मे वर्ग-व्यवस्था की सम्भावना बहुत कम है क्योकि इस स्तर वाले समाजो मे सम्पत्ति-भेद या योग्यताओ पर आधारित भेद का नितान्त अभाव होता है। इसके विपरीत कृषि-स्तर पर सम्पत्ति-भेद की सम्भावना अधिक रहती है, इस कारण सामाजिक वर्ग का विद्यमान होना भी सरल हो जाता है।

यदि हम विभिन्न समाजो मे पायी जाने वाली वर्ग-व्यवस्था का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होगा कि प्रत्येक समाज मे वर्ग-व्यवस्था का एक-सा स्वरूप नही होता। विभिन्न समाजो मे वर्ग-भेद के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। श्री ग्रिन्नेल (Grinnell) ने लिखा है कि अमेरिका के प्लेन्स इण्डियनो (Plains Indians) मे वर्ग-व्यवस्था का एक अति प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है। चीईनी जनजातीय समाज मे वर्ग-भेद केवल इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति कितना साहसी और सफल है। अमीर-गरीब के आधार पर वर्ग-भेद पश्चिमी अपाछी (Western Apache) लोगो मे भी देखने को मिलता है। जिनके पास कुछ या कम धन है और जिनमे धन इकट्ठा करने की इच्छा या क्षमता का अभाव है, उन्हे गरीब समझा जाता है और इसके विपरीत अवस्था वाले लोगो को अमीर कहा जाता है। अमेरिका मे प्लेन्स की तीसरी जनजाति किओवा इण्डियनो मे चार स्पष्ट वर्ग देखने को मिलते हैं। इन चारो वर्गों के अलग-अलग नाम हैं। प्रथम वर्ग मे विशेषकर योद्धा या युद्ध-कला मे अत्यधिक निपुण लोग आते हैं। दूसरे वर्ग मे कारीगर, शिकारी, दवा-दारू करने वाले लोग आते हैं। तीसरे वर्ग मे साधारण लोग और चौथे वर्ग मे अयोग्य तथा निकम्मे लोग सम्मिलित किये जाते हैं।

अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की इण्डियन जनजातियो मे दो स्पष्ट वर्ग पाये जाते हैं—स्वतन्त्र लोग तथा दास। दास वे लोग होते हैं जिन्हे की एक जनजाति के लोग

दूसरी जनजाति पर हमला करके पकड ले आते है । इनका काम है अपने स्वामी की सेवा करना, उसके लिए पशुओ का शिकार करना, फल-मूल इकट्ठा करना, इत्यादि । स्वामी स्वतन्त्र (free man) है इस कारण वे अपनी इच्छानुसार इन दासो को काम मे लगाते हैं और उन्हे एक प्रकार की उत्पादक पूंजी (productive capital) समझते हैं । इसलिये इन दासो की संख्या के आधार पर उन स्वतन्त्र लोगो की स्थिति निर्धारित होती है । जो जितने अधिक दासो का मालिक होगा, उसकी सामाजिक स्थिति उतनी ही ऊँची होगी । संसार की किन्हीं-किन्ही जनजातियो मे तो दो से अधिक वर्ग भी स्पष्ट देखने को मिलते हैं जैसे कि मेक्सीको (Mexico) की कुछ जनजातियो मे । भारत मे चेंचू, कमार आदि जनजातियो मे वर्ग-भेद स्पष्टत देखने को नही मिलता, परन्तु गोंड, भील आदि जनजातियो मे वर्ग-भेद स्पष्ट ही है । कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि आदिम समाजो मे वर्ग-भेद के अनेक रूप होने पर भी उनमे विभिन्न वर्गों के बीच न तो उतना स्पष्ट भेद है जितना कि *आधुनिक सभ्य समाजो मे, और न ही उन वर्गों मे तनाव बहुत कटु रूप* धारण कर पाता है । अन्य सामाजिक संस्थाओ और समितियो की भांति वर्ग-व्यवस्था भी उनमे सरल रूप मे पायी जाती है ।

SELECTED READINGS

1 Ghurye, G S *Caste and Class in India*, Popular Book Depot, Bombay, 1957

2 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

3 Herskovits, M J *Man and His Works*, New York, 1956

4 Lowie, R H *An Introduction to Cultural Anthropology*, Revised Edition, New York, 1940

5 Lowie, R H *Primitive Society*, New York, 1920

6 Majumdar, D N *Races and Culture of India*, Asia Publishing House, Bombay 1958

7 Piddington, R *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952

8 Risley, H *The People of India*, London, 1915

९

विवाह और नातेदारी व्यवस्था

(MARRIAGE AND KINSHIP SYSTEM)

/

विषय-सूची—नवम अध्याय

१ भूमिका
२. विवाह की परिभाषा
३ विवाह के उद्देश्य
४ विवाह की उत्पत्ति
५ विवाह की आयु
६ विवाह-सम्बन्धी निषेध
(क) पारिवारिक निकटाभिगमन या निषिद्ध निकटाभिगमन
(ख) बहिर्विवाह
(ग) अन्तर्विवाह
७ अधिमान्य विवाह
(अ) ममेरे-फुफेरे भाई-बहनो का विवाह
(ब) चचेरे-मौसेरे भाई-बहनो का विवाह
(स) पति-भ्राता और पत्नी-भगिनी विवाह
(द) अन्य विशेष प्रकार के विवाह
८ विवाह के भेद
९ विवाह साथी चुनने के तरीके
१० पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त-वैवाहिक यौन सम्बन्ध
११ विवाह-विच्छेद
१२ नातेदारी-व्यवस्था
१३ नातेदारी की रीतियाँ
परिहार
परिहास सम्बन्ध
माध्यमिक सम्बोधन
मातुलेय
पितृश्वस्रेय
सह-प्रसविता

अध्याय ९

विवाह और नातेदारी व्यवस्था (Marriage and Kinship System)

परिवार बसाने के लिये दो या अधिक स्त्री-पुरुष मे आवश्यक सम्बन्ध (जिसमे यौन-सम्बन्ध भी सम्मिलित है) स्थापित करने और उसे स्थिर रखने की कोई न कोई सस्थात्मक व्यवस्था या तरीका प्रत्येक समाज मे पाया जाता है जिसे कि विवाह कहते है। विवाह प्रत्येक समाज, चाहे वह आदिम समाज हो या सभ्य समाज, की सस्कृति का एक आवश्यक अग होता है क्योकि यह वह साधन है जिसके आधार पर समाज की प्रारम्भिक इकाई परिवार का निर्माण होता है। प्रत्येक स्वाभाविक जीवन के लिये इसी कारण विवाह एक सामान्य (general) तथा स्वाभाविक घटना है और शायद इसीलिये यह अति प्राचीन जनजातियो से लेकर अति आधुनिक समाजो, सभी मे किसी न किसी रूप मे पाया जाता है। विवाह अण्डमान प्रायद्वीप या आस्ट्रेलिया की जनजातियो मे जितना लोकप्रिय है, उतना ही न्यूयार्क के निवासियो मे भी। हिन्दू समाज मे तो विवाह का महत्त्व और भी अधिक है क्योकि हिन्दू-विवाह गृहस्थाश्रम का प्रवेश-द्वार है। मनु ने स्वीकार किया कि जैसे सब पशु वायु के सहारे जीते है, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थाश्रम से जीवन धारण करते है। व्यास-स्मृति मे गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जितेन्द्रिय होकर गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले को घर मे ही कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, केदार-बद्रीनाथ आदि का तीर्थ मिल सकता है, जिनकी यात्रा कर वह सब पापो से मुक्त हो सकता है। महाभारत मे तो यहाँ तक उल्लेख है कि अविवाहित कन्या को कभी भी, चाहे कितनी ही तपस्या का बल या पुण्य सचय क्यो न हो, स्वर्ग नही मिलता।

कुछ भी हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से स्त्री-पुरुष की यौन-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करने, उसे एक निश्चित ढग से नियत्रित करने तथा स्थिर रखने और परिवार को स्थायी रूप देने के लिये विवाह की सस्था का जन्म हुआ है। विवाह वह आधार है जो घर बसाता है और बच्चो के पालन-पोषण तथा आर्थिक सहकारिता व सामाजिक उत्तरदायित्व की नीव को बनाता है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह की आवश्यकता यौन-सम्बन्धी इच्छाओ की पूर्ति तथा शरीर का स्वस्थ निर्वाह और मानसिक शान्ति प्राप्त करना है। सामाजिक दृष्टि-कोण से विवाह का महत्त्व बच्चो को जन्म देना और तद्द्वारा समाज की निरन्तरता को कायम रखना है। इसीलिये विवाह नामक सस्था किसी समाज मे न ही है, ऐसा कोई भी

उदाहरण दुनिया के किसी भी कोने से अनेक छानबीन तथा अन्वेषण के बाद भी मिल न सका, यद्यपि विवाह का स्वरूप या विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के तरीके मे पर्याप्त भिन्नता विभिन्न समाजो मे पायी जाती है। इसी कारण सामाजिक मानवशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये यह सस्था विशेष महत्त्व की है।

विवाह की परिभाषा
(Definition of Marriage)

श्री बोगार्डस (Bogardus) के शब्दो मे, "विवाह स्त्री और पुरुष को पारिवारिक जीवन मे प्रवेश करवाने की एक सस्था है।"[1] श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) के अनुसार, "विवाह एक या अधिक पुरुषो का एक या अधिक स्त्रियो के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमे विवाह करने वाले व्यक्तियो के और उससे पैदा हुए सम्भावित बच्चो के बीच मे एक-दूसरे के प्रति होने वाले अधिकारो और कर्त्तव्यो का समावेश होता है।"[2] सक्षेप मे, **विवाह समाज से मान्यता प्राप्त किसी प्रथा या नियम के अनुसार दो या अधिक स्त्री-पुरुषो के यौन-सम्बन्धों को नियमित करने की वह सस्था है जिसका कि उद्देश्य घर बसाना तथा बच्चो के लालन-पालन के लिये एक स्थायी आधार प्रदान करना है।**

विवाह के उद्देश्य
(Aims of Marriage)

विवाह का सर्वप्रमुख उद्देश्य स्त्री और पुरुष के यौन-सम्बन्धो को नियमित करना तथा सन्तानोत्पत्ति के सामाजिक कार्य मे योग देना है। स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध से सन्तान उत्पन्न होना स्वाभाविक है परन्तु सन्तानोत्पत्ति के बाद एक नवीन समस्या यह उत्पन्न होती है कि उन असहाय बच्चो का लालन-पालन कैसे हो। पशु-पक्षियो के बच्चो को अपने माता-पिता की उतनी आवश्यकता नही होती जितनी कि मनुष्य के बच्चे को। इस कारण यौन-सम्बन्ध तथा सन्तानोत्पत्ति के बाद बच्चो के लालन-पालन के लिये एक घर, निवास या गृहस्थी की आवश्यकता होती है। विवाह की उत्पत्ति इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी हुई है। केवल स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धो को स्थिर करने या उनकी यौन-सम्बन्धी इच्छाओ की पूर्ति करने के लिये ही नही, अपितु परिवार बसाने तथा उस परिवार को एक स्थायी रूप देने के लिये भी विवाह-सस्था का जन्म हुआ है। कुछ विद्वानो के अनुसार विवाह का एकमात्र उद्देश्य स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध को नियमित करना या उनकी काम-वासनाओ को चरितार्थ करना है। परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। यौन-सम्बन्धी इच्छाओ की पूर्ति मात्र को विवाह का उद्देश्य मानना गलत होगा

---

1 "Marriage is an institution for admitting men and women to family life" —Bogardus

2 "Marriage is a relation of one or more men and women which is recognised by custom or law, and involves certain rights and duties both in the case of the parties entering the union and in the case of children born of it" Westermarck, *The History of Human Marriage*, Vol I, p 26

क्योंकि इनकी पूर्ति विवाह-सम्बन्ध के अतिरिक्त भी हो सकती है। यह सच है कि यौन-इच्छाओं की पूर्ति विवाह का एक आधारभूत कारण है, परन्तु इसी को एक मात्र और अन्तिम उद्देश्य मान लेना विवाह के परम उद्देश्य की अवहेलना करना होगा। शरीर के स्वस्थ निर्वाह के लिये और मानसिक शान्ति के लिये भी विवाह की आवश्यकता है। मनुष्य केवल यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही जीवित नही रहता, उसकी आर्थिक सामाजिक तथा वैयक्तिक अन्य अनेक आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ होती है जिनके लिये किसी-न-किसी प्रकार के सगठन की आवश्यकता उसे होती है। इस सगठन का एक प्राथमिक आधार परिवार होता है जो कि विवाह के द्वारा ही बसाया जाता है। इस प्रकार विवाह के अनेक या कुछ आर्थिक और सामाजिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। सेमा नागा मे एक लडके को अपनी माँ को छोडकर अपने पिता की अन्य विधवाओ से विवाह इस उद्देश्य से करना पडता है कि पैतृक सम्पत्ति पर उसका अधिकार बना रहे क्योकि उस समाज मे पिता की मृत्यु के बाद सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार उसकी विधवाओ का ही होता है और उन विधवाओ से विवाह किये बिना सम्पत्ति को पाने का अन्य उपाय नही है। यहाँ विवाह का यौन-सम्बन्धी उद्देश्य उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना कि आर्थिक उद्देश्य। जहाँ यौन-सम्बन्धी उद्देश्य महत्त्वपूर्ण भी है, वहाँ भी इसके अतिरिक्त अन्य आर्थिक व सामाजिक उद्देश्य कम महत्त्व के नही हैं। विवाह और परिवार मानव-जाति की निरतरता को बनाये रखने का एक प्रधान साधन है। व्यक्ति भले ही मर जाए पर परिवार और विवाह द्वारा मानव-जाति या समाज अमर हो गया है। मनुष्य अपने बच्चो मे अपनी आशाओ को फलीभूत होते देखना चाहता है। मनुष्य की कई आकाक्षाएँ और अभिलाषाएँ सन्तान से पूर्ण होती हैं। सन्तान द्वारा उसकी वश-रक्षा ही नही बल्कि वश की परम्परा या सास्कृतिक प्रतिमान भी हमेशा बने रहते है। सन्तान द्वारा प्रत्येक बात मे अपना अनुकरण किये जाने पर मनुष्य के अहभाव की सतुष्टि होती है। इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह का उद्देश्य यौन-सम्बन्धी तथा मानसिक इच्छाओ की सन्तुष्टि करना है और सामाजिक दृष्टिकोण से समाज तथा सस्कृति दोनो के अस्तित्व या निरतरता को बनाये रखना है।

विवाह का आर्थिक उद्देश्य भी कम महत्त्व का नही है। अनेक ऐसी जनजातियाँ हैं जिनमे जीवित रहने के लिये कठोर सघर्ष करना पडता है। विवाह इस सघर्ष मे सहायक सिद्ध होता है क्योकि विवाह दो या अधिक व्यक्तियो को एक परिवार मे सयुक्त करता है और इस प्रकार सयुक्त होने वाले सब सदस्य एक साथ मिलकर अपनी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। विवाह दो या अधिक स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो को स्थिर करने और परिवार को स्थायी रूप देने मे जो योग देता है उसमे आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति भी सरल हो जाती है। कादर जनजाति के लोगो की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति परिवार के सब सदस्यो के सहयोग से ही सम्भव है। उसी प्रकार अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियो मे स्त्रियो को भी पुरुषो के साथ जीवित रहने के साधनो को एकत्रित करने मे सहयोग करना पडता है।

श्री मुरडॉक (Murdock) ने ससार के विभिन्न भागो मे पाये जाने वाले २५०

समाजो के, विवाह के उद्देश्य के सदर्भ मे, तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि मानव-समाजो मे विवाह के सामान्यत तीन मुख्य उद्देश्य होते हैं—**प्रथम**, यौन-सम्बन्धी इच्छाओ की तृप्ति, **द्वितीय** आर्थिक सहयोग और **तृतीय** बच्चो का पालन-पोषण। श्री मुरडॉक का मत है कि प्रथम उद्देश्य (अर्थात् यौन-सम्बन्धी आनन्द) विवाह का एक मात्र उद्देश्य है ऐसा प्रमाण किसी भी समाज मे नही मिलता है क्योकि ऐसे भी समाज हे जहाँ कि पति और पत्नी को एक-दूसरे के साथ ही नही, अन्य व्यक्तियो के साथ भी यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की छूट रहती है और कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ पति-पत्नी तक मे आपस मे कोई भी यौन-सम्बन्ध नही होता। ऐसा भी हो सकता है कि विवाह किये बिना भी यौन-सम्बन्ध स्थापित हो जाय। उदाहरणार्थ, भारत के मध्य भाग मे रहनेवाली कुछ जनजातियो मे यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की तब तक स्वतत्रता रहती है, जब तक लडकी गर्भवती नही हो जाती। उसी प्रकार कई यौन-सम्बन्ध विवाह मे परिणत नही होते, जैसे भारत के कूकी जनजाति मे। अतः निष्कर्ष यह है कि किसी भी समाज मे केवल यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से ही विवाह नही होता। पर सभी समाजो मे दूसरे दो उद्देश्य अर्थात् आर्थिक सहयोग तथा बच्चो का पालन-पोषण से सम्बन्धित उत्तरदायित्व विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष पर अवश्य ही लादा जाता है। अत स्पष्ट है कि विवाह एक वैयक्तिक घटना नही है जिसका कि एक मात्र उद्देश्य विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष को सुख या तृप्ति प्रदान करना हो, बल्कि विवाह वह साधन भी है जिससे समाज का अस्तित्व भी सम्भव हो।

विवाह की उत्पत्ति
(Origin of Marriage)

पिछले अध्याय मे 'परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्तो' की विवेचना करते हुए हम विवाह की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी बहुत-कुछ बता चुके हैं। यहाँ पर हम केवल उन सिद्धान्तो का साराश ही प्रस्तुत करेंगे।

श्री मॉर्गन (Morgan) आदि कुछ विद्वानो का मत है कि मानव-समाज व सस्कृति के प्रारम्भिक काल मे विवाह नामक किसी भी सस्था का अस्तित्व न था, यह तो सामाजिक विकास के कुछ स्तरो के बाद उत्पन्न हुई है। श्री मॉर्गन ने यह सिद्धान्त प्रचलित किया कि प्रारम्भ मे समाज मे कामाचार (promiscuity) की दशा पायी जाती थी और इसीलिये यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतत्रता थी। परन्तु जनजातीय ससार से एकत्रित आधुनिकतम प्रमाणो से इस सिद्धान्त की पुष्टि नही होती है। त्योहारो मे यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतत्रता या धर्म पालन के हेतु पत्नी की भेंट यौन-साम्यवाद या कामाचार का प्रमाण नही हो सकती। यहाँ तक कि ब्रेजील की काइगन, साइबेरिया की चकची तथा आस्ट्रेलिया की डेयरी जनजातियो जिनमे कि समूह-विवाह की प्रथा पायी जाती है, वहाँ भी इस बात का कोई प्रमाण नही मिला है कि उन समाजो मे कभी कामाचार की दशा थी। अति प्राचीन जनजाति जैसे कादर, पलियन, चेंचू, बिर-होर (सब भारतवर्ष के) मे तथा अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियो मे भी कामाचार

का कोई प्रमाण नही मिल सका। श्री मॉर्गन के अनुसार कामाचार की अवस्था के पश्चात् समूह-विवाह का विकास हुआ था। इस प्रकार के विवाह मे एक परिवार के सब भाइयो का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनो के साथ हुआ करता था जिसमे प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियो का पति होता था और प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषो की पत्नी होती थी। **तीसरी अवस्था** मे एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ विवाह होता तो था, पर उसी परिवार मे ब्याही हुई स्त्रियो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक पुरुष को रहती थी। **चौथी अवस्था** मे, श्री मॉर्गन के अनुसार, पुरुष का ही एकाधिपत्य होता था और इसलिये वह अपनी इच्छानुसार एकाधिक स्त्रियो से विवाह करता था और उन सबके साथ यौन-सम्बन्ध रखता था। एक विवाह की स्थिति इस अवस्था के बाद आयी है।

श्री बैकोफन (Backofen) के अनुसार भी आदिकाल मे विवाह नामक कोई सस्था स्पष्ट नही थी। फलत यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का कोई निश्चित नियम नही था। इसके बाद जनसख्या के बढने के साथ-साथ दरिद्रता तथा कमी (scarcity) भी बढने लगी और लडकियो के वध की प्रथा शुरू हुई जिससे समाज मे स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो की सख्या अधिक हो गई। फलत बहुपति-विवाह का जन्म हुआ। इसके बाद खेती मे उन्नति होने से परिवार मे स्थायी श्रमिको के रूप मे स्त्रियो की आवश्यकता बढी और पुरुष भी अपने ऐशोआराम के लिए अधिक पत्नियाँ रखने मे समर्थ हुए जिससे बहुपत्नी-विवाह का जन्म हुआ। अन्त मे नैतिक विचारो मे विकास होने पर और स्त्रियो द्वारा समान अधिकार की माग होने पर एक-विवाह की प्रथा चली। **श्री वेस्टरमार्क** (Westermarck) ने उपरोक्त सिद्धान्तो की कटु आलोचना करते हुए अपने एक विवाह के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। आपके अनुसार यौन-सम्बन्धो की स्वतन्त्रता, बहुपति या बहुपत्नी-विवाह केवल सामाजिक नियमो के क्षणिक उल्लघन मात्र हैं, स्थायी रूप तो एक विवाह ही है। ऊँचे और नीचे सभी प्रकार के समाजो मे एक-विवाह ही मिलता है, यहाँ तक कि चिडियो, पशुओ, वनमानुषो आदि मे भी एक विवाह ही मिलता है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने श्री वेस्टरमार्क का समर्थन करते हुए लिखा है कि "एक-विवाह ही विवाह का एकमात्र सत्य रूप है, रहा है और रहेगा।"

साराश यह है कि विवाह का स्वरूप प्रत्येक समाज मे एक ही रहा है, इस तथ्य की पुष्टि मे प्रमाण प्रस्तुत करना उतना ही कठिन है जितना कि यह प्रमाणित करना कि आदि काल मे कामाचार की अवस्था थी। परन्तु यौन-सम्बन्धो को नियमित व स्थिर करने, परिवार को स्थायी रूप देने, आर्थिक सहयोग का विकास करने तथा बच्चो के लालन-पालन की एक सुनिश्चित व्यवस्था करने के लिये विवाह की सस्था का जन्म हुआ है, इस तथ्य के पक्ष मे प्राय. सभी समाजो से, चाहे वह अति आदिम समाज हो या अति आधुनिक, अनेक प्रमाणों को प्रस्तुत किया जा सकता है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये विवाह, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, हमेशा ही था और रहेगा।

विवाह की आयु
(Age of Marriage)

सामान्य रूप से जनजातियो मे बाल-विवाह का प्रचलन नही है, और उनमे विवाह किशोरावस्था या उसके बाद ही होता है । जहाँ तक भारत की जनजातियो का प्रश्न है, उनमे भी बाल-विवाह नही पाया जाता। परन्तु जो जनजातियाँ हिन्दुओ के घनिष्ट सम्पर्क मे आयी हैं उनमे बाल-विवाह होने लगा है । हिन्दुओ के सम्पर्क मे आने के कारण ही छोटा नागपुर की सथाल, मुण्डा और उराँव जनजातियो मे तथा राजस्थान के भीलो मे लडको के विवाह की आयु प्राय १२-१३ वर्ष और लडकियो की प्राय ६-१० वर्ष के लगभग हो गई है। परन्तु अधिकाश जनजातियो मे यह स्थिति नही है। उदाहरणार्थ, आसाम के नागाओ और कूकियो मे लडकियो का विवाह १५ से २० वर्ष की आयु मे तथा लडको का विवाह १८ से २५ वर्ष की आयु मे होता है। विवाह चाहे बाल्यावस्था मे हो या किशोरावस्था मे हो, साधारणत विवाह के समय लडको की आयु हिन्दुओ की भाँति ही लडकियो से अधिक होती है ।

विवाह-सम्बन्धी निषेध
(Prohibitions regarding Marriage)

विवाह की सस्था को नियमित तथा स्थिर बनाने के लिये विवाह-सम्बन्धी निषेध और नियम प्रत्येक समाज मे ही पाये जाते है चाहे वह जनजातीय समाज हो या आधुनिक सभ्य समाज। जनजातीय समाज मे ये नियम और निषेध सक्षेप मे निम्नलिखित हैं —

(१) पारिवारिक निकटाभिगमन या निषिद्ध निकटाभिगमन
(Family Incest or Incest Taboo)

यद्यपि विवाह के माध्यम से अनेक निकट सम्बन्धियो या रिश्तेदारो का उद्भव होता है, फिर भी अनेक रिश्तेदारो से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की मनाही भी होती है। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक समाज मे किसी न किसी रूप मे अति निकट के सम्बन्धियो से विवाह-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध स्थापित करना निषिद्ध होता है। इस नियम को ही निषिद्ध निकटाभिगमन या निकटाभिगमन नियम (incest regulation) कहते है। वैसे तो इस नियम के कुछ अन्य व्यक्ति भी होते हैं, परन्तु सामान्यत· पिता और पुत्री मे, माता और पुत्र मे तथा सगे भाई और बहनो मे विवाह प्राय सभी समाजो मे निषिद्ध है। परन्तु साथ ही यह स्मरण रहे कि कुछ समाज ऐसे भी हैं जहाँ निकट सम्बन्धियो से विवाह करने का ही नियम है । उदाहरणार्थ, पेरू के इनका (Inca), प्राचीन मिश्र देशवासी तथा हवाई प्रायद्वीप के अनेक घरानो मे निकट सम्बन्धियो से ही विवाह करने का नियम पाया जाता है। ये लोग अपने को कुलीन (nobles) कहते हैं और इसीलिए अपने मे विशुद्ध कुलीन रक्त को बनाये रखने के लिए भाई-बहनो मे भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की केवल मान्यता ही नही देते बल्कि ऐसे विवाह-नियम को ही अनिवार्य रूप से लागू करते हैं। इनमे यह विश्वास है कि इस प्रकार का विवाह साधारण विवाह नही है, इस कारण यह

असाधारण अर्थात् अत्यधिक कुलीन व्यक्तियो को ही शोभा देता है। इसीलिये इन समूहो मे भी सब लोगो को नही, बल्कि कुछ विशेष या असाधारण व्यक्तियो को ही इस प्रकार के विवाह करने की आज्ञा दी जाती है।

अत स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज ही निकटाभिगमन (incest) को परिभाषित तथा निषिद्ध करता है, परन्तु वह परिभाषा और निषेध प्रत्येक समाज मे समान नही हुआ करता। इससे एक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस प्रकार के निषेध किन्ही प्राणीशास्त्रीय विचारो (biological consideration) से प्रभावित नही होते। सच तो यह है कि निकटाभिगमन के प्राणीशास्त्रीय परिणाम क्या हो सकते हैं, इसका अनुमान लगाना ही जनजातीय लोगो के लिये असम्भव है। फिर भी इस प्रकार के निषेधो का अस्तित्व, सस्कृति के अन्य पक्षो की भाँति, इसलिये बना रहता है कि इससे कुछ सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। इस कारण यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध मे कुछ-न-कुछ नियम प्रत्येक समाज मे ही पाये जाते हैं। साधारणत यौन-सम्बन्ध की सीमा पति-पत्नी तक ही सीमित रहती है। अन्य किसी के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध धार्मिक तथा अन्य आधारो पर वर्जित होते है।

कहा जाता है कि इस प्रकार का निषेध इस कारण होता है कि एक ही परिवार के सभी सदस्य जब बहुत दिनो तक एक साथ घनिष्ट रूप से रहते हैं तो उनमे परस्पर यौन-सम्बन्धी आकर्षण समाप्त हो जाता है और इसलिये वे यह पसन्द करते हैं कि विवाह इन अति निकट सम्बन्धियो के दायरे से बाहर ही हो। परन्तु यह उपकल्पना (hypothesis) सत्य प्रतीत नही होती। अगर ऐसा ही होता तो निकटाभिगमन-सम्बन्धी निषेधो की आवश्यकता ही नही होती। अगर यौन-सम्बन्धी आकर्षण समाप्त ही हो जाता है तो क्या कारण है कि कुछ अपवादो को छोडकर सर्वत्र भाई-बहन, पिता-पुत्री, माता-पुत्र के बीच विवाह-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के नियमो को इतनी कठोरता से लागू किया जाता है और इन्हे तोडने पर कठोरतम दण्ड की व्यवस्था भी की जाती है। श्री ह्वाइट (White) का तो कहना है कि एक साथ घनिष्ट रूप से रहने से यौन-सम्बन्धी आकर्षण घटने के बजाय बढ भी सकता है। अन्त मे यह भी विचारणीय है कि निकटाभिगमन-सम्बन्धी निषेध प्राय. उन लोगो पर भी लागू होते है जो कि एक परिवार मे एक साथ नहीं रहते हैं। उदाहरणार्थ, चिरिकाहुआ अपाची (Chiricahua Apaches) लोगो मे दूर के चचेरे तथा ममेरे भाई-बहनो मे विवाह-सम्बन्धी निषेध उतने ही कठोर हैं जितने कि सगे भाई-बहनो मे। नाभाहो (Navaho) जनजाति मे यह निषेध पूरे गोत्र के सदस्यो के लिए लागू होता है जो कि बिल्कुल एक-दूसरे से अलग विभिन्न परिवार मे रहते हैं। श्री क्लूखौन (Kluckhohn) ने लिखा है कि इस जनजाति मे एक गोत्र के दो युवक-युवती के लिये एक-दूसरे से लिपट कर नाचना तक भी निषिद्ध है।

अत स्पष्ट है कि निकटाभिगमन के निषेध न तो प्राणीशास्त्रीय और न ही मनोवैज्ञानिक कारको के कारण हैं। जैसा कि श्री लिन्टन ने लिखा है, प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से अति निकट-सम्बन्धियो मे भी यौन-सम्बन्ध या सन्तानोत्पत्ति हानिकारक नही है। उसी प्रकार इस तरह के निषेध के कुछ मनोवैज्ञानिक कारण हो तो सकते हैं, पर वे इतने शक्ति-

शाली नही हैं कि उनके आधार पर इस सार्वभौम घटना (universal phenomena) की यथार्थ व्याख्या सम्भव हो सके। उसी प्रकार इन निषेधो की व्याख्या किसी एक सामाजिक कारण के आधार पर भी सम्भव इस लिए नही है कि इन निषेधो के अनेक विविध रूप विभिन्न समाजो मे देखने को मिलते हैं। इसलिये यह कहना ही उचित होगा कि निकटाभिगमन के निषेधो का उद्भव सम्भवत उपरोक्त सभी कारणो के मिलने से हुआ है।[3]

यौन-सम्बन्धो को नियमित करना या एक सीमित सीमा के अन्दर रखना सामाजिक सगठन या व्यवस्था को कायम रखने के दृष्टिकोण से आवश्यक है क्योकि केवल यौन-सम्बन्ध के अनियमित होने से समस्त समाज मे विघटन उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। श्री मैलिनोवस्की ने स्पष्ट ही लिखा है कि यदि कामोत्तेजनाओ को परिवार के सीमा-क्षेत्र पर अधिकार जमाने दे दिया जाय तो उसका परिणाम केवल परिवार मे ईर्ष्याओ का फैलना, प्रतियोगिताओ का बढना और अन्त मे पारिवारिक विघटन होना ही न होगा बल्कि यह उन आधारभूत बन्धनो को भी तोड-फोड डालेगा जो कि सामाजिक सगठन, एकता तथा प्रगति के लिये आवश्यक हैं। वह समाज जो निकटाभिगमन की आज्ञा देता है, कदापि स्थिर तथा सगठित परिवारो को विकसित नही कर सकता और यदि समाज का परिवार-रूपी प्राथमिक आधार ही टूट गया तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना तो आश्चर्य नही। यह बात आदिम समाजो के लिये और भी सत्य है क्योकि इन समाजो मे परिवार ही सम्पूर्ण समुदाय का सबसे निर्भरयोग्य आधार है।[4]

अत स्पष्ट है कि निकटाभिगमन के निषेध पारिवारिक तथा सामाजिक सगठन को बनाये रखने के उद्देश्य से लागू किये जाते है। साथ ही, इस प्रकार के निषेधो के होने से लोग अपने परिवार मे नही बल्कि दूसरे परिवारो से अपना विवाह-साथी ढूँढते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विभिन्न परिवारो के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे एक-दूसरे के साथ बँध जाते हैं। इससे एक ओर सामाजिक सघर्ष की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं और दूसरी ओर आर्थिक सहकार की शृखला भी जुडने लगती है।

इसीलिये, साराश मे, हम कह सकते हैं कि निकटाभिगमन-सम्बन्धी निषेधो का जन्म या उद्भव दो प्रमुख उद्देश्यो की पूर्ति के लिये हुआ होगा—इसका **प्रथम** उद्देश्य सुस्थिर तथा सहयोगी परिवारो को विकसित करना है जिससे बच्चो का लालन-पालन उचित ढग से हो सके और आर्थिक सहकार का विकास सम्भव हो। इसका **द्वितीय** उद्देश्य स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धो को इस ढग से नियमित करना है कि विभिन्न परिवारो के बीच के पारस्परिक सम्बन्धो का एक निश्चित रूप विकसित हो और सुस्थिर रहे। प्रथम उद्देश्य पारिवारिक या व्यक्तिगत जीवन के लिये महत्त्वपूर्ण है जब कि दूसरा उद्देश्य सामुदायिक जीवन की आधारशिला है।

---

3 Ralph Linton, *The Study of Man*, Appleton Century Crofts, New York, 1936, pp 125-126

4 Bronislaw Malinowski, 'Culture', *Encyclopaedia of the Social Sciences*, The Macmillan Co, New York, 1930, Vol IV, p 630

(२) बहिर्विवाह
(Exogamy)

उपरोक्त निकटाभिगमन के निषेधो के फलस्वरूप ही एक प्रकार के विवाह का प्रचलन होता है जिसे कि बहिर्विवाह कहते है। वहिर्विवाह के अनुसार एक व्यक्ति को अपने समूह के बाहर विवाह करने कि आज्ञा दी जाती है। यह समूह उस व्यक्ति की जाति, जनजाति, गोत्र या टोटम-समूह हो सकता है जिसके बाहर विवाह करने को कहा जाता है। जनजातियो मे प्राय अपने गोत्र और टोटम-समूह के अन्दर विवाह नही होता है। कादर, बैगा और अण्डमान द्वीप की जनजातियो को छोडकर अन्य सभी जनजातियो मे गोत्र के आधार पर सामाजिक सगठन पाये जाते है। एक गोत्र के सदस्य अपने विवाह-साथी दूसरे गोत्र से प्राप्त करते हैं। लुशाई कूकी जनजाति मे गोत्रो के आधार पर बहिर्विवाह-सम्बन्धी निषेध नही है। इसके विपरीत खासी जनजाति मे इस नियम को तोडना सर्वनाश के समान है। टोटम वहिर्विवाह का नियम भारतीय जनजातियो मे प्राय सार्वभौम है और इसका उल्लघन अक्षम्य अपराध है।

छोटा नागपुर की मुण्डा तथा अन्य जनजातियाँ गाँव-वहिर्विवाह (village exogamy) के नियम को मानती हैं, अर्थात् अपने गाँव की लडकी से विवाह नही करती। आसाम की नागा, दक्षिण भारत की इरूला आदि अनेक जनजातियाँ वहिर्विवाही-वर्गों मे बँटी हुई हैं, और वर्ग-बहिर्विवाह के नियमो का पालन करती हैं। राजस्थान की भील जनजाति कुछ 'पालो' (क्षेत्रीय इकाइयो) मे बँटी हुई है और इसी आधार पर बहिर्विवाह के नियम को लागू करती है। हो सकता है कि एक पाल मे एकाधिक गोत्र हो और उस पाल का एक व्यक्ति अपने से दूसरे गोत्र मे (पर उसी पाल मे) विवाह करना चाहता है, फिर भी उसे विवाह करने की आज्ञा नही मिलती। उसे तो विवाह करने की आज्ञा तभी दी जाती है जब वह अपना विवाह-साथी अपने पाल से बाहर दूसरे पाल से चुने। इस प्रकार भीलो मे पाल-वहिर्विवाह के नियम पाये जाते हैं।

बहिर्विवाह के कारण के सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये है, श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) के अनुसार वहिर्विवाह का कारण नजदीकी रिश्तेदारो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित होने को अधिक से अधिक टालना है। श्री लोई (Lowie) भी श्री हॉबहाउस के इस विचार से सहमत हैं कि नजदीक के रिश्तेदारो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित होने से बचने की भावना मूलप्रवृत्तात्मक (instinctive) है। भाई-बहन, माता-पुत्र, पिता-पुत्री मे विवाह पर निषेध प्राय सार्वभौम है और उसी आधार पर एक समूह के बाहर विवाह का प्रचलन भी आश्चर्य की बात नही है। अत अति निकट रिश्तेदारो को छोडकर विवाह करने की भावना यदि मूलप्रवृत्तात्मक है, तो उसी भावना का विस्तार और समूह के बाहर विवाह करने का नियम परम्परागत या रूढिगत (conventional) है। उदाहरणार्थ, मोटाना के ब्लैकफूट (Blackfoot of Montana) लोगो मे केवल चचेरे, ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनो मे ही विवाह निषिद्ध नही है, बल्कि उन्होने इस निषेध का विस्तार अपने स्थानीय समूह के सभी सदस्यो

तक मे इस डर से कर दिया है कि कही भूल से किसी निकट रक्त सम्बन्धी से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित न हो जाय। पैभियट्सो (Paviotso) जनजाति मे अपने मामा, फूफा, चाचा आदि के बच्चो को, चाहे वे कितने ही दूर के रिश्ते के क्यो न हो, भाई या बहन कहकर ही पुकारा जाता है।

श्री लोई ने लिखा है कि निकट रिश्तेदारो के साथ कही यौन-सम्बन्ध स्थापित न हो जाय, इस डर के आधार पर बहिर्विवाह की प्रथा का जन्म कैसे हो सकता है, उसका एक प्रमाण यह भी है कि कुछ जनजातियो मे एक ही नाम के दो समूहो मे विवाह निषिद्ध है। इस नियम के अनुसार आस्ट्रेलिया की एक जनजाति का ईमू (Emu) समूह का एक पुरुष कभी भी ईमू नाम के किसी भी दूसरे समूह की स्त्री से विवाह-सम्बन्ध स्थापित नही करेगा चाहे वह दूसरा समूह पहले समूह मे एक सौ मील दूर पर भी निवास करता हो। इन नियत्रणो को भी बहिर्विवाह के नियत्रण के रूप मे माना जाता है क्योकि इसके अनुसार अपने समूह के नाम वाले समूह के बाहर ही विवाह करने की आज्ञा होती है।

श्री रिज़ले (Risley) के अनुसार बहिर्विवाह का एक कारण यह भी है कि मनुष्य नवीनता चाहता है और इसी कारण अपने समूह की जानी-पहचानी स्त्रियो से विवाह करने की अपेक्षा बाहर के समूह की नवीन स्त्रियो को अधिक पसन्द किया जाता है।

श्री ऑडरे रिचार्ड्स (Audrey Richards) के मतानुसार एक समय था जब कि आखेट-जीवी तथा फल-मूल सग्रह करने वाली जनजातियो मे भोजन की समस्या विकट होने के कारण विशेषकर लडकियाँ बोझ समझी जाती थी और उन्हे मार डाला जाता था। इस कमी को आवश्यकता होने पर दूसरे समूह पर आक्रमण करके वहाँ की स्त्रियो को पकड लाकर पूरा किया जाता था। इसी से आगे चलकर बहिर्विवाह प्रथा का जन्म हुआ।

उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य कारको का योग होने पर भी जनजातियो मे गोत्र तथा टोटम की धारणाएँ बहिर्विवाह का सबसे प्रमुख कारण हैं। इन धारणाओ और विश्वासो के अनुसार एक गोत्र और टोटम के सभी लोग एक-दूसरे के भाई-बहन हैं, इस कारण उनमे आपस मे विवाह कभी नही हो सकता या होना उचित नही है।

(३) अन्तर्विवाह
(Endogamy)

यह वह नियम है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को अपने समूह के अन्दर ही विवाह करना होता है। यह समूह एक व्यक्ति की अपनी जाति, जनजाति या कभी कभी गोत्र मे भी हो सकता है। भारत की जनजातियो मे जहाँ जनजातीय अन्तर्विवाह साधारणतया होता है, वहाँ गोत्र-अन्तर्विवाह के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। टोडा जनजाति के गोत्र तारथा-रोल और तिवालियल अन्तर्विवाही समूह हैं। उसी प्रकार भील जनजाति के 'उजले भील' और 'मैले भील' भी अन्तर्विवाह के नियम को मानते हैं।

अपरिचित लोगो का भय भारत की जनजातियो मे पाये जाने वाले अन्तर्विवाह के नियमो का सर्वप्रमुख कारण है। इसी भय के कारण भारत की प्राय सभी जनजातियाँ अपनी ही जनजाति मे विवाह करती हैं। पडोसी जनजातियो के जादू-टोने आदि मे हानि पहुँचने का डर भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है। कोरवा जनजाति मे अन्तर्विवाह इसी कारण होता है।

अपनी सामाजिक, सास्कृतिक तथा भाषा-सम्बन्धी विशेषताओ को बनाये रखने की इच्छा भी अन्तर्विवाह को प्रोत्साहित करने मे सहायक सिद्ध होती है। दूसरी बात यह भी है कि इन विशेषताओ के कारण ही जनजातियो मे भिन्नताएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं जिनके कारण वे एक दूसरे से मिल नही पाती। भौगोलिक पृथकता और प्रजातीय भिन्नता भी विभिन्न जनजातियो के बीच एक बहुत बडी खाई की सृष्टि करती है, जो उन्हे मिलने नही देती। फलत अन्तर्विवाह प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक हो जाता है। इसके अतिरिक्त अशिक्षा, कुसस्कार, यातायात के साधनो का अभाव, प्रत्येक जनजाति की आत्मनिर्भर प्रकृति आदि अन्तर्विवाह के सहायक कारण हैं।

अधिमान्य विवाह
(Preferential Mating)

आदिम ससार से एकत्रित तथ्यो से विवाह के सम्बन्ध मे एक सत्य यह प्रगट होता है कि जनजातियो मे ही नही अनेक आधुनिक समाजो मे भी विवाह केवल मात्र एक व्यक्तिगत मामला नही बल्कि एक ऐसा साधन या आधार है जिसके माध्यम से दो परिवारो के बीच एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे एक-दूसरे के साथ एक दृढ बन्धन मे बँध जाते हैं। विवाह के बाद प्रत्येक स्त्री या पुरुष यह पाता है कि विवाह के द्वारा उसे न केवल अपना एक जीवन-साथी ही मिला है बल्कि अन्य अनेक नये रिश्तेदार भी मिल गये हैं जिनके अधिकारो को टाला नही जा सकता। इसीलिये विवाह के बाद एक व्यक्ति को अपनी पत्नी के पिता (ससुर) को पिता जैसा सम्मान देना पडता है। विवाह किसके साथ होगा या किसके साथ नही होगा इस सम्बन्ध मे प्रत्येक समाज मे लिखित या अलिखित कुछ न कुछ नियम होते हैं। जब किसी व्यक्ति को अन्य किसी व्यक्ति से विवाह करने का विशेष अधिकार होता है या उनमे विवाह होना अधिक पसन्द किया जाता है तो उसे अधिमान्य विवाह (preferential marriage) कहते है। इस प्रकार के विवाहो को अधिमान्य विवाह इस कारण कहा जाता है कि विवाह के मामले मे या विवाह-साथी चुनने के सम्बन्ध मे कुछ व्यक्तियो को अन्य व्यक्तियो की तुलना मे अधिमान्यता या प्रमुखता दी जाती है या अधिक पसन्द की जाती है। इस प्रकार के विवाह के चार प्रमुख रूप निम्नवत् हैं —

(१) **ममेरे-फुफेरे भाई-बहनो का विवाह** (Cross-Cousin Marriage)—इस प्रकार के विवाह मे भाई और बहन के बच्चो के बीच विवाह पसन्द किया जाता है। चूँकि विवाह करने वाले दो पक्ष आपस मे ममेरे-फुफेरे भाई-बहन होते हैं, इस कारण इस प्रकार के विवाह को ममेरे-फुफेरे भाई-बहन का विवाह कहा जाता है। भारत मे ऐसी कुछ

जनजातियाँ हैं जिनमे इस प्रकार के विवाह को बहुत पसन्द किया जाता है। उदाहरणार्थ, मणिपुर के पुरुम-कूकियो मे मामा की लडकी के साथ विवाह करना इतना उत्तम समझा जाता है कि सन् १९३६ मे प्रोफेसर तारकचन्द दास द्वारा किये गये अनुसन्धानो के अनुसार इसमे ७५ प्रतिशत विवाह इसी प्रकार के थे। गोड जनजाति मे तो ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनो मे विवाह अनिवार्य है। श्री ग्रिगसन (Grigson) के अनुसार ५४ प्रतिशत गोडो का विवाह इसी प्रकार का होता है। खरिया, ओरॉव, खासी, कादर आदि जनजातियो मे भी इसी प्रकार के विवाह का प्रचलन है। आसाम की मिकीर जनजाति मे भी इस प्रकार की प्रथा प्रचलित है। भीलो मे यह प्रथा बहुत अधिक जनप्रिय है। मध्यभारत की कुछ जनजातियो मे इस प्रकार के विवाह को इतना महत्त्व दिया जाता है कि यदि कोई पक्ष इस प्रकार के विवाह के लिये राजी नही होता है तो उसे दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पडता है। गोडो मे ऐसे विवाह को 'दूध लौटवा' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक गोड 'अ' ने अपनी पत्नी के लिये जो कन्यामूल्य दिया था वह उसके परिवार मे फिर उस समय लौट आता है जब कि 'अ' की लडकी की शादी उस लडकी के माता के भाई (मामा) के लडके से होती है। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि इस प्रकार के विवाह से एक परिवार जिस परिवार से अपने लडके के लिये लडकी लेता है उसे फिर अपनी लडकी दे देता है, और इस प्रकार 'दूध' लौट जाता है।

(२) **चचेरे-मौसेरे भाई-बहनो का विवाह** (Parallel Cousin Marriage)—जब दो भाइयो की सन्तान या दो बहनो की सन्तानें आपस मे विवाह करे तो ऐसे विवाह को क्रमश चचेरे भाई-बहनो का विवाह और मौसेरे भाई-बहनो का विवाह कहते हैं। पहली प्रकार के विवाह मे, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अपने चाचा के लडके या लडकी से विवाह किया जाता है। दूसरी प्रकार के विवाह मे, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अपने मौसा के लडके या लडकी से विवाह किया जाता है। मुसलिम धर्म के आधार पर उपरोक्त दोनो प्रकार के विवाह सम्भव हैं। भारतीय जनजातियो मे चचेरे-मौसेरे भाई-बहनो के विवाह का प्रचलन नही है। अरब की एक खानाबदोश जनजाति बेडोइन (Bedouin) मे इस प्रकार के विवाह प्रचलित हैं। इन लोगो की जीविका-पालन का एक मात्र साधन ऊँट होता है जिन्हे कि वे रेगिस्तानी प्रदेश मे एक स्थान से दूसरे स्थान को लिये फिरते हैं। इन ऊँटो को पालने के लिये और शत्रुओ से इनकी रक्षा करने के लिये बेडोइन लोगो को प्रबल पुरुष-शक्ति की आवश्यकता होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही यह उत्तम समझा जाता है कि एक बेडोइन लडका अपने पिता के भाई (चाचा) की लडकी से विवाह करे जिससे कि उस परिवार या समूह की एकता तथा सगठन अत्यधिक दृढ हो और उनका अस्तित्व बना रहे।

(३) **पति-भ्राता विवाह और (४) पत्नी-भगिनी (साली) विवाह** (Levirate and Sororate)—अधिमान्य विवाह के दो अन्य रूप पति-भ्राता विवाह और साली विवाह हैं। कुछ जनजातियो मे एक स्त्री को यह अधिकार होता है कि अपने पति के मर जाने के बाद वह अपने पति के भाई से विवाह कर सकती है। जब एक विधवा स्त्री अपने पति के भाई से विवाह करती है तब उस विवाह को पति-भ्राता विवाह (Levirate)

कहते हैं । इस विवाह के दो रूप हैं—एक तो देवर विवाह (junior levirate) और दूसरा ज्येष्ठ-विवाह (senior levirate) । पति की मृत्यु के बाद विधवा पत्नी का विवाह यदि उस मृत पति के छोटे भाई अर्थात् उस स्त्री के देवर से होता है तो उसे देवर-विवाह कहते है, परन्तु यही विवाह यदि पति के बडे भाई या जेठ से हो तो उसे ज्येष्ठ-विवाह कहा जाता है। इस प्रकार के विवाहो की अनुमति भारत की प्राय सभी जन-जातियो मे है। पति-भ्राता विवाह का एक सम्भावित स्वरूप यह भी हो सकता है कि बडा भाई जिस स्त्री को विवाह करके लाता है वह आप से आप ही अपने अन्य देवर या देवरो की पत्नी हो जाती है, जैसे टोडा जनजाति मे होता है। देवर शब्द का अर्थ भी इसी बात का द्योतक होता है क्योकि 'देवर' का अर्थ है—'देवर कस्मात् द्वितीय वरोभवतीति' अर्थात् देवर उसे कहते है जो दूसरा वर हो । अनेक जनजातियो मे इस प्रकार के विवाह मे विधवा पर कोई अनिवार्यता (compulsion) न लाद कर उसकी इच्छा पर छोड दिया जाता है अर्थात् विधवा के लिए यह अनिवार्य नही होता कि वह अपने देवर से विवाह करे ही । ऐसी जनजातियो मे थारू जनजाति का नाम उल्लेखनीय है। भीलो मे भी पति-भ्राता विवाह का प्रचलन है ।

पत्नी-भगिनी या साली विवाह उस विवाह प्रथा को कहते हैं जिसके अनुसार पुरुष अपनी पत्नी की बहन या बहनो के साथ विवाह कर सकता है या अन्य स्त्रियो की तुलना मे अपनी साली से ही विवाह करना अधिक पसन्द करता है। यह दो प्रकार का होता है—एक तो सीमित साली विवाह (restricted sororate) और दूसरे समकालीन साली विवाह (simultaneous sororate) । सीमित साली विवाह वह विवाह है जिसमे पत्नी की मृत्यु के बाद ही साली से विवाह किया जा सकता है। भील जनजाति मे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन है । समकालीन साली विवाह मे पुरुष एक परिवार की सबसे बडी बहन के साथ विवाह करता है और उस स्त्री की अन्य सारी बहनें आप-से-आप उस पुरुष की पत्नियाँ बन जाती है । डा० दुबे का मत है कि पत्नी-भगिनी विवाह का कोई एक निश्चित अर्थ नही है । यह शब्द प्राय तीन अर्थों मे प्रयुक्त होता आया है—(१) एक व्यक्ति का अपनी युवा होने वाली सालियो से विवाह करने का प्राथमिक अधिकार, (२) व्यक्ति का अपनी पत्नी से सन्तुष्ट न होने पर पत्नी की बहन से विवाह करने का अधिकार, और (३) प्रथम पत्नी की मृत्यु पर उसकी बहन से विवाह करने का अधिकार ।

पति-भ्राता विवाह और पत्नी-भगिनी विवाह के निम्न कारण है :—

(क) साली विवाह मुख्य रूप से उन जनजातियो मे पाया जाता है जिनमे वधू-मूल्य प्रथा है । ऐसे समाजो मे स्त्री की मृत्यु हो जाने पर उसके पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मृत पत्नी की छोटी बहन को दामाद के घर दूसरी पत्नी के रूप मे भेज दे, या कन्या-मूल्य वापस कर दे । वधू-मूल्य वापस करने की अपेक्षा अपनी दूसरी लडकी को दामाद को सौप देना अधिकतर माता-पिता को सरल प्रतीत होता है जिसके फलस्वरूप साली विवाह का प्रचलन होता है । कुछ जनजातियो मे वधू-मूल्य (bride price) पत्नी के लिए नही, वरन् उससे उत्पन्न होने वाली सन्तानो के लिया दिये जाते है। ऐसे समाजो मे जब प्रथम स्त्री की कोई भी सन्तान होने की सम्भावना नही रहती, तब उस स्त्री के

जनजातियाँ हैं जिनमे इस प्रकार के विवाह को बहुत पसन्द किया जाता है। उदाहरणार्थ, मणिपुर के पुरुम-कूकियो मे मामा की लडकी के साथ विवाह करना इतना उत्तम समझा जाता है कि सन् १९३६ मे प्रोफेसर तारकचन्द दास द्वारा किये गये अनुसन्धानो के अनुसार इसमे ७५ प्रतिशत विवाह इसी प्रकार के थे। गोड जनजाति मे तो ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनो मे विवाह अनिवार्य है। श्री ग्रिगसन (Grigson) के अनुसार ५४ प्रतिशत गोडो का विवाह इसी प्रकार का होता है। खरिया, ओरॉंव, खासी, कादर आदि जनजातियो मे भी इसी प्रकार के विवाह का प्रचलन है। आसाम की मिकीर जनजाति मे भी इस प्रकार की प्रथा प्रचलित है। भीलो मे यह प्रथा बहुत अधिक जनप्रिय है। मध्यभारत की कुछ जनजातियो मे इस प्रकार के विवाह को इतना महत्त्व दिया जाता है कि यदि कोई पक्ष इस प्रकार के विवाह के लिये राजी नही होता है तो उसे दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पडता है। गोडो मे ऐसे विवाह को 'दूध लौटवा' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक गोड 'अ' ने अपनी पत्नी के लिये जो कन्यामूल्य दिया था वह उसके परिवार मे फिर उस समय लौट आता है जब कि 'अ' की लडकी की शादी उस लडकी के माता के भाई (मामा) के लडके से होती है। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि इस प्रकार के विवाह से एक परिवार जिस परिवार से अपने लडके के लिये लडकी लेता है उसे फिर अपनी लडकी दे देता है, और इस प्रकार 'दूध' लौट जाता है।

(२) **चचेरे-मौसेरे भाई-बहनों का विवाह** (Parallel Cousin Marriage)—जब दो भाइयो की सन्तान या दो बहनो की सन्तानें आपस मे विवाह करें तो ऐसे विवाह को क्रमश चचेरे भाई-बहनो का विवाह और मौसेरे भाई-बहनो का विवाह कहते हैं। पहली प्रकार के विवाह मे, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अपने चाचा के लडके या लडकी से विवाह किया जाता है। दूसरी प्रकार के विवाह मे, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अपने मौसा के लडके या लडकी से विवाह किया जाता है। मुसलिम धर्म के आधार पर उपरोक्त दोनो प्रकार के विवाह सम्भव है। भारतीय जनजातियो मे चचेरे-मौसेरे भाई-बहनो के विवाह का प्रचलन नही है। अरब की एक खानाबदोश जनजाति बेडोइन (Bedouin) मे इस प्रकार के विवाह प्रचलित है। इन लोगो की जीविका-पालन का एक मात्र साधन ऊँट होता है जिन्हे कि वे रेगिस्तानी प्रदेश मे एक स्थान से दूसरे स्थान को लिये फिरते हैं। इन ऊँटो को पालने के लिये और शत्रुओ से इनकी रक्षा करने के लिये बेडोइन लोगो को प्रबल पुरुष-शक्ति की आवश्यकता होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही यह उत्तम समझा जाता है कि एक बेडोइन लडका अपने पिता के भाई (चाचा) की लडकी से विवाह करे जिससे कि उस परिवार या समूह की एकता तथा सगठन अत्यधिक दृढ हो और उनका अस्तित्व बना रहे।

(३) **पति-भ्राता विवाह और** (४) **पत्नी-भगिनी (साली) विवाह** (Levirate and Sororate)—अधिमान्य विवाह के दो अन्य रूप पति-भ्राता विवाह और साली विवाह हैं। कुछ जनजातियो मे एक स्त्री को यह अधिकार होता है कि अपने पति के मर जाने के बाद वह अपने पति के भाई से विवाह कर सकती है। जब एक विधवा स्त्री अपने पति के भाई से विवाह करती है तब उस विवाह को पति-भ्राता विवाह (Levirate)

कहते हैं । इस विवाह के दो रूप हैं—एक तो देवर विवाह (junior levirate) और दूसरा ज्येष्ठ-विवाह (senior levirate) । पति की मृत्यु के बाद विधवा पत्नी का विवाह यदि उस मृत पति के छोटे भाई अर्थात् उस स्त्री के देवर से होता है तो उसे देवर-विवाह कहते हैं, परन्तु यही विवाह यदि पति के बडे भाई या जेठ से हो तो उसे ज्येष्ठ-विवाह कहा जाता है। इस प्रकार के विवाहो की अनुमति भारत की प्राय सभी जन-जातियो मे है। पति-भ्राता विवाह का एक सम्भावित स्वरूप यह भी हो सकता है कि बडा भाई जिस स्त्री को विवाह करके लाता है वह आप से आप ही अपने अन्य देवर या देवरो की पत्नी हो जाती है, जैसे टोडा जनजाति मे होता है। देवर शब्द का अर्थ भी इसी बात का द्योतक होता है क्योकि 'देवर' का अर्थ है—'देवर कस्मात् द्वितीय वरोभवतीति' अर्थात् देवर उसे कहते है जो दूसरा वर हो। अनेक जनजातियो मे इस प्रकार के विवाह मे विधवा पर कोई अनिवार्यता (compulsion) न लाद कर उसकी इच्छा पर छोड दिया जाता है अर्थात् विधवा के लिए यह अनिवार्य नही होता कि वह अपने देवर से विवाह करे ही। ऐसी जनजातियो मे थारू जनजाति का नाम उल्लेखनीय है। भीलो मे भी पति-भ्राता विवाह का प्रचलन है।

पत्नी-भगिनी या साली विवाह उस विवाह प्रथा को कहते है जिसके अनुसार पुरुष अपनी पत्नी की बहन या बहनो के साथ विवाह कर सकता है या अन्य स्त्रियो की तुलना मे अपनी साली से ही विवाह करना अधिक पसन्द करता है। यह दो प्रकार का होता है—एक तो सीमित साली विवाह (restricted sororate) और दूसरे समकालीन साली विवाह (simultaneous sororate)। सीमित साली विवाह वह विवाह है जिसमे पत्नी की मृत्यु के बाद ही साली से विवाह किया जा सकता है। भील जनजाति मे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन है। समकालीन साली विवाह मे पुरुष एक परिवार की सबसे बडी बहन के साथ विवाह करता है और उस स्त्री की अन्य सारी बहनें आप-से-आप उस पुरुष की पत्नियाँ बन जाती हैं। डा० दुबे का मत है कि पत्नी-भगिनी विवाह का कोई एक निश्चित अर्थ नही है। यह शब्द प्राय तीन अर्थों मे प्रयुक्त होता आया है—(१) एक व्यक्ति का अपनी युवा होने वाली सालियो से विवाह करने का प्राथमिक अधिकार, (२) व्यक्ति का अपनी पत्नी से सन्तुष्ट न होने पर पत्नी की बहन से विवाह करने का अधिकार, और (३) प्रथम पत्नी की मृत्यु पर उसकी बहन से विवाह करने का अधिकार।

पति-भ्राता विवाह और पत्नी-भगिनी विवाह के निम्न कारण हैं :—

(क) साली विवाह मुख्य रूप से उन जनजातियो मे पाया जाता है जिनमे वधू-मूल्य प्रथा है। ऐसे समाजो मे स्त्री की मृत्यु हो जाने पर उसके पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मृत पत्नी की छोटी बहन को दामाद के घर दूसरी पत्नी के रूप मे भेज दे, या कन्या-मूल्य वापस कर दे। वधू-मूल्य वापस करने की अपेक्षा अपनी दूसरी लडकी को दामाद को सौंप देना अधिकतर माता-पिता को सरल प्रतीत होता है जिसके फलस्वरूप साली विवाह का प्रचलन होता है। कुछ जनजातियो मे वधू-मूल्य (bride price) पत्नी के लिए नही, वरन् उससे उत्पन्न होने वाली सन्तानो के लिया दिये जाते है। ऐसे समाजो मे जब प्रथम स्त्री की कोई भी सन्तान होने की सम्भावना नही रहती, तब उस स्त्री के

माता-पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे दामाद के उस नुकसान को अपनी एक लड़की और भेजकर पूरा करें। ऐसा करने का अर्थ ही साली विवाह होता है।

(ख) श्री लोई (Lowie) का मत है कि अत्यधिक वधू-मूल्य और स्त्रियो की कमी पति-भ्राता विवाह प्रथा का एक बहुत प्रमुख कारण है। आदिम समाजो मे आर्थिक दशा अत्यधिक गिरी होने के कारण प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक् रूप से विवाह करना सम्भव नही होता और स्त्रियो की कमी इस असम्भवता को और भी असम्भव कर देती है।

(ग) इस सम्बन्ध मे एक कारण यह भी बताया जाता है कि विशेष सामाजिक प्रथा के आधार पर ही ऐसे विवाहो का प्रचलन हो सकता है। जहाँ स्त्रियो को विवाह के लिए क्रय किया जाता है, जैसे काई जनजाति मे, वहाँ विधवा स्त्री आप-से-आप या स्वाभावत ही पति के भाइयो की सम्पत्ति हो जाती है।

(घ) श्री टायलर (Tylor) ने उक्त विवाहो के एक सामान्य कारण का उल्लेख किया है। आपके मतानुसार ऐसे विवाह दो परिवारो के आपसी कर्त्तव्य-बोध के कारण ही पनपते हैं क्योकि अधिकतर जनजातियो मे विवाह दो व्यक्तियो का व्यक्तिगत सम्बन्ध न होकर दो परिवारो का पारिवारिक सम्बन्ध है और इसी कारण साली, देवर या ज्येष्ठ-विवाह द्वारा एक परिवार दूसरे परिवार के नुकसान को पूरा करने का प्रयत्न करता है। जैसे, यदि एक स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती है तो उस परिवार का, जिसकी कि वह वधू है, यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उस स्त्री के जीवन मे उसके पति की खाली जगह को एक दूसरे पति से भर दे। इस कर्त्तव्य बोध के फलस्वरूप ही देवर या ज्येष्ठ-विवाह का प्रचलन हुआ। उसी प्रकार जब अपने कर्त्तव्य-बोध से प्रेरित होकर एक परिवार अपने दामाद की प्रथम पत्नी की मृत्यु हो जाने पर उसके उस नुकसान को पूरा करने के लिये उसको दूसरी पत्नी देने का प्रबन्ध करता है, तब परिणाम साली-विवाह का प्रचलन ही होता है।

श्री टायलर के उपरोक्त विचार के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साली विवाह और पति-भ्राता विवाह दोनो ही एक साथ एक समाज मे पाये जा सकते हैं। श्री फ्रेजर (Frazer) ने भी इन दो प्रकार के विवाहो के पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध के बारे मे अनेक आँकडे दुनिया के विभिन्न भागो से एकत्रित किये हैं। आपके अनुसार कुछ अपवाद होते हुए भी ये दोनो सस्थाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और इन दोनो का एक ही समाज मे एक साथ पाया जाना स्वाभाविक है।

अन्य विशेष प्रकार के विवाह
(Other Special Type of Marriages)

उपरोक्त चार प्रकार के अधिमान्य विवाहो के अतिरिक्त जनजातीय समाजो मे कुछ दूसरे विशेष प्रकार के विवाहो का भी प्रचलन देखने को मिलता है। कुछ जनजातियो मे विधवा और विधुर आपस मे विवाह तय कर लेते है। सथाल जनजाति मे ऐसा होता है। गारो जनजाति मे पत्नी के पिता की मृत्यु होने पर यह आवश्यक है कि पत्नी की माता का पुर्नविवाह दामाद के साथ ही किया जाय। दूसरे शब्दो मे, इस जनजाति में

दामाद को अपनी विधवा सास से विवाह करना पडता है, वरना सास किसी अन्य व्यक्ति से विवाह कर सकती है और उस स्थिति मे दामाद का सम्पत्ति मे अधिकार छिन जाता है। गोड जनजाति मे बाबा और पौत्री मे प्राय विवाह हो जाता है। श्री पेरी के अनुसार लुशाई पर्वत पर रहने वाली लाखेर जनजाति मे विधवा सौतेली माँ और लडके मे विवाह होता है। इसी जनजाति मे पिता और लडके की विधवा स्त्री मे शादी हो जाती है। उसी प्रकार सेमा नागा लोगो मे भी यह नियम है कि पिता की मृत्यु के बाद अपनी सगी माँ को छोडकर पिता की अन्य विधवाओ से लडके को शादी करनी पडती है। इसका कारण यह है कि पिता की मृत्यु के बाद सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी विधवा या विधवाएँ होती हैं और अगर लडका उस सम्पत्ति को पाना चाहता है तो उसके लिए एक मात्र रास्ता यही है कि वह उन विधवाओ से (अपनी सगी माँ को छोडकर) विवाह कर ले। इस प्रकार सेमा नागा मे स्त्रियाँ एक प्रकार की सम्पत्ति होती है जो कि उत्तराधिकार के रूप मे पिता से पुत्र को प्राप्त हो जाती है। उत्तरी नाइगेरिया की पैलविक तथा बूरा जनजातियो मे एक व्यक्ति को अपने दादा (grand father) की पत्नियाँ उत्तराधिकार के रूप मे मिल जाती हैं।

विवाह के भेद
(Forms of Marriage)

विवाह के दो मुख्य भेद होते हैं—(१) एक-विवाह (Monogamy), और (२) बहु-विवाह (Polygamy)। बहु-विवाह के तीन उपभेद होते हैं—(क) बहुपत्नी-विवाह (Polygyny), (ख) बहुपति-विवाह (Polyandry), और (ग) समूह-विवाह (Group Marriage)।

एक विवाह
(Monogamy)

एक-विवाह तब कहा जाता है जब एक पुरुष केवल एक स्त्री से ही विवाह करता है और उस स्त्री के जीवनकाल मे वह दूसरी स्त्री से विवाह नही करता है। श्री वुकेनाविक (Vukenovic) ने यह मत व्यक्त किया है कि वास्तव मे उसी विवाह को एक विवाह कहना उचित होगा जिसमे न केवल एक व्यक्ति की एक ही पत्नी या पति हो, बल्कि इनमे से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष (विधुर या विधवा) दूसरा विवाह न करे। परन्तु सामान्यत एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरे किसी से विवाह न करना ही एक-विवाह माना जाता है। जिन समाजो के सामान्य रूप से स्त्रियो और पुरुषो का अनुपात बराबर है, वहाँ प्राय एक विवाह प्रथा पायी जाती है। परन्तु यह कोई निश्चित या अन्तिम नियम भी नही है। एक-विवाह सभ्यता की एक उत्तम पराकाष्ठा है और इसीलिये आधुनिक समाज मे इस प्रकार का विवाह सर्वस्वीकृत प्रतिमान के रूप मे प्रतिष्ठित होता जा रहा है। भारतीय जनजातियो मे एक-विवाह के प्रचलन का एक प्रमुख कारण उनका आधुनिक सभ्य समाज के सम्पर्क मे आना है। एक-विवाह आसाम की खासी,

बिहार की सथाल और केरल की कादर जनजातियो मे पाया जाता है। हो जनजाति मे अत्यधिक कन्या-मूल्य (bride price) के कारण वहाँ एक पुरुष के लिये एक से अधिक स्त्रियो से विवाह करना असम्भव है, इस कारण वे भी एक प्रकार से एक-विवाही हैं।

बहुपत्नी-विवाह
(Polygyny)

एक पुरुष का अनेक स्त्रियो से विवाह बहुपत्नी-विवाह है। आर्थिक कठिनाइयो के कारण सामान्य रूप से बहुपत्नी-विवाह भारत की जनजातियो मे नही किया जाता है। जनजातियो मे धनी व्यक्ति अधिकतर बहुपत्नी-विवाह करते हैं। नागा, गोड, बैगा, टोडा तथा मध्य भारत की कुछ जनजातियो मे बहुपत्नी-प्रथा पाई जाती है।

समाज मे पुरुषो की सख्या कम होना बहुपत्नी-विवाह का एक साधारण कारण बताया जाता है, परन्तु आज अधिकतर मानवशास्त्री इससे सहमत नही हैं। बहुपत्नी-विवाह का मुख्य कारण आर्थिक है। पहाडी और पठारी भागो मे जीविका-पालन के हेतु जनजातीय लोगो को कठोर परिश्रम करना पडता है और अनेक व्यक्तियो की आवश्यकता होती है। इस कारण बहुपत्नी-विवाह कर लिया जाता है क्योकि इसके द्वारा एक परिवार को पत्नियो के रूप मे खूब काम करने वाले विश्वस्त श्रमिक मिल जाते हैं। आसाम की जनजातियो के नेता बहुपत्नी-विवाह करते हैं क्योकि उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है और वे एकाधिक स्त्रियो का पालन कर सकते हैं। स्त्री की अपनी इच्छा भी इस विषय मे एक कारण हो सकती है। एक जनजातीय स्त्री स्वय भी यह चाहती है कि वहाँ के कठिन आर्थिक जीवन मे उसके कार्यों मे मदद करने के लिये अधिक सख्या मे सहायक स्त्रियाँ हो।

बहुपत्नी-विवाह से प्रमुख लाभ यह होता है कि बच्चो की देख-रेख अनेक स्त्रियाँ मिलकर अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। कामी पुरुषो को परिवार मे ही अनेक स्त्रियाँ मिल जाती हैं, इस कारण यौन-सम्बन्धी व्यभिचार नही फैल पाता है। इस प्रकार के विवाह से सन्तानें अच्छी होती हैं क्योकि अधिकतर शक्तिशाली और धनवान व्यक्ति ही बहुपत्नी-विवाह करते हैं।

इसके विपरीत बहुपत्नी-विवाह से कुछ हानियाँ भी है। इस प्रकार के विवाह से परिवार पर आर्थिक बोझ बहुत ज्यादा बढ जाता है। साथ ही, परिवार मे अधिक स्त्रियो का अर्थ ही यह है कि परिवार का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष और लडाई-झगडे से कलुषित होगा। इसके अतिरिक्त बहुपत्नी-विवाह स्त्रियो की स्थिति को अत्यधिक गिरा देता है।

युगैण्डा (पूर्वी अफ्रीका) मे रहनेवाली बगण्डा (Baganda) नामक जनजाति मे बहुपत्नी-विवाह का बडा रोचक रूप देखने को मिलता है। यह जनजाति विशेष रूप से पशुपालक है। इसकी राजनैतिक व्यवस्था मे एक निरकुश शासक, राजा होता है जो कि शासन प्रबन्ध मे सहायता करने के लिये काफी सख्या मे प्रधानो (chiefs) तथा उप-प्रधानो (sub-chiefs) को स्वय नियुक्त करता है। चूँकि वह राजा अपने राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी, निरकुश शासक तथा सबसे अधिक धनी व्यक्ति है, इस कारण वह

सैकडो स्त्रियो से विवाह करने का अधिकार रखता है। प्रधान या उपप्रधान अपने-अपने धन तथा राजनैतिक स्थिति (status) के अनुसार दस या अधिक पत्नियाँ रख सकते है। कृषक, कारीगर, निम्न स्तर के कर्मचारी-वर्ग तथा अन्य साधारण जनता कठोर परिश्रम करते हुए यह प्रयत्न करते है कि उन्हे कम से कम दो पत्नियाँ मिल जाएँ ताकि उनकी सामाजिक मान-मर्यादा बनी रहे। कठोर परिश्रम वे इसलिये करते है कि वे इस योग्य हो जाएँ या इतना धन कमा ले कि एकाधिक स्त्रियो का भरण-पोषण कर सकें। जो इस प्रयत्न मे अधिक सफल होते है वे तीन या चार पत्नियाँ भी पा लेते हैं। परन्तु बेचारे गरीब कृषको को केवल एक पत्नी ही मिल पाती है, विशेषकर इसलिये कि दूसरी स्त्री से विवाह करने के लिये जो पर्याप्त मात्रा मे वधू-मूल्य (bride price) चुकाना पडता है वह वे इकट्ठा नही कर पाते है। यद्यपि निश्चित आँकडे प्राप्त नही है फिर भी यह अनुमान लगाया जाता है कि बगण्डा जनजाति दुनिया की उन थोडी सी जनजातियो मे एक है जिसमे कि बहुपत्नी प्रथा बहुत ही व्यापक रूप मे पायी जाती है। इस जनजाति के अधिकतर लोग एक से अधिक स्त्रियो मे विवाह करते हैं और इन स्त्रियो की सख्या आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के ऊँचा होने के साथ-साथ बढती चली जाती है। जिसके पास जितना अधिक धन होता है और जो जितने ऊँचे राजनैतिक पद पर आसीन होता है, वह उतनी ही अधिक सख्या मे स्त्रियो से विवाह करता है।[5]

उपरोक्त बगण्डा समाज मे पति को अपनी प्रत्येक पत्नी के लिये एक पृथक् घर की व्यवस्था करनी पडती है। पत्नियाँ बारी-बारी से पति के घर पर आकर रहती है और पति के लिये खाना पकाती तथा अन्य रूप से उसकी सेवा करती है। एक पत्नी अपने पति के घर तब जाती है जब पति उसे बुलाता है और यह पति की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह कब, किस पत्नी को अपने साथ रहन के लिये बुलायेगा। सामान्यत प्रथम पत्नी की स्थिति अन्य पत्नियो की तुलना से ऊँची होती है और प्राय सभी विषयो मे उसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते है, विशेषकर धार्मिक और जादू-टोना-सम्बन्धी सभी विषय उसके हाथ मे होते हैं। दूसरी पत्नी के भी कुछ विशिष्ट कर्त्तव्य होते हैं। अन्य पत्नियो की स्थिति (status) सामान्य होती है।[6]

बगण्डा समाज मे बहुपत्नी-विवाह-प्रथा का प्रमुख कारण लडको की मृत्यु-दर अत्यधिक होना है। प्रधानो के परिवारो (chiefly families) मे लडको को जन्म लेते ही मार डाला जाता है। राज-परिवार मे जो राजकुमार राजसिंहासन का उत्तराधिकारी होगा उसे छोडकर अन्य राजकुमारो को मार डाला जाता है। राजा उन पुरुष-नौकरो आदि को मौत की सजा देता है जिनसे कि वह नाराज हो जाता है। साथ ही, आस-पास की शत्रु जनजाति से बगण्डा लोगो का प्रत्येक वर्ष कोई न कोई युद्ध अवश्य ही होता रहता है जिसमे काफी सख्या मे पुरुष-बगण्डा मर जाते है। इन सब के परिणामस्वरूप पुरुषो की सख्या स्त्रियो से बहुत कम हो जाती है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो

---

5 Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co, New York, 1959, p 487

6 *Ibid*, pp 487-488

बिहार की सथाल और केरल की कादर जनजातियो मे पाया जाता है। हो जनजाति मे अत्यधिक कन्या-मूल्य (bride price) के कारण वहाँ एक पुरुष के लिये एक से अधिक स्त्रियो से विवाह करना असम्भव है, इस कारण वे भी एक प्रकार से एक-विवाही हैं।

बहुपत्नी-विवाह
(Polygyny)

एक पुरुष का अनेक स्त्रियो से विवाह बहुपत्नी-विवाह है। आर्थिक कठिनाइयो के कारण सामान्य रूप से बहुपत्नी-विवाह भारत की जनजातियो मे नही किया जाता है। जनजातियो मे धनी व्यक्ति अधिकतर बहुपत्नी-विवाह करते हैं। नागा, गोंड, बैगा, टोडा तथा मध्य भारत की कुछ जनजातियो मे बहुपत्नी-प्रथा पाई जाती है।

समाज मे पुरुषो की सख्या कम होना बहुपत्नी-विवाह का एक साधारण कारण बताया जाता है, परन्तु आज अधिकतर मानवशास्त्री इससे सहमत नही है। बहुपत्नी-विवाह का मुख्य कारण आर्थिक है। पहाडी और पठारी भागो मे जीविका-पालन के हेतु जनजातीय लोगो को कठोर परिश्रम करना पडता है और अनेक व्यक्तियो की आवश्यकता होती है। इस कारण बहुपत्नी-विवाह कर लिया जाता है क्योकि इसके द्वारा एक परिवार को पत्नियो के रूप मे खूब काम करने वाले विश्वस्त श्रमिक मिल जाते हैं। आसाम की जनजातियो के नेता बहुपत्नी-विवाह करते हैं क्योकि उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है और वे एकाधिक स्त्रियो का पालन कर सकते हैं। स्त्री की अपनी इच्छा भी इस विषय मे एक कारण हो सकती है। एक जनजातीय स्त्री स्वय भी यह चाहती है कि वहाँ के कठिन आर्थिक जीवन मे उसके कार्यों मे मदद करने के लिये अधिक सख्या मे सहायक स्त्रियाँ हो।

बहुपत्नी-विवाह से प्रमुख लाभ यह होता है कि बच्चो की देख-रेख अनेक स्त्रियाँ मिलकर अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। कामी पुरुषो को परिवार मे ही अनेक स्त्रियाँ मिल जाती हैं, इस कारण यौन-सम्बन्धी व्यभिचार नही फैल पाता है। इस प्रकार के विवाह से सन्तानें अच्छी होती हैं क्योकि अधिकतर शक्तिशाली और धनवान व्यक्ति ही बहुपत्नी-विवाह करते हैं।

इसके विपरीत बहुपत्नी-विवाह से कुछ हानियाँ भी है। इस प्रकार के विवाह से परिवार पर आर्थिक बोझ बहुत ज्यादा बढ जाता है। साथ ही, परिवार मे अधिक स्त्रियो का अर्थ ही यह है कि परिवार का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष और लडाई-झगडे से कलुषित होगा। इसके अतिरिक्त बहुपत्नी-विवाह स्त्रियो की स्थिति को अत्यधिक गिरा देता है।

युगैण्डा (पूर्वी अफ्रीका) मे रहनेवाली बगण्डा (Baganda) नामक जनजाति मे बहुपत्नी-विवाह का बडा रोचक रूप देखने को मिलता है। यह जनजाति विशेष रूप से पशुपालक है। इसकी राजनैतिक व्यवस्था मे एक निरकुश शासक, राजा होता है जो कि शासन प्रबन्ध मे सहायता करने के लिये काफी सख्या मे प्रधानो (chiefs) तथा उप-प्रधानो (sub-chiefs) को स्वय नियुक्त करता है। चूँकि वह राजा अपने राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी, निरकुश शासक तथा सबसे अधिक धनी व्यक्ति है, इस कारण वह

सैकडो स्त्रियो से विवाह करने का अधिकार रखता है। प्रधान या उपप्रधान अपने-अपने धन तथा राजनैतिक स्थिति (status) के अनुसार दस या अधिक पत्नियाँ रख सकते है। कृषक, कारीगर, निम्न स्तर के कर्मचारी-वग तथा अन्य साधारण जनता कठोर परिश्रम करते हुए यह प्रयत्न करते है कि उन्हे कम से कम दो पत्नियाँ मिल जाएँ ताकि उनकी सामाजिक मान-मर्यादा बनी रहे। कठोर परिश्रम वे इसलिये करते हैं कि वे इस योग्य हो जाएँ या इतना धन कमा ले कि एकाधिक स्त्रियो का भरण-पोषण कर सकें। जो इस प्रयत्न मे अधिक मफल होते है वे तीन या चार पत्नियाँ भी पा लेते है। परन्तु बेचारे गरीब कृषको को केवल एक पत्नी ही मिल पाती है, विशेपकर इसलिये कि दूसरी स्त्री से विवाह करने के लिये जो पर्याप्त मात्रा मे वधू-मूल्य (bride price) चुकाना पडता है वह वे इकट्ठा नही कर पाते हैं। यद्यपि निश्चित आँकडे प्राप्त नही है फिर भी यह अनुमान लगाया जाता है कि बगण्डा जनजाति दुनिया की उन थोडी सी जनजातियो मे एक है जिसमें कि बहुपत्नी प्रथा बहुत ही व्यापक रूप मे पायी जाती है। इस जनजाति के अधिकतर लोग एक से अधिक स्त्रियो मे विवाह करते है और इन स्त्रियो की सख्या आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के ऊँचा होने के साथ-साथ बढती चली जाती है। जिसके पास जितना अधिक धन होता है और जो जितने ऊँचे राजनैतिक पद पर आसीन होता है, वह उतनी ही अधिक सख्या मे स्त्रियो से विवाह करता है।[5]

उपरोक्त बगण्डा समाज मे पति को अपनी प्रत्येक पत्नी के लिये एक पृथक् घर की व्यवस्था करनी पडती है। पत्नियाँ बारी-बारी से पति के घर पर आकर रहती है और पति के लिये खाना पकाती तथा अन्य रूप से उसकी सेवा करती है। एक पत्नी अपने पति के घर तब जाती है जब पति उसे बुलाता है और यह पति की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह कब, किस पत्नी को अपने साथ रहने के लिये बुलायेगा। सामान्यत प्रथम पत्नी की स्थिति अन्य पत्नियो की तुलना से ऊँची होती है और प्राय सभी विषयो मे उसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, विशेषकर धार्मिक और जादू-टोना-सम्बन्धी सभी विषय उसके हाथ मे होते हैं। दूसरी पत्नी के भी कुछ विशिष्ट कर्त्तव्य होते है। अन्य पत्नियो की स्थिति (status) सामान्य होती है।[6]

बगण्डा समाज मे बहुपत्नी-विवाह-प्रथा का प्रमुख कारण लडको की मृत्यु-दर अत्यधिक होना है। प्रधानो के परिवारो (chiefly families) मे लडको को जन्म लेते ही मार डाला जाता है। राज-परिवार मे जो राजकुमार राजसिंहासन का उत्तराधिकारी होगा उसे छोडकर अन्य राजकुमारो को मार डाला जाता है। राजा उन पुरुष-नौकरो आदि को मौत की सजा देता है जिनसे कि वह नाराज हो जाता है। साथ ही, आस-पास की शत्रु जनजाति से बगण्डा लोगो का प्रत्येक वर्ष कोई न कोई युद्ध अवश्य ही होता रहता है जिसमे काफी सख्या मे पुरुष-बगण्डा मर जाते हैं। इन सब के परिणामस्वरूप पुरुपो की सख्या स्त्रियो से बहुत कम हो जाती है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो

5 Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co, New York, 1959, p 487

6 *Ibid*, pp 487 488

की सख्या अधिक होने का एक कारण यह भी है कि युद्ध मे विजय पाने पर हारे हुए पक्ष से बगण्डा लोग नजराना या भेंट के तौर पर अनेक स्त्रियो को प्राप्त करके अपने यहाँ ले आते हैं। फलत बगण्डा समाज मे स्त्रियो की सख्या पुरुषो से तीन गुना ज्यादा है। इसका स्वाभाविक परिणाम बहुपत्नी-विवाह का प्रचलन ही है।[7]

बहुपति-विवाह
(Polyandry)

बहुपति-विवाह वह विवाह है जिसमे एक पत्नी के साथ दो या अधिक पुरुषो का विवाह होता है। केवल भारतवर्ष मे ही नही, दुनिया की अन्य सभी जनजातियो मे भी बहुपति-विवाह का प्रचलन बहुपत्नी-प्रथा से कही कम है। श्री लोई (Lowie) का कथन है कि उन समाजो को, जहाँ कि बहुपति-विवाह वास्तव मे पाया जाता है, केवल एक हाथ की पाँच उँगलियो मे गिना जा सकता है। इस प्रकार का विवाह कुछ एस्किमो समुदायो मे तथा पूर्व अफ्रीका की *बहिमा या बाहुमा (Wahuma)* जनजाति मे प्रचलित है। इन जनजातियो मे बहुपति-विवाह के प्रचलन का मुख्य कारण आर्थिक है। उदाहरणार्थ, यदि कोई बाहुमा इतना गरीब है कि वह आवश्यक वधू-मूल्य चुकाकर अकेले एक स्त्री से विवाह नही कर सकता, तो उसे इस काम मे उसके दूसरे सब भाई सहायता करते हैं और सब भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं। उस स्त्री पर उन सब भाइयो का वैवाहिक अधिकार तब तक रहता है जब तक वह स्त्री गर्भवती न हो जाय। उसके गर्भवती होने के बाद से उसपर केवल उसी भाई का एकाधिकार हो जाता है जिसकी सहायता अन्य भाइयो ने की थी।[8] इस प्रकार बाहुमा जनजाति मे बहुपति-विवाह अपने एक अनोखे रूप मे हमे देखने को मिलता है। ऐस्कीमो लोगो मे भी आर्थिक अवस्था अत्यधिक खराब होने के कारण बहुपति-विवाह का प्रचलन स्वाभाविक हो जाता है। ऐस्कीमो समाज मे जीवित रहने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अत्यधिक सघर्ष करना पडता है और इस काम मे लडकियाँ सबसे ज्यादा अयोग्य होती हैं। इस कारण इस समाज मे लडकियाँ एक प्रकार का बोझ बन जाती है और उनको जन्म लेते ही मार डाला जाता है। इसके फलस्वरूप इस समाज मे स्त्रियो की सख्या कम हो जाती है और बहुपति-विवाह का प्रचलन होता है।

श्री मीक (Meek) ने उत्तरी नाइगेरिया (Nigeria) मे रहने वाले ग्वारी (Gwari) लोगो मे पाये जाने वाले बहुपति-विवाह के सम्बन्ध मे लिखा है कि वहाँ एक स्त्री के कई पति और परिवार विभिन्न शहरो मे होते हैं और वह स्त्री अपनी इच्छानुसार कभी एक पति के पास तो कभी दूसरे पति के पास जाकर रहती है। बच्चो पर अधिकार प्रथम पति का नही बल्कि वास्तविक पिता का होता है।[9]

इस सन्दर्भ मे बहुपति-विवाह की कुछ प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख किया जा

---

7. *Ibid*, p 488
8 Robert H. Lowie, *Primitive Society,* Routledge & Kegan Paul Ltd, London, 1953, P 43
9 C K Meek, *The Northern Tribes of Nigeria,* Vol I, p 198

सकता है। बहुपति-विवाह में एक स्त्री एक से अधिक पतियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करती है। ये एकाधिक पति आपस में भाई-भाई हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, कभी-कभी भाइयों के अतिरिक्त एक समूह के अन्य व्यक्ति भी मिलकर इस प्रकार का विवाह कर लेते हैं। स्त्री पर प्रत्येक भाई का अधिकार होता है, परन्तु बड़े भाई का अधिकार सबसे अधिक ही पाया जाता है। जहाँ एक परिवार में एक से अधिक स्त्रियाँ हैं, वहाँ प्रत्येक भाई को अपने सब भाइयों की पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता होती है। मातृसत्तात्मक परिवारों में स्त्री अपने पतियों को स्वयं चुनती है और प्रत्येक पति के पास बारी-बारी से कुछ समय के लिये रहती है। परन्तु जब वह एक पति के साथ रह रही है तो उस दौरान में उसपर अन्य पतियों का कोई अधिकार नहीं होता। सन्तानों और सम्पत्ति के सम्बन्ध में बड़े-भाई का या प्रथम पति का दूसरे भाइयों या पतियों की तुलना में अधिक अधिकार होता है। विवाह-विच्छेद का अधिकार स्त्री और पुरुष दोनों को ही प्राप्त होता है।

बहुपति-विवाह-प्रथा के प्रचलन के कारणों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) ने बहुपति-विवाह-प्रथा के प्रचलन का प्रधान कारण एक समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का संख्या में कम होना बताया है। जैसे, टोडा जनजाति में लड़कियों को मार डालने की कुप्रथा के कारण वहाँ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। वहाँ पिछली तीन पीढ़ियों में १०० स्त्रियों के अनुपात में पुरुषों की संख्या क्रमशः २५९, २०२ और १७१ थी। अतः एक स्त्री का एकाधिक पुरुषों से विवाह होने की प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक था। परन्तु श्री राबर्ट ब्रिफॉल्ट (Robert Briffault) आदि विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि स्त्रियों की कमी इस प्रथा का एक मात्र कारण नहीं है, क्योंकि तिब्बत, सिक्किम, लद्दाख आदि प्रदेशों में जहाँ बहुपति-विवाह-प्रथा का प्रचलन है, वहाँ स्त्री-पुरुषों की संख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं है। लद्दाख में तो स्त्रियों की संख्या ज्यादा है। अधिकतर विद्वान इस प्रथा का कारण दरिद्रता मानते हैं। क्योंकि कुछ प्रदेशों में आर्थिक जीवन इतना कठोर तथा संघर्षपूर्ण होता है कि एक व्यक्ति के लिये पृथक् रूप से परिवार की स्थापना करना असम्भव है, इस कारण एकाधिक पुरुष मिलकर एक परिवार की स्थापना करते हैं। संयुक्त परिवार और सम्मिलित श्रम के बिना इन प्रदेशों में जीविका-निर्वाह करना प्रायः असम्भव है।

बहुपति-विवाह-प्रथा के इस विवेचन को समाप्त करने से पहले, इस प्रथा के **दुष्परिणामों** के विषय में भी कुछ जान लेना उचित होगा। सन्तानों की संख्या कम हो जाना अर्थात् कम सन्तान पैदा होना बहुपति-प्रथा का एक प्रमुख दुष्परिणाम है। यह एक प्राणीशास्त्रीय सत्य है कि पतियों की संख्या जितनी अधिक होगी, पत्नी की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति उतनी ही कम हो जायगी। बहुपति-विवाह में केवल सन्तानों की ही संख्या कम नहीं होती, बल्कि ऐसा देखा गया है कि इस प्रथा के कारण लड़कों का जन्म लड़कियों की अपेक्षा अधिक होता है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बहुपति-प्रथा का चक्र सदा के लिये चलता रहता है। इस प्रथा का तीसरा दुष्परिणाम स्त्रियों में बाँझपन का पनपना है, जिससे आगे चलकर जनसंख्या-सम्बन्धी समस्या उत्पन्न हो

सकती है। स्त्रियो के शारीरिक या स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से इस प्रथा का दुष्परिणाम गुप्त रोगो का बढना है। सामाजिक दृष्टिकोण से इस प्रथा के कारण विवाह-विच्छेद की सख्या इन्ही गुप्त-रोग आदि के कारण काफी बढ जाती है।

समूह-विवाह
(Group Marriage)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कुछ प्रारम्भिक सिद्धान्तो के अनुसार मानव-जीवन के प्रारम्भ मे विवाह नामक कोई भी सस्था न थी और लोग कामाचार (promiscuity) की स्थिति मे रहते थे। उसके बाद एक प्रकार के 'समूह' विवाह का प्रचलन हुआ जिसके अनुसार एक समूह के सभी पुरुषो का विवाह दूसरे समूह की सभी स्त्रियो से होता था और इनमे से प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। कुछ विद्वानो का कथन है कि ऐसे विवाह को वास्तव मे 'विवाह' नही कहना चाहिए, इस प्रकार के विवाह-सम्बन्ध को यौन-साम्यवाद (sex communism) कहना ही अधिक उचित होगा। श्री मॉर्गन ने अपने उद्‌विकासीय सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए यौन-साम्यवाद तथा समूह-विवाह मे भेद माना है। आपके अनुसार यौन-साम्यवाद प्रारम्भिक स्तर है जब कि विवाह-सस्था नामक कोई चीज नही थी। समूह विवाह इसके बाद का स्तर है। श्री वेस्टरमार्क ने यौन-साम्यवाद और समूह-विवाह दोनो के अस्तित्व को ही अस्वीकार किया है।

विवाह का यह स्वरूप आस्ट्रेलिया के आदिवासियो की एक निराली विशेषता है। वहाँ एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती है और ये आस्ट्रेलियावासी उन समस्त पुरुषो के लिये जो कि उनकी माताओ के भावी पति हो सकते हैं, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते हैं।

विवाह-साथी चुनने के तरीके
(Ways of Acquiring Mates)

जनजातीय ससार मे विवाह-साथी चुनने के एकाधिक तरीके पाये जाते हैं, जिनका कि उल्लेख यहाँ आवश्यक है। यह अनिवार्य नही है कि सभी समाजो मे सभी तरीको से विवाह-साथी चुने जाते हैं या चुने जा सकते हैं, किन्तु सामान्यत इनमे से एक से अधिक तरीके प्रत्येक समाज मे प्रचलित होते हैं। यहाँ हम जिन तरीको का उल्लेख करेंगे वे विशेष रूप से भारतीय जनजातीय समाजो मे पाये जाते हैं। इन समाजो मे निम्नलिखित आठ तरीको से विवाह-साथी चुने जाते हैं:—

(१) परिवीक्षा-विवाह
(Probationary Marriage)

इस प्रकार के विवाह मे होने वाले पति-पत्नी को विवाह होने से पहले ही एक दूसरे को भली-भाँति समझने तथा यौन-सम्बन्धी अनुभवो को प्राप्त करने का मौका दिया जाता है। इसी उद्देश्य से उनको (पति-पत्नी को) विवाह होने से पूर्व ही कुछ समय के लिये एक साथ रहने की अनुमति दे दी जाती है जिससे कि वे निकट से एक-दूसरे के

स्वभाव को पूरी तरह समझ सकें। यदि वे इस परिवीक्षाकाल के पश्चात् विवाह करना चाहते हैं तो पूर्ण वैवाहिक क्रियाओं द्वारा उनका विवाह कर दिया जाता है। यदि उनका स्वभाव एक-दूसरे के उपयुक्त और अनुकूल नही होता तो वे पृथक् हो जाते है। दारलुंग और कूकी जनजातीय समाजो मे एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के यहाँ कुछ काल तक रह सकता है। वह उस समय सभी प्रकार के वैवाहिक सुख प्राप्त करने का अधिकारी है, किन्तु यदि वह इन सुविधाओं के उपरान्त विवाह नही करना चाहता है तो थोडा-सा हानि-मूल्य (हर्जाना) देकर सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है।

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार इस प्रकार के विवाह के प्रचलन का कारण यह है कि जनजातियो के लोग केवल कन्या-मूल्य ही नही चाहते, बल्कि सन्तान प्राप्ति की इच्छा भी उनमे अत्यधिक प्रबल होती है। इस कारण इस प्रथा के द्वारा वे लडकी की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति की परीक्षा लेते है और यह देखा गया है कि इस परिवीक्षा-काल मे अगर लडकी गर्भवती हो जाती है तो विवाह अवश्य ही हो जाता है।

(२) हरण-विवाह (Marriage by Capture)

इस प्रकार के विवाह मे वर कन्या को उसके माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध जबर-दस्ती उठा ले जाकर विवाह कर लेता है। विवाह-साथी प्राप्त करने की यह प्रथा दुनिया के अनेक समाजो मे प्राचीन काल से प्रचलित है। चूंकि यह एक असभ्य तथा रोमाच-कारी तरीका है इस कारण कुछ विद्वानो के अनुसार हरण-विवाह ही सबसे प्राचीन विवाह का तरीका है। श्री मैकलेनन (Mclannen) ने प्राय सौ वर्ष पूर्व यह लिखा था कि विवाह-सस्था के उद्विकास मे पत्नी प्राप्त करने का सर्वप्रथम तरीका हरण-विवाह ही था। कुछ भी हो, आजकल अनेक जनजातीय समाजो मे यह विवाह वास्तविक हरण न रहकर अभिनयात्मक-हरण (mock capture) मात्र रह गया है। श्री स्टो (G W Stow) ने बु   समाज मे होने वाले अभिनयात्मक-हरण का जो विवरण प्रस्तुत किया है उससे पता चलता है कि जब एक बुशमेन युवक का विवाह होना होता है तो वर और वधू दोनो ही पक्षो के लोग विवाह के प्रीतिभोज (wedding-feast) मे इकट्ठे होते हैं। भोज के दौरान मे वर अपनी वधू का हाथ पकड लेता है। यह वधू-पक्ष के लिये एक 'खतरे की घण्टी' होती है और वधू के सब रिश्तेदार वर को घेर कर पीटने को दौडते हैं। दो पक्षो मे एक छोटा-मोटा 'युद्ध' छिड जाता है, जब कि वर को पीटने की क्रिया जारी रहती है। यदि मार खाते हुए भी वर अपनी वधू पर अपना कब्जा जमाये रखने मे सफल हो तो विवाह के लिये उसे उपयुक्त पात्र मान लिया जाता है और दोनो का विवाह यथा-रीति कर दिया जाता है। परन्तु वर के असफल होने पर उसे उस वधू से हाथ धोना पडता है।[10]

उसी प्रकार अफ्रीकन बहिमा (African Bahima) लोगो मे वधू को आधार मानकर वर-वधू दोनो पक्षो के मध्य रस्साकशी (tug of war) होती है और इसमे सदैव वर पक्ष की ही विजय होती है। जैसे ही विजय की घोषणा होती है, वैसे ही वधू

---

10 G W Stow, *The Native Races of South Africa*, London, 1905, p 96.

को वर के साथी गाय की खाल मे लपेटकर जमीन से उठा लेते है और फिर उसे लेकर भाग निकलते है। वर पक्ष के अन्य मित्र तथा रिश्तेदार उनका पीछा करते हैं। फिर कही विवाह होता है।[11] कही-कही एक ही लडकी के प्रेमी-प्रतिद्वन्द्वियो के मध्य मल्ल-युद्ध होते हैं और जो भी जीत जाता है वही लडकी से विवाह करने का हकदार हो जाता है, चाहे वह विवाहित ही क्यो न हो।

भारत मे हरण-विवाह की प्रथा नागा, हो, भील, गोड तथा आसाम, बिहार व मध्य प्रदेश की अन्य जनजातियो मे काफी प्रचलित थी, पर सरकारी शासन के प्रभाव के कारण अब यह प्रथा दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। भारत के जनजातीय समाजो मे इस विवाह के दो रूप देखने को मिलते है—(१) शारीरिक हरण (physical capture) जो कि अधिकतर वास्तविक न होकर अभिनयात्मक ही होता है, और (२) सस्कारात्मक या विधिवत् हरण (ceremonial capture)। शारीरिक हरण मे लडका अपने साथियो के साथ वास्तविक रूप मे लडकी पर आक्रमण करके या लडकी के गाव पर आक्रमण करके लडकी को हर ले आता है। परन्तु अब सरकारी नियंत्रणो के कारण यह हरण केवल नाम मात्र का ही होता है। गोड जनजाति मे तो कभी-कभी माता-पिता स्वय लडकी के ममेरे या फुफेरे भाई से अपनी लडकी को हर ले जाने की प्रार्थना करते है और उस हालत मे हरण का केवल एक नाटक मात्र खेला जाता है। इसके विपरीत, विधिवत् हरण-प्रथा खरिया, सथाल, बिरहोर, भूमिज, भील, नागा, मुण्डा आदि जनजातियो मे पायी जाती है। इस प्रकार के हरण मे एक युवक एक सार्वजनिक स्थान मे अपनी प्रेमिका की माग मे सिंदूर भर देता है और हरण को एक मामूली उत्सव का रूप दे दिया जाता है। आसाम की जनजातियो मे लडकियो का हरण, एक गाव जब दूसरे गाव पर आक्रमण करता है, तब होता है। मध्य भारत की जनजातियो मे हरण का काम उत्सव के अवसरो पर होता है।

हरण-विवाह-प्रथा भारत की जनजातियो मे विभिन्न कारणों से प्रचलित है, जैसे नागाओ मे इसका प्रचलन इस कारण है कि उनमे लडकियो की अत्यधिक कमी है और इस कमी को दूसरे समूहो से लडकियो का हरण करके पूरा किया जाता है। छोटा नागपुर की हो जनजाति मे वधू-मूल्य (bride price) इतना मागा जाता है कि अनेक लोग उसे चुकाकर सामान्य ढग से विवाह करने मे समर्थ नही होते। इस कारण उन्हे हरण-विवाह-प्रथा को ही अपनाना पडता है। गोड जनजाति मे प्राय अधिक आयु तक विवाह न होने के कारण हरण-विवाह पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, पुरुषो की स्त्रियो पर शासन करने की सहज-प्रवृत्ति जो कि कन्या-मूल्य देने से नही, बल्कि हरण के द्वारा चरितार्थ की जा सकती है, इस प्रकार के विवाह का एक कारण बन जाती है।

(३) परीक्षा विवाह
(Marriage by Trial)

इस प्रकार के विवाह का मुख्य उद्देश्य विवाह के इच्छुक नवयुवक के साहस और शक्ति की परीक्षा करना होता है और ऐसा उचित भी है क्योकि जनजातियो का जीवन

---

11 J Roscoe, *The Northern Bantu*, Cambridge, 1915, Vol 2 p 256

अत्यन्त कठोर और सघर्षपूर्ण होता है। इस प्रथा का उत्तम उदाहरण गुजरात की भील जनजाति है। उनमे होली के अवसर पर 'गोल-गाधेडो' नामक एक लोक-नृत्य का उत्सव होता है। उस स्थान पर एक खम्भे या पेड पर गुड और नारियल बाँध दिया जाता है। उसके चारो ओर अन्दर के घेरे मे कुमारी लडकियाँ और बाहर के घेरे मे अविवाहित लडके नाचते रहते हैं। लडको का प्रयत्न अन्दर के घेरे को तोडकर गुड और नारियल को प्राप्त करना होता है, जबकि लडकियाँ लडको को ऐसा करने से भरमक रोकती है और उनका घेरा तोडकर उस खम्भे या पेड पर चढने का प्रयत्न करने वाले युवक को खूब मारती, उनके कपडे फाडती, बाल खीचती, यहाँ तक कि उनके शरीर के मास को भी नोचती हैं, अर्थात् हर तरह से उन्हें अन्दर जाने से रोकती हैं। फिर भी अगर कोई युवक लडकियो के घेरे को तोडकर खम्भे या पेड पर चढ जाता है और गुड खाने और नारियल प्राप्त करने मे सफल होता है, तो वह घेरे के अन्दर नाचती हुई युवतियो मे से जिसको भी चाहे अपने विवाह-साथी के रूप मे चुन लेने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार कुछ समाजो मे लोग उस युवक के साथ अपनी लडकी का विवाह करना पसन्द करते हैं जिसने शिकार करने के मामले मे अपनी निपुणता को प्रमाणित किया है। कोमाचे समाज मे यदि कोई युवक अपनी भावी सास को नित्य शिकार भेजता रहे तो वह यह आशा कर सकता है कि वह स्त्री उसपर खुश होकर अपनी लडकी की शादी उससे शीघ्र ही कर देगी। यदि उसे पहली पत्नी की बहन को भी पत्नी बनाना हो तो उसका भी सबसे सरल उपाय यही है कि रोज या प्राय शिकार भेजकर अपनी सास को प्रसन्न कर दिया जाय।

(४) क्रय-विवाह
(Marriage by Purchase)

इस प्रकार के विवाह मे विवाह करने के इच्छुक लडके को लडकी के माता पिता को कुछ वधू-मूल्य (bride price or progeny price) चुकाना पडता है। इस प्रथा के अन्तर्गत वधू-मूल्य विवाह का एक आवश्यक अग है और इसे चुकाये बिना विवाह नही हो सकता। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस मूल्य को कन्या या वधू का मूल्य समझा जा सकता है, परन्तु इसका अर्थ सदैव यही नही होता कि स्त्रियो की स्थिति गुलामो के समान है और उनको भी गुलामो की भाँति बेचा या खरीदा जा सकता है। यह सच है कि जिस परिवार मे अधिक लडके हैं उन्हे वधू-मूल्य उस परिवार से अधिक प्राप्त होगा जिसमे कि लडकियाँ अधिक हैं। फिर भी इस आधार पर पारिवारिक हानि-लाभ का हिसाब दुनिया के किसी भी समाज मे नही लगाया जाता है।

वधू-मूल्य लेने और देने की प्रथा को कुछ विद्वान एक अन्य प्रकार से भी समझाते है। उनका कहना है कि वधू-मूल्य इस बात का द्योतक नही है कि जिन समाजो मे यह दिया या लिया जाता है, वहाँ स्त्रियो की स्थिति बहुत गिरी हुई है। परन्तु वास्तव मे वधू-मूल्य इस बात का द्योतक है कि इसके माध्यम से स्त्रियो के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया जाता है। सच तो यह है कि वधू मूल्य का कोई विशेष सम्बन्ध स्त्रियो के सम्मान, विशे- आदि से नही होता है। जिस प्रकार यह प्रमाणित करना कठिन है कि

वधू मूल्य सम्मान का द्योतक हैं, उसी प्रकार यह भी प्रमाणित नही होता है कि वधू कोई व्यापार की वस्तु है। अनेक समाजो मे यह मूल्य दिखावे भर का होता है और या तो तय किये हुए मूल्य से बहुत कम मूल्य वास्तव मे लिया जाता है या वधू-मूल्य के बदले मे इससे कहीं अधिक दहेज के रूप मे पुन लौटा दिया जाता है।

श्री रॉबर्ट लूई (Robert Lowie) ने इस बात पर बल दिया है कि वधू-मूल्य को कन्या को खरीदने या बेचने का साधन मात्र न समझना चाहिये, वरन यह जनजातियो मे स्त्रियो की उपयोगिता का प्रतीक है। उनके माता-पिता दूसरे को अपनी कन्या देने से होने वाले नुकसान का हर्जाना वधू-मूल्य के रूप मे प्राप्त करते हैं, तथा इसके द्वारा दोनो परिवारो के बीच आर्थिक सम्बन्ध को दृढ किया जाता है। श्री लिन्टन (Linton) का कथन है कि यह वास्तविक रूप से स्त्री से पैदा होने वाले बच्चो पर अधिकार का क्रय है।

यह सच है कि वधू-मूल्य स्त्रियो के सम्मान का द्योतक नही है और न ही इसमे व्यापार की भावना होती है, फिर भी वधू-मूल्य के आर्थिक या सामाजिक पक्ष पर बिल्कुल ही किसी समाज मे बल नही दिया जाता है, यह कहना भी गलत होगा। कुछ समाजो मे विवाहिता स्त्रियो की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष रूप से उसके लिये दिये गये वधू-मूल्य द्वारा प्रभावित होती है। पूर्वी अफ्रीका की कुछ जनजातियो मे अगर स्त्रियो की स्थिति-सम्बन्धी कोई चर्चा चलती है तो वधू-मूल्य की बात सबसे पहले आती है। कैलिफोर्निया के यूरोक लोगो मे तो इसका इतना अधिक महत्त्व है कि एक व्यक्ति का सामाजिक पद और प्रतिष्ठा पूर्णतया इसी बात पर निर्भर है कि उसकी माँ के विवाह मे कितना वधू-मूल्य चुकाया या दिया गया था।

वधू-मूल्य का किसी-किसी जनजातीय समाज मे कितना अधिक महत्त्व है, यह दो-एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। दक्षिणी-पश्चिमी साइबेरिया की किरगीज़ जनजाति मे वधू-मूल्य को बढाते जाना ही कुलीनता है। फलत इस समाज मे वधू-मूल्य इतना अधिक होता है कि कोई भी पुरुष एक से अधिक विवाह करने की बात सोचने का साहस तक नही करता है। न्यू गिनी की काई नामक जनजाति मे एक पति को अपनी पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का तब तक कोई अधिकार नही होता जब तक वह वधू-मूल्य पूरा-पूरा चुका न दे। इतना ही नही, वधू-मूल्य न दे देने तक पत्नी पति के घर नही जाती और अपने परिवार का ही सदस्य बनी रहती है।

किन्हीं-किन्ही समाजो मे वधू-मूल्य प्रथा का गम्भीर अध्ययन करने से यह पता चलता है कि आदिम समाजो मे विवाह केवल दो स्त्री-पुरुषो का ही पारस्परिक सम्बन्ध न होकर दो परिवारो को एक साथ सयुक्त करने का एक साधन होता है और वधू-मूल्य उसी मिलन का प्रतीक या दो परिवारो के सम्बन्धो को दृढ करने वाला होता है। उदाहरणार्थ, दक्षिणी अफ्रीका की थोंगा और बाँटू जनजातियो मे वधू-मूल्य के रूप मे ढोर, जिसे कि 'लावोला' (labola) कहा जाता है, देने की प्रथा है। इस लावोला को एकत्र करने मे केवल एक व्यक्ति के अपने ही परिवार के सदस्य नही, बल्कि उसके निकट के नाते रिश्तेदार भी सहायता करते हैं। यही लावोला पत्नी के भाई के विवाह के लिये या पत्नी के निकट नाते-रिश्तेदारो के विवाह मे सहायतास्वरूप दे दिया जाता है। इस

प्रकार विवाह द्वारा सयुक्त दो परिवारो मे एक प्रकार का आर्थिक सहयोग पनपता है। अत स्पष्ट है कि 'लाबोला' या वधू-मूल्य वह कडी है जो कि दो परिवारो को जोडती या मिलाती है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर वधू-मूल्य प्रथा के प्रचलन के कुछ सम्भावित **कारणो** का हम उल्लेख कर मकते हैं—(क) अपने परिवार के सदस्य के नाते एक लडकी की भी कुछ उपयोगिता होती है। विवाह करने वाला पक्ष उस लडकी को अपने घर ले जाकर उस उपयोगिता से लडकी के परिवार को वञ्चित करता है। इसलिये यह आशा या माँग की जाती है कि वर पक्ष उस नुकसान का हर्जाना कन्या पक्ष को देगा। (ख) बहुत से समाजो मे लडकियो की सख्या कम होने के कारण उनकी माँग अधिक होती है। लडकी के माता-पिता इस बात को जानते है और इसलिये इस अवस्था से लाभ उठाते हैं। (ग) विवाह के द्वारा वर पक्ष को न केवल पत्नी ही मिलती है, बल्कि उससे उत्पन्न होने वाली सन्तान भी। इन दोनो से कन्या पक्ष को हाथ धोना पडता है। इसलिये कन्या पक्ष इनका कुछ मूल्य प्राप्त करने का अधिकारी है। कुछ समाजो मे वधू-मूल्य पत्नी से उत्पन्न होने वाली सन्तानो पर अधिकार प्राप्त करने के लिये ही दिया जाता है। बाँटू (दक्षिणी अफ्रीका) समाज मे तो यह कहावत ही प्रचलित है कि 'ढोर दो तो सन्तान हो।' इसलिये बाँटू लोगो मे स्त्री से उत्पन्न होने वाली सन्तानो पर पति का कोई भी अधिकार तब तक नही होता जब तक लाबोला न चुका दिया जाय।[12] कुछ जनजातियो मे यह भी नियम है कि अगर काफी समय बीत जाने पर भी प्रथम पत्नी, जिसके लिये वधू-मूल्य चुका दिया गया है, माँ बनने मे अर्थात् सन्तान को जन्म देने मे असमर्थ प्रमाणित हो तो पत्नी के पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह या तो वधू मूल्य लौटा दे या पत्नी की छोटी बहन अथवा उसके अभाव मे पुत्र-वधू को दामाद के हाथ (अर्थात् उस परिवार को जिसने वधू-मूल्य चुकाया था) सौंप दे। इन सब उदाहरणो से यह प्रमाणित होता है कि वधू-मूल्य देने का एक मुख्य उद्देश्य पत्नी से पैदा होने वाले बच्चो पर अपना अधिकार प्राप्त करना होता है। (घ) वधू-मूल्य इस बात का भी प्रतीक होता है कि इसके चुका देने से दो परिवारो के बीच न केवल सामाजिक या वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता है, बल्कि आर्थिक सहयोग की भावना भी पनपती है। इस प्रकार का आर्थिक सम्बन्ध जनजातीय जीवन के लिये लाभदायक ही सिद्ध होता है और कही-कही तो यह अत्यन्त आवश्यक होता है। (ङ) कुछ जनजातियो मे यह विश्वास है कि वधू-मूल्य चुका देने से वधू के अपने स्वय के पारिवारिक देवताओ का सरक्षण उसपर से हट जाता है और उसके साथ ही उसे अपने पति के पारिवारिक देवताओ का सरक्षण प्राप्त हो जाता है। जनजातीय दृष्टिकोण से वधू के लिये इस सरक्षण को प्राप्त करना अति आवश्यक है और इसीलिये वधू-मूल्य चुका देना अनिवार्य या एक प्रकार का कर्त्तव्य-सा हो जाता है।

इन सब कारणो से ही क्रय-विवाह अर्थात् वधू-मूल्य चुकाकर विवाह करने की प्रथा दुनिया की अनेक जनजातियो मे पायी जाती है। सर्वश्री हॉबहाउस, ह्वीलर तथा

---

12 Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p 342

जिन्सवर्ग के एक विस्तृत अध्ययन से यह पता चलता है कि ४३४ जनजातियो मे से ३०३ जनजातियो मे क्रय-विवाह का प्रचलन है।[13] परन्तु प्रोफ़ेसर मुरडॉक का कथन है कि प्राय: ५० प्रतिशत जनजातीय समाजो मे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन पाया जाता है।[14] अफ्रीका की प्राय सभी जनजातियो मे यह विवाह-प्रथा पायी जाती है। इण्डोनेशिया की पितृसत्तात्मक जनजातियो मे भी इस प्रकार का विवाह काफी लोकप्रिय है। भारत की भी सभी जनजातियो मे इस प्रकार का विवाह पाया जाता है, विशेषकर सथाल, हो, ओरॉव, खरिया, गोड, नागा, कूकी, भील आदि जनजातियो मे। कुछ भारतीय जनजातियो मे वधू-मूल्य के आर्थिक पक्ष पर विशेप वल नही दिया जाता, जैसे रेंगमा नागा लोग तय किये हुए वधू-मूल्य से प्रायः दस रुपये कम लेते है। इसके विपरीत, हो जनजाति मे इसका इतना अधिक प्रचलन है कि इसे देने की सामर्थ्य वहुत कम व्यक्तियो मे होती है। इस कारण या तो ऐसे व्यक्ति अविवाहित रहते है अथवा हरण-विवाह या सेवा-विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करते हैं।

(५) सेवा-विवाह
(Marriage by Service)

अत्यधिक वधू-मूल्य-प्रथा के कारण कुछ जनजातियो के अनेक सदस्यो के लिये विवाह-साथी प्राप्त करना एक तरह से असम्भव-सा हो जाता है। इस समस्या का हल सेवा-विवाह और विनिमय-विवाह-प्रथाओ को प्रचलित करके किया गया है। साइबेरिया की चुकची, कोरयक और युकाघिर जनजातियो मे अब सेवा-विवाह अत्यधिक लोकप्रिय है। इन जनजातीय समाजो मे पहले क्रय-विवाह अर्थात् वधू-मूल्य चुकाकर विवाह का प्रचलन था, पर धीरे-धीरे उसका रूप इतना भयकर हो गया कि अधिकतर लोगों के लिये उतना अधिक वधू-मूल्य चुकाकर पत्नी प्राप्त करना असम्भव सा हो गया। इसलिये वाध्य होकर उन्हें सेवा-विवाह की शरण लेनी पडी। प्रोफेसर इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने अपने एक अध्ययन मे २४१ जनजातियो मे से ३० जनजातियो मे सेवा-विवाह का प्रचलन पाया। कुछ जनजातियो मे विवाह करने से पूर्व ही युवक को अपनी भावी ससुराल मे रहकर सेवा प्रदान करनी पडती है और कुछ जनजातियो मे विवाह करने के वाद वर तव तक पत्नी को अपने घर नही ले जा सकता जव तक वह आवश्यक वधू-मूल्य के वदले मे कुछ दिनो तक सास-ससुर को अपनी सेवा प्रदान नही कर देता है। इसका एक अन्य रूप कोमाचे इण्डियनो (Comanche Indians) मे देखने को मिलता है। यहाँ भावी दामाद से प्रत्यक्ष रूप से कोई सेवा की माँग नही की जाती है, परन्तु दामाद से यह आशा की जाती है कि वह अपनी भावी सास को नित्य शिकार भेजता रहेगा और ऐसा करने से विवाह की सम्भावनाएँ आप से आप वढ जाती हैं। यहाँ तक कि जो दामाद इस प्रकार नियमित रूप से शिकार भेजता रहता है उससे खुश होकर सास अपनी दूसरी लडकी को भी उस दामाद की दूसरी पत्नी होने के लिये

---

13 See Hobhouse, Wheeler and Ginsberg, *The Material Culture and Social Institutions of the Simple Peoples*, London, 1930

14 G P Murdock, *Social Structure*, New York, 1958, p 20

इनाम मे दे सकती है। पर अगर शिकार न भेजा गया तो दूसरी लडकी मिलने की कोई भी आशा नही रहती।[15] इस प्रकार दामाद की अच्छाई या बुराई शिकार देने और न देने पर निर्भर है।

भारत मे गोड, बैगा तथा बिरहोर जनजातियो मे सेवा-विवाह पाया जाता है। गोड और बैगा जनजातियो मे जो पुरुष वधू-मूल्य देने मे असमर्थ होते है, वे कन्या के पिता के यहाँ नौकर के रूप मे कुछ समय तक काम करते है और उसके द्वारा किये गये श्रम या सेवा को ही वधू-मूल्य मानकर एक निश्चित समय के पश्चात् माता-पिता अपनी लडकी का विवाह उसके साथ कर देते हैं। गोड ऐसे व्यक्ति को 'लामानई' (*Lamanai*) और बैगा 'लामसेना' (*Lamsena*) कहते हैं। अपने भावी ससुर के घर मे लामानई को कठोर परिश्रम करना पडता है और तब कही उसे स्त्री प्राप्त होती है, नही तो ससुर उसे भगाकर नया लामानई रख लेता है। बिरहोर जनजाति मे भावी ससुर अपने भावी दामाद को वधू-मूल्य चुकाने के लिये रुपये उधार देता है और दामाद को सेवा द्वारा उस ऋण को चुकाना पडता है। हिमाचल प्रदेश के गूजरो मे और उत्तर प्रदेश की खस जनजातियो मे भी ऐसी प्रथा है।

(६) विनिमय-विवाह
(Marriage by Exchange)

वधू-मूल्य से बचने का एक दूसरा तरीका विनिमय-विवाह है। इस प्रकार की विवाह-प्रथा मे एक परिवार के एक भाई और एक बहन का विवाह क्रमश. दूसरे परिवार की एक लडकी और उसके भाई के साथ हो जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की पत्नी का भाई उसकी बहन का पति भी होता है, अर्थात् एक ही व्यक्ति से साले और बहनोई दोनो का ही रिश्ता स्थापित हो जाता है। सोसोने इण्डियनो (Shoshone Indians) मे इस प्रकार का विवाह सबसे अच्छा समझा जाता है।[16] फिर भी विनिमय-विवाह मे प्राय कठिनाई यह होती है कि दो ऐसे परिवार नही मिलते हैं जिनमे से प्रत्येक मे एक भाई और एक बहन विवाह के लिये उपयुक्त हो। अर्थात् जोडा ढंढने मे काफी परेशानी का सामना करना पडता है। इसलिये इस विवाह-प्रथा का प्रचलन कम ही है। कुछ भी हो, ऐसे विवाह मे, जैसा कि श्री बोयास (Boas) ने लिखा है, दोनो परिवार किसी को भी कुछ न देकर एक-दूसरे को वधू-मूल्य दे देते है। श्री लोई (Lowie) के शब्दो मे, "यह ऐसा विवाह है जिसमे किसी को भी नुकसान नही होता।" श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार यह बिना खर्चे के पत्नी प्राप्त करने का एक साधन है। इसी कारण यह विवाह-प्रथा प्राय सभी भारतीय जनजातियो मे पायी जाती है। परन्तु आसाम की खासी जनजाति इस प्रकार के विवाह का निषेध करती है।

---

15 E A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, pp 307-308

16 E A Hoebel *Ibid*, p 308

(७) सहमति और सहपलायन-विवाह
(Marriage by Mutual Consent and Elopement)

विवाह-साथी प्राप्त करने का सातवाँ उपाय पारस्परिक सहमति और सहपलायन है। विवाह-सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्धो के बीच भी प्रेम या प्रणय-सम्बन्ध प्रत्येक समाज मे ही पनप जाते हैं और उस अवस्था मे युवक-युवती सामाजिक प्रतिबन्धो तथा बडो की आज्ञा और इच्छा की अवहेलना करके पारस्परिक सहमति से विवाह कर लेते हैं। चीईनी (Cheyenne) समाज मे भाई को यह अधिकार होता है कि वह अपनी बहन का विवाह अपनी इच्छानुसार किसी भी व्यक्ति से कर दे। परन्तु यदि भाई ने किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी बहन देने का वादा नही किया है और बहन अपने प्रेमी के साथ भाग जाती है, तो उसे विवाह की स्वीकृति मिल जाती है और दोनो पक्षो मे उपहार के आदान-प्रदान के द्वारा उस विवाह को विधिवत् कर लिया जाता है। परन्तु यदि भाई ने किसी व्यक्ति से यह वादा कर दिया है कि वह अपनी बहन की शादी उससे करेगा तो उस अवस्था मे बहन के दूसरे किसी युवक के साथ भाग जाने पर समस्या अत्यन्त गम्भीर हो जाती है और भाई की सामाजिक प्रतिष्ठा को भारी धक्का पहुँचता है। ऐसी अवस्था मे अनेक चीईनी भाई आत्महत्या तक कर लेते हैं।[17] आस्ट्रेलिया की एकाधिक जनजातियो मे सहपलायन-विवाह विवाह-साथी प्राप्त करने का एक सामान्य या साधारण तरीका है। कुरनई (Kurnai) जनजाति मे अधिकतर युवक-युवती सहपलायन-विवाह ही करते हैं। सहपलायन करते हुए अगर वे पकडे जाते हैं तो उन्हे बहुत मारा-पीटा जाता है, यहाँ तक कि कभी-कभी जान से मार डाला जाता है। पर अगर वे भागकर गाँव से बाहर किसी एक आश्रम (asylum) मे पहुँच जाते हैं तो फिर उनके लिये कोई खतरा नही रहता। वहाँ पर वे तब तक रहते हैं जब तक एक बच्चा पैदा न हो जाय। इसके बाद वे अपने घर लौट सकते हैं क्योंकि बच्चे के साथ लौटने पर उन्हे केवल थोडा-सा पीटा जाता है और उसके उपरान्त उन्हें विधिवत् विवाहित दम्पत्ति के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है।[18]

भारतीय जनजातीय समाजो मे भी इस प्रकार के विवाह का काफी प्रचलन है। बिहार की 'हो' जनजाति इसे 'राजी खुशी' (*Razi-Khusi*) अर्थात् वर-वधू की सहमति और प्रसन्नता से होने वाला विवाह कहते हैं। इसमे एक-दूसरे से प्रेम करने वाले युवक-युवती माता-पिता द्वारा उनके विवाह का विरोध होने पर गाँव से एक साथ इकट्ठे भाग जाते हैं और उस समय तक वापिस नही लौटते जब तक कि उनके माता-पिता इस विवाह को स्वीकार न कर लें। इस प्रकार के विवाह मे किसी प्रकार का सामाजिक सस्कार नही किया जाता और न ही वधू-मूल्य दिया जाता है। राजस्थान की भील जनजाति मे यदि एक लडका अपने गोत्र या पाल की लडकी से ही प्रेम करने लगता है, तो वह अपनी प्रेमिका को किसी दूर स्थान पर भगा ले जाता है क्योंकि अपने

---

17 K N Llewellyn and E A Hoebel, *The Cheyenne Way*, Norman, 1941, Chapter 9

18 A W Howitt, *The Native Tribes of South-east Australia*, New York, 1904, pp 273 *ff*

ही गोत्र या पाल की किसी लडकी से विवाह सामाजिक नियमो के अनुसार निषिद्ध होता है।

(८) हठ-विवाह
(Marriage by Intrusion)

इस विवाह मे एक युवक-विशेष से विवाह करने की इच्छुक लडकी उसके घर मे एक प्रकार से जबरदस्ती घुस जाती है और तब तक वहाँ से नही हिलती जब तक उसके प्रेमी के माता-पिता उसे पुत्र-वधू के रूप मे स्वीकार नही कर लेते हैं। यह प्रथा भारतीय जनजाति हो, बिरहोर, ओरांव, कमार तथा मुण्डा मे पायी जाती है। ओरांव इसे 'निर्बोलोक' (*nubolok*) और हो इसे 'अनादर' (*anadar*) कहते हैं। अनादर नाम ऐसे विवाह के लिये सबसे उपयुक्त है। इस विवाह मे लडकी अपने प्रेमी के घर उसके माता-पिता की बिना इच्छा के प्रवेश करती है और उन्हे अपने लडके का शादी उससे करने को एक प्रकार से बाध्य करती है। इसमे प्रारम्भ मे लडकी को भावी ससुराल मे अनेको अत्याचार, अत्यधिक अपमान तथा अनादर सहना पडता है। इस कारण इसे 'अनादर' विवाह कहा जाता है। लडकी इस प्रकार का अपमानजनक और साहसपूर्ण कदम इस कारण उठाती है कि उसका प्रेम किसी युवक से हो गया है, पर किसी कारण उनका विवाह नही हो पा रहा है और युवक भी सहपलायन मे असमर्थ है। ऐसी अवस्था मे उस लडकी के लिये हठ-विवाह ही एक मात्र उपाय होता है।

निष्कष के रूप मे जनजातियो के विवाह के सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि उनमे विवाह न तो एक धार्मिक सस्कार है और न ही आजीवन का नाता। इस कारण उनमे विवाह-साथी चुनने की अनेक रीतियाँ पायी जाती हैं। इनमे से अनेक प्रकार के विवाहो का प्रचलन उनमे पर्यावरण या आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है। विनिमय-विवाह-प्रथा जीवन-साथी चुनने के सीमित क्षेत्र की परिचायक है, जो कि विभिन्न जन-जातियो के एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण प्रचलित होती है। हरण-विवाह वधू-मूल्य के आधिक्य के कारण है। इसी प्रकार सेवा-विवाह और क्रय-विवाह के आधार भी आर्थिक हैं। परिवीक्षा-विवाह इस बात का प्रमाण है कि यौन-सम्बन्धी अनुज्ञाएँ जन-जातियो मे काफी ढीली है। फिर भी सामान्य रूप से आज सभ्य समाज के सम्पर्क मे आने के फलस्वरूप उनमे भी विवाह के मामलो मे थोडा-बहुत परिवर्तन होता ही जा रहा है।

पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध
(Pre-marital and Extra-marital Sex Relations)

दुनिया की अनेक जनजातियो मे विवाह के पूर्व या विवाह-सम्बन्ध के बाहर अपनी यौन-सम्बन्धी इच्छाओ की तृप्ति करने की काफी स्वतन्त्रता और अवसर रहता है। प्राय इस प्रकार की स्वतन्त्रता बिना किसी उद्देश्य या प्रयोजन के नही हुआ करती। पर साथ ही, यह उद्देश्य या प्रयोजन प्रत्येक समाज मे एक-सा नही होता। कुछ जनजातियाँ इस प्रकार के यौन-सम्बन्धो को इसलिये स्वीकार करती है कि उनके

(७) सहमति और सहपलायन-विवाह
(Marriage by Mutual Consent and Elopement)

विवाह-साथी प्राप्त करने का सातवाँ उपाय पारस्परिक सहमति और सहपलायन है। विवाह-सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्धो के बीच भी प्रेम या प्रणय-सम्बन्ध प्रत्येक समाज मे ही पनप जाते हैं और उस अवस्था मे युवक-युवती सामाजिक प्रतिबन्धो तथा बडो की आज्ञा और इच्छा की अवहेलना करके पारस्परिक सहमति से विवाह कर लेते हैं। चीईनी (Cheyenne) समाज मे भाई को यह अधिकार होता है कि वह अपनी बहन का विवाह अपनी इच्छानुसार किसी भी व्यक्ति से कर दे। परन्तु यदि भाई ने किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी बहन देने का वादा नही किया है और बहन अपने प्रेमी के साथ भाग जाती है, तो उसे विवाह की स्वीकृति मिल जाती है और दोनो पक्षो मे उपहार के आदान-प्रदान के द्वारा उस विवाह को विधिवत् कर लिया जाता है। परन्तु यदि भाई ने किसी व्यक्ति से यह वादा कर दिया है कि वह अपनी बहन की शादी उससे करेगा तो उस अवस्था मे बहन के दूसरे किसी युवक के साथ भाग जाने पर समस्या अत्यन्त गम्भीर हो जाती है और भाई की सामाजिक प्रतिष्ठा को भारी धक्का पहुँचता है। ऐसी अवस्था मे अनेक चीईनी भाई आत्महत्या तक कर लेते हैं।[17] आस्ट्रेलिया की एकाधिक जनजातियो मे सहपलायन-विवाह विवाह-साथी प्राप्त करने का एक सामान्य या साधारण तरीका है। कुरनई (Kurnai) जनजाति मे अधिकतर युवक-युवती सहपलायन-विवाह ही करते हैं। सहपलायन करते हुए अगर वे पकडे जाते हैं तो उन्हे बहुत मारा-पीटा जाता है, यहाँ तक कि कभी-कभी जान से मार डाला जाता है। पर अगर वे भागकर गाँव से बाहर किसी एक आश्रम (asylum) मे पहुँच जाते हैं तो फिर उनके लिये कोई खतरा नही रहता। वहाँ पर वे तब तक रहते हैं जब तक एक बच्चा पैदा न हो जाय। इसके बाद वे अपने घर लौट सकते हैं क्योंकि बच्चे के साथ लौटने पर उन्हे केवल थोडा-सा पीटा जाता है और उसके उपरान्त उन्हे विधिवत् विवाहित दम्पत्ति के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है।[18]

भारतीय जनजातीय समाजो मे भी इस प्रकार के विवाह का काफी प्रचलन है। बिहार की 'हो' जनजाति इसे 'राजी खुशी' (*Razi-Khusi*) अर्थात् वर-वधू की सहमति और प्रसन्नता से होने वाला विवाह कहते हैं। इसमे एक-दूसरे से प्रेम करने वाले युवक-युवती माता-पिता द्वारा उनके विवाह का विरोध होने पर गाँव से एक साथ इकट्ठे भाग जाते हैं और उस समय तक वापिस नही लौटते जब तक कि उनके माता-पिता इस विवाह को स्वीकार न कर लें। इस प्रकार के विवाह मे किसी प्रकार का सामाजिक सस्कार नही किया जाता और न ही वधू-मूल्य दिया जाता है। राजस्थान की भील जनजाति मे यदि एक लडका अपने गोत्र या पाल की लडकी से ही प्रेम करने लगता है, तो वह अपनी प्रेमिका को किसी दूर स्थान पर भगा ले जाता है क्योंकि अपने

---

17 K N Llewellyn and E A Hoebel, *The Cheyenne Way*, Norman, 1941, Chapter 9

18 A. W Howitt, *The Native Tribes of South-east Australia*, New York, 1904, pp 273 *ff*

ही गोत्र या पाल की किसी लडकी से विवाह सामाजिक नियमो के अनुसार निषिद्ध होता है।

(८) हठ-विवाह
(Marriage by Intrusion)

इस विवाह मे एक युवक-विशेष से विवाह करने की इच्छुक लडकी उसके घर मे एक प्रकार से जबरदस्ती घुस जाती है और तब तक वहाँ से नही हिलती जब तक उसके प्रेमी के माता-पिता उसे पुत्र-वधू के रूप मे स्वीकार नही कर लेते है। यह प्रथा भारतीय जनजाति हो, बिरहोर, ओराँव, कमार तथा मुण्डा मे पायी जाती है। ओराँव इसे 'निर्बोलोक' (*nubolok*) और हो इसे 'अनादर' (*anadar*) कहते हैं। अनादर नाम ऐसे विवाह के लिये सबसे उपयुक्त है। इस विवाह मे लडकी अपने प्रेमी के घर उसके माता-पिता की बिना इच्छा के प्रवेश करती है और उन्हे अपने लडके की शादी उससे करने को एक प्रकार से बाध्य करती है। इसमे प्रारम्भ मे लडकी को भावी ससुराल मे अनेको अत्याचार, अत्यधिक अपमान तथा अनादर सहना पडता है। इस कारण इसे 'अनादर' विवाह कहा जाता है। लडकी इस प्रकार का अपमानजनक और साहसपूर्ण कदम इस कारण उठाती है कि उसका प्रेम किसी युवक से हो गया है, पर किसी कारण उनका विवाह नही हो पा रहा है और युवक भी सहपलायन मे असमर्थ है। ऐसी अवस्था मे उस लडकी के लिये हठ-विवाह ही एक मात्र उपाय होता है।

निष्कर्ष के रूप मे जनजातियो के विवाह के सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि उनमे विवाह न तो एक धार्मिक सस्कार है और न ही आजीवन का नाता। इसके अलावा उनमे विवाह-साथी चुनने की अनेक रीतियाँ पायी जाती हैं। इनमे से अनेक प्रकार के विवाहो का प्रचलन उनमे पर्यावरण या आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है। विनिमय-विवाह-प्रथा जीवन-साथी चुनने के सीमित क्षेत्र की परिचायक है, जो कि विभिन्न जन-जातियो के एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण प्रचलित होती है। हरण-विवाह वधू-मूल्य के आधिक्य के कारण है। इसी प्रकार सेवा-विवाह और क्रय-विवाह के कारण भी आर्थिक हैं। परिवीक्षा-विवाह इस बात का प्रमाण है कि यौन-सम्बन्धी नियम जन-जातियो मे काफी ढीली हैं। फिर भी सामान्य रूप से आज सभ्य समाज के सम्पर्क मे आने के फलस्वरूप उनमे भी विवाह के मामलो मे थोडा-बहुत परिवर्तन होता जा रहा है।

पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध
(Pre-marital and Extra-marital Sex Relations)

दुनिया की अनेक जनजातियो मे विवाह के पूर्व या विवाह के बाद अपनी यौन-सम्बन्धी इच्छाओ की तृप्ति करने की काफी स्वतन्त्रता होती है। प्राय इस प्रकार की स्वतन्त्रता बिना किसी उद्देश्य या प्रयोजन के नहीं करती। पर साथ ही, यह उद्देश्य या प्रयोजन प्रत्येक समाज मे भिन्न है। कुछ जनजातियाँ इस प्रकार के यौन-सम्बन्धो को इसलिये स्वीकार करती

दृष्टिकोण से इस प्रकार की स्वतन्त्रता रहने पर युवक-युवतियो की यौन-सम्बन्धी आवश्यक तैयारी सम्भव होती है। कुछ जनजातियाँ इस प्रकार की स्वतन्त्रता को इसलिये आवश्यक मानती हैं कि इसके बिना युवक-युवतियो मे पारस्परिक सहयोग उतना दृढ नही हो सकता जितना कि जनजातीय जीवन मे आवश्यक है। साथ ही, काफी जनजातियो मे यौन-सम्बन्ध के आधार पर ही व्यक्ति के चरित्र की उत्तमता या अधमता निर्धारित नही की जाती है, और न ही विवाह के पूर्व लडकियो के कौमार्य (virginity) की रक्षा आवश्यक ही होती है। कुछ जनजातियाँ इस सम्बन्ध मे काफी उदासीन रहती हैं। इतना ही नही, कुछ जनजातियो मे ऐसे कुछ सामूहिक त्यौहार और उत्सव होते हैं जब कि यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध आप-से-आप ढीले पड जाते हैं। इन सब कारणो से ही जनजातीय समाजो मे पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं। कुछ विशिष्ट भारतीय उदाहरण हम नीचे देंगे।

मुडिया गोडो मे प्रचलित 'गोटुल' अर्थात् युवागृह जहाँ गाँव के अविवाहित लडके और लडकियाँ सध्या-समय एकत्र होते हैं तथा रात भर वहाँ रहते हैं, इसलिये प्रचलन मे है कि इसका एक उद्देश्य इन युवक-युवतियो को यौन-सम्बन्धी शिक्षा दी जाय और विवाह-साथी चुनने मे सरलता हो। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपना साथी चुन लेता है और ये साथी बदलते भी रहते हैं। कहा जाता है कि इन युवागृहो मे जो बडी उम्र की लडकियाँ होती हैं वे अपने से छोटे नवयुवको को यौन-सम्बन्धी व्यावहारिक प्रशिक्षण (training) देती हैं और उनके इस व्यवहार को किसी भी रूप मे अनुचित नही माना जाता है। इसी प्रकार छोटा नागपुर की उराँव जनजाति मे भी प्रत्येक कुँवारे लडके की एक प्रेमिका होती थी, जिसे 'पिल्लो' कहा जाता था। आजकल इसका प्रचलन बहुत कम हो गया है। मध्य भारत की जनजातियो मे पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है बशर्ते लडकी गर्भवती न हो जाय क्योकि लडकी का गर्भवती होना उसके माता-पिता के लिए बहुत ही लज्जाजनक है, यहाँ तक कि यदि वह लडकी सेवा-विवाह-प्रथा के अनुसार उस परिवार मे सेवा करने वाले भावी दामाद के द्वारा ही क्यो न गर्भवती हुई हो। जब लडकी गर्भवती हो जाती है, तो उसे गर्भाधान कराने वाले पुरुष का नाम बतलाना पडता है। नाम बता देने पर गाँव या परिवार के लोग उस पुरुष को उस लडकी से विवाह करने को बाध्य करते है। इस प्रकार के विवाह मे वधू-मूल्य या तो दिया ही नही जाता है और यदि दिया भी जाता है तो नाम मात्र को।

उपरोक्त पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध के अतिरिक्त भारतीय जनजातीय समाजो मे अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। कोनयक नागा जनजाति मे विवाह के बाद भी स्त्रियाँ अन्य पुरुषो से यौन-सम्बन्ध बनाये रख सकती हैं। वह अपने पति के घर तब तक नही जाती है जब तक उसका एक बच्चा पैदा न हो जाय। यदि पति को यह मालूम भी हो जाय कि वह बच्चा उसका नही है, तो भी उसके लिये कुछ हर्ज की बात नही होती और इसके कारण पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध मे भी कोई फर्क नही पडता। 'हो' जनजाति मे माघी पर्व पर और उराँव जनजाति मे 'खद्दी' पर्व पर

स्त्रियो और पुरुषो को यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है। थारू जन-जाति के पुरुष अपनी खूबसूरत पत्नियो से इतना ज्यादा प्रभावित रहते हैं कि अगर पत्नियाँ इधर-उधर यौन-सम्बन्ध स्थापित करा लेती हैं तो भी वे (पति लोग) उसे विशेष महत्त्व अर्थात् अपराध नही समझते। देहरादून जिले की खस जनजाति मे यौन-सम्बन्धी दोहरा मानदण्ड (double standard) देखने को मिलता है। अपनी ससुराल मे एक वधू (रान्ती) को यौन-सम्बन्धी कठोरतम नियमो का पालन करना पडता है परन्तु जब वही स्त्री अपने मायके आती है तो लडकी (ध्यान्ती) के रूप मे उसे यौन-सम्बन्धी अनेक छूट मिल जाती है और वह एकाधिक पुरुषो से प्रेम करती और यौन-सम्बन्ध स्थापित करती है।

उपरोक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि जनजातीय समाजो मे यौन-सम्बन्धो को अधिक महत्त्व नही दिया जाता। वास्तव मे उनके संघर्षपूर्ण जीवन मे इन सब विषयो पर गम्भीरता से विचार करने का अवसर ही बहुत कम मिलता है। इसी कारण विवाह का मुख्य आधार यौन-सम्बन्ध न होकर श्रम-विभाजन और आर्थिक सहयोग होता है।

विवाह-विच्छेद
(Divorce)

यह सच है कि वैवाहिक सम्बन्ध को स्थायी बनाने का प्रयत्न प्राय सभी समाजो मे किसी न किसी नियम के द्वारा किया जाता है। परन्तु शायद ही ऐसा कोई समाज हो जहाँ कि असफल विवाह-सम्बन्ध को समाप्त करने का कोई-न-कोई उपाय, चाहे वह सरल हो अथवा कठिन, न पाया जाता हो। साथ ही, यह भी सच है कि कोई भी समाज विवाह-विच्छेद को न तो सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार करता है और न ही उसे प्रोत्साहित करता है, फिर भी यह मान लिया जाता है कि एक निरतर असफल विवाह सम्बन्ध को जबरदस्ती बनाये रखने से यह ज्यादा अच्छा होगा कि उसे समाप्त ही कर दिया जाय।

प्राय सभी आदिम समाजो मे विवाह-विच्छेद पाया जाता है। यद्यपि आधुनिक सभ्य समाजो की भाँति रोमास तथा व्यक्तिगत इच्छा के आधार पर विवाह-विच्छेद इन समाजो मे बहुत कम होता है, फिर भी अन्य अनेक आधार हैं जिनपर विवाह-विच्छेद मान्य है। सर्वश्री हॉबहाउस, ह्वीलर तथा जिन्सबर्ग ने जिन २-१ जनजातियो का अध्ययन किया है उनमे से केवल ४ प्रतिशत जनजातियो मे विवाह-विच्छेद निषिद्ध है, २४ प्रतिशत जनजातियो मे इसकी आज्ञा कुछ निश्चित अवस्थाओ मे है, और ७२ प्रतिशत जनजातियो मे पति-पत्नी की पारस्परिक सम्मति (mutual consent) से विवाह-विच्छेद होता है।[19] यद्यपि इस अध्ययन को अन्तिम मान लेना उचित न होगा, फिर भी इससे मोटे तौर पर जनजातीय विवाह-विच्छेद के स्वरूप का आभास होता है।

जहाँ तक विवाह-विच्छेद करने के अधिकार का प्रश्न है, सामान्यत जनजातीय

19 Hobhouse, Wheeler and Ginsberg, *op cit*, Chapter 3

दृष्टिकोण से इस प्रकार की स्वतन्त्रता रहने पर युवक-युवतियो की यौन-सम्बन्धी आवश्यक तैयारी सम्भव होती है। कुछ जनजातियाँ इस प्रकार की स्वतन्त्रता को इसलिये आवश्यक मानती हैं कि इसके बिना युवक-युवतियो मे पारस्परिक सहयोग उतना दृढ नही हो सकता जितना कि जनजातीय जीवन मे आवश्यक है। साथ ही, काफी जनजातियो मे यौन-सम्बन्ध के आधार पर ही व्यक्ति के चरित्र की उत्तमता या अधमता निर्धारित नही की जाती है, और न ही विवाह के पूर्व लडकियो के कौमार्य (virginity) की रक्षा आवश्यक ही होती है। कुछ जनजातियाँ इस सम्बन्ध मे काफी उदासीन रहती हैं। इतना ही नही, कुछ जनजातियो मे ऐसे कुछ सामूहिक त्यौहार और उत्सव होते हैं जब कि यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध आप-से-आप ढीले पड जाते हैं। इन सब कारणो से ही जनजातीय समाजो मे पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं। कुछ विशिष्ट भारतीय उदाहरण हम नीचे देंगे।

मुडिया गोडो मे प्रचलित 'गोटुल' अर्थात् युवागृह जहाँ गाँव के अविवाहित लडके और लडकियाँ सध्या-समय एकत्र होते हैं तथा रात भर वहाँ रहते हैं, इसलिये प्रचलन मे है कि इसका एक उद्देश्य इन युवक-युवतियो को यौन-सम्बन्धी शिक्षा दी जाय और विवाह-साथी चुनने मे सरलता हो। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपना साथी चुन लेता है और ये साथी बदलते भी रहते हैं। कहा जाता है कि इन युवागृहो मे जो बडी उम्र की लडकियाँ होती हैं वे अपने से छोटे नवयुवको को यौन-सम्बन्धी व्यावहारिक प्रशिक्षण (training) देती हैं और उनके इस व्यवहार को किसी भी रूप मे अनुचित नही माना जाता है। इसी प्रकार छोटा नागपुर की उराँव जनजाति मे भी प्रत्येक कुँवारे लडके की एक प्रेमिका होती थी, जिसे 'पिल्लो' कहा जाता था। आजकल इसका प्रचलन बहुत कम हो गया है। मध्य भारत की जनजातियो मे पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है बशर्ते लडकी गर्भवती न हो जाय क्योकि लडकी का गर्भवती होना उसके माता-पिता के लिए बहुत ही लज्जाजनक है, यहाँ तक कि यदि वह लडकी सेवा-विवाह-प्रथा के अनुसार उस परिवार मे सेवा करने वाले भावी दामाद के द्वारा ही क्यो न गर्भवती हुई हो। जब लडकी गर्भवती हो जाती है, तो उसे गर्भाधान कराने वाले पुरुष का नाम बतलाना पडता है। नाम बता देने पर गाँव या परिवार के लोग उस पुरुष को उस लडकी से विवाह करने को बाध्य करते हैं। इस प्रकार के विवाह मे वधू-मूल्य या तो दिया ही नही जाता है और यदि दिया भी जाता है तो नाम मात्र को।

उपरोक्त पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध के अतिरिक्त भारतीय जनजातीय समाजो मे अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। कोनयक नागा जनजाति मे विवाह के बाद भी स्त्रियाँ अन्य पुरुषो से यौन-सम्बन्ध बनाये रख सकती हैं। वह अपने पति के घर तब तक नही जाती है जब तक उसका एक बच्चा पैदा न हो जाय। यदि पति को यह मालूम भी हो जाय कि वह बच्चा उसका नही है, तो भी उसके लिये कुछ हर्ज की बात नही होती और इसके कारण पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध मे भी कोई फर्क नही पडता। 'हो' जनजाति मे माघी पर्व पर और उराँव जनजाति मे 'खद्दी' पर्व पर

समाज स्त्री और पुरुष दोनो को ही समान अधिकार प्रदान करता है। प्रोफेसर मुरडॉक (Prof Murdock) ने अति सावधानी से चुनकर जिन ४० जनजातियो का अध्ययन किया, उनमे से ३० जनजातियो मे यह पता लगाना असम्भव था कि विवाह-विच्छेद करने के अधिकार के विषय मे स्त्री और पुरुष मे कोई भेद है भी या नही, अर्थात् ३० जनजातियो मे स्त्री-पुरुष दोनो को ही विवाह-विच्छेद करने के समान अधिकार प्राप्त थे। इस विषय मे पुरुषो के विशेष अधिकार केवल ६ समाजो मे पाये गये और ४ समाजो मे स्त्रियो के, पुरुषो की तुलना मे, विवाह-विच्छेद करने के अधिक अधिकार प्राप्त थे।[20]

प्राय यह कहा जाता है कि विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी अधिकार इस बात पर निर्भर है कि एक समाज विशेष मे स्त्री-पुरुष की सामाजिक स्थिति (status) कितनी है। जिन समाजो मे स्त्रियो की स्थिति पुरुषो से ऊँची है, उन समाजो मे विवाह-विच्छेद के विषय मे भी स्त्रियो को विशेषाधिकार प्राप्त होता है। इसके विपरीत जिन समाजो मे पुरुषो की सामाजिक स्थिति स्त्रियो की अपेक्षा ऊँची हैं, उन समाजो मे पुरुषो को ही विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध मे विशेषाधिकार प्राप्त है। आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति मे पुरुषो को यह अधिकार है कि वे छोटे से छोटे कारण के आधार पर अपनी पत्नियो से अपना विवाह-सम्बन्ध विछिन्न कर सकते हैं, जब कि स्त्रियो को विवाह-विच्छेद करने का कुछ भी अधिकार प्राप्त नही है। अगर पत्नी के साथ बहुत ही निर्दयतापूर्वक व्यवहार किया जा रहा है तो इस परिस्थि त से बचने का उसके पास एक ही रास्ता है कि वह अपने पति के घर से भाग जाय। पर यह भी हो सकता है कि उसे फिर पकडकर लौटा लाया जाय। पूर्वी अफ्रीका की बगण्डा जनजातियो मे भी पुरुषो को प्राय इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। वहाँ पुरुष कोई भी कारण दिखाकर अपनी पत्नी को उसके पिता के घर लौटा सकता है और उस अवस्था मे पत्नी के पिता से वधू-मूल्य लौटा देने की माँग करता है। उसकी यह माँग उस अवस्था मे बहुत ही उचित मानी जाती है, जब कि पत्नी बाझ हो। इन दोनो समाजो मे स्त्रियो की सामाजिक स्थिति पुरुषो की तुलना मे काफी नीची है।

चिरिकहुआ अपाची जनजाति मे स्त्री और पुरुष दोनो को ही विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध मे समान अधिकार प्राप्त हैं। दुश्चरित्रता, बाझपन, नपुमकता, निर्दयता, आलसीपन आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनके आधार पर स्त्री और पुरुष दोनो को ही विवाह-सम्बन्ध विछिन्न करने का सामानाधिकार है।

इरोकूई जनजाति मे मातृसत्तात्मक परिवार पाया जाता है। विवाह के पश्चात् पति को अपनी पत्नी के घर पर आकर रहना पडता है। इस परिवार पर पति का नही, बल्कि पत्नी का या पत्नी के परिवार की ही किसी दूसरी वयस्का स्त्री सदस्य का नियत्रण होता है। अत विवाह-विच्छेद करने का विशेषाधिकार भी पत्नी को ही प्राप्त होता

20 G P Murdock, "Family Stability in Non-European Cultures", *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, Vol 272, 1948, pp 195-201

है। फलतः पत्नी अपने पति को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय निकाल बाहर कर सकती है। पत्नी को विवाह-सम्बन्ध तोडने के लिये कोई खास परेशानी नही होती, इसके सिवा कि वह अपने पति का सामान घर से बाहर रखवा दे या खुद रख दे। यही पत्नी के विवाह-विच्छेद करने की इच्छा को व्यक्त करने के लिये काफी है। जनजातीय समाजो मे विवाह-विच्छेद के कुछ प्रमुख आधार दुश्चरित्रता, बाझपन, नपुसकता, निर्दयता, स्थायी यौन-सम्बन्धी निर्योग्यता, अत्यधिक बीमारी, पत्नी का जादूगरनी होने का सन्देह आदि हैं।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जनजातीय समाजो मे सभ्य समाजो की तुलना मे अधिक विवाह-विच्छेद होता है और उसके लिये किसी विशेष नियम-कानून का पालन या शर्तों को पूरा करने की आवश्यकता नही होती है। हम लोग अपने दृष्टिकोण से यह सोचते है कि अधिक विवाह-विच्छेद होना पारिवारिक विघटन का ही परिचायक है, परन्तु जनजातीय लोग न तो इस प्रकार सोचते हैं और न ही उनमे 'पारिवारिक विघटन' जैसी किसी समस्या का उदय हुआ है। साथ ही, अभी तक किसी ऐसे जनजातीय समाज का पता नही चला है जहाँ कि विवाह-विच्छेद को प्रोत्साहित किया जाता हो, या जहाँ पारिवारिक जीवन को स्थायी बनाने के बजाय परिवार को तोडने का प्रयत्न किया जाता हो।

नातेदारी-व्यवस्था
(Kinship System)

नातेदारी-व्यवस्था का अर्थ
(Meaning of Kinship System)

सामाजिक मानव समाज मे अकेला नही होता। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह अनेक व्यक्तियो से घिरा होता है, अर्थात् उसका सम्बन्ध एकाधिक व्यक्तियो से होता है। परन्तु इनमे से सबसे महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध उन व्यक्तियो के साथ होता है जो कि विवाह-बन्धन और रक्त-सम्बन्ध के आधार पर सम्बन्धित हैं। इनमे भी निकट तथा दूर के, घनिष्ठ तथा अघनिष्ठ, मधुर तथा कठोर हर प्रकार के सम्बन्धियो का समावेश रहता है, परन्तु स्मरण रहे कि ये सभी सम्बन्ध सामाजिक अन्त क्रिया का ही परिणाम होते हैं। इस प्रकार सामाजिक अन्त क्रिया के फलस्वरूप जो विशिष्ट तथा समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सुव्यवस्थित सम्बन्ध-शृखला एक सामाजिक प्राणी को अन्य व्यक्तियो के साथ सयुक्त करती है उसे नातेदारी-व्यवस्था कहते हैं। मानवशास्त्रीय शब्दकोष (Dictionary of Anthropology) मे नातेदारी-व्यवस्था को निम्न शब्दो मे परिभाषित किया गया है—"नातेदारी-व्यवस्था मे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं जो कि अनुमानित और रक्त-सम्बन्धो पर आधारित हो।"[21] 'समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इन सम्बन्धो' का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है, इसलिये सम्बन्ध की निकटता, घनिष्ठता,

---

21 "Kinship system may include socially recognized relationship based on supposed as well as actual genealogical ties" Charles Winick, *Dictionary of Anthropology*, p 302

आत्मीयता आदि के आधार पर इन नाते रिश्तेदारो को कई श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है।

नातेदारी के भेद
(Types of Kinship)

नाते-रिश्तेदारो को मोटे तौर पर दो श्रेणियो मे बांटा जा सकता है—(१) विवाह-सम्बन्धी नातेदारी (Affinal Kinship) तथा (२) रक्त-सम्बन्धी नातेदारी (Consanguineous Kinship)।

(१) **विवाह-सम्बन्धी नातेदारी** के अन्तर्गत न केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा सबद्ध पति-पत्नी ही आते है बल्कि इन दोनो के परिवारो के अन्य सम्बन्धी भी आ जाते हैं। जब एक व्यक्ति विवाह करता है तो उसे स्वभावत यह पता चलता है कि विवाह नामक सस्था ने न केवल दो स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध स्थापित किया है, बल्कि इन दोनो से सम्बन्धित अन्य अनेक व्यक्ति एक-दूसरे से सम्बद्ध हो गये हैं। उदाहरणार्थ, विवाह के पश्चात् एक पुरुष केवल एक पति ही नही बनता, बल्कि बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, ननदोई, मौसा, साढू आदि भी बन जाता है। उसी प्रकार एक स्त्री विवाह के पश्चात् पत्नी बनने के अलावा पुत्र-वधू, भाभी, देवरानी, जेठानी, चाची, मामी आदि भी बन जाती है या बन सकती है। इनमे से प्रत्येक सम्बन्ध के आधार दो व्यक्ति हैं, जैसे साला-बहनोई, सास-दामाद, साली-जीजा, देवर-भाभी, पति-पत्नी, सास-वधू आदि। इस प्रकार से विवाह द्वारा सम्बद्ध समस्त सम्बन्धियो या नातेदारो को विवाह-सम्बन्धी (Affinal Kinship) कहते हैं।

(२) **रक्त-सम्बन्धी नातेदारी** के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो कि समान रक्त के आधार पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हो। उदाहरण के लिये माता-पिता और उनके बच्चो के बीच अथवा दो भाइयो के बीच या दो भाई-बहन के बीच का सम्बन्ध रक्त के आधार पर ही आधारित है। इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरणीय है कि रक्त-सम्बन्धी नातेदारो मे रक्त-सम्बन्ध वास्तविक भी हो सकता है और काल्पनिक भी। दूसरे शब्दो मे रक्त-सम्बन्ध केवल प्राणीशास्त्रीय (biological) आधार पर ही नही, अपितु समाज-शास्त्रीय (sociological) आधार पर भी स्थापित हो सकता है। उदाहरणार्थ, जिन समाजो मे बहुपति विवाह प्रथा का प्रचलन है वहाँ प्राणीशास्त्रीय आधारो पर यह निश्चित करना असम्भव है कि कौन-सा बच्चा किस पति का है। इसलिये वहाँ पर प्राणी-शास्त्रीय पितृत्व (biological fatherhood) को गौण मानकर समाजशास्त्रीय पितृत्व (sociological fatherhood) को अधिक मान्यता दी जाती है। नीलगिरी की बहुपति-विवाही टोडा जनजाति मे सामाजिक पितृत्व एक विशेष सस्कार 'पुरसुरपिमी' द्वारा निश्चित किया जाता है। जो व्यक्ति गर्भवती स्त्री को उसके प्रसव के पाँचवें महीने मे धनुष-बाण भेंट करता है, वही उस स्त्री की होने वाली सभी सन्तानो का पिता तब तक कहलाता रहता है जब तक दूसरा कोई पति उसी प्रकार का सस्कार न करे। ईसाई मत के प्रारम्भ होने से पहले जर्मन नियम के अनुसार एक बच्चा उस समय तक परिवार का सदस्य नही बन सकता है, जब तक कि पिता कुछ सामाजिक सस्कारो के

द्वारा उसे अपना पुत्र स्वीकार नही करता। आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं और इसलिये वहाँ के लोग उन समस्त पुरुषो के लिये जो कि उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं 'पिता' शब्द का प्रयोग करते है। उसी प्रकार प्राय सभी समाजो मे बच्चो को गोद लेने की प्रथा है। गोद लिये हुए बच्चो के साथ भी माता-पुत्र या पुत्री, पिता-पुत्र या पुत्री आदि का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो कि वास्तविक रक्त-सम्बन्ध नही बल्कि अनुमानित रक्त-सम्बन्ध पर आधारित होता है।

नातेदारी की श्रेणियाँ
(Categories of Kinship)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सम्पर्क और निकटता, घनिष्ठता और आत्मीयता के आधार पर विभिन्न प्रकार के नाते-रिश्तेदारो को कई श्रेणियों मे बाँटा जा सकता है। कुछ लोगो के साथ वैवाहिक तथा रक्त-सम्बन्धी आधारो पर नातेदारी प्रत्यक्ष, घनिष्ठ तथा निकट की होती है, जैसे पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि। इनको **प्राथमिक सम्बन्धी** (Primary Kins) कहा जाता है। डा० दुबे के अनुसार प्राथमिक सम्बन्धियो के अन्तर्गत पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, छोटे-बडे भाई, छोटी-बडी बहन और भ्राता-बहन, ये आठ प्रकार की सम्बन्ध-श्रृखला मे गुँथे हुए लोग आते है।

इसके विपरीत, **द्वितीयक सम्बन्धी** (Secondary Kins) वे सम्बन्धीगण होते हैं जो उपरोक्त 'प्राथमिक सम्बन्धियो के प्राथमिक सम्बन्धी है।' अर्थात् प्राथमिक सम्बन्धियो द्वारा सम्बन्धित है। इस द्वितीय श्रेणी के सम्बन्धियो से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता है, परन्तु हमारे प्रत्यक्ष या प्राथमिक श्रेणी के सम्बन्धियो से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिये बहन के साथ मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है अर्थात् बहन प्राथमिक सम्बन्धी के अन्तर्गत है। इस बहन का अपने पति के साथ भी प्रत्यक्ष या प्राथमिक सम्बन्ध है, पर बहन के उस पति के साथ मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही, उसके साथ मेरा बहनोई का सम्बन्ध बहन के द्वारा है। इस प्रकार बहन का पति मेरे प्राथमिक सम्बन्धी का प्राथमिक सम्बन्धी है। उसी प्रकार पत्नी का भाई भी द्वितीयक सम्बन्धी है।

इसी प्रकार **तृतीयक सम्बन्धी** (Tertiary Kins) भी हो सकते हैं। तृतीयक सम्बन्धी वे सम्बन्धीगण है जो कि हमारे द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी हैं। उदाहरण के लिये एक व्यक्ति की सरहज तृतीयक सम्बन्धी हुई क्योकि इस व्यक्ति के पत्नी का भाई (या साला) उस व्यक्ति का द्वितीयक सम्बन्धी हुआ और इस द्वितीयक सम्बन्धी (साले) की पत्नी उसकी (साले की) प्राथमिक सम्बन्धी हुई। इस प्रकार एक व्यक्ति के साले की पत्नी को उस व्यक्ति के द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी होने के नाते तृतीयक सम्बन्धी कहा जायगा।

इस प्रकार चातुर्थिक, पाचमिक आदि सम्बन्ध सूत्रो की विस्तृत विवेचना सम्भव है। श्री मुरडॉक (Murdock) ने इस विषय पर गहन अध्ययन करके यह निष्कर्ष

निकाला है कि एक व्यक्ति के लगभग ३३ द्वितीयक और १५१ तृतीयक सम्बन्ध-प्रकार हो सकते हैं।[22]

सम्बन्ध-संज्ञाएँ
(Kinship Terms)

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियो के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिये अलग-अलग तरह के सम्बन्धो के लिये भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग किया जाता है। फिर भी प्रत्येक समाज मे प्रत्येक प्रकार के सम्बन्ध के लिये अलग-अलग शब्दो का ही व्यवहार किया जाता है, यह कहना भी गलत होगा। इस सम्बन्ध मे श्री मॉर्गन सर्वप्रथम सम्बन्ध-सज्ञाओ का विस्तृत अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर आये कि सम्बन्ध-सज्ञाओ को हम मोटे तौर पर दो भागो मे बाँट सकते हैं—(१) वर्गीकृत सम्बन्ध-सज्ञाएँ (Classificatory Kinship Terms) और (२) विशिष्ट सम्बन्ध-सज्ञाएँ (Particularizing or Descriptive Kinship Terms)।

(१) **वर्गीकृत सज्ञा-व्यवस्था** के अनुसार अनेक नाते-रिश्तेदारो को एक ही वर्ग या श्रेणी के अन्तर्गत मान लिया जाता है और उन सबको एक ही सज्ञा या शब्द से सम्बोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ, कराडजेरी (Karadjeri) समाज मे एक व्यक्ति 'ताबुलू' (Tabulu) शब्द का प्रयोग न केवल अपने पिता के लिये करता है, बल्कि पिता के भाई (चाचा और ताऊ) के लिये भी करता है।[23] उसी प्रकार सेमा नागा मे एक ही 'अजा' शब्द का प्रयोग माँ, चाची, ताई तथा मौसी सभी के लिए किया जाता है। उसी प्रकार कूकी लोगो मे 'हेपू' सज्ञा का प्रयोग पिता के पिता, माता के पिता, माता के भाई, पत्नी के पिता, मामा के पुत्र, पत्नी के भाई, साले के लडके आदि के लिये प्रयोग किया जाता है। आदिम समाजो मे ही नही बल्कि आधुनिक समाजो मे भी वर्गीकृत सज्ञा-व्यवस्था पायी जाती है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी मे 'अकल' (uncle) शब्द का प्रयोग चाचा, मामा, ताऊ, फूफा, मौसा आदि सम्बन्धियो के लिये होता है। उसी प्रकार 'कज़िन' (cousin) शब्द से चचेरे, ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई-बहनो का बोध होता है।

(२) इसके विपरीत, **विशिष्ट सम्बन्ध-सज्ञाओं** से एक शब्द या सज्ञा द्वारा एक ही सम्बन्धी को सूचित किया जाता है। जैसे यदि हम 'माँ' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे केवल एक विशिष्ट सम्बन्धी का ही बोध होता है। उसी प्रकार पिता, चाचा, मामा आदि विशिष्ट सम्बन्ध-सज्ञाएँ हैं।

नातेदारी की रीतियाँ
(Kinship Usages)

नातेदारी-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार-प्रतिमानो (behaviour patterns) का भी समावेश होता है। हमारा किसी एक व्यक्ति से एक विशेष सम्बन्ध

---

22 See G P Murdock, *Social Structure*, New York, 1949, Chapters 6 and 7

23 Ralph Piddington, *op cit*, p 122

है, बस बात यही पर समाप्त नही हो जाती। इस रिश्ता या सम्बन्ध से सम्बन्धित एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार भी हुआ करता है। उदाहरणार्थ, 'अ' और 'ब' परस्पर पति-पत्नी है, इस सम्बन्ध के आधार पर उनके व्यवहारो का एक विशिष्ट रूप या प्रतिमान (pattern) होगा। यह नही हो सकता कि इन दोनो के व्यवहारो का प्रतिमान बिल्कुल उसी तरह का हो जैसा कि माता-पुत्र के व्यवहार का होता है। कुछ रिश्तो का आधार श्रद्धा और सम्मान का होता है, तो कुछ का प्रेम और कुछ का प्रीति। माता-पिता के साथ जो सम्बन्ध होता है उसका आधार श्रद्धा और सम्मान है, पत्नी के साथ सम्बन्ध का आधार प्रेम है, जबकि छोटे भाई-बहनो के साथ सम्बन्ध का आधार प्रीति है। साले-बहनोई या जीजा-साली का सम्बन्ध केवल सम्बन्ध ही नही 'मधुर सम्बन्ध' है। अत स्पष्ट है कि नातेदारी-व्यवस्था मे दो सम्बन्धियो के बीच का सम्बन्ध या व्यवहार किस प्रकार का होगा, इसके विषय मे कुछ नियम या रीतियाँ होती हैं, इसी को नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages) कहते हैं। इन रीतियो मे जो बहुत ही प्रमुख या विलक्षण हैं, उनका उल्लेख हम यहाँ पर करेंगे।

परिहार
(Avoidance)

नातेदारी-व्यवस्था मे परिहार का नियम या रीति बहुत ही लोकप्रिय है। 'परिहार' का अर्थ यह है कि कुछ ऐसे रिश्ते हैं जो कि दो व्यक्तियो के बीच एक निश्चित सम्बन्ध तो स्थापित करते हैं, पर साथ ही इस बात का निर्देश देते हैं कि वे एक-दूसरे से दूर रहे और पारस्परिक अन्त क्रिया मे यथासम्भव प्रत्यक्ष या आमने-सामने रहते हुए सक्रिय भाग न लें। इस प्रकार के सम्बन्ध मे पुत्र-वधू तथा सास-ससुर का सम्बन्ध बहुत ही सामान्य है। उसी प्रकार दामाद तथा सास का पारस्परिक सम्बन्ध भी कुछ समाजो मे परिहार के अन्तर्गत ही आता है। कुछ उदाहरणो से इस प्रकार के सम्बन्धो का स्पष्टीकरण सरलता से हो सकेगा।[24]

यूकाघिर (Yukaghir) जनजाति मे यह नियम है कि एक वधू कभी भी अपने ससुर या जेठ (husband's elder brother) के चेहरे को न देखे और न ही दामाद को अपनी सास या ससुर के चेहरे को देखना चाहिये। इन सम्बन्धियो को परस्पर यदि कुछ कहना होता है तो पर्दा करते हुए कहते है या किसी दूसरे से कहलवा देते हैं। ओस्ट्याक (Ostyak) जनजाति मे वधू अपने ससुर के सामने और दामाद अपनी सास के सामने तब तक नही आते हैं जब तक उनके बच्चे पैदा न हो जायें। अगर कभी अचानक वे एक-दूसरे के सामने पड जाते हैं, तो फौरन घूंघट से अपना चेहरा छिपा लेती हैं। वधू को जीवन भर ससुर के सामने घूंघट निकालना पडता है।

इस प्रकार के नियम हिन्दू समाज मे भी पाये जाते हैं। ससुर तथा अन्य वयोवृद्ध सम्बन्धियो के सामने घूंघट निकालना बहू के लिए एक सामान्य नियम है। उसी प्रकार पति, ससुर, जेठ आदि के नाम का उच्चारण बहू नही करती है।

---

24 See Robert Lowie, *Primitive Society*, Routledge & Kegan Paul Ltd, London, 1953, pp 80-92

उसी प्रकार सास-सुसर तथा दामाद के बीच के सम्बन्ध को भी कुछ समाजो मे नियन्त्रित किया जाता है। न्यू गिनी की बुकाऊ जनजाति मे सास-ससुर और दामाद न तो एक-दूसरे को देखते हैं, न एक-दूसरे को छूते है और न ही एक-दूसरे का नाम लेते हैं। अगर दामाद के सामने बैठकर ससुर को भोजन करना है तो ससुर को अपना चेहरा ढँककर बैठना पडता है और अगर कही इत्तफाक से दामाद अपने ससुर को मुँह (mouth) खोलते देख ले तो ससुर को इतना लज्जित होना पड़ता है कि वह जगल को भाग जाता है। आस्ट्रेलिया की जनजातियो मे तो इस प्रकार के निषेध और भी कठोर हैं। वहाँ कुछ जनजातियो मे दामाद को देखना या उससे बात करना तो दूर रहा, सास को उसके नाम तक को अपने कानो से सुनने की मनाही है। इन नियमो को तोडने से विवाह-विच्छेद हो सकता है, या दामाद को गाँव से निकाल दिया जाता है और कभी-कभी तो प्राण दण्ड तक मिलता है। अफ्रीका की ज़ूलू जनजाति मे दामाद अपनी सास के पास तक कभी नही जाता और अगर कभी सास उसके पास से गुजर जाती है तो जो कुछ भी दामाद के मुँह मे उस समय होता है उसे निकाल कर फेंक देता है।

वधू या दामाद द्वारा अपने सास-ससुर की उपरोक्त परिहार की रीतियो को सास-ससुर सम्बन्धिक निषेध (parent-in-law taboos) कहते हैं। इन निषेधो को ऊपरी-तौर पर देखने से ऐसा लगता है कि इन निषेधो का पालन करने वालो का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही तनाव या सघर्षपूर्ण होगा, परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। कुछ जनजातियो के लोग तो यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि उनमे इस प्रकार के निषेध केवल परस्पर के प्रति सम्मान प्रदर्शन के हेतु ही हैं।

इस विषय पर श्री टायलर (Tylor) का मत यह है कि उपरोक्त निषेध मातृ-सत्तात्मक परिवार प्रथा के कारण है। इस प्रकार की परिवार-प्रथा मे वर को पत्नी के घर पर जाकर रहना पडता था जहाँ कि वह वर बिल्कुल ही अजनबी होता था। इस कारण उस परिवार की अन्य स्त्रियाँ विशेषकर सास जो कि परिवार की मालकिन होती थी, उस अजनबी वर से दूर रहती थी। इसी से धीरे-धीरे आगे चलकर सास सम्बन्धिक निषेध पनपे हैं। उसी प्रकार पितृस्थानीय परिवारो मे ससुर से सम्बन्धित निषेधो का जन्म हुआ है। परन्तु आज इस मत से बहुत से विद्वान सहमत नही हैं। होपी तथा जूनी जनजातियाँ जो कि मातृस्थानीय हैं, इस प्रकार के नियमो को नही मानती। आस्ट्रेलिया की वे जन-जातियाँ जो कि पितृस्थानीय हैं, दामाद का परिहार करती हैं न कि वधू का।

इस विषय पर श्री फ्रेज़र (Frazer) का मत यह है कि इन निषेधो का उद्देश्य यौन-सम्बन्ध को नियन्त्रित करना अर्थात् निकटाभिगमन (incest) को रोकना है। श्री फ्रेज़र का कथन है कि कुछ जनजातियाँ तो इस विषय मे इतनी अधिक तटस्थ हैं कि भाई-बहन तक को एक-दूसरे से अलग रखते हैं। उदाहरणार्थ, लका की वेड्डा (Vedda) जनजाति मे भाई-बहन एक ही कमरे मे नही रह सकते और न ही एक साथ बैठकर खाना खा सकते हैं। श्री फ्रेज़र के सिद्धान्त के आधार पर सास-दामाद के परिहार को यदि मान भी लिया जाय, तो भी इससे इस बात का स्पष्टीकरण नही होता है कि ससुर-दामाद के रिश्ते मे इस प्रकार के निषेध क्यो हैं?

श्री फ्रायड (Freud) ने मनोवैज्ञानिक आधारो पर परिहार को समझाने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार इस प्रकार के निषेधो का एक-मात्र उद्देश्य दामाद और सास या वधू और ससुर मे पारस्परिक यौन-सम्बन्धी आकर्षण को रोकना है। श्री लोई (Lowie) का मत है कि वर और उसके ससुराल या दामाद और उसके ससुराल दोनो की सामाजिक और पारिवारिक पृष्ठभूमि मे भिन्नता होने के कारण ही इस प्रकार का परिहार पनपा है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के मतानुसार नातेदारी मे कुछ ऐसे सम्बन्धी होते है जिनके कि अत्यधिक घनिष्ठ होने पर परिवार के अन्य सदस्यो मे द्वेष या ईर्ष्या की भावना पनप सकती है जो कि स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिये हानिकारक सिद्ध होगी। इसलिये इन सम्बन्धीगण को दूर-दूर ही रक्खा जाता है। सास, ससुर, दामाद, वधू इसी प्रकार के सम्बन्धीगण हैं। इसीलिये श्री टर्नी हाई (Turney High) का कथन है कि सास को दामाद से और वधू को ससुर से दूर रखना पारिवारिक शाति को बनाये रखने के लिये आवश्यक समझा गया।

परिहास-सम्बन्ध
(Joking Relationship)

नातेदारी की रीतियो मे परिहास-सम्बन्ध परिहार का बिल्कुल विपरीत रूप है। जहाँ परिहार दो सम्बन्धियो को एक-दूसरे से दूर ले जाता है, वहाँ परिहास-सम्बन्ध दो व्यक्तियो को अति निकट लाता है। निश्चित अर्थ मे यह दो व्यक्तियो को 'मधुर सम्पर्क' या सम्बन्ध-सूत्र मे बाँधता है और दोनो को एक-दूसरे के साथ हँसी-मजाक करने का अधिकार देता है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के अनुसार, "परिहास-सम्बन्ध दो व्यक्तियो का वह सम्बन्ध है जिसमे प्रथा द्वारा एक पक्ष को यह छूट रहती है और कभी-कभी उससे यह माग की जाती है कि वह दूसरे पक्ष को तग करे, छेडे या उससे हँसी-मजाक करे, पर दूसरा पक्ष इसका कुछ भी बुरा न माने।'[25]

जबकि परिहार मे यौन-सम्बन्धी विषयो से बचने का भरसक प्रयत्न किया जाता है, पर परिहास-सम्बन्ध मे यौन-सम्बन्धी हँसी-मजाक की उतनी ही छूट रहती है। देवर-भाभी, जीजा-साली, साले-बहनोई आदि का सम्बन्ध केवल आदिम समाजो मे ही नही, हमारे अपने समाज मे भी परिहास-सम्बन्ध के उत्तम उदाहरण हैं। ये एक-दूसरे को छेडते हैं, एक-दूसरे की सामान्य त्रुटि पर खिल्ली उडाते है, सबके सामने एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं और यौन-सम्बन्धी हँसी-मजाक मे सम्मिलित होते है। इन सम्बन्धियो मे हँसी-मजाक की मात्रा तथा क्षेत्र त्योहारो के दिनो मे बहुत बढ जाता है। होली का त्योहार इस मामले मे सबसे उल्लेखनीय है।

कुछ समाजो मे परिहास-सम्बन्ध का क्षेत्र गाली देने, यौन-सम्बन्धी भद्दे मजाक करने और खिल्ली उडाने तक ही सीमित न रहकर एक-दूसरे की वस्तुओ की दुर्गति या सम्पत्ति की बर्बादी करने तक विस्तृत होता है। मैलानेशिया मे भतीजे को यह अधिकार

---

25 "Joking relationship is a relation between two persons in which one is by custom permitted, and in some instances required, to tease or make fun of the other, who in turn is required to take no offence" —Radcliffe-Brown

होता है कि वह अपने चाचा की सम्पत्ति को चाहे रक्खे या बर्बाद करे और इनके बीच के परिहास-सम्बन्ध के कारण ही चाचा से यह आशा की जाती है कि वह भतीजे के किसी भी व्यवहार का बुरा न माने ।

कुछ समाजो मे परिहास-सम्बन्ध दादी-पोते या दादा-पोती के बीच भी होते हैं। कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ मामी-भानजे के बीच परिहास-सम्बन्ध पाये जाते है। अरापाही समाज मे जीजा साली मे से कोई भी अगर देर तक सोता है, तो उसपर जो जागता रहता है या जल्दी उठ जाता है, ठण्डा पानी डाल देता है। ये लोग आपस मे चुम्बन भी ले सकते हैं।

भारतीय जनजातियो मे भी परिहास-सम्बन्धो का अत्यधिक विस्तार है। देवर या साली के साथ हँसी-मजाक करने की प्रथाएँ तो बहुत ही सामान्य हैं। ओराँव तथा बैगा जनजातियो मे दादी-पोते या दादा-पोती के बीच परिहास-सम्बन्ध पाये जाते हैं।

श्री रिवर्स (Rivers) का विश्वास है कि परिहास-सम्बन्ध की उत्पत्ति फुफेरो-ममेरो मे विवाह-सम्बन्ध जो प्रारम्भिक युग मे सामान्य था, के कारण हुई है। श्री वेस्टर-मार्क इस सिद्धान्त से सहमत नही हैं। आपके मतानुसार किसी भी सस्था से किसी अन्य एक सस्था की उत्पत्ति की कल्पना करना बहुत सरल है परन्तु उसे प्रमाणित करना कठिन है। परिहास-सम्बन्ध केवल मात्र पारस्परिक समानता की ओर निर्देश करता है और उन दो सम्बन्धित व्यक्तियों को एक-दूसरे से घनिष्ठ करता है जिनसे कि पहले विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने की सम्भावना रहती थी। देवर-भाभी और जीजा-साली के बीच पाये जाने वाले परिहास-सम्बन्ध की उत्पत्ति इसी सम्भावना के आधार पर हुई होगी। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के अनुसार परिहास-सम्बन्धो का एक प्रतीकात्मक अर्थ (symbolic meaning) होता है और वह यह कि इस सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यक्ति हँसी-मजाक और यहाँ तक कि मारपीट के माध्यम से एक-दूसरे के प्रति मित्रता या प्रीति का प्रदर्शन करते हैं और पारिवारिक जीवन को सजीव बनाये रखने मे इनके महत्त्व को अस्वीकार नही करना चाहिए यदि इस प्रकार के सम्बन्धो का दुरुपयोग न किया जाय।

माध्यमिक सम्बोधन
(Teknonymy)

नातेदारी-व्यवस्था की एक और रीति माध्यमिक सम्बोधन है। इस रीति को माध्यमिक सम्बोधन इसलिए कहा जाता है कि इस रीति के अनुसार एक सम्बन्धी को सम्बोधन करने के लिये किसी एक दूसरे व्यक्ति को माध्यम बनाया जाता है क्योंकि उस सम्बन्धी को उसके नाम से पुकारना वर्जित होता है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष के प्राय: सभी ग्रामीण समुदायो मे पति का नाम लेना पत्नी के लिये वर्जित होता है। इस कारण पत्नी पति को सम्बोधन करने के लिये अपने किसी लड़के या लड़की को माध्यम बना लेती है और उसीके सम्बन्ध से पति को पुकारती है। जैसे, यदि लड़के का नाम राजू है तो वह स्त्री अपने पति को 'राजू के पिता' कहकर सम्बोधित करती है।

'माध्यमिक सम्बोधन का अंग्रेजी शब्द 'टेक्नॉनिमी' (teknonymy) ग्रीक

भाषा से बना है और इसे मानवशास्त्रीय साहित्य मे सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय श्री टायलर को है। सांख्यकीय पद्धति (Statistical Method) के आधार पर श्री टायलर का निष्कर्ष यह है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति मातृसत्तात्मक परिवार से सम्बन्धित है। इस प्रकार के परिवारो मे स्त्रियो की प्रधानता होती थी और पति को एक बाहर का व्यक्ति समझा जाता था जिसके कारण परिवार मे उसकी कोई विशेष स्थिति नही होती थी। इसीलिये उसे प्राथमिक सम्बन्धियो (primary kins) मे सम्मिलित न करके केवल द्वितीयक सम्बन्धी (secondary kins) के रूप मे स्वीकार किया जाता था और इस उद्देश्य से उस पति को उन बच्चो के, जिनको कि पैदा करने मे उसने सहायता की है, माध्यम से सम्बोधन किया या पुकारा जाता था। इसी रीति का जब विस्तार हुआ तो माता को भी माध्यमिक सम्बोधन से पुकारा जाने लगा।

श्री टायलर (Tylor) का कथन था कि उनके अध्ययन मे प्राय ३० जनजातियाँ ऐसी थी जिनमे कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति प्रचलित थी, जिसमे कि दक्षिणी अफ्रीका की बेचुयाना, पश्चिमी कनाडा की क्रो तथा भारत (आसाम) की खासी जनजातियो का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानो से पता चलता है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति का विस्तार इससे कही अधिक है। श्री फ्रेजर (Frazer) ने इस रीति का प्रचलन आस्ट्रेलिया, न्यू गिनी, मलाया, चीन, उत्तरी साइबेरिया, अफ्रीका की विभिन्न बाँटू (Bantu) जनजातियो, उत्तरी ब्रिटिश कोलम्बिया आदि मे पाया है। श्री लोई (Lowie) का कथन है कि श्री फ्रेजर द्वारा प्रस्तुत यह सूची भी पूरी नही है। उपरोक्त जनजातियो या स्थानो के अलावा भी अनेक अन्य स्थानो मे माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन है। उदाहरणार्थ, अण्डमान, लका, फिजी, मैलेनेशिया तथा अमेरिका के विभिन्न भागो मे भी इस रीति का प्रचलन है। होपी समाज मे एक स्त्री अपनी सास को 'अमुक की दादी' और ससुर को 'अमुक का दादा' कहकर पुकारती है। इसी ढग से पुरुष भी अपने सास-ससुर को सम्बोधित करते हैं। पति और पत्नी भी एक-दूसरे को बच्चो के माध्यम से सम्बोधित करते हैं।

माध्यमिक सम्बोधन की रीति की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे श्री टायलर के सिद्धान्त को भी श्री लोई ने स्वीकार नही किया है। आपका कथन है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति पुरुषो के लिये ही नही स्त्रियो के लिये भी क्यो प्रयोग मे लायी जाती है, इसकी व्याख्या श्री टायलर के मातृसत्तात्मक परिवार के सिद्धान्त के आधार पर सम्भव नही। आस्ट्रेलिया, मैलेनेशिया आदि की जनजातियाँ पितृसत्तात्मक और पितृस्थानीय होते हुए भी उनमे माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन पाया जाता है। वास्तव मे इस रीति का प्रचलन विभिन्न समाजो मे भिन्न-भिन्न कारणो से हुआ है। कुछ समाजो मे इसके प्रचलन का कारण स्त्रियो की गिरी हुई स्थिति है (जैसे गोण्ड जनजाति मे), कुछ समाजो मे पुरुषो की स्थिति नीची होने के कारण और कुछ समाजो मे प्रत्येक प्रकार के सम्बन्धी के लिये पृथक्-पृथक् शब्दो या सज्ञाओ की कमी के कारण (जैसे होपी जनजाति मे) इस रीति का प्रचलन हुआ है।[26]

---

26 Robert H Lowie, *op cit*, pp 103-104

मातुलेय
(Avunculate)

'एवकुलेट' (avunculate) या मातुलेय शब्द उस प्रथा की ओर निर्देश करता है जो कि मामा-भानजे या भानजी के पारस्परिक सम्बन्धो को एक विशिष्ट ढग से नियमित करता है। इसका प्रचलन उन मातृसत्तात्मक परिवारो मे होता है जहाँ कि माता के भाई (मामा या मातुल) का पारिवारिक मामले मे अत्यधिक महत्त्व और नियन्त्रण होता है। यदि पारिवारिक मामले मे मामा का अधिकार और नियन्त्रण प्रमुख है, यदि लोगो से यह माग की जाती है कि वे अपने पिता से भी अधिक सम्मान मामा का करे, यदि मामा का भी अपने भानजे-भानजियो के प्रति उनके पिता से कही अधिक उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य है, यदि मामा अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भानजे को ही बनाये और यदि भानजा भी पिता की अपेक्षा मामा की सेवा अधिक करे—अर्थात् अन्य सभी पुरुष सदस्यो मे मामा का स्थान या स्थिति सर्वोपरि हो तो इस व्यवस्था या प्रथा को मातुलेय कहते हैं।

उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका की हैडा जनजाति मे यह प्रथा है कि दस वर्ष की आयु मे पुत्र पिता का घर छोडकर अपने मामा के यहाँ रहने के लिये चला जाता है, वही पर रहकर वह मामा के परिवार और समाज की बातो को सीखता है, मामा की सेवा करता है और बडे होने पर मामा की सम्पत्ति की देख-रेख करता है। मामा भी उसके समस्त भार को सहर्ष अपने ऊपर ले लेता है। मामा के गोत्र, जादू, धर्म तथा सम्पत्ति पर भानजे का ही अधिकार होता है। ट्रोब्रियड (Trobriand) जनजातियो मे भी ठीक इसी प्रकार से होता है। होपी तथा जूनी जनजातियो मे पुत्र तब तक अपने पिता के घर मे रहता है जब तक उसकी विवाह की आयु न आ जाये। इस आयु मे वह अपने मामा के घर चला जाता है और मामा उसका विवाह-सस्कार करवा के अपने परिवार के सदस्य के रूप मे स्वीकार कर लेता है।

मातुलेय प्रथा प्रत्येक समाज मे शान्तिपूर्वक ढग से स्वीकार नही की जाती है। उदाहरणार्थ, ट्रोब्रियड प्रायद्वीप के निवासियो मे पिता के स्नेह तथा मातुलेय कर्त्तव्य के बीच प्राय सघर्ष उत्पन्न हो जाता है। हो सकता है कि पिता को अपने लडके से इतना प्यार हो जाय कि वह अपनी सम्पत्ति को भानजे को देने के बजाय अपने ही लडके को देना अधिक पसन्द करे। उस अवस्था मे भानजे तथा मामा के बीच एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

यह सच है कि मातुलेय प्रथा मातृसत्तात्मक समाजो की एक विशेषता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि पितृसत्तात्मक समाज मे इसका बिलकुल ही प्रचलन नही है। दक्षिणी अफ्रीका की थोगा (Thonga) जनजाति पितृवशीय है। यहाँ पत्नी को विवाह के पश्चात् अपने पति के गाँव या घर मे जाकर रहना पडता है और बच्चो पर भी पिता के परिवार का अधिकार होता है। फिर भी मामा का घर बच्चो के लिये 'द्वितीयक शरण स्थान' (secondary haven) होता है। कोमांचे जनजाति मे भी, जो कि पितृसत्तात्मक है, मातुलेय प्रथा का प्रचलन है।

पितृश्वस्रेय (Amitate)

'मातुलेय' प्रथा के अन्तर्गत जिस प्रकार माता के भाई का विशेष अधिकार तथा स्थिति होती है, उसी प्रकार पितृश्वस्रेय प्रथा मे पिता की बहन बुआ या पितृश्वसा का अधिक महत्त्व होता है। डा० रिवर्स (Rivers) ने इस प्रकार की अनेक जनजातियो का उल्लेख किया है जिनमे कि इस प्रकार की प्रथा पायी जाती है। बैंक्स प्रायद्वीप मे एक व्यक्ति अपनी बुआ का अपनी माता से कही अधिक सम्मान करता है और उस व्यक्ति के विवाह-साथी का चुनाव बुआ के द्वारा ही होता है। बुआ की सम्पत्ति पर एक व्यक्ति को पूर्ण अधिकार होता है। वह व्यक्ति उस सम्पत्ति को अपने मनमाने ढग से खच कर सकता है। दक्षिणी अफ्रीका की कुछ जनजातियो मे भी यह प्रथा पायी जाती है। वे लोग भी अपनी बुआ का काफी आदर करते हैं। टोडा जनजाति मे बच्चे का नामकरण करने का अधिकार बुआ को ही होता है। कुछ जनजातियो मे तो दाह-सस्कार का भी अधिकार बुआ को ही प्राप्त होता है। सर्वश्री चैपल तथा कून (Chapple and Coon) का मत है कि पितृश्वस्रेय प्रथा के प्रचलन का कारण उन सम्वन्धियो मे पारस्परिक सामाजिक अन्त क्रिया को बनाये रखना है, जिनमे कि विवाह के पश्चात् उस अन्त क्रिया के समाप्त होने की सम्भावना रहती है।

सह-प्रसविता या सहकष्टी (Couvade)

नातेदारी-व्यवस्था के अन्तर्गत एक अति निराली प्रथा 'सह-प्रसविता' है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रथा का सम्बन्ध प्रसव-काल से है। इस प्रथा के अनुसार पति के लिये भी यह आवश्यक हो जाता है कि जब कभी भी उसकी पत्नी का बच्चा होने वाला हो तो पति भी उन सब कष्टो को अनुभव करे तथा बहुत-कुछ वैसा ही व्यवहार करे और दिन गुजारे जैसा कि प्रसवा कर रही है। ऐसी स्थिति मे पति को भी उसी प्रकार का भोजन करना पडता है जैसा कि प्रसवा करती है, उसे भी उसी कमरे मे बन्द रक्खा जाता है जिसमे कि प्रसवा बच्चा प्रसव होने के बाद कुछ दिनो के लिये रहती है। फलत जिस प्रकार प्रसवा को छूत माना जाता है उसी प्रकार उसके पति को भी कोई छूता नही है। कुछ जनजातियो मे तो यहाँ तक नियम है कि बच्चा प्रसव होने के समय जो दर्द प्रसवा को होता है और जिसके कारण वह रोती-चिल्लाती है उसी प्रकार पति को भी उन कष्टो को अनुभव करना तथा चिल्लाना-चीखना पडता है। इतना ही नही, प्रसवा जिन-जिन नियमो का पालन करती है, पति को भी उन्ही नियमो का पालन करना पडता है। इसीलिये खासी जनजाति मे पति, अपनी पत्नी की भाँति, बच्चा पैदा न हो जाने तक कोई नदी पार नही करता या कपडे नही धोता है।

इस प्रथा के प्रचलन के सम्वन्ध मे मानवशास्त्री एक मत नही हैं। कुछ विद्वानो का कथन है कि जनजातियो के जादू के द्वारा नुकसान पहुँचने का डर अत्यधिक होता है। इसलिए वे माता और पिता दोनो पर ही अनेक प्रतिवन्ध लगाकर उन दोनो की जादू-टोने से तब तक रक्षा करते है जब तक बच्चा सकुशल पैदा न हो जाय। कुछ मानवशास्त्रियो

के अनुसार इस प्रथा द्वारा पति भी सन्तान के प्रति अपना उत्तरदायित्व प्रदर्शित करता है। यह भी हो सकता है कि पत्नी के प्रति समवेदना प्रदर्शित करने के लिये पति ऐसा करता है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि इस प्रथा के पालन द्वारा पति अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति प्रेम की भावना को व्यक्त करता है जिसके फलस्वरूप उनका पारस्परिक सम्बन्ध और दृढ होता है। डा० दुबे ने लिखा है कि "इस प्रथा के मूल मे सामाजिक कारण यह दीख पडता हैं कि जो व्यक्ति इतने कष्ट सहता है, वह सामाजिक रूप से ज्ञात हो जाता है और इसलिये वह पुरुष उस सन्तति का पिता बनने का अधिकारी हो जाता है। यह सदैव आवश्यक नही है कि यह पिता जैविकीय (biological) पिता भी रहा हो। टोडा समाज मे इस प्रथा को धनुष-बाण की भेंट देकर पूरा किया जाता है।" जिस प्रकार टोडा जनजाति धनुष-बाण भेंट करके पितृत्व का अधिकार प्राप्त करती है, उसी प्रकार दूसरे समाजो मे सह-प्रसविता पितृत्व को प्रदर्शित करने की एक सामाजिक प्रथा है।

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959

2 *Encyclopaedia of Social Sciences*, The Macmillan Co , New York, 1930, Vol IV

3 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

4 Hobhouse, Wheeler and Ginsberg *The Material Culture and Social Institutions of the Simple Peoples*, London, 1930.

5 Kapadia, K M *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay, 1955

6 Linton, R *The Study of Man*, Appleton Century Crofts, New York, 1936

7 Lowie, R H *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1953

8 Majumdar, D N *The Fortunes of Primitive Tribes*, 1944

9. Majumdar, D N *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958

10 Murdock, G P *Social Structure*, New York, 1949

11 Piddington, R *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952

12 Prabhu, P H *Hindu Social Organization*, Popular Book Depot, Bombay, 1958

13 Stow, G W *The Native Races of South Africa*, London, 1905

14 Westermarck, E A *The History of Human Marriage*, The Macmillan Co , London, 1926

15 Winick Charles, *Dictionary of Anthropology*

१०

परिवार और गोत्र

(THE FAMILY AND CLAN)

विषय-सूची—दशम अध्याय

१. भूमिका
२ परिवार क्या है
३. परिवार की सामान्य विशेषताएँ
४. परिवार की विशिष्ट विशेषताएँ
५. परिवार—एक प्रकार्यात्मक इकाई के रूप मे
६ परिवार की उत्पत्ति के सिद्धात
७ परिवार के भेद
८. वश-समूह
९. गोत्र
१०. निष्कर्ष

अध्याय १०

परिवार और गोत्र
(The Family and Clan)

मानव-समाज का इतिहास परिवार का ही इतिहास है क्योकि मानव-जीवन के प्रारम्भ से परिवार उसके साथ है। किसी न किसी रूप मे यह सास्कृतिक विकास के सभी स्तरो पर पाया जाता है। परिवार ही समाज की प्रारम्भिक इकाई है। मनुष्य का जन्म, विकास और सस्कृतीकरण परिवार से ही प्रारम्भ होता है, और उसी परिवार के प्रसार से ही समस्त राष्ट्र का निर्माण होता है। इस अर्थ मे हम सब लोग उस प्रथम परिवार के ही सदस्य हैं, जो कि सबसे पहले इस पृथ्वी पर बसा होगा। इसीलिये सम्पूर्ण मानव-जाति को एक ही परिवार का क्रमिक विकसित रूप समझा जा सकता है।

प्रत्येक समाज मे, चाहे आदिम हो या आधुनिक, परिवार का होना अत्यावश्यक है क्योकि बिना परिवार के समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव नही। मनुष्य मरता रहता है, परन्तु परिवार की सहायता से मानव-जाति अमर हो गयी है क्योकि समाज मे जो लोग मरते जाते हैं उनके स्थानो को परिवार ही नयी सन्तानों से भर देता है। इस प्रकार परिवार द्वारा मृत्यु और अमरत्व, दो विरोधी अवस्थाओ का सुन्दर समन्वय सम्भव हुआ है।

किसी विद्वान ने सच ही लिखा है कि "प्रत्येक मनुष्य मे सदैव जीवित रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है। आजकल के मनोवैज्ञानिक इसे जिजीविषा या सरक्षण की सहज वृद्धि कहते हैं। मनुष्य ने मृत्यु पर विजय पाने के लिये, अतीत काल मे अनेक उपाय ढूंढे, अमृत की खोज की, नाना रसायन बनाये, आज भी वैज्ञानिक इस सम्बन्ध मे अनेक परीक्षण कर रहे हैं, किन्तु अब तक विवाह और परिवार से अधिक सरल, सुन्दर और उत्तम कोई उपाय नही खोजा जा सका। ऋग्वेद मे यह प्रार्थना की गयी है कि 'मैं प्रजा द्वारा अमृत्व का उपभोग करूँ।' विवाह द्वारा परिवार बनाकर मनुष्य सन्तानो के माध्यम से अपने को फैलाता है, लम्बा करता है और अमर बनाता है। •.पुत्र के रूप मे पिता का ही पुनर्जन्म होता है, क्योकि पिता के अग-अग और हृदय से प्राप्त अशो को लेकर ही पुत्र की उत्पत्ति होती है। मनुष्य को यदि अनिवार्य मृत्यु का दुख है, तो उसे इस बात का भी अवश्य सन्तोष है कि परिवार द्वारा उसने एक ऐसा हल ढूंढ लिया है, जिससे वह अपने वशजो के रूप मे अनन्तकाल तक जीवित रहेगा तथा सदा बढता और फलता-फूलता रहेगा। सन्तति द्वारा अपने वश को सुरक्षित रखना प्राणिजगत् का सार्वभौम नियम है।" परिवार उसी नियम का आधार और आगार है। इस अध्याय मे उसी परिवार की हम विवेचना और विश्लेषण करेंगे।

परिवार क्या है ?
(What is a Family ?)

सर्वश्री ऑगवर्न और निमकॉफ (Ogburn & Nimkoff) के अनुसार "बच्चो या बिना बच्चो वाले एक पति-पत्नी के या किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले ही अपने बच्चे सहित एक थोडे-बहुत स्थायी सघ को परिवार कहते है।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि उक्त विद्वान परिवार को एक समिति (association) या सघ (union) के रूप मे परिभाषित करते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि इस सघ या समिति का निर्माण एक पति-पत्नी और उनके बच्चो के सम्मिलन से या केवल पति-पत्नी के योग से या विधवा स्त्री और उसके बच्चो के सम्मिलित रूप मे रहने से या पुरुष और उसके बच्चो के ही साथ-साथ रहने से हो सकता है या होता है। सक्षेप मे, उक्त विद्वानो की परिभाषा से परिवार का सघात्मक पहलू स्पष्ट होता है।

इसके विपरीत सर्वश्री मैकाइवर और पेज (MacIver & Page) ने विशेषकर परिवार के सस्थात्मक पहलू पर अधिक बल देते हुए परिवार की परिभाषा निम्न शब्दो मे की है—"परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चो के जनन और लालन-पालन की व्यवस्था करता है।"[2] इन विद्वानो की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि परिवार नामक समूह पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित होता है जिसे कि हम विवाह कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, एक परिवार का जन्म स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध से होता है और यह वह साधन है जिसके द्वारा बच्चो का जन्म और लालन-पालन सम्भव होता है। इस प्रकार समाज द्वारा मान्यता प्राप्त ढग से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने तथा बच्चो के जन्म और पालन-पोषण की व्यवस्था करने के उद्देश्य से स्थापित समूह को परिवार कहते हैं। इस अर्थ मे सर्वश्री मैकाइवर और पेज की परिभाषा सर्वश्री ऑगवर्न तथा निमकॉफ की परिभाषा से अधिक विस्तृत है।

परिवार की अन्य विशेषताओ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से सर्वश्री बर्गेस और लॉक (Burgess & Locke) ने परिवार को निम्न ढग से परिभाषित किया है—"एक परिवार विवाह, रक्त-सम्बन्ध या गोद लेने के बन्धनो से सबद्ध व्यक्तियो का एक ऐसा समूह है जो कि एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं और जो एक-दूसरे के साथ अन्त क्रिया और अन्त.सदेश करते हुए पति-पत्नी, माता-पिता, लडके लडकी और भाई-बहन के रूप मे अपने-अपने सामाजिक कार्यों को करते रहते हैं और एक सामान्य सस्कृति को बनाते व उसकी रक्षा करते हैं।"[3] इस परिभाषा से परिवार के एकाधिक पहलुओ

1 "Family is more or less a durable association of husband and wife with or without children, or of a man or woman alone with children" Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, Routledge and Kegan Paul, London

2 "The family is a group defined by a sex-relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children" MacIver and Page, *Society*, Macmillan & Co, London, 1959, p 238

3 "A family is a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption, constituting a single household, interacting and intercommunicating with each other in their respective social role of husband and wife, mother and

पर प्रकाश पडता है। प्रथमत तो यह कि परिवार कुछ व्यक्तियो का एक समूह है और इस समूह का निर्माण तीन ढग से हो सकता है, अर्थात् परिवार के सदस्य या तो विवाह-सम्बन्ध (जैसे पति-पत्नी का सम्बन्ध) द्वारा, या रक्त-सम्बन्ध (जैसे माता-पुत्र या भाई-बहन तथा अन्य रक्त-सम्बन्धी) या गोद लेने के फलस्वरूप उत्पन्न सम्बन्ध के द्वारा सबद्ध या जकडे हुए होते है। अत परिवार के सम्बन्ध मे दूसरी बात यह है कि परिवार नामक सघ या समूह मे एकाधिक सदस्य होते है, केवल एक स्त्री या एक पुरुष से परिवार का निर्माण नही हो सकता। इन एकाधिक सदस्यो की परिवार मे एक निश्चित स्थिति होती है जैसे, कोई पति है तो कोई पत्नी, कोई लडका है तो कोई लडकी, कोई भाई है तो कोई बहन, कोई माँ है तो कोई पिता। इन विभिन्न स्थिति वाले व्यक्तियो मे से प्रत्येक का उसकी स्थिति से सम्बन्धित कुछ सामाजिक या पारिवारिक कार्य होता है। तीसरी बात यह है कि परिवार के इन सदस्यो के कार्य पृथक्-पृथक् नही होते, बल्कि ये कार्य एक दूसरे से सम्बन्धित या एक-दूसरे के प्रति होते हैं। अर्थात् अपनी-अपनी स्थिति और कार्य के अनुसार परिवार के सदस्यो मे पारस्परिक अन्त क्रिया तथा अन्त सदेश (interaction and inter-communication) चलता रहता है। इन्ही अन्त क्रियाओ तथा अन्त सदेशो के आधार पर पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित ही नही होता बल्कि उनकी निरन्तरता भी बनी रहती है। परिवार के सम्बन्ध मे चौथी बात यह है कि उसके सदस्यो की पारस्परिक अन्त क्रिया और अन्त सदेश के फलस्वरूप परिवार का अपना एक व्यवहार-प्रतिमान विकसित हो जाता है जिसे 'सस्कृति' कहते है और जो कि उन्ही अन्त क्रियाओ और अन्त सदेशो के कारण सुरक्षित रहता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त विद्वानो ने 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग बहुत ही सकुचित रूप मे किया है। एक परिवार की अपनी कोई 'सस्कृति' नही हो सकती, अपनी कुछ विशेषता अवश्य हो सकती है। परिवार तो सस्कृति की अभिव्यक्ति की एक इकाई मात्र है और उस इकाई के रूप मे सम्पूर्ण सस्कृति की रचना और रक्षा मे कुछ योगदान मात्र होता है।

परिवार की सामान्य विशेषताएँ
(General Characteristics of the Family)

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver & Page) ने परिवार की कुछ ऐसी सामान्य विशेषताओ का उल्लेख किया है जो प्रत्येक समाज, प्रत्येक युग और प्रत्येक परिवार मे मिलती हैं, चाहे वह परिवार सभ्य समाज का हो या असभ्य समाज का।[4] वे विशेषताएँ निम्नवत् हैं—

(१) विवाह-सम्बन्ध (Mating relationship)—एक परिवार का जन्म स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध से होता है। यह सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होता है और इसके आधार पर उनमे यौन-सम्बन्ध स्थापित होने के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तान मिल-

---

father, son and daughter, brother and sister, and creating and maintaining a common culture" Burgess and Locke, *The Family*, American Book Co, New York, p 8

4 MacIver and Page, *op cit*, p 238

कर परिवार का निर्माण होता है। यह विवाह-सम्बन्ध आजीवन बना रहता है यदि बीच मे विवाह-विच्छेद या मृत्यु के कारण न टूट जाय।

(२) **विवाह का एक स्वरूप** (A form of marriage)—दो या अधिक स्त्री-पुरुष मे आवश्यक सम्बन्ध (जिसमे यौन-सम्बन्ध भी सम्मिलित होता है) स्थापित करने और उसे स्थिर रखने की कोई न कोई सस्थात्मक व्यवस्था या तरीका प्रत्येक समाज मे पाया जाता है, जिसे विवाह कहते हैं। यह व्यवस्था एक-विवाह, बहुपति-विवाह, बहुपत्नी-विवाह या समूह-विवाह का रूप धारण कर सकती है। एक-विवाह सभी सभ्य समाजो मे और अनेक जनजातीय समाजो मे जैसे खासी, सथाल और कादर जनजातीय समाजो मे पाये जाते हैं। बहुपति-विवाह खस, टोडा, कोटा आदि भारतीय जनजातियो मे पाये जाते हैं। हिन्दू समाज के धार्मिक इतिहास मे पाँच पाण्डवो का द्रोपदी से विवाह आदि दो-एक उदाहरण बहुपति-विवाह के अवश्य मिलते हैं, पर ये सब अपवाद मात्र हैं। भारत की नागा जनजातियो, गोड, बैगा, टोडा आदि अनेक जनजातीय समाज मे बहुपत्नी विवाह का प्रचलन है। हिन्दू-विवाह अधिनियम सन् १९५५ के पास होने से पहले हिन्दू समाज में भी बहुपत्नी-विवाह के असख्य उदाहरण मिल सकते थे। समूह-विवाह का स्वरूप आस्ट्रेलिया की जनजातियो की एक निराली विशेषता है।

(३) **वश-नाम की एक व्यवस्था** (A system of nomenclature)—प्रत्येक परिवार मे कोई-न-कोई वश-नाम निश्चित करने का एक नियम हुआ करता है, जिनके अनुसार एक परिवार विशेष के बच्चो का उपनाम (surname) या वश-नाम निर्धारित होता है और उसके वशजो को पहचानने मे मदद मिलती है। यह वश-नाम मातृवशीय (matrilineal) या पितृवशीय (patrilineal) होता है जो कि वास्तविक रक्त-सम्बन्ध (जैसे, बच्चे के साथ उसको जन्म देने वाले माता-पिता का सम्बन्ध) या काल्पनिक रक्त-सम्बन्ध (जैसे, बच्चे के साथ उसे गोद लेने वालो का सम्बन्ध) पर आधारित होता है। अधिकतर सभ्य समाजो तथा अनेक जनजातीय समाजो मे वश पिता के नाम पर चलता है जबकि भारत के खासी, गारो, नायर आदि समाजो मे बच्चे अपने परिवार का नाम माता से ग्रहण करते हैं, न कि पिता से।

(४) **कुछ आर्थिक व्यवस्था** (Some economic provision)—प्रत्येक परिवार मे कुछ-न-कुछ आर्थिक व्यवस्था अर्थात् जीवित रहने के लिये आवश्यक वस्तुओ को प्राप्त करने का साधन होता है जिसके द्वारा परिवार के सदस्यो का और बच्चो का पालन-पोषण हो सके।

(५) **एक सामान्य निवास या घर** (A common habitation)—प्रत्येक परिवार के सदस्यो के रहने के लिये, एक सामान्य घर या निवास होता है। ऐसे घर मातृस्थानीय निवास (matrilocal residence) जैसे खासी, गारो, नायर आदि लोगो मे या पितृस्थानीय निवास (patrilocal residence) जैसे हमारे अपने समाज में हो सकते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति न पत्नी के यहाँ और न पत्नी पति के यहाँ रहती है, परन्तु वे दोनो ही एक नया निवास बनाकर रहने लगते हैं। इस प्रकार के परिवार को डा० दुबे ने 'नवस्थानीय परिवार' कहा है।

परिवार की विशिष्ट विशेषताएँ (Distinctive Features of the Family)

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज ने परिवार की कुछ ऐसी विशेषताओ का भी उल्लेख किया है जो कि दूसरी समितियो मे नही पायी जाती—

(क) **सार्वभौमिकता** (Universality)—परिवार नामक समिति अन्य सभी सामाजिक समितियो या सघो मे सबसे अधिक सार्वभौम है। यह सभी समाजो मे, और सामाजिक विकास की सभी अवस्थाओ मे पायी जाती है। परिवार न केवल मनुष्यो मे बल्कि पशुओ तक मे भी पाया जाता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी परिवार का सदस्य है, रहा है और भविष्य मे भी रहेगा।

(ख) **भावनात्मक आधार** (Emotional basis)—परिवार यौन-सम्बन्ध, वात्सल्य, बच्चो के लालन-पालन की अभिलाषा, प्रेम, सहयोग, माता-पिता की सरक्षा तथा ऐसी ही अनेक स्वाभाविक भावनाओ पर आधारित होता है जो कि परिवार को अधिक स्थायी, आकर्षक और घनिष्ठ बना देती हैं।

(ग) **रचनात्मक प्रभाव** (Formative influence)—परिवार सभी व्यक्तियो का सर्वप्रथम सामाजिक पर्यावरण होता है और व्यक्ति के चरित्र-निर्माण मे इसका प्रभाव सबसे अधिक पडता है। शिशुकाल मे परिवार का जो प्रभाव पडता है वही व्यक्तित्व के आधारो को निश्चित करता है और शारीरिक व मानसिक दोनो ही प्रकार के विकास मे सहायक होता है। इसीलिये कहा गया है कि "अच्छे परिवार मे जन्म लेना जीवन के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार को प्राप्त कर लेना है।"

(घ) **सीमित आकार** (Limited size)—परिवार का आकार सीमित होता है, किसी भी परिवार के सदस्यो की सख्या दो-चार सौ नही होती। इसका कारण यह है कि इसके सदस्य वही व्यक्ति हो सकते हैं जिनमे कि वास्तविक या काल्पनिक रक्त-सम्बन्ध हो।

(ङ) **सामाजिक ढांचे मे केन्द्रीय स्थिति** (Nuclear position in the social structure)—परिवार सभी सामाजिक सगठनो का केन्द्र है। साधारणतया सभी समाजो मे सामाजिक ढाँचा परिवार की इकाइयो (units) से ही बना होता है। कोई भी समाज परिवार के बिना, स्थिर नही रह सकता। इसीलिये अरस्तु (Aristotle) ने समुदाय की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'समुदाय परिवारो का ही योग या सघ है।'

(च) **सदस्यों का उत्तरदायित्व** (Responsibility of the members)—परिवार अपने सदस्यो पर अनेक उत्तरदायित्व लादता है और वह उन सदस्यो से बहुत-कुछ आशा करता है। यह हो सकता है कि सकट के समय व्यक्ति अपने देश के लिये कार्य करे, युद्ध करे या उसके लिये जान तक की बाजी लगा दे, पर परिवार के लिये तो वह सदा ही कुछ न कुछ करता और सोचता रहता है। परिवार के सदस्य एक-दूसरे के सुख और समृद्धि के लिए अपने सुखो को बलिदान करने मे नही हिचकिचाते। एक-दूसरे के प्रति परिवार के सदस्यो का उत्तरदायित्व-बोध परिवार के

सगठन और स्थायीत्व के लिये परम आवश्यक है, इसीलिये इस सम्बन्ध मे प्रत्येक समाज मे कुछ न कुछ प्रथाएँ तथा रूढीयाँ होती हैं।

(छ) सामाजिक नियम (Social regulation)—परिवार पर समाज की प्रखर दृष्टि होती है और सामाजिक प्रथाएँ, सामाजिक निषेध (taboos) और कानून परिवार की रक्षा करते हैं। विशेषकर आधुनिक समाजो मे ऐसे अनेक नियम है जिनके अनुसार मनमाने तौर पर न तो विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और न ही तोडा जा सकता है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष मे विशेष विवाह अधिनियम, सन् १९५४ के अनुसार विवाह तभी वैध्य होगा जब विवाह के समय किसी भी पक्ष का जीवित जीवनसाथी न हो, अर्थात् बहु-विवाह की मान्यता नही है। उसी प्रकार विवाह-विच्छेद भी कुछ निश्चित अवस्थाओ मे ही मान्य है।

(ज) परिवार की स्थायी और अस्थायी प्रकृति (Its permanent and temporary nature)—एक समिति या सघ के रूप मे परिवार स्थायी और परिवर्तनशील होता है क्योकि मृत्यु, कारावास, त्याग (desertion) या तलाक से यह भग हो सकता है परन्तु सस्था के रूप मे परिवार सदा ही बना रहता है। इसीलिये मानव के प्रारम्भिक या आदिम जीवन से अब तक परिवार किसी न किसी रूप मे अवश्य ही बना हुआ है।

परिवार—एक प्रकार्यात्मक इकाई के रूप मे
(The Family as a Functional Unit)

परिवार समाज की एक आधारभूत और महत्त्वपूर्ण इकाई है और उस रूप मे अनेक कार्यों को करना होता है। व्यक्तिगत या सामाजिक किसी भी दृष्टिकोण से परिवार के कार्यों के महत्त्व को कम नही किया जा सकता। श्री एलमर (Elmer) का कथन है कि आज का मानव कितने ही अनोखे आविष्कार कर रहा है, फिर वह परिवार के अलावा ऐसे किसी दूसरे निर्भरयोग्य सगठन का आविष्कार नही कर पाया है जिस पर कि परिवार के आधारभूत कार्यों को निश्चिन्त और निर्भय होकर सौंपा जा सके। परिवार के कार्यों का महत्त्व आदिम मानव के जीवन मे तो और भी अधिक है। इसलिये एक प्रकार्यात्मक इकाई (functional unit) के रूप मे भी परिवार की विवेचना कर लेना आवश्यक है।

प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यौन-सम्बन्धी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि तथा सन्तानो को उत्पन्न करना है। परिवार वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य की यौन-क्रियाओ का नियन्त्रण तथा नियमन होता रहता है। यह सच है कि आदिम समाजो मे इस सम्बन्ध मे कुछ छूट है, परन्तु उस छूट की भी एक सीमा है जिसके अन्दर प्रत्येक समाज का परिवार अपने सदस्यो के यौन-व्यवहार को नियन्त्रित और नियमित करता है। कोनयक नागा, मुरिया, थारू, खस आदि भारतीय जनजातियो के अध्ययन से इस बात की सत्यता प्रमाणित होती है। सभ्य समाज मे तो इधर-उधर प्रेम प्रदर्शित करने का नियम नही है और यदि वह ऐसा करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। समाज मे उस स्त्री की भी कोई मर्यादा नही रहती जो कि परिवार या विवाह-सम्बन्ध के बाहर यौन-सम्बन्ध स्थापित करती है और न ही ऐसी स्त्री के प्रति

कोई सामाजिक उत्तरदायित्व अनुभव करता है। इसीलिये प्रत्येक स्त्री या पुरुष परिवार का सदस्य होना चाहता है क्योकि एकाकी जीवन बिताना यदि असम्भव नही तो निराशाजनक तथा कष्टप्रद अवश्य होता है। यौन-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति तथा एकाकी जीवन की समस्त असुविधाओ का हल पारिवारिक सगठन के अन्तर्गत जितनी सरलता से ढूंढा जा सकता है उतना शायद और कही नही। मानव जीवन के इस पक्ष से सम्बन्धित आवश्यकताओ की निरन्तर सन्तुष्टि करके परिवार बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार का एक दूसरा कार्य सन्तान उत्पन्न करना है। स्त्री-पुरुष मे माता या पिता बनने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है जिसे कि परिवार सन्तुष्ट करता है। वैसे सन्तानोत्पत्ति का कार्य परिवार के बाहर भी हो सकता है, परन्तु कही भी अवैध सन्तानो को समाज स्वीकार नही करता है। परिवार के इस कार्य का एक सामाजिक महत्त्व भी है और वह यह है कि इस कार्य के कारण ही समाज या मानव-जाति की निरन्तरता बनी रहती है। यदि परिवार सन्तान उत्पन्न न करे तो शीघ्र ही ऐसा समय आ जाय जबकि मानव-जाति का नाम तक मिट जाय। परिवार के सन्तानोत्पत्ति के कार्य के द्वारा जन्म और मृत्यु मे एक सतुलन होता जाता है और समाज की निरन्तरता बनी रहती है।

बच्चे की रक्षा और सामाजीकरण का कार्य भी परिवार का महत्त्वपूर्ण प्राथमिक कार्य है। जब बच्चा पैदा होता है तो वह एक असहाय जीवित प्राणी मात्र होता है। यह परिवार द्वारा दी गयी रक्षा ही है जो बच्चे को जीवित रखती है। उसी प्रकार परिवार प्राणिशास्त्रीय प्राणी के रूप मे एक बच्चे को एक सामाजिक प्राणी मे बदल देता है। परिवार उसे खाने-पीने का ढग, भाषा, व्यवहार करने का ढग, रीति-रिवाज आदि सिखाता है। परिवार मे बच्चा सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ, क्षमा का महत्त्व और सहयोग की आवश्यकता को सीखता है और अपनी मौलिक धारणाएँ, नमूने, आदर्श और शैली की रचना करता है। परिवार मे माता-पिता, भाई-बहन आदि के प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति, प्रीति इत्यादि से बच्चो के मानसिक विकास मे बहुत मदद मिलती है।

परिवार सामाजिक नियत्रण का भी कार्य करता है। परिवार ही वह आधारभूत शिक्षा-सस्था है जहाँ कि बालक को नागरिकता का प्रथम पाठ पढाया जाता है। वास्तव मे परिवार बच्चो मे कुछ ऐसे गुणो को भर देता है जो कि उन्हें आगे चलकर आदर्श नागरिक बनने मे सहायक सिद्ध होते हैं। परिवार मे ही बच्चा दूसरो के साथ मिलकर और उनके व्यवहारो के साथ अनुकूलन करते हुए रहना सीखता है और परिवार मे ही प्रेम, आत्म-त्याग, कर्त्तव्य-पालन, आज्ञा-पालन, परोपकार, सहयोग आदि सद्गुण बच्चे मे विकसित होते हैं।

परिवार अनेक आर्थिक कार्यो को भी करता है। यह बात विशेष रूप से आदिम समाजो के सम्बन्ध मे बहुत सच है। आदिम समाजो मे जीवित रहने के लिए होने वाले सघर्ष का रूप अति कठोर है। उस सघर्ष मे विजय पाने के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य का आन्तरिक सहयोग आवश्यक है। यह परिवार ही स्त्री-पुरुष के भेद और आयु

के आधार पर सदस्यो के आर्थिक कार्यों को निश्चित करता है, भोजन, निवास-स्थान तथा कपडो की व्यवस्था करता है। कादर, मालापण्टारम, पलियन, पनियन आदि जनजातियो के परिवार के सदस्यो को एक साथ मिलकर फल-मूल इकट्ठा करना पडता है जिससे उनके लिये जीवित रहना सम्भव होता है और उनके जीवित रहने से सम्पूर्ण जनजाति की निरन्तरता बनी रहती है। इस प्रकार व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो ही दृष्टिकोणो से परिवार का आर्थिक कार्य महत्त्वपूर्ण है।

आर्थिक दृष्टिकोण से परिवार का एक और कार्य यह है कि वह स्त्री और पुरुष के बीच सामान्य श्रम-विभाजन को निश्चित करता है। सामान्यत पुरुष घर से बाहर के कार्यों को सभालते हैं, जब कि स्त्रियाँ घर-गृहस्थी के काम-काज को। भोजन पकाना स्त्रियो का एक स्वाभाविक कार्य है। परिवार द्वारा इस श्रम-विभाजन मे भोजन पकाने से सम्बन्धित चिन्ता पुरुष को नही करनी पडती है। ऐसे अन्य कार्य भी हो सकते हैं जिसके लिये परिवार की आवश्यकता हो। उदाहरणार्थ, एस्कीमो लोगो मे केवल स्त्रियाँ ही ऊनी वस्त्र सिलना जानती हैं जो कि पुरुष शिकारी के जीवन के लिए अनिवार्य हैं।

परिवार के कुछ सास्कृतिक कार्य भी हैं। परिवार ही अपने सदस्य को उस समाज की जीवन-विधि (life way), जनरीति, नैतिक तथा धार्मिक परम्पराएँ, समाज के रीति-रिवाज, भावनाएँ, आदर्श, रूढियाँ आदि के सम्बन्ध मे प्रारम्भिक शिक्षा देता है। इन सब चीजो को पिता से पुत्र और पुत्र से उसके पुत्र सीखते हैं और इसी प्रकार एक पीढी से दूसरी पीढी को सास्कृतिक तत्त्व हस्तान्तरित होते रहते हैं। इस अर्थ मे परिवार सस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण वाहक है।

परिवार अपने सदस्यो को धार्मिक शिक्षा देने का भी कार्य करता है। परिवार से ही बच्चा एक विशेष धर्म का अनुयायी बनता है, ईश्वर की उपासना करना सीखता है। परिवार से धार्मिक ज्ञान, धार्मिक कृत्यो को करने या भाग लेने के नियम व विधियाँ, पाप-पुण्य के भेद का ज्ञान प्राप्त होता है। अण्डमान प्रायद्वीप के जनजातीय परिवार अपने सदस्यो को धर्म-जादू के ऐसे अनेक कार्यों को सिखाते है जिनसे जीवन की अनेक समस्याओ को हल किया जा सके जैसे, रोगियो का उपचार आदि। साइबेरिया के आदिवासियो के परिवारो मे भी इस प्रकार की शिक्षा मिलती है।

परिवार का राजनैतिक कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नही होता। यह कार्य विशेषकर सरल समाजो के परिवार अधिक करते हैं। जनजातीय समाजो मे शासन-प्रबन्ध प्राय. एक मुखिया के द्वारा होता है और मुखिया अपने इस कार्य को प्रत्येक परिवार के बडे-बूढो के द्वारा बनी हुई एक समिति (council of elders) की सहायता से करता है। भारत के सयुक्त परिवारो के कर्त्ताओ की स्थिति भी बहुत-कुछ इसी प्रकार की होती है। डा० मजूमदार (Majumdar) के वर्णन के अनुसार कर्त्ता को ही परिवार मे सम्बन्धित सभी विषयो मे निर्णय लेने का अधिकार है, समस्त कार्यों मे उसका स्थान सर्वोच्च होता है, वह परिवार का जज और जूरी होता है और पारिवारिक झगडो का निपटारा करता है, वह राजनैतिक मुखिया होता है क्योंकि सामाजिक, धार्मिक और

सामुदायिक समस्त कार्यों मे और स्थानीय गाँव-पचायत मे वही परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।

परिवार के उपरोक्त कार्यों की विवेचना से यह स्पष्ट है कि परिवार समाज की प्राथमिक और मौलिक इकाई क्यो है। आज सभ्यता के विकास और औद्योगिक उन्नति के साथ-साथ परिवार के बहुतेरे आर्थिक व अन्य प्रकार के कार्य बाहरी समितियो और सस्थाओ ने ले लिये है। पर जहाँ तक बच्चो को पैदा करने और उन्हे पालने-पोसने का, उनकी रक्षा और सामाजीकरण का, घनिष्ठ सन्तोष, स्नेह प्यार व सद्भावना का और सस्कृति व समाज को स्थिर रखने का प्रश्न है, वहाँ तक परिवार का स्थान और महत्त्व अत्यधिक है। परिवार के महत्त्व की विवेचना करते हुए श्री गोल्डस्टीन (Goldstein) ने लिखा है कि "परिवार वह उद्गम स्थान है जिसमे भविष्य का जन्म होता है और वह शिशुगृह है जिसमे नये प्रजातन्त्र का निर्माण होता है। परम्परा के द्वारा परिवार का सम्बन्ध भूतकाल से होता है, परन्तु सामाजिक उत्तरदायित्व और सामाजिक विश्वास के द्वारा परिवार भविष्य से भी सम्बन्धित है।"

परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Family)

यह सच है, परिवार सामाजिक सगठन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है, पर यह भी सच है कि किसी अन्य सामाजिक सस्था ने इतनी अधिक समस्याओ को जन्म नही दिया है जितना कि परिवार ने। उन समस्याओ मे एक समस्या परिवार की उत्पत्ति से सम्बन्धित है। इसके सम्बन्ध मे विद्वानो मे बडा मतभेद पाया जाता है, जैसा कि निम्न-लिखित विवेचना से स्पष्ट होगा—

(१) शास्त्रीय सिद्धान्त
(Classical Theory)

परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम सर्वश्री प्लेटो (Plato) तथा अरस्तू (Aristotle) ने सामान्य सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था। उनके विचार मे परिवार सर्व-प्रथम पितृसत्तात्मक (Patriarchal) था। प्राचीन ग्रीक, रोमन और यहूदी समाजो के इतिहास के अध्ययन से इस तथ्य का प्रमाण भी प्राप्त होता है। सन् १८६१ मे सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने इस सिद्धान्त को और आगे बढाया। आपने दुनिया की सभी प्राचीन सभ्यताओ का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि परिवारो का आदि रूप पितृसत्तात्मक परिवार ही था। ये परिवार पितृस्थानीय और पितृवशीय भी थे। इसका सबसे उत्तम उदाहरण भारतवर्ष ही है। सर मेन के अनुसार मातृसत्तात्मक परिवारो का जन्म बाद की बात है जो कि आर्थिक दशा तथा स्त्रियो की स्थिति मे परिवर्तन के फलस्वरूप सम्भव हुआ था।

आधुनिक अनुसन्धान से उक्त सिद्धान्त की पुष्टि नही होती है। दुनिया के विभिन्न आदिम समाजो के अध्ययन से यह स्पष्टत पता चलता है कि पितृसत्तात्मक परिवार सब जगह नही पाये जाते। वास्तव मे इन विद्वानो को दुनिया के विभिन्न भागो मे बसे

हुए समाजो के विषय मे कोई प्रत्यक्ष ज्ञान न था और उनका सिद्धान्त बहुत-कुछ कल्पना पर आश्रित होने के कारण तथ्ययुक्त और निर्भर-योग्य न हो सका।

(२) यौन-साम्यवाद का सिद्धान्त (The Theory of Sex Communism)

प्रारम्भ के कुछ मानवशास्त्रियो, जैसे कि मॉर्गन (Morgan), फ्रेज़र (Frazer) और बाद मे ब्रिफॉल्ट (Briffault) ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मानव-समाज के प्रारम्भिक स्तर पर 'परिवार' या 'विवाह' नाम की कोई भी चीज नही थी। उस समय तो केवल एक प्रकार का पशुओ जैसा अनियमित यौन-साम्यवाद (sex communism) था। ये विद्वान इस विचार से सहमत नही हैं कि परिवार किसी न किसी रूप मे सास्कृतिक विकास के सभी स्तरो मे पाया जाता है। इनके मतानुसार मानव-समाज व संस्कृति के प्रारम्भिक काल मे परिवार नही था, यह तो सामाजिक विकास के कुछ स्तरो के बाद उत्पन्न हुआ है।

श्री मॉर्गन ने अपने सिद्धान्त की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये आदिम समाजो मे पाये जाने वाली यौन-सम्बन्धी छूट या स्वतन्त्रताओ के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। कुछ आदिवासियो के त्योहारो पर किसी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता होती है, कुछ जनजातियो मे पत्नी की अदला-बदली होती है, और कही-कही पर अतिथि-सत्कार के हेतु पत्नियाँ तक भेंट की जाती हैं। भारतीय जनजातियो के अध्ययन से भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाये जाते है जिनसे ज्ञात होता है कि उनमें यौन-सम्बन्धी नियत्रण अति न्यून मात्रा मे है। उदाहरणार्थ, बस्तर के मुडिया गोडो मे गाँव के अविवाहित लडके और लडकियाँ बिना किसी रोक-थाम के गाँव के बाहर रात मे एक मकान मे रहते हैं, जहाँ कि यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की काफी स्वतन्त्रता रहती है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसन्द के अनुसार अपना साथी चुनता है और ये साथी इच्छानुसार बदले भी जाते हैं। भारत की मध्य भारत की जनजातियो मे भी यौन-सम्बन्ध की तब तक स्वतन्त्रता रहती है, जब तक लडकी गर्भवती नही हो जाती है। इस प्रकार के कामाचार (promiscuity) के कुछ प्रमाण हिन्दुओ के प्राचीन ग्रन्थो मे, विशेषत महाभारत मे मिलते है। इनमे कहा गया है कि "पूर्वकाल मे स्त्रियाँ खुली (अनावृत्ता), अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ जाने वाली (कामाचार-विहारिण्य) और स्वतन्त्र (किसी बन्धन से या पति से न रोकी हुई) थी। वे कुमारी दशा मे ही अनेक पुरुषो के पास जाया करती थी। ऐसा करना अधर्म नही था, क्योकि यही उस समय की परिपाटी थी।" उसी प्रकार कर्णपर्व मे कर्ण द्वारा मद्रदेश (स्यालकोट) की स्त्रियो का वर्णन है, "वहाँ सब नारियाँ अपनी इच्छा से पुरुषो से मिलती हैं, मद्रदेश की स्त्रियाँ शराब से मस्त होकर कपडे फेंककर नाचती है, मैथुन मे किसी प्रकार का बन्धन नही रखती, जिसके पास चाहती हैं चली जाती हैं।"

परन्तु उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर यौन-साम्यवाद का सिद्धान्त तर्क-सगत, मानवशास्त्रीय प्रमाणयुक्त तथा ऐतिहासिक सत्य नही प्रतीत होता। उक्त सिद्धान्त को गलत प्रमाणित करने के लिये मानवशास्त्रियो ने अनेक प्रमाण एकत्रित किये हैं। उनका

कथन है कि मनुष्य-समाज की बात तो दूर की बात है, उन्नत पशु-समाज मे भी यौन-साम्यवाद नही मिलता। त्योहारो मे यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता या धर्म-पालन हेतु पत्नियो की भेंट यौन-साम्यवाद को प्रमाणित नही कर सकती। इन अवस्थाओ मे यौन-सम्बन्धी स्वतन्त्रता एक 'विशेष' स्वतन्त्रता है न कि 'सामान्य' स्वतन्त्रता। इन विशेष स्वतन्त्रताओ के आधार पर यह प्रमाणित नही होता कि यौन-साम्यवाद कभी सामान्य या स्थायी रीति का रहा है। यहाँ तक कि ब्रेजील के काइगन, साइबेरिया के चकची और आस्ट्रेलिया के डेयरी जनजातियो जिनमे कि समूह-विवाह (group marriage) की प्रथा पायी जाती है, वहाँ भी इस बात का कोई प्रमाण नही मिला है कि वहाँ कभी यौन-साम्यवाद रहा है। उसी प्रकार निचले हिमालय की जनजातियो मे एक प्रकार के समूह-विवाह की प्रथा विद्यमान है जिसके अनुसार कई भाई मिलकर अनेक स्त्रियो से विवाह करते हैं और किसी भी भाई का किसी पत्नी विशेष पर कोई एकाधिकार नही होता। इसमे भी यौन-साम्यवाद का विद्यमान होना प्रमाणित नही होता क्योकि उक्त जनजातियो मे एक-विवाह का भी काफी प्रचलन है।

कुछ विद्वानो ने यौन-साम्यवाद के पक्ष मे एक अन्य तर्क यह प्रस्तुत किया है कि कुछ जनजातियो मे एक आयु वाले अनेक लोगो को माता या पिता, दूसरे एक आयु-समूह को भाई या बहन अथवा पुत्र या पुत्री कहने का रिवाज है। उसी प्रकार मध्य आस्ट्रेलिया और ट्रोबियण्ड की जनजातियो को उनके पिता के बारे मे कुछ भी ज्ञान नही होता है। परन्तु इन सबमे भी यौन-साम्यवाद का होना प्रमाणित नही होता क्योकि यह निश्चित रूप से नही बताया जा सकता है कि पिता के सम्बन्ध मे सन्तानो की अज्ञानता वास्तविक है या जानबूझकर किसी सामाजिक नियम के कारण उनको उनके माता-पिता का नाम नही बतलाया जाता है। उसी प्रकार एक आयु के सब व्यक्तियो को माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, या पुत्री कहकर पुकारने की प्रथा से भी यौन-साम्यवाद का प्रमाण नही मिलता है। हो सकता है कि बहिर्विवाह (exogamy) के नियमो का सक्रिय रूप से पालन करने के हेतु ही यह सामाजिक रिवाज चालू कर दिया गया हो कि उन सब स्त्रियो को 'बहन' कहा जायगा जिनके साथ विवाह निषिद्ध है या नही हो सकता है। उसी प्रकार उन सब स्त्रियो को 'पत्नी' कहा जा सकता है जिनके साथ विवाह करना सम्भव है। आज भी भारतीय गाँवो मे अपनी माता की आयु की पडौस या गांव की स्त्री को 'माताजी' या उनसे बडी आयु वाली को 'दादीजी', अपने भाई की आयु के अन्य पुरुष को 'भाई साहब' आदि कहने का रिवाज पाया जाता है। यह सामाजिक शिष्टाचार है, न कि यौन-साम्यवाद का प्रमाण।

(३) उद्विकासवादी सिद्धान्त
(Evolutionary Theory)

इस सिद्धान्त को श्री बैकोफन (Bachofen) ने प्रस्तुत किया और श्री ल्युइस मॉर्गन (Lewis Morgan) ने एक सुनिश्चित रूप दिया। इस सिद्धान्त के अन्य समर्थको मे सर्वश्री मैकलेनन (McLennan), स्पेन्सर (Spencer), लूबक (Lubbock) तथा टायलर (Tylor) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्री बैकोफन ने जो उद्विकासीय क्रम प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है—

(अ) आदिकाल मे पारिवारिक जीवन बहुत ही ढीला-ढाला था और यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का कोई निश्चित नियम न था। पारिवारिक सम्बन्धो मे माता-सन्तान का सम्बन्ध ही एक मात्र स्थायी और निश्चित सम्बन्ध था। इस स्तर (stage) मे बच्चे अपनी माँ से ही विशेष रूप से सम्बन्धित थे, अपने वास्तविक पिता के सम्बन्ध मे उन्हे कुछ भी ज्ञान नही होता था और वे समूह के सभी पुरुष-सदस्यो से सामान्य रक्षा तथा भोजन प्राप्त करते थे। यही परिवार की सबसे प्रारम्भिक अवस्था थी।

(ब) इसके बाद परिवार का स्वरूप कुछ और स्पष्ट हुआ। उस समय लोगो को जीवित रहने के लिये प्रकृति से बहुत ज्यादा सघर्ष करना पडता था और जीवित रहने के साधन भी अत्यधिक कम थे। इस सघर्षपूर्ण जीवन मे मोर्चा लेने मे लडकिया बिल्कुल ही अयोग्य थी, इस कारण वे समाज के लिये एक प्रकार का बोझा थी। इसलिये कन्याओ को मार डालने (female infanticide) की प्रथा शुरू हुई जिसके फलस्वरूप समाज मे स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो की सख्या अधिक हो गयी। फलत बहुपति-विवाह (polyandry) प्रथा का जन्म हुआ।

(स) जीवित रहने के साधनो की पूर्ति (supply) बढने के साथ साथ उक्त प्रथा का धीरे-धीरे अन्त हुआ। जब मानव-समाज कृषि-स्तर पर आया तब तो एक उल्टी धारा ही बहने लगी। कृषि-कार्य के लिये प्रत्येक परिवार को अधिकाधिक श्रम-शक्ति की आवश्यकता हुई। इसके लिये स्त्रियो को ही सबसे उत्तम समझा गया। केवल खाने-पहनने और रहने को देकर चौबीसो घण्टे के लिये स्थायी श्रमिक स्त्रियो के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। इसलिये प्रत्येक पुरुष एकाधिक स्त्रियो से विवाह करके अपने परिवार की श्रम-शक्ति को बढाने लगा। यही स्त्रियाँ बाद को पुरुष के ऐशोआराम के साधन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक हो गयी। कृषि के माध्यम से खाद्य-सामग्री की पूर्ति बढने के कारण पुरुषो के लिये एकाधिक पत्नियाँ रखना सरल भी हो गया। इस प्रकार बहुपत्नी-विवाह (polygamy) प्रथा का जन्म हुआ। अत इस तीसरी अवस्था मे बहुपत्नी-विवाही परिवार का विकास हुआ।

(द) परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ नैतिक विचारो मे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। साथ ही, समानता का विचार पनपा और स्त्रियो ने अपने समान अधिकारो और सामाजिक न्याय की माग की। इन सब के फलस्वरूप अन्त मे एक-विवाह (monogamy) की प्रथा चली। यही परिवार का आधुनिक स्वरूप है।

श्री ल्युइस मॉर्गन (Lewis Morgan) ने परिवार के उद्विकास मे निम्नलिखित पाँच स्तरो (stages) का उल्लेख किया है। इन अवस्थाओ से गुजरता हुआ परिवार अपनी वर्तमान स्थिति पर पहुँचा है। वे स्तर क्रमश निम्नवत् हैं—

(क) **रक्त-सम्बन्धी परिवार** (Consanguine family)—मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल मे पाये जाते थे जिनमे कि यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के विषय मे कोई भी प्रतिबन्ध न था और बिना किसी सकोच के भाइयो और बहनो तक मे विवाह होते थे।

(ख) **समूह-परिवार** (Punalaun family)—परिवार के उद्विकास मे दूसरी अवस्था है। इस अवस्था मे एक परिवार के सब भाइयो का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनो के साथ हुआ करता था जिसमे प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियो का पति होता था और प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषो की पत्नी होती थी। इस अवस्था मे ऐसा भी होता था कि बहुत से पुरुषो का सयुक्त विवाह बहुत-सी स्त्रियो के साथ हो, पर यह आवश्यक नही था कि ये पुरुष आपस मे भाई-भाई या रिश्तेदार हो या ये स्त्रियाँ आपस मे बहनें या रिश्तेदार हो। परन्तु अधिकतर या व्यावहारिक रूप मे ये सब भाई-भाई और बहन-बहन ही होते थे। कुछ भी हो, इस अवस्था मे भी यौन-सम्बन्ध अत्यधिक अनिश्चित और अनियत्रित था।

(ग) **सिंडेस्मियन परिवार** (Syndyasmian family)—उद्विकास की तीसरी अवस्था है। इस प्रकार के परिवार मे एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ विवाह होता तो था, पर उसी परिवार मे व्याही हुई स्त्रियो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक पुरुष को रहती थी।

(घ) **पितृसत्तात्मक परिवार** (Patriarchal family)—चौथी अवस्था है। ऐसे परिवारो मे पुरुष का ही एकाधिपत्य था और इसलिये वह अपनी इच्छानुसार एकाधिक स्त्रियो से विवाह करता था और उन सबके साथ यौन-सम्बन्ध रखता था।

(ङ) **एक-विवाह परिवार** (Monogamous family)—अन्तिम और आधुनिक अवस्था है। इसमे एक पुरुष का एक स्त्री से ही विवाह और यौन-सम्बन्ध होता है।

उपरोक्त उद्विकासवादी सिद्धान्त की अपनी कमियाँ हैं और उनमे से सर्व-प्रमुख यह है कि यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि प्रत्येक समाज मे परिवार की उत्पत्ति व विकास एक ही तरह से या कुछ निश्चित स्तरो मे से गुजरता हुआ हुआ है। वास्तव मे यह कल्पना मात्र ही है, इसे वास्तविक तथ्यो के आधार पर प्रमाणित नही किया जा सकता। प्रत्येक समाज की भौगोलिक, सामाजिक या सास्कृतिक परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं, इस कारण प्रत्येक समाज मे परिवार की उत्पत्ति एक ही ढग से कैसे हो सकती है, इस बात की व्याख्या उक्त सिद्धान्त मे हमे नही मिलती है। श्री रिवर्स (Rivers) ने यह सच ही लिखा है कि कामाचार (promiscuity) की अवस्था प्रथम अवस्था है। इस धारणा के मुख्य समर्थक श्री मॉर्गन ने अपना सिद्धान्त जिन आधारो पर बनाया वे अब निरर्थक सिद्ध हो चुके है। इस समय न तो हम ऐसी किसी जनजाति का नाम जानते हैं जिनमे कामाचार की अवस्था पायी जाती है और न ही आज हमारे पास इस कल्पना का ही निश्चित प्रमाण हैं कि भूतकाल मे कभी कामाचार की सामान्य अवस्था प्रचलित थी। इसलिये अब इस सिद्धान्त को अधिकाश प्रमुख विद्वान स्वीकार नही करते।

(४) एक-विवाह का सिद्धान्त
(Theory of Monogamy)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) है, और इस सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना उनकी कृति *The History of Human Marriage* मे

मिलती है। श्री वेस्टरमार्क इस मत से सहमत नही थे कि मानव-समाज मे कभी यौन-साम्यवाद की स्थिति थी या बहु-विवाह, समूह-विवाह आदि का सामान्य प्रचलन था। आपके अनुसार ये सभी विचार या सिद्धान्त काल्पनिक है और समस्त प्राणीशास्त्रीय प्रमाणो की अवहेलना करते है। श्री वेस्टरमार्क का दृढ विश्वास है कि एक-विवाही (monogamous) परिवार मानव-जीवन या समाज या सस्कृति के सभी स्तरो पर विद्यमान रहा है। मनुष्य की बात तो दूर रही, कुछ चिडियाँ और पशु तक भी एक-विवाही हैं। निम्न प्राणियो मे ऐसा नही है क्योकि इनमे उत्पत्ति-सख्या बहुत अधिक होती है और उनके बच्चो को पालने की कोई जरूरत नही होती। उदाहरणार्थ, मछली या साँप एक साथ असख्य अण्डे देते हैं, उन्हे सेने की आवश्यकता नही होती। वे आप-से-आप ही बढते हैं और अपना भोजन स्वय ढूँढ लेते हैं। परन्तु चिडियो की अनेक जातियो तथा मनुष्य के पूर्वज बन्दरो मे ऐसी अवस्था नही है। उदाहरणार्थ, चिडियो मे अण्डे को सेने के लिये मादा की उपस्थिति निरन्तर आवश्यक है और उस समय नर उसे भोजन लाकर देता है। यह यौन-साम्यवाद की स्थिति मे कभी सम्भव न था कि एक विशिष्ट नर एक विशिष्ट मादा और उसके बच्चे का इतना ख्याल रखता। माँ के स्तन से दूध पीने वाले बच्चो को माता-पिता की, इन चिडियो के बच्चो से कही अधिक, आवश्यकता होती है, क्योकि उनके पूर्ण विकास मे काफी समय लग जाता है। औरग-उतान आठ से बारह वर्ष की आयु मे युवा होता है, यदि उस समय तक उसे अपने माता-पिता से भोजन और रक्षा आदि न मिले तो वह अधिक दिन जीवित नही रह सकता। यह सब काम एक-विवाह से ही सम्भव हो सकता है। गोरिल्ला और चिम्पाजी भी परिवार बनाकर रहते हैं और वे भी एक-विवाही हैं। श्री वेस्टरमार्क ने लिखा है कि गोरिल्ला, चिम्पाजी आदि मे "सन्तान की सख्या कम होने, गर्भकाल लम्बा होने तथा उस समय मादा के सरक्षण की आवश्यकता, उत्पन्न सन्तान के मातृ-दुग्ध पर आश्रित रहने, शैशवकाल लम्बा होने तथा उस काल मे असहाय होने के कारण आत्मसरक्षण की सहज बुद्धि इन्हे बच्चो के साथ परिवार बनाकर रहने की प्रेरणा देती है। मादा के गाभिन होने पर घर बनाना, रात भर बच्चो की चीतो से चौकसी करना, मादा के लिये नर का भोजन लाना, मादा द्वारा बच्चो का पालन-पोषण बन्दरो से मनुष्य-समाज की जगली जनजातियो तक सर्वत्र देखा जाता है। माता-पिता और बच्चे का परिवार मानव-समाज मे सार्वभौम है, इसे मानव ने विरासत मे अपने पुरखो (जिनमे बन्दर भी सम्मिलित हैं) से पाया है।" ऐसी अवस्था मे कामाचार की कल्पना या परिवार का न होने का सिद्धान्त न केवल अवास्तविक ही है बल्कि अव्यावहारिक भी। अगर पक्षी और पशु तक एक-विवाही हैं तो क्या मानव के कामाचार या बहु-विवाही होने की कल्पना वास्तविक हो सकती है? वास्तव मे एक-विवाही परिवार सबसे पुराना है और सामाजिक विकास के प्रत्येक स्तर मे पाया जाता है।

उपरोक्त प्रमाणो के अतिरिक्त श्री वेस्टरमार्क ने अपने सिद्धान्त के पक्ष मे दो तर्क और प्रस्तुत किये हैं। प्रथम तो यह कि ताकतवर होने के कारण पुरुष स्त्री पर अपना अधिकार ही नही वरन् एकाधिकार भी चाहता है। दूसरी, यह कि पुरुष मे स्वभावत ईर्ष्या की भावना होने के कारण कोई पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष से सम्बन्ध रखने देना नही

चाहता और उसको दूसरो से अलग रखता है। इसका स्वाभाविक परिणाम एक-विवाही परिवार है। यौन-सम्बन्धो की स्वतन्त्रता, वहुपति-विवाह या वहुपत्नी-विवाह केवल सामाजिक नियमो के क्षणिक उल्लघन थे और स्थायी रूप मे कभी नही पाये गये। श्री वेस्टरमार्क के अनुसार एक-विवाह के अतिरिक्त और सब कुछ अपवाद (exception) है, नियम नही।

एक अर्थ मे श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने श्री वेस्टरमार्क के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उन्होने अपनी पुस्तक *Sex and Repression in Savage Society* मे स्पष्ट ही लिखा है कि परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु-अवस्था से अपने साथ लाया है। और वह परिवार एक-विवाही परिवार ही है। श्री मैलिनोवस्की के शब्दो मे, "एक-विवाह ही विवाह का एकमात्र सत्य रूप है, रहा है और रहेगा।"

(५) मातृसत्ता का सिद्धान्त
(Theory of Matriarchy)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक श्री ब्रिफॉल्ट (Briffault) हैं। आपने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि *The Mothers* नामक पुस्तक के तीन खण्डो (volumes) मे की है। इनका प्रमुख उद्देश्य श्री वेस्टरमार्क के सिद्धान्त को गलत प्रमाणित करना था, इसी कारण आपने श्री वेस्टरमार्क के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-परिवार का ही नही, पशु-परिवार का भी आदि रूप मातृसत्तात्मक परिवार ही था। श्री ब्रिफॉल्ट ने अनेक मातृवंशीय और मातृसत्तात्मक जनजातियो का उल्लेख करते हुए इस वात पर बल दिया है कि शुरू-शुरू मे स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध बहुत निश्चित न होने के कारण वच्चा प्राय यह नही जानता था कि उसका पिता कौन है। बच्चे के साथ पिता का सम्बन्ध न जोड सकने के कारण (चाहे यह वास्तविक हो या किसी सामाजिक नियम के पालन करने के फलस्वरूप हो) पिता की परिवार मे कोई विशेष स्थिति (status) नही कही जा सकती थी। ऐसी अवस्था मे पिता-सन्तान का सम्बन्ध नही, वल्कि माता-सन्तान का सम्बन्ध ही पारिवारिक जीवन मे एकमात्र महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध था। परिवार मे माता की स्थिति थी, उसी की सत्ता थी। इस प्रकार मानव-परिवार का आदि रूप मातृसत्तात्मक परिवार होना ही स्वाभाविक है। इतना ही नही, जैसा कि श्री ब्रिफॉल्ट ने स्पष्ट ही लिखा है, "पशु-परिवार, जिससे कि यह आशा की जाती है कि मानव सामाजिक समूह का जन्म हुआ है, मातृसत्तात्मक है।" श्री ब्रिफॉल्ट ने यह भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आदिवासियो मे ईर्ष्या जैसी कोई वस्तु नही थी।

श्री ब्रिफॉल्ट ने इस वात पर वल दिया है कि परिवार की उत्पत्ति माँ की निरन्तर आवश्यकता विशेषकर वच्चो की रक्षा और पालन-पोषण की आवश्यकता के कारण ही हुई है। पुरुष तो केवल यौन-सम्वन्वी आकर्षणो के कारण ही परिवार मे रहना चाहता है, परन्तु माता मे मातृ मूलप्रवृत्ति (maternal instinct) अधिक शक्तिशाली होती है जिसके कारण माँ अपनी और अपनी सन्तानो की आर्थिक व सामाजिक रक्षा की आवश्यकता को निरन्तर अनुभव करती रहती है। इसी कारण माँ को पुरुष के यौन-सम्बन्धी

स्वार्थ पर विजय पाना ही होता है और यह स्त्रियाँ या माताएँ ही है जिन्होने स्वार्थी पुरुष को हाथ पकडकर परिवार मे बसाया । माँ जानती है कि जब तक परिवार न होगा तब तक उसकी और उसके बच्चो की रक्षा तथा पालन-पोषण सम्भव न होगा । इसीलिए माँ की मातृ मूलप्रवृत्ति उसे परिवार बनाने को प्रेरित करती है। इसी कारण माता ने ही सर्वप्रथम परिवार की आवश्यकता को अनुभव किया था । इस प्रकार परिवार को बनाने वाली माँ की प्रधानता परिवार मे होगी, यही स्वाभाविक था । अत परिवार का वास्तविक आदि या मूल रूप मातृसत्तात्मक परिवार ही था। खेती के विकास होने पर और पुरुषो के हाथ मे आर्थिक क्षमता के चले जाने पर ही पितृसत्तात्मक परिवारो का जन्म हुआ। इसलिये, श्री ब्रिफॉल्ट के अनुसार, एक-विवाही परिवार को मूलभूत और परिवार का आदि रूप नही कहा जा सकता ।

श्री बैकोफन (Bachofen) का भी मत है कि मातृसत्तात्मक परिवार का उदय पितृसत्तात्मक परिवार से पहले हुआ है । इसका कारण यह था कि मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल मे पिता या पुरुष शिकार की खोज मे घर से बाहर जगल मे चले जाया करते थे और प्राय बहुत दिनो तक उन्हे जगल मे ही बिताने होते थे । ऐसी अवस्था मे बच्चो का पालन-पोषण और रक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व माता पर ही होता है। अपनी और अपने बच्चो की रक्षा और जीवन-धारण के लिये माताएँ फलो को बीन कर लाती थी, बीज को जमीन मे बोती थी तथा घर की देखरेख करती थी । अत स्पष्ट है कि उस समय परिवार मे माँ का महत्त्व अत्यधिक था । श्री टायलर (Tylor) ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया। आपके अनुमार परिवार पहले मातृसत्तात्मक था, फिर मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक का मिश्रण हुआ और फिर अन्त मे पितृसत्तात्मक परिवार का उदय हुआ ।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे काफी मतभेद है । वास्तव मे परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वादविवाद पूर्णतया निरर्थक है क्योकि, जैसा कि सर्वश्री मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "परिवार की इस अर्थ मे कोई उत्पत्ति हुई ही नही है, कि मानव-जीवन मे कभी ऐसी अवस्था थी जब कि परिवार नही था या ऐसी कोई अवस्था थी जिसमे परिवार का जन्म हुआ हो।"[5] उपरोक्त सिद्धान्तो मे एक बहुत बडी कमी यह है कि उनके समर्थको ने परिवार नामक संस्था के केवल एक पक्ष को बहुत बढाकर प्रस्तुत किया है । जिस प्रकार असभ्य जनजातियो मे एक-विवाही प्रथा का पाया जाना इस बात का प्रमाण नही है कि एक-विवाह सब जगह पाया जाता है, उसी प्रकार उन समाजो मे पाये जाने वाली यौन-सम्बन्धी स्वाधीनता या छूट इस बात की पुष्टि नही करती कि मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल मे कामाचार या यौन-साम्यवाद की स्थिति थी । फिर भी जैसा कि डा० मजूमदार ने लिखा है "आज सर्वश्री वेस्टरमार्क तथा मॉर्गन के सिद्धान्त जीवित हैं, इसलिये नही कि वे सच हैं, वरन् इसलिये

5 "The family has no origin in the sense that there ever existed a stage of human life from which the family was absent or another stage in which it emerged" MacIver and Page, *op cit*, p 245

कि वे परिवार की गतिशील धारणा पर आधारित हैं।"[6] दुनिया के समस्त देशों से अब तक जितने आँकडे और तथ्य एकत्रित किये गए है, सभी से एक ही सत्य का पता चलता है। और वह है परिवार का अस्तित्व। प्रागैतिहासिक प्रमाणो से भी यह पता नही चलता कि कभी परिवार नही था। आस्ट्रेलिया तथा अण्डमान प्रायद्वीप के आदिवासी सबसे प्राचीन समझे जाते हैं, उनमे भी परिवार एक आधारभूत तथा महत्त्वपूर्ण सस्था के रूप मे विद्यमान है। भारत मे सबसे पिछडी जनजातियाँ कादर, पनियन, चेंचू आदि हैं, उनमे भी पारिवारिक सगठन है। हाँ, यह सच है कि परिवार की उत्पत्ति प्रत्येक समाज मे एक ही तरह से और एक ही कारण से नही हुई है। यौन तथा भूख की तृप्ति के लिये, सन्तानोत्पत्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के लिये और आर्थिक सुरक्षा के लिये परिवार नामक एक सगठन की आवश्यकता प्रत्येक समाज के सदस्यो ने ही अनुभव की होगी जिसका कि स्वाभाविक परिणाम परिवार की उत्पत्ति है। परन्तु इन आवश्यकताओ का स्वरूप और उनकी सतुष्टि के उपलब्ध साधन प्रत्येक समाज मे एक नही हो सकते और यही कारण है कि परिवार के अनेक स्वरूप हमे दुनिया के विभिन्न समाजो मे देखने को मिलते है। साथ ही, किसी भी समाज मे परिवार का कोई भी स्वरूप चिरस्थायी है, यह सोचना भी गलत है। अवस्थाओ के परिवर्तन के साथ-साथ परिवार के स्वरूपो मे भी परिवर्तन हो सकता है और हुआ भी है। इसलिये, डा० मजूमदार के शब्दो मे, "परिवार आज भी है जैसा कि पहले था, परन्तु ऐसा नही था जैसा आज है।"[7]

परिवार के भेद
(Kinds of Family)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रत्येक समाज मे परिवारो का स्वरूप एक समान नही होता है। इनके अनेक भेद हमे ससार के विभिन्न समाजो मे देखने को मिलते हैं और उन्हे अनेक आधारो पर एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। परिवार का सबसे प्राथमिक रूप पति-पत्नी और उनके बच्चो को लेकर शुरू होता है। ऐसा भी हो सकता है कि उसी परिवार मे दूसरे नाते-रिश्तेदार भी आकर रहने लगें और उस परिवार का आकार बढ जाय। यहाँ पर भेद परिवार के सदस्यो की सख्या के आधार पर है। उसी प्रकार अन्य आधारो पर भी परिवार के अनेक भेद किये जा सकते हैं। इनमे तीन प्रमुख आधारो का उल्लेख किया जा सकता है—(१) परिवार के सदस्यो की सख्या के आधार पर, (२) विवाह के स्वरूप के आधार पर, और (३) पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वश-नाम और निवास के आधार पर। इन सब आधारो पर बनने वाले विभिन्न प्रकार के परिवारो का सक्षिप्त विवरण निम्नवत् है—

6 "But both Westermarck's and Morgan's theories survive to-day, not because they are true, but because the theories are based on a dynamical concept of family" Dr D N Majumdar, *Races and Cultures of India*, 1958, p 163

7 "That is why family is still what it was and at the same time it was not what it is" *Ibid*, p 163

मूल या केन्द्रीय परिवार
(Primary or Nuclear Family)

इस प्रकार के परिवार को प्राथमिक, मूल या केन्द्रीय परिवार इस कारण कहते हैं कि यह परिवार का सबसे छोटा और आधारभूत रूप है। इस प्रकार के परिवारो के सदस्यो की सख्या बहुत कम होती है और प्राय इसमे एक विवाहित पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे ही आते है। दूसरे शब्दो मे, इस प्रकार का परिवार दूसरे नाते-रिश्तेदारो से मुक्त रहता है। हो जनजाति मे इस प्रकार का ही परिवार पाया जाता है, यद्यपि अब हिन्दुओ के सम्पर्क मे आने के फलस्वरूप उनमे भी सयुक्त परिवार देखने को मिलता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि पति-पत्नी एकसाथ एक परिवार मे रहते है पर उनका अपना कोई बच्चा नही होता। ऐसी अवस्था मे वे दूसरे के बच्चे को गोद ले लेते हैं। इस प्रकार के परिवार को भी जिसमे पति-पत्नी तथा उनके गोद लिये बच्चे साथ-साथ रहते हैं, मूल या केन्द्रीय परिवार कहते हैं। मूल या केन्द्रीय परिवार आधुनिक समाजो मे बहुत पाये जाते हैं।

विवाह-सम्बन्धी परिवार
(Conjugal Family)

मूल परिवार के आधार पर ही एक दूसरे प्रकार के परिवार होते है जिन्हे 'विवाह-सम्बन्धी परिवार' कहते है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ऐसे परिवारो मे विवाहित पति-पत्नी और उनके बच्चे तो होते ही हैं, साथ ही विवाह द्वारा बने हुए कुछ रिश्तेदार भी आ जाते हैं। ऐसे परिवार केवल उन लोगो मे ही पाये जाते हैं जो विवाह-सम्बन्ध को अत्यधिक मान्यता देते हैं और विवाह को दो व्यक्तियो के मिलन का आधार न मानकर दो परिवारो को मिलाने वाला भी समझते हैं। भारत मे खरिया जनजाति मे ऐसे परिवार पाये जाते हैं।

सयुक्त और विस्तृत परिवार
(Joint and Extended Family)

डा० दुबे के अनुसार "यदि कई मूल-परिवार एक साथ रहते हो, और इनमे निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हो और एक आर्थिक इकाई के रूप मे कार्य करते हो, तो उन्हे उनके सम्मिलित रूप मे सयुक्त परिवार कहा जा सकता है।" कुछ विद्वान उस परिवार को सयुक्त परिवार कहते हैं जिसमे कि अनेक नाते-रिश्तेदार एक-साथ रहते हैं। इसके विपरीत डाक्टर आई० पी० देसाई (I P Desai) ने केवल परिवार के आकार या सदस्यो की सख्या के आधार पर किसी परिवार को सयुक्त या केन्द्रीय परिवार मान लेने पर विशेष आपत्ति की है। आपके अनुसार नातेदारी (kinship), पीढियो की सख्या (generation depth), सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही परिवार को सयुक्त या मूल परिवार मानना उचित होगा। आपने सयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार की है—"हम उस परिवार को सयुक्त परिवार कहते है जिसमे मूल परिवार से अधिक पीढियो के सदस्य (अर्थात् तीन या

अधिक पीढियो के सदस्य) सम्मिलित हो तथा उनके सदस्य एक-दूसरे से सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक अधिकारो एव कर्त्तव्यो के द्वारा सम्बन्धित हो।"[8] सामान्यत, **सयुक्त परिवार सयुक्त सगठन के आधार पर निकट के नाते-रिश्तेदारो की एक सहयोगी व्यवस्था है जिसमे सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित वास, अधिकारो तथा कर्त्तव्यों का समावेश होता है।**[9]

यूं तो सयुक्त परिवार भारतीय जनजातियो मे भी अत्यन्त व्यापक है, फिर भी इसका वास्तविक रूप तो भारतीय गांवो मे देखने को मिलता है। सयुक्त परिवार की सरचना मे सर्वप्रमुख स्थान परिवार के सबसे बडे पुरुष सदस्य का होता है जिसे कि 'कर्त्ता' कहते हैं। इसे कर्त्ता इस कारण कहा जाता है क्योकि वह परिवार की ओर से और परिवार के लिये सब कार्यों को करने वाला होता है। वह परिवार का सचालन और सम्पत्ति की देखरेख करता है, पारिवारिक झगडो का निपटारा करता है और सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा सामुदायिक विषयो मे परिवार का प्रतिनिधित्व करता है। कर्त्ता की स्त्री का स्थान कर्त्ता के बाद होता है। परिवार की दूसरी स्त्रियो की तुलना मे कर्त्ता की स्त्री का स्थान सबसे ऊँचा होता है और परिवार के आन्तरिक मामलो मे इस स्त्री का प्रमुख हाथ होता है। सयुक्त परिवार की सरचना मे कर्त्ता की स्त्री के पश्चात् आयु के हिसाब से अन्य पुरुषो का स्थान होता है। पारिवारिक व्यवस्था या प्रबन्ध मे अविवाहित लडको का कोई स्थान नही होता। परन्तु लडकियो की तुलना मे लडको का महत्त्व और मर्यादा अधिक होती है। सयुक्त परिवार मे बडे लडके का अधिक महत्त्व होता है और वह इस कारण कि पितरो के तर्पण और पिण्डदान आदि मे उसकी आवश्यकता होती है। सयुक्त परिवार मे माता-पिता का स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। उनका कर्त्तव्य बच्चो की रक्षा, पालन-पोषण, देख-रेख और नियत्रण है। पति और पत्नी का सम्बन्ध आन्तरिक कर्त्तव्य-बोध पर आधारित होता है। नव-विवाहिता वधू को ससुराल आने के पश्चात् नयी परिस्थितियो से अनुकूलन करना होता है और अपने पति के परिवार के आचार-व्यवहार, कायदे-कानून को सीखना होता है जो वह अपनी सास या परिवार की अन्य वयस्का महिला से सीखती है। हिन्दू-सयुक्त परिवार की सरचना मे कन्याओ का स्थान सबसे अधम होता है।

सयुक्त परिवार की उत्पत्ति भारतवर्ष मे ऐसे युग मे हुई थी जब ग्रामीण समुदाय मे ही यहाँ के लोग पलते थे। उस समय सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता का नितान्त अभाव था। सब लोग जमीन से जकडे थे, और इस कारण एक स्थान पर एक परिवार मे सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते थे। परन्तु आज परिस्थितियाँ बदल गयी है और उनके

---

8 "We call that household a joint family which has greater generation depth (i e three or more) than the nuclear family and the members of which are related to one another by property, income and the mutual rights and obligations" I P Desai, "The Joint Family in India", *Sociological Bulletin*, Vol V, No 2, Sept. 1956, p 148

9 R N Mukherjee, *Bhartiya Janta tatha Sansthayen*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1961, p 258

साथ ही सयुक्त परिवार की नीव डगमगा गयी है। औद्योगीकरण (industrialization) के फलस्वरूप नौकरी का क्षेत्र सारे देश मे फैल गया है और लोग घर छोडकर नौकरी की खोज मे विभिन्न स्थानो मे जाकर बसने लगे हैं। यातायात के उन्नत साधनो ने इस प्रक्रिया की गति को और भी तेज किया है। साथ ही, जनसख्या का बढना, नागरीकरण और नगरो मे मकानो की समस्या, निर्धनता, पाश्चात्य शिक्षा और सस्कृति, व्यक्तिवाद, महिला आन्दोलन आदि अनेक कारको के आधुनिक समय मे क्रियाशील होने के कारण भी सयुक्त परिवार दिन प्रतिदिन विघटित होता जा रहा है।

अब तक हम विशेष रूप से परिवार के सदस्यो की सख्या के आधार पर विभिन्न प्रकार के परिवारो की विवेचना कर रहे थे। अब हम विवाह-सम्बन्ध के आधार पर भी परिवार के स्वरूपो का वर्णन करेंगे।

एक-विवाही परिवार (Manogamous Family)

जब एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को 'एक-विवाही परिवार' कहते हैं। भारत की जनजातियो मे ऐसे परिवारो की सख्या अधिक नही है। कुछ जनजातियो मे एक-विवाही परिवार पाये जाते हैं और इसके दो प्रमुख कारण हैं—एक तो जनजातियो का वर्तमान सभ्यता के सम्पर्क मे आना और दूसरे किन्ही-किन्ही जनजातियो मे, जैसा कि हो जनजाति मे, अत्यधिक कन्या-मूल्य (bride price) का होना। आधुनिक समाज मे तो इस प्रकार का परिवार 'सर्वस्वीकृत प्रतिमान के रूप मे प्रतिष्ठित होता जा रहा है'। इस सम्बन्ध मे अनोखी बात यह है कि कुछ अति प्राचीन जनजातियो मे भी एक-विवाही परिवार पाया जाता है। उदाहरणार्थ, अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियो मे और मैले (Malay) जगलो मे सेमग (Semangs) लोगो मे एक समय मे एक ही स्त्री से विवाह करने की प्रथा प्रचलित है, यद्यपि सेमग लोग एक स्त्री के मर जाने पर दूसरी स्त्री, और दूसरी स्त्री के मर जाने पर तीसरी स्त्री से विवाह कर सकते हैं और करते हैं।[10] होपी, जूनी तथा इरोकूइस जनजातियो मे भी एक-विवाही परिवार देखने को मिलते हैं। भारत मे खासी, सन्थाल और कादर जनजातियो मे भी एक-विवाही परिवार पाये जाते हैं।

बहु-विवाही परिवार (Polygamous Family)

जब एक स्त्री अथवा पुरुष एक से अधिक स्त्रियो या पुरुषो से विवाह करते हैं तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को 'बहु-विवाही परिवार' कहते हैं। इस प्रकार के परिवार के दो भेद हो सकते हैं—(अ) बहुपति-विवाही परिवार (Polyandrous family) वह परिवार है जिसमे एक स्त्री एक से अधिक पुरुषो से विवाह करके घर बसाती है। उत्तर प्रदेश के जौनसार बावर की खस जनजाति मे ऐसे परिवार पाये जाते हैं। (ब) बहुपत्नी-विवाही परिवार (Polygynous family) वह परिवार है जिसमे

---

10 E A Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958, p 324

कि एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियो से विवाह करके परिवार की स्थापना करता है। ऐसे परिवार भारत की अधिकतर जनजातियो मे पाये जाते हैं, विशेषकर नागा, गोंड, बैगा आदि जनजातियो मे।

परिवार के भेद केवल विवाह-सम्बन्ध के आधार पर ही नही, **पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वशनाम और निवास के आधार पर** भी किये जा सकते है। जैसे —

मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार (Matriarchal or Matrilineal Family)

मातृसत्तात्मक या मातृवशीय परिवार मे विवाह के बाद पति अपनी स्त्री के घर मे जाकर रहने लगता है। इस प्रकार के परिवार को मातृसत्तात्मक परिवार इस कारण कहते हैं क्योकि इसमे पारिवारिक सत्ता स्त्री की होती है। ऐसे परिवारो मे बच्चे अपनी माता के कुल या वश के नाम ग्रहण करते हैं। इस कारण ऐसे परिवार को मातृ-वशीय परिवार (Matrilineal family) भी कहते हैं। साथ ही, चूंकि ऐसे परिवारो मे निवास-स्थान माता या स्त्री का होता है जहाँ स्त्री के साथ उसके पति और बच्चे निवास करते हैं, इस कारण ऐसे परिवारो को मातृस्थानीय परिवार (Matrilocal family) कहते हैं।

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने मातृसत्तात्मक या मातृवशीय परिवार की निम्नलिखित विशेषताओ का उल्लेख किया है[11]—

(१) ऐसे परिवार मे बच्चो का वश-परिचय या वशनाम माता के परिवार के आधार पर निर्धारित होता है। इसलिये बच्चे पिता के कुल या वश के नही, अपितु माता के वश के समझे जाते हैं। सक्षेप मे, ऐसे परिवारो मे माता के वश का ही महत्त्व होता है, पिता गौण मात्र होता है।

(२) ऐसे समाज मे विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर नही जाती, वह अपने ही घर मे रहती है और उसका पति उसके घर जाकर अपनी पत्नी के परिवार का ही एक सदस्य बन जाता है और वही रहने लगता है।

(३) मातृसत्तात्मक परिवार मे पुत्र को पिता से कोई सम्पत्ति नही मिलती है। सभी साम्पत्तिक अधिकार माता के सम्बन्ध से ही निश्चित होते हैं। परन्तु इसका आशय यह नही है कि साम्पत्तिक अधिकार केवल स्त्रियो को ही प्राप्त हैं, लडको को कुछ भी नही मिलता। ऐसे परिवारो मे माता का भाई या बहन का लडका (भानजा) सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है और होता है।

(४) सामाजिक सम्मान के विभिन्न पद और उपाधियाँ पुत्र के स्थान पर भानजे को मिलती हैं। ट्रावन्कोर-कोचीन राज्यो का उत्तराधिकारी राजा का लडका नही बल्कि उसकी बहन का लडका होता है।

(५) मातृसत्ता का यह अर्थ कदापि नही है कि माता को आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं और पुरुषो को कुछ भी अधिकार नही होता।

11 MacIver and Page, *op cit*, pp 247-248

और एकपक्षीय रक्त-सम्बन्धित समूह है। वह (पूर्वज) एक काल्पनिक या पौराणिक व्यक्ति नही वल्कि एक वास्तविक पुरुष होता है।"[12] सक्षेप मे, **वंश-समूह एक सामान्य ऐतिहासिक और वास्तविक पूर्वज से सम्बन्धित समस्त रक्त-सम्बन्धी वशजो का एक समूह होता है।**[13]

वश-समूह दो प्रकार का हो सकता है—(अ) मातृवशीय वश-समूह (Matrilineal lineage), और (ब) पितृवशीय वश-समूह (Patrilineal lineage)। मातृवशीय वश-समूह के अन्तर्गत स्त्री, उसकी बहने और उनके बच्चे आते हैं, भाई या उसके बच्चे वश के वाहर चले जाते हैं। इसके विपरीत, पितृवशीय वश-समूह के अन्तर्गत पुरुष, उसके भाई और उनकी सन्तानें ही आती हैं, इसमे बहन या उनके बच्चे वश के वाहर चले जाते हैं।

भारतीय जनजातियो मे उपरोक्त दोनो प्रकार के वश-समूह पाये जाते हैं और पारिवारिक सगठन मे इसका काफी महत्त्व है। खासी, गारो आदि जनजातियो मे मातृवशीय वश-समूह पाये जाते हैं, जवकि खरिया, भील आदि जनजातियो मे पितृवशीय वश-समूह। प्रोफेसर रैडक्लिफ-ब्राउन ने अपने अध्ययनो में वश-समूह के महत्त्व को अति उत्तम रूप मे प्रस्तुत किया है। अफ्रीका की कुछ जनजातियो में तो वश-समूह की व्यवस्था इतनी जटिल है कि उन्हे सरलता मे समझा ही नहीं जा सकता।

वैसे तो मातृवशीय और पितृवशीय वश मे सामान्य पूर्वज कोई वास्तविक या ऐतिहासिक स्त्री या पुरुष ही होता है, फिर भी कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि अपने समूह की सामाजिक प्रतिष्ठा को वढाने के लिये पूर्णतया काल्पनिक पूर्वजो के आधार पर भी लोग वश को विकसित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति मे काल्पनिक पूर्वज भी धीरे-धीरे वास्तविक रूप धारण कर लेते हैं और दो-चार पीढियो के बाद उस पूर्वज की यथार्थता या वास्तविकता के सम्बन्ध मे किसी को कोई सन्देह रह ही नही जाता है। "कतिपय अरव-समूहो मे कुछ ऐसे विशेषज्ञ हैं जो उचित पुरस्कार मिलने पर व्यक्ति का सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण काल्पनिक पूर्वजो के साथ सहज ही स्थापित कर देते हैं। श्री क्लूखौन ने इगलैण्ड के एक ऐसे मनोरजक विज्ञापन का उदाहरण दिया है जिसमे विज्ञापक ने समुचित पारिश्रमिक की प्राप्ति पर अमेरिकन व्यक्तियो का सम्बन्ध इगलैण्ड के वडे नामो वाले वशजो से निश्चित कर देने का आश्वासन दिया था।"

गोत्र
(Clan)

जनजातीय सामाजिक सगठन का तीसरा और एक महत्त्वपूर्ण आधार गोत्र (clan or sib) है। गोत्र को हम कई वशो का समूह कह सकते हैं जो कि माता या पिता

---

12 "A lineage is an extended unilateral kinship group descended from a known ancestor, or founder, who ordinarily lived not more than five or six generations back He, in the case of the patrilineage, or she, in the case of the matrilineage, is a real person and not a mythological or legendary figure" Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p 343

13 In short, "the lineage is a group of all the blood-related descendants of a common historical and real ancestor" R N Mukherjee, *op cit*, p 69.

वास्तविकता तो यह है कि पुरुष भी सामाजिक, राजनैतिक विषयो मे सम्मानित पद को प्राप्त होते हैं और पुरुषोचित समस्त अधिकार पुरुषो का ही होता है ।

पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय परिवार
(Patriarchal or Patrilineal Family)

चूंकि ऐसे परिवारो मे सत्ता या अधिकार पति या पिता के हाथ मे रहता है, इस कारण इन्हे पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal family) कहते हैं । पितृसत्तात्मक या पितृवशीय परिवार मे साधारणतया विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर मे आकर रहती है । ऐसे परिवारो मे वशनाम पिता के वश के आधार पर होता है, अर्थात् बच्चे अपने पिता के कुल या वश के नाम को ग्रहण करते हैं। इस कारण ऐसे परिवार पितृवशीय परिवार (Patrilineal family) कहलाते है । साथ ही, चूंकि ऐसे परिवार मे निवास-स्थान पिता या पति का होता है जहाँ पत्नी और बच्चे अपने पति और पिता के साथ निवास करते हैं, इस कारण ऐसे परिवारो को पितृस्थानीय परिवार (Patrilocal residence) कहते हैं । उपर्युक्त वर्णन से पितृसत्तात्मक परिवार की निम्नलिखित **विशेषताएँ** स्पष्ट हैं —

(१) ऐसे परिवार मे बच्चो का वश-परिचय पिता के परिवार पर निर्भर होता है। बच्चे अपने पिता के कुल या वश के समझे जाते हैं, माता के वश या कुल के नही ।

(२) ऐसे परिवार मे विवाह के बाद पत्नी को पति के घर मे जाकर रहना होता है । बच्चे भी वहीं पर रहते है ।

(३) पितृवशीय परिवार मे बच्चो का अपने पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है । माता के परिवार की सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नहीं होता ।

(४) सामाजिक और पारिवारिक पद और उपाधियाँ पुत्र को ही प्राप्त होती हैं । हिन्दू परिवार मे तो लडको का विशेष महत्त्व होता है और वह इस कारण कि उनकी आवश्यकता पितरो के तर्पण और पिण्डदान आदि के लिये होती है । परिवार के सबसे बडे पुत्र को यह अधिकार सबसे पहले प्राप्त होता है, इस कारण बडे लडके का स्थान पिता के बाद ही होता है और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे ही परिवार के कर्त्ता का पद प्राप्त हो जाता है ।

(५) पारिवारिक मामलो मे तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण अधिकार पिता का ही होता है । उसे ही इन विषयो मे निर्णय लेने का अधिकार है, वह भी परिवार को नियन्त्रित तथा सगठित करता है और सामाजिक, धार्मिक और सामुदायिक समस्त कार्यों मे वह ही परिवार का प्रतिनिधित्व करता है ।

वंश-समूह
(Lineage)

जनजातीय सामाजिक जीवन और सगठन का एक महत्त्वपूर्ण आधार वश-समूह होता है । श्री हॉबल के अनुसार, "वश-समूह साधारणत पाँच या छ पीढियो से अधिक पहले का एक परिचित सस्थापक या सामान्य पूर्वज के उत्तराधिकारियो का एक विस्तृत

और एकपक्षीय रक्त-सम्बन्धित समूह है। वह (पूर्वज) एक काल्पनिक या पौराणिक व्यक्ति नही वल्कि एक वास्तविक पुरुष होता है।"[12] सक्षेप मे, **वंश-समूह एक सामान्य ऐतिहासिक और वास्तविक पूर्वज से सम्बन्धित समस्त रक्त-सम्बन्धी वशजो का एक समूह होता है।**[13]

वश-समूह दो प्रकार का हो सकता है—(अ) मातृवशीय वश-समूह (Matrilineal lineage), और (ब) पितृवशीय वश-समूह (Patrilineal lineage)। मातृवशीय वश-समूह के अन्तर्गत स्त्री, उसकी बहनें और उनके बच्चे आते हैं, भाई या उसके बच्चे वश के बाहर चले जाते हैं। इसके विपरीत, पितृवशीय वश-समूह के अन्तर्गत पुरुष, उसके भाई और उनकी सन्तानें ही आती है, इसमे बहन या उनके बच्चे वश के बाहर चले जाते हैं।

भारतीय जनजातियो मे उपरोक्त दोनो प्रकार के वश-समूह पाये जाते हैं और पारिवारिक सगठन मे इसका काफी महत्त्व है। खासी, गारो आदि जनजातियो मे मातृवशीय वश-समूह पाये जाते हैं, जबकि खरिया, भील आदि जनजातियो मे पितृवशीय वश-समूह। प्रोफेसर रैडक्लिफ-ब्राउन ने अपने अध्ययनो मे वश-समूह के महत्त्व को अति उत्तम रूप मे प्रस्तुत किया है। अफ्रीका की कुछ जनजातियो में तो वश-समूह की व्यवस्था इतनी जटिल है कि उन्हे सरलता से समझा ही नहीं जा सकता।

वैसे तो मातृवशीय और पितृवशीय वश मे सामान्य पूर्वज कोई वास्तविक या ऐतिहासिक स्त्री या पुरुष ही होता है, फिर भी कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि अपने समूह की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढाने के लिये पूर्णतया काल्पनिक पूर्वजो के आधार पर भी लोग वश को विकसित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति मे काल्पनिक पूर्वज भी धीरे-धीरे वास्तविक रूप धारण कर लेते हैं और दो-चार पीढियो के बाद उस पूर्वज की यथार्थता या वास्तविकता के सम्बन्ध मे किसी को कोई सन्देह रह ही नही जाता है। "कतिपय अरब-समूहो मे कुछ ऐसे विशेषज्ञ हैं जो उचित पुरस्कार मिलने पर व्यक्ति का सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण काल्पनिक पूर्वजो के साथ सहज ही स्थापित कर देते हैं। श्री क्लूखोन ने इगलैण्ड के एक ऐसे मनोरजक विज्ञापन का उदाहरण दिया है जिसमे विज्ञापक ने समुचित पारिश्रमिक की प्राप्ति पर अमेरिकन व्यक्तियो का सम्बन्ध इगलैण्ड के बडे नामो वाले वशजो से निश्चित कर देने का आश्वासन दिया था।"

गोत्र
(Clan)

जनजातीय सामाजिक सगठन का तीसरा और एक महत्त्वपूर्ण आधार गोत्र (clan or sib) है। गोत्र को हम कई वशो का समूह कह सकते हैं जो कि माता या पिता

---

12 "A lineage is an extended unilateral kinship group descended from a known ancestor, or founder, who ordinarily lived not more than five or six generations back He, in the case of the patrilineage, or she, in the case of the matrilineage, is a real person and not a mythological or legendary figure" Heobel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p 343

13 In short, "the lineage is a group of all the blood-related descendants of a common historical and real ancestor" R N Mukherjee, *op cit*, p 69.

किसी एक पक्ष के समस्त रक्त-सम्बन्धियो (चाहे यह सम्बन्ध काल्पनिक ही क्यो न हो) से मिलकर बनता है । दूसरे शब्दो मे, गोत्र वश का ही एक विस्तृत रूप होता है। माता या पिता किसी के वश के सभी रक्त-सम्बन्धियो को अगर जोडा जाय और अगर इस प्रकार के वश-समूह मे एक ही पूर्वज (वास्तविक या काल्पनिक) की सभी सन्तान सम्मिलित कर दी जाय तो उसे गोत्र कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, कई वश मिलकर एक गोत्र बनता है।

गोत्र का प्रारम्भ परिवार के किसी प्रमुख पूर्वज (वास्तविक, कल्पित या पौराणिक) से होता है। यह पूर्वज प्रमुख और प्रतिष्ठित होने के कारण उसे उस परिवार का प्रवर्तक या सस्थापक मान लिया जाता है। इसी कारण उसी के नाम से परिवार के सब वशजो का परिचय दिया जाता है और सब मिलकर एक गोत्र कहलाते हैं। ये वशज या तो मातृवशीय वश-समूहो के होते हैं या पितृवशीय वश-समूहो के होते हैं। माता और पिता दोनो पक्ष के वश-समूहो को मिलाकर गोत्र का निर्माण कभी नही होता। दूसरे शब्दो मे, गोत्र सदैव एकपक्षीय (unilateral) होता है।

गोत्र की परिभाषा
(Definition of Clan)

एक कमेटी (Committee) ने गोत्र को इस प्रकार परिभाषित किया है—"गोत्र एक जनजाति का एक बहिर्विवाही विभाजन है जिसके सदस्य अपने को कुछ सामान्य बन्धनो द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित समझते हैं। इस सम्बन्ध का आधार एक सामान्य पूर्वज के वशज होने का विश्वास, एक सामान्य टोटम या एक सामान्य भू-भाग मे निवास हो सकता है।"[14] सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) के शब्दो मे, "एक गोत्र अधिकाश रूप से कुछ वशो का योग होता है और ये अपनी उत्पत्ति एक कल्पित पूर्वज से मानते हैं जो कि मानव, मानव के समान, पशु, पेड, पौधा या निर्जीव वस्तु तक हो सकता है।"[15] इस प्रकार स्पष्ट है कि **गोत्र एकपक्षीय परिवारो का वह सकलन है जिनके सदस्य अपने को एक वास्तविक या काल्पनिक सामान्य पूर्वज के वशज मानते हैं।**"[16]

---

14 "Clan is an exagamous division of a tribe, the members of which are held to be related to one another by some common ties, it may be belief in descent from a common ancestor, possession of a common totem or habitation of a common territory" —(A committee)

15 "A sib or clan is often the combination of few lineage and descent may be ultimately traced to a mythical ancestor, who may be human, human like, animal, plant, or even inanimate" Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1957, pp 113-114

16 "Clan is that collection of unilateral families, the members of which claim their descent from a common ancestor, real or mythical" R N Mukerjee, *op cit*, p 70

गोत्र की विशेषताएँ
(Characteristics of Clan)

उपरोक्त परिभाषाओ से गोत्र की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं— (१) गोत्र एक बहिर्विवाही (exogamous) समूह है। चूँकि एक गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते है, इस कारण वे सब एक-दूसरे के भाई अथवा बहन हुए। इसलिये वे अपने गोत्र के किसी व्यक्ति से विवाह नही करते हैं। विवाह अपने से बाहर के गोत्र मे होता है। (२) गोत्र का सगठन एक सामान्य पूर्वज की कल्पना पर आधारित होता है। यह पूर्वज वास्तविक भी हो सकता है और काल्पनिक या पौराणिक भी। (३) गोत्र की प्रकृति एकपक्षीय होती है—अर्थात् एक गोत्र मे या तो माता की ओर के सब परिवारो का सकलन होता है या पिता की ओर के सब परिवार सम्मिलित होते हैं।

गोत्र के प्रकार
(Kinds of Clan)

ऊपर बताये हुए गोत्र की तीसरी विशेषता के अनुसार गोत्र दो प्रकार के हो सकते हैं.—

(अ) मातृवंशीय गोत्र (Matrilineal Clan)—इसमे एक स्त्री पूर्वज की जितनी भी सन्तान होती है वे सब इस गोत्र की सदस्य मानी जाती हैं। परिवार की एक स्त्री, उसकी बहनें और उनके बच्चे भी इस गोत्र के सदस्य होते हैं। दूसरे शब्दो मे, एक स्त्री, उसके बच्चे, उस स्त्री की बहनें और उनके बच्चे और उन बच्चो की लडकियो के बच्चे सब मातृवशीय गोत्र मे शामिल होते हैं, लेकिन भाइयो के बच्चे इसके अन्तर्गत नही आते।

(ब) पितृवशीय गोत्र (Patrilineal Clan)—ऐसे गोत्र मे एक पुरुष, उसके भाई, उस पुरुष की सन्तानें और उसके भाइयो की सन्ताने सम्मिलित होती हैं, परन्तु बहनो की सन्तानें ऐसे गोत्र मे नही आती।

गोत्र के नाम
(Names of Clan)

गोत्रो के नाम ऋषियो के नाम पर जैसे, शाडिल्य, भारद्वाज, काश्यप आदि, टोटम के नाम पर जैसे, कुंजम, नागसोरी आदि, उपनाम के आधार पर जैसे कमार, जगत आदि या एक विशिष्ट भूभाग के आधार पर जैसे महानदिया, जौनपुरिया, सरगुजिया आदि होते हैं।

गोत्र की उत्पत्ति
(Origin of Clan)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, गोत्र की उत्पत्ति एक पूर्वज से मानी जाती है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि यह पूर्वज एक मनुष्य ही हो। अनेक जनजातियाँ किसी पशु, पेड, पौधा अथवा अन्य वस्तु को भी अपना गोत्र-पूर्वज मान लेती हैं। बहुधा गोत्र की

उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक जनजाति या गोत्र-समूह मे कोई न कोई उपकथा या किवदतियाँ प्रचलित रहती हैं। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की डोहोमी (Dohomy) जनजाति मे एक गोत्र की उत्पत्ति घोडे और स्त्री के ससर्ग या शरीर-सम्बन्ध के फलस्वरूप हुई है, और दूसरे एक गोत्र की उत्पत्ति सूअर और स्त्री के ससर्ग से हुई है, ऐसी किवदतियाँ प्रचलित हैं। उसी प्रकार कमार जनजाति के लोग यह कहते हैं कि उनके कुंजाम गोत्र का उद्भव तब सम्भव हुआ जब एक स्त्री ने बकरे के ससर्ग से सन्तान उत्पन्न की। क्रो इण्डियनो (Crow Indian) मे तो जनजातीय जीवन की किसी अनोखी घटना को स्मरणीय बनाने के लिये उस घटना के कर्त्ता या नेता के नाम के आधार पर भी गोत्र का उद्भव हुआ है, ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं। कुछ गोत्रो के नाम उसके सदस्यो की कुछ विशेषताओ पर आधारित होते हैं। कभी-कभी अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बढाने के लिये एक समूह के लोग अपना नाता किसी विशिष्ट व्यक्ति, ऋषि-मुनि से जोड लेते है और इस प्रकार के गोत्र का उद्भव होता है।

अत स्पष्ट है कि गोत्र की उत्पत्ति का कोई एक सामान्य कारण नही है। प्रत्येक समाज या समूह या जनजाति मे इसकी उत्पत्ति का एक विशिष्ट कारण हो सकता है क्योकि प्रत्येक समाज की सामाजिक अवस्थाएँ या परिस्थितियाँ भी अलग-अलग होती हैं। कुछ अति प्राचीन जनजातियो मे गोत्र-व्यवस्था नही पाई जाती है और ऐसी जनजातियो मे अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियो तथा दक्षिण भारत की कादर जनजाति के नाम उल्लेखनीय हैं।

गोत्र के विस्तृत स्वरूप
(Extended Forms of Clan)

डाक्टर दुबे के शब्दो मे, "सगठन की दृष्टि से कभी-कभी कोई गोत्र मिलकर एक बृहत् समूह बना लेते हैं। इसे ही हम **भ्रातृदल या गोत्र-समूह** (phratry) कहते हैं।" सर्वश्री मजूमदार और मदान के अनुसार, "जब एक या अन्य कारणवश एकाधिक गोत्र एक साथ मिल जाते हैं तो इस मिलित समूह को भ्रातृदल कहते हैं।"[17] कई गोत्रो का मिलित या सयुक्त रूप ही भ्रातृदल है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि इस प्रकार सयुक्त हो जाने पर प्रत्येक गोत्र का पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वास्तव मे, भ्रातृदल प्रत्येक गोत्र के सदस्य की सामुदायिक भावना का विस्तार मात्र होता है और वह सदस्य अपने गोत्र तथा भ्रातृदल दोनो के प्रति ही अपने नैतिक व सामाजिक कर्त्तव्यो और कार्यों को निभाता है। भ्रातृदल मे विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध गोत्र की भाँति निश्चित तथा दृढ नही होते। इस कारण फ्रेटरी बहिर्विवाही हो भी सकती है और नही भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति की दो फ्रेटरी ताराथोरल तथा तिवालिवल अन्तर्विवाही हैं। अनगामी नागा भी पहले अन्तर्विवाह करते थे, परन्तु अब नही करते।

---

17 "When a group of clans gets merged together for some reason or another, the emergent group is called a phratry" Majumdar and Madan, *op cit*, p 115

अगर एक जनजाति के सभी गोत्र केवल दो भागो मे विभाजित होकर सगठित हों तो उस पूरे सगठन को **युग्म-सगठन या द्विदल-सगठन** (dual organization) कहते हैं और इनमे से प्रत्येक भाग को अर्थात् युग्म-सगठन के आधे हिस्से को **गोत्रार्ध** (moiety) कहते है । यह गोत्रार्ध बहिर्विवाही (exogamous) समूह होता है और इस कारण एक गोत्रार्ध के सदस्य अपना विवाह-सम्बन्ध दूसरे गोत्र के साथ ही स्थापित करते हैं। बोण्डो (Bondo) लोगो मे युग्म-सगठन है जो दो गोत्रार्ध ओटल (Ontal) तथा किल्लो (Killo) को लेकर बना है। ये दोनो बहिर्विवाही गोत्रार्ध हैं। चूंकि ऐसे समूहो मे दो स्तर पर पृथक् रूप मे सगठन होता है, इस कारण जन-जातियो के इस सगठन को द्विदल या युग्म-सगठन कहा जाता है।

गोत्र के कार्य
(Functions of Clan)

(१) गोत्र का सर्वप्रमुख कार्य पारस्परिक सहायता और सुरक्षा प्रदान करना है। यह काम एक गोत्र अति सरलता से कर सकता है क्योकि एक ही पूर्वज पर विश्वास होने के कारण गोत्र के सदस्यो मे 'हम की भावना' या भ्रातृ-भाव अति तीव्र होता है और वे आवश्यकता पडने पर एक-दूसरे की सहायता ही नही बल्कि एक-दूसरे के लिये प्राण तक देने को तैयार रहते हैं। प्रत्येक सदस्य अति स्वाभाविक ढग से यह आशा करता है कि उसे किसी भी समय किसी भी प्रकार की सहायता मिल सकती है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, किसी भी क्षेत्र मे गोत्र के सदस्यो से सहायता प्राप्त की जा सकती है। गोत्र मे भ्रातृ-भाव दृढ होता है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि अगर गोत्र का कोई सदस्य बीमार है और उसकी देख-रेख करने वाला कोई नही है तो गोत्र के अन्य लोग उसकी देख-रेख तथा चिकित्सा आदि की व्यवस्था करते हैं। उसी प्रकार अन्य आपत्तियो, दुर्घटनाओ तथा असमर्थता के समय भी गोत्र के लोग गोत्र-सदस्य को सुरक्षा प्रदान करते हैं। फलत एक गोत्र एक सशक्त सगठित समूह बन जाता है और उसी के रूप मे कार्य करता रहता है।

(२) गोत्र अपने सदस्यो के लिये नियम बनाता है और उनके द्वारा उनके व्यव-हारो पर नियत्रण करता है। यह काम भी गोत्र अति सरलता से कर सकता है क्योकि गोत्र के प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे को घनिष्ट और वैयक्तिक (personal) रूप मे पहचानते हैं और गोत्र का सगठन तथा कार्य-भार गोत्र परिवारो के बडे-बूढो के ऊपर होता है। अपने गोत्र के सदस्यो को समूह के नियमो का पालन करना सिखाना और उन्हे ठीक रास्ते पर चलाना इन बडे-बूढे मुखियाओ का एक प्रमुख काम होता है। बार-बार गोत्र के नियमो को तोडने पर एक गोत्र-सदस्य को गोत्र से निकाल देने का अधिकार भी इन मुखियाओ को प्राप्त होता है। इस डर से भी लोग गोत्र-नियमो का उल्लघन नही करते हैं।

(३) गोत्र का एक प्रमुख कार्य अपने सदस्यो से बहिर्विवाह-सम्बन्धी नियमो का पालन करवाना होता है। चूंकि एक गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हैं, इस कारण वे सब एक-दूसरे को भाई-बहन समझते हैं और परस्पर

शादी-विवाह करना बहुत बुरा मानते है। इस विचार के आधार पर ही गोत्र के लिये यह सम्भव होता है कि वह विवाह को नियमित करे और गोत्र-सदस्यो को अपने विवाह-साथी दूसरे किसी गोत्र से प्राप्त करने का निर्देश दे।

(४) इसके अतिरिक्त गोत्र शासन-व्यवस्था को बनाये रखने, धर्म से सम्बन्धित कृत्यो को करने तथा गोत्र-सम्पत्ति की देख-रेख करने का भी काम करता है।

इस प्रकार गोत्र जनजातीय सामाजिक सगठन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है जोकि आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य अनेक प्रकार की सेवाएँ अपने सदस्यो को प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप जनजातियो की अनेक समस्याओ का एक सगठित हल सम्भव होता है।

SELECTED READINGS

1 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

2 Kapadia, K M *Marriage and Family in India;* Oxford University Press, Bombay, 1958

3 Linton, R. *The Study of Man*, Appletan, New York, 1936

4 Lowie, R. *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1921

5 MacIver and Page *Society*, Macmillan and Co , London, 1959

6 Prabhu, P N *Hindu Social Organization*, Popular Book Depot , Bombay, 1954

११

आदिकालीन कानून, न्याय तथा सरकार

(PRIMITIVE LAW, JUSTICE AND GOVERNMENT)

विषय-सूची—ग्यारहवाँ अध्याय

१. भूमिका
२. कानून क्या है ?
३ आदिकालीन कानून की प्रकृति
४ कानून के पीछे अभिमति
५ कानून तथा प्रथाएँ
६. आदिम समाजों मे न्याय
७ सम्मिलित उत्तरदायित्व
८. अपराध का निर्धारण
९ प्रमाण
१०. अपराधी-सकल्प
११. दण्ड
१२. क्षतिपूर्ति
१३. अदालती कार्यवाही
१४. आदिम समाजों मे सरकार
१५ सरकार के प्रकार
१६ स्थानीय सरकार
१७. मुखिया
१८ प्रधान
१९. वंशानुगत एकतंत्र या राजा
२० परिषद
२१ भारतीय जनजातियों का कानून और सरकार

अध्याय ११

आदिकालीन कानून, न्याय तथा सरकार (Primitive Law, Justice and Government)

समाज एक अखण्ड व्यवस्था नही है। इसके अन्तर्गत अनेक भाग तथा उपभाग क्रियाशील रहते हैं। इनमे से प्रत्येक भाग तथा उपभाग के अनेक सदस्य होते हैं जो कि अपने-अपने हितो की पूर्ति के लिये प्रयत्न करते रहते हैं। अगर इनमे से प्रत्येक को अपनी इच्छानुसार या मनमाने ढग से काम करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो समाज की सरचना एक दिन मे ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। केवल इतना ही नही, प्रत्येक समाज को सदा ही यह डर होता है कि कही बाहर का कोई समूह उसपर आक्रमण करके उसे अपने आधीन न कर ले। इसीलिए बाहरी तथा आन्तरिक दोनो ही प्रकार के आक्रमणो से सामाजिक सरचना, शान्ति एव सुव्यवस्था की रक्षा के लिये प्रत्येक समाज, चाहे वह आदिकालीन हो या आधुनिक, मे कानून, न्याय तथा सरकार की व्यवस्था होती है। सार रूप मे प्रत्येक समाज मे कानून अपने समाज के सदस्यो के लिये व्यवहार के कुछ निश्चित नियमो को प्रतिपादित करता है, न्याय उन नियमो (कानूनो) को तोडने वाले को दण्ड देता है और उनका पालन करने वाले के हितो की रक्षा करता है, और सरकार देश के अन्दर शान्ति और सुव्यवस्था को बनाये रखने या शासन-प्रबन्ध करने तथा बाहरी आक्रमणो से देश की रक्षा करने का काम करती है। अत स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज को कानून, न्याय तथा सरकार की आवश्यकता होती है, चाहे इनका स्वरूप कितना अस्पष्ट क्यो न हो। इन तीनो को एक साथ मिलाकर जो सगठन बनता है, उसे राजनैतिक व्यवस्था कहते हैं। आदिम समाज के सन्दर्भ मे सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने राजनैतिक सगठन को तीन श्रेणियो मे बाँटा है जो कि निम्नवत् हैं[1] —

(१) प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे राजनैतिक सगठन आते है जिनमे कि कानून, न्याय तथा सरकार का रूप इतना अस्पष्ट है कि उन्हे वास्तव मे राजनैतिक सगठन कहना उचित न होगा। इन समाजो मे नेताओ का कोई निश्चित स्वरूप नही होता, इस कारण इनका स्थानीय समूह या परिवारो पर कोई नियन्त्रण नही होता। ऐसे समाजो के अन्तर्गत छोटे-छोटे समूह होते हैं जो कि अत्यधिक छिटके होते हैं। जनसख्या भी बहुत

1 Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co, New York, 1959, p 503

कम होती है। इस कारण राजनैतिक व्यवस्था का सगठित रूप भी विकसित नही हो पाता है।

(२) द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत राजनैतिक आधार पर कुछ सगठित जनजातियाँ, झुण्ड (band) आदि आते हैं। इनमे प्रथम श्रेणी के समूहो की अपेक्षा जनसख्या और आर्थिक उत्पादन की मात्रा कुछ अधिक होती है। एक समूह अपने पास-पडोस के समूहो पर कभी-कभी आक्रमण भी करता है, परन्तु इन आक्रमणो का उद्देश्य दूसरे समूहो पर शासन करना नही होता, वरन् केवल कुछ आवश्यक वस्तुओ को प्राप्त करना या दूसरे समूह को हराकर वहाँ से निकाल देना होता है।

(३) तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे समाज आते हैं जो कि जनसख्या तथा आर्थिक उत्पादन की दृष्टि से उपरोक्त दो श्रेणियो से कही अधिक उन्नत अवस्था मे हैं। इन समाजो मे राजनैतिक सगठन इतना व्यवस्थित होता है कि ये दूसरे समूहो को पराजित करके या तो उनसे हर्जाना वसूल करते है या उन्हे निम्न वर्ग के रूप मे अपने मे मिला लेते हैं। ऐसे समाजो मे शासन की बागडोर एक वशपरम्परागत कुलीन समूह के हाथ मे रहती है।

आदिम समाजो की राजनैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि इन समाजो मे राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप उतना सगठित नही होता जितना कि आधुनिक समाजो मे। इनका शासन-प्रबन्ध प्राय स्थानीय समूहो मे बँटकर वशपरम्परागत मुखिया के द्वारा ही होता है, जो कि प्रथा, धर्म और अन्य अनेक अन्धविश्वासो के आधार पर शासन करता है और समूह मे शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखने का प्रयत्न करता है। आदिम समाजो के राजनैतिक सगठन के इस पक्ष को ध्यान मे रखते हुए हम अब इन समाजो मे पाये जाने वाले कानून, न्याय तथा सरकार की प्रकृति तथा स्वरूप की विवेचना करेंगे।

आदिम कानून
(Primitive Law)

कानून क्या है ?
(What is Law ?)

प्रत्येक व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार व्यवहार या क्रिया करने नही दिया जाता। मानवीय क्रिया और अन्त क्रिया के दौरान मे व्यवहार करने के अनेक सामान्य रूप प्रचलित हो जाते हैं जिन्हे उस समाज के सब या अधिकतर लोग मानते हैं। जनता की इन रीतियो को जनरीति (folk ways) कहते हैं। यह जनरीति एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होती रहती है। इस हस्तान्तरित होने के दौरान मे इसे अधिकाधिक समूहो की अभिमति प्राप्त होती जाती है, क्योकि प्रत्येक पीढी का सफल अनुभव इसे और भी दृढ बना देता है। समाज से मान्यताप्राप्त वह जनरीति जो पीढी-दर-पीढी हस्तान्तरित होती रहती है, प्रथा कहलाती है। प्रथा को सामाजिक जीवन मे अधिक दृढतापूर्वक लागू किया जाता है और इसकी अवहेलना करने पर निन्दा और पालन करने पर प्रशसा होती है। परन्तु प्रथा को प्रतिपादित करने, लागू करने तथा उसके उल्लघन

करने पर अपराधी को दण्ड देने के लिये कोई सगठित शक्ति नही हुआ करती है। प्रथा तो सामाजिक क्रिया, अन्त क्रिया और प्रतिक्रिया के दौरान मे स्वत क्रियाशील रहती है। इसके विपरीत जब कोई सगठित शक्ति मानव-व्यवहार से सम्बन्धित किसी नियम को प्रतिपादित करती, उसे लागू करती तथा उसका उल्लघन करने वाले को दण्ड देती है, तो उस शक्ति के द्वारा प्रतिपादित उस नियम को कानून कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, **कानून मानव-व्यवहार से सम्बन्धित वह नियम है जिसे प्रतिपादित करने, उसे लागू करने तथा उसके उल्लघन करने वाले को दण्ड देने का उत्तरदायित्व एक सगठित शक्ति पर हो।**

श्री कारडोज़ो ने कानून की परिभाषा निम्नलिखित शब्दो मे की है, "कानून आचरण का वह सार नियम है जिसे कि इस निश्चितता से प्रतिपादित किया जाता है कि अगर भविष्य मे उसकी सत्ता को चुनौती दी गयी तो उसे अदालतो के द्वारा लागू किया जायगा।"[2] श्री हॉवल (Hoebel) के अनुसार, "कानून एक सामाजिक नियम है जिसका उल्लघन होने पर धमकी देने या वास्तव मे शारीरिक बल का प्रयोग करने का अधिकार एक ऐसे समूह को होता है जिसे ऐसा करने का समाजद्वारा-मान्य विशेषाधिकार प्राप्त है।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि कानून का आधार समाज की शक्ति है। यह शक्ति समाज अपने एक समूह को दे देता है जिसे कि आधुनिक भाषा मे सरकार कहते हैं। सरकार कुछ नियमो को बनाती है, और यह नियम उस क्षेत्र मे रहने वाले सभी व्यक्तियो या समूहो पर समान रूप से बिना किसी अपवाद के लागू होते हैं। इन नियमो का निर्माण राजनैतिक तथा सामाजिक सगठन या सुव्यवस्था तथा प्रत्येक के अधिकारो की रक्षा के लिये होता है। इसीलिये इनका पालन अनिवार्य होता है। आधुनिक समाज मे सरकार, इन नियमो अर्थात् कानूनो का पालन हो रहा है या नही, यह देखने के लिये तथा इनका उल्लघन करने वालो को दण्ड देने के लिये पुलिस, कोर्ट आदि को नियुक्त करती है। इस प्रकार कानून को बनाने का उत्तरदायित्व सरकार पर और उसे लागू और पालन करवाने तथा अपराधी को दण्ड देने का भार पुलिस व कोर्ट पर होता है। परन्तु आदिम समाजो मे कानून बनाने, उसे लागू करने तथा दण्ड देने के सम्बन्ध मे उतना सुव्यवस्थित और स्पष्ट सगठन नही मिलता है जितना कि आधुनिक समाजो मे। इस कारण आदिम समाजो मे कानून की वास्तविक प्रकृति क्या होती है, यह जान लेना आवश्यक होगा।

---

2 "Law is a principle rule of conduct so established as to justify a prediction with reasonable certainty that it will be enforced by the courts if its authority is challenged" B N Cardozo, The Growth of the Law, 1924, p 52 *cf* H Cairns, "Law and Anthropology" *The Making of Man*, 1931, p 337

3 "A law is a social norm the infraction of which is sanctioned in threat or in fact by the application of physical force by a party possessing the socially recognized privilege of so acting" E A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p 471

आदिकालीन कानून की प्रकृति
(Nature of Primitive Law)

आधुनिक दृष्टिकोण से जब हम कानून की परिभाषा को आदिम समाजो पर प्रयुक्त करते है तो हम यह पाते है कि वह परिभाषा आदिम समाजो मे ठीक-ठीक नही बैठती है। दुनिया के अनेक आदिम समाजो मे हम यह पाते हैं कि इन समाजो मे न कोई अदालत है और न ही पुलिस-सगठन। अनेक आदिम समाजो मे तो कानून का उल्लघन होने पर उसका विचार परिवार या नातेदारो के द्वारा ही हो जाता है। दण्ड का स्वरूप भी आधुनिक समाज से काफी भिन्न होता है। 'जैसे को तैसा' का सिद्धान्त लागू किया जाता है और उसे उसी के कार्य के अनुरूप सजा दी जाती है, या मार डाला जाता है या मार-पीटकर छोड दिया जाता है। परन्तु इस अन्तर के अलावा भी आदिम समाजो तथा आधुनिक समाजो के कानून मे तीन और प्रमुख अन्तरो का उल्लेख श्री लोई (Lowie) ने किया है[4] —

(१) नातेदारी (Kinship)—अगर हम आधुनिक समाजो का विश्लेषण करे तो यह पाएँगे कि यहाँ कानून का विस्तार एक क्षेत्र के अन्तर्गत होता है। भारतवर्ष मे क्षेत्र (territory) के आधार दो हैं—एक तो राज्य-सरकार और दूसरा केन्द्रीय सरकार। बहुत से कानून हैं जो कि राज्य-सरकार पास करती है और ये कानून उस राज्य के क्षेत्र के अन्दर ही लागू होते हैं। इसके विपरीत केन्द्र ऐसे कानून को भी पास कर सकता है जो कि सारे देश मे लागू होता है। दोनो प्रकार के कानून का ही एक निश्चित क्षेत्र होता है और ये कानून उस क्षेत्र पर रहने वालो पर लागू होते हैं। परन्तु आदिकालीन कानूनो का यह पक्ष अत्यन्त ही दुर्बल प्रतीत होता है। आदिम समाजो मे कानूनो का प्रतिपादन किसी क्षेत्र के आधार पर नही होता, बल्कि नातेदारी के आधार पर होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन समाजो मे भूमि या क्षेत्र का महत्त्व उतना नही है जितना कि नातेदारी या रक्त-सम्बन्ध का। नातेदारी के महत्त्व की एक सामान्य अभिव्यक्ति यह है कि इन समाजो मे मुखिया, शासक या राजा प्राय वशानुगत होता है और पिता की मृत्यु के बाद उसका लडका स्वत ही शासक या मुखिया मान लिया जाता है। रक्त-सम्बन्ध के आधार पर समाज मे सगठन और सुव्यवस्था कायम रखनी इन समाजो मे काफी सरल भी होती है क्योकि इससे दृढ अन्य किसी भी बन्धन का आविष्कार आदिम लोग कर नही पाये हैं। रक्त-सम्बन्ध को कोई भी अस्वीकार नही कर सकता, इस कारण रक्त-सम्बन्धियो के द्वारा जो कानून बनाया जाता है उसे लागू करना तथा उसका पालन करवाना सरल हो जाता है। प्राय यह देखा जाता है कि आदिम समाजो मे प्रत्येक गोत्र के कुछ महत्त्वपूर्ण राजनैतिक कार्य होते हैं। एक गोत्र का मुखिया अपने गोत्र के लिये कानून बनाता है और उसका पालन करवाता है। यूगेण्डा मे एक गोत्र के मुखिया से यह आशा की जाती है कि वह इस प्रकार के कानूनो को बनायेगा जिससे कि उस गोत्र के सदस्यो के हितो की रक्षा हो सके।

---

4 See R H Lowie, *Social Organization*, Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1956, Chapter VII

(२) आचार तथा जनमत (Ethics and Public Opinion)—आदिकालीन कानून की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इन कानूनो की विवेचना आचार के सामान्य नियमो तथा जनमत से पृथक् करके नही की जा सकती। एक अर्थ मे आदिम समाजों मे कानून प्रथा, आचार, धर्म आदि के साथ इतना अधिक घुला-मिला होता है कि इनको एक-दूसरे से अलग करना बहुत कठिन होता है। वास्तव मे प्रथा, आचार, धर्म आदि से पृथक् आदिकालीन कानूनो का कोई अलग अस्तित्व नही है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने आदिकालीन कानून के इस पक्ष पर बल देते हुए लिखा है कि जन-जातीय समाजो मे कानून मुख्यत कर्त्तव्यो और अधिकारो का एक योग है जिसे कि परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा तथा प्रचार के आधार पर क्रियाशील रखा जाता है।[5] आदिम समाजो के कानूनो पर प्रथा, आचार और धर्म का ही केवल प्रभाव नहीं होता है, बल्कि जनमत का भी बहुत प्रभाव हुआ करता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। आदिम समाजो का आकार आधुनिक समाजो की भाँति विशाल नही होता है। सरल तथा छोटे होने के कारण इन समाजो मे सामाजिक अन्त क्रिया का क्षेत्र बहुत ही कम होता है जिसके फल-स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानता और पहचानता है और साथ ही अनेक आर्थिक तथा सामाजिक विषयो मे वे एक-दूसरे पर निर्भर भी होते हैं। इन आदिम समाजो के विषय मे एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक समाज के सदस्यो की प्रमुख समस्याएँ प्राय एक समान होती हैं क्योकि हर एक समाज मे आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ प्राय सबके लिये एक समान ही होती हैं। समस्याएँ प्राय एक-सी होने के कारण जनमत के विभिन्न रूप भी विकसित नही हो पाते। एक-सा होने पर भी यह जनमत बहुत प्रभावशाली होता है। आदिम समाज के सदस्यो की पारस्परिक अन्योन्याश्रितता के कारण जनमत का यह प्रभाव और भी अधिक होता है। इसी कारण आदिम समाजो के जनमत मे वह सत्ता निहित होती है जो कि व्यक्ति के व्यवहारो पर नियत्रण और शासन करती है। इस जनमत का डर प्रत्येक सदस्य को होता है। जनमत जो व्यवहार उचित मान ले, उसे उसी रूप मे स्वीकार कर लेना ही ठीक है अन्यथा समूह मे बहिष्कार हो जाने का डर सदा ही रहता है। प्रत्येक सदस्य इस विषय मे सचेत है और यह देखता है कि दूसरे लोग जनमत के निर्देश के अनुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति एक 'पुलिसमैन' के रूप मे इस अर्थ मे कार्य करता रहता है कि वह अन्य लोगो के व्यवहार पर कडी निगरानी रखता है। इस कारण इन 'पुलिसमैनो' की निगाह बचाकर कुछ भी करना असम्भव है और किसी भी रूप मे किसी नियम को तोडने पर उस अपराध से रक्षा पाने की सम्भावना भी उतनी ही कम है। इन समाजो मे एक व्यक्ति समूह की परवाह किये बिना जीवित रहने का सपना नहीं देख सकता, इसलिये जनमत के सामने उसे झुकना पडता है, और जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को घनिष्ट रूप से जानता-पहचानता है वहाँ सामाजिक नियम को तोडकर व्यक्ति कैसे बचकर या छिपकर रह सकता है। एक समान जनमत एक समान नियमो को जन्म देता है जो कि समान रूप से सब पर लागू होते हैं। इन नियमो को जो कि धर्म,

5 See B Malinowski, *Crime and Custom in Savage Society*, New York, 1926

परम्परा तथा आचार पर आधारित होते हैं, आधुनिक अर्थ मे कानून कहा जा सकता है या नही यह दूसरी बात है, परन्तु यदि कानून को समाज द्वारा मान्यताप्राप्त समूह के सदस्यो के व्यवहारो के नियत्रक के रूप मे मान लिया जाय तो आदिम समाज के ये नियम भी कानून ही हैं, विशेषकर इस अर्थ मे कि इनके पीछे समूह की अभिमति है, ये समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा लागू किये जाते हैं तथा इनको तोडने पर व्यक्ति को सजा मिलती है।

(३) अपराध और टॉर्ट (Crime and Tort)—सामान्यत. अपराध वह कार्य है जो कि समूह के हित के लिये घातक है। राज्य या समुदाय अपने हितो की रक्षा के लिये कुछ नियमो को प्रतिपादित करता है। इन नियमो को तोडना या इनके विरुद्ध काम करना ही अपराध है। इनके विपरीत एक व्यक्ति के व्यक्तिगत हितो के विरुद्ध काम करने को 'टॉर्ट' (tort) कहते है। इससे समुदाय, राज्य या जनता को नही, बल्कि एक व्यक्ति को हानि पहुँचती है। आधुनिक समाजो मे इन दो प्रकार के अपराधो के बीच स्पष्ट भेद माना जाता है। अपराध के मामलो मे राज्य अपराधी के विरुद्ध कार्यवाही करता है और उसे सजा देता है। परन्तु टॉर्ट के मामलो मे राज्य से कोई मतलब नही होता है। जिस व्यक्ति के विरुद्ध 'टॉर्ट' किया गया है वह व्यक्ति (न कि राज्य) अपराधी के विरुद्ध अदालत मे कार्यवाही करता है और उससे हर्जाना वसूल करता है या उसे सजा दिलवाता है। परन्तु आदिम समाज मे अपराध और टॉर्ट मे विशेष अन्तर नही माना जाता। अधिकतर व्यक्ति, नातेदारो या गोत्र के विरुद्ध अपराध होता है। अगर कोई एक व्यक्ति को हानि पहुँचाता है तो वह व्यक्ति या उसके रिश्तेदार हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति या उसके रिश्तेदारो से बदला लेते हैं। उसी प्रकार अगर एक गोत्र के किसी सदस्य को दूसरे गोत्र के किसी सदस्य ने हानि पहुँचाई है तो दूसरा गोत्र पहले गोत्र से बदला लेता है। दोनो ही क्षेत्र मे अपराध करने वाला और उसे सजा देने वाला या वाले दो व्यक्ति या उनके नाते-रिश्तेदार ही होते हैं। समाज समग्र रूप मे अपराध के मामले मे सामान्यत दखल नही देता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि आदिम समाजो मे अपराध के विरुद्ध समाज की कोई प्रतिक्रिया होती ही नहीं है। ऐसे अनेक अवसर होते हैं जब कि किसी सामाजिक नियम को तोडने पर समग्र समाज उसका विरोध करता है। परन्तु यह तभी किया जाता है जब कि समाज को यह डर होता है कि उस अपराधी कार्य विशेष से पूरे समाज को नुकसान पहुँच सकता है। उदाहरणार्थ, एस्कीमो के समाज मे किसी व्यक्ति को मार डालना एक व्यक्तिगत अपराध या 'टॉर्ट' मात्र है और इसलिये इस विषय मे समग्र समाज कोई कार्यवाही नही करता। परन्तु यदि यह शक हो जाय कि कोई जादू टोना कर रहा है अथवा कोई व्यक्ति भूत-प्रेत या डाइन के प्रभाव से प्रभावित होकर कार्य कर रहा है तो उसके विरुद्ध सारा समाज तुरन्त जाग उठता है और आवश्यक कार्यवाही करके उसे दबा देता है या सजा देता है। श्री लोई (Lowie) का कथन है कि क्रो इण्डियन (Crow Indian) इस नियम का भी पालन नही करते। वहाँ यदि कोई व्यक्ति अन्य किसी व्यक्ति पर जादू टोना करता है, तो इस विषय मे समग्र समूह कुछ भी हस्तक्षेप नही करता है। जिसपर जादू किया जाता

है वह स्वय ही उसका उत्तर देता है अर्थात् उसके विरोध मे जादुई प्रतिक्रिया करता है।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आदिम समाजो मे कानून का आधार आचार, धर्म आदि होता है जिसके फलस्वरूप अधिकतर अपराध को 'पाप' कहकर ही परिभाषित किया जाता है। 'पाप' ईश्वरीय नियमो का उल्लघन है, इसलिये यह विश्वास किया जाता है कि अगर कोई सामाजिक नियम को तोडता है तो उसे ईश्वर ही सजा देगा। यह विश्वास अपराध को रोकने या अपराधी को दण्ड देने के विषय मे समूह या समाज के उत्तरदायित्व को घटा देता है, अधिक उत्तरदायित्व अलौकिक शक्ति (supernatural power) का होता है।

कानून के पीछे अभिमति
(Sanction Behind the Law)

आदिम समाजो मे पाये जाने वाले कानूनो के अध्ययन से यह पता चलता है कि इन समाजो मे कानून के पीछे दो प्रकार की अभिमति होती हैं—पहली तो सकारात्मक अभिमति (positive sanction) और दूसरी नकारात्मक अभिमति (nagative sanction)। इन दोनो प्रकार की अभिमतियो के नाम से ही स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे अभिमति आती हैं जो कि कुछ कार्यों को करने का आदेश देती हैं। इस प्रकार की अभिमति के द्वारा उन कार्यों को करवाया जाता है जो कि उस समूह की दृष्टि मे अच्छे कार्य हैं। यह विश्वास किया जाता है कि इन कार्यों द्वारा समूह के हितो की रक्षा होगी और इस कारण ये कल्याणकारी हैं। अत जो इनसे सम्बन्धित नियमो का पालन करते हैं, समाज उनकी प्रशसा करता है या अन्य रूप मे उनको पुरस्कार (reward) देता है। इसके विपरीत नकारात्मक अभिमति के अन्तर्गत वे नियम आते हैं जो कि कुछ कार्यों को करने का निषेध करते है। इस प्रकार की अभिमति के द्वारा उन कार्यो को करने से रोका जाता है जो कि समूह के हित के लिये घातक सिद्ध हो सकते हैं। इस कारण जो ऐसे कार्यों को करते है उनकी समाज द्वारा निन्दा की जाती है या अन्य प्रकार से उनको दण्ड मिलता है।

सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि आदिम समाजो मे कानून के पीछे वास्तविक अभिमति जनमत (public opinion) है, जिसका कि महत्त्व इन समाजो मे अत्यधिक है। आदिम समाज छोटा, सरल तथा एक आमने-सामने का (face to face) समाज होता है और प्रत्येक व्यक्ति अन्य सबको व्यक्तिगत रूप से जानता-पहचानता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक को अन्य सबकी परवाह करनी पडती है। एक कार्य के विषय मे दूसरे क्या सोचते हैं या उस कार्य को करने पर दूसरे क्या सोचेंगे, इस सम्बन्ध मे एक प्रकार की जागरूकता आदिम लोगो मे सदैव होती है। जनमत का भय आदिम मानव पर सदा ही छाया होता है, क्योकि समाज से वहिष्कार उसके लिये भयकर सिद्ध हो सकता है, यह बात वह जानता है। श्री मैलिनोवस्की (Ma inowski) ने इसका एक अति उत्तम तथा स्पष्ट कारण बताया है। आपके मतानुसार आदिवासी कानूनो का पालन अन्धो की भाँति या गुलामो की भाँति नही करते और न ही बिना किसी कारण के आप-से-आप नियमो का पालन किया जाता है। आदिम समाजो मे पारस्परिक अन्योन्याश्रितता

(inter-dependence) तथा एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बोध ऐसे तत्त्व हैं जो कि कानूनो का पालन करवाते हैं। श्री मैलिनोवस्की ने यह प्रमाणित किया है कि आदिम समाजो मे प्रत्येक व्यक्ति या परिवार समग्र समूह पर आश्रित है। समूह के बिना परिवार अथवा व्यक्ति अपने मे अपूर्ण है। अपने अस्तित्व के लिए व्यक्ति या परिवार को समूह की सहायता लेनी ही पडती है। यदि कोई व्यक्ति समूह के नियमो का पालन नही करता तो समूह के अन्य सदस्य उसके लिये कोई कार्य नही करेंगे। आदिवासी के जीवन मे यह एक भयकर परिस्थिति है कि उसे सब कुछ स्वय ही करना पडे। एक व्यक्ति या परिवार के लिये दूसरे व्यक्ति या परिवार की सहायता के बिना जीवित रहना असम्भव है। इस कारण, श्री मैलिनोवस्की के अनुसार, कानूनो का पालन दास के रूप मे या आप-से-आप ही नही, अपितु जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये किया जाता है। आदिम सामाजिक जीवन मे आर्थिक आवश्यकताएं इन आवश्यकताओ मे प्रधान हैं जो कि समाज के नियमो या कानूनो का पालन करवाती हैं। ट्रोब्रियड द्वीप के निवासियो के जीवन से इस सत्य के अनेक प्रमाण मिल सकते हैं।

परन्तु यह कहना कि आदिम समाजो मे लोग केवल मात्र अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये ही कानूनो का पालन करते हैं, गलत होगा। अन्य अनेक सहायक कारणो का उल्लेख इस सम्बन्ध मे किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आदिम समाजो मे अज्ञानता का राज्य है। अज्ञानता के साथ कुसस्कार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदिम मानव भी ऐसे अनेक कुसस्कारो से घिरा होता है। इनमे जादू तथा धर्म-सम्बन्धी कुसस्कार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आदिम लोगो मे यह विश्वास बहुत प्रबल है कि सामाजिक निषेधो (taboos) का उल्लघन अलौकिक शक्ति तथा पूर्वजो के विरुद्ध कार्य है। श्री टायलर (Tylor) ने इस बात पर बल दिया है कि आदिम समाजो मे लोग यह विश्वास करते हैं कि पूर्वजो की आत्मा अमर है और वह किसी-न-किसी स्थान पर निवास करती व अपने वशजो के कार्य-कलापो को देखती रहती है। अत अगर कोई सामाजिक नियमो को तोडता है तो वे पूर्वज उससे नाराज हो जाते हैं और उसे सजा मिलती है। उसी प्रकार उनमे यह विश्वास भी प्रबल होता है कि अनेक नियमो का पालन ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्यो को निभाना ही है और ऐसा न करने पर अलौकिक शक्ति उन्हे भयानक दण्ड देगी। जादुई क्रियाओ मे भी आदिम लोगो का विश्वास होता है। वह यह विश्वास करते हैं कि कुछ नियमो का उल्लघन करने पर जादुई प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं जो कि उन्हे नष्ट कर देंगी।

अत स्पष्ट है कि आदिम समाजो मे एक ओर आर्थिक आवश्यकताओ तथा दूसरी ओर जादू तथा धर्म-सम्बन्धी विश्वासो के कारण सामाजिक नियमो या कानूनो का पालन होता है। अधिकतर आदिम समाजो मे ये दोनो पक्ष या कारक एक साथ क्रियाशील रहते हैं।

कानून तथा प्रथाएँ
(Laws and Customs)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि आधुनिक दृष्टिकोण से कानून उन नियमो का

संग्रह है जो राज्य द्वारा मान्य होते हैं और राज्य या राज्य के आधीन विशेष समितियो (पुलिस विभाग, अदालत आदि) के द्वारा पालन कराये जाते हैं। इसका सूत्रपात अनेक कारणो से, जिनमे प्रथाएँ भी सम्मिलित है, होता है, परन्तु कोई भी सामाजिक नियम कानून तभी बनता है जब कि राज्य इसे स्पष्ट रूप से परिभाषित करता है और इसे अपने नागरिको पर एक अनिवार्य नियम के रूप मे लागू करता है। कानून के पीछे राज्य की अभिमति (sanction) होती है। यदि कोई कानून को तोडता है तो उसे न्यायालय दण्ड देता है।

अगर हम कानून के उपरोक्त स्वरूप को स्वीकार करें तो स्पष्ट है कि आदिकालीन समाजो मे कानून का कोई स्पष्ट रूप न था। इसका कारण यह था कि कानून बहुत-कुछ प्रथा-संहिता (code of customs) तथा सामाजिक नियमो के साथ घुला-मिला था। यह सच है कि प्राचीन काल मे कुछ ऐसे सामाजिक नियम या प्रथाएँ होती थी, जो वही कार्य करती थी जो आज कानून करता है। फिर भी इन्हे कानून नही कहा जा सकता। प्रथाएँ कानून नही हैं क्योकि प्रथाओ की कुछ अपनी विशेषताएँ होती है। जब कि कानून राज्य द्वारा बनाये जाते और लागू किये जाते हैं, प्रथाएँ सामाजिक कार्य-विधि हैं जो कि सामाजिक अन्त क्रिया के दौरान मे धीरे-धीरे स्पष्ट और प्रगटित होती हैं। ये किसी विशेष समिति या संस्था द्वारा न बनायी जाती हैं, न लागू की जाती हैं और न उनकी रक्षा ही की जाती है। ये सामान्य स्वीकृति से बनी रहती हैं। ऐसी कोई विशेष शक्ति नही है जो हमे इस बात का आदेश देती है कि हम बडो का अभिवादन करें, त्योहारो पर फुलझडियाँ जलाएँ, घर को सजाएँ या विशेष अवसरो पर नये वस्त्र पहने। फिर भी प्रथाएँ बडी शक्तिशाली होती हैं और हम यह अनुभव करते हैं कि हम सबके जीवन के सभी अवसरो पर उनका प्रभाव है। ये सुबह से रात तक, युवावस्था से वृद्धावस्था तक हमारे कार्यों को संचालित करती हैं।

प्रथाओ और कानूनो मे अन्तर होते हुए भी ये दोनो एक-दूसरे के पूरक है। सामाजिक व्यवहार को एक उचित मान (standard) पर लाने के प्रयत्नो के फलस्वरूप ही कुछ प्रथाएँ बन जाती हैं और बाद मे सरकार द्वारा मान्य हो जाने पर ही वे कानून बन जाती हैं। सब कानून लिखित ही होगे, ऐसी कोई बात नही है—परम्परा या प्रथा को ही सरकार मौखिक रूप से एक कानून का रूप दे सकती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे पहले यह प्रथा थी कि राष्ट्रपति तीन बार (term) से अधिक चुनाव नही लडेगा। बाद मे इसे कानून का रूप दे दिया गया। इंगलैण्ड मे अलिखित संविधान (unwritten constitution) तो सम्पूर्ण रूप से प्रथाओ पर ही आधारित है। प्रथा और कानून का यह सम्बन्ध आदिम समाजो मे तो और भी घनिष्ठ है। इन समाजो मे कानून अलिखित होते है और अधिकांशत मौखिक परम्परा के रूप मे प्रथा के साथ बहुत ही घुल-मिलकर जीवित रहते हैं। आदिम समाज का एक व्यक्ति चारो ओर से प्रथाओ द्वारा घिरा होता है। उसका सामाजिक जीवन, धर्म, अर्थ-व्यवस्था, कला, आमोद-प्रमोद आदि सब कुछ प्रथाओ से प्रभावित और निर्देशित होता है। इन्हे वह उसी रूप मे स्वीकार कर लेता है जैसे कि वे है। इनमे से कुछ प्रथाओ को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है और जनजातीय

समूह का नेता या मुखिया उन्हे अधिक निश्चित रूप से सामाजिक परिस्थितियो मे सदस्यो के व्यवहारो को नियन्त्रित करने के लिये लागू करता है और उन्हे तोडने वालो को दण्ड देता है। ये ही आदिम समाजो के अलिखित कानून का रूप धारण कर लेती हैं। ये अलिखित होने पर भी इनसे सम्बन्धित धारणाएँ पर्याप्त स्पष्ट होती हैं क्योकि कानूनो के उल्लघन की घटनाएँ तथा उनके लिये दिये गये दण्ड समाज को (अर्थात् समूह के मुखिया को) स्मरण रहते हैं, और उन्ही के आधार पर अलिखित कानून-सहिता (legal code) के साथ-साथ अलिखित दण्ड सहिता (penal code) भी विकसित हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि आदिम समाजो मे कानून और प्रथा एक-दूसरे से इतना अधिक घुले-मिले हुए हैं कि इन दोनो के बीच की विभाजक रेखा स्पष्ट नही है। आदिम समाजो मे व्यक्ति के अधिकतर व्यवहारो पर नियत्रण प्रथा के द्वारा ही होता रहता है।

आदिम समाजों में न्याय
(Justice in Primitive Societies)

आदिम समाजो मे आधुनिक समाजो की भाँति न्याय-व्यवस्था—अदालत, न्यायाधीश, वकील आदि नही होते। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि इन समाजों मे राजनैतिक सगठन का स्वरूप बहुत अस्पष्ट है। इन समाजो मे आधुनिक अर्थ मे राज्य, सरकार, न्यायालय आदि बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। फलत सामाजिक नियमो को तोडने वालो को दण्ड देने और कानून का पालन करने वालो के हितो की रक्षा व उनके लिये न्याय की व्यवस्था करने के लिये अन्य सगठन अपनाया जाता है और वह है रक्त-सम्बन्धी समूह (kin groups)। अपराधी को दण्ड देने या न्याय की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व इसी रक्त-सम्बन्धी समूह पर होता है जिसके सदस्य अपने को इस विषय मे सम्मिलित रूप से उत्तरदायी समझते है। अधिकतर जनजातियो का अपना एक वशानुगत मुखिया होता है जो कि उस समूह की न्याय-व्यवस्था को परिचालित करता है। इस न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत बडे-बूढो की एक समिति (a council of elders) होती है जिसमे कि उस जनजाति के अन्तर्गत पाये जाने वाले रक्त-सम्बन्धी समूहो के प्रतिनिधि होते हैं। इनका कार्य मुखिया को न्याय करने के काम मे परामर्श देना तथा अपराधी को सजा देने के विषय मे सहायता करना है। आदिम समाजो मे न्याय-व्यवस्था का यह स्वरूप अनेक कारणो से है जैसे, समाज का सरल और छोटा रूप, रक्त-सम्बन्धो की प्रधानता, आमने-सामने का सम्बन्ध, बाहरी जगत् से कम या न के समान सम्पर्क आदि। साथ ही यह बात भी है कि मौखिक परम्परा के रूप मे अलिखित कानूनो या नियमो का पालन आदिम समाजो मे लोग जनमत के डर से ही करते रहते है। उदाहरणार्थ, क्रो (Crow) जनजाति के लोग सामाजिक नियमो को इस कारण नही तोडते कि वैसा करने पर उसके नाते-रिश्तेदार उसकी हँसी उडाएँगे और उसकी सामाजिक स्थिति गिर जायगी। जहाँ कि प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को घनिष्ठ रूप मे जानता-पहचानता है और जहाँ रोज ही प्रत्येक व्यक्ति को दूसरो के सम्पर्क मे आना होता है, वहाँ किसी सामाजिक नियम को तोडकर सबके लिये हँसी-मजाक की एक वस्तु बन जाना सबसे बडी सजा है।

आदिम समाजो की सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था इसी एक तत्त्व के कारण बहुत सरल हो जाती है। सामान्यत इन समाजो की न्याय-व्यवस्था के प्रमुख आधार निम्नलिखित है—

सम्मिलित उत्तरदायित्व
(Collective Responsibility)

चूँकि आदिम समाजो मे समूह से पृथक् एक व्यक्ति का कोई अस्तित्व हो ही नही सकता, इस कारण उसके समूह के लोग ही सम्मिलित रूप से उसके अपराध के लिये भी उत्तरदायी होते हैं। यह भावना रक्त सम्बन्धी समूहो मे और भी दृढ है। उदाहरणार्थ, आदिम समाजो मे पाये जाने वाले गोत्र-सगठन (clan organization) को ही लीजिये। एक गोत्र के सदस्य स्वय को रक्त-सम्बन्धी मानते हैं, इस कारण यदि गोत्र के किसी सदस्य के प्रति कोई दुर्व्यवहार करता है, उसे मारता, पीटता या अन्य किसी भी प्रकार से उसके प्रति कोई अन्याय करता है तो उस गोत्र के सभी सदस्य उसका विरोध करने को तैयार हो जाते है और वास्तव मे अन्याय या अत्याचार करने वाले व्यक्ति से ही नही, अपितु उसके समूह से बदला लेते हैं क्योकि गोत्र के सभी सदस्य समग्र या सम्मिलित रूप से अपने प्रत्येक सदस्य को सुरक्षा प्रदान करने के सम्बन्ध मे उत्तरदायी मानते हैं। इस सम्मिलित उत्तरदायित्व का एक दूसरा पक्ष भी है और वह यह कि गोत्र के किसी सदस्य के हीन कार्यो का उत्तरदायित्व और बदनामी सारे गोत्र के सदस्यो पर आती है। यह बात केवल गोत्र-समूहो के सम्बन्ध मे ही नही, बल्कि उन समूहो के सम्बन्ध मे भी सच है जिनमे की गोत्र-व्यवस्था नही पायी जाती। उदाहरणार्थ, गोत्रविहीन हूपा (Hupa) जनजाति मे अगर कोई इसके किसी सदस्य को मार डालता है तो ये लोग बदले मे हत्यारे के परिवार के किसी-न-किसी सदस्य को जरूर मार डालते हैं। इस सिद्धान्त को लागू करने का परिणाम यह होता है कि किसी भी व्यक्ति के द्वारा दूसरे समूह के किसी व्यक्ति के प्रति किये गये अपराध को एक समूह के द्वारा दूसरे समूह के प्रति अत्याचार या अपराध माना जाता है। इसी सिद्धान्त का दूसरा रूप यह है कि अपने ही समूह के अन्दर अगर कोई व्यक्ति अपराध करता है तो उसे दण्ड देने का उत्तरदायित्व उसके ही रक्त-सम्बन्धी समूह को है, समग्र समाज को इस विषय मे परेशान होने की आवश्यकता नही है। इफूगाओ (Ifugao) जनजाति मे इस सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष के कुछ रोचक उदाहरण मिलते हैं। एक बार इस समाज मे दो हत्यारो (murderers) को कोई भी सजा नही दी गयी और वह इसलिये कि उन्होने अपने ही परिवार के दो व्यक्तियो की हत्या कुछ ऐसे कारणो के कारण की थी जो कारण कि उस परिवार के अन्य जीवित सदस्यो के विचारो मे उचित ही था। ये लोग अपने आपस के लोगो के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही इससे भी अधिक घृणित कार्यो तक के लिये नही करते। जैसे, अगर कोई पिता अपनी कन्या के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का अपराध करे, तो उसे उस कन्या की माता के परिवार के लोग इस आधार पर दण्ड दे सकते हैं कि उस पिता ने उनके विरुद्ध अपराध किया है, परन्तु उस व्यक्ति के अपने परिवार के लोग उसके विरुद्ध कोई भी कार्यवाही नही करेंगे।

जनजातीय सगठन के दृष्टिकोण से सम्मिलित उत्तरदायित्व का अत्यधिक महत्त्व

माना जाता है और इस कारण इस सिद्धान्त को सामान्य रूप से लागू भी किया जाता है। सामूहिक सगठन को बनाये रखने के लिये ही अगर एक व्यक्ति 'अ' दूसरे किसी समूह के एक सदस्य 'ब' को नुकसान पहुँचाता है तो 'अ' का समूह उस अपराध को दबाने का प्रयत्न करता है अर्थात् 'अ' के विरुद्ध कोई कार्यवाही नही करता, जब कि 'ब' का समूह 'अ' से या 'अ' के समूह से बदला लेने का या 'ब' को हर्जाना दिलवाने का प्रयत्न करेगा। इसका परिणाम कभी-कभी युद्ध और रक्तपात होता है। चुकची (Chukchi) जनजाति केवल एक बार बदला लेकर ही शान्त हो जाती है, परन्तु इफूगाओ मे तो सघर्ष तब तक निरन्तर चलता रहता है जब तक दोनो पक्षो मे विवाह-सम्बन्ध स्थापित न हो जाय। आदिम समाजो के गहन अध्ययन से पता चलता है कि इस प्रकार का सम्मिलित उत्तरदायित्व एक अर्थ मे उनके अस्तित्व (survival) के लिये भी आवश्यक है।

अपराध का निर्धारण
(Determination of Crime)

आदिम समाजो मे अपराध का निर्धारण कई तरीको से होता है। कोई व्यक्ति अपराधी है या नही, यह तय करने के लिये प्रत्यक्षदर्शियो की गवाहियो की आवश्यकता सदैव नही होती। कुछ इस प्रकार के अपराधी होते हैं जिनके अपराध का निर्धारण अदृश्य जगत् की दैवी शक्तियो पर इस विश्वास पर छोड दिया जाता है कि वे शक्तियाँ ही यह स्पष्ट करेंगी कि एक व्यक्ति वास्तव मे अपराधी है या नही। कई स्थितियो मे इस सम्बन्ध मे व्यक्ति को कठिन परीक्षाएँ देनी पडती हैं। यदि वह उन परीक्षाओ मे से सन्तोषजनक रूप से निकल जाता है तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है, वरना उसे दण्ड भुगतना पडता है। ये परीक्षाएँ कितनी कठोर होती हैं, इस बात का आभास दो-एक उदाहरणो के द्वारा हो सकता है। अफ्रीका की कुछ जनजातियो मे अगर लोगो को यह सन्देह हो जाय कि किसी स्त्री ने यौन-सम्बन्धी कोई अपराध किया है पर वह स्त्री अपने अपराध को स्वीकार नही कर रही है तो वह अपराधी है या नही, इसे निर्धारित करने के लिये उस स्त्री को किसी ऊँची जगह, या पहाड के ऊपर ले जाकर लुढका दिया जाता है। वह स्त्री लुढकती हुई नीचे आकर गिरती है, अगर उसपर भी उसे किसी प्रकार की चोट नही लगती है और उसका शरीर बिना किसी आघात के पूर्ववत् बना रहता है तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है, अन्यथा वह दण्डित की जाती है। उसी प्रकार कुछ जनजातियो मे एक व्यक्ति को अपनी निर्दोषिता को प्रमाणित करने के लिये जलती हुई आग मे या उबलते हुए पानी मे अपना हाथ डाल देना पडता है। प्राचीन हिन्दू समाज मे भी इसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। सीताजी को अपने सतीत्व को प्रमाणित करने के लिये अग्नि-परीक्षा देनी पडी थी। यह सब एक अर्थ मे दण्ड का प्रतिकारात्मक सिद्धान्त है, जो कि वास्तव मे नैतिक न्याय की पूर्ति (fulfilment of moral justice) पर आधारित है, क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि बुरे काम का परिणाम सदैव बुरा ही होता है, चाहे उसके लिये उसे कानून के अनुसार दण्ड मिले या न मिले। आदिम समाजो मे लोगो को इस प्रकार की परीक्षा इसीलिये देनी होती है कि वहाँ लोग यह विश्वास करते हैं

कि दण्ड की देवी या प्रतिकार-देवी (*Nemesis*) के द्वारा प्रत्येक अपराधी को उसके बुरे काम के लिये दण्ड अवश्य ही मिलेगा।

कई समाजो मे व्यक्ति के दोषी अथवा निर्दोष होने की परीक्षा लेने का कार्य जादू और धर्म के अधिकर्त्ताओ पर छोड दिया जाता है। वे अपने परम्परागत तरीको से उनकी परीक्षा करते हैं और फिर यह निर्णय देते है वे कि अपराधी है या नही। कई आदिम समाजो मे अपराध-निर्धारण करने की यह व्यवस्था है कि जिस व्यक्ति के विषय मे यह सन्देह होता है कि वह अपराधी है, उससे नाना प्रकार की कसमे खिलायी जाती हैं और अगर वह व्यक्ति उन कसमो को खाकर यह कह देता है कि उसने अपराध नही किया तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है, पर यदि वह कसम नही खाता है या वैसा करने मे हिचकिचाता है तो उसे दोषी मानकर दण्डित किया जाता है। हमारे अपने भारतवर्ष मे भी पहले गाँव पचायत के पच लोग शपथो द्वारा सम्भावित अपराधी से उसके अपराध के सम्बन्ध मे या किसी घटना विशेष के सत्य को जानने का प्रयत्न करते थे। यह कसम प्राय ईश्वर की कसम, या बाल-बच्चो की कसम या गगाजल हाथ मे लेकर कसम होती थी। शपथ के द्वारा अपराध का निर्धारण उस समाज मे ही सम्भव है जहाँ पर कि धार्मिक विश्वास या कसमो के पीछे अलौकिक शक्ति के प्रभाव के सम्बन्ध मे विश्वास प्रबल होता है। जो लोग इस शैली से एक व्यक्ति विशेष के अपराधी होने या न होने के सम्बन्ध मे जानने का प्रयत्न करते हैं, उन्हे भी यह विश्वास होता है कि अगर अपराधी झूठी कसम खाता है तो उसे केवल अपने अपराध का ही नही, वरन् झूठी कसम खाने का भी दण्ड उस अलौकिक शक्ति के द्वारा मिल जायगा जिससे कि कोई भी अपराध, चाहे वह कितने ही गुप्त रूप से क्यो न किया जाय, छिपाया नही जा सकता।

अफ्रीका तथा अमेरिका की कुछ जनजातियो मे अपराध-निर्धारण की व्यवस्था पर्याप्त विकसित अवस्था मे है। इन समाजो मे कानून के अनुसार वादी और प्रतिवादी दोनो ही पक्षो की बातें सुनी जाती है और उसपर मुखिया या अन्य निर्णायकगण विचार-विमर्श करते हैं और फिर अपराध के प्रमाणित होने पर अपराधी को दण्ड मिलता है, वरना उसे रिहा कर दिया जाता है।

प्रमाण

(Evidence)

न्याय करने के लिए अपराधी के सम्बन्ध मे कोई न कोई प्रमाण अवश्य ही होना चाहिये। प्रोफेसर हॉबहाउस का मत है कि समाजो मे अपराध के सम्बन्ध मे प्रमाणो को एकत्रित एक व्यक्ति के दोषी या निर्दोष होने की परीक्षा करने के लिये उतना नही किया जाता है जितना कि समूह के अन्दर होने वाले झगडे तथा बदला लेने की भावना को रोकने के लिये। फिर भी सभी समाजो मे घटनाओ के सत्य को जानने और अपराध को प्रमाणित करने के लिये कोई न कोई तरीका अवश्य ही अपनाया जाता है। आदिम समाजो मे यह प्रमाण अधिकतर धर्म तथा जादू-सम्बन्धी सिद्धान्तो के आधार पर इकट्ठा किया जाता है। इसी कारण इन समाजो मे अपराध का प्रत्यक्षदर्शियो की गवाहियो द्वारा प्रमाणित करना अनिवार्य नही होता है। 'अपराध के निर्धारण' के सम्बन्ध मे जो

विवेचना ऊपर की गयी है उससे यह स्पष्ट है कि प्रमाण कई तरीकों से इकट्ठा किया जाता है परन्तु उनमे दो तरीके प्रमुख है—पहला तो शपथ (oath) ग्रहण करके और दूसरा कठिन परीक्षा (ordeal) देकर।

पहले तरीके से अपराध को प्रमाणित करने के लिए सम्भावित अपराधी से शपथ लेने को कहा जाता है। वह अपने निर्दोष होने की शपथ लेता है। शपथ लेने की विधियाँ अलग-अलग समाज मे भिन्न-भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, क्रो (Crow) जनजाति मे एक चाकू को मुँह मे रखकर सूर्य को साक्षी मानकर परम्परा-स्वीकृत कुछ शब्दो का उच्चारण करते हुए शपथ ग्रहण करने की विधि है। सामोयड (Samoyed) जनजाति मे सूअर की नाक पर हाथ रखकर कसम खानी पडती है। अफ्रीका के कुछ नीग्रो-समूहो मे अपने समूह के प्रधान या मुखिया के मस्तक पर हाथ रखकर शपथ ली जाती है। किरगिज़ (Kirgiz) जनजाति मे शपथ ग्रहण करने का एक रोचक तरीका पाया जाता है। इस समाज मे सम्भावित अपराधी को अपने निर्दोष होने की शपथ नही लेनी पडती है, बल्कि उसके बदले मे कोई दूसरा व्यक्ति जो कि अपराधी व्यक्ति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, शपथ ग्रहण करता है। यह इसलिये किया जाता है कि एक व्यक्ति अपनी जान को खतरे मे डाल सकता है, परन्तु उन लोगो के जीवन को वह कभी भी खतरे मे डालना नही चाहेगा जिनसे कि वह प्रेम करता है या जिन्हे वह स्नेह करता है। शपथ लेने का तरीका कुछ भी हो, पर शपथ लेने वाले को अलौकिक शक्ति (super-natural power) का भय रहता है। वह यह विश्वास करता है कि अगर वह झूठी कसम खा रहा है तो उसे उस अलौकिक शक्ति से दण्ड प्राप्त होगा।

अपराध को प्रमाणित करने का दूसरा तरीका कठिन परीक्षा (ordeal) है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कठिन परीक्षा लेने की भी अनेक रीतियाँ आदिम समाजो मे प्रचलित हैं। कुछ उदाहरण हम पहले ही दे चुके हैं, यहाँ पर एक-दो उदाहरण और दिये जा सकते हैं। चुकची (Chukchi) जनजाति मे अगर दो व्यक्तियो मे कोई झगडा होता है तो उस झगडे के लिये कौन उत्तरदायी है, यह निर्णय करने के लिये दोनो पक्षो मे मल्लयुद्ध करवा दिया जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि गलती करने वाला या अपराधी ही उसमे विजय पायेगा। इफूगाओ (Ifugao) जनजाति मे उबलते हुए पानी मे वादी और प्रतिवादी दोनो ही पक्षो को धीरे-धीरे अपने-अपने हाथ को डालना पडता है, अगर इस काम मे किसी ने जल्दी की, या उसके हाथ मे छाले पड गये तो उसे दोषी समझा जाता है। अफ्रीका की ईवी (Ewe) जनजाति मे सम्भावित अपराधी के सिर पर से उबलता हुआ पानी डाला जाता है अगर वह व्यक्ति इस क्रिया को बगैर किसी चूँ-चाँ के सहन कर लेता है तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है, वरना उसे दोषी मानकर दण्डित किया जाता है।

अपराधी-सकल्प या इरादा
(Criminal Intent or Motive)

आधुनिक दण्ड-विधान मे एक क्रिया विशेष अपराध है या नही, इसको तय करने मे अपराधी-सकल्प या इरादा बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अपराध मे

अपराधी-इरादा होना आवश्यक है, अर्थात जान-बूझकर दूसरे को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से अगर कोई कार्य किया गया है तो वह अपराध है। भूल से दूसरे के छाते को उठाकर चल देना अपराध नही, या मकान मे डाका पडने पर आत्मरक्षा के लिये गोली चलाना भी अपराध नही। किन्तु आदिम समाजो मे आधुनिक समाजो की भाँति अपराधी-इरादे को बहुत ज्यादा महत्त्व नही दिया जाता, क्योकि आदिवासियो मे यह विश्वास प्रबल है कि अलौकिक शक्ति से नाराज होने पर सम्पूर्ण समूह या समुदाय को दण्ड भुगतना पडता है और अलौकिक शक्ति नाराज तब होती है जब कि अपराधी को दण्ड नही दिया जाता, क्योकि किसी भी नियम को तोडना पाप है। पापी को दण्ड न देना अलौकिक शक्ति के प्रति अन्याय करना है और इस अन्याय का बदला अलौकिक शक्ति सम्पूर्ण समूह से लेती है। इस डर से ही अपराधी-इरादे पर कुछ भी ध्यान दिये बिना अपराधी को दण्ड दिया जाता है। अपराधी-इरादे को कुछ भी महत्त्व न देते हुए दण्ड देने का एक अति उत्तम उदाहरण श्री गोड्डार्ड (Goddard) ने हूपा (Hupa) जनजाति से दिया है। "एक स्त्री ने कपडा धोने के लिये पानी गरम करने के हेतु अपने घर के बाहर आग जलाई थी। उस आग मे किसी प्रकार एक बच्चा जलकर मर गया। यद्यपि इसमे उस स्त्री का कुछ भी दोष किसी भी अर्थ मे नही था, फिर भी उस स्त्री को उसके बदले मे अपने लडके के प्राण देने पडे।" जग्गा (Jagga) जनजाति मे हत्या के मामले मे अपराधी-इरादा अर्थहीन है और इसलिये खून के बदले मे खून बहाना आवश्यक है क्योकि इन लोगो मे यह विश्वास दृढ है कि जिसकी हत्या की गयी है उस व्यक्ति की आत्मा प्रतिशोध की प्यासी है, अत हत्या करने वाले को भी मृत्यु दण्ड देना आवश्यक है, नही तो खून या प्रतिशोध की प्यासी वह आत्मा सम्पूर्ण समूह से बदला लेगी।

यह सच है कि आदिकालीन समाजो मे दण्ड देते समय अपराधी-इरादे को अधिक ध्यान मे नही रखा जाता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि सभी समाजो मे अपराधी-इरादा अर्थहीन है। इफूगाओ जनजाति मे दण्ड देते समय जान-बूझकर और अनजाने कार्यों के बीच तथा आकस्मिक (accidental) और लापरवाही से होने वाले कार्यों के बीच बहुत सावधानी से भेद किया जाता है। अगर किसी ने जान-बूझकर या लापरवाही से कोई कार्य किया है और उससे दूसरे को नुकसान पहुँचा है तो ऐसा करने वाले को अवश्य ही दण्ड दिया जाता है। इसके विपरीत, अनजाने मे या आकस्मिक रूप मे कोई कार्य हो जाने पर उसके लिये कोई भी दण्ड नही दिया जाता, भले ही उस कार्य से दूसरे को कुछ नुकसान पहुँचा हो। उदाहरणार्थ, अगर एक व्यक्ति के हाथ की छुरी इत्तफाक से छूट जाय और उससे किसी दूसरे व्यक्ति की आँखें फूट जाएँ, तो इसके लिये किसी भी प्रकार के हर्जाने की माग नही की जाती है, क्योकि यह एक आकस्मिक घटना है और उस व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अनजाने मे नुकसान पहुँचा है। इसके विपरीत, अगर एक व्यक्ति धनुष से अपने शिकार पर तीर चलाता है या उसपर भाला फेंकता है, और उस तीर या भाले से रास्ते पर दौडता हुआ कोई लडका मर जाता है तो उसे एक व्यक्ति की हत्या करने पर जितना जुर्माना सामान्यत देना होता है उसका आधा जुर्माना देना पडता है, क्योकि इसमे उस शिकारी की लापरवाही के कारण

ही लडके की मृत्यु हुई। उसी प्रकार अगर कोई व्यक्ति किसी दूसरे पडोसी व्यक्ति की हत्या उसे गलती से दुश्मन-पक्ष का आदमी समझकर कर डालता है तो हत्या करने वाले को और अधिक जुर्माना देना पडता है क्योकि यह काम उसकी लापरवाही का प्रमाण है। इस इफूगाओ जनजाति मे दण्ड देते समय अपराधी-इरादे पर कुछ भी ध्यान केवल एक अवसर पर नही दिया जाता है। अगर किसी विशाल भोज मे कोई दुर्घटना हो जाती है तो हर हालत मे उसके लिये भोज देने वाले को तथा पुरोहित को दोषी ठहराया जाता है। भोज देने वाला व्यक्ति दोषी इस कारण होता है कि अगर वह भोज न देता तो वह दुर्घटना कभी हो ही नही सकती थी। और उस भोज मे उपस्थित पुरोहित को दोषी इस कारण ठहराया जाता है कि उसने निश्चय ही अपने धार्मिक कार्यों का पालन उचित ढग से नही किया, इसी लिये उस पाप के फलस्वरूप वह दुर्घटना घटित हुई है। उसी प्रकार दक्षिण-पूर्वी बांटू (Bantu) जनजाति मे हर प्रकार की हत्या अपराध है चाहे उसमे हत्या करने वाले का कोई इरादा हो या न हो। इसलिये हत्यारे को उसका हर्जाना अपने समूह के मुखिया को देना पडता है क्योकि उसके उस कार्य से मुखिया को, जो कि सम्पूर्ण समूह का प्रतिनिधि और प्रधान है, एक कर्मशील व्यक्ति का नुकसान हुआ। परन्तु अगर किसी व्यक्ति से अनजाने मे किसी दूसरे व्यक्ति के खेत को या और किसी चीज को नुकसान पहुँचा है तो उसे अपराध के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया जाता हैं। फलत उस व्यक्ति को किसी भी प्रकार का हर्जाना नही देना पडता।

दण्ड
(Punishment)

आदिकालीन समाजो मे दण्ड के स्वरूप भी अनेक हैं। इन समाजो मे यह विचार अधिक लोकप्रिय है कि न्याय तब ही कायम रह सकता है जब कि 'जैसे को तैसा' का सिद्धान्त अपनाया जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार अगर एक आदमी ने किसी की आँखें फोड दी तो न्याय करने वाला राजा या मुखिया या अन्य कोई व्यक्ति उस आदमी की आँखो को भी फोड देने की आज्ञा देगा। उसी प्रकार खून के बदले मे खून करने की व्यवस्था भी आदिम समाजो मे बहुत पायी जाती है। दण्ड का सामान्य रूप प्रतिकारात्मक सिद्धान्त अर्थात् प्रतिशोध या बदला लेने की भावना पर आश्रित है। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह है कि इन समाजो मे अधिकाशतः व्यक्ति द्वारा कोई अपराध करना ईश्वरीय व्यवस्था या नियमो का उल्लघन माना जाता है। इसलिये यह विश्वास किया जाता है कि अपराधी मे शैतान का वास होता है और उस शैतान को 'पत्थर का जवाब पत्थर से' देकर अर्थात् उचित दण्ड देकर समाज को उसके प्रभाव से विमुक्त करना सबका कर्त्तव्य है। पापात्माओ से प्रतिकार या प्रतिशोध या बदला लेना ही उचित है। आदिम समाज मे दण्ड का एक दूसरा रूप दूसरे का नुकसान पूरा कर देना होता है। इस उद्देश्य से अपराधी से जुर्माना वसूल किया जाता है या अन्य किसी तरीके से दूसरे की क्षति पूरी करा दी जाती है। आदिकालीन समाजो मे दण्ड-व्यवस्था के सम्बन्ध मे सबसे रोचक बात यह है कि इस क्षेत्र मे भी सम्मिलित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त (principle of collective responsibility) को लागू किया जाता है। इस

सिद्धान्त के अनुसार यह जरूरी नही है कि एक अपराध विशेष के लिये दण्ड का भागीदार केवल वही व्यक्ति हो जिसने वास्तव मे अपराध किया है, बल्कि उसके बदले मे या उसके साथ ही उसके परिवार, गोत्र, स्थानीय समूह आदि भी दण्डित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, कत्ल का बदला कत्ल से लिया जाता है, परन्तु यह जरूरी नही कि जिसने कत्ल किया है, उसी का कत्ल किया जाय। उसके बदले मे उसके परिवार, गोत्र, या समुदाय के अन्य किसी व्यक्ति का भी कत्ल किया जा सकता है क्योकि किसी भी अपराध का उत्तरदायित्व उस समूह के समस्त सदस्यो पर होता है जिसका कि अपराधी भी एक सदस्य है। इस कारण दण्ड के भागीदार भी सब लोग है। अत बदला लेने के लिये उस समूह के किसी भी व्यक्ति को चुना जा सकता है।

आदिकालीन समाजो मे अपराधी को अनेक प्रकार से दण्डित करने की रीति प्रचलित है। अपराधी को कोडे लगाये जाते है, अग-छेद भी किया जाता है। किसी अपराध के लिये समाज से बहिष्कार कर देने, अपराधी से प्रायश्चित कराने और हर्जाना लेने का नियम भी इन समाजो मे बहुत प्रचलित है। कही-कही अपराधी को सामाजिक भोज देकर अपराध के कलक से छुटकारा पाना होता है। अपराधी को नाना प्रकार से शारीरिक दण्ड देने की योजना विभिन्न आदिम समाजो मे देखने को मिलती है। उन पर जुर्माना भी किया जा सकता है। कई समाजो मे इस प्रकार का भी नियम है कि अपराधी के चेहरे पर कालिख पोतकर उसे गधे या ऐसे ही अन्य किसी निकृष्ट जानवर की सवारी करवाकर सारे समूह मे घुमाया जाता है या ऐसे ही किसी दूसरे उपाय से सार्वजनिक रूप से लज्जित किया जाय। अमेरिका की एक जनजाति मे यह दण्ड-व्यवस्था प्रचलित है कि अगर एक स्त्री अपने पति के प्रति वफादार नही है तो उसे पानी मे डुबोकर मार डाला जाता है। यूगेण्डा (Uganda) जनजाति को छोडकर जेल मे रखकर दण्ड देने की प्रथा अन्य किसी भी जनजातीय समाज मे प्रचलित नही है। यूगेण्डा जनजाति मे राजा, मुखिया या परिवार का कर्त्ता (Head) एक अपराधी को कैदखाने मे बन्द रखने की आज्ञा दे सकता है, किन्तु सन्तरी उसे रात भर के लिये छोड सकता है। गम्भीर अपराधो मे अपराधी व्यक्ति के हाथ-पैर एक भारी कुन्दे मे छेदकर उसमे डाल दिये जाते हैं और अपराधी इसी प्रकार पडा-पडा मर जाता है। कत्ल की सजा अधिकतर प्राणदण्ड ही होती है, परन्तु फासी द्वारा प्राणदण्ड देने की रीति आदि-समाजो मे नही पायी जाती।

दण्ड-निर्धारित करने मे अपराधी की सामाजिक स्थिति, स्त्री-पुरुष का भेद आदि का ध्यान भी रखा जाता है। उदाहरणार्थ, गारो जनजाति मे यदि पुरुष व्यभिचार करे, तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता है, पर अगर स्त्री व्यभिचारिणी हो तो पहले-पहल उसके कान छेद दिये जाते हैं और कपडे फाड दिये जाते हैं। किन्तु अगर स्त्री इस अपराध-कार्य को बार-बार दोहराती है तो उसे भी प्राणदण्ड दिया जाता है। उसी प्रकार कुछ आदिम समाजो मे कतिपय अपराध ऐसे भी है जो कि यदि उस समूह के प्रधान करते है तो उसे अपराध के रूप मे माना नही जाता है, पर यदि दूसरा कोई करता है तो उसे उसके लिये दण्ड भुगतना पडता है। इतना ही नही, जिस व्यक्ति के प्रति अपराध

किया गया है उसकी सामाजिक स्थिति के अनुसार भी दण्ड की मात्रा कम या ज्यादा हो सकती है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की कुछ जनजातियो में एक साधारण स्त्री के साथ व्यभिचार (adultery) करने पर उसे एक व्यक्तिगत तथा सामान्य गलती समझी जाती है, परन्तु वही कार्य राजा या मुखिया की स्त्री के साथ करने पर अपराधी को मृत्युदण्ड देने की व्यवस्था है। कुछ जनजातियो मे अपराधी को व्यक्तिगत रूप से दण्ड दिया ही नही जाता। इन समाजो मे तो अपराधी व्यक्ति के परिवार, गोत्र या गाँव के लोगो को मार-पीटकर तथा उनके सामान को लूट-पाटकर उसके अपराधो का दण्ड दिया जाता है क्योकि इन समाजो मे दण्ड का यह सिद्धान्त है कि अपराधी के कार्य से किसी एक व्यक्ति का नुकसान नही होता है, वरन् एक परिवार, गोत्र या गाँव का नुकसान होता है। इस कारण नुकसान-प्राप्त वह परिवार, गोत्र या गाँव अपराधी के भी परिवार, गोत्र या गाँव से बदला लेता है और उसके सभी सदस्यो को नुकसान पहुँचाता है।

क्षतिपूर्ति
(Compensation or Weregild)

आदिम समाजो मे नुकसान-प्राप्त तथा नुकसान करने वाले के बीच के झगडे का क्षतिपूर्ति कराकर शान्त करने की रीति भी पायी जाती है। कुछ समाजो मे तो किस अपराध पर कितना हर्जाना लिया जा सकता है या अपराधी को देना पडता है, यह परम्परा द्वारा पहले से ही निश्चित रहता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे स्मरणीय है कि किन अपराधो मे हर्जाना दावा किया जा सकता है, इसकी सूची प्रत्येक आदिम समाज मे अलग-अलग है। इफूगाओ (Ifugao) जनजाति मे अधिकाश झगडो या अपराधो का निपटारा क्षतिपूर्ति कर देने से हो जाता है, पर जान-बूझकर हत्या करने पर उसकी क्षतिपूर्ति तो एक मात्र खून से ही हो सकती है, अर्थात् खून के बदले मे खून बहना आवश्यक है। इस जनजाति मे सम्पत्ति के आधार पर तीन स्पष्ट वर्ग हैं। जुर्माने की मात्रा आर्थिक स्थिति के अनुसार अलग-अलग निश्चित की जाती है। उसी प्रकार किरगिज जनजाति मे भी वर्ग-स्थिति के अनुसार हर्जाना देने की रीति है। अमेरिका की कुछ इण्डियन जनजातियो मे हर्जाना पाने के लिये इन्तजार न करके नुकसान-प्राप्त व्यक्ति अपराधी के कुछ घोडो को मारकर या उसकी अन्य कोई कीमती वस्तु नष्ट करके सन्तोष कर लेता है। व्यभिचार के रूप मे होने वाले अपराधो मे तो इस नीति को विशेषकर प्रयोग किया जाता है। समोआँ जनजाति मे अपराधी नुकसान-प्राप्त पक्ष को कीमती चटाई तथा ऐसी ही दूसरी चीजें भेंट करता है और साथ ही उनके लिये जलाने वाली लकडी, पत्थर तथा पत्ते लाता है। इस प्रकार वह परम्परा-स्वीकृत शैली से यह जताना चाहता है कि वह अब उनकी ही शरण मे है और अगर वे चाहे तो उसे मार-काट सकते और खा सकते हैं। इस प्रकार के उपहार तथा आत्मसमर्पण अधिकाशत बेकार नही जाते और वह अपराधी नुकसान प्राप्त पक्ष के गुस्से को शान्त करने मे सफल हो जाता है। अन्य आदिम समाजो मे क्षति की पूर्ति दूसरे तरीको से भी की जाती है। उनमे से एक यह है कि अपराधी व्यक्ति को सम्पूर्ण गाँव को एक सामाजिक भोज देना

पडता है, तब कही उसे अपराध से मुक्ति दी जाती है। किन्ही जनजातियो मे क्षतिपूर्ति पर इतना बल दिया जाता है कि अगर अपराधी हर्जाना देने मे बिलकुल ही असमर्थ है तो उस समूह का मुखिया अपने पास से नुकसान-प्राप्त व्यक्ति को हर्जाना दे देता है।

अदालती कार्यवाही
(Trial)

न्याय की यह माग है कि अपराधी को दण्डित करने से पहले उसको अपनी सफाई देने का अवसर दिया जाय। ऐसा इसलिये किया जाता है कि कही निर्दोष को तो दण्ड नही मिल रहा है। इस कार्यवाही मे वादी तथा प्रतिवादी अर्थात् सम्भावित अपराधी तथा नुकसान-प्राप्त व्यक्ति दोनो को ही उपस्थित होना पडता है और दोनो पक्षो की बातो को ध्यान से सुना जाता है। प्राय सभी जनजातियो मे किसी न किसी रूप मे यह व्यवस्था पायी जाती है। मैक्सिको की एजटक्स, पीरू की इन्कास तथा गिनी की सूडान जनजातियो मे व्यवस्थित ढग से अदालती कार्यवाही करने की प्रणाली पायी जाती है। भारतीय जनजातियो मे भी ऐसे उदाहरण कम नही हैं।

आदिम समाजों में सरकार
(Government in Primitive Societies)

एक निश्चित भू-भाग मे बसे हुए मनुष्यो के एक प्रभुता-सम्पन्न राजनैतिक सगठन को राज्य (State) कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, राज्य मनुष्यो का वह राजनैतिक सगठन है जो कि एक निश्चित भू-भाग मे प्रभुता-सम्पन्न है। इसी राज्य के सस्थात्मक (institution) अग को सरकार कहते हैं। सरकार राज्य के नाम पर कार्य करती है और राज्य के शासन-प्रबन्ध को चलाती है। यह सरकार किसी न किसी रूप मे तीन प्रकार के कार्यों को करने के लिये होती है—एक तो कानून बनाने का काम, दूसरे शासन-प्रबन्ध करने और उन कानूनो को लागू करने का काम, और तीसरे न्याय करने का काम। आदिम समाजो मे किसी न किसी रूप मे सरकार का अस्तित्व होता तो है, परन्तु सरकार के उक्त तीनो कार्य स्पष्ट नही होते। इन समाजो मे बहुधा सरकार के कानून-सम्बन्धी, कार्यकारिणी तथा न्याय-सम्बन्धी पक्ष आधुनिक समाजो की भाँति एक-दूसरे से पृथक् न होकर एक साथ घुले-मिले होते हैं। आस्ट्रेलिया की जनजातीय परिषद् (council) कानून को बनाती है, उसे लागू करती है और अपराधी को दण्डित भी करती है। प्राय यही अवस्था अन्य जनजातीय समाजो मे है। इसके अतिरिक्त श्री लोई (Lowie) के अनुसार, एक और विशेषता आदिम समाजो की सरकार की होती है और वह यह कि अधिक सभ्य या विकसित समाजो की तुलना मे आदिम समाजो की सरकार कानून बनाने का काम बहुत ही कम करती है।[6] इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजो मे सामाजिक या राजनैतिक या आर्थिक जीवन के अधिकतर व्यवहारो का निर्धारण तथा नियमन या नियत्रण प्रथागत कानूनो (customary laws) के द्वारा ही होता है। इस कारण सरकार का काम नये कानूनो को बनाना नहीं, बल्कि अधिकाशत यह देखना होता है कि व्यक्ति परम्परागत नियमो या प्रथाओ का पालन

6 Robert H Lowie, *Primitive Society*, London, 1953, pp 344-345

कर रहे हैं या नही। दूसरी बात यह है कि आदिम समाजो मे जीवन सादा और सरल होता है जिसके फलस्वरूप उसे नियन्त्रित करने के लिये असख्य कानूनो की आवश्यकता भी नही होती, कुछ प्रथागत कानूनो से ही काम चल जाता है। यही कारण है कि इन समाजो मे सरकार को कानून पास करने से सम्बन्धित कार्य बहुत कम करने पडते हैं। यह हो सकता है कि अफ्रीका के जनजातीय समाज मे जहाँ निरकुश शासक राज्य करता है, यह नियम लागू न होता हो, क्योकि वहाँ तो शासक अपने मनमाने ढग से शासन करता है और दण्ड देता है। वह जो कुछ भी कहता है, वही कानून होता है। इस कारण उसे परम्परा या प्रथागत नियमो की कुछ परवाह नही हुआ करती है। पर कुछ भी हो, इन कतिपय अपवादो को छोडकर, अधिकतर आदिम समाजो मे परम्परा-स्वीकृत नियमो के अनुसार शासन-कार्य तथा व्यक्तियो के व्यवहारो का नियत्रण होता है।

कुछ विद्वानो का मत है कि आदिम समाजो मे सरकार होती ही नही है। उदाहरणार्थ, सर्वश्री मॉर्गन (Morgan), मेन (Maine) आदि विद्वानो का कथन है कि आदिम समाजो मे व्यक्तिवाद का बोलबाला होता है और वहाँ का कार्य आप से आप चलता रहता है। इसलिये इन समाजो मे सरकार न तो सम्भव है और न ही वहाँ के लोगो को इसकी कोई आवश्यकता होती है। इन विद्वानो के अनुसार आदिकालीन समाजो मे लोगो को सामाजिक समूहो मे बाँधने का एक मात्र बन्धन नातेदारी होता है और इसी व्यवस्था के आधार पर सामाजिक जीवन नियन्त्रित तथा व्यवस्थित होता है। इस नातेदारी-व्यवस्था को या उसके आधार पर होने वाले कार्यों को सरकार या सरकारी कार्य कहना उचित न होगा। इसी कारण उपरोक्त विद्वानो ने आदिम समाजो मे सरकार के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। इसीलिये श्री मॉर्गन ने अपनी विकासवादी योजना मे एकतत्रीय सरकार (monarchy) को काफी बाद का स्तर बताया है। परन्तु अधिकतर आधुनिक मानवशास्त्री श्री मॉर्गन के मत से सहमत नही है। इनका कहना है कि आदिकालीन समाजो का गहन अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक आदिम समाज मे किसी न किसी रूप मे एक सरकार या एक शासन-व्यवस्था अवश्य ही है। हम यहाँ सक्षेप मे उन्ही के विषय मे विचार करेंगे।

सरकार के प्रकार
(Types of Government)

सरकार का स्वरूप प्रत्येक समाज मे एक तरह का नही होता है। आदिम समाजो की शासन-व्यवस्थाओ को ध्यान मे रखते हुए सरकार के स्वरूपो को निम्नलिखित **पाँच** भागो मे विभाजित किया जा सकता है —

(१) **अल्पजन-शासित सरकार** (Oligarchy)—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार की सरकार मे शक्ति समाज के एक छोटे समूह के हाथो मे होती है। इस प्रकार की सरकार मे अधिनायकत्व (dictatorship) हो भी सकता है और नही भी हो सकता है।

(२) **एकतत्र सरकार** (Monarchy)—इस प्रकार की सरकार मे शक्ति (कम से कम सैद्धान्तिक रूप मे) एक व्यक्ति, राजा, के हाथो मे केन्द्रित होती है।

(३) वृद्धतत्र (Gerontocracy)—इस प्रकार की सरकार मे राजकीय शक्ति एक वर्ग के रूप मे बडे-बूढो के हाथो मे रहती है।

(४) प्रजातत्र (Democracy)—इस प्रकार की सरकार मे शासन-प्रबन्ध का काम समाज या राज्य के अधिकतर लोगो द्वारा होता है।

(५) ईश्वरतत्र (Theocracy)—इस प्रकार की सरकार मे अलौकिक शक्ति का प्रभाव अत्यधिक होता है और ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप मे पुरोहित वर्ग या अन्य धार्मिक विशेषज्ञ के हाथो मे राजकीय शक्ति होती है।

मोटे तौर पर सरकारो का वर्गीकरण उपरोक्त आधारो पर किया जा सकता है, परन्तु किसी भी सरकार को इनमे से किसी भी श्रेणी मे रखने से पहले काफी सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। ऐसा न करने पर यह हो सकता है कि एक समाज की सरकार का स्वरूप सदा के लिये ही हमारे लिये अस्पष्ट बना रहे। उदाहरणार्थ, ऊपर से देखने मे अफ्रीका के अनेक जनजातीय समाजो मे हमे एकतत्र (monarchy) दिखायी देगा जिसमे कि हर तरह से निरकुश शासन पाया जाता है। परन्तु अगर इन्ही समाजो मे सम्पूर्ण राजकीय व्यवस्था का हम सावधानी से गहन अध्ययन करे तो हमे यह स्पष्ट पता चलेगा कि वहाँ अल्पजन-शासित सरकार है। साथ ही, 'जनता की आवाज' (voice of the people) की भी शासक-वर्ग कभी भी अवहेलना नही करते हैं जिससे कि इस प्रकार की सरकार मे प्रजातत्र स्पर्श भी स्पष्ट प्रतीत होता है।[7]

आदि-जगत् का अध्ययन करने पर उपरोक्त पाँचो प्रकार की सरकारो का दर्शन होता है। उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया की अनेक जनजातियो मे वृद्धतन्त्र (Gerontocracy) शासन का रूप पाया जाता है। यहाँ पर लोग अपने समाज के वृद्ध तथा अनुभवी पुरुषो के हाथो मे राजकीय शासन-व्यवस्था का काम सौंप देते हैं और उनकी आज्ञाओ का पालन करते हैं। बडे-बूढो का यह वर्ग समाज मे शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व पूरा करता है। उत्तरी अमेरिका की अनेक जनजातियो मे सरकार का प्रजातान्त्रिक रूप देखने को मिलता है। इन समाजो मे शासन-व्यवस्था बहुमत के द्वारा सचालित होती है। इस अर्थ मे यह कहा जा सकता है कि इन समाजो मे प्रजातन्त्र (Democracy) पाया जाता है। ईश्वरतत्र (Theocracy) का दर्शन अफ्रीका तथा ओसिआनिया (Oceania) की कुछ जनजातियो मे होता है। ट्रोब्रियड निवासियो मे भी इस प्रकार की सरकार की कुछ झलक देखने को मिलती है। पूर्वी अफ्रीका के यूगेण्डा मे बहुत-सी जनजातियाँ एक राजा के शासन मे रहती हैं। प्रत्येक जनजाति का इस एकतत्र (Monarchy) शासन के प्रति कुछ कर्त्तव्य रहता है जिसे कि पूरा करना पडता है। आस्ट्रेलिया तथा भारत की कुछ जनजातियो मे अल्पजन-शासित सरकार (Oligarchy) पायी जाती है। आदिम समाजो मे पाये जाने वाली सरकारो का यह वर्गीकरण राजकीय सत्ता के आधार पर है।

आदिम समाजो की सरकारो का वर्गीकरण अन्य आधारो पर भी किया जा सकता

---

7 E A Hoebel, *op cit*, p 489

है। डा० दुबे के अनुसार आदि-जगत् की राजकीय शासन व्यवस्थाएँ तीन मुख्य सिद्धान्तो पर आश्रित रहती हैं। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत ऐसी सरकार आती है जिसका मूल आधार सम्बन्ध-प्रथा होती है। दूसरी श्रेणी की सरकार स्थानीयता के सिद्धान्त पर आधारित होती है, और तीसरी श्रेणी मे हम उस प्रकार की सरकार को रख सकते हैं जो विशेष हितो के सगठन पर आश्रित रहती है। पहले प्रकार की व्यवस्था मे रक्त और विवाह-सम्बन्धी या सक्षेप मे नाते-रिश्तेदार अपने विस्तारित रूप मे सामाजिक नियन्त्रण का उत्तरदायित्व पूरा करते हैं। दूसरे प्रकार की व्यवस्था मे राजकीय सगठन स्थानीय समूह (ग्राम), क्षेत्रीय समूह (ग्राम समूह) और पूर्णसमूह (जनजाति) मे निहित और विभाजित रहता है। कतिपय समूहो मे समाज के अन्तर्गत सगठित विशेष हित राजकीय सत्ता पर अधिकार रखते हैं।

स्थानीय सरकार
(Local Government)

अनेक जनजातियाँ इस प्रकार की हैं जिनका कि सामाजिक नियन्त्रण तथा शासन स्थानीय आधार पर होता है। इस प्रकार के समाजो मे राजकीय शासन-व्यवस्था की मूल इकाई गाँव होती है। प्राय सभी बातो मे गाँव आत्म-निर्भर होता है और सारा शासन-प्रबन्ध स्वय चला लेता है। गाँव का शासन प्रायः कुछ लोगो की पचायत द्वारा सचालित होता है। सभी आवश्यक अधिकार इसी के हाथ मे होते हैं। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था एस्कीमो, अण्डमान प्रायद्वीप के आदिवासी, बुशमेन तथा आस्ट्रेलिया की अनेक जनजातियो मे पायी जाती है। इस प्रकार की सरकार का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य सामूहिक सम्पत्ति जैसे चरागाह, शिकार करने के स्थान आदि की रक्षा करना तथा आर्थिक सह-योग को विकसित करना है। इस प्रकार की सरकार के आधीन २० से १०० व्यक्तियो की जनसख्या तथा १०० या अधिक वर्ग मील भूमि होती है। ये व्यक्ति प्राय. आपस मे रक्त-सम्बन्धी होते हैं इस कारण इनमे सामुदायिक भावना अधिक प्रबल होती है जिसके फल-स्वरूप समग्र गाँव के सदस्य एक साथ मिलकर अपनी रक्षा करते हैं और आवश्यकता पडने पर शत्रु-पक्ष को चुनौती देते हैं। प्रत्येक सदस्य अपने और अपने गाँव की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये अपना जीवन बलिदान कर देने को सदा तैयार रहता है। जनसख्या अधिक बढ जाने पर एक स्थानीय समुदाय दो भागो मे बँट जाता है और उनमे से एक भाग एक नये भू-भाग मे बसकर एक दूसरे स्थानीय समुदाय का निर्माण करता है। इस प्रकार से पृथक् होने वाला भाग अपने मूल समुदाय से अपना समस्त सम्बन्ध तोडता नही है, बल्कि उसके साथ सम्पर्क बनाये रखते हुए उसी की तरह अपनी शासन-व्यवस्था चलाता है। समग्र राजकीय शासन-व्यवस्था का आधार, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, रक्त और विवाह-सम्बन्धी होता है। आदिम सरकार का यही प्रारम्भिक रूप है।

मुखिया
(The Headman)

राजकीय व्यवस्था का स्वरूप कुछ भी हो, शासन-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व शासको

और अधिकारियो पर रहता है। सर्वप्राचीन तथा अति आदिम शासकीय अधिकारी मुखिया होता था। यह मुखिया प्राय जन्मगत रूप मे अपने पद को प्राप्त करता है और उसपर उसके समुदाय के सभी सदस्यो का अत्यधिक विश्वास होता है। अत दूसरो पर उसका प्रभाव भी खूब होता है। यह मुखिया अपने समूह से सम्बन्धित सभी विषयो की देख-रेख करता है और सभी अवसरो पर उपस्थित रहकर अन्य व्यक्तियो को आवश्यक निर्देश देता रहता है। कुछ समाजो मे तो इसी मुखिया के निरीक्षण मे लोग शिकार आदि करने को जाते है। यह मुखिया ही आपसी झगडो का निपटारा करता है और उसके निर्णय को ही सब लोग मान लेते है क्योकि सब पर उसका रौब होता है। कुछ भी हो, पर मुखिया एक प्रजातात्रिक शासक ही होता है, निरकुश शासक नही।

प्रधान
(Chieftains)

उन समाजो मे, जहाँ कि राजनैतिक सगठन अधिक विकसित है, शासकीय अधिकारी प्रधान होता है। प्रधान मुखिया से सत्ता तथा सामाजिक सम्मान मे भिन्न है क्योकि इन विषयो मे प्रधान की स्थिति मुखिया से ऊँची होती है। यह प्रधान वशानुगत हो भी सकता है और नही भी हो सकता। अर्थात् पिता से पुत्र को प्रधान का अधिकार मिल सकता है या विशेष योग्यताओ और प्रवृत्तियो के आधार पर उसका निर्वाचन अथवा नियुक्ति भी हो सकती है। प्रधान की शक्ति या सत्ता तथा कार्य भी विभिन्न समाजो मे अलग-अलग होता है। उत्तरी अमेरिका की जनजातियो मे प्रधान को अत्यधिक अधिकार नही प्राप्त होता है। इन समाजो मे बहुधा दो प्रकार के प्रधान पाये जाते हैं—एक तो शान्ति के प्रधान (peace chiefs) और दूसरे युद्ध के प्रधान (war chiefs)। शान्ति प्रधान जनजातीय परिषद् (tribal council) का मुखिया होता है तथा अन्दरूनी सम्बन्धो को नियमित करता है। कुछ विशेष अपराधो के विषय मे न्याय करना भी इसका काम होता है। चीईनी, ओमाह, इरोकूई आदि जनजातियो मे शान्ति-प्रधान का चुनाव एक निश्चित समय के लिये ही होता है। युद्ध-प्रधान सभी जनजातियो मे युद्धो का सचालन करते हैं। यह पद किसी भी व्यक्ति को मिल सकता है जो भी युद्ध के विषय मे विशेष योग्यता रखता है।

आदि-समाजो मे ट्रोब्रियड आदिवासियो के प्रधान की स्थिति बहुत ऊँची होती है और इसे अनेक विशेषाधिकार प्राप्त होते है। परन्तु उसका प्रमुख कार्य सास्कारिक उत्सवो मे प्रधान का काम करना होता है, न कि राजनैतिक विषयो मे।

वशानुगत एकतंत्र या राजा
(Hereditary Monarchies)

कतिपय सस्कृतियो मे शासकीय अधिकारी वशानुगत राजा होता है। इन्हे . नुसक्रमण के सिद्धान्त के आधार पर पिता से पुत्र को अपने अधिकार और पद प्राप्त है। राजकीय शासन-व्यवस्था को दृढ तथा सुनिश्चित बनाने के लिये ही ऐसा किया जा है। शक्तिशाली जनजातियो मे परस्पर लडाई-झगडे होते रहते हैं जिसमे कि 'खून का

बदला खून' इस सिद्धान्त पर अमल किया जाता है। इसके लिये एक निश्चित अर्थात् वशानुगत राजा की आवश्यकता होती है। साथ ही, यह हो सकता है कि एक जनजाति के सदस्यो मे ही समाज के इस सर्वोच्च पद को प्राप्त करने के लिये कटु प्रतिद्विन्द्विता शुरू हो जिससे कि सम्पूर्ण जनजातीय सगठन को खतरा हो सकता है। इस स्थिति से बचने के लिये ही वशानुगत राजा को ही शासकीय अधिकार तथा पद देने की प्रथा का प्रचलन है। परन्तु कभी-कभी ये राजा बिल्कुल ही निकम्मे निकल जाते हैं और सम्पूर्ण राजकीय शासन-व्यवस्था एक असगठित स्थिति मे हो जाती है। फिर भी अधिकतर विकसित आदिम समाजो मे वशानुगत राजा ही पाये जाते हैं। पॉलिनेशिया तथा अफ्रीका की जनजातियो मे पिता की मृत्यु के बाद राजा का पद सबसे बडे लडके को प्राप्त होता है। परन्तु अधिकतर जनजातियो मे यह चुनाव शाही परिषद् (royal council) के द्वारा होता है जो कि राजा के सबसे योग्य पुत्र को राजा का पद प्रदान करती है। जब बडे लडके को यह पद नही मिलता है तो कभी-कभी वह विद्रोह कर देता है जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिये गृह-युद्ध और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बांटू जनजाति मे ऐसा ही होता है।

कुछ ऐसे आदिम समाज भी हैं जहाँ कि शासकीय अधिकार धार्मिक नेताओ या पुजारियो को दिये जाते हैं और कुछ समाजो मे जादूगरो को भी विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। परन्तु अधिकतर जनजातियो मे यह देखा जाता है कि वहाँ का राजा या शासक अपने शासन-कार्य मे धार्मिक अधिकर्त्ताओ तथा जादूगरो की सहायता लेता है। ऐसे भी अनेक जनजातीय समाज हैं जिनमे कि सार्वजनिक जीवन के इन दोनो पक्षो (शासकीय तथा धार्मिक या जादुई पक्षो) को एक-दूसरे से अलग रखने का प्रयत्न किया जाता है, फिर भी अधिकतर आदि-सस्कृतियो मे इन दोनो का एक अनोखा समन्वय देखने को मिलता है।

परिषद्
(The Council)

सभी आदि-समाजो मे शासन-व्यवस्था को चलाने के लिये एक परिषद् हुआ करती है। शायद कोई भी जनजाति या राष्ट्र ऐसा नही है जहाँ कि परिषद् का अस्तित्व ही न हो। इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति अकेले ही शासन-प्रबन्ध का सब काम न तो कर सकता है और न ही उसे ऐसा करने दिया जाता है। निरकुश राजाओ के भी कुछ परामर्श-दाता (advisers) तथा अन्य रूप मे सहायता करने वाले कुछ लोग होते ही हैं। इनका कहना शासक को मानना ही पडता है। आदिम समाजो मे बहुधा यह परिषद् बडे-बूढो की परिषद् (the council of the elders) होती है जो कि प्रजातान्त्रिक आधारो पर सगठित होती है। कतिपय सस्कृतियो मे वयस्क पुरुष इस परिषद् के सदस्य होते हैं, परन्तु आस्ट्रेलिया तथा भारत की जनजातियो मे यह अधिकार केवल समुदाय के बडे-बूढो को ही प्राप्त होता है। अधिकतर जनजातियो मे परिषद् अपना निर्णय बहुमत के आधार पर देती है, परन्तु अमेरिकन इण्डियनो मे परिषद् का कोई भी निर्णय केवल सर्वसम्मति से ही हो सकता है। इसका प्रमुख कार्य शासक को शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी विषयो मे सलाह देना

तथा कुछ गम्भीर विषयो पर विचार-विमर्श करके निर्णय लेना होता है। इस परिषद् का निर्माण गाँव के आधार पर, या ग्राम-समूह या पूरी जनजाति के आधार पर होता है। जब ग्राम-समूह या पूर्ण जनजाति के आधार पर परिषद् का निर्माण होता है तो उसमे प्रत्येक ग्राम के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं जो कि शासन-व्यवस्था बहुमत के द्वारा सचालित करते हैं। कतिपय सस्कृतियो मे गुप्त समितियाँ भी होती हैं जो अपने प्रतिनिधि का चुनाव करती हैं। अफ्रीका की अनेक जनजातियो मे निरकुश शासक या राजा राज्य करते है पर वे भी शाही बडे-बूढो (royal elders) के मत के विरुद्ध कार्य नही करते हैं। जो राजा इस प्रकार कार्य नही करता है और तानाशाही शासन-व्यवस्था को चलाने का प्रयत्न करता है उसे राजा के पद से बलपूर्वक या तो हटा दिया जाता है या उसे मार डाला जाता है।

भारतीय जनजातियो का कानून और सरकार
(Law and Government of Indian Tribes)

भारतीय जनजातियो के कानून और सरकार की भी सामान्य विशेषताएँ प्राय: वही हैं जो कि ससार की अन्य जनजातियो मे देखने को मिलती है और जिनके विषय मे हम ऊपर विवेचना कर चुके हैं। फिर भी भारत की विभिन्न जनजातियाँ विभिन्न परिस्थितियो मे निवास करती हैं। इस कारण उनकी शासन-व्यवस्थाओ मे भी कुछ भिन्नताएँ हमे देखने को मिलती हैं। इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह उचित होगा कि हम दो-एक जनजातियो का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करें।

कमार जनजाति[8]
(The Kamar Tribe)

यह मध्य प्रदेश मे निवास करने वाली जनजाति है। इसका आर्थिक तथा सास्कृतिक जीवन अधिक विकसित नही है। इस जनजाति पर भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code) लागू होता है। परन्तु ये लोग अपने परम्परा-स्वीकृत नियमो को अधिक मानते हैं। इस कारण सभ्य समाज की अदालत को नही, बल्कि अपने ही समाज की पचायतो का प्रयोग ये अधिक करते हैं। ये कानून विभिन्न प्रकार के अपराधो से सम्बन्धित हैं और आवश्यक दण्ड की व्यवस्था करते हैं। कत्ल के अपराध को अधिक महत्त्व नही दिया जाता है, और यदि कभी दिया भी गया तो अगर कातिल सामाजिक भोज दे देता है तो उसे माफ कर दिया जाता है। उसी प्रकार दूसरी जनजातियो की फसल काट लाना या सरकारी नियत्रण मे जो जगल है उनसे कोई चीज चुरा लाना या गैरकानूनी तौर पर शराब बनाना इनके यहाँ अपराध नही माना जाता है। व्यक्तिगत झगडो का फैसला मुक्केबाजी के द्वारा तय किया जाता है।

जनजातीय नियमो का उल्लघन करने वालो को सामूहिक रूप मे पचायत के द्वारा दण्डित किया जाता है। परन्तु जिन अपराधो के विषय मे लोगो को यह विश्वास होता है कि उनका उचित दण्ड अपराधी को अलौकिक शक्ति से प्राप्त होगा, उन

8 Majumdar and Madan, *Social Anthropology*, 1956, pp 212-215

अपराधो के लिये पचायत भी दण्ड की कोई व्यवस्था नही करती है। यह भी विश्वास किया जाता है कि अगर किसी कारणवश अपराधी को दण्ड उसके जीवनकाल मे अलौकिक शक्ति द्वारा नही मिला, तो मरने के बाद वह अपराधी जहाँ जायगा वहाँ उसकी खबर ली जायगी अर्थात् उसे दण्ड मिलेगा। भाई-बहन या अत्यन्त निकट के सम्बन्धियो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करना बहुत बडा अपराध है जिसका कि दण्ड अलौकिक शक्ति अवश्य ही देती है। फिर भी प्रचलित विधि के अनुसार ऐसे अपराधियो को या तो पूर्णतया अलग कर दिया जाता है या गाँव से ही निकाल दिया जाता है। उसी प्रकार अन्य अनेक सामाजिक निषेधो को तोडने पर भी दण्ड देने का काम अलौकिक शक्ति पर ही छोडकर लोग चुप बैठे रहते है।

प्रत्येक छोटे-मोटे अपराधो के लिये दण्ड की व्यवस्था करने के हेतु पचायत को बुलाया नही जाता है। पचायत के सम्मुख तो केवल अधिक गम्भीर प्रकार के अपराधो को पेश किया जाता है। छोटे-छोटे मामलो मे तो बडे-बूढो के मत को ही काफी प्रधानता दी जाती है।

समग्र जनजाति की शासन-व्यवस्था को चलाने के लिये कोई केन्द्रीय सत्ता नही है। राजकीय सगठन या शासन-व्यवस्था स्थानीय समूह अर्थात् ग्राम मे और ग्राम समूह मे निहित और विभाजित रहती है। आस-पास के ग्राम-समूह अपनी पचायत बना लेते हैं। इस पचायत को उसके क्षेत्र मे रहने वाले लोगो के सामाजिक-धार्मिक विषयो मे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष शासन का उत्तरदायित्व 'कुरहा' (समस्त गावो का प्रधान), 'सरपच' (पचायत का मुखिया) आदि कुछ शासको और अधिकारियो पर होता है। जब पचायत की बैठक होनी होती है, तो पचायत का एक चपरासी बैठक की तारीख, स्थान तथा उद्देश्य आदि की सूचना सबको देता है। बच्चे, युवक लोग तथा सभी आयु की स्त्रियाँ पचायत की सदस्य नही हो सकती। यह अधिकार समुदाय के केवल वृद्धजनो (elders) को ही प्राप्त होता है। पचायत का निर्णय या तो सर्वसम्मति से या बहुमत से होता है। केवल सरपच या कुरहा पचायत के निर्णय को बहुत कम प्रभावित कर पाते हैं। केवल पचायत को ही यह अधिकार प्राप्त है कि वह परिवार के बडे-बूढो के निर्णय को बदल सके।

डा० दुबे, जिन्होने कि कमार जनजाति का अति विस्तृत अध्ययन किया है, ने लिखा है कि इस जनजाति मे अदालती कार्यवाही (trial) उचित ढग से की जाती है जिसमे कि दोनो पक्षो की बात सुनी जाती है, अपराध मे प्रत्यक्षदर्शियो की गवाही ली जाती है और अपराधी को अपनी सफाई पेश करने का पूरा मौका दिया जाता है। अपराध करने वाले के इरादे (intention) की छान बीन नही की जाती है। अगर अपराध हुआ है, चाहे अनजाने मे या अचानक या विना किसी इरादे के ही क्यो न हो गया हो, उसका दण्ड अवश्य दिया जाता है। अनेक अपराध सामाजिक भोज देने से माफ कर दिये जाते हैं। इस भोज के हेतु रुपया इकट्ठा करने के लिये अपराधी को कुछ समय भी दिया जा सकता है। कमार जनजाति मे जो कार्य अपराध या जनजातीय नियमो का उल्लघन माने जाते हैं, उनमे से कुछ ये हैं—व्यभिचार, जादू-टोना करना, गाय या

बैल की हत्या करना, काला-जादू, घोडे को छूना या घोडे पर चढना, नीच जात के यहाँ खाना खा लेना, नीच जात वाले से मार खा जाना, चार पति बदलकर पाँचवाँ पति करना, बिना विवाह के किसी के साथ भाग जाना, बहिर्विवाह (exogamy) सम्बन्धी नियमो को तोडना आदि। डा० दुबे ने लिखा है कि चूँकि इस जनजाति मे 'अपराध' को एक तरह से 'पाप' माना जाता है, इसलिये कोई भी व्यक्ति इन्हे छिपाने का प्रयत्न नही करता है और हर कोई अपने-आप पचायत को जुर्माना या भोज देकर इन पापो का प्रायश्चित्त करना चाहता है। जनजाति के बडे-बूढे ही जनजातीय कानून तथा व्यवस्था के सरक्षक होते है। वे ही कानून को परिभाषित करते तथा झगडो का निपटारा करते हैं।[9]

रेंगमा नागा
(The Rengma Naga)

रेंगमा नागा जनजाति एक बहिर्विवाही समूह है और बहिर्विवाह के नियमो का पालन करना सबके लिये अनिवार्य है। ब्रिटिश शासन की स्थापना से पहले इस जनजाति मे प्रत्यक्ष शासन का उत्तरदायित्व प्रधान (chieftain) पर होता था। इस प्रधान की सहायता के लिये विभिन्न गोत्रो के प्रमुख व्यक्ति होते थे। फिर भी प्रधान की सत्ता सर्वोपरि होती थी। एक अर्थ मे यह प्रधान अपने मनमाने ढग से शासन करता था। पर ऐसे भी उदाहरण हैं कि बहुत ही निर्दयी प्रधान को लोगो ने जबरदस्ती उसके पद से हटा दिया है। सामान्य रूप से प्रधान के प्रति प्रत्येक व्यक्ति आज्ञाकारी बना रहता और उसे भय और आदर की दृष्टि से देखता था। अगर कोई प्रधान के आदेशो की अवहेलना करता था तो उसका घर जलाकर या नष्ट करके उसे दण्डित किया जाता था। परन्तु ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की स्थापना के बाद ये सभी परिस्थितियाँ बहुत कुछ बदल गयी हैं। अब स्थानीय प्रधानो की शक्ति बहुत-कुछ छिन गयी है और प्रत्येक प्रकार के झगड़े तथा जनजातीय नियमो के उल्लघन के मामले अदालत के द्वारा तय होते हैं।

रेंगमा नागा जनजाति की शासन-व्यवस्था बहुत-कुछ परम्परा-स्वीकृत नियमो के आधार पर ही होती है। समुदाय के बडे बूढो को वे कोई विशेष अधिकार नही देते हैं। फिर भी ये बडे-बूढे आपसी झगडो का निपटारा करने मे प्राय सफल ही होते हैं। ये अपना निर्णय गाँव के सामान्य जनमत के अनुरूप ही देते हैं और इसीलिये इनकी बातो को लोग मान लेते हैं। सामान्य अपराधो मे पारस्परिक समझौते से ही काम चल जाता है। परन्तु गम्भीर प्रकार के अपराध करने वालो को उचित दण्ड दिया जाता है। उदाहरणार्थ, कत्ल करने या दूसरे की सम्पत्ति को नष्ट करने वाले को गाँव से निकाल दिया जाता है और उसके घर मे आग लगा दी जाती है। पर अपराधी को कुछ समय के बाद फिर गाँव मे लौट आने की छूट होती है। अपराधी-इरादे पर भी ध्यान दिया जाता है। अगर अनजाने मे हत्या हो गयी है, तो अपराधी को माफ कर दिया जाता है। जगल मे आग लगा देना भी एक गम्भीर अपराध है क्योकि इससे वह जगल

---

9 For detailed discussion please see Dr S C Dube, *The Kamar*, U P. Ethnographic and Folk Culture Society, Lucknow

बहुत वर्षों के लिये बेकार हो जाता है और सारे समुदाय को हानि पहुँचती है। इस-लिये ऐसे अपराध के लिये सारा गाँव अपराधी को कोसता और बद्दुआ देता है। चोरी करने या किसी अविवाहित लडकी से उसकी इच्छा के विरुद्ध यौन-सम्बन्ध स्थापित करने पर अपराधी को जुर्माना देना पडता है। व्यक्ति के दोषी अथवा निर्दोष होने की परीक्षा शपथ ग्रहण करवा कर की जाती है। रेंगमा नागा लोगो की शासन-व्यवस्था मे दास-प्रथा को मान्यता नही दी जाती है तथा जनजाति के सभी स्त्री-पुरुष को समान मर्यादा और पद प्रदान किया जाता है।

SELECTED READINGS

1 Calverton, V. F *The Making af Man*, The Modern Library, New York, 1931

2 Herskovits, M J *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956

3 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

4 Linton, R *The Study of Man*, Appleton, 1936

5 Lowie, R H *Social Organization*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1956.

6 Lowie, R H *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1953

7. Malinowski, B *Crime and Custom in Savage Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1949

8 Majumdar and Madan *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1960

9 Maine, H. *Ancient Law* London, 1861

१२

आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था

(PRIMITIVE ECONOMIC ORGANIZATION)

विषय-सूची—बारहवाँ अध्याय

१ भूमिका
२. अर्थ-व्यवस्था की परिभाषा
३ आर्थिक विकास के प्रमुख स्तर
४ आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति तथा विशेषताएँ
५. आदिम अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण
६ आदिम समाजों मे अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता
७ श्रम-विभाजन
८ उत्पादन
९ वितरण
१० उपभोग
११ उपहार और अतिथि-सत्कार—पॉटलैच
१२. व्यापार और विनिमय
१३. आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति
१४ आदिम साम्यवाद
१५. भारतीय जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था
१६ तीन जनजातियों का आर्थिक जीवन

अध्याय १२

आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था
(Primitive Economic Organization)

आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप से आदिम लोगो की जीविका-पालन या जीवन-धारण से सम्बन्धित है। जीवन-धारण के लिये आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन करना, उनका वितरण तथा उपभोग करना ही उनकी आर्थिक क्रियाओ का आधार और लक्ष्य होता है, और ये क्रियाएँ एक आदिम समाज के सम्पूर्ण पर्यावरण, विशेषकर भौगोलिक पर्यावरण के द्वारा बहुत प्रभावित होती हैं। इसीलिये जीवन-धारण या जीवित रहने के साधनो को जुटाने के लिये आदिम लोगो को कठोर परिश्रम करना पडता है। आर्थिक जीवन अत्यधिक सघर्षमय तथा कठिन होने के कारण आर्थिक क्षेत्र मे, अन्य क्षेत्रो की भाँति, प्रगति की गति बहुत ही धीमी है। सक्षेप मे, आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था एक ओर प्रकृति की शक्तियो और प्राकृतिक साधनो, फल-मूल, पशु पक्षी, पहाड और घाटी, नदियो और जगलो आदि पर निर्भर है और दूसरी ओर परिवार से घनिष्ठ रूप से सयुक्त है। आदिकालीन मानव प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री से अपने उपकरणो का निर्माण करता है और उनकी सहायता से परिवार के सब लोग उदर-पूर्ति के लिये कठोर परिश्रम करते हैं। इस परिश्रम का जो कुछ फल उन्हे प्राप्त होता है उससे आर्थिक आवश्यकताओ तथा प्राकृतिक शक्तियो और साधनो के बीच केवल एक सतुलन स्थापित हो पाता है, धन को इकट्ठा करने या उत्पादन के साधनो पर एकाधिकार प्राप्न करने और उसके बल पर दूसरो पर अपनी प्रभुता स्थापित करने की वात शायद ही कोई सोचता हो। परिवार का आर्थिक स्वार्थ प्राय सामूहिक स्वार्थ के साथ इतना अधिक घुल-मिल जाता है कि दोनो को पृथक् करना कठिन होता है। परिवार के सदस्यो को भूख से बचाने और उनकी रक्षा करने का उत्तरदायित्व प्राय समुदाय को ही लेना होता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक जीवन के इन दो पहलुओ या आधारो—परिवार तथा समुदाय— को एक-दसरे से अधिकाधिक सहयोग करना पडता है। इसी दशा मे आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था पनपती है, स्थिर रहती है और जीवित रहने के साधनो को जुटाकर मानव के अस्तित्व को सम्भव करती है।

अर्थ-व्यवस्था की परिभाषा
(Definition of Economic Organization)

सामाजिक मानव अपने अस्तित्व के लिये कुछ-न-कुछ आर्थिक आवश्यकताओ को अनुभव करता है। इन आवश्यकताओ मे सबसे आधारभूत आवश्यकता भोजन, वस्त्र तथा निवास है। इनमे भी सर्वप्रमुख भोजन है जिसके विना मनुष्य का अस्तित्व सम्भव

नही, और मनुष्य के अस्तित्व के बिना समाज के अस्तित्व का सपना देखना भी मूर्खता है। अत. स्पष्ट है कि मानव को अपने तथा समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के हेतु अपनी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिये प्रयत्न करना पडता है। यह तभी सम्भव है जब कि लोग कुछ-न-कुछ सगठित रूप मे इस दिशा मे क्रियाशील हो। आर्थिक क्रियाओं के इस सगठन को ही अर्थ-व्यवस्था कहते हैं। सर्वश्री मजूमदार तथा मदान (Majumdar and Madan) ने लिखा है कि "जीवन की दिन-प्रतिदिन की अधिकाधिक आवश्यकताओ को कम-से-कम परिश्रम से पूरा करने के हेतु मानव-सम्बन्धो तथा मानव-प्रयत्नो को नियमित व सगठित करना ही अर्थ-व्यवस्था है। यह एक व्यवस्थित तरीके से सीमित साधनो द्वारा असीमित साध्यो (आवश्यकताओ) की अधिकतम सन्तुष्टि का प्रयत्न है।"[1] श्री रूथ बुनजेल (Ruth Bunzel) ने अर्थ-व्यवस्था को अति सक्षेप मे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "शारीरिक अस्तित्व की समस्याओ से सम्बन्धित व्यवहार के सम्पूर्ण सगठन को अर्थ-व्यवस्था कहते हैं।"[2] श्री पिडिंगटन (Piddington) के अनुसार, "आर्थिक व्यवस्था, जिसका कि उद्देश्य लोगो की भौतिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करना है, उत्पादन को संगठित करने, वितरण को नियन्त्रित करने तथा समुदाय मे स्वामित्व के अधिकारो और मागो को निर्धारित करने के लिये होती है।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओ के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि "**अर्थ-व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज या एक समूह के एक विशिष्ट प्राकृतिक पर्यावरण, प्रौद्योगिकीय स्तर और सास्कृतिक परिस्थितियों की सीमाओं के अन्दर भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये किये गये समस्त कार्यों का समावेश होता है।**"[4] यह परिभाषा सामान्य रूप से प्रत्येक प्रकार के समाज, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, की अर्थ-व्यवस्था की व्याख्या करती है, क्योकि प्रत्येक समाज को ही अपनी अर्थ-व्यवस्था को कुछ सीमाओ के अन्दर ही सगठित करना होता है और इन्ही सीमाओ के कारण ही प्रत्येक समाज की अर्थ-व्यवस्था मे कुछ-न-कुछ भिन्नता अवश्य दिखायी देती

---

1 "Economic organization consists of the ordering and organization of human relations and human efforts in order to procure as many of the necessities of day-to-day life as possible with the expenditure of minimum effort It is the attempt to secure the maximum satisfaction possible through adapting limited means to unlimited ends (needs) in an organized manner" Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Bombay, 1956, p 188

2 "Economics, is the total organization of behaviour with reference to the problems of physical survival" Ruth Bunzel, *General Anthropology* D C Heath and Co, New York, 1938, p 327

3 "Economic system, designed to satisfy the material wants of the people —is to organize production, to control distribution, and to determine the rights and claims of ownership within the community" Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p 18

4 "Economic organization is that organization which includes whole of the activities for the satisfaction of material needs within the specific limits of natural environment, technological level and cultural situation of a society or of a group" R N Mukherjee, *op cit.*, p 55

है। यह सच है कि सभ्यता या विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ आधुनिक समाजो मे अर्थ-व्यवस्था की उपरोक्त सीमाएँ, विशेषकर भौगोलिक सीमाएँ, आज बहुत-कुछ दुर्बल हो गयी है, फिर भी उनसे पूर्णतया छुटकारा आज भी आधुनिकतम समाजो तक की अर्थ-व्यवस्था को नही मिल पाया है। कुछ वैज्ञानिको का दावा है कि आज सहारा रेगिस्तान मे भी एक औद्योगिक शहर की स्थापना सम्भव है, परन्तु केवल अत्यधिक खर्च के डर से ऐसा करने के लिये कोई कदम नही उठाया जाता। कारण कुछ भी हो, पर इस विषय मे भी भौगोलिक पर्यावरण द्वारा निर्धारित सीमा स्पष्ट ही है। उसी प्रकार वह समाज जो कि औद्योगिकीय (technological) विषय मे पिछडा हुआ है, अपनी अर्थ-व्यवस्था को भी उन्नत स्तर पर नही ला सकता है। जहाँ तक आदिम समाजो का प्रश्न है, तो उनके विषय मे एक सत्य यह है कि आदिम मनुष्यो के आर्थिक जीवन पर भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव अत्यधिक होता है। उनके घर, पोशाक, औजार, व्यवसाय तथा अन्य आर्थिक क्रियाओ के स्वरूप और प्रकृति उस क्षेत्र मे उपलब्ध सीमित साधनो के अनुसार ही निश्चित और नियत्रित होती है। औद्योगिकीय पिछड या वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव मे उनके लिये प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभावो से छुटकारा पाना असम्भव ही है।

आर्थिक विकास के प्रमुख स्तर
(Main Stages of Economic Development)

भोजन प्राप्त करने तथा अपनी अन्य आर्थिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिये की जाने वाली क्रियाओ के आधार पर आर्थिक सगठन के चार प्रमुख स्तर आदिम समाजो मे मिलते हैं —

(१) **शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने का स्तर** (Hunting and food gathering stage)—यह मानव जीवन के आर्थिक पहलू का प्राथमिक व प्रारम्भिक स्तर है। इस स्तर मे आर्थिक सगठन न केवल अव्यवस्थित है, बल्कि अस्पष्ट और अनिश्चित भी। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि इस स्तर मे 'मानव भोजन का उत्पादन नही, सकलन करता है।' इस स्तर मे मानव-जीवन सम्पूर्णतया प्रकृति की गोद मे पलने वाला होता है। मानव जगलो मे अपना जीवन बिताता है और उदर-पूर्ति करके किसी प्रकार जीवित रहना ही उसके लिये पर्याप्त होता है। उदर-पूर्ति के लिये आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन करने का कोई भी ज्ञान मानव को नही होता, इसलिये उदर-पूर्ति शिकार करके और फल, कन्द, मूल और शहद इकट्ठा करके की जाती है। परन्तु जीवित रहने के ये साधन अत्यधिक कठिनता से प्राप्त होते हैं। पशुओ का शिकार करने, मछली पकडने या कन्द, मूल, फल, शाक पात आदि के सकलन के लिये लोगो को एक स्थान से दूसरे स्थान को भटकना पडता है क्योकि शिकार और फल-मूल का एक स्थान से सदैव प्राप्त होना असम्भव है। फलत सामाजिक और आर्थिक जीवन अत्यधिक अनिश्चित, अस्थिर व घुमन्तू होता है। पूर्णतया भौगोलिक तथा प्राकृतिक साधनो पर निर्भर रहते हुए इन लोगो को एक स्थान से दूसरे स्थान को घूम-घूमकर जीवित रहने के लिये भोजन को इकट्ठा करना पडता है। अगर भौगोलिक परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, तो उन्हे भोजन

सरलता से मिल जाता है, पर यदि प्रतिकूल हैं तो आदिम मानव के सामने कोई दूसरा रास्ता भी नही होता है, इसके सिवा कि प्रकृति जितना भी देती है या जिस रूप मे देती है उतना और उसी रूप मे जीवन-यापन के साधनो को प्राप्त करें। चूँकि ऐसे समाजो मे जीवित रहने के ये साधन (शिकार, फल-मुल, शाक-पात आदि) अत्यधिक सीमित मात्रा मे उपलब्ध तथा कठिनता से प्राप्त होते हैं, इस कारण यहाँ जीवित रहने के लिये सघर्ष भी उग्र और भयकर होता है। इन समाजो मे दुर्बलो तथा अक्षमो के लिये जीवित रहना प्राय असम्भव-सा होता है। इन सब कारणो से जनसख्या भी अत्यधिक सीमित होती है। ऐसे समाजो मे आर्थिक जीवन की एक-एक इकाई का आकार बहुत छोटा होता है और उनकी सदस्य-सख्या ४० से लेकर ७० के बीच तक होती है। ये सदस्य प्रायः आपस मे रक्त-सम्बन्धी होते हैं, यद्यपि रहते अलग-अलग परिवार मे ही हैं। आर्थिक जीवन मे सफलता प्राप्त करने के लिये, अर्थात् जीवित रहने के लिये प्रकृति से मोर्चा लेने के लिये इनके लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि वे सब आर्थिक क्रियाओ के विषय मे सहयोग करें। इस सहयोगी व्यवस्था मे परिवार के ही नही, समुदाय के पुरुष, स्त्री, बच्चे आदि हाथ बँटाते हैं। स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर आर्थिक श्रम-विभाजन होता है। तरुणो तथा वयस्क पुरुषो के दल घर से बाहर जगलो मे शिकार करने या मछली मारने जाते हैं, जब कि स्त्रियो के दल जगलो के कन्द, मूल, फल, शाक-पात, शहद आदि इकट्ठा करते, भोजन पकाते तथा बच्चो की देख-रेख करते हैं। भोजन इकट्ठा करने का यह तरीका व स्थान ऋतु-परिवर्तन के साथ साथ परिवर्तित होता रहता है क्योकि प्रत्येक ऋतु मे एक ही स्थान मे फल, मूल आदि प्राप्त नही होता है। इस कारण इन लोगो को प्राय प्रत्येक ऋतु मे ही स्थान बदलना पडता है। सामुदायिक आधार पर जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी होती है उसे प्रत्येक परिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार बाँट दिया जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि व्यक्तिगत या पारिवारिक आधार पर कोई आर्थिक क्रिया होती ही नही है। दैनिक जीवन की अधिकतर आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति व्यक्तिगत प्रयत्नो के द्वारा ही होती है। परन्तु जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी होती है, उसमे से कुछ भी भाग सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद विनिमय के लिये शेष नही रहता। साथ ही, व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा बिल्कुल ही नही मिलती है। फल-मूल, शाक-पात, शहद आदि इकट्ठा करने, शिकार करने तथा मछली मारने के क्षेत्र व्यक्ति अथवा परिवार की सम्पत्ति नही बल्कि सामूहिक सम्पत्ति समझे जाते हैं और उसपर सभी परिवारो का समान अधिकार होता है। आर्थिक क्रियाओ का क्षेत्र अत्यधिक सीमित होने के कारण न तो विशेषीकरण (specialization) और न ही श्रम विभाजन की आवश्यकता होती है। व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति (private property) की धारणा न होने के कारण धन और सम्पत्ति के आधार पर वर्ग-भेद या वर्ग-व्यवस्था का अस्तित्व नही मिलता है। इस स्तर के आर्थिक सगठन भारत के कादर और चेंचू, लका के वेड्डा, आस्ट्रेलिया के अधिकाश आदिवासी, फिलीपाइन और मलाया प्रायद्वीपो के पिग्मी समूह, अण्डमान द्वीप के आदिवासी तथा अफ्रीका के बुशमेन आदि के आदिम समाजो मे पाये जाते हैं।

शिकार करने तथा भोजन इकट्ठा करने के स्तर पर कुछ समाज ऐसे भी हैं जिनमे सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद सकलित भोजन का कुछ भाग विनिमय के लिये शेष रहता है। उदाहरणार्थ, उत्तर-पश्चिम केलिफोर्निया के तटीय भाग मे रहने वाली इण्डियन जनजातियो से अलास्का तक की कुछ जनजातियो मे इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मिलती है। ये लोग जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी करते हैं उसमे से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये पर्याप्त मात्रा मे रख लेने के पश्चात् जो कुछ बच जाता है उसे आस-पास के जनजातीय समूहो को दे देते है और उसके बदले मे कुछ दूसरी चीज प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार का विनिमय-कार्य समुदाय के नेता के द्वारा होता है जो अपनी देख-रेख मे आस-पास के गाँव मे खाद्य सामग्री ले जाकर व्यापार करता है। इस कार्य के लिये समुदाय उसे सकलित खाद्य का कुछ विशेष भाग देता है। इस दृष्टिकोण से इन समाजो मे आर्थिक क्षेत्र मे कुछ विशेपीकरण और श्रम-विभाजन देखने मे आता है।

शिकार करने और फल-मूल इकट्ठा करने के इस स्तर मे भी लोगो को कुछ-न कुछ यत्रो तथा उपकरणो की आवश्यकता होती है। इन यत्रो तथा उपकरणो को लोग स्वय ही बना लेते हैं अर्थात् इनके निर्माण के लिये कोई विशेष व्यक्ति या समिति नहीं होती हैं। इन यत्रो और उपकरणो मे सबसे अधिक प्रयोग मे आने वाली चार चीजें है—धनुप-बाण, भाला, जाल और फदा। इनका प्रयोग विशेप रूप से पशुओ का शिकार करने और मछली पकडने मे होता है। परन्तु इन चारो चीजो की बनावट मे अत्यधिक भिन्नता ससार के विविध जनजातीय समाजो मे देखने को मिलती है।

आज कोई भी आदिम समाज ऐसा नही है जो कि केवल मात्र कन्द, मूल, फल, शाक-पात आदि को इकट्ठा करके ही जीविका-पालन करता हो। सभी जनजातियो के पास मछली मारने तथा पशुओ का शिकार करने के लिये पर्याप्त अस्त्र तथा उपकरण होते हैं। शिकार करने तथा फल-मूल इकट्ठा करने वाले समाजो का आर्थिक सगठन अत्यधिक अस्थिर तथा अनिश्चित होता है। ऐसे समाजो की अन्य विशेषताएँ, सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के अनुसार, निम्नलिखित हैं[5] :—

(क) भोजन इकट्ठा करने वाले समाजो मे जनसख्या का घनत्व साधारणतया बहुत कम होता है। इस नियम का व्यतिक्रम (exception) केवल कुछ ऐसे समाजो मे होता है जो कि अत्यधिक अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण मे रहते हैं जैसे कि उत्तरी पैसिफिक तट या अमेरिका के बडे मैदान मे रहने वाले जनजातीय समाज।

(ख) इस प्रकार के समाज प्राय अन्य समाजो से पृथक् रहकर जीवन व्यतीत करते हैं और अकसर स्थान परिवर्तन करते रहते हैं। इनका आर्थिक सगठन खानाबदोशी (nomadic) होता है।

(ग) इस प्रकार का समाज आत्म-निर्भर (self-sufficient) परिवारो का सकलन होता है। ये परिवार आपस मे रक्त-सम्बन्धी होते हैं।

---

5 Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co, New York, 1959, p 331

(घ) ऐसे समाज आज सुदूर प्रदेशो मे या गहन जगलो के भीतर पाये जाते है। इसलिये इनके सास्कृतिक प्रतिमान पर दूसरे समाजो का प्रभाव न के बराबर है जिसके फलस्वरूप इनकी सस्कृतियो की मूल विशेषताएँ आज भी उसी रूप मे या बहुत कम परिवर्तित अवस्था मे पायी जाती है।

(२) पशुपालन या चरागाह का स्तर (Pastoral stage)—उपरोक्त स्थिति से पशुपालन के स्तर मे आदिम समाजो ने तब कदम रखा जब मानव ने यह अनुभव किया कि पशुओ को मारने के बजाय अगर उन्हे पाला जाय तो उनसे जीवित रहने के अधिक साधन प्राप्त हो सकेंगे, क्योकि उन पशुओ से उनके बच्चे भी प्राप्त होगे और साथ ही दूध भी। इससे मानव का आर्थिक जीवन प्रथम स्तर की तुलना मे अधिक निश्चित और स्थिर हुआ, क्योकि पशुओ को लेकर रोज स्थान परिवर्तन करना कष्टकर होता है। इसलिये एक स्थान पर जब तक उन पालतू पशुओ के खाने-पीने की चीजें अर्थात् चरागाह मिल जाते हैं, तब तक स्थान परिवर्तन की कोई विशेष आवश्यकता नही होती। परन्तु घास आदि समाप्त हो जाने पर दूसरी चरागाह की खोज मे वे दूसरी जगह चले जाते हैं।

ससार मे शायद ही कोई ऐसा समाज है जहाँ कि पशुपालन का काम नही होता है। प्रत्येक समाज किसी-न-किसी रूप मे पशुओ को पालता है। प्रारम्भिक स्तर मे इन पशुओ को मारकर उनके मास को खाने के काम मे, खाल को पहनने के काम मे और हड्डियो को नाना प्रकार के आभूषण तथा अस्त्र बनाने के काम मे लाया जाता है। टुण्ड्रा प्रदेश बारहो महीने बर्फ से ढँका रहता है, फिर भी प्रकृति ने वहाँ के लोगो को समूर वाले जानवर, जैसे सफेद भालू, भेडिया, लोमडी, खरगोश, मस्कबैल, रेनडियर आदि प्रदान किये है। वहाँ के लोग इन पशुओ की खाल के वस्त्र पहनते हैं। वे समूर के दस्ताने और लम्बे जूते जिनमे भीतर समूर लगी होती है, पहनते हैं। उसी प्रकार ससार मे ऐसे अनेक आदिम समाज हैं जिनमे कि पशुओ को पालने का एक प्रमुख उद्देश्य उनके दूध को या दूध से बनी अन्य चीजो को भोजन के एक उत्तम साधन के रूप मे प्राप्त करना होता है। साथ ही, ऐसे भी जनजातीय समाज हैं जिनमे लोग कृषि के काम मे पशुओ को व्यवहार मे लाने के लिये उन्हे पालते हैं। श्री फोर्ड (C D Forde) ने पशुओ की छ उपयोगिताओ का उल्लेख किया है—(१) पशुओ के मास को भोजन के रूप मे व्यवहार करना, (२) खालो का प्रयोग, (३) उनके बाल या ऊन का प्रयोग, (४) दूध और दूध से बनने वाली वस्तुओ का प्रयोग, (५) बोझा ढोने और गाडी खीचने का काम, और (६) सवारी का काम।[6] परन्तु कौन-सा समाज किन पशुओ को पालेगा, यह बहुत कुछ उस समाज की स्थानीय परिस्थितियो पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दो मे, विभिन्न समाजो मे पालतू पशुओ मे काफी भिन्नता पायी जाती है। कुत्ता मनुष्य का बहुत पुराना साथी है।[7] इनसे अधिकाश समाज पहरेदारी का काम लेते हैं। परन्तु कुछ ऐसे आदिम समाज भी हैं जिनमे कुत्तो के मास को खाया भी जाता है। ससार मे कुछ आदिम समाज

---

6 C D Forde, *Habitat, Economy and Society*, New York, 1937, p 401

7 M. F Ashley-Montagu, "On the Origin of the Domestication of the Dog", *Science*, Vol 96, 1942, pp 111-112

ऐसे भी हैं जो कि अपनी जीविका-पालन के हेतु सम्पूर्ण रूप से पशुपालन पर ही निर्भर करते है। परन्तु ऐसे समाजो की सख्या बहुत अधिक नही है।

चूंकि पशुओ को पालने के लिये सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि उनके खाने के लिये घास-पात उपलब्ध हो, इस कारण पशुओ को पालने वाले समूह उन्ही प्रदेशो मे अधिक पाये जाते हैं जहाँ कि चरागाह या घास-पात पर्याप्त मात्रा मे मिल सकता है। इसीलिये ऐसे समूह एक स्थान पर कितने दिन रहेगे, यह सम्पूर्णतया इस बात पर निर्भर करता है कि उस स्थान पर उनके पशुओ के खाने के लिये घास-पात कब तक मिलता रहता है। रेगिस्तानी प्रदेशो मे भी कुछ ऐसे समूह पाये जाते है जो कि अपनी जीविका के लिये सम्पूर्णत. पशुओ पर निर्भर रहते है। उत्तरी अरब की बेडोउइन (Bedouin) जनजाति इसी प्रकार की है। इसकी जीविका-उपार्जन का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन ऊँट है। इस जनजाति के लोग अपने ऊँटो को लेकर चरागाह की खोज मे एक स्थान से दूसरे स्थान को घूम-फिरकर जीवन बिताते है। बर्फीले प्रदेशो की जनजातियाँ भी पशु पालती हैं। एस्किमो जनजाति रेनडियर आदि पशुओ का पालन करती है। उसी प्रकार अन्य जनजातीय समूहो मे कुत्ता, गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड, घोडा आदि जानवरो को पालते हैं।

इस स्तर मे आर्थिक क्रियाओ के सम्बन्ध मे प्राकृतिक पर्यावरण पर निर्भरता प्रायः प्रथम स्तर जैसी ही बनी रही। इसीलिये ऋतु-परिवर्तन के साथ साथ लोगो को चरागाहो की खोज मे एक जगह से दूसरी जगह जाना पडता है। फिर भी आर्थिक जीवन उतना अस्थिर और अनिश्चित नही होता है जितना कि प्रथम स्तर मे। पशुओ मे कोई रोग महामारी के रूप मे फैल जाने पर तथा एकाएक अधिक सख्या मे पशुओ के मर जाने पर बहुधा पशुपालक समूहो को आर्थिक सकट का सामना करना पडता है और भूखो मरने की नौबत आ जाती है। परन्तु पशुओ के रोगो की चिकित्सा करने का कुछ-न-कुछ ज्ञान उन लोगो को अवश्य ही होता है। वे पशुओ का इलाज जडी-बूटी और झाड-फूंक की सहायता से करते हैं। इस विषय मे सम्पूर्ण समुदाय प्रत्येक परिवार की मदद करने के लिये सदैव तैयार रहता है। कुछ समाजो मे तो इन पशुओ पर पूरे समूह का अधिकार होता है।

(३) कृषि-स्तर (Agricultural stage)—इस स्तर का प्रारम्भ तब होता है जब मानव को बीज बोने और पौधे उगाने की कला आ गयी। फलो का बाग लगाने या खेती करने की इस क्षमता ने आर्थिक जीवन को पहले से अधिक स्थिर बनाया। यद्यपि जनजातियो के लिये बगीचा लगाकर फल उत्पन्न करना अथवा खेती द्वारा अनाज प्राप्त करना भी प्राकृतिक दशाओ पर अत्यधिक निर्भर और इस कारण अनिश्चित है, फिर भी उतना अनिश्चित नही जितना कि शिकार पाना। सक्षेप मे, इस स्तर मे शिकार करने व फल-मूल इकट्ठा करने तथा पशुपालन की स्थिति से भोजन अधिक नियमित रूप से प्राप्त होने लगा। साथ ही, फलो का बाग लगाना या खेती करना एक ऐसी आर्थिक क्रिया है जो कि स्वभावत ही मनुष्य को जमीन से बाँध देती है। इसका आशय यह है कि इस स्तर मे मनुष्यो को एक स्थान पर घर बसाकर स्थायी रूप से आर्थिक क्रियाओ को करने का अवसर प्राप्त हुआ। भोजन की पूर्ति (supply) बढी और उसके साथ-साथ जनसख्या

भी । इससे धार्मिक अन्न क्रियाओ का योग भी मिला । तथा और विभिन्न समाजो के बीच आर्थिक सम्बन्ध बना ।

डा० दुबे के अनुसार भोजन देने वाले वृक्षो का बागीचा मानव ने सम्भवत सबसे पहले इथियोपिया से उत्तर भारत तक की पर्वतीय घाटियो मे, दक्षिण-पूर्व एशिया मे और मेक्सिको से चिली तक की उच्च भूमि मे किया । पौधो को लगाने के काम मे जिन औजारो या उपकरणो को काम मे लाया जाता है उनमे कुदाल (digging stick) सबसे प्रमुख और प्राचीन है क्योकि कालान्तर मे आविष्कृत हो (hoe) या फावडा (spade) इस कार्य के लिये अधिक उपयोगी प्रमाणित नही हुए । साथ ही, प्रत्येक प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रत्येक प्रकार के फल के पेड-पौधो को उगाने के लिये अनुकूल न होने के कारण प्रत्येक प्रदेश मे अलग-अलग तरह के फल के बाग लगाये जाते है । इसके अतिरिक्त उन स्थानो मे जहाँ कि भूमि अत्यधिक उर्वर है, फल के बाग अधिक लगाये जाते हैं क्योकि खाद या अन्य उर्वरक को व्यवहार मे लाने के सम्बन्ध मे आदिम समाजो के लोगो को कोई भी ज्ञान नही होता है । इसीलिये जैसे ही एक भूमि-खण्ड की उर्वरता दो-चार साल की फसल के बाद समाप्त हो जाती है वैसे ही उन्हे बाग के स्थान को भी बदलना पडता है । केला, नारियल, ब्रेड-फ्रूट और नाना प्रकार के कन्द-मूल आदि का बगीचा सबसे पहले मनुष्य ने लगाया था, पर धीरे-धीरे अन्य प्रकार के फल और भोजन देने वाले वृक्षो को लगाया जाने लगा ।

अनाजो को उत्पन्न करने के लिये कृषि का काम सर्वप्रथम कब और कहाँ प्रारम्भ हुआ, यह निश्चित रूप से बताना कठिन है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कृषि का प्रारम्भ तब हुआ होगा जब कि मनुष्य को बीज बोने और पौधा उगाने की कला का ज्ञान हुआ था । यह ज्ञान सर्वप्रथम स्त्रियो को ही हुआ था क्योकि पुरुष दल तो जगल मे शिकार करने या मछली मारने के लिये एक जगह से दूसरी जगह को भटकता फिरता था, जब कि स्त्रियाँ घर पर अर्थात् एक जगह पर ही रहकर फल-मूल आदि इकट्ठा करती थी । इसलिये स्त्रियो की निगाहो मे यह पडना सम्भव था कि एक गुठली या बीज से फिर पौधा उग सकता है ।[8] यही कारण है कि आदिम समाजो मे कृषि-कार्य मे स्त्रियाँ विशेष निपुण होती है और इस कार्य मे उनका योगदान महत्त्वपूर्ण होता है ।

पहले यह विश्वास किया जाता था कि कृषि का काम सर्वप्रथम मिश्र (Egypt) मे प्रारम्भ किया गया था । परन्तु आज इससे कोई सहमत नही है । आज के उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृषि का काम ससार के एकाधिक भागो मे एक साथ प्रारम्भ किया गया था । पर हाँ, कुछ विशेष भौगोलिक क्षेत्रो मे विशेष प्रकार के अनाज को विशेष रूप से उत्पन्न किया जाता है जो कि उस क्षेत्र मे पायी जाने वाली भौगोलिक परिस्थिति—जलवायु, वर्षा—आदि से सम्बन्धित है । चूँकि एक क्षेत्र विशेष मे एक विशिष्ट प्रकार की जलवायु, वर्षा आदि उपलब्ध हैं और चूँकि इन्हे परिवर्तित करने या इनपर नियन्त्रण पाने की कोई कला आदिम लोगो को नही आती है, इस कारण उस भौगोलिक परिस्थिति मे जो अनाज सरलता से उगाया जा सकता है, उन्ही की खेती

8. Beals and Hoijer, *op cit*, p 345

उस क्षेत्र मे की जाती है। पुरानी दुनिया (Old World) को इस प्रकार के पाँच विशिष्ट क्षेत्रो मे बाँटा जा सकता है जो निम्नवत् है[9] —

(१) दक्षिण-पश्चिम एशिया (अर्थात् उत्तर-पश्चिम भारत, अफगानिस्तान, ईरान, ट्रामककेशिया और पूर्वी व मध्य आनाटोलिया) नरम गेहूँ, राई, मटर, मसूर की दाल आदि का 'घर' है। इन क्षेत्रो की जलवायु इन अनाजो के उत्पन्न होने के अनुकूल है।

(२) भूमध्यसागरीय क्षेत्र मे जैतून, अजीर आदि की उपज पहले आरम्भ हुई थी।

(३) इथियोपिया गेहूँ, जौ तथा बडे आकार के मटर का 'घर' है।

(४) पर्वती चीन तथा आसपास के क्षेत्र सोयाबीन, बाजरा आदि के आदि स्थान है।

(५) मध्य तथा दक्षिण भारत, बर्मा, इण्डोचीन चावल, गन्ना तथा कपास का 'घर' है।

आदिम समाजो मे खेती करने के तरीके बहुत अविकसित है। इसका प्रमुख कारण खेती के लिये आवश्यक औजारो या उपकरणो की कमी, खाद या उर्वरक के विपय मे ज्ञान का अभाव तथा बीजो को बोने का सही तरीका मालूम न होना है। अनेक जनजातियाँ अति आदिम ढग से खेती करती हैं जिसे कि स्थानान्तरित खेती (shifting cultivation) कहते हैं। इस प्रकार की खेती मे जगल के पेडो को काटकर उन्हे एक स्थान पर एकत्र करके जला दिया जाता है और फिर राख, सारे स्थान पर, जहाँ खेती करनी हो, बिछा दी जाती है और इसमे बीज बो दिये जाते हैं। जब दो-एक वर्ष के बाद उस स्थान की भूमि की उर्वरा-शक्ति समाप्त हो जाती है तो स्थान परिवर्तन करके दूसरे स्थान पर इसी प्रकार से खेती की जाती है। इस कारण इसे स्थानान्तरित खेती कहते हैं। इस प्रकार की खेती से केवल कुछ मोटा अनाज जैसे जौ, बाजरा, मटर, चना आदि ही उत्पन्न हो पाता है। कुल उत्पादन भी बहुत कम होता है और जो कुछ अनाज पैदा होता है उसका कोई भी भाग, सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद, विनिमय के लिये शेष नही रहता। इन समाजो मे प्राय खेती का काम सामूहिक आधार पर होता है। ऐसी स्थिति मे खेत किसी विशेष परिवार का न होकर, पूरे समूह का होता है और उसपर उस समूह के प्रत्येक परिवार के सभी सक्षम व्यक्ति काम करते हैं और जो कुछ भी उपज होती है उसे मुखिया प्रत्येक परिवार को उनकी आवश्यकता के अनुसार बाँट देता है। जिन समाजो मे यह व्यवस्था नही है, वहाँ भी फसल काटने या एकत्रित करने के लिये कभी-कभी सगठित दल सामूहिक रूप से काम करते हैं। युवागृह के सदस्य भी ऐसे कामो मे हाथ बँटाने आ जाते हैं।

अनेक ऐसे जनजातीय समाज भी हैं जहाँ कि स्थायी तरीके से एक ही जमीन पर खेती होती है और वे अपने खेत का स्थान नही बदलते। इन समाजो मे खेती करने का तरीका थोडा-सा उन्नत है और इसीलिये कुछ अधिक अनाज उत्पन्न हो जाता है। फलत सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद भी उत्पन्न अनाज का कुछ भाग विनिमय के

9 *Ibid*, p 346

लिये शेष रह जाता है। इसे वे आस-पास के समुदाय मे जाकर विनिमय के माध्यम से दूसरो को देकर उसके बदले मे अपनी अन्य आवश्यकता की वस्तुओ को ले आते है।

सरल कृषि-व्यवस्था पॉलीनेशिया, मेलानेशिया, मलय-एशिया, भारत आदि देशो के जनजातीय समाजो मे पायी जाती है। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पारिवारिक या सामूहिक आधार पर आयोजित होती है, यद्यपि स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर किसी-न-किसी प्रकार का आर्थिक श्रम-विभाजन अवश्य ही मिलता है। वेतन देकर बाहरी श्रमिको को काम पर लगाने की प्रथा नही पायी जाती।

(४) औद्योगिक स्तर (Technological stage)—कोई भी आदिम समाज पूर्णतया औद्योगिक स्तर तक नही पहुँच पाया है। आदिम समाज तो क्या कोई भी समाज केवल उद्योग पर ही निर्भर है, यह सोचना गलत है। उद्योग के साथ-साथ कृषि-कार्य भी प्रायः समस्त प्रगतिशील देशो मे ही होता है। आदिम समाजो मे सामान्य उद्योग या दस्तकारी देखने को मिलती है और वह भी खेती आदि के साथ-साथ। प्राय• देखा जाता है कि अनेक जनजातीय समाजो मे वहाँ के लोगो की आर्थिक क्रियाओ मे पशुपालन और खेती के साथ टोकरी बनाना, सूत कातना तथा बुनना, रस्सी, चटाई आदि बनाना, दरी बनाना, कपडे बुनना, बेंत का काम करना, लोहे के औजार बनाना, मिट्टी और धातुओ के बर्तन बनाना आदि भी सम्मिलित है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति तथा विशेषताएँ
(The Nature and the Characteristics of Primitive Economies)

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि आदिम समाजो मे जीवन अत्यधिक सघर्ष-मय तथा कठोर है क्योकि जीवित रहने के साधन बहुत कठिनता से प्राप्त होते हैं। इस अर्थ मे आदिम अर्थ-व्यवस्था की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि आदिम लोगो की समस्त आर्थिक क्रियाएँ शारीरिक अस्तित्व को बनाये रखने की समस्या को केन्द्र मानकर की जाती हैं। कैसे जीवित रहे, या किस प्रकार उदर-पूर्ति हो—यह समस्या ही सबसे प्रमुख है और उसीका हल ढूंढने के प्रयत्न मे जो कुछ आदिम समाज के लोग करते हैं, वही उनकी अर्थ-व्यवस्था है। आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति की इससे सरल व्याख्या शायद सम्भव नही। साथ ही, यह विशेषता आधुनिक अर्थ-व्यवस्था तथा आदिम अर्थ-व्यवस्था के बीच एक सुस्पष्ट विभाजक रेखा खीच देती है। इतना ही नही, आदिम अर्थ-व्यवस्था मे अश ग्रहण करने वालो के पारस्परिक सम्बन्धो की भी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हमे देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, आदिम आर्थिक सगठन के अन्तर्गत उपभोक्ता (consumer) तथा उत्पादक (producer) का आपसी सम्बन्ध बिल्कुल ही उस प्रकार का नही है जैसा कि हम अपने समाज मे देखते हैं। आदिम समाजो मे उपभोक्ता तथा उत्पादक दो पृथक् अस्तित्व नही रखते और न ही ये दोनो एक-दूसरे से भिन्न हैं, क्योकि उपभोक्ता और उत्पादक दोनो प्राय एक ही व्यक्ति होते हैं। वहाँ मोटे तौर पर प्रत्येक व्यक्ति ही उत्पादक है, और प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता भी। आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति के विषय मे तीसरी प्रमुख बात यह है कि आदिम अर्थ-व्यवस्था आधुनिक अर्थ-व्यवस्था

की भाँति सगठित, निश्चित ढग से नियोजित तथा विशिष्ट रूप से नियन्त्रित नही होती। प्रत्येक परिवार आर्थिक मामले मे आत्म-निर्भर होता है, अथवा अपने आत्म-निर्भर समुदाय की एक आर्थिक इकाई के रूप मे क्रियाशील होता है। परिवार को निकालकर आदिम अर्थ-व्यवस्था या आर्थिक सगठन की चिन्ता करना ही मूर्खता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये इसके प्रमुख लक्षणो या विशेषताओ की विवेचना आवश्यक है, जो कि निम्नवत् है :—

(१) आदिम समाजो मे प्राय सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओ को धर्म और जादू-टोना के साथ एक अजीब ढग से मिला देने की अत्यधिक प्रवृत्ति पायी जाती है। दूसरे शब्दो मे, किसी भी आर्थिक क्रिया को करने से पहले आदिम समाजो मे अनेक प्रकार के धार्मिक सस्कारो और जादू-टोने का भी सहारा लिया जाता है। धर्म और जादू की सहायता के बिना आर्थिक क्रियाओ मे सफलता असम्भव है, इस प्रकार के अनेक अन्ध-विश्वास आदिम लोगो मे पाये जाते हैं। एक सामान्य उदाहरण के द्वारा आदिम अर्थ-व्यवस्था के इस पक्ष को स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ समाजो मे शिकार पर जाने के सम्बन्ध मे अनेक नियमो का पालन अनिवार्य है। जिस दिन शिकार मे जाना होता है उसके पहले वाली रात को कोई भी शिकारी अपनी पत्नी के पास नही सोता है और न ही किसी रूप मे पत्नी के साथ सहवास करता है, क्योकि उनमे यह विश्वास है कि वैसा करने पर शरीर और मन दोनो ही अशुचि या नापाक हो जाते हैं जिससे शिकार के देवता अप्रसन्न होते है और शिकार मे सफलता की कोई आशा नही रह जाती। इसीलिये शिकार पर जाने के पहले वाली रात सब शिकारी अपने-अपने घर से दूर एक साथ मिलकर रहते है। उसी प्रकार बहुत से आदिम समाजो मे खेत मे पहले दिन काम करने जाने से पहले या बीज बोने से पहले फसल के देवता को प्रसन्न करने के लिये पशुओ की बलि चढाई जाती है। कही-कही तो फसल काटने के बाद इस प्रकार की बलि चढाने की प्रथा पायी जाती है। कुछ समाजो मे कृषि और बागवानी से सम्बन्धित वर्षा, नदी, सूर्य आदि की पूजा की जाती है। सक्षेप मे, यह विश्वास किया जाता है कि आर्थिक क्रियाओ मे सफलता इन कृत्यो को करने से ही सम्भव है।

(२) आदिम अर्थ-व्यवस्था की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि आर्थिक उत्पादन प्राय किसी भी प्रकार की प्रौद्योगिकीय सहायता (technological aid) के बिना ही किया जाता है। इसका एक मात्र कारण यह है कि इन समाजो मे न तो मशीनो का आविष्कार होता है और न ही इनको व्यवहार मे लाने का ज्ञान वहाँ के लोगो को हुआ करता है। आदिम अर्थ-व्यवस्था आदिम ढग से ही आयोजित तथा सगठित होती है जिसके फलस्वरूप केवल उत्पादन ही कम नही होता, बल्कि चीजो की बर्बादी भी बहुत होती है। इसका उज्ज्वल दृष्टान्त स्थानान्तरित खेती ही है। खेती के इस तरीके के कारण एक ओर वन-सम्पत्ति और भूमि की उर्वरा-शक्ति नष्ट होती है और दूसरी ओर अनाज का उत्पादन श्रम आदि की तुलना मे बहुत कम होता है। इसका प्रभाव उन लोगो की आर्थिक स्थिति पर पडता है, क्योकि जो कुछ थोडा-बहुत उत्पादन होता है उसमे से सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद कुछ भी विनिमय के लिये शेष नही रहता।

फलत आर्थिक क्रियाओ से समुदाय के सदस्यो की उदर-पूर्ति ही किसी तरह से हो पाती है, उचित ढग से जीवित रहना नही।

(३) आदिम अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन और वितरण पर जितना अधिक बल दिया जाता है उतना विनिमय पर कदापि नही। इसका सबसे प्रमुख कारण जैसा कि ऊपर ही बताया गया है, यह है कि जो कुछ उत्पादन होता है उसे समुदाय के परिवारो मे उनकी आवश्यकता के अनुसार बाँट देने के पश्चात् शायद ही कुछ आधिक्य (surplus) रह जाता है। साथ ही, विनिमय (exchange) से कौन-कौन से लाभ है, इसके विषय मे न आदिम समाज के लोग कुछ जानते है और न ही विनिमय को अधिक सगठित रूप से चलाना उनके लिये सम्भव है। इस कारण आदिम अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक वस्तुओ का उत्पादन अधिकतर उपभोग (consumption) के लिये किया जाता है, न कि विनिमय (exchange) करने या सचय (hoard) करने के लिये। इन समाजो मे भोजन का उत्पादन या सकलन सर्वप्रथम किया जाता है और उसके बाद फिर वस्त्र और रोज की आवश्यकता की अन्य वस्तुओ का उत्पादन होता है।

(४) चूँकि आर्थिक वस्तुओ का उत्पादन विनिमय करने के लिये नही होता है, इस कारण विनिमय के किसी माध्यम (medium)—मुद्रा—का भी अधिक प्रचलन आदिम समाज मे देखने को नही मिलता है। आधुनिक समाजो की भाँति आदिम समाजो मे मुद्रा (money) को न तो एकत्रित किया जाता है और न ही उसका वस्तुओ के मूल्य आँकने और वस्तुओ के विनिमय मे अधिक प्रयोग किया जाता है। बैंक, साख समिति आदि का उनके समाज मे नितान्त अभाव होता है। इन सबकी आवश्यकता भी उन समाजो मे बहुत कम होती है क्योकि बाहरी समूहो से आर्थिक आदान-प्रदान या विनिमय बहुत कम होता है।

(५) उत्पादन या विनिमय के द्वारा मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति का नितान्त अभाव, आदिम अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण है। इसके निम्नलिखित दो प्रमुख कारण हैं—**प्रथम** तो यह कि मुद्रा द्वारा वस्तुओ का मूल्य आँकने की प्रवृत्ति बहुत कम होने के कारण विनिमय के द्वारा मुनाफा लेने की बात उनके मन मे उदित ही नही होती है, और दूसरे आर्थिक क्रियाओ के साथ एक सामुदायिक भावना जुडी होने के कारण मुनाफा लेने का प्रश्न ही नही उठता है। चूँकि आर्थिक क्रियाओ मे समुदाय के सभी लोगो का सक्रिय सहयोग सबको मिलता है या मिलने की आशा रहती है, इस कारण आदिम समाजो के लोग एक-दूसरे से मुनाफा लेने की बात सोचते तक नही हैं। परन्तु आधुनिक समाजो के सम्पर्क मे आने के फलस्वरूप अनेक आदिम समाजो मे मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति अब प्रवेश कर गयी है।

(६) चूँकि आदिम समाजो मे मुद्रा का कम प्रयोग होता है और आर्थिक वस्तुओ का आधिक्य (surplus) कम होने के कारण बाहरी समूहो मे विनिमय-कार्य नाम मात्र का होता है, इसलिए आदिम अर्थ व्यवस्था मे नियमित बाजार, व्यापारी, दलाल, प्रतियोगिता (competition) एकाधिकार (monopoly) आदि का नितान्त अभाव होता है और जहाँ है, वहाँ भी बहुत कम।

(७) आदिम समाजो मे परिवार आत्म-निर्भर होता है और वह इस अर्थ मे कि प्राय अपनी समस्त आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति प्रत्येक परिवार पृथक् रूप से या सयुक्त रूप मे कर लेता है और इस कार्य मे परिवार के प्रत्येक सक्षम व्यक्ति को सक्रिय भाग लेना होता है। ये आर्थिक क्रियाएँ विविध प्रकार की होती है और व्यक्ति उनमे से सबको ही करता है या उसे करना पडता है। इसीलिये आदिम समाजो मे कुशलता के आधार पर आर्थिक क्रियाओ का विशेषीकरण (specialization) नही हो पाता है। आदिम समाजो मे विशेषज्ञ (specialists or experts) नही होते और वह इस अर्थ मे कि एक व्यक्ति जो कि पुजारी है, वह जादू-टोना भी करता है, खेती का काम भी जानता है, टोकरी बनाता, सूत कातता और बुनता, मिट्टी के बर्तन भी बनाता, और ऐसे ही दिन-प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित अनेक आर्थिक कार्यों को करता है या कम से कम कर सकता है। उसे एक विशेषज्ञ बनने की न तो सुविधाएँ प्राप्त हैं और न ही उसके लिये यह आवश्यक है।

(८) आदिम समाजो की अधिकतर आर्थिक क्रियाएँ सामूहिक और सहकारी आधारो पर सगठित होती है। आर्थिक क्रियाओ का मुख्य उद्देश्य सामुदायिक कर्त्तव्यो को निभाना है।

(९) व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति की धारणा प्रत्येक आदिम समाज मे किसी न किसी रूप मे अवश्य ही होती है, विशेषकर उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे जो एक व्यक्ति या परिवार स्वय बनाता या व्यवहार करता है। फिर भी खेत, चरागाह, तालाब, शिकार के क्षेत्र, इन सबपर समूह का अधिकार (group ownership) अधिक होता है।

(१०) आदिम समाजो मे आर्थिक क्षेत्र मे नये परिवर्तन और आविष्कार बहुत ही कम होते हैं। सभ्य समाजो के सम्पर्क मे आने वाले आदिम समाजो के आर्थिक सगठन मे परिवर्तन होना शुरू हो गया है, फिर भी इस परिवर्तन की गति पर्याप्त धीमी है।

(११) अनेक आदिम समाजो मे उपहार (gift) विनिमय का एक माध्यम (a medium of exchange) होता है। इन समाजो मे मुद्रा के स्थान मे उपहार को ही विनिमय का आधार माना जाता है और वह इस अर्थ मे कि जब एक समूह दूसरे समूह को कुछ चीजे उपहार के रूप मे देता है तो दूसरे समूह का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रथम समूह को उसके बदले मे कुछ दूसरी चीजें दे। इस प्रकार उपहार लेना और देना आदिम समूहो मे विनिमय का एक परम्परागत या सामाजिक रीति, नियम या तरीका है।

(१२) उसी प्रकार आदिम समाजो मे अतिथि-सत्कार या आतिथ्य (hospitality) आर्थिक सेवा के रूप मे देखने को मिलता है। विशेषकर खाने-पीने की चीजो के सम्बन्ध मे आदिम समाज के लोग बहुत उदार होते हैं। कोई भी बाहर का आदमी आकर उनके यहाँ खा-पी सकता है, विशेषकर अगर वह अपने ही समूह का है। अगर किसी भी व्यक्ति के पास अतिरिक्त भोजन है, तो उस समुदाय के अन्य किसी को भी वह भोजन मिलने का अधिकार होता है। एक व्यक्ति अपने भण्डार को खाद्यान्न से भरकर रख दे और दूसरे लोग उसीके बिना भूखो मरते रहे (जैसा कि हम लोगो के अपने समाज मे होता है और हो रहा है), इस प्रकार की स्थिति को आदिम समाजो मे सहन नही किया जाता

है। उसी प्रकार शिकार अथवा खेती करने के अन्य अनेक निजी सामानो पर समुदाय के अन्य लोगो का अधिकार होता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण
(Classification of the Primitive Economic Organization)

आदिम अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण सभी मानवशास्त्रियो ने समान रूप मे प्रस्तुत नही किया है। इसी कारण विभिन्न मानवशास्त्रियो द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण मे पर्याप्त भिन्नता देखने को मिलती है। हम यहाँ कुछ विशिष्ट वर्गीकरणो का उल्लेख करेंगे जो कि निम्नलिखित हैं —

(१) श्री ग्रास (Grosse) ने एक विकासवादी वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए आदिम से आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के निम्नलिखित पाँच स्वरूपो का उल्लेख किया है—(क) सकलनशील आर्थिक व्यवस्था (collectional economy), (ख) सांस्कृतिक खानाबदोषी अर्थ-व्यवस्था (cultural nomadic economy), (ग) स्थिर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था (settled village economy), (घ) नागरिक अर्थ-व्यवस्था (town economy), और (ङ) आधुनिकतम अर्थ-व्यवस्था (metropolitan economy)।

(२) सर्वश्री फोर्ड तथा हर्षकॉविट्स (Forde and Herskovits) अर्थ-व्यवस्था की उपरोक्त विकासवादी योजना मे सहमत नही हैं। इन विद्वानो के मतानुसार किसी एक निश्चित स्तर पर सभी समाजो की अर्थ-व्यवस्था की कल्पना करना मूर्खता है। एक समाज मे एक साथ एकाधिक अवस्थाओ या स्तरो का होना ही अधिक व्यवहारिक है। इन विद्वानो ने आर्थिक व्यवस्था को पाँच भागो मे बाँटा है और यह कहा है कि एक समय मे इन पाँच अवस्थाओ मे से एकाधिक अवस्थाओ मे एक समाज हो सकता है। ये **पाँच** अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—(क) सकलन (collection), (ख) शिकार (hunting), (ग) मछली मारना (fishing), (घ) कृषि (cultivation), और (ङ) पशुपालन (stock raising)।

(३) सर्वश्री जैकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था को दो प्रमुख भागो मे बाँटा है और इनमे से प्रत्येक भाग के दो उपभागो का उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् हैं—(क) शिकार करने, मछली मारने तथा भोजन एकत्र करने वाली अर्थ-व्यवस्थाएँ (hunting, fishing and food gathering economies)—इस अर्थ-व्यवस्था के दो उपभाग हैं—एक तो भोजन-सकलन की सरल अर्थ-व्यवस्थाएँ (simple food gathering economies), और दूसरे भोजन-सकलन की विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ (advanced food gathering economies)। (ख) कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था (agriculture and pastoral economies)—इस अर्थ-व्यवस्था के भी दो उपभाग हैं—एक तो कृषि तथा पशुपालन-सम्बन्धी सरल अर्थ-व्यवस्थाएँ, और दूसरे कृषि तथा पशुपालन-सम्बन्धी विकसित अर्थ व्यवस्थाएँ।

(४) श्री थर्नवाल्ड (Thurnwald) ने आदिम समाजो की अर्थ-व्यवस्था को **सात** श्रेणियो मे विभाजित किया है जो कि निम्नलिखित हैं—(१) शिकार करने, पशु-पक्षी पकडने, तथा खाद्य सामग्री इकट्ठा करने वाले समरूप समुदाय (Homogeneous

communities of hunters, trappers and food collectors)। (२) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले तथा कृषकों का समरूप समुदाय (Homogeneous communities of hunters, trappers and agriculturists)। (३) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले, कृषक तथा कारीगरों के श्रेणीबद्ध समाज (Graded society of hunters, trappers, agriculturists and artisans)। (४) चरवाहे (Herdsmen)। (५) समरूप शिकारी तथा चरवाहे (Homogeneous hunters and herdsmen)। (६) प्रजाति के आधार पर श्रेणीबद्ध पशु पालने वाले तथा व्यापार करने वाले समूह (Ethnically stratified cattle breeders and traders)। (७) सामाजिक आधार पर श्रेणीबद्ध शिकारी, कृषक तथा कारीगर समूह (Socially graded herdsmen with hunting, agricultural and artisan population)।

डा० दुबे (Dubey) के अनुसार भोजन प्राप्त करने अथवा उत्पन्न करने के ढगों के आधार पर आदि संस्कृतियों के आर्थिक संगठन को चार मुख्य भागों या स्तरों मे बाँटा जा सकता है—(१) संकलन-आखेटक स्तर—इस स्तर को दो प्रमुख उपभागों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम उपभाग मे सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद संकलित खाद्य का कोई भी भाग विनिमय के लिये शेष नहीं रहता। दूसरे उपभाग मे संकलन की मात्रा इतनी रहती है कि उसका एक अंश सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी विनिमय के लिये शेष रह जाता है। (२) पशुपालन-स्तर। (३) कृषि-स्तर—इस स्तर के अन्तर्गत दो प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ सम्मिलित है—एक तो फलोद्यान-आश्रित अर्थ-व्यवस्था और दूसरे कृषि-आश्रित अर्थ-व्यवस्था। कृषि-स्तर की अर्थ-व्यवस्थाओं को भी दो प्रमुख उपभागों मे विभाजित किया जा सकता है—सरल कृषि-व्यवस्था और विकसित कृषि-व्यवस्था।

आदिम समाजों मे अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता
(Economic Mechanism in Primitive Societies)

किसी भी समाज मे अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता के तीन प्रमुख आधार हैं—उत्पादन, वितरण तथा उपभोग। और यदि उस समाज मे उत्पादन की मात्रा इतनी है कि उसका कुछ भाग सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी शेष रह जाता है तो एक अन्य आधार—विनिमय और जुड़ जाता है। साथ ही, प्रत्येक समाज मे आर्थिक क्रियाओं को करने के लिये किसी न किसी आधार पर श्रम-विभाजन भी हुआ करता है। किसी भी अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता की विवेचना इन्हीं आधारों पर करनी चाहिये। इस क्रियाशीलता का प्रमुख उद्देश्य समाज के सदस्यों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना और उसके द्वारा शारीरिक अस्तित्व को बनाये रखना व मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये द्वार खोलना है। इस दृष्टिकोण से अर्थ-व्यवस्था का वास्तविक उद्देश्य केवल वस्तुओं का उत्पादन और उन्हे उपभोग के लिये उपलब्ध करना ही नहीं, वरन् उससे कहीं अधिक है। इसीलिये आर्थिक क्रियाओं मे भाग लेने वाले समाज के सदस्य एक-दूसरे के साथ आर्थिक बन्धन मे बँध जाते हैं और समुदाय के प्रति उनके कितने ही उत्तरदायित्व स्वतः ही स्पष्ट हो जाते हैं। यह बात आदिम समाजों के विषय मे

और भी सच है। इसे ध्यान मे रखते हुए अब हम आदिम समाजो मे अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता के उपरोक्त आधारो की विवेचना सक्षेप मे करेंगे —

श्रम-विभाजन
(The Division of Labour)

आर्थिक ही नही वरन् सामाजिक जीवन मे भी श्रम-विभाजन प्रत्येक समाज मे पाया जाता है। शिकार करने वाले आदिम समाजो मे यह श्रम-विभाजन स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित होता है। इन समाजो मे स्त्रियां तथा बच्चे घर पर ही रहते हैं। स्त्रियो के दल आस-पास के जगलो से फल, मूल, कन्द, शाक-पात, शहद आदि एकत्रित करते हैं। साथ ही, बच्चो का पालन-पोषण या देख-रेख करने का काम भी उनपर ही होता है। इन सब दायित्वो से पूर्णतया विमुक्त पुरुष शिकार करने तथा मछली मारने के लिये दूर जगलो मे चले जाते है। एस्कीमो, अण्डमानी तथा अरुण्टा जनजातीय समाजो मे ठीक ऐसा ही होता है। चूंकि शिकार के कार्य मे अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है, इस कारण यह काम स्त्रियो को नही दिया जाता। इसीलिए पुरुष बडे-बडे पशुओ का शिकार करते है और स्त्रियाँ घर की रखवाली करने, चमडे से पोशाक बनाने, तथा फल-मूल, शाक-पात आदि को इकट्ठा करने का काम करती है। शिकार के लिये आवश्यक फन्दा (trap), जाल आदि को स्त्रियां भी बनाती है, परन्तु इनको आर्थिक उत्पादन कार्यो मे व्यवहार करने का भार पुरुषो पर ही पडता है। इस साधारण नियम का अपवाद उत्तरी ओजिबवा (Northern Ojibwa) लोगो मे देखने को मिलता है, जहां कि पुरुषो की भाँति कुछ स्त्रियाँ भी शिकार करती है, यहाँ तक कि पुरुषो के साथ युद्ध मे भी जाती हैं।

पशुपालक तथा कृषि करने वाले आदिम समाजो मे स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर श्रम-विभाजन का कोई सार्वभौम प्रतिमान (universal pattern) देखने को नही मिलता। यद्यपि सामान्य रूप से स्त्रियो को वे काम करने को नही दिये जाते है जिसमे कि अधिक शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता होती है, फिर भी इसे एक मात्र नियम मान लेना उचित न होगा। चुकची (Chukchee) जनजाति मे स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा कही अधिक परिश्रम के कार्य करती हैं। पशुपालक टोडा जनजाति मे स्त्रियो को भैंस तथा उनके दूध से सम्बन्धित किसी भी काम से बहुत दूर रखा जाता है क्योकि इन कार्यो के लिये स्त्रियो को वे लोग अपवित्र मानते है। कृषि करने वाली इफूगाओ (Ifugao) जनजाति मे पुरुष फसल बोने तथा काटने का काम और स्त्रियाँ जोतने तथा उखाडने का काम करती है। ट्रोब्रियड (Trobriand) समाज मे सम्पूर्ण कृषि-कार्य के प्रत्येक स्तर पर स्त्री और पुरुष दोनो ही साथ-साथ मिलकर काम करते हैं। कुइची इण्डियनो मे पत्नी अपने पति के साथ रोज खेत को जाती तो है पर खेत का सब काम अपने पति पर ही छोडकर खुद आस-पास की एक झाडी मे दिन भर बैठे-बैठे बुनने का काम करती रहती है। भारतीय जनजातियो मे खेत जोतने का काम केवल पुरुष ही करते हैं, जब कि स्त्रियाँ फसल बोने तथा काटने के काम मे मदद करती हैं या कही-कही स्वय ही करती हैं।

आदिम समाजो मे श्रम-विभाजन के आधार पर ही स्त्री-पुरुष के पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य भी निश्चित हो सकते है। उदाहरणार्थ, जूनी (Zuni) जनजाति मे दिन भर काम करने के बाद जब पति घर को लौटता है तो पत्नी उस समय जो कुछ भी काम करती होगी उसे छोडकर पति का स्वागत करने दरवाजे तक दौड जाती है। जो कुछ भी पति साथ लाता है उसे वह पति के हाथो से लेकर घर के अन्दर ले जाती है। तब वह पति के खाने-पीने की व्यवस्था करती है। घर स्त्री का ही होता है और उसमे वह पति का एक अतिथि के रूप मे स्वागत करती है। इसके बदले मे पति खेत से अनाज आदि साथ लाता है, परन्तु ये चीजे जैसे ही घर की देहरी पार करके घर के अन्दर आ जाती हैं वैसे ही वे स्त्री की सम्पत्ति हो जाती हैं। ये सभी विवाह से सम्बन्धित आर्थिक कर्त्तव्यो तथा अधिकारो की अभिव्यक्ति (expression) है और इसीलिये इनका पालन अनिवार्य है।[10]

जो जनजातियाँ दस्तकारी का काम करती है उनमे भी स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर कोई स्पष्ट श्रम-विभाजन नही पाया जाता है। पुरुषो की भाँति स्त्रियाँ भी टोकरी बनाने, सूत कातने तथा बुनने, रस्सी, चटाई आदि बनाने, बेंत का काम करती है परन्तु बढईगीरी अथवा लोहार का काम स्त्रियाँ प्राय नही करती हैं।

औद्योगीकरण का प्रभाव आदिम समाजो के श्रम-विभाजन पर भी पडा है। उदाहरणार्थ, भारत के उन जनजातीय क्षेत्रो मे जहाँ आस-पास उद्योगो का विकास हुआ है, पुरुष लोग लोहे के कारखानो, कोयले की खानो तथा चाय-बगीचो मे काम करते है जब कि जनजातीय स्त्रियाँ अभ्रक तथा कोयले की खानो मे और चाय बगीचो मे काफी सख्या मे काम करती हैं।

उत्पादन
(Production)

आदिम समाजो मे भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन या सकलन शिकार करके, मछली मार के, वन-पर्वत आदि से कन्द, मूल, फल, शाक पात, मधु आदि एकत्रित करके, पशुपालन करके तथा दस्तकारी का काम करके किया जाता है। वास्तव मे अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से शिकार करके मछली मार के तथा फल मूल को इकट्ठा करके भोजन आदि को प्राप्त करना सकलन मात्र है, उत्पादन नही। उसी प्रकार पशुपालन के द्वारा भोजन आदि प्राप्त करना सकलन और उत्पादन इन दोनो के बीच की अवस्था है। कृषि और शिल्प-उद्योग निश्चित रूप से उत्पादन की श्रेणी मे आते हैं। कृषि के द्वारा न केवल प्रत्यक्ष रूप से खाद्यान्न का उत्पादन किया जाता है, बल्कि शिल्प-उद्योग के लिये आवश्यक अनेक कच्चे-मालो का भी उत्पादन होता है। दस्तकारी आदि के द्वारा अन्य आवश्यक आर्थिक वस्तुओ का उत्पादन किया जाता है।

प्राय सभी आदिम समाजो मे उत्पादन कार्य केवल अपने तथा अपने परिवार की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति मात्र के लिये नही किया जाता है, प्रत्येक उत्पादन

---

10 Ruth Bunzel, *The Economic Organization of Primitive Peoples*, New York, 1938, p 370

कार्य के पीछे सम्पूर्ण समुदाय के प्रति अपने कुछ अनिवार्य कर्त्तव्यों को निभाने की भावना भी स्पष्ट होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि मुखिया तथा जादूगरों को साधारण जनता से आर्थिक उत्पादन कार्य मे शारीरिक श्रम (manual labour) कम करना पडता है, फिर भी इस कर्त्तव्य से वे पूर्णतया छुटकारा किसी भी समाज मे नही पाते हैं। उन्हे भी उत्पादन कार्य मे सक्रिय भाग लेना या शारीरिक श्रम करना ही पडता है। साथ ही, आर्थिक उत्पादन कार्यों के साथ विविध प्रकार के जादू-टोनो, धार्मिक कृत्यो, सस्कारो तथा परम्पराओ को जोड दिया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि इसके बिना उत्पादन कार्यों मे सफलता प्राप्त करना सम्भव नही है।

उत्पादन करने वाली या उत्पादन कार्य मे भाग लने वाली इकाइयाँ व्यक्ति, परिवार तथा समुदाय तीनो ही है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष की कादर, चेंचू, खरिया, कोरवा आदि जनजातियो मे परिवार के सब पुरुष-सदस्य एक साथ मिलकर शिकार करने या मछली मारने जाते हैं, और सब स्त्री-सदस्य वनो से फल-मूल आदि इकट्ठा करती हैं। इस प्रकार एक कादर या चेंचू या कोरवा परिवार अपने सदस्यो के लिये भोजन की व्यवस्था करता है और साथ ही अपने समाज की भोजन-सकलन अर्थ-व्यवस्था की एक उत्पादक इकाई के रूप मे कार्य करता है। एस्कीमो समाज मे भी परिस्थिति बहुत-कुछ ऐसी ही है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग शिकार करने या मछली मारने जाना पडता है, फिर भी प्रत्येक सदस्य उत्पादन या सकलन के विषय मे एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर निर्भर रहता है। बहुधा दो व्यक्ति एक साथ मिलकर शिकार करते हैं। केन्द्रीय अफ्रीका की लागो (Lango) जनजाति मे बडे-बडे पशुओ का शिकार करने के लिये बहुत से लोग एक-साथ जाते हैं। कभी-कभी तो पशुओ को घेरने और शिकार करने के लिये पुरुष, स्त्रियाँ तथा बच्चे सभी सहयोग देते हैं। माओरी (Maori) जनजाति मे सामुदायिक रूप मे उत्पादन या सकलन का सबसे उत्तम उदाहरण मिलता है। वहाँ सब लोग मिलकर भोजन को प्राप्त करते हैं और उसे मुखिया के पास जमा कर देते हैं जो कि उसे प्रत्येक परिवार की आवश्यकतानुसार बाँट देता है। जूनी जनजाति मे भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है।

वितरण
(Distribution)

एक अर्थ-व्यवस्था मे वितरण से तात्पर्य उस प्रतिफल (reward) से है जो कि उत्पादन प्रक्रिया मे योगदान करने वाली या हाथ बँटाने वाली प्रत्येक इकाई को प्राप्त होता है। यह प्रतिफल उत्पादित या सकलित वस्तु या भोजन (जैसे शिकार किया हुआ पशु या मछली या उगाया हुआ अनाज) का एक निश्चित हिस्सा, या सम्पूर्ण वस्तु (जब कि उस वस्तु का टुकडा नही किया जा सकता है जैसे नाव या शिकार करने का कोई औजार) के रूप मे मिल सकता है। आदिम समाजो मे वितरण के सिद्धान्तो का एक सामाजिक, न कि आर्थिक आधार होता है। इसी कारण प्रतिफल की मात्रा प्रथा और परम्परा के अनुसार निर्धारित होती है। बहुधा प्रतिफल की यह मात्रा उत्पादन कार्य मे सहयोग करने तथा कार्य करने वाले की स्थिति के अनुसार, न कि हमारे समाज की भाँति एक

व्यक्ति ने कितना काम किया है इसके अनुसार निश्चित होती है। उदाहरणार्थ, लागो जनजाति (केन्द्रीय अफ्रीका) मे जो भी पशु शिकार किया जाता है उसके कधे का हिस्सा शिकार करने वाले समूह के नेता या मुखिया को मिलता है। साथ ही, परम्परागत रूप मे यह भी निश्चित होता है कि उस पशु के शरीर का कौन-सा हिस्सा किसे प्राप्त होगा। कुछ जनजातियो म सामुदायिक खेत (communal field) मे समुदाय के सब सक्षम व्यक्ति जिसमे मुखिया भी शामिल है, काम करते है और जो कुछ भी अनाज उत्पन्न होता है उसे मुखिया की देख-रेख मे उसी के पास जमा कर दिया जाता है। फिर यह मुखिया जमा किये हुए अनाज को प्रत्येक परिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार बाँट देता है। इस वितरण मे यह बात बडी नही है कि किस परिवार के कितने सदस्यो ने काम किया है, पर बडी बात यह है कि उस परिवार को कितना अनाज आवश्यक है। उदाहरणार्थ, एक परिवार मे केवल एक व्यक्ति काम करने के योग्य है, परन्तु उस परिवार मे खाने वाले (बूढे, बच्चे आदि जो खेत मे काम नही कर सकते) पाँच व्यक्ति है, तो उस परिवार को इतना अनाज ही मिलेगा कि उन पाँचो व्यक्तियो का पेट भर सके। एक दूसरा परिवार चार व्यक्तियो का है जिसमे कि चारो लोग काम करने के योग्य है, तो उस परिवार को चार व्यक्तियो के खाने के लिए पर्याप्त अनाज ही प्राप्त होगा। यह परिवार यह नही कहेगा कि प्रथम परिवार को चूंकि एक आदमी के काम करने पर पाँच व्यक्तियो का अनाज मिला तो दूसरे परिवार को भी चार व्यक्तियो के काम करने पर उसी अनुपात से बीस व्यक्तियो के खाने के लिये पर्याप्त अनाज मिलना चाहिए।

परन्तु सभी समाजो मे वितरण का तरीका इतना सरल नही है। उदाहरणार्थ, फिलीपाइन्स की इफुगाओ (Ifugao) जनजाति मे खेती सामूहिक आधार पर नही, बल्कि पारिवारिक आधार पर होती है। परन्तु जो फसल उत्पन्न होती है वह अधिकतर परिवार के लिये अपर्याप्त होती है। ऐसी स्थिति मे साल के किसी भाग मे जब एक परिवार के पास कुछ भी अनाज खाने को नही रह जाता है तो वह पडोस के किसी दूसरे अधिक समृद्ध परिवार से अनाज उधार ले लेता है जो कि मय सूद के अगली फसल मे लौटा देना होता है। इस सूद की दर (जो कि अनाज के रूप मे ही चुकानी पडती है) बहुत ज्यादा होती है। इस प्रकार इस समाज मे वितरण असमान होने के कारण वर्ग-शोषण (class exploitation) का रास्ता खुल जाता है। परन्तु होपी (Hopi) जनजाति मे ऐसा नही होता है। वहाँ जब एक परिवार के पास भोजन नही रह जाता है तो उसे उसका सम्बन्धी परिवार उपहार (gift) के रूप मे खाने की चीजें दे देता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह भी आवश्यकता पडने पर दूसरो को खाद्य सामग्री का उपहार देगा। जूनी (Zuni) समाज मे फसल के मौसम मे खाद्य सामग्री खुले हाथो उदारतापूर्वक वितरित की जाती है, खूब भोज दिया जाता है तथा अतिथि-सत्कार की धूम पड जाती है। प्रत्येक परिवार का प्रत्येक दूसरे परिवार के प्रति एक आर्थिक कर्त्तव्य बोध होता है जिसके कारण किसी भी परिवार को भूखो मरने नही दिया जाता है।

उपभोग
(Consumption)

उपभोग का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उत्पादन तथा वितरण के साथ है। जिस प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन होगा और जिस मात्रा मे उन चीजो का समुदाय के सदस्यो मे वितरण होगा, उसी के अनुरूप वे सदस्य उन वस्तुओ का उपभोग भी करेंगे। आदिम समाजो के अध्ययन से पता चलता है कि आर्थिक स्थिति के अनुसार उतना नही जितना कि सामाजिक स्थिति के अनुसार एक व्यक्ति को अधिक उपभोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार इन समाजो मे उपभोग के आधार पर आर्थिक विभेद या विशिष्टता को सामाजिक विभेद या विशिष्टता से सम्बन्धित किया जा सकता है। चूंकि एक मुखिया (chief) की सामाजिक स्थिति ऊँची है, इस कारण कुछ विषयो मे उसे अधिक उपभोग करने का अधिकार है। वह साधारण लोगो से भिन्न तथा उत्तम पोशाको को पहनता है, अच्छे मकान मे रहता है तथा शिकार के एक विशिष्ट भाग को प्राप्त करता है। उसे भेंट या नजराने के तौर पर भी अनेक चीजें मिल जाती है। उसी प्रकार प्राय सभी आदिम समाजो मे कोई-न-कोई समूह, वर्ग या व्यक्ति किसी-न-किसी रूप मे कुछ-न-कुछ 'दृष्टि आकर्षक उपभोग' (conspicuous consumption) करता ही है, जिसके आधार पर उस व्यक्ति या वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा निर्धारित होती है। सामूहिक भोग (communal feast) के अवसर पर भी चीजो की बर्बादी तथा उपभोग दोनो ही अत्यधिक बढ जाते हैं। कुछ भी हो, आधुनिक समाजो की भांति आदिम समाजो मे विभिन्न वर्गों या व्यक्तियो के बीच उपभोग-प्रतिमान (consumption pattern) मे उतना अधिक अन्तर या विभेद नही होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजो मे उत्पादन की मात्रा भी अत्यधिक सीमित होती है। जिन समाजो मे जीवित रहना ही एक समस्या है, वहाँ उपभोग की मात्रा मे अधिक अन्तर हो भी कैसे सकता है? प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा कम होने के कारण आदिम समाजो मे लोगो का जीवन-निर्वाह का स्तर (standard of living) भी बहुत नीचा होता है।

उपहार और अतिथि-सत्कार
(Gifts and Hospitality)

आदिम समाजो की अर्थ-व्यवस्था मे वस्तुओ का आदान-प्रदान करने के तीन प्रमुख साधन उपहार, व्यापार और विनिमय हैं। इन समाजो मे उपहार का उद्देश्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक सम्बन्धो को अधिक मित्रतापूर्ण तथा आन्तरिक बनाने के अतिरिक्त अन्य परिवारो या समुदाय के प्रति अपने आर्थिक कर्त्तव्यो को निभाना भी होता है। आवश्यकता पडने पर एक होपी (Hopi) परिवार दूसरे परिवार को उपहार के रूप मे जो खाद्य सामग्री देता है, वह मूल रूप से इन परिवारो के बीच पारस्परिक आर्थिक कर्त्तव्य बोध के द्वारा ही प्रेरित होता है। वैसे उपहार देने की प्रथा सार्वभौम है और इसका आधार सामाजिक ही अधिक है। इसीलिये आदिम और आधुनिक दोनो ही प्रकार के समाजो मे जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के अवसरो पर उपहार देने का प्रचलन पाया जाता है। उपहार इसे देने और लेने वाले व्यक्तियो के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित

करता है और उनमे एक प्रकार का कर्त्तव्य-बोध जागृत करता है। आदिम समाजो मे विवाह के अवसर पर जो उपहार या वधू-मूल्य दिया जाता है उसके फलस्वरूप दोनो परिवारो के बीच कितने प्रकार के अधिकार तथा कर्त्तव्य पनपते हैं। इसका वर्णन हम पिछले एक अध्याय मे कर चुके है। उपहार देकर शादी की बात पक्की करने की प्रथा भी अनेक जनजातीय समाजो मे पायी जाती है। इसीलिये पश्चिमी अफ्रीका की इबो (Ibo) जनजाति मे लडकियो को यह मना कर दिया जाता है कि वे पुरुषो मे किसी भी प्रकार का उपहार या भेंट स्वीकार न करे क्योकि गवाहो के सामने इस प्रकार की भेंट को स्वीकार करना इस बात का द्योतक है कि उस पुरुष के साथ उस लडकी के विवाह के सम्बन्ध मे किसी भी पक्ष को कोई आपत्ति नही है।

मूलत सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित उपहार देने की प्रथा का आर्थिक पक्ष भी आदिम समाजो मे कम महत्त्वपूर्ण नही है। साथ ही, आदिम समाजो मे, आधुनिक समाजो की भाँति, यह नियम भी सार्वभौम नही है कि उपहार मे कुछ लेने मे समान अवसर पर उपहार देने वाले को बदले मे उपहार देना ही होगा। उदाहरणार्थ, जूनी (Zuni) जनजाति मे उपहार देना सदैव एक-तरफा होता है जिसे कि धन के पुनर्वितरण (redistribution) के एक निश्चित साधन के रूप मे स्वीकार किया जाता है और वह इस अर्थ मे कि जिसके पास धन (जिसमे खाद्य सामग्री, औजार, उपकरण आदि सब कुछ सम्मिलित हैं) नही है उसे यह निश्चित सामाजिक अधिकार है कि वह उस धन को उनसे प्राप्त करे जिनके पास वह अधिक मात्रा मे है। इस प्रकार जूनी जनजाति के लोग उपहार देने की प्रथा के माध्यम से असमान आर्थिक वितरण को अर्थात् समुदाय मे पायी जाने वाली आर्थिक असमानताओ को बहुत-कुछ सन्तुलित करने मे सफल होते है।

माओरी (Maori) जनजाति की तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था उपहार देने की प्रथा पर ही आधारित है। यह जनजाति शिकार करके, मछली पकड के तथा फल-मूल इकट्ठा करके जीवन-निर्वाह करती है। यह सभी काम सामूहिक आधार पर होता है। जो फल सबसे पहले मिलता है उसे मुखिया को उपहार देने के लिये अलग रख दिया जाता है। केवल इतना ही नही, जितनी भी मछलियाँ मारी जाती है और पक्षियो का शिकार किया जाता है, वह सब कुछ मुखिया को 'भेंट' कर दिया जाता है। उनमे से मुखिया प्रत्येक को उसकी आवश्यकता, पद तथा अधिकार के अनुसार बाँट देता है, पर इससे भी पहले अपने उपभोग के लिये, सामूहिक कार्यों के लिये तथा अन्य समूहो के मुखियाओ को उपहार देने के लिये एकत्रित सामग्री का अधिकतर भाग मुखिया अपने ही पास रख लेता है। साथ ही, एक मुखिया उपहार के रूप मे दूसरो से कुछ भी माग सकता है और लोगो को वह माग पूरी करनी होती है क्योकि यह विश्वास किया जाता है कि मुखिया कुछ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न होता है और उसे उसका मुँह-मागा उपहार न देने पर वह नाराज हो जायगा जिसका कि परिणाम बुरा ही होगा।

'पॉटलैच' (*Potlatch*)—उपहार देने का एक अनोखा तरीका अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की जनजातियो मे देखने को मिलता है जिसे कि 'पॉटलैच' (*potlatch*)

कहते है। पॉटलैच एक बहुत ही व्यय-साध्य (expensive) भोज का नाम है जिसका कि प्रमुख उद्देश्य अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाना है। इस भोज मे दूसरो को आमन्त्रित किया, खिलाया-पिलाया और उपहार इसलिये दिया जाता है कि दूसरे भी देख लें कि भोज देने वाले के पास कितना धन इकट्ठा हो गया है और उस धन को वह किस हद तक खर्च कर सकता है। एक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति को बहुत ऊँचा मानता है, परन्तु उसके मानने मात्र से ही उसकी स्थिति (status) ऊँची नही हो जायगी जब तक वह पॉटलैच नामक एक विराट भोज का आयोजन न करे और अन्य समूह के लोगो को उस भोज मे आमन्त्रित करके, खिला-पिलाकर और उपहार देकर यह प्रमाणित न करे कि वास्तव मे ही वह उस स्थिति के योग्य है। इसमे कोई सन्देह नही कि पॉटलैच के लिये धन को एकत्रित करना आवश्यक होता है, परन्तु इस एकत्रित धन का कोई भी महत्त्व जीवन-स्तर को उन्नत करने मे या विनिमय-कार्य मे या दूसरे मनुष्य पर शासन करने मे नही है। इस धन का केवल औपचारिक या सास्कृतिक (ceremonial) पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है और इस सास्कारिक पक्ष की अभिव्यक्ति (expression) ही पॉटलैच नामक सस्था है। दूसरे शब्दो मे, पॉटलैच वह सामाजिक व विधिवत् तरीका है जिससे एक व्यक्ति सार्वजनिक रूप मे या, जैसा कि वे लोग कहते हैं, डके की चोट पर एक सम्मानजनक पद या स्थिति को प्राप्त करता है। जिन लोगो मे यह सस्था पायी जाती है वे यह विश्वास करते हैं कि चुपके से किसी स्थिति को प्राप्त कर लेना अपमानजनक है।

सिमशियन जनजाति मे पॉटलैच को बहुत ही औपचारिक ढग से आयोजित किया जाता है। एक उदाहरण द्वारा इसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, एक व्यक्ति 'अ' एक गोत्र-समूह का मुखिया है और उस रूप मे उसे एक विशेष नाम से सब लोग पुकारते हैं। इस 'अ' व्यक्ति की मृत्यु के बाद इसका लडका या भतीजा 'ब' उस मुखिया-पद तथा उससे सम्बन्धित नाम को ग्रहण करना चाहता है। 'ब' उस पद और नाम को तब तक ग्रहण नही करेगा जब तक वह अपने पास इतना धन इकट्ठा न कर लेगा जिससे कि वह एक विराट भोज (पॉटलैच) का आयोजन कर सके। उस धन को एकत्र कर लेने मात्र से ही उसे वह पद और नाम नही मिल जाएगा जब तक वह उस भोज मे दूसरे लोगो को या दूसरे गोत्रो के मुखियाओ आदि को आमन्त्रित करके बुला नही लायेगा और उस अवसर पर उस एकत्रित किये हुए धन को मुक्त हस्त से खर्च या बर्बाद नही करेगा जिससे कि दूसरो के ऊपर उसका रौब जम जाय और लोग उसे उस पद व नाम का अधिकारी मान लें। इसीलिये 'ब' एक विराट भोज की व्यवस्था करेगा और आस-पास के गोत्र समूहो के मुखियाओ और उनके साथियो को निमन्त्रण देकर बुलायेगा। उनके आने पर उनका शानदार स्वागत किया जायगा और फिर उन्हे अच्छा मे अच्छा भोजन खिलाया जायगा तथा कुछ चीजें उनमे से प्रत्येक अतिथि को उपहार के रूप मे दी जाएँगी। तब 'ब' अतिथियो को धन्यवाद देते हुए यह घोषणा करेगा कि वह अपने पिता या चाचा के पद और नाम को ग्रहण कर रहा है। इस घोषणा को उस भोज मे उपस्थित मुख्य अतिथि स्वीकार कर लेते हैं और फिर बारी-बारी से और सब मुखिया लोग भी 'ब' को उस पद

और नाम के अधिकारी के रूप मे मान लेते हैं। फिर नाच-गाने के साथ उस भोजन का अन्त होता है।[11]

अत स्पष्ट है कि अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की मिमशियन जनजातियो मे उपरोक्त पॉटलैच प्रथा मे सम्पूर्ण वातावरण औपचारिक, सास्कारिक और आनन्ददायक या आमोद-प्रमोदमय होता है। परन्तु यह बात क्वाकिउल इण्डियनो (Kwakiutl Indians) के पॉटलैच के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती है क्योकि उनमे यह सस्था घोर प्रतिद्वन्द्विता तथा तनाव की भावना से भरपूर होती है। वास्तव मे इस जनजाति के लिये पॉटलैच 'सम्पत्ति की सहायता से लडने' की एक विधि मात्र है जिसके कारण यह सस्था प्रारम्भ से अन्त तक एक-दूसरे को नीचा दिखाने की सघर्षपूर्ण मनोवृत्ति से भरपूर रहती है।[12] इस जनजाति मे यह भावना प्रबल है कि सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान अपने पास धन को इकट्ठा करके रखने से नही, बल्कि उसे दूसरो को दिखाकर, बर्बाद कर देने से प्राप्त होती है। इसीलिये अगर किसी को सामाजिक क्षेत्र मे नीचा दिखाना है तो उसका सबसे सरल उपाय यही पॉटलैच है। 'अ' महाशय वर्तमान मे अपने समाज मे सबसे ऊँची स्थिति पर हैं, अगर 'ब' महाशय उन्हे नीचा दिखाकर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वह एक विराट भोज का आयोजन करके 'अ' को उनके साथियो के साथ निमन्त्रण देकर बुलाएँगे और उस अवसर पर अतिथियो मे से प्रत्येक को खूब खिलाएंगे-पिलाएँगे तथा उपहार देंगे। इस अवसर पर अधिकतर धन का न तो उपभोग होता है और न ही विनिमय, अपितु केवल बर्बादी। उदाहरण के लिये इस अवसर पर अतिथियो के सम्मान मे अत्यधिक मूल्यवान सील तेल (seal oil) प्रचुर मात्रा मे जला दिया जाता है, अनेक पशुओ को काटकर फेक दिया जाता है। परन्तु मामला यही पर समाप्त नही हो जाता है। दिखावा, व्यय और बर्बादी का कटु चक्र इस प्रथम भोज के बाद भी चलता रहता है क्योकि भोज मे सम्मिलित होने और उपहार स्वीकार करने के पश्चात् 'अ' महाशय के लिये अब यह अनिवार्य हो जाता है कि वह इसके बदले मे या प्रतिउत्तर मे 'ब' महाशय से भी बढ-चढकर एक दूसरे भोजन का आयोजन करे और 'ब' महाशय ने जितना खर्च किया है, उपहार दिया है, और चीजो को बर्बाद किया है उससे दुगना खर्च करे, उपहार दें तथा बर्बाद करे। अगर 'अ' महाशय एक निश्चित समय के अन्दर ऐसा करने मे असमर्थ होते हैं तो उनकी सामाजिक स्थिति या प्रतिष्ठा घटती चली जाती है और 'ब' महाशय की स्थिति या प्रतिष्ठा उसी अनुपात मे बढती चली जाती है। परन्तु अगर 'अ' महाशय धन को खर्च करने या बर्बाद करने के मामले मे 'ब' महाशय को मुँह-तोड जवाब दे देते हैं तो 'अ' की सामाजिक प्रतिष्ठा और बढ जाती है और 'ब' की उसी अनुपात से घट जाती है। परन्तु 'अ' या 'ब' महाशय एक बार पराजित होकर चुप नही हो जाते हैं बल्कि अपने विपक्ष दल को मुँह-तोड जवाब देने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील बने रहते हैं और इस

11 See Y E Garfield, "Tsimshian Clan and Society", *University of Washington Publications in Anthropology*, Vol 7, No 3, 1939 And also P Drucker, "Rank, Wealth, and Kinship in Northwest Coast Society", Readings in Anthropology, McGraw-Hill Book Co, New York, 1960

12 R F Benedict, *Patterns of Culture*, New York, 1937, pp 173-222

उद्देश्य मे धन को अधिकाधिक एकत्र करने के फिराक मे रहते हैं और सक्षम होते ही भोज का आयोजन करके विपक्षी को नीचा दिखाते हैं। दूसरा पक्ष हारकर फिर प्रथम पक्ष को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। हर बार व्यय और बर्बादी की मात्रा बढती ही चली जाती है। इसी प्रकार पॉटलैच का कुचक्र चलता ही रहता है।

इस प्रथा का विस्तार विवाह-सस्था तक हो गया है। कुछ ऐसे सम्मानसूचक नाम है जो कि स्त्री-वशजो को प्राप्त होते हैं। अगर कोई पुरुष इसे अपने लिये ग्रहण करना चाहे तो इसका सरल उपाय उस स्त्री से विवाह कर लेना है जो कि उस सम्मान-सूचक नाम की अधिकारिणी है। इसलिये एक पुरुष अपने विवाह मे भावी ससुर को कम्बलो का जो उपहार देता है वह वधू-मूल्य नही बल्कि उस सम्मानित पद और नाम का मूल्य है जिसकी कि उसकी पत्नी अधिकारिणी है। ससुर द्वारा उस उपहार को ग्रहण कर लेने पर विवाह हो जाता है और उस व्यक्ति का अधिकार उस स्त्री पर तथा उसके नाम पर हो जाता है। परन्तु जैसे ही उस नव-दम्पत्ति के बच्चे उत्पन्न हो जाते है, वैसे ही ससुर जल्द से जल्द अपने दामाद को जितना उपहार उसे अपने दामाद से मिला था उससे कही अधिक उपहार भेंट करता है। विवाह का यह ऋण चुका देते ही, विवाह-बन्धन भी टूट जाता है और स्त्री को यह पूर्ण अधिकार और स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है कि वह अपने पिता के घर लौट जाय, यदि इसी बीच उसका पति अपने ससुर को एक बार फिर उपहार न भेज दे। प्राय पति अपने ससुर को शीघ्रता से एक दूसरा उपहार भेजकर पत्नी और उसके पद और नाम पर अपना अधिकार बनाये रखता है और ससुर भी जल्द से जल्द उस उपहार का बदला चुकाकर अपनी लडकी को वैवाहिक ऋण से विमुक्त करने का प्रयत्न करता है। और इसी प्रकार यह चक्र चलता रहता है। यह माना है कि उस व्यक्ति ने अपने ससुर को जितनी बार उपहार दिया है उतनी बार उस व्यक्ति का विवाह उस स्त्री से हुआ है और प्रत्येक विवाह के पश्चात् उस स्त्री की सामाजिक स्थिति व प्रतिष्ठा बढ जाती है।

मेलानेशिया के कुछ भागो मे भी पॉटलैच-प्रथा पायी जाती है परन्तु उसका रूप उतना कटु नही है जितना कि क्वाकिउल लोगो मे।

व्यापार और विनिमय
(Trade and Exchange)

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आदिम समाजो की अर्थ-व्यवस्था मे वस्तुओ के आदान-प्रदान करने के तीन प्रमुख तरीके उपहार, व्यापार और विनिमय हैं। उपहार के विषय मे हम ऊपर विवेचना कर चुके हैं। अब हम अन्य दो साधनो, व्यापार और विनिमय, के विषय मे विवेचना करेंगे।

उपहार और व्यापार दोनो ही विनिमय के दो महत्त्वपूर्ण साधन या तरीके है। परन्तु इन दो तरीको मे, जैसा कि श्री हॉबल (Hoebel) ने लिखा है, महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि उपहार के माध्यम से विनिमय सामाजिक सम्बन्धो पर अधिक बल देता है जब कि व्यापार के द्वारा विनिमय का प्रमुख उद्देश्य वस्तुओ का वितरण है, यद्यपि व्यापार के माध्यम से भी सामाजिक सम्बन्ध पनपता है क्योकि व्यापार सामाजिक अन्त क्रिया

पर ही आधारित होता है। उपहार के माध्यम से विनिमय भी वस्तुओ को वितरित करता है परन्तु इसका प्रमुख सम्बन्ध व्यक्तिगत सम्बन्ध से होता है।[13]

आदिम समाज आर्थिक क्षेत्र मे अत्यधिक अविकसित या पिछडा हुआ होता है। इन समाजो मे उत्पादन की मात्रा भी प्राय इतनी ही होती है कि समुदाय की आवश्यकताओ को पूरा करने के पश्चात् विनिमय या व्यापार के लिये प्राय कुछ भी शेप नही रह जाता है। साथ ही, आदिम लोगो की आर्थिक आवश्यकताएँ भी कुछ ही चीजो तक सीमित रहती हैं जिनमे से प्राय सभी चीजो को वे स्वय ही उत्पन्न कर लेते हैं। इसलिये भी व्यापार के माध्यम से विविध वस्तुओ को प्राप्त करने की विशेष आवश्यकता आदिम लोग अनुभव नही करते हैं। इसके अतिरिक्त यातायात (transport) के साधनो की अत्यधिक कमी, घने जगल, दुर्गम पहाडी और रेगिस्तानी प्रदेश जहाँ कि आदिम समाज वसे होते हैं, अन्तर्जनजातीय व्यापार (intertribal trade) के विकास के पथ पर भारी रुकावटें हैं। इसीलिये आदिम समाजो मे अधिकतर विनिमय आपसी अदला-बदली (barter) के द्वारा ही कर लिया जाता है। यह बहुत ही सरल व्यवस्था है और अपनी एक चीज दूसरे को देकर उससे उसकी एक चीज ले लेना ही इस विनिमय-व्यवस्था (exchange system) का आदि और अन्त है। चूँकि इस प्रकार से अदला-बदली द्वारा विनिमय होने वाली वस्तुओ की सख्या व मात्रा दोनो ही बहुत कम होती है, इस कारण न तो नियमित बाजारो की और न ही विस्तृत व्यापार-प्रणालियो (trading procedures) की आवश्यकता होती है। बहुधा व्यापार-सम्बन्धी सम्पर्क दो व्यक्तियो के बीच होता है जो कि कभी-कभी अनियमित रूप से अपनी-अपनी वस्तुओ की अदला-बदली करने के उद्देश्य से मिलते रहते हैं। किन्हीं-किन्ही जनजातियो मे खुले बाजार (open market) मे वस्तुओ का विनिमय अदला-बदली या अन्य उपाय से होता है। इन बाजारो मे जनजाति के लोग अपना-अपना सामान लेकर पहुँच जाते हैं और फिर चीजो का आदान-प्रदान कर लेते हैं।

मूक अदला-बदली (Dumb barter)— विनिमय के अनेक रोचक रूप हमे आदिम समाजो मे देखने को मिलते है। इनमे से एक रूप 'मूक अदला-बदली प्रथा' (dumb barter system) है।[14] सभ्य समाज के हम सब लोगो को यह जानकर अचम्भा हो सकता है कि आदि मानव अपने शत्रु-समूहो (enemy groups) से भी व्यापार या विनिमय करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाज के लोग यह अनुभव करते है कि दुश्मनी को आर्थिक मामलो से दूर रखना ही अधिक लाभप्रद है। मूक अदला-बदली प्रथा का यही आधार है। मलाया की पिग्मी सेमग (The Pygmy Semang) जनजाति जगलो से प्राप्त होने वाली अनेक वस्तुओ को अपने शत्रु सकाई (Sakai) जनजाति को देकर उसके बदले मे अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त करती है। इस विनिमय-व्यवस्था को 'मूक अदला-बदली प्रथा' इसलिये कहते हैं कि इस प्रथा के अन्तर्गत न तो वस्तुओ का मोल-भाव किया जाता है और न ही अदला-

---

13 E A Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co, New York, 1958, p 452

14 *Ibid*, pp 453-454

बदली करते समय कोई भी पक्ष (party) एक-दूसरे को देखता है। सेमग लोग अपनी वस्तुओ को एक निर्धारित स्थान पर अपनी आवश्यकताओ के सकेत के साथ छोडकर या रखकर चले जाते है। जब सकाई लोग उन चीजो को वहाँ देखते है तो वे उनमे से उन चीजो को ले लेते हैं जिनकी कि उन्हे आवश्यकता है और उसके बदले उन चीजो को रख देते हैं जिनकी कि आवश्यकता सेमग लोगो को है। कुछ समय के बाद सेमग लोग वहाँ फिर आते हैं और उन चीजो को अपने साथ ले जाते हैं।

कार्थागिनीयन (Carthaginian) सौदागर लोग भी अफ्रीका के उत्तर-पश्चिम तट के आदिवासियो के साथ मूक अदला-बदली प्रथा के द्वारा ही व्यापार करते हैं। ये सौदागर अपनी वस्तुओ को समुद्र के किनारे रखकर अपने जहाजो मे लौट जाते हैं। पर जाने से पहले वहाँ आग जलाकर धुँआ उडा देते हैं ताकि वहाँ के आदिवासी लोग यह जान जाएँ कि समुद्र के किनारे सामान रक्खा हुआ है। उस धुँए को देखकर वहाँ के निवासी वहाँ आते हैं और उन चीजो को उठाकर ले जाते हैं और उसके बदले मे सोना (gold) रख देते हैं। उनके चले जाने पर सौदागर लोग फिर उस स्थान पर आते हैं और अगर सोने की उस मात्रा से जो कि आदिवासी लोग छोड गये हैं वे सन्तुष्ट है तो उसे लेकर वे लौट जाते हैं। परन्तु यदि सोने की मात्रा कम है तो वे अपने जहाज मे लौटकर और सोना पाने के लिये इन्तजार करते हैं। कुछ देर बाद आदिवासी लोग फिर आकर कुछ और सोना रखकर चले जाते हैं क्योकि वे जानते हैं कि जब तक सौदागरो को उचित मात्रा मे सोना नही मिल जायगा तब तक वे वहाँ से जाएँगे नही।[15] मूक अदला-बदली की प्रथा आज भी अफ्रीका के कुछ भागो मे पायी जाती है। इसका प्रचलन लका की वेड्डा (Vedda) जनजाति मे भी है। ये लोग तो रात्रि के अन्धकार मे अपनी चीजो को एक स्थान पर रखकर चले जाते हैं और फिर दूसरी रात को आकर उसी स्थान से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ले जाते हैं। इन सबको 'नीरव व्यापार' (silent trade) भी कहते हैं।

परन्तु ऐसे भी अनेक आदिम समाज हैं जहाँ कि नियमित रूप से विनिमय तथा व्यापार होता है। उदाहरणार्थ, होपी जनजाति खेती के सामान तथा सूती कपडा आदि का थोडा-बहुत व्यापार अपने पास-पडोस की जनजातियो के साथ करती है। उसी प्रकार आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति के लोग अपने से प्राय दो सौ मील दूर कुइन्सलैण्ड (Queensland) मे निवास करने वाली जनजातियो के साथ व्यापार करते हैं।[16]

कुछ आदिम समाजो मे ऐसा भी देखा जाता है कि वहाँ वस्तुओ के उत्पादन के विषय मे विशेषीकरण (specialization) है। एक जनजाति एक विशिष्ट चीज का उत्पादन विशेष रूप से करती है और इस प्रकार उस वस्तु का इतनी मात्रा मे उत्पादन कर लेती है कि सामुदायिक आवश्यकता की पूर्ति के बाद भी कुछ भाग विनिमय के लिये शेष रह जाता है। उत्तर-पश्चिम कैलिफोर्निया की तटीय इण्डियन जनजातियो से अलास्का तक की कतिपय जनजातियो मे इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मिलती है। न्यू मैक्सिको

---

15 W D Hambly, "Source Book for African Anthropology", *Field Museum of Natural History*, Anthropological Series, Vol 26, Part 2, p 650

16 Beals and Hoijer, *op cit*, p 424

की सिया इण्डियन स्त्रियाँ बहुत सुन्दर मिट्टी के बर्तन बनाती हैं परन्तु इनमे दस मील दूर पर रहने वाली पिब्लो (Pueblo) जनजाति यह काम बिल्कुल नही करती है। उसी प्रकार कुछ और इण्डियन जनजातियाँ पशुओ की खाल और मांस का व्यापार अपने पडौस की जनजातियो के साथ करती हैं।

जिन आदिम समाजो मे अदला-बदली की प्रथा प्रचलित नही है, वहाँ व्यापार क्रय-विक्रय के द्वारा भी किया जाता है। उदाहरणार्थ, नाइगेरिया (Nigeria) मे जनजातीय समाजो मे क्रय-विक्रय के लिये नियमित बाजार लगता है जहाँ कि लोग अनेक प्रकार की चीजो को बेचने और खरीदने के लिये आते हैं। अफ्रीका की कुछ जनजातियों मे भी क्रय-विक्रय के द्वारा वस्तुओ का विनिमय या व्यापार होता है। विनिमय के माध्यम के रूप मे मुद्राओ का कम प्रचलन जनजातीय समाजो मे है। कुछ आदिम समाजो मे पशु, तो कुछ मे शख और कौडियाँ और कुछ मे चटाइयाँ आदि विनिमय के माध्यम के रूप मे काम मे लाये जाते है। भारत मे उत्तरी-पूर्वी सीमान्त प्रदेश मे तिब्बती घण्टियो के माध्यम से व्यापार होता है। जो आदिम समाज सभ्य समाजो के घनिष्ठ सम्पर्क मे आ गये हैं, उनमे मुद्राओ का प्रचार और विनिमय के माध्यम के रूप मे उनका प्रचलन दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है।

'कूला' (Kula)—आदिम समाजो मे व्यापार करने के जितने भी तरीके प्रचलित हैं उनमे सबसे विस्तृत, जटिल तथा औपचारिक प्रथा या तरीका उत्तर-पश्चिमी मेलानेशिया का 'कूला' व्यापार-प्रथा है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने मेलानेशिया की ट्रोबियंड द्वीपो मे निवास करने वाली जनजातियो मे प्रचलित इस कूला प्रथा का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह आज भी अपूर्व माना जाता है।[17] आपके अनुसार कूला को केवल एक व्यापार-प्रथा या आर्थिक क्रिया मान लेना उचित न होगा क्योंकि इस प्रथा के प्रत्येक पग पर प्रत्येक क्रिया परम्परागत नियमो तथा सस्कारो द्वारा नियन्त्रित होती है और इसके साथ अनेक प्रकार के जादू-टोने व धार्मिक कृत्य और सार्वजनिक उत्सव जुडे हुए होते हैं। इसलिये कूला को व्यापार-क्रिया, जादू-टोना, धार्मिक व सास्कारिक आदान-प्रदान, यात्रा और मनोरजन का एक सकुल (complex) मानना ही अधिक उचित होगा।

कूला व्यापार-प्रथा का आधार म्वाली (*mwali*) नामक सफेद सीप के कगन (arm bands) और सौलवा (*soulava*) नामक लाल सीप का बना हार (necklace) होता है। ये दोनो चीजे एक जनजातीय समूह से दूसरे को एक विशेष दिशा-क्रम से हस्तान्तरित होती रहती हैं। सौलवा सदैव घडी का कांटा जिस दिशा-क्रम से घूमता है, उसी दिशा क्रम (clockwise direction) से एक जनजातीय समूह से दूसरे को हस्तान्तरित होता है, जब कि म्वाली का दिशा-क्रम ठीक इसका उल्टा (counter clockwise) होता है। उदाहरणार्थ, अगर सौलवा 'अ' से 'ब', 'ब' से 'स', 'स' से 'द', और 'द' से फिर 'अ' जनजातीय समूह मे हस्तान्तरित होता रहेगा, तो म्वाली का हस्तान्तरित होने का दिशा-क्रम ठीक इसका उल्टा होगा अर्थात् 'अ' से 'द', 'द' से 'स', 'स' से 'ब' और 'ब' से फिर

17 See B Malinowski, *Argonauts of the Western Pacific*, London, 1922

'अ' जनजातीय समूह मे हस्तान्तरित होगा। जिन जनजातीय समूहो मे ये दोनो चीजे चक्कर काटती रहती है उनमे 'कूला' सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और केवल कूला-सम्बन्ध से सम्बन्धित समूहो मे ही व्यापार होता है। 'अ' से 'द' समूह को जैसे ही म्वाली (कगन) प्राप्त होता है, तो 'द' समूह जल्द से जल्द उसके बदले मे 'अ' समूह को सौलवा (हार) देता है और इसी क्रम से परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता है। कोई भी व्यक्ति या समूह उसे अधिक समय तक अपने पास रोककर नही रखता, बल्कि जल्द से जल्द उसे दूसरे को हस्तान्तरित कर देता है ताकि व्यापार-सम्बन्ध की निरन्तरता बनी रहे। यह सम्बन्ध केवल एक बार के लेन-देन से ही समाप्त नही हो जाता है क्योकि नियम यह है कि जिसके साथ एक बार कूला-सम्बन्ध स्थापित हुआ है उसके साथ वह सम्बन्ध सदैव के लिये बना रहेगा। (once in the Kula, always in the Kula)। इसलिये कूला का व्यापार-सम्बन्ध एक स्थायी और सारे जीवन भर के लिये होता है।

इस कूला व्यापार-प्रथा के अन्तर्गत एकाधिक जनजातीय समूहो मे हार और कगन का लेन-देन ही सास्कारिक (coremonial) दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण तथा आधार-भूत है, परन्तु व्यावहारिक रूप मे इन दोनो चीजो के साथ-साथ जनजातीय लोग अन्य अनेक आवश्यक वस्तुओ का व्यापार आपस मे करते रहते है। परन्तु यह व्यापार केवल कूला-सम्बन्ध से सम्बन्धित समूहो मे ही होता है और कोई भी पक्ष कूला के सास्कारिक और सामाजिक पक्ष को और उससे सम्बन्धित नियमो को कभी भी भूल नही जाता है।

कूला व्यापार-चक्र मे हस्तान्तरित होने वाले हार और कगन का अपना एक महत्त्व और इतिहास होता है। ये चीजे न तो उपयोगी होती हैं और न ही कोई आभूषण। इनका कोई मूल्य नही होता है जिससे कि दूसरी चीजो का मूल्य आँका जाता हो और न ही इन चीजो को कभी भी किसी भी मूल्य पर बेचा जाता या उसके बदले मे कोई आवश्यक चीज को लिया जाता है। वे तो केवल व्यापार-सम्बन्ध के प्रतीक हैं और इसीलिये सम्मान के द्योतक हैं। एक गाँव या समुदाय मे इस हार या कगन के होने से उस गाँव या समुदाय का महत्त्व और प्रतिष्ठा बहुत बढ जाती है। इसलिये इसे प्राप्त करना गौरव की बात है। इसके साथ आर्थिक उपयोगिता या मुनाफाखोरी के विचार को जोडना भी अन्याय समझा जाता है।

कूला का उद्देश्य ऐसा एक सास्कारिक गोष्ठी का निर्माण करना है जिससे सदस्य-समूह मे परस्पर आर्थिक आदान-प्रदान या व्यापार एक परम्परागत रीति से तथा शाति-पूर्ण व सुव्यवस्थित ढग से चलता रहे। इससे लडाकू जनजातियो के बीच आर्थिक लेन-देन के मामले मे सघर्ष होने की सम्भावनाएं बहुत कम हो जाती हैं। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने लिखा है कि कूला एक ऐसी प्रथा है जो कि आदिवासियो के दृष्टिकोण से उन्हे गौरव तथा प्रतिष्ठा प्रदान करती है और इसीलिये इसके प्रति उनका मनोभाव सम्मानसूचक ही होता है। हार या कगन के लेन-देन के समय आदिवासियो के व्यवहार से यह स्पष्टत पता चलता है कि उनके लिये यह न केवल अमूल्य है वरन् सास्कारिक या धार्मिक महत्त्व का भी है, इस कारण इसके साथ अनेक प्रकार की उद्वेगात्मक प्रतिक्रियाएँ

(emotional reactions) जुडी होती है।[18]

अत स्पष्ट है कि एक वस्तु के रूप मे कूला व्यापार-चक्र मे हस्तान्तरित होने वाले हार और कगन का कोई भी महत्त्व नही है, इसका तो महत्त्व केवल इसलिये है कि इसके साथ एक इतिहास, व्यापार, प्रतिष्ठा, धर्म तथा जादू के तत्त्व जुडे रहते है। इसी कारण इन दो चीजो के सम्बन्ध मे सबसे अनोखी बात यह है कि अपने समूह मे एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा या सम्मान इस बात पर निर्भर नही है कि यह हार या कगन उसके पास है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि ये चीजे कभी उसके पास थी। इसलिये कोई भी व्यक्ति इन चीजो को अधिक दिन तक अपने पास नही रखता है। किसी व्यक्ति के द्वारा इन चीजो को निश्चित समय से अधिक अपने पास रोक रखने पर लोगो को पहले आश्चर्य होता है और वे उस व्यक्ति की समालोचना करते हैं। इसपर भी कोई फल न होने पर उसे चेतावनी दी जाती है और उसके इस कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। बहुत अधिक समय तक हार या कगन को रोक रखने पर उस व्यक्ति को कूला-गोष्ठी से निकाल दिया जाता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति
(Property in Primitive Economies)

प्रत्येक प्रकार की ही अर्थ-व्यवस्था मे, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, सम्पत्ति की धारणा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी विविध आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये जिस किसी भी चीज की जरूरत मानव को होती है, उसीको वह 'सम्पत्ति' के अन्तर्गत ले आता है या मान लेता है। परन्तु आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति की धारणा उस रूप मे नही है जिस रूप मे हम लोग अपने आधुनिक समाज मे रहते हुए उसे जानते हैं। श्री लोइ (Lowie) ने उचित ही लिखा है कि सम्पत्ति की धारणा प्रौद्योगिक विकास तथा नैतिक विचारो मे परिवर्तन के साथ-साथ निरन्तर बदलती रहती है। फल-मूल इकट्ठा करने वाले लोगो मे पशुओ को सम्पत्ति न मानना ही स्वाभाविक है। उसी प्रकार पशुपालक समूहो के सदस्यो के लिये यह ही स्वाभाविक है कि वे पशुओ को और अधिक से अधिक चरागाह को सम्पत्ति मानें। दूसरे प्रकार के भूमि को वे भला क्यो सम्पत्ति मानेगे? उसी प्रकार आधुनिक औद्योगिक समाज मे पूंजी, मशीन और मिल व फैक्ट्री को छोडकर फल-मूल को सम्पत्ति मानना मूर्खता ही होगी। सक्षेप मे, आधुनिक दृष्टिकोण से आदिम समाज मे पायी जाने वाली सम्पत्ति की धारणा की विवेचना उचित न होगी।

श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) के मतानुसार आधुनिक पश्चिमी दुनिया मे सम्पत्ति आराम प्राप्त करने के लिये, अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ की पूर्ति के लिये और दूसरे लोगो पर अधिकार प्राप्त करने के लिये होती है। परन्तु आदिम समाजो मे सम्पत्ति की ये तीनो उपयोगिताएँ उतनी स्पष्ट नही हैं जितनी कि सभ्य समाजो मे। आदिम समाजो

---

18 "To the native it is something that confers dignity and exalts him and which he therefore treats with veneration Their behaviour at the transaction makes it clear that it is regarded, not only as possessing high value, but that it is treated also in a ritual manner, and arouses emotional reaction" B Malinowski, *Ibid*, p 83

'अ' जनजातीय समूह मे हस्तान्तरित होगा। जिन जनजातीय समूहो मे ये दोनो चीजे चक्कर काटती रहती हैं उनमे 'कूला' सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और केवल कूला-सम्बन्ध से सम्बन्धित समूहो मे ही व्यापार होता है। 'अ' से 'द' समूह को जैसे ही म्वाली (कगन) प्राप्त होता है, तो 'द' समूह जल्द से जल्द उसके बदले मे 'अ' समूह को सौलवा (हार) देता है और इसी क्रम से परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता है। कोई भी व्यक्ति या समूह उसे अधिक समय तक अपने पास रोककर नही रखता, बल्कि जल्द से जल्द उसे दूसरे को हस्तान्तरित कर देता है ताकि व्यापार-सम्बन्ध की निरन्तरता बनी रहे। यह सम्बन्ध केवल एक बार के लेन-देन से ही समाप्त नही हो जाता है क्योकि नियम यह है कि जिसके साथ एक बार कूला-सम्बन्ध स्थापित हुआ है उसके साथ वह सम्बन्ध सदैव के लिये बना रहेगा। (once in the Kula, always in the Kula)। इसलिये कूला का व्यापार-सम्बन्ध एक स्थायी और सारे जीवन भर के लिये होता है।

इस कूला व्यापार-प्रथा के अन्तर्गत एकाधिक जनजातीय समूहो मे हार और कगन का लेन-देन ही सास्कारिक (ceremonial) दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण तथा आधार-भूत है, परन्तु व्यावहारिक रूप मे इन दोनो चीजो के साथ-साथ जनजातीय लोग अन्य अनेक आवश्यक वस्तुओ का व्यापार आपस मे करते रहते हैं। परन्तु यह व्यापार केवल कूला-सम्बन्ध से सम्बन्धित समूहो मे ही होता है और कोई भी पक्ष कूला के सास्कारिक और सामाजिक पक्ष को और उससे सम्बन्धित नियमो को कभी भी भूल नही जाता है।

कूला व्यापार-चक्र मे हस्तान्तरित होने वाले हार और कगन का अपना एक महत्त्व और इतिहास होता है। ये चीजें न तो उपयोगी होती है और न ही कोई आभूषण। इनका कोई मूल्य नही होता है जिससे कि दूसरी चीजो का मूल्य आँका जाता हो और न ही इन चीजो को कभी भी किसी भी मूल्य पर बेचा जाता या उसके बदले मे कोई आवश्यक चीज को लिया जाता है। वे तो केवल व्यापार-सम्बन्ध के प्रतीक हैं और इसीलिये सम्मान के द्योतक हैं। एक गाँव या समुदाय मे इस हार या कगन के होने से उस गाँव या समुदाय का महत्त्व और प्रतिष्ठा बहुत बढ जाती है। इसलिये इसे प्राप्त करना गौरव की बात है। इसके साथ आर्थिक उपयोगिता या मुनाफाखोरी के विचार को जोडना भी अन्याय समझा जाता है।

कूला का उद्देश्य ऐसा एक सास्कारिक गोष्ठी का निर्माण करना है जिससे सदस्य-समूह मे परस्पर आर्थिक आदान-प्रदान या व्यापार एक परम्परागत रीति से तथा शाति-पूर्ण व सुव्यवस्थित ढग से चलता रहे। इससे लडाकू जनजातियो के बीच आर्थिक लेन-देन के मामले मे सघर्ष होने की सम्भावनाएं बहुत कम हो जाती हैं। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने लिखा है कि कूला एक ऐसी प्रथा है जो कि आदिवासियो के दृष्टिकोण से उन्हे गौरव तथा प्रतिष्ठा प्रदान करती है और इसीलिये इसके प्रति उनका मनोभाव सम्मानसूचक ही होता है। हार या कगन के लेन-देन के समय आदिवासियो के व्यवहार से यह स्पष्टत पता चलता है कि उनके लिये यह न केवल अमूल्य है वरन् सास्कारिक या धार्मिक महत्त्व का भी है, इस कारण इसके साथ अनेक प्रकार की उद्वेगात्मक प्रतिक्रियाएँ

(emotional reactions) जुड़ी होती है ।[18]

अतः स्पष्ट है कि एक वस्तु के रूप मे कूला व्यापार-चक्र मे हस्तान्तरित होने वाले हार और कगन का कोई भी महत्त्व नही है, इसका तो महत्त्व केवल इसलिये है कि इसके साथ एक इतिहास, व्यापार, प्रतिष्ठा, धर्म तथा जादू के तत्त्व जुडे रहते है। इसी कारण इन दो चीजो के सम्बन्ध मे सबसे अनोखी बात यह है कि अपने समूह मे एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा या सम्मान इस बात पर निर्भर नही है कि यह हार या कगन उसके पास है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि ये चीजे कभी उसके पास थी। इसलिये कोई भी व्यक्ति इन चीजो को अधिक दिन तक अपने पास नही रखता है। किसी व्यक्ति के द्वारा इन चीजो को निश्चित समय से अधिक अपने पास रोक रखने पर लोगो को पहले आश्चर्य होता है और वे उस व्यक्ति की समालोचना करते हैं। इसपर भी कोई फल न होने पर उसे चेतावनी दी जाती है और उसके इस कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। बहुत अधिक समय तक हार या कगन को रोक रखने पर उस व्यक्ति को कूला-गोष्ठी से निकाल दिया जाता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति
(Property in Primitive Economies)

प्रत्येक प्रकार की ही अर्थ-व्यवस्था मे, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, सम्पत्ति की धारणा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी विविध आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये जिस किसी भी चीज की जरूरत मानव को होती है, उसीको वह 'सम्पत्ति' के अन्तर्गत ले आता है या मान लेता है। परन्तु आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति की धारणा उस रूप मे नही है जिस रूप मे हम लोग अपने आधुनिक समाज मे रहते हुए उसे जानते हैं। श्री लोइ (Lowie) ने उचित ही लिखा है कि सम्पत्ति की धारणा प्रौद्योगिक विकास तथा नैतिक विचारो मे परिवर्तन के साथ-साथ निरन्तर बदलती रहती है। फल-मूल इकट्ठा करने वाले लोगो मे पशुओ को सम्पत्ति न मानना ही स्वाभाविक है। उसी प्रकार पशुपालक समूहो के सदस्यो के लिये यह ही स्वाभाविक है कि वे पशुओ को और अधिक से अधिक चरागाह को सम्पत्ति मानें। दूसरे प्रकार के भूमि को वे भला क्यो सम्पत्ति मानेंगे ? उसी प्रकार आधुनिक औद्योगिक समाज मे पूंजी, मशीन और मिल व फैक्ट्री को छोडकर फल-मूल को सम्पत्ति मानना मूर्खता ही होगी। सक्षेप मे, आधुनिक दृष्टिकोण से आदिम समाज मे पायी जाने वाली सम्पत्ति की धारणा की विवेचना उचित न होगी।

श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) के मतानुसार आधुनिक पश्चिमी दुनिया मे सम्पत्ति आराम प्राप्त करने के लिये, अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ की पूर्ति के लिये और दूसरे लोगो पर अधिकार प्राप्त करने के लिये होती है। परन्तु आदिम समाजो मे सम्पत्ति की ये तीनो उपयोगिताएँ उतनी स्पष्ट नही हैं जितनी कि सभ्य समाजो मे। आदिम समाजो

18 "To the native it is something that confers dignity and exalts him and which he therefore treats with veneration Their behaviour at the transaction makes it clear that it is regarded, not only as possessing high value, but that it is treated also in a ritual manner, and arouses emotional reaction" B Malinowski, *Ibid*, p 83

के अध्ययन से यह पता चलता है कि वहाँ विभिन्न सदस्यो के बीच आर्थिक स्थिति के आधार पर उतना अधिक भेद नही होता जितना कि हम लोगो के अपने समाज मे पाया जाता है। यहाँ एक सामान्य मजदूर और एक मिल-मालिक के बीच जो विराट अन्तर सम्पत्ति या धन के आधार पर है, उतना अन्तर आदिम समाजो मे कही भी देखने को नही मिलता है। वहाँ तो सबको, जो भी काम करने के लिये सक्षम है, काम करना पडता है और इस परिश्रम के स्वरूप मे व्यक्ति और व्यक्ति के बीच कोई विशेष अन्तर नही होता है। इसलिये सम्पत्ति या धन के आधार पर भेद भी बहुत ज्यादा नही हो पाता है। सभी को प्राय एक-सा खाने-पीने, पहनने और रहने को मिलता है और सभी लोग प्राय समान 'आराम' का उपभोग करते हैं।

सम्पत्ति को, जिसपर कि लोग अपना अधिकार मान सकते हैं और मानते हैं, तीन प्रमुख श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—(क) प्राकृतिक चीजें जैसे, भूमि, नदी, नहर, समुद्र, पशु, मछली, खनिज-पदार्थ, पेड-पौधा और इनसे उत्पन्न होने वाले फल-मूल आदि, (ख) मनुष्य द्वारा बनायी गयी चीजें जैसे, मकान, कपडा, आभूषण, नाव, तीर-धनुष आदि, और (ग) अभौतिक सम्पत्ति (incorporeal property) जैसे, उपकथाएँ, सगीत, जादू-टोना आदि। आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये यह आवश्यक है कि इन तीनो प्रकार की सम्पत्तियो की विवेचना हम अलग-अलग करें।

(क) सम्पत्ति के रूप में प्राकृतिक चीजों मे भूमि का स्थान सबसे पहले आता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि भूमि के साथ मनुष्य का सम्बन्ध केवल मात्र आर्थिक ही नही होता है। अपने जन्म स्थान की भूमि को हम पवित्र मानते हैं और उसके साथ एक रहस्यमय सम्बन्ध को जोडते हैं। एक किसान जिस भूमि पर खेती करता है उसके साथ उसका केवल आर्थिक सम्बन्ध है, यह सोचना किसान की वास्तविक भावनाओ को ठेस पहुँचाना होगा। भूमि के महत्त्व को वह किसान केवल रुपया, आना और पाई के आधार पर ही नही आँकता है, बल्कि भूमि तो उसके लिये इससे कही अधिक है। भूमि के सम्बन्ध मे आदिम लोगो के मनोभाव को तीन विरोधी उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। अरूण्टा (Arunta) तथा मध्य आस्ट्रेलिया की अन्य जनजातियाँ उस भूमि के साथ-साथ, जिसपर कि वह निवास करती हैं, एक रहस्यमय और काल्पनिक सम्बन्ध को मानती हैं। इस सम्बन्ध को पवित्र स्थानो के और टोटम-केन्द्रो के आधार पर व्यक्त किया जाता है। वे सामान्य भूमि नही हैं, बल्कि वे ऐसी भूमि हैं जहाँ पर उस जनजाति की उत्पत्ति हुई है और जहाँ पर उस जनजाति की स्त्रियाँ गर्भवती होती हैं या गर्भ धारण करती हैं। इस कारण ये भूमि उनके जीवन का स्रोत हैं। ये पवित्र स्थान तथा टोटम-केन्द्र आदि किसी विशेष व्यक्ति की सम्पत्ति नही, वे तो पूरे समुदाय की पवित्र सम्पत्ति है। इसके विपरीत ओजिबवा (Ojibwa) जनजाति के लोगो के लिये भूमि एक सामान्य सम्पत्ति है और उसपर व्यक्तिगत अधिकार रहना ही उचित है। इस जनजाति मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी भूमि को दूसरो से पृथक् रखने के लिये उसे चारो तरफ से घेर देता है। यहाँ भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की धारणा इतनी प्रबल है कि

लडके को यह अधिकार नही है कि वह बिना आज्ञा अपने पिता की जमीन को व्यवहार करे या स्त्री अपने पति की जमीन को काम मे लाये। इसके विपरीत ऐसी जनजातियाँ भी हैं, जैसे कि एस्कीमो, जिनमे कि अपनी जन्मभूमि के प्रति पर्याप्त आदर-भाव होते हुए भी, उसपर व्यक्तिगत अधिकार या एकाधिकार की भावना का नितान्त अभाव है। इसीलिये एक एस्कीमो शिकार की खोज मे हजारो मील दूर चला जा सकता है और वहाँ शिकार कर सकता है। अत स्पष्ट है कि भूमि को सम्पत्ति के रूप मे मानने की धारणा प्रत्येक समाज मे समान नही है।

भूमि को सम्पत्ति के रूप मे मानने की धारणा अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न स्तरो पर भी पृथक्-पृथक् है। फल-मूल इकट्ठा करने तथा शिकार करने वाली जनजातियो (जैसे, आस्ट्रेलियन, अफ्रीकन बुशमैन, लका के वेड्डा आदि) मे भूमि पर सामान्यतः सामूहिक अधिकार ही माना जाता है। इस सामूहिक भूमि-क्षेत्र के अन्दर बाहरी समूह के लोगो के लिये आने की मनाही होती है। आस्ट्रेलिया मे अगर एक जनजातीय समूह को दूसरे के क्षेत्र मे शिकार करने या फल-मूल इकट्ठा करने के लिये जाने की आवश्यकता होती है तो वह अपने एक प्रतिनिधि या दूत को दूसरे समूह के मुखिया के पास आवश्यक आज्ञा प्राप्त करने के लिये भेजता है और उसे आज्ञा देना या न देना सम्पूर्णत मुखिया की इच्छा पर निर्भर करता है। इसके विपरीत शोशोनी (Shoshoni) जनजाति मे भूमि पर इस प्रकार का कोई भी अधिकार देखने को नही मिलता है। उनका शिकार करने तथा फल-मूल इकट्ठा करने का अपना कोई निश्चित क्षेत्र नही होता है। एस्कीमो लोगो के लिये भी भूमि किसी भी अर्थ मे सम्पत्ति नही है उनके लिये शिकार अधिक महत्त्वपूर्ण है, न कि भूमि। परन्तु कैनाडा तथा कैलिफोर्निया की कुछ जनजातियो मे शिकार करने तथा मछली पकडने के भूमि क्षेत्रो पर सामूहिक अधिकार के अलावा व्यक्तिगत अधिकार भी पाये जाते हैं।

पशुपालक जनजातियो मे भी भूमि पर अधिकार के सम्बन्ध मे पर्याप्त उदासीनता है। कोमाची इण्डियन लोग भूमि पर अपना कोई अधिकार नही मानते हैं—न तो व्यक्तिगत आधार पर और न ही सामूहिक आधार पर। इसके विपरीत साइबेरिया की टुगस (Tungus) जनजाति मे चरागाहो को पूरे गोत्र की सयुक्त सम्पत्ति माना जाता है।

भूमि को वास्तविक सम्पत्ति मानने की प्रवृत्ति फलोद्योग तथा कृषि करने वाली जनजातियो मे देखने को मिलती है। पश्चिमी अफ्रीका की जनजातियो मे एक प्रकार की सामन्तवादी व्यवस्था (feudal system) पायी जाती है। समस्त भूमि निरकुश शासक या राजा की होती है। वह उसको विभिन्न मुखियाओ को बाँट देता है, फिर ये मुखिया उस भूमि को गोत्रो को बाँटते हैं, फिर गोत्र का मुखिया उसे प्रत्येक व्यक्ति या परिवार मे बाँट देता है। इन परिवारो को यह अधिकार है कि उस जमीन को वे बगीचा लगाने के काम मे लाएँ, पर भूमि का वास्तविक मालिक निरकुश राजा ही समझा जाता है। इण्डोनेशिया की खेती करने वाली जनजातियो मे समस्त भूमि सम्पूर्ण गाँव की सम्पत्ति समझी जाती है। अगर किसी भूमि पर खेती नही होती है तो

समुदाय का कोई सदस्य मुखिया से आज्ञा लेकर उस भूमि को अपने निजी काम मे ला सकता है।

भोजन या खाने-पीने की चीजो पर अधिकार के सम्बन्ध मे जनजातियो मे कुछ भिन्नता पायी जाती है। फिर भी, अधिकतर जनजातियाँ भोजन को प्रकृति का एक अश मानती हैं, इसलिये उसपर सीमित अधिकार ही सम्भव है। जूनी जनजाति के लोगो का यह विश्वास है कि खलियान मे रक्खे हुए अनाज की अपनी एक इच्छा (will) होती है और यदि आतिथ्य (hospitality) के नियमो का उल्लघन किया जायगा तो वह अनाज भाग जायगा या गायब हो जायगा। इसलिये अगर कोई भी उनसे भोजन माँगता है तो वे कभी इन्कार नही करते हैं। डकोटा (Dakota) लोगो का तो विश्वास है कि भोजन पर वास्तव मे अधिकार सम्भव ही नही है। कैंनगैंग (Kaingang) जनजाति मे प्रत्येक बडे शिकार को खेमा (camp) की समस्त स्त्रियो में बाँट दिया जाता है। वेड्डा (Vedda) लोगो मे एक ही स्त्री अपने पूरे समूह के लिये खाना पकाती है। कोमाची (Comanchee) जनजाति मे जब एक शिकारी शिकार लेकर अपने खेमे मे लौटता है तो उस शिकार पर उन सबका हिस्सा होता है, जो भी हिस्सा लेने के लिये उस समय वहाँ उपस्थित होता है। शिकारी उन्हें हिस्सा देने मे इन्कार नही कर सकता। सक्षेप मे, भोजन के सम्बन्ध मे उदारता बरतना आदिम अर्थ-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता या आदर्श है। परन्तु कुछ अपवाद भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, कैंनाडा की ओजिबवा (Ojibwa) जनजाति का एक सदस्य शीतकाल मे जो कुछ भी शिकार करता है या मछली पकडता है वह उसकी निजी सम्पत्ति होती है और वह उसको किसी भी रूप मे काम मे ला सकता है। परन्तु जैसे ही वह शिकार को अपनी पत्नी के हवाले कर देता है, वैसे ही उसपर से उसका समस्त अधिकार समाप्त हो जाता है। फिर उसे पत्नी अपनी इच्छानुसार व्यवहार कर सकती है। पत्नी अपनी उस सम्पत्ति से भोजन तथा वस्त्र बनाती है और उन तैयार चीजो को उपहार के रूप मे अपने पति व छोटे बच्चो को देती है और अपने लिये रख लेती है। यह उपहार जिन्हें प्राप्त होता है, वह उनकी ही सम्पत्ति हो जाती है।

(ख) **सम्पत्ति के रूप मे मनुष्य द्वारा बनायी गयी चीजों** के सम्बन्ध मे भी जनजातीय समाजो मे एक-सा विचार नही है। औजार और उपकरणो पर सामान्यत. व्यक्तिगत अधिकार ही होता है। नियम यह है कि जिन वस्तुओ को व्यक्ति ने श्रम या प्रयत्न से बनाया है उनपर उसी व्यक्ति का अधिकार होगा और वह उन्हें बेच तथा हस्तान्तरित कर सकता है। परन्तु इन चीजो के सम्बन्ध मे आदिम समाजो मे एक अनोखी बात यह है कि वहाँ लोगो को यह असीमित अधिकार होता है कि वे इन चीजो को दूसरो से अपने काम के लिये माग सकते हैं, विशेपकर उन चीजो (शिकार के औजार आदि) को जो कि एक व्यक्ति के पास अधिक मात्रा (surplus) मे हैं। उदाहरणार्थ, कैंनगैंग जनजाति मे अगर कोई चीज फालतू पडी हुई है तो उसे कोई भी उसके मालिक से आज्ञा लिये बिना ही ले जा सकता है और फिर सुविधानुसार लौटायी जा सकती है। हाँ, अगर मालिक को उम चीज की आवश्यकता है तो वह उस व्यक्ति से उस

चीज को लौटा देने की माग भी कर सकता है। एस्कीमो लोगो मे तो यह भावना है कि 'अ' ने अपने किसी शिकार करने के उपकरण को 'ब' को काम मे लाने के लिये दे दिया है तो इसका यही अर्थ है कि 'अ' को उस चीज की आवश्यकता नही है। इसलिये 'ब' के लिये यह जरूरी नही है कि वह उस चीज को, जब तक उसे उसकी आवश्यकता है, 'अ' को लौटा ही दे।

(ग) **अभौतिक सम्पत्ति** (Incorporeal Property) की धारणा केवल जनजातीय समाजो मे ही नही, आधुनिक समाजो मे भी प्राय समान रूप से पायी जाती है। हम अपने समाज मे भी देखते हैं कि दूकानदारी या व्यापार मे 'सुनाम' (good name) का एक मूल्य होता है। उस कम्पनी के नाम पर और कोई भी व्यक्ति अपनी चीजो को बेच नही सकता। '7 O'Clock' इस नाम से कोई भी कम्पनी अपने ब्लेड (blade) को बेच नही सकती। हाँ, यह हो सकता है कि इससे मिलता-जुलता कोई नाम, जैसे '6 O'Morning' रख लिया जाय। ट्रेड मार्क या पेटेण्ट के द्वारा इस प्रकार की 'सुनाम' रूपी सम्पत्ति की रक्षा की जाती है। उसी प्रकार ग्रामोफोन रेकार्ड कम्पनी, फिल्म कम्पनी, प्रकाशक आदि सगीत, कहानी आदि के रूप मे अपनी-अपनी सम्पत्ति की रक्षा 'कॉपी राइट' (Copy Right) के द्वारा करते हैं। यहाँ तक कि पारिवारिक नाम भी सम्पत्ति हो सकती है। इसलिये यदि हम यह कहते हैं कि आदिम समाजो मे नाम, उपकथा, जादू-टोने के तरीके, सगीत आदि महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है, तो शायद किसी को भी आश्चर्य न होगा। अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी तट पर निवास करने वाली कुछ जनजातियो मे कतिपय उपकथाओ को एक वश विशेष की सम्पत्ति माना जाता है और उन्हे कोई दूसरा वश व्यवहार मे नही ला सकता। क्वाकिउल (Kwakiutl) इण्डियनो मे एक विशेष नाम को सबसे बडी सम्पत्ति समझा जाता है और उस नाम को प्राप्त करने के लिये एक पॉटलैच (potlatch) का आयोजन करके एक व्यक्ति अपनी समस्त सम्पत्ति को बर्बाद कर देने के लिये भी तैयार रहता है। यही कारण है कि नाम को प्राप्त करने के विषय को लेकर उस समाज मे प्रतिद्वन्द्विता के अनेक कटु उदाहरण पाये जाते है। उसी प्रकार डोबुयन (Dobuan) जनजाति मे जादू-टोने की प्रणालियो को सीखने के विषय को लेकर लोगो मे खूब सघर्ष होता है। स्पष्ट है कि इन सब अभौतिक चीजो को सम्पत्ति इसलिये समझा जाता है क्योकि इन चीजो के अधिकारी होने से व्यक्ति की सामाजिक स्थिति व प्रतिष्ठा आप से आप ऊँची उठ जाती है। इसी कारण लोग इसे सम्पत्ति मानकर इसकी रक्षा करते है।

आदिम साम्यवाद[19]
(Primitive Communism)

उपरोक्त विवेचना से आदिम अर्थ-व्यवस्था के अन्तगत सम्पत्ति के स्वरूप के सम्बन्ध मे हमे एक स्पष्ट धारणा हो सकती है। यह मानी हुई बात है कि आदिम समाजो मे सम्पत्ति को, विशेषकर भूमि, भोजन आदि प्राकृतिक चीजो को लेकर 'तू-तू

19 See Robert H Lowie, *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1953, pp 196—200

मैं-मैं' का झगडा उतना कटु और उग्र नही है जितना कि आधुनिक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत हमे देखने को मिलता है। इसी के आधार पर कुछ विद्वानो का मत है कि आदिम अर्थ-व्यवस्था आवश्यक रूप मे साम्यवादी अर्थ व्यवस्था है। इस विचार का समर्थन विशेष रूप से उद्विकासवादी लेखक करते हैं। उद्विकासवादी योजना के अनुसार यह सोचना स्वाभाविक ही है कि चूँकि आधुनिक युग मे घोर पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था पायी जाती है, इस कारण आदिकालीन समाजो मे इसकी बिल्कुल विपरीत व्यवस्था—साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था-ही पायी जाती होगी। यह उपकल्पना केवल कल्पना मात्र ही है, इसके पक्ष मे भी कुछ कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, जिस प्रकार यह कहना गलत होगा कि प्रत्येक विषय मे आदिम अर्थ-व्यवस्था साम्यवादी व्यवस्था है, उसी प्रकार यह कहना भी गलत होगा कि निजी सम्पत्ति की धारणा उन समाजो मे उतने ही उग्र रूप मे है जितनी कि हम लोगो के अपने समाजो मे, अर्थात् आदिम समाजो मे साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था के लक्षण बिल्कुल नही पाये जाते हैं, यह कहना उचित न होगा। निम्नलिखित विश्लेपण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) ने लिखा है कि उपलब्ध मानवशास्त्रीय प्रमाणो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि एक ऐतिहासिक घटना (historic phenomenon) के रूप मे सम्पत्ति मनुष्य की, जैसा कि उसे हम जानते है, सदा से ही साथी रही है। मनुष्य और सम्पत्ति दोनो ही प्रारम्भ से साथ-साथ विराजमान हैं। मनुष्य है और सम्पत्ति की धारणा नही है, ऐसा कभी नही हुआ है। निजी 'सम्पत्ति' की धारणा तो, एक अर्थ मे, पशु-समाज मे भी पायी जाती है। इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि पशुओ मे मनुष्य के सबसे घनिष्ठ और पुराने साथी कुत्ते ने मनुष्य से जितनी भी चीजे सीखी हैं, उनमे निजी सम्पत्ति की धारणा भी एक है। अत स्पष्ट है कि निजी सम्पत्ति की धारणा कोई नयी धारणा नही है। फिर भी इतना अवश्य है कि इस धारणा का रूप या स्वरूप और साथ ही इसकी क्रियाशीलता व व्यावहारिक प्रयोग सभी काल मे एक समान नही था और न रहने की आशा ही की जा सकती है। अगर हम इस पृष्ठभूमि पर आदिम अर्थ-व्यवस्था की विवेचना या विश्लेषण करें तो उसका वास्तविक स्वरूप स्वत ही स्पष्ट हो जायगा।

तथाकथित आदिम साम्यवाद के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्री लोई (Lowie) ने दो तर्कों को प्रस्तुत किया है जो निम्नवत् हैं —

प्रथमत, निजी सम्पत्ति और अधिकार का नाम तक न हो, इस प्रकार का पूर्ण साम्यवाद शायद कभी भी नही था, फिर भी सयुक्त या समष्टिगत मिलकियत (collective ownership) आदिम समाजो मे सामान्य है। आदिम समाजो मे यह देखा जाता है कि विवाह एक व्यक्तिगत विषय न होकर दो परिवारो के बीच का एक सयुक्त सम्बन्ध है। ठीक उसी प्रकार सम्पत्ति भी किसी एक व्यक्ति की न होकर सम्मिलित रूप मे बहुतो की होती है, जो कि साधारणत एक ही गोत्र के सदस्य होते हैं। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) जैसे विद्वान भारत के प्राचीन या परम्परागत जीवन के इस पक्ष को देखकर इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि आपका तो निष्कर्ष ही यह था कि समष्टिगत

मिलकियत एक अति प्राचीन सस्था है जो कि व्यक्तिगत मिलकियत (individual ownership) से पहले विद्यमान थी। दूसरे शब्दो मे, व्यक्तिगत अधिकार या निजी सम्पत्ति की धारणा का वर्तमान रूप प्रगट होने से पहले सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति विशेष का नही बल्कि सम्मिलित अधिकार हुआ करता था। यह सम्मिलित अधिकार दो व्यक्तियो का, या एक परिवार का, या कुछ परिवारो का, या एक भातृदल का, या एक धार्मिक गोष्ठी का, या एक गोत्र का हो सकता है। यह आवश्यक नही कि यह अधिकार सदैव सामुदायिक अधिकार (communal ownership) ही हो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक सम्पूर्ण गाँव मे केवल एक ही गोत्र के सदस्य रहते है। फलत. गाँव के सभी लोग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते है या अपने को सम्बन्धित मानते है और इसलिये जमीन आदि के विषय मे बँटवारा न करके उनपर सम्मिलित या सयुक्त अधिकार रखना ही अधिक लाभदायक समझते है। ऐसी अवस्था मे हम कह सकते है कि उस आदिम अर्थ-व्यवस्था मे साम्यवाद का कोई न कोई लक्षण अवश्य ही स्पष्ट है।

द्वितीयत., कभी-कभी कुछ सामाजिक नियम, आचार, प्रथा या परम्परा की क्रियाशीलता के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जो कि बहुत-कुछ साम्यवादी अवस्था से मिलती-जुलती है। फलत हम उसीको साम्यवाद कह डालते है। परन्तु वास्तव मे वैसा नही है। वास्तव मे वैधानिक दृष्टिकोण से साम्यवाद और सामान्य सामाजिक नियम के अनुसार साम्यवाद, इन दोनो मे पर्याप्त अन्तर है। आदिम समाजो के सम्बन्ध मे तो यह बात और भी सच है क्योकि वहाँ कानून या विधान बिल्कुल ही अस्पष्ट है। इसलिये उस दृष्टिकोण से उनकी किसी भी सस्था को परिभाषित करना अगर असम्भव नही तो कष्टकर अवश्य ही है। वास्तव मे बात यह है कि आदिम समाज छोटा और सरल होता है और एक गाँव या समुदाय मे अधिकतर सदस्य एक-दूसरे के नाते-रिश्तेदार (चाहे वास्तविक हो या कल्पित) होते हैं। जो नाते-रिश्तेदार नही भी हैं उन्हे भी लोग घनिष्ट रूप से जानते-पहचानते हैं। इस कारण उस गाँव या समुदाय के सभी सदस्य एक-दूसरे के प्रति एक आन्तरिक कर्त्तव्य-बोध से बधे रहते हैं और हर समय एक-दूसरे की सहायता (जिसमे की आर्थिक सहायता भी सम्मिलित है) करने के लिये तैयार रहते है। अत जिसे हम लोग साम्यवाद कहने की गलती करते है वह वास्तव मे आदिम लोगो का एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बोध, नैतिक नियमो का पालन या आतिथ्य (hospitality) की अभिव्यक्ति मात्र है। 'आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति' कि विवेचना करते हुए पिछले पृष्ठो मे इस प्रकार के अनेक सामाजिक नियमो, अतिथि-सत्कार आदि के उदारहण दिये गए है। फिर यहाँ पर उनमे से दो-तीन उदाहरणो को दोहरा देना ही उचित होगा। जूनी जनजाति मे यह विश्वास है कि अगर अतिथि सत्कार के नियमो का उचित ढग से पालन नही किया जायगा तो खलियान का अनाज आप से आप गायब हो जायगा। इस विश्वास के आधार पर ही अगर कोई भी किसी भी समय खाने की चीज किसी भी जूनी परिवार से मागता है तो उसे फौरन वह चीज दे दी जाती है। इस प्रकार एक अर्थ मे उस जूनी समुदाय की सभी खाने की चीजो पर प्रत्येक जूनी का पूर्ण अधिकार है और इस दृष्टिकोण मे कम से कम खाद्यान्न पर किसी व्यक्ति या परिवार विशेष का नही, बल्कि सम्पूर्ण समुदाय का

अधिकार है। परन्तु यह साम्यवाद नही है क्योकि दूसरे के अधिकार को केवल सामाजिक नियम के पालन के हेतु स्वीकार किया जाता है, वास्तविक अधिकार व्यक्ति या परिवार का ही होता है। उसी प्रकार डकोटा (Dakota) जनजाति के लोग यह अनुभव करते हैं कि खाने की चीजो पर वास्तव मे किसी का अधिकार हो ही नही सकता और किसी से भी कोई चीज उपहार के रूप मे मागी जा सकती है और उस उपहार को देने से इन्कार भी किसी को न करना चाहिये। 'जो मागने पर उपहार देने से इन्कार करता है वह सच्चा डकोटा नही है।' कुछ भी हो, पर यह साम्यवाद नही है क्योकि वास्तविक अधिकार व्यक्तिगत या पारिवारिक ही है और उस वास्तविक मालिक से चीजें मागी जाती हैं और वह भी उपहार के रूप मे। उसी प्रकार कोमाची जनजाति का एक सदस्य अपने शिकार से दूसरो को हिस्सा सामाजिक नियम या शिष्टाचार का पालन करने के लिये देता है, न कि इसलिये देता है कि दूसरो का उस शिकार पर अधिकार है।

इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरणीय है कि अधिकतर जनजातियो का आर्थिक जीवन बहुत ही सघर्षपूर्ण है। उन्हे प्रकृति से घोर मोर्चा लेकर अपना पेट पालना होता है। प्रकृति से इस प्रकार का मोर्चा निरन्तर लेने के लिये केवल व्यक्तिगत शक्ति ही पर्याप्त नही होती, सयुक्त शक्ति की भी आवश्यकता होती है। इस कारण आर्थिक क्षेत्र मे केवल परिवार के सभी सदस्यो की ही नही, बल्कि समूह के अन्य लोगो के सहयोग की भी आवश्यकता होती है। सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये जब बहुत से लोग सहयोग करते हैं या करने को तैयार रहते हैं तो उनमे स्वभावत ही 'हम' की भावना पनपती है और वे अपने-पराये के भेद को बहुत स्पष्ट रूप से खीचना लाभकारी नही समझते हैं। इसीलिये वे खाने-पीने तथा अन्य चीजो को दूसरे की आवश्यकता पडने पर मुक्त हस्त से दान कर देते हैं। उस दान या उपहार को ग्रहण करने वाले के मन मे भी इसी कारण कोई अपने-पराये की भावना जागृत नही होती है। यही कारण है कि एस्कीमो समूह का एक सदस्य दूसरे की चीजो को उसके मालिक को बताये बिना ही उठा ले जाता है और माग कर भी ले जाता है तो भी उस चीज को तब तक लौटाकर नही देता है जब तक उसे उस चीज की जरूरत है। परन्तु यह साम्यवाद नही है, आर्थिक सहकारी की भावना मात्र है क्योकि उस चीज पर वास्तविक अधिकार उसके मालिक का ही है, न कि उस व्यक्ति का जो कि उसे माग कर ले जाता है।

विभिन्न समाजो के निष्पक्ष निरीक्षण से यह पता चलता है कि प्रत्येक समाज मे ही सयुक्त तथा व्यक्तिगत दोनो प्रकार के ही अधिकार या मिलकियत (ownership) पायी जाती है। जहाँ तक आदिम समाजो का सम्पर्क है, उनके विषय मे यह कहा जा सकता है कि वे चीजें जो कि प्रत्यक्ष रूप से जीवन-धारण के मामले मे सहायक हैं अर्थात् जीवित रहने के साधन हैं जैसे, शिकार करने के क्षेत्र, मछली पकडने की नदी और तालाब, बगीचा लगाने की जमीन, खेत आदि पर व्यक्तिगत अधिकार न रखकर अधिकतर सम्मिलित अधिकार ही रक्खा जाता है क्योकि जनजातीय जीवन के सघर्ष मे यही अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसके विपरीत रोज के व्यवहार की चीजो, जैसे मकान, कपडा, आभूषण आदि पर प्राय सभी आदिम समाजो मे व्यक्तिगत अधिकार ही माना जाता है। वे सभी

चीजें जो कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत श्रम या प्रयत्न से उत्पन्न करता या इकट्ठा करता है, उसे निजी सम्पत्ति (private property) ही मानी जाती है। इस अर्थ मे निजी सम्पत्ति की धारणा आदिम समाजो मे प्राय सार्वभौम (universal) है। साथ ही, सयुक्त अधिकार या सम्मिलित सम्पत्ति आधुनिक समाजो मे भी पायी जाती है। आधुनिक समाजो मे भी नहरो, नदियो, जगलो और अनेक भूमिओ पर समुदाय के प्रतिनिधि राज्य का अधिकार होता है, साथ ही सयुक्त स्टॉक कम्पनी (joint stock company) मे भी अधिकार सयुक्त ही होता है।

अत श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) का निष्कर्ष यह है कि व्यक्तिगत अधिकार या निजी सम्पत्ति की बात को बिल्कुल निकालकर आदिम साम्यवाद की अवधारणा को अस्वीकार कर देना ही उचित होगा। परन्तु आदिम साम्यवाद की अवधारणा मे एक सत्यता अवश्य ही है और वह यह कि आधुनिक समाज मे व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकार का जितना अनावश्यक व कटु रूप देखने को मिलता है, उतना आदिम समाजो मे कदापि नही मिलता। साथ ही, आधुनिक समाज मे व्यक्ति के अधिकार मे ऐसी असख्य चीजें रहती हैं जिनके विषय मे आदिम समाजो के लोग सपना भी नही देख सकते। आदिम समाजो मे जीवन या जीवित रहने के लिये आवश्यक चीजो को या उन क्षेत्रो को, जहाँ से ये चीजें प्राप्त हो सकती है या उत्पन्न की जा सकती हैं, व्यक्तिगत अधिकार मे छोडा नही जाता है उनपर समूह का ही अधिकार होता है, परन्तु आधुनिक समाज मे इसका उल्टा भी हो सकता है। इस अर्थ मे और इस सीमा तक यह कहना अनुचित न होगा कि आदिम समाज की विशेपता सामूहिक अधिकार है, जब कि आधुनिक समाज की विशेषता व्यक्तिगत अधिकार ही है।

भारतीय जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था
(Economies of Indian Tribes)

भारतीय जनजातियो का आर्थिक जीवन एक-सा नही है। उन्हे अपने जीवन-धारण के लिये अनेक प्रकार के व्यवसाय करने होते हैं और इस कारण उनकी अर्थ-व्यवस्था मे शिकार करना, फल, कन्द, मूल, शाक-सब्जी और शहद इकट्ठा करना, पशुओ को पालना, खेती करना और दस्तकारी का काम करना सभी सम्मिलित हैं। इससे भारतीय जनजातियो मे जीविका-निर्वाह की जटिलता स्पष्ट होती है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, श्री थर्नवाल्ड (Thrunwald) ने आदिम समाजो की अर्थ-व्यवस्था को सात श्रेणियो मे विभाजित किया है। इन्हे हम भारतीय जनजातियो के वर्गीकरण मे भी लागू कर सकते है —

(१) शिकार करने, पशु-पक्षी पकडने वाले तथा खाद्य सामग्री इकट्ठा करने वाले समरूप (homogeneous) समुदाय। भारत की कादर, चेंचू, खरिया, कोरवा आदि जनजातियाँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत है।

(२) शिकार करने, पशु-पक्षी पकडने वाले और कृषको का समरूप समुदाय। कमार, बैगा, और बिरहोर जनजातियाँ इस श्रेणी के उत्तम उदाहरण है।

(३) शिकार करने, पशु-पक्षी पकडने वाले, कृषक तथा कारीगरो के श्रेणीबद्ध

(graded) समाज । भारत की अधिकतर जनजातियाँ इसी श्रेणी मे आती हैं । चेरो और अगरिया जनजाति कारीगरो के रूप मे प्रसिद्ध है ।

(४) चरवाहे—टोडा और भील जनजाति इस श्रेणी के अति उत्तम उदाहरण हैं ।

(५) समरूप शिकारी और चरवाहे—भारत की कोई भी जनजाति इस श्रेणी के अन्तर्गत नही आती है ।

(६) प्रजाति के आधार पर श्रेणीवद्ध पशु पालने वाले तथा व्यापार करने वाले समूह । उत्तर प्रदेश के हिमाचल क्षेत्र मे रहने वाली भोटिया जनजाति इस श्रेणी के अन्तर्गत है ।

(७) सामाजिक आधार पर श्रेणीवद्ध शिकारी, कृपक तथा कारीगर समूह—इस श्रेणी के अन्तर्गत भी अनेक जनजातियाँ आ जाती है ।

भारतीय जनजातियो की अर्थ-व्यवस्था को और भी भली-भाँति समझने के लिये हम उन्हे निम्नलिखित पाँच भागो मे वाँट सकते हैं —

(१) **शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने वाली जनजातियाँ** (Hunting and food gathering tribes)—इस श्रेणी मे कादर, मालापडारम, पालीयन, पानीयन, यानादी, कुरूम्बा, विरहोर, खरिया, चेंचू खडिया, राजी आदि भारतीय जनजातियाँ आती हैं । ये लोग खेती या अन्य किसी प्रकार से भोजन को उत्पन्न करना नही जानते हैं । इस कारण प्रकृति ने इनकी भोजन-सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करने के लिये अपने वनो मे अनेक प्रकार के फल, मूल, कन्द, शाक-सब्जी आदि की सृष्टि की है । प्रत्येक मौसम मे इन चीजो का प्रकार बदलता रहता है और इन्हे इकट्ठा करने के लिये उक्त जनजातियो को वन के विभिन्न भागो मे घूमना-फिरना होता है । जगली आम, बड, पीपल, तेंदू, चार आदि फलो को ये लोग वडे चाव से खाते हैं । महुआ को तो भारतीय जनजातियो का कल्पवृक्ष मान सकते हैं, क्योकि अनेक जनजातियो की अर्थ-व्यवस्था तथा उनके रोज के खाने की चीज के रूप मे उसका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । वनो से प्राप्त होने वाले मीठे स्वादिष्ट कन्दो को भी भारत की जनजातियाँ दैनिक खाद्य सामग्री के रूप मे बहुत प्रयोग मे लाती हैं । दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भोजन इकट्ठा करने के अतिरिक्त, निकट भविष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भी उसका सचय किया जाता है । शिकार करके और मछली पकड के भी भोजन इकट्ठा किया जाता है । पक्षी, खरगोश, छोटे हिरन आदि का शिकार तो लोग अलग-अलग व्यक्तिगत रूप से ही कर लेते हैं, पर वडे जानवरो के शिकार तो योग्य व अनुभवी व्यक्ति या व्यक्तियो के नेतृत्व मे सगठित रूप से अनेक व्यक्ति मिलकर करते हैं। शिकार करने के लिये ये लोग तीर-धनुष, फन्दा और जाल को काम मे लाते हैं । सामान्य रूप से इस श्रेणी की जनजातियो का आर्थिक सगठन अत्यन्त सादा और सरल होता है और अपनी उदर-पूर्ति के लिये उन्हे अत्यधिक सघर्ष करना पडता है । जो कुछ भी खाद्य सामग्री ये लोग इकट्ठी करते हैं उसका कोई भी भाग सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के वाद विनिमय के लिये शेष नही रहता । परन्तु कुछ जनजातियाँ शहद, कुछ विशेष प्रकार के फल, और

औषधि के रूप मे उपयोगी कन्द, मूल आदि का संग्रह विशेष रूप से बेचने के लिये भी करती हैं।

(२) **पशुपालक जनजातियाँ**—पशुपालक जनजातियो का सर्वोत्तम उदाहरण हिमाचल प्रदेश के गुज्जर और दक्षिण मे नीलगिरी निवासी टोडा जनजातियाँ है। गुज्जरो की जनसख्या प्राय १३ हजार है, इनमे से ८ हजार केवल चम्बा जिले मे रहते हैं। इनका मुख्य व्यवसाय गाय-भैंस पालना और इनका दूध-घी आदि बेचकर अपनी जीविका पालन करना है। ये लोग प्राय. अपने पशुओ के लिये उत्तम चरागाहो की खोज मे एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमा-फिरा करते हैं। कुछ गुज्जर अब खेती भी करने लग गए हैं। परन्तु टोडा जनजाति विशुद्ध रूप से पशुपालक है। इनके आर्थिक जीवन का प्रमुख आधार भैंस पालना है। इसीलिये भैंस को वे बहुत पवित्र मानते हैं और भैंसशालाओ को मन्दिर समझते हैं। चूंकि स्त्रियाँ मासिकधर्म तथा बच्चा पैदा होने के समय अशुचि हो जाती हैं, इस कारण उन्हे न तो भैंसशालाओ मे प्रवेश का अधिकार होता है और न ही वे दूध दुहने, दही मथने आदि का काम कर सकती है। टोडा लोग भैंस के दूध और उससे बनी चीजो को पडौसियो को बेचकर उसके बदले मे अपनी आवश्यक वस्तुओ को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार भैंस ही टोडा लोगो के आर्थिक जीवन की ही नही बल्कि धार्मिक और सामाजिक जीवन की भी धुरी है। इसलिये भैंस को वे लोग इतना पवित्र मानते हैं, तथा स्त्रियो को उनसे सम्बन्धित समस्त कार्यो से पृथक् रखते है। इनके मुख्य पुरोहित 'पोलोल' को अविवाहित रहना पडता है।

उत्तर प्रदेश की भोटिया जनजाति पशुपालन के साथ-साथ खेती भी करती है। मध्य भारत मे भी कुछ जनजातियाँ है जो पशुओ को पालकर ही अपनी जीविका का निर्वाह करती है।

(३) **खेती करने वाली जनजातियाँ** (Agricultural tribes)—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार एक करोड नब्बे लाख जनजातीय व्यक्तियो मे से एक करोड सत्तर लाख व्यक्ति खेती पर निर्भर है। इनको दो भागो मे बाँटा जा सकता है—एक तो वे जो स्थानान्तरित खेती (shifting cultivation) करते हैं और दूसरे वे जो स्थायी खेती करते हैं।

स्थानान्तरित खेती का प्रचलन भारतीय जनजातियो मे बहुत अधिक है, यद्यपि अलग-अलग जनजातियाँ इसे अलग-अलग नाम से पुकारती है। उदाहरण के लिये, नागा जनजाति इसे 'झूम' (*jhum*) कहती है, मरिया इसे 'पेंडा' (*penda*), खोंड इसे 'पोड्डु' (*podu*) और बैगा जनजाति इसे 'बेवर' (*bewar*) कहती है। इस प्रकार की खेती से उत्पन्न होने वाली फसल अत्यधिक निम्न स्तर की होती है और इससे भूमि की भी अधिक बर्बादी होती है। इस ढग की खेती आसाम, मध्य प्रदेश, मद्रास, आन्ध्र, ट्रावन्कोर और कोकण की अनेक जनजातियाँ करती हैं। अनुमान है कि प्राय १० लाख व्यक्ति लगभग १३ हजार वर्गमील मे इस प्रकार की कृषि करते हैं। विभिन्न जनजातियो मे इसकी पद्धति मे थोडा-बहुत अन्तर भी देखने को मिलता है। फिर भी इसका सामान्य रूप निम्नलिखित है —

अपनी जनजाति के पुरोहित से पूछकर धार्मिक विधियो के अनुसार खेती के लिये

जगल का एक भाग चुन लिया जाता है। फरवरी के महीने मे इस स्थान के सब पेडो को काटकर सूखने दिया जाता है। अप्रैल के अन्त मे सूखे हुए सब पेडो को एक स्थान पर इकट्ठा करके जला दिया जाता है और उसकी राख को उतने स्थान पर बिछा दिया जाता है जितने पर खेती करनी है। वर्षा ऋतु की पहली बौछारो के बाद यहाँ या तो बीज बिखेर कर बोये जाते हैं या खुरपी या नुकीले औजार से जमीन मे छेद करके उनमे डाले जाते हैं। अगस्त-सितम्बर तक फसल पकने लगती है। फसल तैयार हो जाने पर उसे काट लिया जाता है और फिर दूसरे वर्ष पुन फसल के ठूंठो और घास पात को जलाकार खेती के लिये भूमि तैयार कर ली जाती है। दो या तीन वर्ष तक एक स्थान पर खेती करने के बाद पुन खेती करने के लिये दूसरी नयी जगह चुनी जाती है और पुरानी जगह को कुछ वर्षों के लिये (जैसे उडीसा मे ४ से ६ वर्ष तक तथा बस्तर मे १५ से २० वष तक) खाली छोड दिया जाता है, ताकि भूमि फिर खेती करने के योग्य हो जाय। स्थानान्तरित खेती मे मकई, चना, बाजरा आदि अन्न, अनेक प्रकार के तिलहन, दाले और साग-सब्जियाँ उत्पन्न की जाती हैं।

इस प्रकार से खेती क्यो की जाती है, इसके सम्बन्ध मे जनजातियो मे अनेक धार्मिक विश्वास भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ, जैसे मध्य प्रदेश के बैगा लोगो का यह विश्वास है कि भगवान ने उनके पूर्वज नगा बैगा को हिन्दुओ और गोडो की भाँति हल चलाकर खेती करने का निषेध किया था, क्योकि इससे धरती माता की छाती विदीर्ण होती है।

स्थायी खेती का भी प्रचलन भारतीय जनजातियो मे है। भारत की अनेक जन-जातियो ने स्थानान्तरित खेती का परित्याग कर स्थायी खेती का पेशा अपना लिया है। इस प्रकार की जनजातियो मे राजस्थान के भील और गोड, मद्रास के बडग, कोट, इरूला व परजा, बगाल के सथाल, आसाम के खासी, मणिपुरी, बिहार के मुण्डा, हो तथा उराँव और उत्तर प्रदेश के थारू, माझी, विन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

(४) **हस्तकार जनजातियाँ** (Handicraft tribes)—अनेक जनजातियाँ विविध प्रकार के सहायक उद्योग-धन्धे या दस्तकारी के काम भी करती हैं। इनमे टोकरी बनाना, सूत कातना और बुनना, रस्मी, चटाई आदि बनाना, बेंत का काम, लोहे के औजार, मिट्टी और धातुओ के बर्तन बनाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। छोटा नागपुर और उडोसा के विरहोर जगल की कुछ लताओ से बहुत मजबूत और सुन्दर रस्सी बनाते हैं। सओरा, कोड और गोड सूत कातने, बेंत का काम, मिट्टी के बतन और धातु का काम बहुत अच्छा करते हैं। कोरवा और अगारिया लोहे को गलाकर उससे अनेक चीजें बनाते हैं। घासी मृत जानवरो से ताँत तैयार करते हैं। मद्रास के इरूला बाँस की चटाइयाँ और टोकरियाँ बुनते है और हलो और पहियो को भी बनाते हैं।[20] बैगा, कमार, चेचू आदि जनजातियाँ बाँस के बर्तन प्राचीन काल से ही बनाते आये हैं। वे अब इस कला का उपयोग आर्थिक लाभ के लिये करने लगे हैं। उत्कल के आदिवासी बोदो बुनने का काम करते हैं। बढईगिरी का काम प्राय प्रत्येक जनजाति के लोग करते हैं।

---

20 Majumdar and Madan, *op cit*, p 199.

(५) **उद्योग मे लगी हुई जनजातियाँ** (Tribes engaged in Industries)—औद्योगिक जीवन के साथ जनजातियो का सम्पर्क दो प्रकार से हुआ है—या तो वे नौकरी की तलाश मे स्वय ही औद्योगिक केन्द्रो मे जा बसी हैं या उनके निवास-क्षेत्र मे ही उद्योग का विकास हुआ है।[21] भारत मे जैसे-जैसे उद्योगो, चाय-बागानो और खानो का काम बढता जा रहा है, वैसे-वैसे आस-पास मे बसी हुई जनजातियो पर भी उसका प्रभाव पडता जा रहा है, क्योकि इन कामो के लिये मजदूरो की जो आवश्यकता होती है, वह अत्यधिक कम मजदूरी पर इन जनजातियो के लोग पूरा कर देते हैं। इस प्रकार के मजदूरो की पूर्ति सबसे अधिक बिहार, उडीसा और मध्य प्रदेश की जनजातियो द्वारा होती है। मध्य प्रदेश के मैंगनीज (manganese) उद्योग मे लगे श्रमिको मे ‘० प्रतिशत जनजातीय लोग हैं। जमशेदपुर के टाटा के लोहे के कारखाने मे १७ हजार से भी अधिक श्रमिक सथाल और ‘हो’ जनजाति के हैं।[22]

इस सम्बन्ध मे यह याद रखना होगा कि उपर्युक्त विभाजन एक सैद्धान्तिक रूप-रेखा (theoretical outline) मात्र है। अधिकतर जनजातियाँ एक से अधिक श्रेणियो मे आती हैं। ऐसी अनेक जनजातियाँ हैं जो केवल खेती ही नही करती, बल्कि दस्तकारी के काम और औद्योगिक श्रमिक के रूप मे भी काम करती है, जैसे गोड जनजाति। इस कारण इनमे कोई अन्तिम विभाजक रेखा खीचना उचित न होगा।

तीन जनजातियो का आर्थिक जीवन
(Economic Life of Three Tribes)

भारत की जनजातीय अर्थ-व्यवस्था को और भी अच्छी तरह समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम दो एक जनजातियो के आर्थिक जीवन की बिल्कुल अलग रूप से विवेचना करे। इस सम्बन्ध मे तीन विभिन्न स्तर वाली—कादर, टोडा तथा गोड—जनजातियो की आर्थिक दशाओ का सक्षिप्त परिचय उदाहरण के लिये दिया जा सकता है।

कादर (Kadar)—केरल की दुगम पवतमालाओ और घने जगलो मे रहने वाली कादर ही सम्भवत भारत की एकमात्र ऐसी जनजाति है जिसमे खेती का प्रचलन किसी भी रूप मे नही है। कुछ समय पहले तक ये लोग केवल जगलो मे घूम-घूमकर शिकार करके तथा फल, मूल, कन्द, शाक-पात व शहद इकट्ठा करके अपना पेट भरते थे। चूँकि इन्हे अपने भोजन को इकट्ठा करने के लिये इधर-उधर घूमना पडता है, इस कारण इनका आर्थिक जीवन स्थिर नही है। वे खानाबदोशी जीवन व्यतीत करते हैं। आर्थिक क्रियाओ के सम्बन्ध मे स्त्री और पुरुष के बीच कोई निश्चित श्रम-विभाजन नही है। स्त्री और पुरुष दोनो ही मिलकर फल, मूल आदि इकट्ठा करते हैं। परन्तु बहुधा यह काम स्त्रियो पर छोडकर पुरुष मछली पकडने और शिकार करने के काम मे अधिक ध्यान देते हैं। हवा से बचने के लिये बाँस की अस्थायी झोपडियाँ बनाना तथा आग को जलाये रखने का काम भी स्त्रियाँ ही करती है। शिकार बाँस के तीर-धनुष, कुदाल (digging stick) आदि से किया जाता है। कादर लोग लगूर का शिकार करना बहुत

21 *Ibid*, p 199.
22 *Ibid*, p 200

पसन्द करते हैं। वे बकरियाँ, मुर्गियाँ तथा अन्य पशु भी पालते हैं। पुरुष बाँस की बडी सुन्दर कंघियाँ बनाते हैं। कादर लोग बाँस के प्याले के अतिरिक्त और कोई बर्तन सामान्यत: काम मे नही लाते हैं। पहले वे अपने शरीर को पेड की छाल तथा पत्तो से सजाया करते थे। परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे इनके जगलो से इमारती लकडी, शहद, जगली काली मिर्च आदि को प्राप्त करने के लिए ठेकेदारो का प्रवेश इनके समाज मे हुआ जिसके फलस्वरूप अब इनकी अर्थ-व्यवस्था मे धीरे-धीरे परिवर्तन शुरू हो गया है।

टोडा (Toda)—कादर जनजाति की अर्थ-व्यवस्था भोजन इकट्ठा तथा शिकार करने वाली जनजातियो की अर्थ-व्यवस्था है। इसके विपरीत, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, नीलगिरी के टोडा विशुद्ध रूप से पशुपालक हैं। ये कृषि अथवा दस्तकारी का कोई कार्य नही करते हैं, बल्कि काफी सख्या मे भैंस को पालते हैं और भैंस के दूध तथा दूध से बनी चीजो को पास-पडोस के लोगो को देते हैं और उसके बदले मे अपनी रोज की आवश्यक चीजो को प्राप्त करते हैं। दूध और उससे बनी चीजो को बेचने के कारण इन टोडा लोगो का सम्पर्क नीलगिरी पर्वत के नीचे समतल भूमि पर रहने वालो से भी हो गया है। इस प्रकार टोडा जनजाति के आर्थिक जीवन का एक मात्र आधार भैंस है। इसीलिए कुछ भैंसें इतनी पवित्र समझी जाती हैं कि जहाँ इनका दूध निकाला और दही मथा जाता है वह स्थान इस जनजाति के लोगो का मन्दिर होता है। यहाँ बडी ऊँची तथा शकु के आकार वाली (conical) छत वाली पवित्र झोपडी मे बडे जटिल कर्मकाण्ड का अनुसरण करते हुए पुरोहित इन भैंसो का दूध निकालते हैं। स्त्रियो को इनसे सम्बन्धित समस्त कार्यों से दूर रखा जाता है। इस सम्बन्ध मे विस्तारित विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं।

कोरवा (Korwa)—कोरवा जनजाति उत्तर प्रदेश मे मिर्जापुर के दुद्धी परगने मे रहती है। वहाँ का अधिकाश भाग बहुत घने जगलो से भरा था परन्तु आदिवासियो ने स्थानान्तरित खेती करने के लिए इस जगल के कुछ भागो को जलाकर साफ कर दिया है। ये लोग खेती करने के लिये जगल के पेडो को काटकर उन्हे एक स्थान पर एकत्र करके जला देते हैं और फिर उस राख को सारे स्थान मे, जहाँ खेती करनी हो, बिछा देते हैं और उसमे बीज बो देते हैं। जब दो-एक वर्ष खेती करने के बाद उस स्थान की भूमि की उर्वरा-शक्ति समाप्त हो जाती है तो वे लोग स्थान परिवर्तन करके दूसरे किसी स्थान पर इसी प्रकार से खेती करते हैं। कोरवा प्रदेश मे पानी की बहुत कमी है, क्योंकि कन्हार रिन्ध, बिच्छी, लहूरा तथा अन्य छोटी-छोटी नदियाँ पूरे साल तक पानी नही पहुँचा पाती हैं। साथ ही, इस परगने मे सूखी जलवायु तथा पानी के अभाव के कारण वहाँ पक्षी देखने को नही मिलते हैं। इसलिए कोरवा लोगो को अपना पेट भरने के लिये कठोर परिश्रम करना पडता है। इस प्रदेश के निर्बल पशु गहरी जुताई नही कर पाते हैं। जो कुछ भी कर पाते हैं उसे जुताई न कहकर जमीन को खुरचना ही कहना अधिक उचित होगा। इसके अतिरिक्त सिचाई के लिए पानी की कमी, खाद का अभाव आदि खेती को कोरवा लोगो के लिये एक समस्या ही बना देते हैं। पानी आदि के लिये प्रकृति पर अत्यधिक निर्भर रहना पडता है और प्रकृति प्राय सहयोग करने को राजी नही होती है जिसके फलस्वरूप

फसलो का खराब होना कोरवा लोगो के आर्थिक जीवन की एक साधारण घटना है। यही कारण है कि कोरवा लोग बहुत गरीब हैं और साल भर कठोर परिश्रम करने के बाद भी पेट भरने कि समस्या को सुलझा नही पाते हैं। फलत वे निर्दय महाजनो के पजो मे फँस जाते हैं या भूमि के मालिको के द्वारा उनका खूब शोषण होता है।

अधिकतर भारतीय जनजातियो की यही 'कहानी' है।

SELECTED READINGS

1 A Committee of the Royal Anthropological Institution of Great Britain and Ireland *Notes and Queries on Anthropology*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1954.

2 Beals and Hoijer *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959

3 Boas and Others *General Anthropology*, D C Heath & Co , New York, 1938

4 Govt of India *The Adivasis*, The Publication Division, Delhi, 1960

5 Herskovits, M J *Economic Anthropology*, Alfred A Knopf, New York 1952

6 Herskovits, M J *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956

7 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

8 Lowie, Robert H *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1953.

9. Majumdar, D N *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958

10 Majumdar and Madan *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1960

11 Piddington, R *An Introduction to Social Anthropology*, Vol I, Oliver and Boyd, London, 1952.

12 Raymond Firth, *Element of Social Organization*, Watts & Co , London, 1951

13 Thurnwald, R *Economies in Primitive Communities*, Oxford University Press, Oxford, 1932

14 V F Calverton *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931

15 White, L A *The Evolution of Culture*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1959

१३

धर्म और जादू

(RELIGION AND MAGIC)

विषय-सूची—तेरहवाँ अध्याय

१. भूमिका
२ धर्म की परिभाषा
३ धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त
आत्मावाद या जीववाद
जीवितसत्तावाद या मानावाद
प्रकृतिवाद
फ्रेज़र का सिद्धान्त
धर्म का सामाजिक सिद्धान्त
प्रकार्यवादी सिद्धान्त
४ धर्म का व्यावहारिक पक्ष
५ जादू क्या है ?
६ जादुई क्रियाओं के तत्त्व
७ जादू के भेद
८ जादू और विज्ञान
९ जादू और धर्म

अध्याय १३

धर्म और जादू
(Religion and Magic)

मानव संसार की समस्त घटनाओं या सृष्टि के रहस्यों को नहीं समझ पाता है। अपने जीवन के रोज के अनुभवों से वह यह सीखता है कि अनेक ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर उसका कोई वश नहीं है। स्वभावतः ही उसमें यह धारणा पनपती है कि कोई एक ऐसी भी शक्ति है जो कि दिखायी नहीं देती, परन्तु वह किसी भी मनुष्य से कहीं अधिक शक्तिशाली है। यह शक्ति अलौकिक शक्ति है, इसे डरा-धमका कर या ऐसे अन्य किसी उपाय से अपने वश में नहीं किया जा सकता है। इस शक्ति को अपने पक्ष में लाने का एक मात्र उपाय इसके सम्मुख सिर झुकाकर पूजा, प्रार्थना या आराधना करना है। इस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित विश्वासों और क्रियाओं को ही धर्म कहते हैं।

इसके विपरीत, कुछ ऐसी शक्तियाँ भी हैं जो कि मनुष्य की अपनी शक्ति से अधिक शक्तिशाली हैं, परन्तु इनपर कुछ निश्चित तरीकों से अधिकार किया जा सकता है। इसीलिये मानव इस शक्ति के सामने झुकने के बजाय इसपर अपना अधिकार स्थापित करके उससे अपने उद्देश्यों की पूर्ति करवाता है। इसीको जादू कहते हैं।

उपरोक्त दो प्रकार की शक्तियों को और अच्छी तरह समझने के लिये हम अब धर्म और जादू की अलग-अलग विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

धर्म
(Religion)

धर्म की परिभाषा
(Definition of Religion)

धर्म किसी-न-किसी प्रकार की अतिमानवीय (superhuman) या अलौकिक (supernatural) या समाजोपरि (suprasocial) शक्ति पर विश्वास है, जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराधना है।[1] उपरोक्त परिभाषा आदिम और आधुनिक दोनों प्रकार के समाजों में पाये जाने वाले धर्मों की एक सामान्य व्याख्या है। प्रत्येक धर्म का आधार किसी शक्ति पर विश्वास है और यह शक्ति मानव-शक्ति से अवश्य ही श्रेष्ठ है। परन्तु केवल विश्वास

1 "Religion is the belief in one or the other superhuman, or supernatural, or suprasocial power which (the belief) has for its basis the fear, the reverence, the devotion and the idea of sacredness and which is expressed through prayer, worship or submission" R N Mukherjee, *People and Institution of India*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1961, p 94

से ही धर्म सम्पूर्ण नही है। इस विश्वास का एक भावनात्मक (emotional) आधार भी होता है, जैसे उस शक्ति के सम्बन्ध मे भय या उसके दण्ड का भय। साथ ही, उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रेम-भाव भी धर्म का आवश्यक अंग है। उस शक्ति से लाभ उठाने के लिये और उसके कोप से बचने के लिये प्रार्थना, पूजा या आराधना करने की विधियाँ या संस्कार (rituals) भी हुआ करते हैं। इन धार्मिक क्रियाओ मे अलग-अलग समाज मे अलग-अलग तरह की धार्मिक सामग्रियो (religious objects), धार्मिक प्रतीको (religious symbols) और जादू-टोने, पौराणिक कथाओ आदि का समावेश होता है। उस शक्ति का, जिसपर विश्वास किया जाता है, रूप और स्वरूप भी प्रत्येक समाज मे अलग-अलग होता है। कही तो निराकार शक्ति की आराधना की जाती है और कही उस शक्ति का साकार रूप (मूर्ति या प्रतिमा) पूजा जाता है। संक्षेप मे, इस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित समस्त विश्वासो, भावनाओ और क्रियाओ के सम्मिलित रूप को धर्म कहते हैं।

आधुनिक मानवशास्त्र के प्रवर्तक श्री एडवर्ड टायलर (Edward Tylor) ने ही शायद सर्वप्रथम सबसे कम शब्दो मे धर्म की सबसे विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की थी। आपके अनुसार, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है।"[2]

सर जेम्स फ्रेज़र (Sir James Frazer) के मतानुसार धर्म की प्रकृति और भी निश्चित है। आपने लिखा है, "धर्म से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियो की संतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध मे यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव-जीवन को मार्ग दिखलाती और नियन्त्रित करती हैं।"[3] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि श्री फ्रेजर ने धर्म के तीन प्रमुख पहलुओ पर बल दिया है। प्रथम तो यह कि धर्म का सम्बन्ध एक ऐसी शक्ति से होता है जो कि मानव शक्ति से श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि यह वह शक्ति है जो कि प्रकृति तथा मानव-जीवन को निर्देशित तथा नियन्त्रित करती है। और तीसरी बात यह है कि यह शक्ति मनुष्य-शक्ति से श्रेष्ठ है और चूंकि वह प्रकृति तथा मानव-जीवन को निर्धारित तथा नियन्त्रित करने वाली है, इस कारण भलाई इसी मे है कि उसे खुश रक्खा जाय चाहे यह खुश रखने का तरीका आराधना हो, या पूजा हो या और कुछ। धर्म के अन्तर्गत ये तीनो तत्त्व सम्मिलित हैं।

कुछ विद्वानो ने अपनी परिभाषा मे मानसिक या मनोवैज्ञानिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। उदाहरणार्थ श्री हानिगशीम (Honigsheim) के अनुसार, "प्रत्येक मनोवृत्ति जो कि इस विश्वास पर आधारित या इस विश्वास से सम्बन्धित है कि अलौकिक शक्तियो का अस्तित्व है और उनसे सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव व महत्त्वपूर्ण

---

2 "Religion is the belief in Spiritual Beings" Edward B Tylor, *Primitive Culture*, John Murray, London, 1913, p 424

3 "By religion I understand a propitiation or conciliation of powers superior to man which are believed to direct and control the course of nature and of human life" Sir James Frazer, *The Golden Bough*, The Macmillan Co, New York, 1950, p 459

है, धर्म कहलाती है।"[4] इस परिभाषा मे श्री हानिगशीम ने चार बातो पर बल दिया है। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक धर्म का आधार विश्वास है। अविश्वास के क्षेत्र मे धर्म का प्रवेश नही हो सकता है अर्थात् जहाँ अविश्वास है वहाँ से धर्म भी दूर है क्योकि धर्म तो मनुष्यो के विश्वास पर ही टिका हुआ है। दूसरी बात यह है कि धर्म इस विश्वास से सम्बन्धित मानव की मनोवृत्ति है। ये दोनो ही मनोवैज्ञानिक तत्त्व (psychological element) हैं। धर्म की यह विशेषता सम्भवत इस ओर सकेत करती है कि धर्म कोई बाहरी घटना (external phenomenon) नही है, धर्म तो एक आन्तरिक अनुभूति है, इसका स्थान तो मनुष्य के मन मे है। तीसरी बात यह कि मनुष्यो मे इस बात का भी विश्वास होना चाहिये कि अलौकिक (supernatural) शक्तियो का अस्तित्व है और मनुष्यो के लिये यह सम्भव है कि वे इन शक्तियो से अपना सम्बन्ध स्थापित करे। यह धर्म की एक बहुत ही रोचक विशेषता है। धर्म मे शक्तियाँ अलौकिक हैं, फिर भी वे अपनी ही हैं और चूँकि अपनी है इसी कारण उनसे सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव है। भक्तो के भगवान अर्थात् भगवान भक्तो के (यानी जो उनपर विश्वास करता है उनके) ही आत्मजन होते हैं, इस कथन मे धर्म की उपरोक्त तीसरी विशेपता ही झलकती है। और चौथी बात यह है कि अलौकिक शक्ति से केवल सम्बन्ध स्थापित ही नही हो सकता है, बल्कि ये सम्बन्ध मनुष्यो के लिये महत्त्वपूर्ण है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) धर्म के समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनो ही पहलुओ को एक-सा महत्त्वपूर्ण मानते है। इसी आधार पर आपके अनुसार, "धर्म क्रिया का एक तरीका है और साथ ही विश्वासो की एक व्यवस्था भी, और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।"[5] इस कथन से धर्म की चार प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हैं। पहली विशेपता यह है कि धर्म विश्वासो की एक व्यवस्था है। यह विश्वास किसी अलौकिक शक्ति, आत्मा, परमात्मा या और किसी पर हो सकता है। ये विश्वासो की एक व्यवस्था इस अर्थ मे है कि उस अलौकिक शक्ति पर कुछ परम्परा-स्वीकृत तरीको से विश्वास करते है या उसके विषय मे चिन्ता करते हैं। उदाहरणार्थ, एक समाज अपने धर्म के अन्तर्गत निराकार शक्ति पर विश्वास करता है, तो वह समाज उस निराकार शक्ति के बारे मे जो कुछ सोचेगा या जिस ढग से सोचेगा वह उस समाज के ढग से भिन्न होगा जहाँ साकार शक्ति पर विश्वास किया जाता है। धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक धर्म मे विश्वासो से सम्बन्धित कुछ क्रियाएँ या कर्म होते हैं। अर्थात् धार्मिक विश्वास उस शक्ति के प्रति मनुष्य को निष्क्रिय (passive) या उदासीन रहने नही देता। उसे कर्म करना पडता है और इस कर्म की अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा-पाठ या आराधना के रूप मे होती है। धर्म की तीसरी विशेपता यह है

4 "The term religion will be used to denote every attitude based on, and connected with, the conviction that supernatural forces exist and that relations with them are possible and significant" P Honigsheim, *Sociology of Religion*, Modern Sociological Theory, The Dryden Press, New York, 1957, p 452

5 "Religion is a mode of action as well as a system of belief, and a sociological phenomenon as well as a personal experience" B Malinowski, *Magic, Science and Religion and Other Essays*, Glencoe, 1948, p 24

से ही धर्म सम्पूर्ण नही है। इस विश्वास का एक भावनात्मक (emotional) आधार भी होता है, जैसे उस शक्ति के सम्बन्ध मे भय या उसके दण्ड का भय। साथ ही, उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रेम-भाव भी धर्म का आवश्यक अग है। उस शक्ति से लाभ उठाने के लिये और उसके कोप से बचने के लिये प्रार्थना, पूजा या आराधना करने की विधियाँ या सस्कार (rituals) भी हुआ करते हैं। इन धार्मिक क्रियाओ मे अलग-अलग समाज मे अलग-अलग तरह की धार्मिक सामग्रियो (religious objects), धार्मिक प्रतीको (religious symbols) और जादू-टोने, पौराणिक कथाओ आदि का समावेश होता है। उस शक्ति का, जिसपर विश्वास किया जाता है, रूप और स्वरूप भी प्रत्येक समाज मे अलग-अलग होता है। कही तो निराकार शक्ति की आराधना की जाती है और कही उस शक्ति का साकार रूप (मूर्ति या प्रतिमा) पूजा जाता है। सक्षेप मे, इस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित समस्त विश्वासो, भावनाओ और क्रियाओ के सम्मिलित रूप को धर्म कहते हैं।

आधुनिक मानवशास्त्र के प्रवर्तक श्री एडवर्ड टायलर (Edward Tylor) ने ही शायद सर्वप्रथम सबसे कम शब्दो मे धर्म की सबसे विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की थी। आपके अनुसार, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है।"[2]

सर जेम्स फ्रेजर (Sir James Frazer) के मतानुसार धर्म की प्रकृति और भी निश्चित है। आपने लिखा है, "धर्म से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियो की सतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध मे यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव-जीवन को मार्ग दिखलाती और नियन्त्रित करती है।"[3] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि श्री फ्रेजर ने धर्म के तीन प्रमुख पहलुओ पर बल दिया है। प्रथम तो यह कि धर्म का सम्बन्ध एक ऐसी शक्ति से होता है जो कि मानव शक्ति से श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि यह वह शक्ति है जो कि प्रकृति तथा मानव-जीवन को निर्देशित तथा नियत्रित करती है। और तीसरी बात यह है कि यह शक्ति मनुष्य-शक्ति से श्रेष्ठ है और चूंकि वह प्रकृति तथा मानव-जीवन को निर्धारित तथा नियन्त्रित करने वाली है, इस कारण भलाई इसी मे है कि उसे खुश रखा जाय चाहे यह खुश रखने का तरीका आराधना हो, या पूजा हो या और कुछ। धर्म के अन्तर्गत ये तीनो तत्त्व सम्मिलित हैं।

कुछ विद्वानो ने अपनी परिभाषा मे मानसिक या मनोवैज्ञानिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। उदाहरणार्थ श्री हानिगशीम (Honigsheim) के अनुसार, "प्रत्येक मनोवृत्ति जो कि इस विश्वास पर आधारित या इस विश्वास से सम्बन्धित है कि अलौकिक शक्तियो का अस्तित्व है और उनसे सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव व महत्त्वपूर्ण

---

2 "Religion is the belief in Spiritual Beings" Edward B Tylor, *Primitive Culture*, John Murray, London, 1913, p 424

3 "By religion I understand a propitiation or conciliation of powers superior to man which are believed to direct and control the course of nature and of human life" Sir James Frazer, *The Golden Bough*, The Macmillan Co, New York, 1950, p 459

है, धर्म कहलाती है।"[4] इस परिभाषा मे श्री हानिगशीम ने चार बातो पर बल दिया है। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक धर्म का आधार विश्वास है। अविश्वास के क्षेत्र मे धर्म का प्रवेश नही हो सकता है अर्थात् जहाँ अविश्वास है वहाँ से धर्म भी दूर है क्योकि धर्म तो मनुष्यो के विश्वास पर ही टिका हुआ है। दूसरी बात यह है कि धर्म इस विश्वास से सम्बन्धित मानव की मनोवृत्ति है। ये दोनो ही मनोवैज्ञानिक तत्त्व (psychological element) है। धर्म की यह विशेषता सम्भवत इस ओर सकेत करती है कि धर्म कोई बाहरी घटना (external phenomenon) नही है, धर्म तो एक आन्तरिक अनुभूति है, इसका स्थान तो मनुष्य के मन मे है। तीसरी बात यह कि मनुष्यो मे इस बात का भी विश्वास होना चाहिये कि अलौकिक (supernatural) शक्तियो का अस्तित्व है और मनुष्यो के लिये यह सम्भव है कि वे इन शक्तियो से अपना सम्बन्ध स्थापित करे। यह धर्म की एक बहुत ही रोचक विशेपता है। धर्म मे शक्तियाँ अलौकिक हैं, फिर भी वे अपनी ही हैं और चूँकि अपनी हैं इसी कारण उनसे सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव है। भक्तो के भगवान अर्थात् भगवान भक्तो के (यानी जो उनपर विश्वास करता है उनके) ही आत्मजन होते हैं, इस कथन मे धर्म की उपरोक्त तीसरी विशेपता ही झलकती है। और चौथी बात यह है कि अलौकिक शक्ति से केवल सम्बन्ध स्थापित ही नही हो सकता है, बल्कि ये सम्बन्ध मनुष्यो के लिये महत्त्वपूर्ण है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) धर्म के समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनो ही पहलुओ को एक-सा महत्त्वपूर्ण मानते है। इसी आधार पर आपके अनुसार, "धर्म क्रिया का एक तरीका है और साथ ही विश्वासो की एक व्यवस्था भी, और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।"[5] इस कथन से धर्म की चार प्रमुख विशेपताएँ स्पष्ट हैं। पहली विशेपता यह है कि धर्म विश्वासो की एक व्यवस्था है। यह विश्वास किसी अलौकिक शक्ति, आत्मा, परमात्मा या और किसी पर हो सकता है। ये विश्वासो की एक व्यवस्था इस अर्थ मे है कि उस अलौकिक शक्ति पर कुछ परम्परा-स्वीकृत तरीको से विश्वास करते हैं या उसके विषय मे चिन्ता करते हैं। उदाहरणार्थ, एक समाज अपने धर्म के अन्तर्गत निराकार शक्ति पर विश्वास करता है, तो वह समाज उस निराकार शक्ति के बारे मे जो कुछ सोचेगा या जिस ढग से सोचेगा वह उस समाज के ढग से भिन्न होगा जहाँ साकार शक्ति पर विश्वास किया जाता है। धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक धर्म मे विश्वासो से सम्बन्धित कुछ क्रियाएँ या कर्म होते हैं। अर्थात् धार्मिक विश्वास उस शक्ति के प्रति मनुष्य को निष्क्रिय (passive) या उदासीन रहने नही देता। उसे कर्म करना पडता है और इस कर्म की अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा-पाठ या आराधना के रूप मे होती है। धर्म की तीसरी विशेपता यह है

4 "The term religion will be used to denote every attitude based on, and connected with, the conviction that supernatural forces exist and that relations with them are possible and significant" P Honigsheim, *Sociology of Religion*, Modern Sociological Theory, The Dryden Press, New York, 1957, p 452

5 "Religion is a mode of action as well as a system of belief, and a sociological phenomenon as well as a personal experience" B Malinowski, *Magic, Science and Religion and Other Essays*, Glencoe, 1948, p 24

(५) उपरोक्त विश्वास अपने आप, अनिवार्य और सक्रिय रूप मे मनुष्य को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह उन प्रभावशाली आत्माओ को प्रसन्न करने के लिये उनकी आराधना, प्रार्थना या पूजा करे। आत्माओ की पूजा ही धर्म का प्रारम्भिक रूप है।

समालोचना (Criticism)—सर्वश्री लैंग (Lang), मैरेट (Marrett), वुण्ट (Wundt), जेवन्स (Jevons) आदि विद्वानो ने श्री टायलर के सिद्धान्त की जो समालोचना की है उसमे से निम्नलिखित उल्लेखनीय है —

(क) श्री टायलर के सिद्धान्त की सर्वप्रमुख दुर्बलता यह है कि आपने आदिम मनुष्यो को अत्यधिक तर्कयुक्त दार्शनिक के रूप मे मान लिया है। आत्मावाद के सिद्धान्त को देखने से पता लगता है कि सम्पूर्ण सिद्धान्त को बहुत सिलसिलेवार प्रस्तुत किया गया है। इतने सिलसिलेवार से आदिम मनुष्य तो क्या आधुनिक मनुष्य भी सोच नही सकता। इसलिये हम कह सकते हैं कि इतने क्रमबद्ध रूप से आत्मा की धारणा को विकसित करना आदिम मनुष्यो के लिये सम्भव नही था जैसा कि श्री टायलर ने सोचा है।

(ख) श्री टायलर के सिद्धान्त से यह पता चलता है कि आदिम समाजो मे धर्म का स्वरूप आत्माओ पर विश्वास और उनकी पूजा या आराधना है। दूसरे शब्दो मे, श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त के माध्यम से यह विचार प्रस्तुत किया है कि जनजातियो मे ऊँचे देवताओ की धारणा नही होती। श्री एण्ड्रयू लैंग (Andrew Lang) के अनुसार श्री टायलर का यह विचार गलत है। उन्होने लिखा है कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे नैतिक दृष्टि से विशुद्ध सृष्टिकर्ता या ईश्वर की धारणा पायी जाती है। श्री श्मिड (Schmidt) ने भी श्री लैंग के विचार का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि कुछ नीग्रिटो जनजातियो मे, अमेरिका के कैलीफोर्निया की जनजातियो मे और फ्यूजी जनजातियो मे परमेश्वर की धारणा पायी जाती है। इन तथ्यो के आधार पर श्री टायलर के इस मत से सहमत होना उचित न होगा कि जनजातियो के धर्म मे अर्थात् प्रारम्भिक रूप के धर्म मे केवल आत्मा की धारणा थी और ऊँचे देवताओ की धारणा का विकास बाद मे हुआ।

(ग) श्री मैरेट (Marett) का कथन है कि श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त मे केवल आत्मा पर विश्वास का ही उल्लेख किया है परन्तु जनजातियो के जीवन का गहन अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि जनजातीय लोग दूसरी ऐसी शक्तियो मे भी विश्वास करते हैं, जो कि आत्मा की शक्ति से भिन्न हैं। इसलिये केवल आत्मा की धारणा को ही जनजातीय धर्म का आधार मानना उचित न होगा, क्योकि जनजातियो मे अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर श्री मैरेट ने अपने जीवितसत्तावाद (Animatism) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसपर कि हम आगे विचार करेंगे।

(घ) श्री टायलर ने धर्म को अति सरल रूप मे प्रस्तुत किया है और इसीलिये इसकी उत्पत्ति को भी सरल ही मान लिया है। परन्तु धर्म इतनी सरल सस्था नही है जितना कि श्री टायलर ने सोचा है। धर्म की उत्पत्ति परछाई, स्वप्न, प्रतिध्वनि आदि कुछ सीमित अनुभवो के आधार पर हुई है, यह सोचना गलत है।

कि धर्म एक सामाजिक घटना (phenomenon) है। एक ही समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग धर्म है, ऐसा देखा नही गया। धर्म की चौथी विशेषता यह है कि धर्म को मानना या न मानना स्वय व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है और यह बात उसके व्यक्तिगत अनुभवो द्वारा प्रभावित होती है। हो सकता है कि एक हिन्दू के जीवन मे कुछ ऐसे अनुभव हो जिनके कारण वह हिन्दू धर्म को त्यागकर इस्लाम को अपना ले। धर्म की यह विशेषता अनुभव द्वारा प्राप्त व्यक्ति की अपनी मानसिक स्थितियो पर बल देती है।

ऐसे तो धर्म की असख्य परिभाषाएँ[6] विभिन्न विद्वानो ने प्रस्तुत की हैं, फिर भी धर्म का सामान्य स्वरूप उपरोक्त परिभाषाओ व विवेचना से काफी स्पष्ट हो जाता है। आगे यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories Regarding Origin of Religion)

मानव-समाज मे धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई और उसका प्रारम्भिक रूप क्या था, इस सम्बन्ध मे मानवशास्त्रियो ने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। विकासवादी लेखको के अनुसार आधुनिक सभ्य समाज जनजातीय या आदिकालीन समाजो का ही क्रमिक विकसित रूप है, इस कारण धर्म की उत्पत्ति भी सर्वप्रथम जनजातीय समाजो मे ही हुई होगी। अत अनेक मानवशास्त्री जनजातियो के जीवन का विश्लेषण करके धर्म की उत्पत्ति और उसके प्रारम्भिक रूप को ढूँढने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ हम धर्म की उत्पत्ति के कुछ प्रमुख सिद्धान्तो की विवेचना करेंगे।

(१) आत्मावाद या जीववाद
(Animism)

श्री एडवर्ड टायलर (Edward B Tylor) इस सिद्धान्त के प्रवर्तक है। आपके अनुसार आत्मा की धारणा ही "आदिम मनुष्यो से लेकर सभ्य मनुष्यो तक के धर्म के

---

6 "Religion," says Schleiermacher, "consists of an absolute sense of our dependence" "It is," says Feuerbach, "a desire which manifests itself in prayer, sacrifice and faith" Kant saw in it, "a sense of our duties as based on divine law" "Religion," says Max Muller, "is a faculty of the mind which enables a man to grasp the infinite independently of sense and reason" The great English ethnographer, Tylor, is more modest, and accepts as the minimum definition of religion "a belief in spiritual beings" Marie-Jean Guyau was the first, in 1887, to introduce into the definition of religion an element essential to all religions, a social character "Religion," he said, "is a universal sociomorphism" Quoted by Salomon Reinach, *Orpheus A History of Religions*, translated by William Siegel, Liveright Publication Corporation, New York, 1942, p 23

(For a recent survey of the numerous conceptions of religion, please see Joachim Wach, *Sociology of Religion*, University of Chicago Press, Chicago, 1944)

दर्शन का आधार है।"[7] यह आत्मवाद दो वृहत् विश्वासो मे विभाजित है—प्रथम तो यह कि मनुष्य की आत्मा का अस्तित्व मृत्यु या शरीर के नष्ट होने के पश्चात् भी बना रहता है और द्वितीय यह है कि मनुष्यो की आत्माओ के अतिरिक्त शक्तिशाली देवताओ की अन्य आत्माएँ भी होती है।[8] श्री टायलर के अनुसार आत्माएँ प्रेतात्माओ से लेकर शक्तिशाली देवताओ की श्रेणी तक की होती हैं। ये पारलौकिक आत्माएँ केवल अमर ही नही हैं, वरन् वे इस भौतिक ससार की सब घटनाओ को तथा मनुष्यो के जीवन की दिशा को भी निर्देशित व नियन्त्रित करती हैं। इसीलिये लोग इन आत्माओ से डरते है या श्रद्धा-भक्ति करते है, जिससे कि धर्म की उत्पत्ति होती है।

अत स्पष्ट है कि श्री टायलर के मतानुसार धर्म की उत्पत्ति मे आत्माओ पर विश्वास ही सर्वप्रमुख है। परन्तु आत्माओ पर विश्वास आदिवासियो को कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर मे श्री टायलर का कथन है कि आत्माओ पर विश्वास आदिवासियो के रोज के जीवन से सम्बन्धित दो प्रकार के अनुभवो के कारण विशेष रूप से उत्पन्न हुआ। वे दो अनुभव (अ) मृत्यु और (ब) स्वप्न थे। एक जीवित और एक मृत व्यक्ति के बीच पाये जाने वाले भेदो को देखकर आदिम मनुष्य के मस्तिष्क मे यह बात आयी कि जीवित व्यक्ति के शरीर के अन्दर अवश्य ही कोई-न-कोई ऐसी चीज या शक्ति रहती है जिसके चले जाने पर अर्थात् शरीर से निकल जाने पर शरीर क्रियाहीन हो जाता है। उस अवस्था मे मनुष्य न बोल पाता है, न खा सकता है, न चल पाता है और न ही अन्य कोई कार्य कर सकता है। पर यह चीज या शक्ति क्या है ? इसका उत्तर स्वप्न तथा अन्य अनुभवो ने दिया। मनुष्य अपनी आवाज की गूँज सुनता था, अपनी परछाई देखता था और स्वप्न मे अनेक प्रकार के कार्य करता था, अपने को और दूसरे अनेक जीवित और मृत व्यक्तियो को उस सपने मे देखता भी था। शरीर से सम्बन्धित इन चीजो को ही मनुष्य ने 'आत्मा' का नाम दिया जो कि उसके उपरोक्त अनुभवो के अनुसार "एक पतली निराकार मानव प्रतिमूर्ति, आकृति मे कोहरा, चलचित्र या छाया की भाँति है।"[9]

फिर भी इस सम्बन्ध मे मनुष्य की एक शका बनी ही रही और वह यह कि सोते समय भी तो मनुष्य मृत-तुल्य होता है, पर सपनो मे कोई चीज या शक्ति शरीर से निकलकर विभिन्न स्थानो मे जाती है, अनेक प्रकार का कार्य करती है और अनेक जीवित और मृत व्यक्तियो से मिलती है और अन्त मे एक समय अपनी इच्छानुसार फिर लौट आती है और मनुष्य, नीद टूटने पर, फिर पूर्ववत हो जाता है। अर्थात् यह दूसरी शक्ति पहली शक्ति की तरह नही है कि शरीर से एक बार निकल जाने के बाद फिर लौटकर नही आती। यह स्वतन्त्र शक्ति है जो अपनी इच्छानुसार शरीर से बाहर निकल

---

7 "Animism is the groundwork of the Philosophy of Religion from that of savages upto that of civilized men " E B Tylor, *op cit*, p 426

8 Animism is subdivided into "two great dogmas first, concerning souls of individual creatures, capable of continued existence after the death or destruction of the body, second, concerning other spirits, upward to the rank of powerful deities," *Ibid*, p 426

9 ' It is a thin unsubstantial human image, in its nature a sort of vapour, film or shadow " *Ibid*, p 429

जाती है और परछाईं के रूप मे दिखाई देती है आवाज की प्रतिध्वनि करती है और सपनो मे अनेक प्रकार का अनुभव करती है। सक्षेप मे, सपनो के आधार पर आदिमानव दो निष्कर्षों पर आता है—प्रथम तो यह कि आत्माएँ दो हैं—(अ) स्वतन्त्र-आत्मा (free soul) जो शरीर के बाहर जाकर विभिन्न प्रकार के अनुभव करने और फिर वापस चले जाने के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र है, और (ब) शरीर-आत्मा (body soul) जो एक बार शरीर छोडकर चले जाने के बाद फिर लौटकर नही आती और मनुष्य मर जाता है। दूसरा निष्कर्ष यह था कि आत्मा अमर है, क्योकि सपनो मे वे व्यक्ति भी दिखायी देते हैं जो बहुत पहले ही मर चुके हैं। अगर आत्मा अमर न होती तो उन्हे फिर से देखना कैसे सम्भव होता ?

श्री टायलर के अनुसार आदिम मानव मे यह विश्वास है कि ये आत्माएँ मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हैं। साथ ही, यह भी माना जाता है कि ये आत्माएँ मनुष्यो से सम्बन्ध बनाये रखती हैं, मनुष्यो के अच्छे-बुरे कार्यों से इन आत्माओ को दुख और सुख होता है। इसके अतिरिक्त, इन आत्माओ को प्रसन्न रखने से मनुष्य को लाभ और इनके अप्रसन्न होने पर मनुष्य को नुकसान हो सकता है। इसलिये इनकी विनती या आराधना करना आवश्यक है जिससे वे हमारा अनिष्ट न करे। इस विश्वास को लेकर आदिम मनुष्य मे पितरो की विनती आरम्भ की और यही आगे चलकर धर्म के रूप मे विकसित हुई।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर आत्मावाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) आत्मावाद का मूल आधार आत्माओ के अस्तित्व मे विश्वास है। यह 'वाद' यह विश्वास करता है कि मनुष्यो की आत्माओ की अलावा दूसरी प्रकार की आत्माएँ भी हैं जिनमे प्रेतात्माओ से लेकर शक्तिशाली देवताओ की श्रेणी तक सभी आत्माएँ सम्मिलित है। इस प्रकार आत्मावाद मे आत्मा एक नही अनेक हैं। दूसरे शब्दो मे आत्मावाद अनेक आत्माओ पर विश्वास है।

(२) इन आत्माओं की अवधारणा (concept) का जन्म आदिम मनुष्यो के रोज के जीवन मे होने वाले अनुभवो के कारण हुआ। इन अनुभवो मे मृत्यु और स्वप्न सर्वप्रमुख थे। इनके अतिरिक्त आवाज का गूँजना, परछाई आदि को देखना इस प्रक्रिया मे सहायक सिद्ध हुए।

(३) इन अनुभवो के आधार पर आत्माओ को दो मुख्य श्रेणियो मे बाँटा गया—एक तो स्वतन्त्र-आत्मा जिसका कि अस्तित्व शरीर नष्ट हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है और दूसरी शरीर-आत्मा जो कि मनुष्य की मृत्यु या शरीर नष्ट हो जाने के बाद भी जीवित रहती है। आत्मावाद का सम्बन्ध इन अमर आत्माओ से ही है।

(४) ये आत्माएँ इस भौतिक ससार की सब घटनाओ को तथा मनुष्यो के वर्तमान तथा पारलौकिक जीवन को प्रभावित या नियन्त्रित करती हैं। आत्मावाद मे यह विश्वास उल्लेखनीय है। यदि किसी समाज मे मनुष्यो मे यह विश्वास नही है तो ऐसे समाज मे आत्मावाद का जन्म नही हो सकता।

(५) उपरोक्त विश्वास अपने आप, अनिवार्य और सक्रिय रूप से मनुष्य को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह उन प्रभावशाली आत्माओ को प्रसन्न करने के लिये उनकी आराधना, प्रार्थना या पूजा करे। आत्माओ की पूजा ही धर्म का प्रारम्भिक रूप है।

समालोचना (Criticism)—सर्वश्री लैग (Lang), मैरेट (Marrett), वूण्ट (Wundt), जेवन्स (Jevons) आदि विद्वानो ने श्री टायलर के सिद्धान्त की जो समालोचना की है उसमे से निम्नलिखित उल्लेखनीय है —

(क) श्री टायलर के सिद्धान्त की सर्वप्रमुख दुर्बलता यह है कि आपने आदिम मनुष्यो को अत्यधिक तर्कयुक्त दार्शनिक के रूप मे मान लिया है। आत्मावाद के सिद्धान्त को देखने से पता लगता है कि सम्पूर्ण सिद्धान्त को बहुत सिलसिलेवार प्रस्तुत किया गया है। इतने सिलसिलेवार से आदिम मनुष्य तो क्या आधुनिक मनुष्य भी सोच नही सकता। इसलिये हम कह सकते हैं कि इतने क्रमबद्ध रूप से आत्मा की धारणा को विकसित करना आदिम मनुष्यो के लिये सम्भव नही था जैसा कि श्री टायलर ने सोचा है।

(ख) श्री टायलर के सिद्धान्त से यह पता चलता है कि आदिम समाजो मे धर्म का स्वरूप आत्माओ पर विश्वास और उनकी पूजा या आराधना है। दूसरे शब्दो मे, श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त के माध्यम से यह विचार प्रस्तुत किया है कि जनजातियो मे ऊँचे देवताओ की धारणा नही होती। श्री एण्ड्रयू लैग (Andrew Lang) के अनुसार श्री टायलर का यह विचार गलत है। उन्होने लिखा है कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे नैतिक दृष्टि से विशुद्ध सृष्टिकर्त्ता या ईश्वर की धारणा पायी जाती है। श्री श्मिड (Schmidt) ने भी श्री लैग के विचार का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि कुछ नीग्रिटो जनजातियो मे, अमेरिका के कैलीफोर्निया की जनजातियो मे और फ्यूजी जनजातियो मे परमेश्वर की धारणा पायी जाती है। इन तथ्यो के आधार पर श्री टायलर के इस मत से सहमत होना उचित न होगा कि जनजातियो के धर्म मे अर्थात् प्रारम्भिक रूप के धर्म मे केवल आत्मा की धारणा थी और ऊँचे देवताओ की धारणा का विकास बाद मे हुआ।

(ग) श्री मैरेट (Marett) का कथन है कि श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त मे केवल आत्मा पर विश्वास का ही उल्लेख किया है परन्तु जनजातियो के जीवन का गहन अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि जनजातीय लोग दूसरी ऐसी शक्तियो मे भी विश्वास करते है, जो कि आत्मा की शक्ति से भिन्न हैं। इसलिये केवल आत्मा की धारणा को ही जनजातीय धर्म का आधार मानना उचित न होगा, क्योकि जनजातियो मे अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर श्री मैरेट ने अपने जीवितसत्तावाद (Animatism) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसपर कि हम आगे विचार करेगे।

(घ) श्री टायलर ने धर्म को अति सरल रूप मे प्रस्तुत किया है और इसीलिये इसकी उत्पत्ति को भी सरल ही मान लिया है। परन्तु धर्म इतनी सरल संस्था नही है जितना कि श्री टायलर ने सोचा है। धर्म की उत्पत्ति परछाईं, स्वप्न, प्रतिध्वनि आदि कुछ सीमित अनुभवो के आधार पर हुई है, यह सोचना गलत है।

जाती है और परछाईं के रूप मे दिखाई देती है आवाज की प्रतिध्वनि करती है और सपनो मे अनेक प्रकार का अनुभव करती है। सक्षेप मे, सपनो के आधार पर आदिमानव दो निष्कर्षों पर आता है—**प्रथम** तो यह कि आत्माएँ दो हैं—(अ) स्वतत्र-आत्मा (free soul) जो शरीर के बाहर जाकर विभिन्न प्रकार के अनुभव करने और फिर वापस चले जाने के सम्बन्ध मे स्वतत्र है, और (ब) शरीर-आत्मा (body soul) जो एक बार शरीर छोडकर चले जाने के बाद फिर लौटकर नही आती और मनुष्य मर जाता है। दूसरा निष्कर्ष यह था कि आत्मा अमर है, क्योकि सपनो मे वे व्यक्ति भी दिखायी देते हैं जो बहुत पहले ही मर चुके हैं। अगर आत्मा अमर न होती तो उन्हे फिर से देखना कैसे सम्भव होता ?

श्री टायलर के अनुसार आदिम मानव मे यह विश्वास है कि ये आत्माएँ मनुष्य के नियत्रण के बाहर हैं। साथ ही, यह भी माना जाता है कि ये आत्माएँ मनुष्यो से सम्बन्ध बनाये रखती हैं, मनुष्यो के अच्छे-बुरे कार्यों से इन आत्माओ को दुख और सुख होता है। इनके अतिरिक्त, इन आत्माओ को प्रसन्न रखने से मनुष्य को लाभ और इनके अप्रसन्न होने पर मनुष्य को नुकसान हो सकता है। इसलिये इनकी विनती या आराधना करना आवश्यक है जिससे वे हमारा अनिष्ट न करे। इस विश्वास को लेकर आदिम मनुष्य मे पितरो की विनती आरम्भ की और यही आगे चलकर धर्म के रूप मे विकसित हुई।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर आत्मावाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) आत्मावाद का मूल आधार आत्माओ के अस्तित्व मे विश्वास है। यह 'वाद' यह विश्वास करता है कि मनुष्यो की आत्माओ की अलावा दूसरी प्रकार की आत्माएँ भी हैं जिनमे प्रेतात्माओ से लेकर शक्तिशाली देवताओ की श्रेणी तक सभी आत्माएँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार आत्मावाद मे आत्मा एक नही अनेक हैं। दूसरे शब्दो मे आत्मावाद अनेक आत्माओ पर विश्वास है।

(२) इन आत्माओ की अवधारणा (concept) का जन्म आदिम मनुष्यो के रोज के जीवन मे होने वाले अनुभवो के कारण हुआ। इन अनुभवो मे मृत्यु और स्वप्न सर्वप्रमुख थे। इनके अतिरिक्त आवाज का गूँजना, परछाईं आदि को देखना इस प्रक्रिया मे सहायक सिद्ध हुए।

(३) इन अनुभवो के आधार पर आत्माओ को दो मुख्य श्रेणियो मे बाँटा गया—एक तो स्वतत्र-आत्मा जिसका कि अस्तित्व शरीर नष्ट हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है और दूसरी शरीर-आत्मा जो कि मनुष्य की मृत्यु या शरीर नष्ट हो जाने के बाद भी जीवित रहती है। आत्मावाद का सम्बन्ध इन अमर आत्माओ से ही है।

(४) ये आत्माएँ इस भौतिक ससार की सब घटनाओ को तथा मनुष्यो के वर्तमान तथा पारलौकिक जीवन को प्रभावित या नियत्रित करती हैं। आत्मावाद मे यह विश्वास उल्लेखनीय है। यदि किसी समाज मे मनुष्यो मे यह विश्वास नही है तो ऐसे समाज मे आत्मावाद का जन्म नही हो सकता।

(५) उपरोक्त विश्वास अपने आप, अनिवार्य और सक्रिय रूप से मनुष्य को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह उन प्रभावशाली आत्माओ को प्रसन्न करने के लिये उनकी आराधना, प्रार्थना या पूजा करे। आत्माओ की पूजा ही धर्म का प्रारम्भिक रूप है।

समालोचना (Criticism)—सर्वश्री लैंग (Lang), मैरेट (Marrett), वुण्ट (Wundt), जेवन्स (Jevons) आदि विद्वानो ने श्री टायलर के सिद्धान्त की जो समालोचना की है उसमे से निम्नलिखित उल्लेखनीय है —

(क) श्री टायलर के सिद्धान्त की सर्वप्रमुख दुर्बलता यह है कि आपने आदिम मनुष्यो को अत्यधिक तर्कयुक्त दार्शनिक के रूप मे मान लिया है। आत्मावाद के सिद्धान्त को देखने से पता लगता है कि सम्पूर्ण सिद्धान्त को बहुत सिलसिलेवार प्रस्तुत किया गया है। इतने सिलसिलेवार से आदिम मनुष्य तो क्या आधुनिक मनुष्य भी सोच नही सकता। इसलिये हम कह सकते है कि इतने क्रमबद्ध रूप से आत्मा की धारणा को विकसित करना आदिम मनुष्यो के लिये सम्भव नही था जैसा कि श्री टायलर ने सोचा है।

(ख) श्री टायलर के सिद्धान्त से यह पता चलता है कि आदिम समाजो मे धर्म का स्वरूप आत्माओ पर विश्वास और उनकी पूजा या आराधना है। दूसरे शब्दो मे, श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त के माध्यम से यह विचार प्रस्तुत किया है कि जनजातियो मे ऊँचे देवताओ की धारणा नही होती। श्री एण्ड्रयू लैंग (Andrew Lang) के अनुसार श्री टायलर का यह विचार गलत है। उन्होने लिखा है कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे नैतिक दृष्टि से विशुद्ध सृष्टिकर्त्ता या ईश्वर की धारणा पायी जाती है। श्री श्मिड (Schmidt) ने भी श्री लैंग के विचार का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि कुछ नीग्रिटो जनजातियो मे, अमेरिका के कैलीफोर्निया की जनजातियो मे और फ्यूजी जनजातियो मे परमेश्वर की धारणा पायी जाती है। इन तथ्यो के आधार पर श्री टायलर के इस मत से सहमत होना उचित न होगा कि जनजातियो के धर्म मे अर्थात् प्रारम्भिक रूप के धर्म मे केवल आत्मा की धारणा थी और ऊंचे देवताओ की धारणा का विकास बाद मे हुआ।

(ग) श्री मैरेट (Marett) का कथन है कि श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त मे केवल आत्मा पर विश्वास का ही उल्लेख किया है परन्तु जनजातियो के जीवन का गहन अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि जनजातीय लोग दूसरी ऐसी शक्तियो मे भी विश्वास करते हैं, जो कि आत्मा की शक्ति से भिन्न है। इसलिये केवल आत्मा की धारणा को ही जनजातीय धर्म का आधार मानना उचित न होगा, क्योकि जनजातियो मे अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर श्री मैरेट ने अपने जीवितसत्तावाद (Animatism) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसपर कि हम आगे विचार करेंगे।

(घ) श्री टायलर ने धर्म को अति सरल रूप मे प्रस्तुत किया है और इसीलिये इसकी उत्पत्ति को भी सरल ही मान लिया है। परन्तु धर्म इतनी सरल सस्था नही है जितना कि श्री टायलर ने सोचा है। धर्म की उत्पत्ति परछाईं, स्वप्न, प्रतिध्वनि आदि कुछ सीमित अनुभवो के आधार पर हुई है, यह सोचना गलत है।

जाती है और परछाईं के रूप मे दिखाई देती है आवाज की प्रतिध्वनि करती है और सपनो मे अनेक प्रकार का अनुभव करती है। सक्षेप मे, सपनो के आधार पर आदिमानव दो निष्कर्षों पर आता है—**प्रथम** तो यह कि आत्माएँ दो हैं—(अ) स्वतत्र-आत्मा (free soul) जो शरीर के बाहर जाकर विभिन्न प्रकार के अनुभव करने और फिर वापस चले जाने के सम्बन्ध मे स्वतत्र है, और (ब) शरीर-आत्मा (body soul) जो एक बार शरीर छोडकर चले जाने के बाद फिर लौटकर नही आती और मनुष्य मर जाता है। दूसरा निष्कर्ष यह था कि आत्मा अमर है, क्योकि सपनो मे वे व्यक्ति भी दिखायी देते है जो बहुत पहले ही मर चुके हैं। अगर आत्मा अमर न होती तो उन्हें फिर से देखना कैसे सम्भव होता ?

श्री टायलर के अनुसार आदिम मानव मे यह विश्वास है कि ये आत्माएँ मनुष्य के नियत्रण के बाहर हैं। साथ ही, यह भी माना जाता है कि ये आत्माएँ मनुष्यो से सम्बन्ध बनाये रखती है, मनुष्यो के अच्छे-बुरे कार्यों से इन आत्माओ को दुख और सुख होता है। इसके अतिरिक्त, इन आत्माओ को प्रसन्न रखने से मनुष्य को लाभ और इनके अप्रसन्न होने पर मनुष्य को नुकसान हो सकता है। इसलिये इनकी विनती या आराधना करना आवश्यक है जिससे वे हमारा अनिष्ट न करें। इस विश्वास को लेकर आदिम मनुष्य मे पितरो की विनती आरम्भ की और यही आगे चलकर धर्म के रूप मे विकसित हुई।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर आत्मावाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) आत्मावाद का मूल आधार आत्माओ के अस्तित्व मे विश्वास है। यह 'वाद' यह विश्वास करता है कि मनुष्यो की आत्माओ की अलावा दूसरी प्रकार की आत्माएँ भी हैं जिनमे प्रेतात्माओ से लेकर शक्तिशाली देवताओ की श्रेणी तक सभी आत्माएँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार आत्मावाद मे आत्मा एक नही अनेक हैं। दूसरे शब्दो मे आत्मावाद अनेक आत्माओ पर विश्वास है।

(२) इन आत्माओ की अवधारणा (concept) का जन्म आदिम मनुष्यो के रोज के जीवन मे होने वाले अनुभवो के कारण हुआ। इन अनुभवो मे मृत्यु और स्वप्न सर्वप्रमुख थे। इनके अतिरिक्त आवाज का गूँजना, परछाईं आदि को देखना इस प्रक्रिया मे सहायक सिद्ध हुए।

(३) इन अनुभवो के आधार पर आत्माओ को दो मुख्य श्रेणियो मे बाँटा गया—एक तो स्वतत्र-आत्मा जिसका कि अस्तित्व शरीर नष्ट हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है और दूसरी शरीर-आत्मा जो कि मनुष्य की मृत्यु या शरीर नष्ट हो जाने के बाद भी जीवित रहती है। आत्मावाद का सम्बन्ध इन अमर आत्माओ से ही है।

(४) ये आत्माएँ इस भौतिक ससार की सब घटनाओ को तथा मनुष्यो के वर्तमान तथा पारलौकिक जीवन को प्रभावित या नियत्रित करती हैं। आत्मावाद मे यह विश्वास उल्लेखनीय है। यदि किसी समाज मे मनुष्यो मे यह विश्वास नही है तो ऐसे समाज मे आत्मावाद का जन्म नही हो सकता।

(५) उपरोक्त विश्वास अपने आप, अनिवार्य और सक्रिय रूप से मनुष्य को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह उन प्रभावशाली आत्माओ को प्रसन्न करने के लिये उनकी आराधना, प्रार्थना या पूजा करे। आत्माओ की पूजा ही धर्म का प्रारम्भिक रूप है।

समालोचना (Criticism)—सर्वश्री लैंग (Lang), मैरेट (Marrett), वुण्ट (Wundt), जेवन्स (Jevons) आदि विद्वानो ने श्री टायलर के सिद्धान्त की जो समालोचना की है उसमे से निम्नलिखित उल्लेखनीय है —

(क) श्री टायलर के सिद्धान्त की सर्वप्रमुख दुर्बलता यह है कि आपने आदिम मनुष्यो को अत्यधिक तर्कयुक्त दार्शनिक के रूप मे मान लिया है। आत्मावाद के सिद्धान्त को देखने से पता लगता है कि सम्पूर्ण सिद्धान्त को बहुत सिलसिलेवार प्रस्तुत किया गया है। इतने सिलसिलेवार से आदिम मनुष्य तो क्या आधुनिक मनुष्य भी सोच नही सकता। इसलिये हम कह सकते हैं कि इतने क्रमबद्ध रूप से आत्मा की धारणा को विकसित करना आदिम मनुष्यो के लिये सम्भव नही था जैसा कि श्री टायलर ने सोचा है।

(ख) श्री टायलर के सिद्धान्त से यह पता चलता है कि आदिम समाजो मे धर्म का स्वरूप आत्माओ पर विश्वास और उनकी पूजा या आराधना है। दूसरे शब्दो मे, श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त के माध्यम से यह विचार प्रस्तुत किया है कि जनजातियो मे ऊँचे देवताओ की धारणा नही होती। श्री एण्ड्रयू लैंग (Andrew Lang) के अनुसार श्री टायलर का यह विचार गलत है। उन्होने लिखा है कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे नैतिक दृष्टि से विशुद्ध सृष्टिकर्त्ता या ईश्वर की धारणा पायी जाती है। श्री श्मिड (Schmidt) ने भी श्री लैंग के विचार का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि कुछ नीग्रिटो जनजातियो मे, अमेरिका के कैलीफोर्निया की जनजातियो मे और फ्यूजी जनजातियो मे परमेश्वर की धारणा पायी जाती है। इन तथ्यो के आधार पर श्री टायलर के इस मत से सहमत होना उचित न होगा कि जनजातियो के धर्म मे अर्थात् प्रारम्भिक रूप के धर्म मे केवल आत्मा की धारणा थी और ऊंचे देवताओ की धारणा का विकास बाद मे हुआ।

(ग) श्री मैरेट (Marett) का कथन है कि श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त मे केवल आत्मा पर विश्वास का ही उल्लेख किया है परन्तु जनजातियो के जीवन का गहन अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि जनजातीय लोग दूसरी ऐसी शक्तियो मे भी विश्वास करते हैं, जो कि आत्मा की शक्ति से भिन्न है। इसलिये केवल आत्मा की धारणा को ही जनजातीय धर्म का आधार मानना उचित न होगा, क्योकि जनजातियो मे अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर श्री मैरेट ने अपने जीवितसत्तावाद (Animatism) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसपर कि हम आगे विचार करेंगे।

(घ) श्री टायलर ने धर्म को अति सरल रूप मे प्रस्तुत किया है और इसीलिये इसकी उत्पत्ति को भी सरल ही मान लिया है। परन्तु धर्म इतनी सरल संस्था नही है जितना कि श्री टायलर ने सोचा है। धर्म की उत्पत्ति परछाईं, स्वप्न, प्रतिध्वनि आदि कुछ सीमित अनुभवो के आधार पर हुई है, यह सोचना गलत है।

(ङ) श्री टायलर के कुछ आलोचकों के अनुसार धर्म एक सामाजिक घटना (social phenomenon) है। इस कारण इसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारण अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु श्री टायलर ने धर्म के 'सामाजिक उपादानों' की सर्वथा अवहेलना की है।

श्री टायलर के सिद्धान्त में उपरोक्त कमियाँ होने पर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि श्री टायलर ही प्रथम विद्वान थे जिन्होंने कि धर्म की एक स्पष्ट परिभाषा और धर्म की उत्पत्ति का एक स्पष्ट कारण प्रस्तुत किया, जिसके कारण बाद के मानवशास्त्रियों को इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक सीधा रास्ता मिल गया।

(२) जीवितसत्तावाद या मानावाद

(Animatism or Manaism)

जीवितसत्तावाद या जीविवाद के प्रमुख समर्थकों में सर्वश्री प्रीयस (Preuss) और मैक्समूलर (Max Muller) उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ में, चाहे वह चेतन हो या जड़, एक जीवित सत्ता है। वह सत्ता अलौकिक है और इसे प्रसन्न रखना लाभदायक सिद्ध होता है। इन विद्वानों के अनुसार इसी अलौकिक सत्ता या शक्ति की आराधना ही सबसे प्रारम्भिक धर्म था।

श्री कॉडरिंगटन (Codrington) के मैलानेशिया की जनजातियों के सम्बन्ध में अनुसन्धानों के आधार पर हाल ही में श्री मैरेट (Marett) ने जीवितसत्तावाद के सिद्धान्त को एक नये रूप में प्रस्तुत किया है। इसे मानावाद (Manaism) कहते हैं। इसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति 'आत्मा' की धारणा से नहीं 'माना' की धारणा से हुई है। मैलानेशिया की जनजातियों में 'माना' की अवधारणा की जो प्रमुख विशेषताएँ हैं, उसके आधार पर श्री कॉडरिंगटन ने माना को इस प्रकार परिभाषित किया है "माना एक शक्ति है जो कि भौतिक या शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है, यह भले और बुरे सभी रूपों में कार्य करती है और इसपर आधिपत्य या नियंत्रण पाना अत्यन्त लाभदायक है। यह एक शक्ति या प्रभाव तो अवश्य है पर शारीरिक शक्ति नहीं है, और एक अर्थ में यह अलौकिक है, किन्तु यह शारीरिक शक्ति या अन्य किसी प्रकार की शक्ति या क्षमता में, जिसका कि एक मनुष्य अधिकारी है, अपने को प्रगट करती है। यह अलौकिक इस अर्थ में है कि यह सब चीजों पर प्रभाव डालने के लिये जिस रूप में कार्य करती है, वह मनुष्य की साधारण शक्ति से परे है और प्रकृति की साधारण प्रक्रियाओं के बाहर है।"[10]

---

10 "It (*Mana*) is a force altogether distinct from physical power which act in all kinds of ways for good and evil and which it is of greatest advantage to possess or control If it is a power or influence, not physical, and in a way supernatural, but it shows itself in physical force or in any kind of power or excellence which a man possesses It is supernatural in the sense that it is what works to effect every thing, which is beyond the ordinary power of man, outside the common process of nature " R H Cordrington, *The Melanesians*, Oxford, 1891, p 119

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर हम 'माना' की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं —

(१) 'माना' शारीरिक शक्ति नही है। यह शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है। यह एक अलौकिक शक्ति है और वह इस अर्थ मे कि यह प्रत्येक वस्तु को प्रभावित करने वाले ऐसे कार्यों को करती है जो साधारण मनुष्यो की शक्ति से और प्रकृति की सामान्य प्रक्रियाओ से परे हैं।

(२) 'माना' अलौकिक शक्ति होते हुए भी शारीरिक शक्ति या अन्य प्रकार की शक्तियो मे प्रगट होती है। अर्थात् माना कि शक्ति की क्रियाशीलता का आधार शारीरिक शक्ति या वे अन्य प्रकार की शक्तियाँ हैं, जिन्हे मनुष्य पाना चाहता है।

(३) 'माना' की शक्ति का कोई शारीरिक रूप नही है। इसलिए इस शक्ति को अशरीरी (impersonal) कहा जाता है। चूँकि यह शक्ति अलौकिक तथा अशरीरी है, इस कारण इसका ज्ञान इन्द्रियो द्वारा नही किया जा सकता।

(४) यह हो सकता है कि 'माना' की शक्ति किसी चीज मे कम और किसी मे अधिक हो, पर होगी यह सब मे।

(५) 'माना' का प्रभाव अच्छा और बुरा दोनो तरीको का हो सकता है। दूसरे शब्दो मे, इस शक्ति से हमे हानि व लाभ दोनो ही हो सकते हैं।

(६) 'माना' की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि यह बिजली की करेण्ट (current) या शक्ति की भाँति होती है जो व्यक्तियो और चीजो को प्रभावित कर सकती है और जो एक से दूसरे मे आ-जा सकती है। कोई आशातीत सफलता 'माना' के कारण और असफलता इसके अभाव के कारण होती है।[11]

मैलानेशिया की जनजातियो मे यह विश्वास है कि किसी काम मे भी उन्हे तब तक सफलता नही मिल सकती जब तक कि 'माना' सहायक न हो। युद्ध मे योद्धाओ को विजय 'माना' के कारण मिलती है, शिकार मे शिकारियो की सफलता का कारण भी 'माना' है और जाल मे आकर मछलियो का फसना भी उसी 'माना' की शक्ति की ही एक अभिव्यक्ति है।

उपरोक्त आधार पर श्री मैरेट ने यह निष्कर्ष निकाला कि आदिकालीन समाज के लोग विश्व की सभी जड और चेतन वस्तुओ में 'माना' के आधार पर एक अनिर्वचनीय, अवैयक्तिक या अशरीरी, उत्प्राकृतिक, अलौकिक तथा दैवीय जीवित सत्ता पर विश्वास करते थे। इस सत्ता या शक्ति का प्रभाव अच्छा और बुरा दोनो प्रकार का होता है और इसका ज्ञान इन्द्रियो द्वारा नही किया जा सकता। इसी कारण आदिकालीन समाज के लोग इस शक्ति को ही सब कुछ मानकर इसके सम्मुख नतमस्तक हुए और अपने जीवन मे अधिकाधिक सफलता पाने और शक्ति के बुरे प्रभावो से बचने के लिए उस सत्ता

---

11 "*Mana* was like an electrical fluid that could charge persons and things and be diverted from one to another Any conspicuous success was due to *mana*, failure to its absence or loss" Robert H Lowie, *An Introduction to Cultural Anthropology*, Farrar and Rinehart, New York, 1934, p 303

किया जाता है, का प्रकट रूप इन्ही मे से कुछ भी हो सकता है। ये आत्माएँ पशु, पक्षी, चट्टान किसी मे भी निवास कर सकती है। अत स्पष्ट है कि आत्मावाद मे अलौकिक शक्ति की धारणा कोई एक निश्चित रूप प्रकट नही करती, क्योकि आत्माएँ भी एक नही अनेक होती हैं। इस अर्थ मे आत्मावाद बहुत्ववादी है। इसके विपरीत मानावाद का सम्बन्ध अनेक आत्माओ से नही, वरन् एक अशरीरी, उत्प्राकृतिक तथा अलौकिक शक्ति या सत्ता से है जो कि सभी जड और चेतन वस्तुओ मे छायी हुई है। आत्माएँ अनेक होती हैं, इसके अनेक रूप हैं, परन्तु जीवितसत्ता अनेक नही, अनेक वस्तुओ मे एक है। इस प्रकार मानावाद का जीवितसत्तावाद एकत्ववादी है।

(ख) **मानावाद अवैयक्तिक या अशरीरी शक्ति पर विश्वास है, आत्मावाद वैयक्तिक शक्ति पर**—आत्मावाद मे आत्मा किसी पूर्वज, भूत, प्रेत विशेष की होती है और प्रत्येक आत्मा का सम्बन्ध एक विशेष व्यक्ति से ही होता है। इस अर्थ मे आत्मावाद वैयक्तिक शक्ति पर विश्वास है। इसके विपरीत मानावाद एक अशरीरी और अवैयक्तिक शक्ति पर विश्वास करता है, जिसका सम्बन्ध किसी भी व्यक्ति विशेष से नही है। यह शक्ति प्रत्येक मे एक ही है, यद्यपि इस शक्ति की मात्रा किसी चीज मे कम और किसी मे अधिक होती है।

(ग) **आत्मावाद सीमित है, मानावाद व्यापक है**—आत्मावाद का क्षेत्र अधिक व्यापक नही है क्योकि इसमे वैयक्तिक आत्मा की अवधारणा पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा का दर्शन प्रत्येक चीज मे नही होता। परन्तु मानावाद मे माना सर्वव्यापक और सृष्टि की समस्त वस्तुओ मे पाया जाता है। आत्मा का क्षेत्र सीमित और माना का सर्वव्यापी है।

(३) प्रकृतिवाद

(Naturism)

श्री मैक्समूलर (Max Muller)[12] का प्रकृतिवाद भी जीवितसत्तावाद का ही एक रूप है। आदिकालीन मानव का जीवन प्रकृति की गोद मे ही पलता है। प्रकृति की विभिन्न चीजो से उसे लाभ व हानि दोनो ही होते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य से उसे धूप मिलती है जो कि ठण्डक से उसकी रक्षा करती थी अर्थात् ठण्डक मे उसे आराम पहुँचाती थी। दूसरी ओर आँधी उसकी झोपडी को उडाकर ले जाती थी, बिजली गिरकर उसके पेड और घर को जला देती थी। ऐसी अवस्था मे प्रकृति के विभिन्न रूपो को देखकर आदिकाल मे मानव के मन मे श्रद्धा, भय, आतक, आश्चर्य आदि होना स्वाभाविक ही था। इन मानसिक भावनाओ के कारण वह प्रकृति से ऐसा डरने लगा या उसे इतनी श्रद्धा करने लगा जैसे किसी जानदार वस्तु से डरता या उसे श्रद्धा करता था। प्रकृति की विभिन्न चीजो को देखकर उसके मन मे यह भावना उत्पन्न हुई कि वे भी कोई जानदार चीजें हैं और साथ ही अधिक शक्तिशाली। उदाहरण के लिये आदिमानव ने यह देखा कि जिस झोपडी को उसने बहुत दिनो के परिश्रम से बडी मुश्किल से बनाया था उसे

12 See Max Muller, *Lectures on the Origin and Growth of Religion*, Longmans, Green and Co , London

या शक्ति की आराधना करने लगे। यही धर्म का प्रारम्भिक रूप था।

अनेक विद्वानो ने मानावाद के सिद्धान्त को स्वीकार नही किया है। श्री दुर्खीम (Durkheim) ने इस सिद्धान्त की जो आलोचना की है वह निम्नवत् है —

(१) मानावाद की सर्वप्रमुख दुर्बलता यह है कि इस सिद्धान्त मे इस बात की स्पष्ट व्याख्या नही मिलती कि माना की अवधारणा का जन्म कैसे हुआ। एक अशरीरी या अलौकिक शक्ति की धारणा को पनपने के लिये किसी न किसी आधार की आवश्यकता होती है। इस शक्ति के बारे मे केवल कल्पना की सहायता से सब कुछ सोच सके, इतनी उच्च कोटि का दार्शनिक आदिमानव कदापि न था और न ही होना सम्भव था। परन्तु सर्वश्री मैरेट, कॉडरिंगटन आदि विद्वानो ने अपने सिद्धान्त मे आदिम मनुष्य को उसी रूप मे प्रस्तुत करने या मान लेने की गलती की है।

(२) धर्म एक सामाजिक तथ्य (social fact) है और सामाजिक तथ्य व्यक्ति के मस्तिष्क मे नही वरन् मस्तिष्क के बाहर वास्तविक सामाजिक परिस्थिति मे निवास करता है। इस कारण धर्म की उत्पत्ति का कारण समाज मे न ढूंढकर व्यक्ति के मस्तिष्क मे ढूंढने का प्रयत्न करना उचित न होगा।

(३) मानावाद का एक बहुत बडा दोष यह भी है कि यह धार्मिक जीवन के केवल कुछ भागो पर ही प्रकाश डालता है। अगर हम आदिमानव के धर्म तथा जादू से सम्बन्धित विश्वासो का गहन अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होगा कि उन विश्वासो की सख्या इतनी अधिक है कि उन सबको 'माना' के आधार पर नही समझा जा सकता।

(४) श्री दुर्खीम का यह भी कहना है कि किसी भी धर्म मे एक विशेष बात यह होती है कि उसमे पवित्र और अपवित्र वस्तुओ मे एक स्पष्ट भेद माना जाता है। धर्म का सम्बन्ध 'पवित्र' से होता है परन्तु मानावाद मे इस धारणा का कोई भी आभास नहीं होता।

(५) मानावाद का सिद्धान्त अस्पष्ट इस अर्थ मे भी है कि इसमे अशरीरी तथा अलौकिक शक्ति को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने का कोई भी प्रयत्न नही किया गया है। फलत. धर्म एक सामाजिक घटना होते हुए भी वास्तविक ससार से बहुत दूर हो गया है जो कि उसे इतना अस्पष्ट कर देता है जितना कि वास्तव मे न तो वह कभी था और न ही आज है। श्री दुर्खीम का दावा है कि इस सिद्धान्त मे यह कमी कदापि न पनपती अगर इसके प्रतिपादक सामाजिक कारको की पूर्णतया अवहेलना न करते।

मानावाद और आत्मावाद मे अन्तर

(Distinction between Animatism and Animism)

मानावाद और आत्मावाद के सम्बन्ध मे उपरोक्त विवेचनाओ के आधार पर हम इन दोनों मे निम्नलिखित अन्तर पाते हैं —

(क) मानावाद एकत्ववादी और आत्मावाद बहुत्ववादी है—आत्मावाद का अर्थ आत्माओ मे विश्वास है। ये आत्माएँ अनेक हैं, क्योकि ये पूर्वज, भूत, प्रेत, राक्षस, पिशाच किसी की भी आत्मा हो सकती हैं और अलौकिक शक्ति, जिसपर कि विश्वास

किया जाता है, का प्रकट रूप इन्ही मे से कुछ भी हो सकता है। ये आत्माएँ पशु, पक्षी, चट्टान किसी मे भी निवास कर सकती है। अत स्पष्ट है कि आत्मावाद मे अलौकिक शक्ति की धारणा कोई एक निश्चित रूप प्रकट नही करती, क्योकि आत्माएँ भी एक नही अनेक होती है। इस अर्थ मे आत्मावाद बहुत्ववादी है। इसके विपरीत मानावाद का सम्बन्ध अनेक आत्माओ से नही, वरन् एक अशरीरी, उत्प्राकृतिक तथा अलौकिक शक्ति या सत्ता से है जो कि सभी जड और चेतन वस्तुओ मे छायी हुई है। आत्माएँ अनेक होती हैं, इसके अनेक रूप हैं, परन्तु जीवितसत्ता अनेक नही, अनेक वस्तुओ मे एक है। इस प्रकार मानावाद का जीवितसत्तावाद एकत्ववादी है।

(ख) मानावाद अवैयक्तिक या अशरीरी शक्ति पर विश्वास है, आत्मावाद वैयक्तिक शक्ति पर—आत्मावाद मे आत्मा किसी पूर्वज, भूत, प्रेत विशेष की होती है और प्रत्येक आत्मा का सम्बन्ध एक विशेष व्यक्ति से ही होता है। इस अर्थ मे आत्मावाद वैयक्तिक शक्ति पर विश्वास है। इसके विपरीत मानावाद एक अशरीरी और अवैयक्तिक शक्ति पर विश्वास करता है, जिसका सम्बन्ध किसी भी व्यक्ति विशेष से नही है। यह शक्ति प्रत्येक मे एक ही है, यद्यपि इस शक्ति की मात्रा किसी चीज मे कम और किसी मे अधिक होती है।

(ग) आत्मावाद सीमित है, मानावाद व्यापक है—आत्मावाद का क्षेत्र अधिक व्यापक नही है क्योकि इसमे वैयक्तिक आत्मा की अवधारणा पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा का दर्शन प्रत्येक चीज मे नही होता। परन्तु मानावाद मे माना सर्वव्यापक और सृष्टि की समस्त वस्तुओ मे पाया जाता है। आत्मा का क्षेत्र सीमित और माना का सर्वव्यापी है।

(३) प्रकृतिवाद

(Naturism)

श्री मैक्समूलर (Max Muller)[12] का प्रकृतिवाद भी जीवितसत्तावाद का ही एक रूप है। आदिकालीन मानव का जीवन प्रकृति की गोद मे ही पलता है। प्रकृति की विभिन्न चीजो से उसे लाभ व हानि दोनो ही होते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य से उसे धूप मिलती है जो कि ठण्डक से उसकी रक्षा करती थी अर्थात् ठण्डक मे उसे आराम पहुँचाती थी। दूसरी ओर आँधी उसकी झोपडी को उडाकर ले जाती थी, बिजली गिरकर उसके पेड और घर को जला देती थी। ऐसी अवस्था मे प्रकृति के विभिन्न रूपो को देखकर आदिकाल मे मानव के मन मे श्रद्धा, भय, आतक, आश्चर्य आदि होना स्वाभाविक ही था। इन मानसिक भावनाओ के कारण वह प्रकृति से ऐसा डरने लगा या उसे इतनी श्रद्धा करने लगा जैसे किसी जानदार वस्तु से डरता या उसे श्रद्धा करता था। प्रकृति की विभिन्न चीजो को देखकर उसके मन मे यह भावना उत्पन्न हुई कि वे भी कोई जानदार चीजें हैं और साथ ही अधिक शक्तिशाली। उदाहरण के लिये आदिमानव ने यह देखा कि जिस झोपडी को उसने बहुत दिनो के परिश्रम से बडी मुश्किल से बनाया था उसे

12 See Max Muller, *Lectures on the Origin and Growth of Religion*, Longmans, Green and Co, London

'आँधी' ने एक मिनट मे उडाकर फेक दिया। इस दृश्य को देखकर उसके दिल मे यह भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही थी कि कोई ऐसी शक्ति है जो कि दिखायी तो नही देती, पर है मनुष्य से कही अधिक शक्तिशाली। इसीलिये उसके प्रति उन लोगो के दिल मे श्रद्धा, भक्ति, भय आदि उत्पन्न हुए। इसीके आधार पर सस्कृत और भाषाशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान श्री मैक्समूलर ने यह निष्कर्ष निकाला कि धर्म की उत्पत्ति का प्रथम चरण प्रकृति के विभिन्न पदार्थों जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, और यहाँ तक कि कुछ पेड-पौधे आदि की आराधना थी। मिश्र मे तथा अन्यत्र हुई खुदाइयो से इस विचार की पुष्टि मिली। मिश्र मे सबसे बडा देवता 'रा' अर्थात् सूर्य था। यह कहा जाता है कि प्रकृति के विभिन्न पदार्थों को सजीव समझना और उनके प्रति श्रद्धा, प्रेम या भय की भावना का जन्म दोषपूर्ण भाषा के कारण हुआ। प्राय कहा जाता है कि 'सूर्य उदय और अस्त होता है', 'आँधी आ रही है' इत्यादि। परन्तु वास्तव मे सूर्य न तो उदय ही होता है और न अस्त ही होता है। पर कुछ भी हो, आदिमानव प्रकृति की इस असीम विशालता के सम्मुख नत-मस्तक होता है और धर्म की प्रथम नीव पडती है।[13]

इस सिद्धान्त की जो **समालोचना** (criticism) आधुनिक मानवशास्त्री करते है उनमे से तीन उल्लेखनीय हैं —

(क) प्रकृति की पूजा से धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या बहुत ही सकुचित विश्लेषण प्रतीत होती है। केवल प्रकृति की पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति कैसे सम्भव है, इसे श्री मैक्समूलर उचित ढग से नही समझा पाये हैं।

(ख) दोषपूर्ण भाषा के आधार पर प्रकृति के पदार्थों को सजीव समझने की बात भी कुछ स्पष्ट प्रतीत नही होती।

(ग) धर्म एक सामाजिक सस्था है, परन्तु श्री मैक्समूलर के सिद्धान्त मे धर्म की उत्पत्ति मे सामाजिक कारको को कोई भी स्थान प्राप्त नही है। इस सिद्धान्त की यह एक बहुत बडी दुर्बलता है।

(४) फ्रेज़र का सिद्धान्त
(Theory of Frazer)

श्री फ्रेज़र (Frazer) के मतानुसार[14] सर्वप्रथम आदिम मनुष्यो ने जादू-टोने के द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण करके अपने उद्देश्यो की पूर्ति करने का प्रयत्न किया और असफल होने पर यह मान लिया कि 'ससार' मे उनसे भी कोई अधिक शक्तिशाली है जो उनके प्रयत्नो को व्यर्थ करता है। अत उस शक्ति पर जादू-टोने के द्वारा शासन करना कदापि सम्भव नहीं है। इस धारणा के फलस्वरूप ही वह उस शक्ति पर शासन करने की इच्छा त्यागकर उसकी आराधना करने लगता है और इसीसे धर्म की उत्पत्ति होती है। सक्षेप मे, श्री फ्रेज़र के अनुसार धर्म की प्राथमिक अवस्था (initial primacy) जादू-टोना है और जादू-टोने से निराश होकर ही लोगो ने धर्म की अर्थात् किसी

13 *Ibid*, p 37
14 Sir James Frazer, *op cit*, pp 11-50

अलौकिक व महान शक्ति की शरण ली थी। इस प्रकार धर्म प्रकृति के द्वारा पराजित मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

श्री फ्रेज़र के सिद्धान्त की सबसे प्रमुख दुर्बलता यह है कि इन्होने सामाजिक विकास मे एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना की है जब केवल जादू-टोने का ही राज्य था। वास्तव मे ऐसी किसी स्थिति के पक्ष मे कोई भरोसे योग्य प्रमाण नही मिलता है।

(५) धर्म का सामाजिक सिद्धान्त (Social Theory of Religion)

श्री दुर्खीम ने अपनी पुस्तक *The Elementary Forms of Religious Life* मे धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति के कारण, प्रभाव आदि के विषय मे अत्यधिक विस्तृत तथा सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की है। अपने धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त के द्वारा आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि धर्म सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक तथ्य या सामाजिक घटना है और वह इस अर्थ मे कि नैतिक रूप से सामूहिक-चेतना (collective consciousness) का प्रतीक (symbol) ही धर्म है। इस सम्बन्ध मे, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, श्री दुर्खीम का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि "**समाज** ही वास्तविक देवता है।"

अपने धर्म के सामाजिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए श्री दुर्खीम ने धर्म-सम्बन्धी अब तक के सभी सिद्धान्तो का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन सिद्धान्तो मे धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बताये गये कारण केवल अपर्याप्त ही नही, बल्कि अवैज्ञानिक भी हैं। इसे प्रमाणित करने के लिये श्री दुर्खीम ने सर्वश्री एडवर्ड टायलर, मैक्स-मूलर, फ्रेज़र आदि विद्वानो के मतो का इस आधार पर खण्डन किया कि इन विद्वानो ने धर्म की उत्पत्ति मे सामाजिक कारको की पूर्णतया अवहेलना की है। श्री दुर्खीम ने लिखा है कि आदि मानव के लिये प्राकृतिक और अलौकिक घटनाओ मे अन्तर करना सम्भव नही, न तो उन्हे प्राकृतिक चीजो और घटनाओ के सम्बन्ध मे उचित ज्ञान है और न ही वे अलौकिक घटनाओ को ठीक से समझते हैं। साथ ही, धर्म एक इतनी सरल घटना नही है कि इसकी उत्पत्ति परछाईं, स्वप्न, प्रतिध्वनि, मृत्यु आदि कुछ सीमित तथा व्यक्तिगत अनुभवो के आधार पर सम्भव है। प्रत्येक धर्म का तो कोई 'वास्तविक' आधार होता है और वह आधार, श्री दुर्खीम के अनुसार, स्वय '**समाज**' है। "स्वर्ग का साम्राज्य एक महिमान्वित समाज है" (*The Kingdom af Heaven is a glorified Society*)।

श्री दुर्खीम के अनुसार, सामूहिक जीवन की समस्त वस्तुओ या घटनाओ को—चाहे वह सरल हो या जटिल, वास्तविक हो या आदर्शात्मक—दो प्रमुख भागो मे बाँटा जा सकता है—(अ) साधारण (profane), और (ब) पवित्र (sacred)। समस्त धर्मों का सम्बन्ध 'पवित्र' पक्ष मे होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि सभी पवित्र वस्तुएँ ईश्वरीय या ईश्वर होती हैं, यद्यपि समस्त ईश्वरीय या आध्यात्मिक घटनाएँ तथा वस्तुएँ पवित्र अवश्य ही होती हैं। ये पवित्र वस्तुएँ समाज की प्रतीक या

'आंधी' ने एक मिनट मे उडाकर फेंक दिया । इस दृश्य को देखकर उसके दिल मे यह भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही थी कि कोई ऐसी शक्ति है जो कि दिखायी तो नही देती, पर है मनुष्य से कही अधिक शक्तिशाली । इसीलिये उसके प्रति उन लोगो के दिल मे श्रद्धा, भक्ति, भय आदि उत्पन्न हुए । इसीके आधार पर सस्कृत और भाषाशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान श्री मैक्समूलर ने यह निष्कर्ष निकाला कि धर्म की उत्पत्ति का प्रथम चरण प्रकृति के विभिन्न पदार्थों जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, और यहाँ तक कि वृक्ष पेड-पौधे आदि की आराधना थी । मिश्र मे तथा अन्यत्र हुई खुदाइयो से इस विचार की पुष्टि मिली । मिश्र मे सबसे बड़ा देवता 'रा' अर्थात् सूर्य था । यह कहा जाता है कि प्रकृति के विभिन्न पदार्थों को सजीव समझना और उनके प्रति श्रद्धा, प्रेम या भय की भावना का जन्म दोषपूर्ण भाषा के कारण हुआ । प्राय कहा जाता है कि 'सूर्य उदय और अस्त होता है', 'आंधी आ रही है' इत्यादि । परन्तु वास्तव मे सूर्य न तो उदय ही होता है और न अस्त ही होता है । पर कुछ भी हो, आदिमानव प्रकृति की इस असीम विशालता के सम्मुख नत-मस्तक होता है और धर्म की प्रथम नीव पडती है ।[13]

इस सिद्धान्त की जो समालोचना (criticism) आधुनिक मानवशास्त्री करते हैं उनमे से तीन उल्लेखनीय हैं —

(क) प्रकृति की पूजा से धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या बहुत ही सकुचित विश्लेषण प्रतीत होती है । केवल प्रकृति की पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति कैसे सम्भव है, इसे श्री मैक्समूलर उचित ढग से नही समझा पाये हैं ।

(ख) दोषपूर्ण भाषा के आधार पर प्रकृति के पदार्थों को सजीव समझने की बात भी कुछ स्पष्ट प्रतीत नही होती ।

(ग) धर्म एक सामाजिक सस्था है, परन्तु श्री मैक्समूलर के सिद्धान्त मे धर्म की उत्पत्ति मे सामाजिक कारको को कोई भी स्थान प्राप्त नही है । इस सिद्धान्त की यह एक बहुत बडी दुर्बलता है ।

(४) फ्रेजर का सिद्धान्त
(Theory of Frazer)

श्री फ्रेजर (Frazer) के मतानुसार[14] सर्वप्रथम आदिम मनुष्यो ने जादू-टोने के द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण करके अपने उद्देश्यो की पूर्ति करने का प्रयत्न किया और असफल होने पर यह मान लिया कि 'ससार' मे उनसे भी कोई अधिक शक्तिशाली है जो उनके प्रयत्नो को व्यर्थ करता है । अत उस शक्ति पर जादू-टोने के द्वारा शासन करना कदापि सम्भव नही है । इस धारणा के फलस्वरूप ही वह उस शक्ति पर शासन करने की इच्छा त्यागकर उसकी आराधना करने लगता है और इसीसे धर्म की उत्पत्ति होती है । सक्षेप मे, श्री फ्रेजर के अनुसार धर्म की प्राथमिक अवस्था (initial primacy) जादू-टोना है और जादू-टोने से निराश होकर ही लोगो ने धर्म की अर्थात् किसी

13 *Ibid*, p 37
14 Sir James Frazer, *op cit*, pp 11-50

अलौकिक व महान शक्ति की शरण ली थी। इस प्रकार धर्म प्रकृति के द्वारा पराजित मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

श्री फ्रेज़र के सिद्धान्त की सबसे प्रमुख दुर्बलता यह है कि इन्होने सामाजिक विकास मे एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना की है जब केवल जादू-टोने का ही राज्य था। वास्तव मे ऐसी किसी स्थिति के पक्ष मे कोई भरोसे योग्य प्रमाण नही मिलता है।

(५) धर्म का सामाजिक सिद्धान्त
(Social Theory of Religion)

श्री दुर्खीम ने अपनी पुस्तक *The Elementary Forms of Religious Life* मे धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति के कारण, प्रभाव आदि के विषय मे अत्यधिक विस्तृत तथा सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की है। अपने धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त के द्वारा आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि धर्म सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक तथ्य या सामाजिक घटना है और वह इस अर्थ मे कि नैतिक रूप से सामूहिक-चेतना (collective consciousness) का प्रतीक (symbol) ही धर्म है। इस सम्बन्ध मे, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, श्री दुर्खीम का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि "समाज ही वास्तविक देवता है।"

अपने धर्म के सामाजिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए श्री दुर्खीम ने धर्म-सम्बन्धी अब तक के सभी सिद्धान्तो का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन सिद्धान्तो मे धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बताये गये कारण केवल अपर्याप्त ही नही, बल्कि अवैज्ञानिक भी हैं। इसे प्रमाणित करने के लिये श्री दुर्खीम ने सर्वश्री एडवर्ड टायलर, मैक्स-मूलर, फ्रेज़र आदि विद्वानो के मतो का इस आधार पर खण्डन किया कि इन विद्वानो ने धर्म की उत्पत्ति मे सामाजिक कारको की पूर्णतया अवहेलना की है। श्री दुर्खीम ने लिखा है कि आदि मानव के लिये प्राकृतिक और अलौकिक घटनाओ मे अन्तर करना सम्भव नही, न तो उन्हे प्राकृतिक चीजो और घटनाओ के सम्बन्ध मे उचित ज्ञान है और न ही वे अलौकिक घटनाओ को ठीक से समझते है। साथ ही, धर्म एक इतनी सरल घटना नही है कि इसकी उत्पत्ति परछाईं, स्वप्न, प्रतिध्वनि, मृत्यु आदि कुछ सीमित तथा व्यक्तिगत अनुभवो के आधार पर सम्भव है। प्रत्येक धर्म का तो कोई 'वास्तविक' आधार होता है और वह आधार, श्री दुर्खीम के अनुसार, स्वय 'समाज' है। "स्वर्ग का साम्राज्य एक महिमान्वित समाज है" (*The Kingdom af Heaven is a glorified Society*)।

श्री दुर्खीम के अनुसार, सामूहिक जीवन की समस्त वस्तुओ या घटनाओ को—चाहे वह सरल हो या जटिल, वास्तविक हो या आदर्शात्मक—दो प्रमुख भागो मे बाँटा जा सकता है—(अ) साधारण (profane), और (ब) पवित्र (sacred)। समस्त धर्मो का सम्बन्ध 'पवित्र' पक्ष मे होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि सभी पवित्र वस्तुएँ ईश्वरीय या ईश्वर होती हैं, यद्यपि समस्त ईश्वरीय या आध्यात्मिक घटनाएँ तथा वस्तुएँ पवित्र अवश्य ही होती हैं। ये पवित्र वस्तुएँ समाज की प्रतीक या

सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि हैं। इसी कारण व्यक्ति इनके आधीन और इनसे प्रभावित रहता है।

समाज के सदस्य जिन्हे पवित्र समझते हैं, उन्हे अपवित्र या साधारण मे सदा दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनेक विश्वासो, आचरणो, सस्कारो और उत्सवो को जन्म देते हैं।[15] धर्म इन्ही प्रयत्नो का परिणाम है। चूंकि इन प्रयत्नो से सम्बन्धित विश्वासो, आचरणो, सस्कारो आदि के पीछे समस्त समाज की अभिमति और दबाव होता है, इस कारण समाज की उस सामूहिक सत्ता के सामने मनुष्य को नत-मस्तक होना ही पडता है। यही से धर्म की नीव पडती है।

अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि मे श्री दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरुण्टा (Arunta) जनजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। श्री दुर्खीम का कहना है कि इन जनजातीय लोगो के जीवन का अध्ययन करने पर धार्मिक अनुभव की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हमे स्पष्ट धारणा हो सकती है और वह धारणा यह कि धार्मिक अनुभव एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना (group excitement) के कारण है। त्योहारो तथा उत्सवो पर जब गोत्र (clan) के सभी लोग एक साथ एकत्र होते हैं तो प्रत्येक सदस्य को ऐसा अनुभव होता था कि समूह की शक्ति उनकी वैयक्तिक (individual) शक्ति से कही अधिक उच्च और महान है। ऐसे अनुभव करने के स्पष्ट कारण भी हैं। इन त्योहारो तथा उत्सवो का अस्तित्व ही अनेक लोगो की उपस्थिति पर आधारित होता है। समान भावो, विचारो व रुचियो वाले अनेक व्यक्तियो के वैयक्तिक भावो, विचारो व रुचियो के सम्मिलन और सगठन से एक नवीन चेतना या उत्तेजना का निर्माण होता है। यही सामूहिक शक्ति होती है। जिसके सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से झुकना पडता है। साथ ही, इन त्योहारो तथा उत्सवो के अवसरो पर एकत्रित भीड मे एक प्रकार का मानसिक उल्लास प्रदर्शित होता है। यह उल्लास सम्भवत मानव की सामाजिक मूलप्रवृत्ति के कारण है। ऐसे अवसरो मे एक ही समय पर अनेक व्यक्ति एकत्रित रहते हैं और व्यक्ति के विचार व सवेग सभी उपस्थित व्यक्तियो के विचारो व सवेगो के अनुकूल होते हैं। उस अनुकूलता व अनुरूपता का आभास ही व्यक्ति को प्रफुल्लित व उत्तेजित कर देता है। फलत व्यक्ति की अपनी शक्ति गौण हो जाती है और समूह की शक्ति को प्रधानता मिलती है। व्यक्ति समूह की इस शक्ति के सामने झुकता है और उसकी शक्ति से प्रभावित होकर उसके मन मे समूह के प्रति भय, श्रद्धा और भक्ति की भावना पनपती है। वह समूह को साधारण से श्रेष्ठ या महान समझने लगता है। वस्तुत यह समूह या समाज ही धार्मिक पूजा का प्रतीक हो जाता है।

उपर्युक्त तर्क श्री दुर्खीम के शब्दो मे इस प्रकार है—"यह बात बडी सरलता से समझी जा सकती है कि जब व्यक्ति अपनी उत्तेजना की अवस्था मे होता है तो क्यो

15 The final key characteristic of sacred things is found in the fact that they "are those which the interdictions protect and isolate, profane things, those to which these interdictions are applied and which must remain at a distance from the first" Emile Durkheim, *The Elementary Forms of Religious Life*, translated by J W Swain, Free Press, Glencoe, 1947, p 41

वह अपने अस्तित्व को भी भूल जाता है । चूंकि उस समय वह अपने को किसी बाहरी शक्ति के आधीन तथा उसके द्वारा सचालित अनुभव करता है जो उसे इस प्रकार से सोचने और कार्य करने को बाध्य करती है जैसा कि शायद वह सामान्य परिस्थितियों मे न करता, तब स्वभावत उसके मन मे यह धारणा घर कर लेती है कि अब उसका अपना कोई पृथक् अस्तित्व नही है । उसे ऐसा लगता है जैसे कि वह एक नया प्राणी बन गया हो । इसी प्रकार उसके सब साथी भी अपने को बदले हुए पाते हैं । ·· सम्पूर्ण परिस्थिति इस प्रकार की होती है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अनुभव होने लगता है कि वह एक नयी दुनिया मे आ गया है, यह दुनिया उस दुनिया से बिल्कुल भिन्न है जिसमे कि वह साधारणतया रहता है, और वह अपने को असाधारण प्रभावशाली शक्तियो से भरपूर एक ऐसे वातावरण मे पाता है जो कि उसे अपने अधिकार मे रखता और रूपान्तरित करता रहता है । जब इस प्रकार के अनुभव प्रति-दिन और प्रति-सप्ताह होते रहते हैं, तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि व्यक्ति को यह विश्वास न हो जाय कि वास्तव में दो असमान तथा परस्पर अतुलनीय दुनिया का अलग-अलग अस्तित्व है ? एक दुनिया तो वह है जिसमे कि उसका दिन-प्रतिदिन का जीवन नीरस रूप मे लुढकता चलता है , लेकिन एक दूसरी दुनिया भी है जिसमे वह उस समय तक प्रवेश नही कर सकता जब तक उसका सम्बन्ध ऐसी असाधारण शक्तियो से स्थापित न हो जाय, जो उसे अपने को भुला दें । पहली साधारण (profane) दुनिया है और दूसरी पवित्र (sacred) ।"[16]

फिर भी इस सम्बन्ध मे एक शका रह जाती है और वह यह कि पवित्रता की धारणा के पनपने का 'वास्तविक' आधार क्या है ? इसके उत्तर मे श्री दुर्खीम का कथन है कि टोटमवाद के आधार पर ही पवित्र और साधारण वस्तुओ मे भेद करने की भावना का जन्म हुआ । अत टोटमवाद ही समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर या रूप है । ऐसा टोटमवाद की प्रकृति से ही सम्भव हुआ, क्योकि टोटमवाद नैतिक कर्त्तव्यो और मौलिक विश्वासो की वह समष्टि है जिसके द्वारा समाज और पशु-पौधे या अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के बीच एक पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । इस टोटमवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं —

(क) टोटम के साथ एक गोत्र के सदस्य अपना कई प्रकार का गूढ, अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध मानते हैं ।

(ख) टोटम के साथ इस अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध के आधार पर ही यह विश्वास किया जाता है कि टोटम उस शक्ति का अधिकारी है जो उस समूह की रक्षा करता है, सदस्यो को चेतावनी देता है और भविष्यवाणी करता है ।

(ग) टोटम के प्रति विशेष भय, श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है । टोटम को मारना, खाना या किसी प्रकार से चोट पहुँचाना निषिद्ध होता है और उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया जाता है । टोटम, उसकी खाल और उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुओ को बहुत पवित्र माना जाता है । टोटम की खाल को विशेष-विशेष अवसरो पर धारण किया जाता है, टोटम के चित्र बनवाकर रक्खे जाते हैं और शरीर पर उसके चित्र

16 *Ibid*, pp 218-219

की गुदाई भी प्राय सभी लोग करवाते हैं। टोटम-सम्बन्धी निषेधों का उल्लघन करने वालो की समाज द्वारा निन्दा की जाती है और दूसरी ओर इसमे सम्बन्धित कुछ विशिष्ट नैतिक कर्त्तव्यो को प्रोत्साहित किया जाता है।

(घ) टोटम के प्रति भय, भक्ति और आदर की जो भावना होती है वह इस बात पर निर्भर नही होती कि कौनसी वस्तु टोटम है या वह कैसी है, क्योकि टोटम तो प्राय. अहानिकारक पशु या पौधा होता है। श्री दुर्खीम के मतानुसार टोटम सामुदायिक प्रतिनिधित्व (collective representation) का प्रतीक है और टोटम की उत्पत्ति उसी सामुदायिक रूप मे समाज के प्रति अपने श्रद्धाभाव के कारण हुई है। यही श्रद्धाभाव पवित्रता की भावना को जन्म देता है और टोटम-समूह के समस्त सदस्यो को एक नैतिक बन्धन मे बाँधता है। यही कारण है कि टोटम-समूह के सभी सदस्य अपने को एक-दूसरे का भाई-बहन मानते हैं और वे आपस मे कभी विवाह नही करते।

टोटमवाद की उपरोक्त विशेषताओ का उल्लेख करते हुए श्री दुर्खीम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी धर्म की उत्पत्ति मे उक्त सभी तत्त्वो (elements) का होना परमावश्यक है। इस कारण यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि टोटमवाद सब धर्मों का प्राथमिक रूप है क्योकि टोटम एक समूह के नैतिक जीवन के सामूहिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है। इस प्रकार धर्म का मूल स्रोत तो स्वय समाज है। और भी स्पष्ट शब्दो मे, श्री दुर्खीम के अनुसार, ईश्वर समाज की प्रतीकात्मक (symbolic) अभिव्यक्ति है।

अत स्पष्ट है कि धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति से नही, बल्कि उसके सामूहिक जीवन से है। यही पर धर्म और जादू मे अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जादु मे भी धर्म की भाँति अनेक विश्वास, सस्कार आदि होते हैं, फिर भी मूल रूप मे जादू वैयक्तिक (individualistic) होता है। जादू का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से होता है। इसी कारण जादू उस पर विश्वास करने वालो को एक समूह मे सयुक्त नही कर पाता है। इसके विपरीत, धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से नही होता है। इसका आधार तो स्वय समाज है। इसी कारण धर्म इस पर विश्वास करने वालो को एक नैतिक समुदाय (moral community) मे सयुक्त करता है। श्री दुर्खीम का मत है कि धर्म की कोई भी परिभाषा धर्म की इस विशेषता के आधार पर होनी चाहिये। इसी कारण श्री दुर्खीम के अनुसार धर्म की परिभाषा इस प्रकार है—"धर्म पवित्र वस्तुओ से सम्बन्धित विश्वासो और आचरणो की वह समग्र व्यवस्था है जो इनपर विश्वास करने वालो को एक नैतिक समुदाय मे सयुक्त करती है।"[17]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि श्री दुर्खीम का धर्म-सम्बन्धी सामाजिक सिद्धान्त पवित्र और साधारण के बीच अन्तर पर आधारित है और इन दोनो मे भेद करने की भावना का जन्म टोटमवाद के आधार पर हुआ। इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति का प्रमुख

---

17 "Religion is the unified system of beliefs and practices relative to sacred things which unite into one single moral community all those who adhere to them." Emile Durkheim, *Ibid*, p 47

स्रोत टोटम या, अन्तिम रूप मे, समाज है क्योंकि टोटम समाज का ही सामूहिक प्रतिनिधि या प्रतीक है। टोटम के प्रति जो भय और आदर का रहस्यमय मनोभाव होता है और टोटम के साथ एक गोत्र (clan) के सदस्यो का जो गूढ और अलौकिक सम्बन्ध माना जाता है, उसीके आधार पर पवित्रता की भावना पनपती है जिसके फलस्वरूप उस समूह के सभी सदस्यो मे एक भाई-चारे की भावना जागृत होती है और वे एक नैतिक समुदाय मे सयुक्त हो जाते हैं। यही से धर्म की नीव पडती है क्योंकि टोटम के आधार पर सयुक्त नैतिक-समूह जिस शक्ति का अधिकारी होता है उसकी तुलना मे व्यक्ति अपनी वैयक्तिक शक्ति को तुच्छ समझने लगता है और उसीके सामने सिर झुका देता है।

श्री दुर्खीम ने अपने सिद्धान्त का सामान्य निष्कर्ष इन शब्दो मे दिया है— 'धार्मिक प्रतिनिधित्व (religious representation) सामूहिक प्रतिनिधित्व है जो कि सामूहिक वास्तविकताओ (realities) को व्यक्त करते है, धार्मिक कृत्य (rites) क्रिया करने का वह तरीका है जो कि समवेत समूहो मे पनपता है और जो इन समूहो मे पायी जाने वाली कुछ मानसिक अवस्थाओ (mental states) को उत्तेजित, व्यवस्थित तथा पुनर्जीवित करता है।' धार्मिक जीवन समग्र सामूहिक जीवन की सारकृत (concentrated) अभिव्यक्ति है। समाज का विचार ही धर्म की आत्मा है। इस कारण धार्मिक शक्तियाँ वास्तव मे मानव-शक्तियाँ, नैतिक शक्तियाँ हैं। समाज की अवहेलना करना या उससे पृथक् रहना तो दूर रहा, धर्म समाज की ही प्रतिमा (image) है, धर्म समाज के समस्त पक्षो को, यहाँ तक कि सबसे अशिष्ट तथा सबसे घृणात्मक पक्षो को भी प्रतिबिम्बित (reflect) करता है।"[18]

श्री अलेकजेंडर गोल्डनवीज़र तथा अन्य विद्वानो ने श्री दुर्खीम के उपरोक्त सिद्धान्त की जो **समालोचना** की है, वह सक्षेप मे निम्नवत् है —

(१) श्री दुर्खीम का यह कथन कि टोटमवाद धर्म का सर्वप्रमुख तथा सर्वप्रथम आधार है, गलत है। विभिन्न जनजातीय समाजो का अध्ययन इस बात की पुष्टि नही करता है। आदिवासी समाजो मे धर्म और टोटम अपने-अपने पृथक् अस्तित्व रखते हैं। टोटमवाद मे एक गोत्र के सदस्य टोटम को अपना मूल-पुरुष या सामान्य-पुरुष मानते हैं और उसे मानने वाले सभी व्यक्ति आपस मे शादी-विवाह नही करते है। ये दोनो ही विशेषताएँ टोटमवाद मे अनिवार्य हैं, परन्तु धर्म मे इन दोनो का ही अभाव होता है। अगर धर्म का आधार टोटमवाद ही होता तो अब तक ये दोनो घुल-मिलकर एक हो गये होते।

(२) केवल पवित्र और साधारण इन दो धारणाओ के आधार पर धर्म को

18 "Religious representations are collective representations which express collective realities, the rites are manner of acting which take rise in the midst of the assembled groups and which are destined to excite, maintain, or recreate certain mental states in these groups The religious life is the concentrated expression of the whole collective life The idea of society is the soul of religion Religious forces are therefore human forces, mental forces, Religion far from ignoring the real society and making abstraction of it, is its image, it reflects all its aspects, even the most vulgar and the most repulsive" Emile Durkheim, *Ibid*, p 157-158

समझा या समझाया नही जा सकता। इस प्रकार का भेद-भाव आदिम समाजो मे स्पष्ट हो सकता है, परन्तु आधुनिक समाजो मे इन दोनो के बीच स्पष्ट विभाजक-रेखा खीचना कठिन है।

(३) धर्म की उत्पत्ति मे सामाजिक कारक महत्त्वपूर्ण है, इस सत्य को कोई भी अस्वीकार नही करेगा परन्तु यह कहना उचित व वैज्ञानिक न होगा कि धर्म की उत्पत्ति मे समाज ही एक मात्र कारण है। श्री दुर्खीम ने यह कहकर कि "समाज ही वास्तविक देवता है", समाज को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान करने की गलती की है।

(४) श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि श्री दुर्खीम ने समाज का जिस प्रकार व्यक्तिकरण (personification) किया है वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण से अवैज्ञानिक है। समाज की सामूहिक आत्मा (collective soul) या सामूहिक चेतना (collective consciousness) के सिद्धान्तो को मनोवैज्ञानिको ने गलत सिद्ध कर दिया है।

(५) केवल सामूहिक आधारो पर ही धर्म की उत्पत्ति हुई है, श्री दुर्खीम का यह थन भी पूर्णतया सत्य नही है। श्री मैलिनोवस्की ने अपने अध्ययनो मे यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आदिम समाजो मे बहुत हद तक व्यक्तिगत आधारो पर ही धर्म की उत्पत्ति हुई है।

(६) प्रकार्यवादी सिद्धान्त (Functional Theory)

जैसा कि पिछले एक अध्याय मे हम लिख चुके हैं, श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार सस्कृति का प्रत्येक तत्त्व या भाग किसी-न-किसी कार्य को करने के लिये प्रकट होता है। सस्कृति का कोई भी पहलू ऐसा नही है जो कि हमारी किसी-न-किसी आवश्यकता को न पूरा करता हो। सस्कृति का कोई भी भाग बेकार या बेकाम का नही होता है। चूंकि मानव को अपनी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति करनी होती है, इस कारण वह विभिन्न सास्कृतिक तत्त्वो को जन्म देता है और इन्ही को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन के रूप मे व्यवहार करता है। चूंकि धर्म भी सस्कृति का एक अग है, इसलिये उसका भी प्रत्येक सस्कृति मे कुछ-न-कुछ निश्चित कार्य होता है। उन कार्यों को करने के लिये ही धर्म की उत्पत्ति हुई है। दूसरे शब्दो मे, धर्म कुछ मानवीय आवश्यकताओ के प्रति-क्रियाओ का ही फल है।

आदिकालीन मानव को अनेक ऐसी समस्याओ का सामना करना पडता है जिनका हल उसके पास नही है। उदाहरणार्थ, मृत्यु के समय और बच्चे के पैदा होने के समय कुछ मानसिक कष्ट का अनुभव होता है, जिनसे छुटकारा पाना आवश्यक है। उसी प्रकार खेती करने मे और समुद्र मे नाव चलाने मे कभी-कभी ऐसी दुर्घटनाओ का सामना करना पडता है जिनकी कि कभी आशा ही नही होती। ये समस्याएँ किसी एक व्यक्ति के जीवन मे नही, बल्कि समाज के अधिकतर लोगो के जीवन मे आ खडी होती हैं। इन्हे सुलझाने के लिये, या इनका सामना सफलतापूर्वक करने के लिये मानव जो प्रयत्न करता है, धर्म उन्ही प्रयत्नो का परिणाम है। चूंकि ये सबकी समस्याएँ हैं, इस कारण इनसे सम्बन्धित क्रियाओ मे सब

लोग दिलचस्पी लेते हैं। सार्वजनिक दिलचस्पी या सारे समूह के भाग लेने के कारण धार्मिक नियमो के पीछे सारे समाज का बल होता है।

श्री नैडल (Nadel) ने लिखा है कि श्री मैलिनोवस्की के मत मे "यह ठीक है कि धर्म समूह के मूल्यो और मान्यताओ की रक्षा करता है, पर बिना व्यक्ति की अभिवृत्तियो और विचारो के धर्म नही चल सकता। इस प्रकार धर्म सामाजिक और वैयक्तिक या मानसिक दोनो आधारो पर उत्पन्न होता है।"

उपरोक्त सिद्धान्त की जो **समालोचनाएँ** की जाती हैं, उनमे सबसे प्रमुख यह है कि श्री मैलिनोवस्की ने धर्म के प्रकार्यात्मक पक्ष पर इतना अधिक बल दिया है कि धर्म का वास्तविक आधार अत्यधिक अस्पष्ट तथा दुर्बल हो गया है। साथ ही, आपने केवल ट्रोब्रियंड द्वीप के निवासियो का अध्ययन करके जो निष्कर्ष निकाला है वह सभी समाजो पर कैसे लागू किया जा सकता है, इसे श्री मैलिनोवस्की ने सोचा ही नही है। अत आप का निष्कर्ष अत्यन्त सीमित तथ्यो (facts) पर आधारित होने के कारण पूर्णतया वैज्ञानिक नही कहा जा सकता।

उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रत्येक विद्वान ने अपने निजी तरीके से धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या की है। पर उनमे से किसी भी सिद्धान्त को न तो सम्पूर्ण असत्य और न ही धर्म की उत्पत्ति का अन्तिम कारण मानना चाहिये क्योकि प्रत्येक समाज की सामाजिक व प्राकृतिक और साथ ही सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे अन्तर होने के कारण धर्म की उत्पत्ति भी अलग-अलग समाज मे अलग-अलग कारणो से हुई है। बहुधा एकाधिक कारणो का योग रहा है।

धर्म का व्यावहारिक पक्ष
(Practical Aspect of Religion)

धार्मिक विश्वासो को लोग अपने मन मे ही रखकर सन्तुष्ट नही होते है, वरन् उसे व्यावहारिक तथा बाहरी तौर पर अभिव्यक्ति भी करते हैं। धर्म मे किसी न किसी शक्ति पर विश्वास किया जाता है और प्राथना, पूजा, आत्मनिवेदन व आराधना द्वारा उस शक्ति को प्रसन्न कर उससे लाभ उठाने और उसके कोप से बचने का प्रयत्न किया जाता है। यही धर्म का व्यावहारिक पक्ष है। अत स्पष्ट है कि प्रत्येक धर्म मे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो पक्ष होते हैं। सैद्धान्तिक पक्ष मे एक अदृष्ट, अज्ञेय या अलौकिक शक्ति पर विश्वास होता है और व्यावहारिक पक्ष मे इस शक्ति के प्रति आत्मनिवेदन की बाह्य अभिव्यक्ति। धर्म के व्यावहारिक पक्ष मे उपासना, पूजा या आत्मनिवेदन की विधियाँ अलग अलग समाज मे अलग-अलग हो सकती हैं, परन्तु इनका होना धर्म के अस्तित्व के लिये अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही, प्रत्येक समाज मे इस व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित कुछ विशेषज्ञ होते हैं जो कि धार्मिक क्रियाओ को व्यावहारिक रूप देने मे निपुण होते है। धम के इस व्यावहारिक पक्ष के सामान्य तत्त्व निम्नलिखित है —

(क) **विधि-विधान तथा सस्कार** (Codes and Rituals)—सब धर्मों मे सस्कार, विधि-विधान पाये जाते हैं। विधि-विधान से हमारा तात्पर्य उन नियमो और रीतियो से है जिनके अनुसार उस अलौकिक शक्ति को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता

है। ये नियम और रीतियाँ अलग-अलग धर्म मे अलग-अलग होती हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू मन्दिर मे जाकर कुछ विशेष ढग से ईश्वर की पूजा करते हैं, जब कि मुसलमान मस्जिद मे जाकर किसी दूसरे ही ढग से नमाज पढकर उस शक्ति की आराधना करते है। उसी प्रकार प्रत्येक धर्म मे अनेक सस्कार भी होते है। जन्म के समय, विवाह के समय और मृत्यु के समय धर्म के आधार पर अनेक सस्कारो को करना पडता है, वरना वह कार्य पूरा नही समझा जाता है। उदाहरणार्थ, यह एक सामान्य विश्वास है कि सन्तान का जन्म ईश्वर-कृपा का ही फल है। इसलिये बच्चा ठीक-ठाक उत्पन्न हो जाने के बाद ईश्वर की पूजा की जाती या बलि चढायी जाती है। ग्रहण के समय गर्भवती स्त्री को बाहर नही निकाला जाता है क्योकि उससे गर्भ के बच्चे पर बुरा प्रभाव पडता है। उसी प्रकार छत्तीसगढ के कमारो मे प्रसव यदि बहुत पीडापूर्ण होता है तो देवी-देवताओ को भेंट-बलि देकर कष्ट को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। उत्कल की बोदो जनजाति मे शिशु का नामकरण करने के लिये देवी-देवताओ के सामने मुर्गे की बलि देकर उसका एक पैर नवजात शिशु के हाथ मे दे दिया जाता है। बच्चे के निकट उसका कोई रिश्तेदार बैठकर धीरे-धीरे एक-एक पूर्वज का नाम लेता है। कोई विशेष नाम लिये जाते समय यदि बच्चा मुर्गे के पैर को हाथ से दबाता है तो यह माना जाता है कि उसकी आत्मा ने ही जन्म लिया है और शिशु को सब लोग उसी नाम से पुकारने लगते हैं। उसी प्रकार हिन्दू विवाह तथा मृत्यु के समय अनेक धार्मिक सस्कारो को करते हैं।

(ख) **धार्मिक कथाएँ**—धर्म से सम्बन्धित अनेक कथाएँ भी प्रत्येक समाज मे पायी जाती है। ये गाथाएँ विशेषकर उस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित होती हैं जिसपर कि लोग विश्वास करते हैं। इन गाथाओ के माध्यम मे ईश्वर की महिमाओ को प्रस्तुत किया जाता है, ताकि उस शक्ति के प्रति लोगो की श्रद्धा और आस्था अटल रहे। घर पर पूजा-आराधना करते समय परिवार का कोई सदस्य या पुरोहित इन धार्मिक गाथाओ को सब को सुनाता है। किस प्रकार एक नास्तिक व्यक्ति अन्त मे भगवान की महिमाओ से प्रभावित होकर कट्टर भक्त बन गया या किस प्रकार भगवान अपने भक्तो की रक्षा हर सकट मे करते हैं, इसीकी रोचक गाथाएँ लोगो को सुनायी जाती हैं।

(ग) **शामन तथा पुरोहित**—प्राय सभी समाजो मे धार्मिक कृत्यो के विशेषज्ञ पाये जाते हैं। उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार उन्हें दो प्रमुख वर्गों मे बाँटा जा सकता है। वे वर्ग हैं—शामन और पुजारी। 'शामन' शब्द का प्रयोग मानवशास्त्रियो ने साइबेरिया की जनजातियो मे पाये जाने वाले कुछ इस प्रकार के विशेषज्ञो के नाम के आधार पर किया है जो कि बहुधा रोगियो का उपचार करने का कार्य करते हैं। कुछ ऐसे रोग हैं जिनके बारे मे आदिवासियो मे यह विश्वास है कि वे रोग विशेष दैवी शक्तियो के कोप के फलस्वरूप होते हैं। इन रोगो को ठीक करने के लिये ही 'शामन' की सेवाएँ मागी जाती है। उसी प्रकार धार्मिक कृत्यो को करने के लिये प्रत्येक समाज मे पुरोहित होते हैं। इनका सबसे प्रमुख काम अलौकिक शक्ति के आराधना-कार्य मे जनता का पथ-प्रदर्शक के रूप मे कार्य करना है। ऐसा भी होता है कि पुरोहित किसी व्यक्ति, परिवार या समूह की ओर से अपनी प्रार्थना और आराधना द्वारा दैवी

शक्तियो को प्रसन्न रखने का निरतर प्रयास करता रहता है। अनेक समाजो मे धार्मिक उत्सवो मे पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य है । हिन्दू समाज मे तो जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के समय जो धार्मिक कृत्य होते हैं उनका सचालन पुरोहित के द्वारा ही होता है । जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, नीलगिरी की टोडा जनजाति मे कुछ भैसे इतनी पवित्र समझी जाती हैं कि दुग्धशालाएँ ही इन लोगो का मन्दिर होता है और बडे जटिल धार्मिक कृत्यो को करते हुए पुरोहित इन भैसो का दूध निकालते है। इनके मुख्य पुरोहित 'पलोल' को अपने पद पर काम करते हुए अठारह वर्ष अविवाहित रहना पडता है । यह अवधि पूरी होने पर उसे समाज यह अधिकार देता है कि वह किसी भी समय किसी भी स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करे । वैसे भी प्राय. प्रत्येक समाज मे ही पुजारियो से यह आशा की जाती है कि वे पवित्र और सादा जीवन व्यतीत करें ।

(घ) पारिवारिक देवता और पितृ या/व मातृ-पूजा—अनेक समाजो मे पारिवारिक देवता को पूजने की प्रथा है । यह साधारणत उन समाजो मे होता है जहाँ कि एक से अधिक देवी-देवताओ पर विश्वास किया जाता है । उदाहरणार्थ, हिन्दुओ के अनेक देवी-देवता होते है । अनेक परिवार इनमे से किसी एक देवी या देवता को विशेष महत्व प्रदान करते है । एक परिवार लक्ष्मी-नारायण की पूजा करता है, तो एक परिवार मे सीता-राम की मूर्ति की पूजा होती है । उसी प्रकार परिवारो के पूर्वजो को भी देवता के रूप मे पूजा जाता है । चीन मे पितृ-पूजा की भावना और उससे सम्बन्धित अनेक धार्मिक कृत्यो का विकसित रूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार हिन्दुओ मे भी श्राद्ध-पक्ष साल मे एक बार अपने पूर्वजो को पिण्डदान करने या श्रद्धाजलि अर्पित करने के उद्देश्य से मनाया जाता है । इसमे भी अनेक धार्मिक विश्वासो व कृत्यो का समावेश होता है । कुछ समाजो मे पूर्वजो के लिये चबूतरे बनाकर उनकी नियमित पूजा करना भी आवश्यक समझा जाता है । मुसलमान अपनी कब्रो पर सप्ताह मे एक दिन दीया जलाते तथा फूल आदि चढाकर मृत व्यक्तियो के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं ।

जादू
(Magic)

जादू क्या है ?
(What is Magic ?)

जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, मनुष्य ने अतिमानवीय जगत् पर या अलौकिक शक्ति पर नियत्रण करने के हेतु दो उपायो को अपनाया—प्रथम तरीका उस शक्ति की विनती या आराधना करके उसे प्रसन्न करना और फिर उस प्रसन्नता से लाभ उठाना या उस शक्ति के द्वारा की जाने वाली हानियो से बचना है। इसीमे धर्म का विकास हुआ। और दूसरा तरीका उस शक्ति को दबाकर अपने अधिकार मे करके उस शक्ति को अपने उद्देश्य-पूर्ति के हेतु प्रयोग करना है । यही जादू है ।

डा० दुबे के अनुसार, "जादू उस शक्ति-विशेष का नाम है, जिससे अतिमानवीय

जगत् पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सके और उसकी क्रियाओ को अपनी इच्छानुसार भले या बुरे, शुभ-अशुभ उपयोग मे लाया जा सके।"[19]

उपरोक्त परिभाषा मे डा० दुबे ने जादू की तीन विशेषताओ का उल्लेख किया है। प्रथम तो यह है कि जादू का सम्बन्ध अतिमानवीय जगत् से होता है। दूसरा यह कि जादू एक शक्ति है। जादूगर इस शक्ति को अपने अधिकार मे अतिमानवीय जगत् पर नियन्त्रण पाने के उद्देश्य से रखना चाहता है। और तीसरी बात यह कि इस शक्ति का प्रयोग जादूगर अपनी इच्छानुसार करता है या कर सकता है और इसीलिये इस शक्ति का प्रयोग भले या बुरे, शुभ या अशुभ काम के लिये किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, जादूगर अपनी उस शक्ति की सहायता से दूसरे को हानि या लाभ पहुँचा सकता है।

श्री फ्रेजर (Frazer) के विचार उक्त विचार से कुछ भिन्न है। जादू की परिभाषा करते हुए आपने लिखा है कि, "जादू इस आधार पर एक आभासी-विज्ञान (pseudo-science) है कि कार्य-कारण सम्बन्ध के एक अटल नियम के अनुसार यह प्रकृति पर दबाव डालता है।" इस प्रकार श्री फ्रेजर के अनुसार जादू प्रकृति पर नियत्रण पाने का एक साधन है। यह साधन कुछ नियमो पर इस अर्थ मे आधारित है कि इसके अन्तर्गत कार्य-कारण की एक नियमितता पायी जाती है। इस दृष्टि से जादू प्रकृति को नियन्त्रित करने के लिये कुछ प्रविधियो और पद्धतियो का एक समूह है। श्री फ्रेजर के अनुसार जादू मे विश्वास करने वाले व्यक्ति अर्थात् जादूगर की दो विशेषताएँ होती हैं। पहली तो यह कि उसमे यह विश्वास होता है कि उसकी जादू की शक्ति प्राकृतिक शक्तियो से अधिक शक्तिशाली है, क्योकि एक जादूगर प्राकृतिक शक्तियो के कार्य-कारण सम्बन्धो के अटल नियमो को समझता है और इसीलिये वह उनपर प्रभुत्व करने का दावा करता है। वह प्राकृतिक शक्तियो को स्वामी नही बल्कि दास समझता है जिसे कि वह इच्छानुसार अपने काम मे लगा सकता है। इसलिये वह प्राकृतिक शक्ति को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से नही देखता है। जादूगर की दूसरी विशेषता उसकी कार्य-विधि से सम्बन्धित है। धर्म पर विश्वास करने वाले व्यक्ति की भाँति जादूगर प्राकृतिक शक्ति की विनती या आराधना, पूजा या प्रार्थना करके उसे प्रसन्न करके उस प्रसन्नता से लाभ उठाने का प्रयत्न नही करता, बल्कि वह उस शक्ति के भेद को जानकर उसे दबाकर अपने अधिकार मे करके उस शक्ति को अपने उद्देश्यो की पूर्ति मे प्रयोग करता है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने जादू के सम्बन्ध मे लिखा है कि, "जादू विशुद्ध व्यावहारिक क्रियाओ का एक योग है जिन्हे कि उद्देश्यो की पूर्ति के साधन के रूप मे किया जाता है।"[20] आपने यह भी लिखा है कि जब इच्छित परिणामो को अन्य किसी भौतिक प्रविधि या उपाय से प्राप्त नही किया जा सकता है, तब जादू के साधन से उन परिणामो को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की ने

---

19 Dr S C Dube, *Manava aur Sanskriti*, Delhi, 1960, p 138

20 "Magic is a body of purely practical acts, performed as a means to an end" B Malinowski, *op cit*, p 70

जादू के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। जादू की यह व्यावहारिकता या उपयोगिता आदिकालीन समाज मे और भी अधिक है क्योकि आदिवासी लोगो के जीवन मे अनेक ऐसी परिस्थितियाँ और समस्याएँ उठ खडी होती हैं जिनका कि हल वे अपनी सीमित बुद्धि और कौशल के आधार पर नही कर पाते है। उनकी इस कमी को धर्म और जादू पूरा करता है। उनके जीवन मे अनेक खतरे होते हैं और ऐसी अनेक दुर्घटनाएँ होती हैं जिनका अन्दाजा पहले से नही लगाया जा सकता। ऐसी परिस्थितियो मे जादू लोगो का बहुत बडा सहारा है। इसके अतिरिक्त जादू चमत्कारो मे विश्वास दिलाकर अनेक कठिन परिस्थितियो का सामना करने का साहस लोगो को प्रदान करता है। जादू का चमत्कार इसके अधिकारो को शत्रु का विनाश करने या उसे हानि पहुँचाने मे भी मदद करता है। इसीलिये श्री मैलिनोवस्की के अनुसार जादू वह शक्ति है जो कुछ व्यावहारिक हितो की पूर्ति के साधन के रूप मे प्रयोग में लायी जाती है।

जादुई क्रियाओ के तत्व
(Elements of Magical Acts)

डा० दुबे के अनुसार, किसी भी जादुई क्रिया मे हमे तीन तत्त्वो का समावेश मिलता है[21]—

(१) **कतिपय शब्द—उच्चारित या अभिमन्त्रित**—ये शब्द साधारण से कुछ भिन्न और सामान्यत: गुप्त रखे जाते हैं। इनका उपयोग केवल वे लोग ही जानते है जो कि जादुई क्रिया मे निपुण होते हैं। ये निपुण व्यक्ति जादू के इन शब्दो या मन्त्रो को अपने शिष्यो को ही सिखाते हैं। कभी-कभी जब जादू को एक सामान्य सामाजिक घटना के रूप मे स्वीकार किया जाता है, तब उस समाज के सभी सदस्य इन शब्दो से परिचित होते हैं, किन्तु उस स्थिति मे भी इन शब्दो को उन लोगो से गुप्त रखा जाता है जो उस समाज के सदस्य नही, क्योकि यह विश्वास किया जाता है कि वैसा न करने पर जा की प्रभावशीलता के कम हो जाने की सम्भावना रहती है।

(२) **शब्दोच्चारण के साथ कतिपय विशिष्ट क्रियाएँ**—मन्त्रो के प्रतिफलित होने के लिये बहुधा उनके उच्चारण के साथ कतिपय क्रियाओ का करना भी आवश्यक होता है। ये क्रियाएँ मन्त्रोच्चारण को नाटकीय तत्त्व प्रदान करती हैं और यह विश्वास किया जाता है कि उनका सम्मिलित प्रभाव उद्देश्य की पूर्ति या अभीष्ट की सिद्धि मे सहायक सिद्ध होता है।

(३) **जादू करने वाले व्यक्ति की विशेष स्थिति**—जिन दिनो जादू की क्रियाएँ की जाती हैं, उन दिनो रोज जैसा जीवन बिताया जाता है उससे कुछ भिन्न प्रकार का जीवन विताना आवश्यक समझा जाता है। इस काल मे जादूगर को कुछ चीजो को खाने-पीने या कुछ विशिष्ट व्यवहारो को करने की मनाही होती है।

डा० दुबे ने आगे और लिखा है कि उपरोक्त तीन तत्त्वो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मन्त्र ही होते हैं, अन्य क्रियाएँ तो उनके सहायक के रूप मे प्रयोग की जाती हैं। इसीलिये कभी कभी इन क्रियाओ मे से कुछ क्रियाओ को बेकार का समझकर जादूई क्रिया मे सम्मिलित नही किया जाता है, परन्तु मन्त्र सदैव ही आवश्यक अग के रूप मे प्रत्येक

21 Dr S C Dube, *op cit*, pp 138-139

जादुई क्रिया मे उपस्थित रहते हैं। ईश्वर या अदृष्ट शक्ति मानव के साथ सुलह करे, इस उद्देश्य से इन्हें प्रयोग किया जाता है। आदर्शतः यदि ठीक प्रकार से मन्त्रो का उच्चारण हो और अन्य क्रियाएँ नियमानुसार सम्पन्न की जाएँ तो अतिप्राकृतिक शक्ति कर्त्ता अर्थात् जादूगर की इच्छानुसार कार्य करने को वाध्य हो जाती है। और यदि ऐसा नही होता है तो यह विश्वास किया जाता है कि मन्त्रो के उच्चारण मे या उनके साथ की जाने वाली अन्य क्रियाओ मे कही कोई त्रुटि रह गयी है।

श्री मैलिनोवस्की के अनुसार जादुई क्रियाओ मे निम्नवत् चार तत्त्व होते हैं[22]—

(अ) मन्त्र (Spell)—मन्त्र प्रत्येक जादुई क्रिया का सर्वप्रथम और आधार-भूत तत्त्व है। इसके बिना कोई भी जादुई क्रिया सम्पन्न हो ही नही सकती। यह मन्त्र की ही शक्ति है जो कि अतिप्राकृतिक शक्ति पर दवाव डालकर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेती है। प्रत्येक मन्त्र मे तीन विशेषताएँ होती हैं—पहली, प्राकृतिक आवाजो की नकल आवश्यक है। यह विश्वास किया जाता है कि कार्य की सिद्धि के लिये कुछ कारणो को उत्पन्न करना आवश्यक है। इसीलिये जादूगर नकली आवाजो को उत्पन्न कर उन कारणो के उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। दूसरी, आदिम मनुष्यो के मन्त्रो मे इस प्रकार के शब्दो का प्रयोग किया जाता है जो किसी वर्तमान परिस्थिति को वतलाते हैं और इच्छित उद्देश्य को पूरा करने का आदेश देते हैं। तीसरी, प्रत्येक सम्मोहन मन्त्र मे उन पूर्वजो के नाम का भी उल्लेख होता है जिनसे जादू प्राप्त हुआ माना जाता है।

(ब) भौतिक पदार्थ—प्रत्येक प्रकार की जादुई क्रिया मे कुछ निश्चित भौतिक पदार्थों को काम मे लाया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि इन भौतिक चीजो को प्रयोग मे न लाये विना इच्छित उद्देश्यो की पूर्ति सम्भव नही है। इस कारण ये भौतिक चीजें भी जादुई क्रिया का एक आवश्यक अग हो गयी हैं। काले जादू मे कटार या चाकू या जहरीली चीजो का प्रयोग होता है और प्रेम-जादू मे इत्र, फूल या अन्य इस प्रकार की वस्तुएँ काम मे लायी जाती हैं जो प्रेमी को उद्दीप्त करें।

(स) कृत्यो की नियमवद्धता—जादुई क्रिया मनमाने ढग से नही की जाती है। एक इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिये जादुई क्रिया की एक निश्चित विधि या तरीका होता है। किस क्रम मे और किस तरह कौनसी जादुई क्रियाएँ की जाएँगी, इसका उचित तथा क्रमबद्ध ज्ञान जादूगर को होना चाहिये। यदि जादुई क्रिया अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफल न हुई तो यह सोच लिया जाता है कि जादूगर अज्ञान है या उसने मन्त्रो के शब्द-क्रम अथवा उनके साथ की जाने वाली क्रियाओ मे कोई त्रुटि की है या उस जादूगर ने उस विशिष्ट स्थिति मे अनिवार्य निषेधो का उल्लघन किया है।

(द) सवेगो की अभिव्यक्ति—प्रत्येक प्रकार के जादू मे उद्देश्यो के अनुसार अलग-अलग सवेगो (emotions) की अभिव्यक्ति की जाती है। यह विश्वास किया जाता है कि इन सवेगो को जाहिर करने पर मन्त्रो को वल मिलता है और उनका सम्मिलित प्रभाव अभीष्ट की सिद्धि को पास लाता है। इसलिये जादूगर अपने उद्देश्य के अनुसार सवेगो को अवश्य प्रकट करता है। उदाहरणार्थ, काले जादू मे जादूगर का

22 B Malinowski, *op cit*

उद्देश्य दुश्मन को मारना होता है, इसलिये जादू करने के समय जादूगर के चेहरे से क्रूरता का भाव टपकता है और वह अपने क्रोध को झलकाते हुए मन्त्रो का उच्चारण करता है।

जादू के भेद
(Kinds of Magic)

श्री फ्रेज़र (Frazer) ने जादू के सम्बन्ध मे विवेचना करते हुए लिखा है कि "जादू मे दो आधारभूत सिद्धान्तो का समावेश है—**प्रथम** तो यह कि समान कारण से समान कार्य उत्पन्न होता है, अर्थात् एक कार्य अपने कारण के सदृश्य होता है, और **द्वितीय** यह कि जो वस्तु एक बार किसी के सम्पर्क मे आ जाती है वह सदैव उसके सम्पर्क मे रहकर उस समय भी एक-दूसरे पर क्रिया व प्रतिक्रिया करती रहती है जब कि उनका शारीरिक सम्बन्ध टूट गया हो, अर्थात् वे एक दूसरे से दूर या पृथक् हो।[23] श्री फ्रेज़र ने अपने इन दो सिद्धान्तो को नियमो का रूप दिया है और इन्ही के आधार पर जादू के दो भेदो का उल्लेख किया है। प्रथम सिद्धान्त को आपने 'समानता का नियम' (the law of similarity) कहकर पुकारा है। समानता के नियम पर जो जादू आधारित है उसे होमियोपैथिक (homoeopathic) या अनुकरणात्मक (imitative) जादू कहते हैं। दूसरे सिद्धान्त को श्री फ्रेज़र ने 'सम्पर्क या ससर्ग का नियम' (the law of contact or contagion) कहकर पुकारा है। ससर्ग के नियम पर जो जादू आधारित है उसे सक्रामक जादू (contagious magic) कहते है।

इस प्रकार श्री फ्रेज़र के अनुसार जादू के दो भेद है—(१)अनुकरणात्मक जादू, और (२) सक्रामक जादू।

अनुकरणात्मक जादू इस नियम पर आधारित है कि जब एक प्रकार की क्रिया की जाती है तो परिणाम भी उसी प्रकार का होता है अर्थात् समान कारण से समान कार्य उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ आस्ट्रिया मे यह विश्वास किया जाता है कि यदि प्रसवा माँ को किसी वृक्ष का प्रथम फल खाने को दिया जाय तो उस वृक्ष पर अगले वर्ष काफी फल आएँगे। गेलेलारी समाज मे जब कभी युवक प्रेमी अपनी प्रेयसी से मिलने रात्रि मे उसके घर जाता है तो वह श्मशान से कुछ मिट्टी अपने साथ लेता जाता है जिसे वह अपनी प्रेयसी के घर की छत पर डाल देता है। इस जादू का यह उद्देश्य होता है कि गुप्त भेंट के समय प्रेयसी के माता-पिता मृतवत् अर्थात् गहरी नीद मे सोते रहें और उन प्रेमी-प्रेमिका के मिलन मे कोई बाधा न पहुँचे।[24]

इसमे विपरीत सक्रामक जादू इस नियम पर आधारित है कि जो वस्तु एक बार किसी के सम्पर्क मे आ जाती है, वह हमेशा सम्पर्क मे रहती है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति

---

23 "Magic involves two basic assumptions First, that like produces like, or that an effect resembles its cause, , and second, that things which have once been in contact with each other at a distance, even after the physical contact has been severed." James Frazer, *The Golden Bough*, Abridged Edition, Vol. I, The Macmillan Co , 1928, p 11

24 S C Dubey, *op cit*, p 139

के वाल या नाखून उसके शरीर के सम्पर्क मे है। अगर उन वालो या नाखूनो को काट डाला जाय तो वाहरी तौर पर उनका सम्पर्क उस व्यक्ति के शरीर से समाप्त हो जाता है। परन्तु संक्रामक जादू के नियम के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि वाहरी तौर पर उन बालो या नाखूनो का सम्पर्क व्यक्ति के शरीर से समाप्त हो जाने पर भी उन दोनो का सम्पर्क वना रहता है। इसीलिये यदि किसी व्यक्ति के कटे हुए वालो या नाखूनो को कोई भी नुकसान पहुँचाया जाय तो उस व्यक्ति को भी कष्ट पहुँचेगा।

इन दोनो प्रकार के जादुओ को श्री फ्रेजर (Frazer) ने 'सहानुभूत-जादू' (sympathetic magic) कहा है, क्योकि इन दोनो प्रकार के जादुओ मे कारण और कार्य का आन्तरिक सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध सम्पर्क के द्वारा या समानता के कारण उत्पन्न होता है। इसी सम्बन्ध के कारण जादुई क्रिया के प्रति उसके लक्ष्य की सहानुभूति होती है। इसीलिये इन्हें सहानुभूत-जादू कहा गया है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने एक-दूसरे तरीके से जादू का वर्गीकरण किया है। आपके अनुसार समस्त प्रकार के जादू को दो प्रमुख श्रेणियो मे रक्खा जा सकता है—(१) सफेद जादू (White Magic), और (२) काला जादू (Black Magic)।

सफेद जादू के दो भेद हैं। पहले भेद मे वे जादू आते हैं जिन्हें कि जीवन की अनिश्चितता और खतरो से मनुष्य की रक्षा करने के हेतु काम मे लाया जाता है। उदाहरणार्थ, ट्रोब्रियड द्वीपसमूह के निवासी गहरे समुद्र मे मछली का शिकार करने जाते हैं तव वहाँ उन्हें प्राय नाना प्रकार के खतरो का सामना करना पडता है। इन खतरो से वचने के लिये वे जादू की सहायता लेते हैं। सफेद जादू के दूसरे भेद मे विचित्र घटनाएँ (miracles) आती हैं। जब कोई व्यक्ति जादू की शक्ति से कोई ऐसा चमत्कार दिखाता है जिसकी कि कोई भी आशा नही कर सकता, तो उसे इस श्रेणी के अन्तर्गत लाते हैं। इन दोनो प्रकार के जादुओ को सफेद जादू इसलिये कहा जाता है कि इनका उद्देश्य सामाजिक दृष्टिकोण से कल्याणकारी होता है। इस कारण ऐसे जादू को समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

इसके विपरीत काला जादू का उद्देश्य दूसरो को हानि पहुँचाना होता है। इसीलिये इन्हें काला जादू कहा जाता है और इन्हें समाज की स्वीकृति प्राप्त नही होती है। इन जादुओ को जादूगर अपने शत्रु के प्रति प्रयोग करता है जिससे कि उसे जान-माल की हानि हो या वह वीमार पड जाय या उसे अन्य प्रकार से कष्ट पहुँचे। श्री मैलिनोवस्की काले जादू के अन्तर्गत टोना (sorcery) तथा भूत-प्रेतो की सिद्धि (witchcraft) को भी सम्मिलित करते हैं।

डा० दुवे ने जादुई क्रिया के उद्देश्य के आधार पर जादू को तीन भागो मे वाँटा है[25]—(१) सवर्द्धक जादू—इसके अन्तर्गत आखेट का जादू, उर्वरता का जादू, वर्षा के लिये जादू, मछली पकडने का जादू, नौका चलाने का जादू, वाणिज्य-लाभ का जादू और प्रणय के लिये जादू आते हैं।

25 *Ibid*, p 141

(२) सरक्षक जादू—इसके अन्तर्गत सम्पत्ति-रक्षा के लिये जादू, दिये हुए ऋण को पुन प्राप्त करने के लिये जादू, दुर्भाग्य से बचाव के लिये जादू, रोग-उपचार के लिये जादू, यात्रा मे सुरक्षा के लिये जादू, विनाशक जादू का प्रभाव रोकने के लिये अवरोधक जादू आदि सम्मिलित हैं।

(३) विनाशक जादू—इसके अन्तर्गत तूफान लाने के लिये जादू, सम्पत्ति नष्ट करने के लिये जादू, बीमार करने के लिये जादू, मृत्यु बुलाने के लिये जादू आदि आते हैं।

जादू और विज्ञान
(Magic and Science)

श्री फ्रेजर ने अपनी जादू की परिभाषा मे लिखा है कि जादू एक आभासी-विज्ञान (pseudo-science) है। एक अन्य स्थान पर आपने जादू को विज्ञान की 'अवैध बहन' (bastard sister) कहा है। इस अर्थ मे, श्री फ्रेजर के अनुसार, जादू आदिमानव का विज्ञान है। स्वभावत ही इन दोनो मे कई समानताएँ है—(१) जादू और विज्ञान दोनो ही यह स्वीकार करते हैं कि घटनाएँ कुछ प्राकृतिक नियमो के कारण ही घटित होती हैं और इन नियमो मे एक निश्चित व्यवस्था और नियमबद्धता होती है। (२) "सहानुभूत-जादू यह विश्वास करता है, एक घटना का अनिवार्यत अन्य घटनाओ पर प्रभाव पडता है, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है।" विज्ञान मे भी यह विशेषता पायी जाती है। (३) वैज्ञानिक और जादूगर दोनो ही यह मानते हैं कि प्राकृतिक घटनाओ ने कार्य-कारण सम्बन्धो को समझकर कारणो को उत्पन्न कर कार्य को भी पैदा किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, दोनो ही यह विश्वास करते है कि यदि कुछ कार्यक्रमो को नियमानुसार और सूक्ष्म रूप से काम मे लाया जाय तो इच्छित परिणाम अवश्य निकलेंगे। (४) जादू और विज्ञान मे एक और समानता यह है कि दोनो मे ही कुछ न कुछ सीमा तक भविष्य-वाणी करने की क्षमता होती है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने भी जादू और विज्ञान मे कई समानताओ का उल्लेख किया है। पहली समानता तो यह है कि दोनो का ही मनुष्य की प्रवृत्तियो और आवश्यकताओ से सम्बन्धित कोई-न-कोई निश्चित उद्देश्य होता ही है। दूसरी समानता यह है कि जादू और विज्ञान दोनो ही कुछ निश्चित नियमो पर आधारित हैं। मनमाने ढग से न तो जादू मे कार्य होता है और न ही विज्ञान मे। तीसरी समानता यह है, जादू व विज्ञान दोनो मे एक विशेष प्रविधि (technique) का प्रयोग किया जाता है।

उक्त समानताओ के होते हुए भी जादू और विज्ञान को एक समझने की गलती न करनी चाहिये क्योकि बाहरी तौर पर ये समानताएँ प्रगट होने पर भी वे वास्तविक नही हैं। वास्तव मे जादू तथा विज्ञान दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। इन दोनो मे कुछ आधारभूत भिन्नताएँ हैं जिनमे से निम्नलिखित प्रमुख हैं—(१) जादू और विज्ञान मे सर्वप्रमुख भिन्नता यह है कि जादू का सम्बन्ध अधिप्राकृतिक (supernatural) जगत् से है, जबकि विज्ञान केवल प्राकृतिक जगत् से सम्बन्ध रखता है। अधिप्राकृतिक जगत् विज्ञान

के क्षेत्र के अन्तर्गत कदापि नही आता है जब कि जादू की समस्त रुचि इसी मे होती है। (२) रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) के अनुसार विज्ञान के परिणामो की परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती है क्योकि इसमे वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग होता है और इन पद्धतियो का एक वास्तविक आधार भी होता है। परन्तु चूँकि जादू का सम्पर्क अधिप्राकृतिक जगत् से होता है, इस कारण जादू की विधियाँ मानव-मस्तिष्क की कल्पना मात्र होती है। (३) विज्ञान की असफलता अपर्याप्त ज्ञान के कारण होती है और इसका सशोधन शोध (research) के द्वारा हो सकता है। परन्तु जादू मे असफल होने का कारण यह सोचा जाता है कि जादूगर ने "मत्रो के शब्द-क्रम अथवा उनके साथ की जाने वाली क्रियाओ मे कोई त्रुटि की, अथवा उसने इस विशिष्ट स्थिति के अनिवार्य निषेधो का उल्लघन किया।" (४) श्री गोल्डनवीज़र के अनुसार एक जादूगर जिन उपकरणो का प्रयोग करता है उनमे रूढिवादिता या परम्परा की बू रहती है और इसी कारण वे अनुभवो से परे होते हैं। परन्तु वैज्ञानिक के उपकरण परिवर्तनशील होते हैं और अनुभव के आधार पर उन्हे किसी भी समय बदला जा सकता है। (५) श्री मैलिनोवस्की के अनुसार "विज्ञान" यहाँ तक कि आदिमानव का विज्ञान भी निरीक्षण (observation) के आधार पर तर्क (reason) द्वारा निर्धारित रोज के जीवन के उन स्वाभाविक तथा सार्वभौम अनुभवो पर आधारित है जो कि अपनी जीविका (subsistence) और सुरक्षा के लिये प्रकृति के साथ सघर्ष करने के दौरान पर मनुष्य प्राप्त करता है। इसके विपरीत, जादू मनुष्य की उद्वेगात्मक अवस्थाओ (emotional states) के विशिष्ट अनुभवो पर आधारित होता है, जिसमे कि मनुष्य प्रकृति को नही बल्कि अपने को निरीक्षण करता है, जिसमे कि सत्य का निर्णय तर्क द्वारा नही बल्कि मानव-शरीर पर उद्वेगो की क्रियाशीलता द्वारा होता है। (६) विज्ञान इस विश्वास पर आधारित है कि अनुभव, प्रयत्न तथा तर्क सही हैं, पर जादू इस विश्वास पर आधारित है कि आशा व्यर्थ नही हो सकती, न ही इच्छा कभी धोखा दे सकती है।"[26]

जादू और धर्म
(Magic and Religion)

समानताएँ—आदिम सस्कृति मे धर्म और जादू एक-दूसरे से इतना अधिक घुले-मिले हुए है कि इन्हे अलग करना एक प्रकार से असम्भव ही है। (१) श्री गोल्डनवीज़र ने लिखा है कि जादू तथा धर्म मे जो सामान्य तत्त्व (common element) है वह यह कि दोनो का ही सम्बन्ध अधिप्राकृतिक शक्ति से है। (२) साथ ही, इन दोनो मे ज्ञान

26 "Science, even as represented by the primitive knowledge of savage man, is based on the normal, universal experience of everyday life, experience won in man's struggle with nature for his subsistence and safety, founded on observation, fixed by reason Magic is based on specific experience of emotional states in which man observes not nature but himself, in which the trust is revealed not by reason, but by the play of emotions upon the human organism Science is founded on the conviction that experience, effort and reason are valid , magic on the belief that hope cannot fail nor deceive " B. Malinowski, *op cit*

परम्परागत होते है। (३) धार्मिक तथा जादुई क्रियाओं मे उद्वेगों की उपस्थिति भी होती है जो कि इन दोनों को और भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित करती है। श्री मैलिनोवस्की ने लिखा है कि धर्म तथा जादू दोनो ही "उद्वेगात्मक तनाव की परिस्थितियो मे उत्पन्न होते हैं, जैसे जीवन के सकट, असफल प्रेम और घृणा की परिस्थितियाँ। (४) इन दोनों मे एक दूसरी समानता यह है कि दोनो उन सकटमय परिस्थितियो से बचने के साधन के रूप मे प्रयोग किये जाते हैं जिनसे कि अन्य किसी साधन के माध्यम से पार नही पाया जा सकता है। लोग यह विश्वास करते हैं कि धर्म या जादू मे चमत्कार दिखाने की शक्ति है क्योंकि यह अधिप्राकृतिक शक्ति पर आधारित है। इसलिये जिन उद्देश्यों की पूर्ति अन्य उपायो से सम्भव नही, वह धर्म तथा जादू की सहायता से सहज ही सम्भव हो सकती है। (५) जादू तथा धर्म सम्बन्धी क्रियाओं को करने के लिये कुछ परम्परागत विधियाँ होती हैं जिनका कि अनुसरण करना आवश्यक समझा जाता है। अगर जादू या धर्म-सम्बन्धी क्रियाओं मे अभीष्ट की सिद्धि नही होती है तो यह मान लिया जाता है कि उन परम्परागत विधियो का ठीक-ठीक अनुसरण नही किया गया है। (६) धर्म तथा जादू की क्रियाओं को करने के लिये नित्यप्रति से भिन्न प्रकार का जीवन बिताना पडता है। दूसरे शब्दो मे, इन दोनो मे ही कुछ अनिवार्य निषेधो का पालन करना पडता है वरना यह सोचा जाता है कि इच्छित उद्देश्य की पूर्ति असम्भव है।

भेद—उपरोक्त समानताओं के होते हुए भी धर्म और जादू मे निम्नलिखित भेद स्पष्ट हैं—(क) धर्म एक सामाजिक कृत्य है, जब कि जादू एक वैयक्तिक कृत्य है। धर्म और जादू के इस भेद पर श्री दुर्खीम ने अत्यधिक बल दिया है। आपने लिखा है कि जादू मे भी धर्म की भाँति अनेक विश्वास, सस्कार, कृत्य आदि होते हैं, फिर भी मूल रूप मे जादू वैयक्तिक (individualistic) होता है। जादू का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से होता है। इसी कारण जादू उसपर विश्वास करने वालो को एक समूह मे सयुक्त नहीं कर पाता है। इसके विपरीत, धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से नही होता है। यह तो एक सामाजिक तथ्य है। इसी कारण धर्म पर विश्वास करने वालो को एक नैतिक समुदाय (moral community) मे सयुक्त करता है। (ख) जादू और धर्म दोनो मे ही अधिप्राकृतिक या अलौकिक शक्ति मे विश्वास किया जाता है। परन्तु धर्म मे उस शक्ति की विनती, पूजा, प्रार्थना या आराधना करके उसे प्रसन्न करने और फिर उस प्रसन्नता से लाभ उठाने या उस शक्ति के द्वारा की जाने वाली हानियो से बचने का प्रयत्न किया जाता है। इसके विपरीत जादू से उस शक्ति को दबा कर अपने अधिकार मे करके उस शक्ति को अपने उद्देश्य की पूर्ति मे प्रयोग किया जाता है। इस भेद को श्री गोल्डनवीजर (Goldenweiser) ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—धर्म मे आत्मसमर्पण या अधीनता निहित है, जब कि जादू मे दृढ आत्म-सकल्प तथा नियन्त्रण।[27] (ग) इन दोनो मे एक अन्तर यह है कि धर्म मे अलौकिक शक्ति के प्रति धार्मिक व्यक्ति के मन मे भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की भावना होती है। परन्तु जादू मे जादूगर प्राकृतिक शक्तियो को श्रद्धा

---

27 'In the first case (religion) there is submission or dependence, in the second case (magic) self determination and control" Goldenweiser, *op cit*

और सम्मान की दृष्टि से नही देखता है क्योंकि वह उनका भेद जानता है और उनपर काबू पा सकता है। (घ) श्री मैलिनोवस्की ने लिखा है कि जादू सबके लिये नहीं होता है अर्थात् जादुई क्रियाएँ केवल वे लोग ही कर सकते हैं जो कि इन क्रियाओं मे निपुण हैं। इन क्रियाओं को ये निपुण व्यक्ति अपने शिष्यों को ही सिखाते हैं। इसके विपरीत धार्मिक क्रियाएँ सबके द्वारा और सबके लिये की जाती हैं। (ङ) धर्म समूह के कल्याण की चिन्ता करता है, जादू बहुधा व्यक्ति का कल्याण सोचता है। (च) धर्म मे प्रार्थना सफल और असफल दोनों ही हो सकती है परन्तु जादुई क्रिया इस विश्वास के साथ की जाती है कि इच्छित उद्देश्य की पूर्ति या अभीष्ट की सिद्धि अवश्य ही होगी।

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959

2 Boas and others *General Anthropology*, New York, 1938

3 Calverton *The making of Man*, The Modern Library, New York, 1931

4 Committee of the Royal Anthropological Institution of Great Britain and Ireland *Notes and Queries on Anthropology*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1954

5 Dube, S C. *Manava aur Sanskriti*, Rajkamal Prakashan, Delhi, 1960

6 Durkheim, Emile *The Elementary Forms of Religious Life*, translated by J W Swain, Free Press, Glencoe, 1947

7 Frazer, James *The Golden Bough*, The Macmillan Co , New York, 1950

8 Goode, W J *Religion among the Primitives*, The Free Press Glencoe, Illinois, 1951

9 Herskovits, M J : *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956

10 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

11 Malinowski, B *Magic, Science and Religion and Other Essays*, Glencoe, 1948

12 Max Muller *Lectures on the Origin and Growth of Religion* Longmans, Green and Co , London

13 Radin, Paul *Primitive Religion*, Dover Publications, New York, 1957.

14 Titiev, Mischa, *Introduction to Cultural Anthropology*, Henry Holt and Co , New York, 1959

15 Tylor, E B *Primitive Culture*, John Murray, London, 1913

१४

टोटमवाद

(TOTEMISM)

ग्रौर सम्मान की दृष्टि से नही देखता है क्योंकि वह उनका भेद जानता है ग्रौर उनपर काबू पा सकता है। (घ) श्री मैलिनोवस्की ने लिखा है कि जादू सबके लिये नहीं होता है अर्थात् जादुई क्रियाएँ केवल वे लोग ही कर सकते हैं जो कि इन क्रियाग्रो मे निपुण हैं। इन क्रियाग्रो को ये निपुण व्यक्ति ग्रपने शिष्यो को ही सिखाते हैं। इसके विपरीत धार्मिक क्रियाएँ सबके द्वारा ग्रौर सबके लिये की जाती हैं। (ङ) धर्म समूह के कल्याण की चिन्ता करता है, जादू बहुधा व्यक्ति का कल्याण सोचता है। (च) धर्म मे प्रार्थना सफल ग्रौर ग्रसफल दोनो ही हो सकती हैं परन्तु जादुई क्रिया इस विश्वास के साथ की जाती है कि इच्छित उद्देश्य की पूर्ति या ग्रभीष्ट की सिद्धि ग्रवश्य ही होगी।

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959

2 Boas and others *General Anthropology*, New York, 1938

3 Calverton *The making of Man*, The Modern Library, New York, 1931

4 Committee of the Royal Anthropological Institution of Great Britain and Ireland *Notes and Queries on Anthropology*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1954

5 Dube, S C. *Manava aur Sanskriti*, Rajkamal Prakashan, Delhi, 1960

6 Durkheim, Emile *The Elementary Forms of Religious Life*, translated by J W Swain, Free Press, Glencoe, 1947

7 Frazer, James *The Golden Bough*, The Macmillan Co , New York, 1950

8 Goode, W J *Religion among the Primitives*, The Free Press Glencoe, Illinois, 1951

9 Herskovits, M J : *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956

10 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

11 Malinowski, B *Magic, Science and Religion and Other Essays*, Glencoe, 1948.

12 Max Muller *Lectures on the Origin and Growth of Religion* Longmans, Green and Co , London

13. Radin, Paul *Primitive Religion*, Dover Publications, New York, 1957

14 Titiev, Mischa, *Introduction to Cultural Anthropology*, Henry Holt and Co , New York, 1959.

15 Tylor, E B *Primitive Culture*, John Murray, London, 1913

अध्याय १४

टोटमवाद
(Totemism)

अनेक जनजातीय संस्कृतियो मे धर्म तथा सामाजिक सगठन के तत्त्व और विशेषताएँ अनोखे ढग से मिली-जुली रहती है और वह इस अर्थ मे कि ये जनजातियाँ किसी भौतिक पदार्थ, पशु या पेड-पौधो मे अपना एक रहस्यमय सम्बन्ध जोडकर अलौकिक विश्वासो को पनपाती एव सामाजिक जीवन को नियमित करती हैं। मानवशास्त्री इन जनजातियो को टोटमवादी (Totemic) कहते हैं और जिससे ये लोग एक रहस्यमय सम्बन्ध होने का दावा करते हैं, उसे 'टोटम' (Totem) कहते है। 'टोटम' शब्द का बोध उत्तरी अमेरिका के इण्डियनो ने सर्वप्रथम श्री जे० लॉग (J Long) ने सन् १७६१ मे किया था, और श्री जे० एफ० मैकलिनन (J F Maclenan) ने एक आदिम सामाजिक सस्था के रूप मे टोटमवाद (Totemism) के महत्त्व को सबसे पहले स्वीकार किया।[1]

वास्तव मे, जैसा कि हम आगे देखेंगे, टोटमवाद (Totemism[2]) जनजातियो के सामाजिक सगठन का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आधार है। इसके आधार पर गोत्र-जीवन सगठित तथा विवाह आदि नियन्त्रित होते हैं। इस कारण टोटम और टोटमवाद के स्वरूपो को समझना बहुत ही आवश्यक है।

जनजातीय समूह अपने गोत्र का सम्बन्ध केवल मनुष्यो तक ही सीमित नही रखते हैं, बल्कि किसी भौतिक वस्तु, पशु, पेड-पौधे तथा अन्य प्राकृतिक चीजो से अपना सम्बन्ध होने का दावा करते है, और केवल सम्बन्ध ही नही, अपितु उस सम्बन्ध के आधार पर अनेक अन्धविश्वासो, श्रद्धा, भक्ति और आदर के भाव को जन्म देते है। इस प्रकार, **किसी भौतिक वस्तु या पशु-पक्षी या प्रकृति की अन्य कोई चीज जिसके साथ एक गोत्र अपना गूढ सम्बन्ध मानता है, टोटम कहलाता है और इस टोटम से सम्बन्धित समस्त धारणाओ विश्वासो और सगठन को टोटमवाद कहते हैं।**[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि टोटमवाद धार्मिक तत्त्वो और सामाजिक सगठन का एक अनोखा सयोग (combination)

1 D N ... *Races and Cultures of India,* Asia Publishing House, Bombay, 1958

2 "T... erived from a Chippewa word, variously rendered as *dodaim* *tood*... and *ododam,* which has been adopted into the Eng...h langua... m *totem*" Ralph Piddington, *An Introduction to Social* ...nthropology ... Boyd, London, 1952 p 200

3 "I... object or animal or bird, or any other phenomenon ... clan thinks of a mystic relation is called totem, and all ... ture ... anization associated with this totem is known as totem-... c, *Bharatiya Janta tatha Sansthayen,* Saraswati Sadan,

विषय-सूची—चौदहवाँ अध्याय

१ भूमिका
२. टोटम की परिभाषा
३ टोटमवाद की परिभाषा
४ टोटम और टोटमवाद की विशेषताएँ
५. टोटम के भेद
६ टोटम की उत्पत्ति के सिद्धान्त
७ टोटमवाद का सामाजिक महत्त्व
८ टोटमवाद का भौगोलिक वितरण

अध्याय १४

टोटमवाद
(Totemism)

अनेक जनजातीय संस्कृतियो मे धर्म तथा सामाजिक संगठन के तत्त्व और विशेषताएँ अनोखे ढंग से मिली-जुली रहती है और वह इस अर्थ मे कि ये जनजातियाँ किसी भौतिक पदार्थ, पशु या पेड-पौधो मे अपना एक रहस्यमय सम्बन्ध जोडकर अलौकिक विश्वासो को पनपाती एव सामाजिक जीवन को नियमित करती है। मानवशास्त्री इन जनजातियो को टोटमवादी (Totemic) कहते हैं और जिससे ये लोग एक रहस्यमय सम्बन्ध होने का दावा करते हैं, उसे 'टोटम' (Totem) कहते है। 'टोटम' शब्द का बोध उत्तरी अमेरिका के इण्डियनो से सर्वप्रथम श्री जे० लॉग (J Long) ने सन् १७९१ मे किया था, और श्री जे० एफ० मैकलिनन (J F Maclenan) ने एक आदिम सामाजिक संस्था के रूप मे टोटमवाद (Totemism) के महत्त्व को सबसे पहले स्वीकार किया।[1]

वास्तव मे, जैसा कि हम आगे देखेंगे, टोटमवाद (Totemism[2]) जनजातियो के सामाजिक संगठन का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आधार है। इसके आधार पर गोत्र-जीवन संगठित तथा विवाह आदि नियन्त्रित होते है। इस कारण टोटम और टोटमवाद के स्वरूपो को समझना बहुत ही आवश्यक है।

जनजातीय समूह अपने गोत्र का सम्बन्ध केवल मनुष्यो तक ही सीमित नही रखते हैं, बल्कि किसी भौतिक वस्तु, पशु, पेड-पौधे तथा अन्य प्राकृतिक चीजो से अपना सम्बन्ध होने का दावा करते है, और केवल सम्बन्ध ही नही, अपितु उस सम्बन्ध के आधार पर अनेक अन्धविश्वासो, श्रद्धा, भक्ति और आदर के भाव को जन्म देते हैं। इस प्रकार, **किसी भौतिक वस्तु या पशु-पक्षी या प्रकृति की अन्य कोई चीज जिसके साथ एक गोत्र अपना गूढ सम्बन्ध मानता है, टोटम कहलाता है और इस टोटम से सम्बन्धित समस्त धारणाओ विश्वासो और संगठन को टोटमवाद कहते हैं।**[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि टोटमवाद धार्मिक तत्त्वो और सामाजिक संगठन का एक अनोखा संयोग (combination)

---

1 D N Majumdar *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p 333

2 "This term is derived from a Chippewa word, variously rendered as *dodaim toodaim*, *oteteman*, and *ododom*, which has been adopted into the English language in the form *totem*" Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952 p 200

3 "Thus, any material object or animal or bird, or any other phenomenon of nature with which a clan thinks of a mystic relation is called totem, and all the ideas, beliefs and organization associated with this totem is known as totemism" R N Mukherjee, *Bharatiya Janta tatha Sansthayen*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1961, p 73

है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना होगा कि टोटमवाद न तो धर्म है और न ही टोटम कोई भगवान या भगवान का प्रतीक।

टोटम की परिभाषा
(Definition of Totem)

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "टोटम एक पदार्थ, प्राय एक पशु अथवा एक पौधा है जिसके प्रति एक सामाजिक समूह के सदस्य विशेप श्रद्धाभाव रखते हैं और जो यह अनुभव करते हैं कि उनके और टोटम के बीच भावनात्मक समानता का एक विशिष्ट बन्धन है।"[4] श्री फ्रायड (Freud) के अनुसार, "वास्तव मे, टोटम एक पशु है (चाहे भक्ष्य हो तथा हानिरहित, भयकर हो तथा डरावना) और यदा-कदा एक पौधा अथवा एक प्राकृतिक पदार्थ (जैसे वर्षा या जल) भी हो सकता है, जिसका कि समग्र गोत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।"[5] श्री जेम्स फ्रजर (James Frazer) ने टोटम की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "टोटम भौतिक वस्तुओ का एक वर्ग है जिसका एक आदिम जाति यह विश्वास रखते हुए कि उसके तथा गोत्र के प्रत्येक सदस्य के बीच एक विशिष्ट आन्तरिक सम्बन्ध विद्यमान है, अन्धविश्वासपूर्ण आदर करती है।"[6] श्री गोल्डनवीजर (Goldenweiser) ने टोटम के अर्थ को और भी विस्तारपूर्वक समझाते हुए लिखा है कि "गोत्रो मे विभाजित अनेक आदिम जनजातियो मे गोत्र-नाम एक पशु, पौधा अथवा प्राकृतिक पदार्थ से लिया गया है और गोत्र के सदस्य इन पशुओ अथवा वस्तुओ के प्रति विशिष्ट मनोभाव रखते हैं। इसीको मानवशास्त्री टोटम कहते हैं।"[7]

उपरोक्त परिभाषाओ से टोटम के सम्बन्ध मे एक स्पष्ट धारणा बन जाती है। अगर उक्त परिभाषाओ का विश्लेषण किया जाय तो हमे टोटम के सम्बन्ध मे दो-तीन बातो का पता चलता है—प्रथम तो यह है कि साधारणतया टोटम कोई अभौतिक या अमूर्त्त वस्तु नही होती है, यह कोई न कोई भौतिक चीज, पशु-पक्षी या पेड-पौधा होता है। दूसरी बात यह कि यह भौतिक चीज, पशु या पौधा एक गोत्र-समूह के सदस्यो के दृष्टिकोण से कोई सामान्य या साधारण चीज नही होती है, इसलिये अन्य भौतिक

---

4 "Totem is an object, often an animal or a plant, held in special regard by the members of a social group, who feel that there is a peculiar bond of emotional identity between themselves and the totem" E A Hoebel, *Man in the Primitive World*, p 512

5 "It is as a rule an animal (whether edible and harmless, dangerous and fear) and more rarely a plant or a natural phenomenon such as rains or water, which stands in close relation to the whole clan" S Freud, *Totem and Taboo*

6 "A totem is a class of material objects which a savage regards with superstitious respect believing that there exists between him and every member of clan an intimate altogether a special relation" James Frazer, *Totemism*

7 "Among many primitive tribes divided into sibs (clans or gentes) the sib name is derived from an animal, plant or natural object and the sib mates display special attitude towards these creatures or things which in this connection are designated by anthropologist as totems" A Goldenweiser, *Encyclopeadia of Social Sciences* Vol 13, p 657

चीज, पशु या पौधो से टोटम बिल्कुल ही भिन्न होता है। तीसरी बात यह है कि चूंकि यह टोटम नामधारी भौतिक पदार्थ या पशु या पक्षी या पेड या पौधा असाधारण या अलौकिक या विशिष्ट शक्ति सम्पन्न है, इस कारण इसके प्रति गोत्र-समूह के सदस्यो की अन्धविश्वासमूलक श्रद्धा, भक्ति व आदर की भावना होती है। अन्तिम बात यह है कि इस श्रद्धा, भक्ति व आदर की भावना के आधार पर यह भी विश्वास किया जाता है कि टोटम तथा गोत्र के प्रत्येक सदस्य के बीच एक विशिष्ट, आन्तरिक, रहस्यमय या अलौकिक सम्बन्ध विद्यमान है। इन समस्त विशेषताओ से सम्बन्धित भौतिक पदार्थ, पशु, पक्षी, पेड व पौधे को ही टोटम कहते है।

टोटमवाद की परिभाषा
(Definition of Totemism)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, किसी भौतिक वस्तु, पशु, पक्षी, पेड, पौधा या प्रकृति की अन्य कोई चीज जिसके साथ एक गोत्र के सदस्य अपना एक अलौकिक या गूढ सम्बन्ध मानते है और जिसके प्रति वे विशेष श्रद्धा, भक्ति और आदर का भाव रखते हैं, टोटम कहलाता है और इस टोटम से सम्बन्धित समस्त धारणाओ विश्वासो और सगठन को टोटमवाद कहते है। अति सक्षेप मे, **टोटम की सस्थागत अभिव्यक्ति** (institutionalized expression) ही **टोटमवाद है**। इस सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो द्वारा प्रस्तुत टोटम की परिभाषा निम्नवत् है —

श्री मैरेट (Marret) के अनुसार "किसी गोत्र के सम्बन्ध मे टोटमवाद उस पद्धति को कहते है, जिसके अनुसार किसी जनजाति का कोई उपभाग किसी विशेष जानवर या वनस्पति से अपना विशिष्ट सम्बन्ध समझता है, उसके नाम का प्रयोग करता है यह दावा करता है कि उसके साथ उसका एक रहस्यमय सम्बन्ध है।"

रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने टोटमवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है, "टोटमवाद प्रथाओ और विश्वासो का वह समूह है जिसके द्वारा समाज तथा पशुओ और पौधो एव अन्य प्राकृतिक वस्तुओ, जो कि सामाजिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण हैं, के बीच सम्बन्धो की एक विशेष व्यवस्था स्थापित हो जाती है।"[8]

श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) ने टोटमवाद के सस्थात्मक पक्ष पर विशेष बल देते हुए लिखा है कि "गोत्रो, उनके टोटम तथा उनसे सम्बन्धित विश्वासो, प्रथाओ व सस्कारो के योग से बनने वाली सस्था को टोटमवाद कहते हैं।"[9]

श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) के अनुसार, "टोटमवाद उस धारणा या

---

8 "Totemism is a set of customs and beliefs by which there is set up a special system of relations between the society and the animals and plants and other natural objects that are important in the social life" Radcliffe-Brown, *Social Organization of Australian Tribes, The Oceania Monographs* No 1, Macmillan & Co , Melbourne, 1931, p 29

9 "The institution which comprises the sibs, their totems and the attendent belief, customs and rituals is called totemism" A Goldenweiser, *Encyclopaedia of the Social Sciences,* Vol 13, 1957, p 657

है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना होगा कि टोटमवाद न तो धर्म है और न ही टोटम कोई भगवान या भगवान का प्रतीक।

टोटम की परिभाषा
(Definition of Totem)

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "टोटम एक पदार्थ, प्राय एक पशु अथवा एक पौधा है जिसके प्रति एक सामाजिक समूह के सदस्य विशेष श्रद्धाभाव रखते हैं और जो यह अनुभव करते हैं कि उनके और टोटम के बीच भावनात्मक समानता का एक विशिष्ट बन्धन है।"[4] श्री फ्रायड (Freud) के अनुसार, "वास्तव मे, टोटम एक पशु है (चाहे भक्ष्य हो तथा हानिरहित, भयकर हो तथा डरावना) और यदा-कदा एक पौधा अथवा एक प्राकृतिक पदार्थ (जैसे वर्षा या जल) भी हो सकता है, जिसका कि समग्र गोत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।"[5] श्री जेम्स फ्रज़र (James Frazer) ने टोटम की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "टोटम भौतिक वस्तुओ का एक वर्ग है जिसका एक आदिम जाति यह विश्वास रखते हुए कि उसके तथा गोत्र के प्रत्येक सदस्य के बीच एक विशिष्ट आन्तरिक सम्बन्ध विद्यमान है, अन्धविश्वासपूर्ण आदर करती है।"[6] श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) ने टोटम के अर्थ को और भी विस्तारपूर्वक समझाते हुए लिखा है कि "गोत्रो मे विभाजित अनेक आदिम जनजातियो मे गोत्र-नाम एक पशु, पौधा अथवा प्राकृतिक पदार्थ से लिया गया है और गोत्र के सदस्य इन पशुओ अथवा वस्तुओ के प्रति विशिष्ट मनोभाव रखते हैं। इसीको मानवशास्त्री टोटम कहते हैं।"[7]

उपरोक्त परिभाषाओ से टोटम के सम्बन्ध मे एक स्पष्ट धारणा बन जाती है। अगर उक्त परिभाषाओ का विश्लेषण किया जाय तो हमे टोटम के सम्बन्ध मे दो-तीन बातो का पता चलता है—प्रथम तो यह है कि साधारणतया टोटम कोई अभौतिक या अमूर्त्त वस्तु नही होती है, यह कोई न कोई भौतिक चीज, पशु-पक्षी या पेड पौधा होता है। दूसरी बात यह कि यह भौतिक चीज, पशु या पौधा एक गोत्र-समूह के सदस्यो के दृष्टिकोण से कोई सामान्य या साधारण चीज नही होती है, इसलिये अन्य भौतिक

---

4 "Totem is an object, often an animal or a plant, held in special regard by the members of a social group, who feel that there is a peculiar bond of emotional identity between themselves and the totem" E A Hoebel, *Man in the Primitive World* p 512

5 "It is as a rule an animal (whether edible and harmless, dangerous and fear) and more rarely a plant or a natural phenomenon such as rains or water, which stands in close relation to the whole clan" S Freud, *Totem and Taboo*

6 "A totem is a class of material objects which a savage regards with superstitious respect believing that there exists between him and every member of clan an intimate altogether a special relation" James Frazer, *Totemism*

7 "Among many primitive tribes divided into sibs (clans or gentes) the sib name is derived from an animal, plant or natural object and the sib mates display special attitude towards these creatures or things which in this connection are designated by anthropologist as totems" A Goldenweiser, *Encyclopeadia of Social Sciences* Vol 13, p 657

चीज, पशु या पौधो से टोटम बिल्कुल ही भिन्न होता है। तीसरी बात यह है कि चूंकि यह टोटम नामधारी भौतिक पदार्थ या पशु या पक्षी या पेड या पौधा असाधारण या अलौकिक या विशिष्ट शक्ति सम्पन्न है, इस कारण इसके प्रति गोत्र-समूह के सदस्यो की अन्धविश्वासमूलक श्रद्धा, भक्ति व आदर की भावना होती है। अन्तिम बात यह है कि इस श्रद्धा, भक्ति व आदर की भावना के आधार पर यह भी विश्वास किया जाता है कि टोटम तथा गोत्र के प्रत्येक सदस्य के बीच एक विशिष्ट, आन्तरिक, रहस्यमय या अलौकिक सम्बन्ध विद्यमान है। इन समस्त विशेषताओ से सम्बन्धित भौतिक पदार्थ, पशु, पक्षी, पेड व पौधे को ही टोटम कहते है।

टोटमवाद की परिभाषा
(Definition of Totemism)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, किसी भौतिक वस्तु, पशु, पक्षी, पेड, पौधा या प्रकृति की अन्य कोई चीज जिसके साथ एक गोत्र के सदस्य अपना एक अलौकिक या गूढ सम्बन्ध मानते है और जिसके प्रति वे विशेष श्रद्धा, भक्ति और आदर का भाव रखते हैं, टोटम कहलाता है और इस टोटम से सम्बन्धित समस्त धारणाओ विश्वासो और सगठन को टोटमवाद कहते है। अति सक्षेप मे, **टोटम की सस्थागत अभिव्यक्ति (institutionalized expression) ही टोटमवाद है।** इस सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो द्वारा प्रस्तुत टोटम की परिभाषा निम्नवत् है —

श्री मैरेट (Marret) के अनुसार "किसी गोत्र के सम्बन्ध मे टोटमवाद उस पद्धति को कहते है, जिसके अनुसार किसी जनजाति का कोई उपभाग किसी विशेष जानवर या वनस्पति से अपना विशिष्ट सम्बन्ध समझता है, उसके नाम का प्रयोग करता है यह दावा करता है कि उसके साथ उसका एक रहस्यमय सम्बन्ध है।"

रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने टोटमवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है, "टोटमवाद प्रथाओ और विश्वासो का वह समूह है जिसके द्वारा समाज तथा पशुओ और पौधो एव अन्य प्राकृतिक वस्तुओ, जो कि सामाजिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण हैं, के बीच सम्बन्धो की एक विशेष व्यवस्था स्थापित हो जाती है।"[8]

श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) ने टोटमवाद के सस्थात्मक पक्ष पर विशेष बल देते हुए लिखा है कि "गोत्रो, उनके टोटम तथा उनसे सम्बन्धित विश्वासो, प्रथाओ व सस्कारो के योग से बनने वाली सस्था को टोटमवाद कहते हैं।"[9]

श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) के अनुसार, "टोटमवाद उस धारणा या

---

8 "Totemism is a set of customs and beliefs by which there is set up a special system of relations between the society and the animals and plants and other natural objects that are important in the social life" Radcliffe-Brown, *Social Organization of Australian Tribes, The Oceania Monographs* No 1, Macmillan & Co, Melbourne, 1931, p 29

9 "The institution which comprises the sibs, their totems and the attendent belief, customs and rituals is called totemism" A Goldenweiser, *Encyclopaedia of the Social Sciences*, Vol 13, 1957, p 657

विश्वास को कहते हैं जिसके अनुसार किसी मानव-समुदाय का किन्ही वनस्पति, पशु या कभी-कभी अन्य कोई प्राकृतिक वस्तु के साथ अलौकिक सम्बन्ध माना जाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओ की ऊपरी-तौर पर विवेचना करने से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि धर्म और टोटमवाद मे कोई विशेष अन्तर नही है। श्री दुर्खीम (Durkheim) ने तो टोटमवाद को ही समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर माना है। आपके अनुसार, ऐसा टोटमवाद प्रकृति से ही सम्भव हुआ क्योकि टोटमवाद नैतिक कर्त्तव्यो और मौलिक विश्वासो की वह समिष्ट है जिसके द्वारा समाज अर्थात् एक गोत्र के सदस्यो और पशु, पौधो या अन्य प्राकृतिक वस्तुओ के बीच एक पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यद्यपि श्री दुर्खीम के विचारो मे कुछ सत्यता है, फिर भी आज अधिकतर मानवशास्त्री धर्म और टोटमवाद मे एक स्पष्ट भेद मानते हैं। विभिन्न जनजातीय समाजों के अध्ययन मे इस बात की ही पुष्टि होती है कि आदिवासी समाजो मे धर्म और टोटम अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। टोटमवाद मे एक गोत्र के सदस्य टोटम से अपने रहस्यमय सम्बन्ध को जोडते हैं और उसीके आधार पर एक टोटम-समूह के सदस्य आपस मे शादी-विवाह नही करते हैं। ये दोनो ही विशेषताएँ टोटमवाद मे अनिवार्य हैं, परन्तु धर्म मे इन दोनो का ही अभाव होता है। अगर धर्म का आधार टोटमवाद ही होता तो अब तक ये दोनो घुल-मिलकर एक हो गये होते। साथ ही टोटम सर्वव्यापी नही है और न ही आवश्यक रूप से यह प्रत्येक गोत्र मे पाया जाता है। ऐसे अनेक जनजातीय समाज हैं, जिनमे कि टोटमवाद का दर्शन ही नही होता है। वास्तव मे टोटमवाद केवल उन रहस्यमय सम्बन्धो की ओर निर्देश करता है जो कि टोटम तथा गोत्र-समूह के सदस्यो के बीच पाये जाते है। इन रहस्यमय सम्वन्धो के आधार पर ही कुछ विशेष प्रकार के विश्वासो, प्रथाओ एव सस्कारो का जन्म होता है। इरोक्यूइस इण्डियनो मे तो टोटम जैसे रीछ, कछुआ, साँप आदि से केवल गोत्रो के नाम को बताने के लिये ही होते हैं। इन गोत्रो का अपने टोटम से इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा सम्बन्ध, जैसा कि भारत तथा अन्य देशो के जनजातीय समाजो मे पाया जाता है, नही है। श्री मुरडॉक (Murdock) का कथन है कि वास्तव मे टोटम गोत्र के लिये केवल एक चिह्न (sign) के रूप मे कार्य करता है और उस रूप मे वह गोत्र की कुछ प्रमुख विशेषताओं को बताता है। परन्तु श्री मुरडॉक का यह कथन सभी स्थानो पर लागू नही होता। उदाहरणाथ, भारत के जनजातीय समाजो मे टोटम केवल एक गोत्र-चिह्न ही नही, बल्कि उससे कही अधिक महत्त्व का है। यहाँ के गोत्र-सदस्यो के लिये टोटम कुछ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न है और इसीलिये उससे सम्बन्धित कितने ही विश्वास, प्रथाएँ तथा सस्कार विकसित हो गये हैं। गोत्र को केवल एक गोत्र-चिह्न मानने से इन सब विश्वासो, प्रथाओ और सस्कारो का विकास कदापि सम्भव न होता। इसीलिये सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि टोटमवाद टोटम से सम्बन्धित विश्वासो, प्रथाओ तथा सस्कारो का वह योग है जो कि एक गोत्र के सदस्यो को एक सूत्र मे बाँधता है और सामाजिक सगठन को एक विशिष्ट रूप प्रदान करता है।

टोटम और टोटमवाद की विशेषताएँ (Characteristics of Totemism)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम टोटम और टोटमवाद की निम्नलिखित विशेषताओ का उल्लेख कर सकते है —

(१) टोटम के साथ एक गोत्र के सदस्य अपना कई प्रकार का गूढ, अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध मानते हैं।

(२) टोटम के साथ इस अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध के आधार पर ही यह विश्वास किया जाता है कि टोटम उस शक्ति का अधिकारी है जो उस समूह के सदस्यो की रक्षा करता है, उन्हे चेतावनी देना तथा उनके भविष्य के कार्यों को निर्देशित करने के लिये भविष्यवाणी करना है। उदाहरणार्थ, अगर एक गोत्र का टोटम एक पक्षी है, तो उस गोत्र के सदस्यो मे यह विश्वास हो सकता है और होता है कि उस टोटम-पक्षी का एक विशेष आवाज या ढग से चिल्लाना इस बात की चेतावनी है कि उस गोत्र-समूह पर कोई विपदा आने वाली है। उसी प्रकार अगर टोटम-पक्षी या पशु एकाएक मर जाता है तो यह विश्वास किया जाता है कि गोत्र-समूह पर आने वाली किसी आफत को टोटम ने अपने ऊपर लेकर समूह के सदस्यो की रक्षा की।

(३) इसी कारण टोटम के प्रति विशेष भय, श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है। टोटम को मारना, खाना या अन्य किसी भी प्रकार से चोट पहुँचाना निषिद्ध होता है और उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया जाता है। टोटम, उसकी खाल और उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुओ को बहुत पवित्र माना जाता है। टोटम की खाल को विशेष-विशेष अवसरो पर धारण किया जाता है। टोटम के चित्र बनाकर या बनवाकर रखे जाते है और शरीर पर टोटम के चित्र की गुदाई भी प्राय सभी लोग करवाते है। टोटम-सम्बन्धी निषेधो का उल्लघन करने वालो की समाज द्वारा निन्दा की जाती है और दूसरी ओर इससे सम्बन्धित कुछ विशिष्ट नैतिक कर्त्तव्यो को प्रोत्साहित किया जाता है।

(४) टोटम के साथ जो गूढ और अलौकिक सम्बन्ध का दावा किया जाता है, उसीके आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि उस गोत्र विशेष के सभी सदस्य उसी से सम्बन्धित हैं और परस्पर भाई-भाई या भाई-बहन है।

(५) चूँकि एक टोटम के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य टोटम से सम्बन्धित मानते है, इस कारण वे कभी भी आपस मे विवाह आदि नही करते। इस अर्थ मे प्रत्येक टोटम-समूह बहिर्विवाही (exogamous) होता है और अपने टोटम-समूह से बाहर विवाह करता है।

(६) टोटम के प्रति भय, भक्ति और आदर की जो भावना होती है, वह इस बात पर निर्भर नही होती कि कौन सी वस्तु टोटम है या वह कैसी है, क्योकि टोटम तो प्राय अहानिकारक पशु या पौधा होता है। यदि टोटम कोई हिंसक पशु जैसे शेर, चीता आदि या कोई विषैला जन्तु जैसे साँप आदि भी है, तो भी गोत्र के सदस्यो का यह दृढ विश्वास होता है कि उससे उन्हे कोई हानि नही पहुँचेगी।

(७) जैसे कि पहले ही कहा जा चुका है, यदि किसी गोत्र का टोटम कोई पशु

या पक्षी है तो उसे मारना अथवा उसका मांस खाना वर्जित माना जाता है, परन्तु कुछ अपवाद भी हो सकते है। उदाहरणार्थ, ऐरुन्टा गोत्र मे, जहाँ कि पशु भोजन का महत्त्वपूर्ण साधन है, इस प्रकार का कोई भी निषेध नही है। इसी प्रकार खाद्य अभाव के समय भी उसके मांस का उपयोग किया जा सकता है, इस प्रकार की छूट भी कुछ जनजातीय समाजो मे पायी जाती है। परन्तु ऐसी स्थिति मे टोटम-गोत्र के सदस्य कई प्रकार की प्रार्थनाएँ तथा धार्मिक व सामाजिक संस्कार करते हुए, अर्थात् एक विशेष प्रकार की विधि द्वारा टोटम-पशु को मारते है। श्री फ्रॉयड (Freud) का कथन है कि कभी-कभी पूर्वज-भोज (ancestoral feast), जो कि गोत्र के पूर्वज की पुण्य स्मृति मे किया जाता है, के अवसर पर भी टोटम-पशु को मारने की और उसके मांस को खाने की छूट होती है। गोत्र का प्रत्येक सदस्य इस भोज को पवित्र मानकर उसमे भाग लेता है।

सामान्य तौर पर, जैसा कि सर्वश्री मजूमदार और मदान का कथन है, टोटमवाद के सबसे आधारभूत लक्षण तीन हैं —

(क) एक पशु या वनस्पति के प्रति एक विशिष्ट मनोभाव, (ख) एक गोत्र-संगठन, और (ग) गोत्र-बहिर्विवाह।[10]

टोटम के भेद
(Kinds of Totem)

टोटम आठ प्रकार के होते हैं जोकि निम्नवत् हैं :—

(१) **गोत्र टोटम** (Clan Totem)—इस प्रकार के टोटम का सम्बन्ध सम्पूर्ण गोत्र से होता है। गोत्र के सभी सदस्यो का विश्वास यदि एक टोटम विशेष पर है तो उसे गोत्र टोटम कहते है। इस टोटम पर विश्वास वंश परम्परागत रूप मे चलता रहता है। संगठन की दृष्टि से कभी-कभी कई गोत्र मिलकर एक बडे समूह को जन्म देते है जिसे कि गोत्र-समूह या भ्रातृदल (*phratry*) कहते हैं। हो सकता है कि इस भ्रातृदल का समग्र रूप मे एक सामान्य टोटम हो। उसी प्रकार द्विदल-संगठन (Dual organization) और उसके अर्द्धांश (moiety) का भी एक सामान्य टोटम हो।

(२) **पितृवंशीय टोटम** (Patrilineal Totem)—यह वह टोटम है जिसका कि सम्बन्ध पितृवंशीय परिवारो से है। इस प्रकार का टोटम वंश के आधार पर होता है और प्रत्येक वंश अपना एक अलग टोटम अपना लेता है। अगर वह वंश पितृवंशीय है तो उस वंश से सम्बन्धित टोटम को पितृवंशीय टोटम कहते हैं। इस प्रकार के टोटम आस्ट्रेलिया के जनजातीय समाजो मे पाये जाते हैं।

(३) **मातृवंशीय टोटम** (Matrilineal Totem)—यह वह टोटम है जिसका कि सम्पर्क मातृवंशीय परिवारो से है। अगर एक वंश मातृवंशीय है और उस वंश का अपना टोटम है, तो उसे मातृवंशीय टोटम कहते हैं। इस प्रकार के टोटम दक्षिणी वेलस, विक्टोरिया तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया की कुछ जनजातियो मे पाये जाते हैं।

(४) **व्यक्तिगत टोटम** (Individual Totem)—इस प्रकार के टोटम से गोत्र

---

10 Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p. 124

के किसी व्यक्ति विशेप का सम्बन्ध होता है और चूंकि यह टोटम सम्पूर्ण गोत्र का नही बल्कि व्यक्ति का होता है इसलिये इसका महत्त्व गोत्र के लिये न होकर केवल उसी व्यक्ति के लिये होता है। गोत्र के अन्य व्यक्ति उनमे विश्वास नही रखते और न ही इस प्रकार का टोटम अधिक स्थायी होता है। व्यक्तिगत टोटम के उत्तम उदाहरण नयी दक्षिणी वेल्स मे मिलते है जहाँ पर कि प्रत्येक चिकित्सक (medicine man) कुछ असाधारण अलौकिक शक्ति का अधिकारी होता है। यह विश्वास किया जाता है कि ये शक्तियाँ उसे अपने व्यक्तिगत टोटम, कोई पशु, से प्राप्त हुई है जिससे उस व्यक्ति के लिये जादू-टोना आदि करना सम्भव होता है।

(५) **लिंग टोटम** (Sex Totem)—लिंग टोटम से तात्पर्य यह होता है कि कुछ समाजो मे स्त्री और पुरुष दोनो का ही टोटम अलग-अलग होता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के आधार पर एक गोत्र दो टोटम-समूहो मे बँट जाता है—एक समूह स्त्रियो का होता है और इनका अपना एक टोटम होता है जिसमे कि गोत्र की सभी स्त्रियाँ विश्वास करती हैं। दूसरा समूह पुरुषो का होता है और इनका भी अपना पृथक् टोटम होता है जिसमे कि गोत्र के सभी पुरुष विश्वास करते हैं। आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग मे रहने वाले आदिवासियो मे इस प्रकार के लिंग टोटम पाये जाते हैं। उसी प्रकार हंटर नदी (नयी दक्षिणी वेल्स) के किनारे रहने वाली जनजातियो मे कठफोडवा (wood-pecker) तो स्त्रियो का टोटम है और चमगादड (bat) पुरुषो का।

(६) **विभक्त टोटम** (Split Totem) -कई समाजो मे किसी पशु या पक्षी को पूरे तौर पर टोटम न मानकर उसके शरीर के किसी एक अग को, जैसे उसके दिल को, लिवर को या खाल को टोटम माना जाता है। इस प्रकार के विभक्त टोटम की उत्पत्ति तब ही होती है जब कि मूल गोत्र भी अनेक भागो मे बँट जाता है। पहले जब कि यह गोत्र अविभाजित था तब एक पशु पूरे तौर पर ही उस गोत्र का टोटम था, परन्तु जैसे-जैसे गोत्र विभिन्न भागो मे बँट जाने लगे वैसे-वैसे प्रत्येक भाग ने उस पशु के शरीर के एक-एक अग को टोटम के रूप मे ग्रहण कर लिया जिससे कि प्रत्येक भाग की अपनी कुछ विशिष्टता बनी रहे। इस प्रकार गोत्र के विभक्त होने के साथ-साथ टोटम-पशु भी विभक्त होते जाते हैं, इसीलिये इसे विभक्त टोटम कहा जाता है। छोटा नागपुर की जनजातियो मे ऐसे टोटम के उदाहरण मिलते है। वहाँ पर जैसे ही एक गोत्र का आकार बडा हो जाना है वैसे ही वह गोत्र कुछ उपगोत्रो मे बँट जाता है और प्रत्येक उपगोत्र अपने मूल टोटम-पशु, पक्षी या पेड-पौधे के एक अग विशेष को टोटम के रूप मे अपनाकर सन्तोष कर लेना है।

(७) **गर्भधारण करवाने वाला टोटम** (Conceptional Totem)—टोटम का वास्तविक जटिल रूप आस्ट्रेलिया की जनजातियो मे देखने को मिलता है। उसी जटिल रूप का एक अनोखा स्वरूप यही गर्भधारण करवाने वाले टोटम पर विश्वास है। उत्तरी-केन्द्रीय आस्ट्रेलिया के रेगिस्तानी भाग मे रहने वाली अरूण्टा (Arunta) जनजाति मे एक टोटम-समूह की सदस्यता कुछ टोटम-केन्द्रो के आधार पर निश्चित होती है और वह इस प्रकार से कि एक बच्चा उसी टोटम-केन्द्र से सम्बन्धित समझा जाता है

जहाँ कि उसकी माँ सर्वप्रथम गर्भवती हुई थी। और भी स्पष्ट रूप से, इस जनजाति में यह विश्वास किया जाता है कि स्त्रियाँ टोटम की कृपा से ही गर्भवती होती हैं। प्रत्येक टोटम ही स्त्रियों को गर्भधारण करवाने वाला होता है। यह टोटम आत्मा कुछ केन्द्रों (साधारणत कोई टीला, पेड़ आदि) में निवास करती है और जब कोई स्त्री उस केन्द्र के पास से गुजरती है तो वह आत्मा उस स्त्री के शरीर में प्रवेश कर जाती है। फलतः वह स्त्री गर्भवती हो जाती है। जिस टोटम-केन्द्र में वह स्त्री गर्भवती होती है या गर्भवती होने का ज्ञान होता है, उसकी सन्तान उसी टोटम केन्द्र की सदस्य मानी जाती है। इस विश्वास के आधार पर ही उक्त जनजाति में कई तरह के टोटम-केन्द्र होते हैं जहाँ पर कि, उनके विश्वास के अनुसार, उनके काल्पनिक पूर्वज या प्रवर्तक की आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् निवास करती हैं। इन केन्द्रों में पूर्वजों की दो आत्माएँ रहती हैं, एक तो वह जो उस पवित्र स्थान पर सदैव बनी रहती है, और दूसरी वह जो कि अवसर मिलते ही किसी स्त्री के शरीर में प्रवेश करके उसे गर्भ धारण करवाती है। इस प्रकार निरन्तर अरुण्टा जनजाति में उन पूर्वजों का पुनर्जन्म होता रहता है। इस प्रक्रिया के कारण ही अरुण्टा जनजाति की निरन्तरता कायम रहती है और इसीलिये यह जनजाति इन टोटम-केन्द्रों को अपने अस्तित्व का कारण मानती है।

(८) बहुसंख्यक टोटम (Linked or Multiple Totem)—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही गोत्र-समूह में दो या अधिक टोटम हैं। बगण्डा (Baganda) जनजाति में बिलकुल यही स्थिति है। इस जनजाति में २६ बहिर्विवाही गोत्र हैं और प्रत्येक गोत्र एक से अधिक टोटम पर विश्वास करता है।

टोटम की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Totem)

श्री जॉन फर्गूसन मैकलिनन (John Ferguson McLennan) ने सन् १८६९-७० में *Fortnightly Review* में दो निबन्ध आदिम समाजों में पशुओं और पौधों की पूजा के विषय पर प्रकाशित किये थे। इनमें से प्रथम का विषय वस्तु टोटम और टोटमवाद था, जब कि दूसरा आदिम लोगों के टोटम-ईश्वर (Totem-Gods) से सम्बन्धित था।[11] उस समय से लेकर, विशेषकर श्री जॉन फ्रेजर (John Frazer) द्वारा लिखित पुस्तक *Totemism* (1887) के प्रकाशित होने के पश्चात् टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मानवशास्त्रियों ने अपने अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। केवल मानवशास्त्री ही नहीं, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक आदि ने भी इस विषय पर अपने-अपने मतों को व्यक्त किया है। उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की हम यहाँ विवेचना करेंगे।

(१) नामवादी सिद्धान्त (Nominalistic Theory)—इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम मेजर पॉवेल (Major Powell) ने प्रस्तुत किया था जिसका कि आंशिक रूप में सर्वश्री पिकलर तथा सोमलो (Pikler and Somlo) ने समर्थन किया था। मेजर

---

11 Alexander Goldenweiser, 'Totemism', *The Marking of Man*, Edited by V F Calverton, The Modern Library, New York, 1931, p 364

पॉवेल ने टोटमवाद को 'नामकरण की एक व्यवस्था' (system of naming) के रूप मे माना था। इसके पश्चात् इस सिद्धान्त को और भी क्रमबद्ध रूप मे श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने प्रस्तुत किया। आपका विश्वास था कि पहले आदिम समाजो मे लोग पशुओ के नाम के आधार पर ही अपने बच्चो का नामकरण करते थे। परन्तु चूंकि आदिम समाजो मे भाषा अधिक विकसित नही है इस कारण आगे चलकर व्यक्तियो के नाम को ही भूल से फिर पशुओ से सम्बन्धित मान लिया गया। सक्षेप मे, पहले व्यक्तियो को पशुओ का नाम मिला और फिर अविकसित भाषा के कारण पशुओ को ही पूर्वज मान लिया गया और पूर्वज के रूप मे पशुओ की पूजा शुरू हो गई।[12] एक उदाहरण के द्वारा इस स्थिति को उत्तम ढग से समझाया जा सकता है। मान लीजिये, एक व्यक्ति 'अ' है, इसका नामकरण किसी पशु के नाम पर हुआ और यह 'अ' महाशय 'बिल्ली' नाम से परिचित हुए। इसके बाद दो-चार पीढियाँ बीत गयी। प्रत्येक पीढी के वशज यह जानते रहे कि उनके पूर्वज 'बिल्ली' हैं। आदिम समाजो की भाषा मे शब्द भण्डार बहुत कम होने के कारण बहुत समय बीत जाने पर यह निश्चित रूप से निर्धारित न हो सका कि यह पूर्वज 'बिल्ली', व्यक्ति है अथवा पशु। पशु मान लेने की सम्भावना अधिक थी क्योकि बिल्ली नामक पशु उस समय भी पाये जाते थे या लोग देखते थे। इसीलिये उस पशु बिल्ली को ही पूर्वज मानकर उसे ही लोगो ने पूजना या उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति के भाव को रखना प्रारम्भ किया। इसी के आधार पर टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति हुई।

श्री ए० लाग (Andrew Lang) ने अपनी पुस्तक *Secret of the Totem* (1950) मे उक्त सिद्धान्त को आशिक रूप मे ग्रहण किया। आपके मतानुसार यह सम्भव है कि किसी कारणवश पहले पहल पशुओ के नाम के आधार पर सामाजिक समूहो (न कि व्यक्तियो) का नाम रक्खा जाता था, परन्तु बाद मे लोग इन नामो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सब कुछ भूल गये और इस सम्बन्ध मे उन्होंने अपनी-अपनी कल्पना को दौडाया जिसके फलस्वरूप टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति हुई। श्री लाग (Lang) का विश्वास था कि अपने पशु नामधारी समूह की उत्पत्ति के विषय मे लोगो को ज्ञान न होना, समान नामधारी मानव तथा पशुओ के बीच वशानुगत सम्बन्ध के विषय मे विश्वास तथा रक्त के सम्बन्ध मे अन्धविश्वास—ये तीन तत्त्व ही टोटम, टोटमवाद, यहाँ तक कि बहिर्विवाह की प्रथा को जन्म देने के लिये पर्याप्त थे।[13]

(२) आत्मा का सिद्धान्त (Theory of Soul)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन श्री

12 "Spencer assumed that animal names were once given to individuals, that these names were subsequently confused with the animals themselves owing to the vagueness of primitive languages, and that ultimately such animals came to be worshipped as ancestors" *Ibid*, pp 364-365

13 "No more than these three things—argued Lang—a group animal name of unknown origin, belief in a transcendental connection between all bearers, human and bestial, of the same name, and belief, in the blood superstitions—were needed to give rise to all the totemic creeds or practices including exogamy" *cf* Alexander Goldenweiser, *op cit*, p 365

जेम्स फ्रेजर (James Frazer) ने अपनी पुस्तक *Totemism and Exogamy* (1910) मे किया है। आपके मतानुसार टोटम की उत्पत्ति आदिम लोगो मे आत्मा पर विश्वास के आधार पर हुई है। आदिम लोगो मे यह विश्वास दृढ है कि मृत्यु के पश्चात् मृत व्यक्तियो की आत्मा बाहर किसी पशु अथवा पेड मे निवास करती है। इससे स्वभावत. ही इन पशुओ या पेडो के प्रति आदिम लोगो के मन मे श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना पनपी और इन पशुओ या पेडो को किसी भी रूप मे हानि पहुँचाना या आघात करना निषिद्ध हो गया। इसीके फलस्वरूप टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति हुई। अरुण्टा जनजाति मे यह बात बहुत ही सच प्रतीत होती है। उनमे एक अनोखा विश्वास यह प्रचलित है कि मरे हुए पूर्वजो की आत्मा पुनर्जन्म की राह देखती है, और इसीलिये शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह आत्मा कुछ निश्चित स्थानो मे पेड अथवा पशु मे निवास करती है। इस स्थान से जो भी स्त्री निकलती है, वह आत्मा उस स्त्री के शरीर मे प्रवेश कर जाती है और स्त्री गर्भवती हो जाती है। अत उस पेड अथवा पशु का, अपने पूर्वजो की आत्मा के ठहरने के आधार के रूप मे, अरुण्टा लोग आदर करते हैं। श्री फ्रेजर ने लिखा है कि गर्भधारण का यह सिद्धान्त ही टोटमवाद का मूल आधार है, साथ ही, यह सिद्धान्त या टोटमवाद गर्भवती स्त्रियो की, न कि पुरुषो के मस्तिष्क की उपज है।[14]

(३) **आर्थिक सिद्धान्त** (Economic Theory)—कुछ विद्वानो ने टोटमवाद की उत्पत्ति का आर्थिक कारण बताया है। इस सिद्धान्त मे श्री हॉपकिन्स का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। आपके मतानुसार टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति आर्थिक उप-योगिता के आधार पर हुई है। जिस पशु या वनस्पति का किसी जनजाति के लिये आर्थिक महत्त्व है अथवा उस पशु या वनस्पति के द्वारा उसे जीवित रहने के साधन प्राप्त हो रहे है, तो यह मानी हुई बात है कि उसके प्रति उस जनजाति की धीरे-धीरे श्रद्धा की भावना पनपती है जिससे कि आगे चलकर टोटम की उत्पत्ति होती है। भारत की टोडा जनजाति इसका प्रमुख उदाहरण है। टोडा जनजाति का टोटम भैंस है, क्योंकि वह उन्हे भोजन देती है। यह जनजाति, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, एक पशु-पालक जनजाति है। इसके सदस्यो के जीवन-धारण का एक मात्र उपाय भैंसो के दूध तथा दूध से बनी चीजो को बेचना है। अत स्पष्ट है कि भैंस के प्रति उनका आदर भाव स्वाभाविक ही है।

(४) **सामाजिक सिद्धान्त** (Social Theory)—इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक श्री दुर्खीम हैं। आपके अनुसार टोटम सामुदायिक जीवन का प्रतीक है और टोटम की उत्पत्ति उसी सामुदायिक रूप मे समाज या समूह के प्रति अपने श्रद्धाभाव के कारण हुई है। टोटम, श्री दुर्खीम के मतानुसार, सामूहिक प्रतिनिधित्व (collective repre-

14 "If we use what in particular may have suggested the theory of conception which appears to be the tap-root of totemism, it seems probable that, as I have already indicated, a preponderant influence is to be ascribed to the sick fancies of pregnant women, and that so far, totemism may be described as a creation of the feminine rather than of the masculine mind" James Frazer.

sentation) है। इसीलिये टोटम साधारण (profane) नहीं, पवित्र (sacred) वस्तु है।

अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि मे श्री दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि इस जनजाति के लोगो के जीवन का अध्ययन करने पर टोटम से सम्बन्धित पवित्र अनुभव की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हमे स्पष्ट धारणा हो सकती है और वह धारणा यह कि पवित्रता का ज्ञान एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना (group excitement) के कारण है। त्योहारो तथा उत्सवो पर जब गोत्र के सभी लोग एक साथ एकत्र होते थे तो प्रत्येक सदस्य को ऐसा अनुभव होता था कि समूह की शक्ति उनकी वैयक्तिक शक्ति से कही अधिक उच्च और महान है। ऐसा अनुभव करने के स्पष्ट कारण भी हैं। इन त्योहारो तथा उत्सवो का अस्तित्व ही अनेक लोगो की उपस्थिति पर आधारित होता है। समान भावो, विचारो व रुचियो वाले अनेक व्यक्तियो के वैयक्तिक भावो, विचारो व रुचियो के सम्मेलन और सगठन से एक नवीन चेतना या उत्तेजना का निर्माण होता है। यही सामूहिक शक्ति होती है जिसके सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से झुकना पडता है। टोटम इसी सामूहिक शक्ति का प्रतीक है। साथ ही, इन त्योहारो तथा उत्सवो के अवसर पर एकत्रित भीड मे एक प्रकार का मानसिक उल्लास प्रदर्शित होता है। यह उल्लास सम्भवत मानव की सामाजिक मूल-प्रवृत्ति के कारण है। ऐसे अवसरो मे एक ही समय पर अनेक व्यक्ति एकत्रित रहते है और व्यक्ति के विचार व सवेग सभी उपस्थित व्यक्तियो के विचारो व सवेगो के अनुकूल होते हैं। उस अनुकूलता व अनुरूपता का आभास ही व्यक्ति को प्रफुल्लित व उत्तेजित कर देता है। फलत व्यक्ति की अपनी शक्ति गौण हो जाती है और समूह की शक्ति को प्रधानता मिलती है। व्यक्ति समूह की इस शक्ति के सामने झुकता है और उसकी शक्ति से प्रभावित होकर उसके मन मे समूह या समाज के प्रति भय, श्रद्धा और भक्ति की भावना पनपती है। वह समूह को साधारण मे श्रेष्ठ या महान समझने लगता है। चूंकि कोई-कोई पेड पौधा, पशु या पक्षी समूह या समाज का प्रतिनिधित्व करता है इस कारण वह पेड-पौधा या पशु श्रद्धा-भक्ति का आधार हो जाता है। उसे वह पवित्र समझने लगता है और उसका आदर करता है। इस प्रकार टोटम, श्री दुर्खीम के अनुसार, समाज-पूजा का एक प्रतीक है। अत टोटमवाद ही समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर है।

(५) **आकस्मिक ऐतिहासिक घटना का सिद्धान्त** (Theory of Historical Accident)—इस सिद्धान्त के समर्थको मे श्री एलविन, डा० मजूमदार तथा रायबहादुर शरत् चन्द्र राय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्री एलविन के मतानुसार टोटम आकस्मिक सम्बन्ध या घटना का परिणाम होता है। जैसे, किसी व्यक्ति ने एक कबूतर को मारा, उसके बाद किन्ही कारणो से वह अकस्मात अन्धा हो गया। उस समूह के चिकित्सक (medicine man) ने इन दोनो घटनाओ मे सम्बन्ध जोडकर यह बताया कि उस व्यक्ति का अन्धा होना उसके द्वारा कबूतर को मारने से सम्बन्धित है। इससे कबूतर के प्रति आदर-मिश्रित-भय का भाव उत्पन्न हुआ और धीरे-धीरे कबूतर उस समूह का टोटम बन गया।

श्री राय ने ओरांव जनजाति के टोटमो पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ऐसी घटनाओ का होना सम्भव है जिसमे किसी व्यक्ति की प्राणरक्षा अथवा हानि किसी विशेष प्राणी या वनस्पति से हुई हो। इससे उस वस्तु के प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा और आदर-मिश्रित-भय का पनपना ही स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति मे वह वस्तु उस समूह का टोटम बन जाती है। उदाहरणार्थ, ओरांव जनजाति मे यह किवदन्ति प्रचलित है कि उस जन-जाति का कोई प्रधान या मुखिया जगल मे कुंजर वृक्ष के नीचे सो रहा था। जगल में अनेक हिंसक पशु तथा विषैले जन्तु थे जिनसे कि उस प्रधान की किसी भी क्षण प्राणहानि हो सकती थी। परन्तु कुंजर पौधो ने उसे चारो ओर से घेर लिया और इस प्रकार उसकी रक्षा की। इस प्रधान ने कुंजर पौधे को अपना टोटम मान लिया। कुंजर पौधे की यह कहानी उस समूह मे फैल गयी और अपने सरदार या प्रधान के माध्यम से उस पौधे के महत्त्व से सब लोग प्रभावित हुए और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता तथा सम्मान प्रदर्शित करने के लिये उसे अपना टोटम मान लिया। साथ ही, उस प्रधान के जितने भी वशज हुए, उन सभी ने कुंजर पौधे को महत्त्व दिया। इस प्रकार कुंजर पौधा उस जनजाति का टोटम बन गया।

टोटम या टोटमवाद के सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि भारतवर्ष के हिन्दू समाज मे भी तुलसी, गाय, गगा आदि को लोग श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखते हैं तथा उनकी रक्षा और पूजा करते हैं। परन्तु इन सब चीजो को या पशु या प्राकृतिक पदार्थों को टोटम समझना बहुत बडी गलती होगी, क्योकि इन सबके साथ इनके मानने वाले कोई गूढ सम्बन्ध नही जोडते, न ही बहिर्विवाह के नियमो का पालन करते हैं। तुलसी की पूजा करने वाले सभी व्यक्ति आपस मे शादी-विवाह करते हैं और वे तुलसी से कोई रहस्यमय सम्बन्ध भी नही मानते। ये दोनो ही विशेषताएँ टोटमवाद मे अनिवार्य हैं। इस कारण ये सब चीजें टोटम नही हैं।

टोटमवाद का सामाजिक महत्त्व
(Social Importance of Totemism)

टोटमवाद का जनजातियो के जीवन मे काफी महत्त्व है और उनकी सामाजिक व्यवस्था को सगठित तथा व्यवस्थित करने मे यह काफी महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। टोटम के आधार पर ही सामुदायिक भावना और इस कारण भ्रातृभाव का जन्म होता है जो कि जनजातीय सगठन को स्थिर रखने मे काफी सहायक सिद्ध होती है। टोटम-समूह के सभी सदस्य एक-दूसरे के भाई-बहन हैं, यह भावना इतनी तीव्र होती है कि उनमे विवाह एव किसी भी प्रकार का ससर्ग निषिद्ध है। इसी टोटम के आधार पर उनमे परस्पर सहि-ष्णुता, महानुभूति, भ्रातृभाव, स्नेह और सहयोग पाया जाता है। ये तत्त्व सामाजिक जीवन की शान्ति और सुव्यवस्था मे बडे महत्त्व के होते हैं। सकट के समय मे इसीलिये टोटम-समूह के सदस्य एक-दूसरे की सहायता करते हैं और प्रत्येक के प्रति सबका उत्तर-दायित्व सभी सदस्य अनुभव करते हैं। बाहर के किसी भी व्यक्ति ने अगर टोटम-समूह के किसी सदस्य को किमी प्रकार से हानि या आघात पहुँचाया है, तो सम्पूर्ण टोटम--समूह उसका बदला लेता है।

टोटम या टोटमवाद सामाजिक नियत्रण का भी एक साधन है। टोटम के आधार पर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विवाह-सम्बन्धो को नियमित किया जाता है ताकि एक समूह के अन्तर्गत यौन-सम्बन्धी व्यभिचार न फैल सके। कुछ निश्चित वस्तुओ के प्रति आदर भाव रखना, उन्हे मारना या आघात न करना तथा उनके मास आदि को न खाना आदि अनेक रूपो मे टोटम के आधार पर व्यक्तियो के व्यवहारो को नियन्त्रित किया जाता है। टोटम की कुछ विशिष्ट शक्ति होती है, उस शक्ति के डर से भी टोटम-समूह के सदस्य अपने व्यवहारो को नियत्रित तथा नियमित रखते हैं।

टोटमवाद का भौगोलिक वितरण
(Geographical Distribution of Totemism)

आदिम समाजो की अत्यधिक विस्तृत सस्थाओ मे टोटमवाद एक है। उत्तरी अमेरिका की अधिकतर जनजातियो मे टोटमवाद पाया जाता है। दक्षिणी अमेरिका मे भी प्राय वही स्थिति है। अफ्रीका के सहारा रेगिस्तान से लेकर कालाहारी (Kalahari) रेगिस्तान तक की प्राय सभी जनजातियो मे टोटमवाद का विस्तार पाया गया है। आस्ट्रेलिया मे तो शायद ही कोई जनजाति ऐसी हो जिसमे टोटमवाद न पाया जाता हो।

उपरोक्त देशो मे किन किन जनजातियो मे टोटमवाद का विस्तार है, इसका भी सक्षिप्त ज्ञान यहाँ आवश्यक है। उत्तरी अमेरिका मे टिलनगिट, हैडा, जूनी, होपी तथा अन्य दक्षिणी पश्चिमी प्रदेश की जनजातियो मे, दक्षिण पूर्व मे, नेटेज, क्रीक आदि मे तथा कुछ कैलीफोर्निया और वुडलैण्ड की जनजातियो मे टोटमवाद अत्यधिक प्रचलित है। अमेरिका के मैदानी भागो मे रहने वाली जनजातियाँ जैसे, सियान, नभाहो, क्रो, चीनी आदि मे भी टोटमवाद पाया जाता है। दक्षिणी अमेरिका की जनजातियो तथा ब्रेजील के कुछ इण्डियनो मे टोटमवाद अति व्यापक है। भूमध्यसागरीय जनजातियो तथा दक्षिणी अफ्रीका की बुशमैन और हॉटेनटॉट जनजातियो को छोडकर टोटमवाद अफ्रीका के अन्य सभी भागो मे पाया जाता है। बगण्डा, एकिवयू, बिडोयिन, लाँगो, मसाई आदि जनजातियो मे टोटमवाद अत्यधिक लोकप्रिय सस्था है। वैसे तो आस्ट्रेलिया की सभी जनजातियो मे टोटमवाद का प्रचलन है, फिर भी इस सम्बन्ध मे अरूण्टा, केरीरा, तस्मानियन आदि जनजातियो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer : *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959
2 Calverton, V F (edited) · *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931
3 Goldenweiser, A *Anthropology*, F S Crofts and Co , New York, 1946
4 Majumdar. D N *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958
5 Majumdar and Madan *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1960
6 Piddington, R *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952

१५

आदिकालीन कला

(PRIMITIVE ART)

८

विषय-सूची—पन्द्रहवाँ अध्याय

१. भूमिका
२. कला क्या है ?
३ आदिकालीन कला क्या है ?
४. कला की उत्पत्ति के सिद्धान्त
५ कला के आवश्यक तत्त्व
सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग
सामाजिक तत्त्व
शैली
सकेतवाद
६ विभिन्न काल मे कला
७. भारत मे जनजातीय कला
८. भारतीय जनजातीय कला की विशेषताएँ
९. प्रागैतिहासिक कला
१०. समकालीन कला

अध्याय १५

आदिकालीन कला
(Primitive Art)

मानव आदिकाल से ही सौन्दर्य का भूखा है। वह सौन्दर्य को केवल आँखो से देखकर ही तृप्त नही होता है, वरन् उसे रचनात्मक कल्पना की सहायता से एक मूर्त्त रूप देना चाहता है। इसी के फलस्वरूप कला का जन्म होता है। कला का यह जन्म मानव-जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है क्योकि इसके जन्म से मानव व पशु मे जो अन्तर-रेखा खिंच गयी वह आज भी अमर है। पशु कलाविहीन है, मनुष्य कलाकार है, पशु कला से दूर है, मनुष्य कला मे ही अमर है। इस प्रकार मानव-समाज या मानव-जीवन की एक सार्वभौम (universal) विशेषता उसकी कला है।

प्रत्येक मानव या मानव-समाज सस्कृति का अधिकारी है और कला उसी मानव-सस्कृति का एक आवश्यक अग है। इस अर्थ मे कला न केवल अति प्राचीन है, वरन् सार्वभौम भी। इसका कारण भी स्पष्ट है। आदिकाल से ही मानव केवल प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर ही सन्तुष्ट नही रह पाया। उस सौन्दय को और उन्नत स्तर पर लाकर उसे मूर्त्त रूप देने तथा नवीन सौन्दर्य की सृप्टि करने की प्रवृत्ति मानव मे सदा से ही विद्यमान रही है। मानव केवल भोजन, वस्त्र तथा निवास को उत्पन्न या निर्माण करके ही कभी भी सन्तुष्ट नही हुआ। जीवन के समस्त सघर्षों के बीच भी उसने इतना समय निकाल ही लिया कि उस समय मे खेल-कूद सके, चित्र बना सके या नृत्य व सगीत मे अश ग्रहण कर सके। मानव की सौन्दर्य-वृद्धि तथा सौन्दर्य-सृप्टि की यह शक्ति व प्रवृत्ति ही उसकी मानवता को बनाये रखती है और मानव फिर से पशु-स्तर पर लौट नही जाता है। यही कारण है कि मानव जब गुफाओ मे रहता था तभी वह कई प्रकार के चित्रो तथा बहुमुखी कला का विकास कर चुका था। डा० दुबे ने लिखा है कि "प्राचीन प्रस्तर युग के प्रथम भाग से ही पत्थर और सीपो के प्राथमिक आभूषण मिलने लगते हैं। इस युग के मध्य भाग मे अधिक विकसित आभूषणो का प्रचलन हो गया था, तथा वे पत्थर के अतिरिक्त हड्डियो और कच्ची धातु के टुकडो से भी बनाये जाने लगे थे। इस युग के अन्तिम चरण मे मानव ने अपनी कलात्मकता को असाधारण रूप से विकसित कर लिया था। पश्चिमी यूरोप की गुफाओ की दीवारो और निचली छतो पर उक्त काल की अनेक सुन्दर 'पॉली-क्रोम' पेंटिंग मिलती हैं।" हमारे भारतवर्ष मे भी अजन्ता की गुफाओ मे प्राचीन भारतीय कला का जो प्रमाण मिलता है वह न केवल विशिष्ट है, वल्कि चमत्कृत करने वाला भी। अतः स्पष्ट है कि कला मानव जीवन का एक अति प्राचीन सहचर है। परन्तु इस 'सहचर' के विषय मे और कुछ विवेचना करने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि 'कला' कहते किसे हैं?

कला क्या है ?
(What is Art ?)

कला के बिना मानव का अस्तित्व शायद असम्भव न था, फिर भी इन दोनो को—मानव और कला को—एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। मानव के साथ इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के कारण ही मानव की भाँति कला का क्षेत्र तथा अर्थ भी अत्यधिक व्यापक हो गया है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिये विभिन्न मानवशास्त्रियो द्वारा दी गयी कला की कुछ परिभाषाओ को हम यहाँ प्रस्तुत कर सकते है —

सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के शब्दो मे, "कला एक क्रिया है जो कि इसके व्यावहारिक या उपयोगी मूल्यो के अतिरिक्त कलाकार को तथा उन लोगो को जो कि उसके उस कार्य मे दर्शक, श्रोता या सहयोगी के रूप मे अंश ग्रहण करते है, सन्तुष्टि प्रदान करती है। यही सौन्दर्यपूर्ण या ललित तत्त्व है जो कि कला को संस्कृति के दूसरे पक्षो से पृथक् करता है।"[1]

उपरोक्त परिभाषा पर ध्यान देने से कला की वास्तविक प्रकृति के विषय मे एक स्पष्ट धारणा हो सकती है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने अपनी परिभाषा मे कला को एक ललित-तत्त्वयुक्त क्रिया माना है। इस क्रिया के दो स्पष्ट पक्ष हैं—एक तो बाह्य या बाहरी (overt) और दूसरा आन्तरिक या अन्दरूनी (covert)। बाहरी तौर पर इस क्रिया अर्थात् कला का व्यावहारिक या उपयोगी मूल्य तो होता ही है, पर इससे भी बडी बात यह है कि कला ललित-तत्त्वयुक्त या सौन्दर्यपूर्ण वह क्रिया है जो कि उस क्रिया को करने वाले अर्थात् कलाकार को तथा उन लोगो को जो कि उसके उस कार्य मे दर्शक, श्रोता या सहयोगी के रूप मे अंश ग्रहण करते हैं, एक आन्तरिक सन्तुष्टि प्रदान करती है। अत स्पष्ट है कि कला का सम्पर्क हृदय से है। मनुष्य का हृदय जो कुछ भी सुन्दर मानकर बनाता है या करता है, उसीको कला कह सकते हैं। और भी संक्षेप मे, **मनुष्य द्वारा 'सुन्दर' की सृष्टि ही कला है**। जो इस सुन्दर का सृजन करता है और जो इस सुन्दर को निहारता या सुनता है, दोनो को ही आनन्द का अनुभव होता है।

इसीलिये श्री नित्यानन्द दास ने लिखा है, कला "सम्मिलित रूप मे आत्मिक तथा प्राकृतिक बोध का एक प्रतीक है। इसका एक पक्ष सुन्दर स्वरूपो की सृष्टि का आनन्द है और साथ ही उनपर मनन करने का आनन्द भी।"[2] इस प्रकार कला का

---

1 "Art is defined as an activity which, over and above its practical or utilitarian values, also brings satisfaction both to the artist and to those who participate in his work as beholders, audience, or collaborators It is this esthetic component that distinguishes art from other aspects of culture" Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co, New York, 1959, p 626

2 "Art is an emblem of spiritual and natural feelings combined together One aspect of it is the pleasure of creating beautiful forms as well as pleasure of contemplating them" Nityanand Dass "Preliterate Art and Handicrafts of Bihar", an article in Report of the Third Conference for Tribal Areas, Bharatiya Adim Jati Sewak Sangh, Delhi, 1955, p 124

सम्बन्ध हृदय तथा प्रकृति दोनो से ही है। जब एक गायक सगीत की रचना करता है तो वह अपने हृदय के अनुभव या बोध (feeling) को ही व्यक्त करता है परन्तु इस बोध मे प्राकृतिक तत्त्व भी इस अर्थ मे सम्मिलित है कि उस बोध के लिये आवश्यक कच्चा माल वह अपने आस-पास की परिस्थिति से ही प्राप्त करता है। साथ ही, कुछ बोध करने की शक्ति उसे प्रकृति से ही प्राप्त हुई है। इस प्राकृतिक शक्ति के कारण ही मानव के हृदय मे एक भाव उठता है, उसमे इच्छा होती है कुछ सुन्दर चीजो की सृष्टि करने की। वह वैसा ही करता है, सृष्टि करने का आनन्द उसे प्राप्त होता है। कलाकार इस सौन्दर्य सृष्टि के हर पग पर आनन्द से भरपूर हो उठता है, उसे आत्मिक सन्तोष प्राप्त होता है, वह कुछ सुन्दर चीज या स्वरूप को बनाने मे सफल होता है। उस सुन्दर की सृष्टि हो जाने के बाद कलाकार का परिश्रम सार्थक होता है। अपनी इस सार्थकता या सफलता पर उसे आनन्द होता है और जो उसे देखता या सुनता है, उसे भी आनन्द ही प्राप्त होता है। यही कला है, यही कला की सार्थकता भी।

श्री हॉबल (Hoebel) ने अपनी परिभाषा मे मानव की सौन्दर्य वृद्धि व सौन्दर्य-सृष्टि की उक्त प्रवृत्तियो (impulses) की ओर ही सकेत किया है। मानव मे कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो उसे सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि की प्रेरणा देती हैं। इन प्रवृत्तियो की बाह्य अभिव्यक्ति (overt expression) ही कला है जो कि रेखाचित्र, रगीन-चित्र, मूर्ति, सगीत, नृत्य, कविता व साहित्य के रूप मे व्यक्त होती है या हमे देखने व सुनने को मिलती है। इसी आधार पर श्री हॉबल (Hoebel) ने कला को परिभाषित करते हुए लिखा है, "कला मे हमारा तात्पर्य रेखा, आकृति, रग, ताल तथा शब्द—जैसे रेखाचित्र, रजनकला, मूर्तिकला, नृत्य, सगीत, कविता व साहित्य के रूप मे मानव-प्रवृत्तियो की बाह्य अभिव्यक्ति है।"[3]

कला के अर्थ को समझने के पश्चात् हमे स्पष्ट रूप से यह भी समझ लेना होगा कि आदिकालीन कला किसे कहते है।

आदिकालीन कला क्या है ?
(What is Primitive Art ?)

श्री हॉबल (Hoebel) ने लिखा है कि यही उचित होगा कि आदिकालीन कला क्या है, इस प्रश्न के उत्तर मे हम यह कहे कि आदिकालीन कला आदिम लोगो की कला है। आदिकालीन कला को केवल भद्दी और अपरिपुष्ट कला कहकर परिभाषित करना सत्य को अस्वीकार करना होगा क्योकि अनेक आदिकालीन कला मे पर्याप्त जटिलता भी देखने को मिलती है।[4] श्री हॉबल का कथन है कि इसको हम बच्चो की कला (childish art) भी नही कह सकते क्योकि कई स्थानो पर कला की पद्धति मे बड़ी सावधानी

---

3 "By art is meant the overt expression of impulses in line, form, colour, rhythm, and tone, as in drawing, painting, sculpture, dance, music, and literature" E A Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958, p 252

4 *Ibd*, p 174

बरती जाती है। विशेषकर मूर्तिकला मे कुछ जनजातियो की निपुणता को देखकर आज भी कलाकार दातो तले अंगुली दबाते हैं। साथ ही, आदिकालीन कला केवल प्रकृतिवादी (naturalistic) है, ऐसा सोचना भी गलत है क्योकि आदिकालीन कला मे हमे अनेक उच्चकोटि की शैली तथा परम्परा देखने को मिलती है। श्री हॉवल ने उचित ही लिखा है कि "आदिम लोगो की कला का क्षेत्र कलात्मक दृष्टिकोण से भद्देपन से लेकर उच्च कौशल तक, बालको-सी सरलता से लेकर आश्चर्यजनक जटिलता तक, तथा प्रकृतिवाद व यथार्थवाद से लेकर औपचारिकवाद तक विस्तृत है।"[5] उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलियन कला अति शैलीपूर्ण है किन्तु कुछ स्थानो मे साकेतिक (symbolic) तथा औपचारिक कला भी हमे देखने को मिलती है। इसके विपरीत एस्किमो-कला अधिकतर प्रकृतिवादी है। अत स्पष्ट है कि आदिकालीन कला को किसी एक निश्चित दायरे मे सीमाबद्ध करके परिभाषित करने का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। वास्तव मे आदिम अथवा आधुनिक मानव की सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि की प्रवृत्ति को किसी निश्चित सीमा रेखा के अन्दर रखना सम्भव नही है। यह तो मुक्त पक्षी की भाँति उन्मुक्त आकाश मे उडती-फिरती है। इसकी अभिव्यक्ति कहाँ और किस समय किस रूप मे होगी, यह किसी निश्चित नियम के आधार पर कहा नही जा सकता। हाँ, आदिम कला के सम्बन्ध मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसका सम्पर्क आदिम सस्कृति से अति घनिष्ठ है क्योकि आदिम कला आदिम सस्कृति का ही उसी प्रकार एक अग है जिस प्रकार आधुनिक कला आधुनिक सस्कृति का ही एक पक्ष है। आधुनिक चित्रकला मे एक इजन का चित्र बन सकता है क्योकि इजन आधुनिक सस्कृति का ही एक तत्त्व (trait) है, परन्तु एस्किमो-चित्रकला मे इजन का चित्र वास्तव मे असम्भव है, क्योकि इजन एस्किमो-सस्कृति के अन्तर्गत नही आता है।

आदिकालीन कला के विषय मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि यह कला धर्म तथा अन्धविश्वासो द्वारा अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होती है। धर्म का सम्बन्ध विश्वासो से है, और इन विश्वासो की स्पष्ट छाप आदिवासियो की कला मे देखने को मिलती है। प्रत्येक समाज मे धार्मिक क्रियाओ मे नाना प्रकार की धार्मिक सामग्रियाँ (religious objects) धार्मिक प्रतीक (religious symbols) आदि का समावेश होता है। आदिम समाजो मे ये धार्मिक सामग्रियाँ तथा प्रतीक ही कला की अभिव्यक्ति (expression) का सर्वप्रमुख साधन या माध्यम हैं। एक उदाहरण के द्वारा आदिकालीन कला के इस पक्ष को स्पष्ट किया जा सकता है। आदिवासी लोग प्राय एकाधिक अलौकिक शक्तियो या देवी-देवताओ पर विश्वास करते है। इनके प्रति उनके मन मे विशेष श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है। कल्पना द्वारा इन अलौकिक शक्तियो का एक रूप भी निश्चित कर लिया जाता है और उसीके अनुरूप उन अलौकिक शक्तियो के चित्र व मूर्तियाँ बनवाकर रखी जाती हैं या शरीर पर उसके चित्र की गुदाई (tattoo) भी सामान्य रूप से की जाती है। इस प्रकार उस अलौकिक शक्ति के प्रति अपने हृदय की श्रद्धा-भक्ति को अभिव्यक्त करने के

5 "The art of primitive peoples runs a wide gamut from technical clumsiness to high skill, from childlike simplicity to confusing complexity, from naturalism and realism to conventionalized abstraction" *Ibid*, p 254

प्रयत्न के फलस्वरूप अनायास ही कला की सृष्टि होती है। साथ ही, अलौकिक शक्तियाँ ही कला को व्यक्त करने का एक अच्छा माध्यम बन जाती हैं। जब आदिवासी अपने धार्मिक विश्वासो के अनुसार अलौकिक शक्ति को एक मूर्त्त (concrete) रूप देने की इच्छा से उसकी मूर्ति बनाता है या चित्र अकित करता है तो वह सहज और स्वाभाविक रूप से कला की ही सृष्टि करता है। साथ ही, आदिमानव इन अलौकिक शक्तियो से डरता भी है। उन शक्तियो से लाभ उठाने के लिये और उनके कोप से बचने के लिये वह उन्हे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, और इस उद्देश्य से वह उन शक्तियो की स्तुति मे गीतो की रचना करता है, उन्हे गाता है और नाचता है। इस रूप मे भी वह कला की सृष्टि करता है। आदिम समाजो मे धर्म से सम्बन्धित अनेक मूर्ति, चित्र, सगीत तथा नृत्य की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति कलाकारो के बिना सम्भव नही। ये कलाकार की सृष्टि करने है।

कला की उत्पत्ति
(The Origin of Art)

आदिकालीन कला के सम्बन्ध मे एक स्पप्ट धारणा कर लेने के पश्चात् यह जान लेना भी आवश्यक होगा कि कला की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। कला के सम्बन्ध मे जो कुछ हम ऊपर कह चुके है, उससे स्पष्ट है कि कला की बुनियाद या जड स्वय मानव के हृदय, मस्तिष्क या प्रवृत्ति मे ही निहित है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति चित्रकार, सगीतकार, नर्तक या साहित्यकार नही होता और न ही हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति मे वह अनुभूति या प्रवृति नही होती, जो कि कला की सृष्टि के लिये आवश्यक है। यह भी हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति सौन्दर्य-सृष्टि की क्षमता या प्रवृत्ति को जागृत करने का प्रयास नही करता है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि कला की उत्पत्ति तभी सम्भव हुई होगी जब कि मानव मे वह प्रवृत्ति जागृत हुई जो कि सौन्दर्य-वृद्धि तथा सौन्दर्य-सृष्टि के लिये आवश्यक थी। इसके बिना कला की उत्पत्ति सम्भव न थी क्योकि इस प्रवृत्ति की बाह्य अभिव्यक्ति ही कला है।

इस सम्बन्ध मे एक दूसरी स्मरणीय बात यह है कि कला की उत्पत्ति मानव की मानसिक आवश्यकता के फलस्वरूप ही हुई है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि मानव की कुछ भौतिक तथा शारीरिक आवश्यकताएं ही नही वरन् कुछ मानसिक आवश्यकताएँ भी होती है। और भी स्पष्ट रूप से मानव केवल क्षुधा-तृप्ति और यौन-तृप्ति ही नही बल्कि मानसिक सन्तोष भी चहाता है। केवल शरीर का ही नही, उसके मन अथवा मस्तिष्क का भी अपना तगादा या माग होती है। कला की उत्पत्ति इसी माग की पूर्ति के हेतु है। श्री होमेस (Holmes) ने उचित ही लिखा है कि मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जिसे कि केवल शरीर की माग को ही नही वरन् मस्तिष्क की माग को भी पूरा करना पडता है। यदि ऐसा न होता तो शायद मानव के लिये पशु-स्तर से ऊँचा उठना आज भी सम्भव न होता।[6] कला की उत्पत्ति का रहस्य इसी मे छिपा हुआ है।

6 O W Holmes, "Law in Science and Science in Law", *Collected Legal Papers*, p 212

करती जाती है। विशेषकर मूर्तिकला मे कुछ जनजातियो की निपुणता को देखकर आज भी कलाकार दातो तले अंगुली दबाते हैं। साथ ही, आदिकालीन कला केवल प्रकृतिवादी (naturalistic) है, ऐसा सोचना भी गलत है क्योकि आदिकालीन कला मे हमे अनेक उच्चकोटि की शैली तथा परम्परा देखने को मिलती है। श्री हॉबल ने उचित ही लिखा है कि "आदिम लोगो की कला का क्षेत्र कलात्मक दृष्टिकोण से भद्देपन से लेकर उच्च कौशल तक, बालको-सी सरलता से लेकर आश्चर्यजनक जटिलता तक, तथा प्रकृतिवाद व यथार्थवाद से लेकर औपचारिकवाद तक विस्तृत है।"[5] उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलियन कला अति शैलीपूर्ण है किन्तु कुछ स्थानो मे साकेतिक (symbolic) तथा औपचारिक कला भी हमे देखने को मिलती है। इसके विपरीत एस्किमो-कला अधिकतर प्रकृतिवादी है। अत स्पष्ट है कि आदिकालीन कला को किसी एक निश्चित दायरे मे सीमाबद्ध करके परिभाषित करने का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। वास्तव मे आदिम अथवा आधुनिक मानव की सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि की प्रवृत्ति को किसी निश्चित सीमा रेखा के अन्दर रखना सम्भव नही है। यह तो मुक्त पक्षी की भाँति उन्मुक्त आकाश मे उडती-फिरती है। इसकी अभिव्यक्ति कहाँ और किस समय किस रूप मे होगी, यह किसी निश्चित नियम के आधार पर कहा नही जा सकता। हाँ, आदिम कला के सम्बन्ध मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसका सम्पर्क आदिम सस्कृति से अति घनिष्ठ है क्योकि आदिम कला आदिम सस्कृति का ही उसी प्रकार एक अग है जिस प्रकार आधुनिक कला आधुनिक सस्कृति का ही एक पक्ष है। आधुनिक चित्रकला मे एक इजन का चित्र बन सकता है क्योकि इजन आधुनिक सस्कृति का ही एक तत्त्व (trait) है, परन्तु एस्किमो-चित्रकला मे इजन का चित्र वास्तव मे असम्भव है क्योकि इजन एस्किमो-सस्कृति के अन्तर्गत नही आता है।

आदिकालीन कला के विषय मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि यह कला धर्म तथा अन्धविश्वासो द्वारा अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होती है। धर्म का सम्बन्ध विश्वासो से है, और इन विश्वासो की स्पष्ट छाप आदिवासियो की कला मे देखने को मिलती है। प्रत्येक समाज मे धार्मिक क्रियाओ मे नाना प्रकार की धार्मिक सामग्रियाँ (religious objects) धार्मिक प्रतीक (religious symbols) आदि का समावेश होता है। आदिम समाजो मे ये धार्मिक सामग्रियाँ तथा प्रतीक ही कला की अभिव्यक्ति (expression) का सर्वप्रमुख साधन या माध्यम है। एक उदाहरण के द्वारा आदिकालीन कला के इस पक्ष को स्पष्ट किया जा सकता है। आदिवासी लोग प्राय एकाधिक अलौकिक शक्तियो या देवी-देवताओ पर विश्वास करते हैं। इनके प्रति उनके मन मे विशेष श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है। कल्पना द्वारा इन अलौकिक शक्तियो का एक रूप भी निश्चित कर लिया जाता है और उसीके अनुरूप उन अलौकिक शक्तियो के चित्र व मूर्तियाँ बनवाकर रखी जाती हैं या शरीर पर उसके चित्र की गुदाई (tattoo) भी सामान्य रूप से की जाती है। इस प्रकार उस अलौकिक शक्ति के प्रति अपने हृदय की श्रद्धा-भक्ति को अभिव्यक्त करने के

5 "The art of primitive peoples runs a wide gamut from technical clumsiness to high skill, from childlike simplicity to confusing complexity, from naturalism and realism to conventionalized abstraction" *Ibid*, p 254

प्रयत्न के फलस्वरूप अनायास ही कला की सृष्टि होती है। साथ ही, अलौकिक शक्तियाँ ही कला को व्यक्त करने का एक अच्छा माध्यम वन जाती हैं। जब आदिवासी अपने धार्मिक विश्वासो के अनुसार अलौकिक शक्ति को एक मूर्त्त (concrete) रूप देने की इच्छा से उसकी मूर्ति बनाता है या चित्र अंकित करता है तो वह सहज और स्वाभाविक रूप से कला की ही सृष्टि करता है। साथ ही, आदिमानव इन अलौकिक शक्तियो मे डरता भी है। उन शक्तियो से लाभ उठाने के लिये और उनके कोप से बचने के लिये वह उन्हे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, और इस उद्देश्य से वह उन शक्तियो की स्तुति मे गीतो की रचना करता है, उन्हे गाता है और नाचता है। इस रूप मे भी वह कला की सृष्टि करता है। आदिम समाजो मे धर्म से सम्बन्धित अनेक मूर्ति, चित्र, सगीत तथा नृत्य की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति कलाकारो के बिना सम्भव नही। ये कलाकार की सृष्टि करते हैं।

कला की उत्पत्ति
(The Origin of Art)

आदिकालीन कला के सम्बन्ध मे एक स्पष्ट धारणा कर लेने के पश्चात् यह जान लेना भी आवश्यक होगा कि कला की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। कला के सम्बन्ध मे जो कुछ हम ऊपर कह चुके है, उससे स्पष्ट है कि कला की बुनियाद या जड स्वय मानव के हृदय, मस्तिष्क या प्रवृत्ति मे ही निहित है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति चित्रकार, सगीतकार, नर्तक या साहित्यकार नही होता और न ही हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति मे वह अनुभूति या प्रवृति नही होती, जो कि कला की सृष्टि के लिये आवश्यक है। यह भी हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति सौन्दर्य-सृष्टि की क्षमता या प्रवृत्ति को जागृत करने का प्रयास नही करता है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि कला की उत्पत्ति तभी सम्भव हुई होगी जब कि मानव मे वह प्रवृत्ति जागृत हुई जो कि सौन्दर्य-वृद्धि तथा सौन्दर्य-सृष्टि के लिये आवश्यक थी। इसके बिना कला की उत्पत्ति सम्भव न थी क्योकि इस प्रवृत्ति की बाह्य अभिव्यक्ति ही कला है।

इस सम्बन्ध मे एक दूसरी स्मरणीय बात यह है कि कला की उत्पत्ति मानव की मानसिक आवश्यकता के फलस्वरूप ही हुई है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि मानव की कुछ भौतिक तथा शारीरिक आवश्यकताएँ ही नही वरन् कुछ मानसिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। और भी स्पष्ट रूप से मानव केवल क्षुधा-तृप्ति और यौन-तृप्ति ही नही बल्कि मानसिक सन्तोष भी चहाता है। केवल शरीर का ही नही, उसके मन अथवा मस्तिष्क का भी अपना तगादा या माग होती है। कला की उत्पत्ति इसी माग की पूर्ति के हेतु है। श्री होमेस (Holmes) ने उचित ही लिखा है कि मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जिसे कि केवल शरीर की माग को ही नही वरन् मस्तिष्क की माग को भी पूरा करना पडता है। यदि ऐसा न होता तो शायद मानव के लिये पशु-स्तर मे ऊँचा उठना आज भी सम्भव न होता।[6] कला की उत्पत्ति का रहस्य इसी मे छिपा हुआ है।

6 O W Holmes, "Law in Science and Science in Law", *Collected Legal Papers*, p 212

कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उपरोक्त सामान्य वातो को जान लेने के पश्चात् इस सम्बन्ध मे कुछ विशेष सिद्धान्तो की विवेचना भी आवश्यक है।

कला के उद्विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory of Art)

अन्य सामाजिक घटनाओ (phenomena) की भाँति कला भी स्थिर और जड नही होती, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। यह देखा गया है कि सस्कृति के अन्य पक्षो मे परिवर्तन के साथ-साथ कला मे भी परिवर्तन होता रहता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। हम पहले ही वता चुके हैं कि मानसिक और ऐतिहासिक आवश्यकताओ से कला का रूप प्रभावित होता है और इन आवश्यकताओ मे होने वाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ ही कला के गठन मे परिवर्तन होता है। सौन्दर्य के प्रति मानव के वदलते हुए दृष्टिकोण तथा परिवर्तित होती मानसिक मागो के परिणामस्वरूप कला के रूप मे अथवा सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि के ढग मे परिवर्तन होना ही स्वाभाविक है। गहन अध्ययन द्वारा यह भी देखा गया है कि कला के स्वरूप, प्रक्रियाओ तथा गठन मे होने वाले परिवर्तनो मे एक नियम-वद्धता होती है। इसी नियम-वद्धता का अतिरजित रूप कला का उद्विकासवादी सिद्धान्त है।

उद्विकासवादी लेखको का कथन है कि कला का क्रमिक विकास होता है। परन्तु इस क्रमिक विकास के कुछ निश्चित स्तर (definite stages) होते हैं जिनमे से होकर कला प्रत्येक समाज मे गुजरी है और तव कही आधुनिक स्तर पर पहुच पायी है। कला के क्रमिक विकास के ये निश्चित स्तर कौन कौन से हैं, इस विषय पर *विभिन्न उद्विकासवादी लेखको के अलग-अलग मत है। उदाहरणार्थ, एक लेखक के* अनुसार कला का उद्विकास निम्नलिखित स्तरो मे से गुजरता हुआ होता है और हुआ है—(१) प्रारम्भिक स्तर (formative stage), (२) पुरातन स्तर (archaic stage), (३) परिपक्व स्तर (mature stage), (४) तडक भडक का स्तर (flamboyant stage), और (५) पतन का स्तर (decadent stage)। इस विकासवादी योजना के समर्थको का कहना है कि माया मूर्तिकला तथा पेरूया नास्का की मिट्टी के वर्तन-सम्वन्धी कला उपरोक्त पाँच स्तरो मे से होकर ही गुजरी है।[7] परन्तु इस विकासवादी योजना के समर्थन मे जो दो-एक उदाहरण मिलते हैं उसके आधार पर कोई यथार्थ नियम न तो वन सकते हैं और न वनाना उचित होगा।

परन्तु कला के सम्वन्ध मे विकासवादी लेखको के सिद्धान्तो मे सवसे प्रसिद्ध सिद्धान्त श्री ए० सी० हड्डन (A C Haddon) का है। आपके अनुसार कला के उद्विकास मे सर्वप्रथम स्तर यथार्थवादी स्तर (realistic stage) था। शुरू-शुरू मे आदिकालीन मानव यथार्थ चित्रण करता था अर्थात् जिस चीज को वह जिस रूप मे देखता था उसे उसी रूप मे कला के माध्यम से प्रस्तुत करने का अधिक से अधिक प्रयत्न करता था। आस्ट्रेलिया की चित्रकला मे यथार्थ के साथ मेल रखने का इतना प्रयत्न

---

7 Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p 173

किया जाता है कि अगर कगारू का चित्र बनाना हो, तो वहाँ का चित्रकार केवल कगारू के शरीर को ही नही बनायेगा बल्कि उसकी रीढ, हृदय, पेट आदि को भी चित्रित करके अपने चित्र को अधिक से अधिक यथार्थ बनाने का प्रयत्न करता है। हैदराबाद की चेंचू जनजाति का चित्रकार पेड का चित्र बनाने मे उसके तने-शाखा-पत्ते के साथ-साथ वह उसकी जडो का भी चित्र बना देता है। ये सब इस बात की ओर सकेत करते हैं कि आदिकालीन मानव का कला-सम्बन्धी विचार यथार्थवादी था। इस यथार्थवादी कला के बाद दूसरे स्तर पर ज्यामितिक कला का विकास होता है। इस प्रकार की कला मे रेखाओ के द्वारा चित्र के सम्पूर्ण भाव को प्रगट करने का प्रयत्न किया जाता है। ज्यामितिक रेखाएँ आकृतियाँ भी बना सकती हैं और ज्यामितिक डिजाइन भी। इस ज्यामितिक स्तर (Geometric stage) के बाद कला का प्रगतिशील सरलीकरण (progressive simplification) स्तर आता है। इस स्तर मे कला को सरल और सहज ढग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है ताकि उसमे कृत्रिमता कम से कम हो। इसके पश्चात् सकेतवादी स्तर (symbolic stage) आता है। इस स्तर पर जो है उसे उसी रूप मे प्रस्तुत न करके कुछ सकेतो के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार की कला का जन्म तभी सम्भव है जब कि सकेतो के सम्बन्ध मे मानव को पर्याप्त ज्ञान हो, वह समझ सके कि अमुक सकेत से अमुक भाव प्रकट होता है। वास्तव मे साकेतिक कला मे कलाकार सब कुछ प्रस्तुत नही करता वरन् दर्शको से कुछ सकेतो से ही यथार्थ की कल्पना कर लेने की आशा की जाती है। इस प्रकार श्री हड्डन के अनुसार कला का क्रम-विकास यथार्थवादी स्तर से सकेतवादी स्तर की ओर हुआ है। यह नियम सार्वभौम है, अर्थात् प्रत्येक समाज मे ही कला का उद्विकास उपरोक्त स्तरो मे से गुजरता हुआ होता है। ऐसा नही होता कि किसी समाज मे यथार्थवादी स्तर पहले आया है और दूसरे किसी समाज मे ज्यामितिक स्तर कला का प्रारम्भिक स्तर रहा हो। प्रत्येक समाज मे ही कला के उद्विकास मे वही स्तर उसी क्रम से आये हैं जिस क्रम से उसकी ऊपर विवेचना की गयी है। अगर कही इसके विपरीत कुछ हुआ है तो वह केवल अपवाद (exception) है, नियम नही। श्री हड्डन के अनुसार अगर कही इस शृखला या क्रम मे कोई हेर-फेर होता है तो यह समझ लेना चाहिये कि उसका कारण व्यक्तिगत अयोग्यता या साधनो का उचित प्रयोग न करना या उचित साधन उपलब्ध न हो सकना है। इससे उपरोक्त नियम की सार्वभौमिकता अप्रमाणित नही होती है।

अपनी उपकल्पना (hypothesis) को प्रमाणित करने के लिये श्री हड्डन ने उसकी पुष्टि मे टॉरेस स्ट्रेट्स (Torres Straits) से एकत्रित किये गये तीरो (arrows) का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन तीरो पर मगरमच्छ के चित्र बने थे। इनमे से कुछ तीरो पर तो मगरमच्छ के यथार्थ चित्र बने थे, कुछ पर रेखाओ द्वारा मगरमच्छ की आकृतियाँ अकित थी और कुछ पर मगरमच्छ के शरीर के विभिन्न अगो के केवल साकेतिक चिह्न बने हुए थे। श्री हड्डन ने इन तीरो को इस क्रम से सजाकर रक्खा कि उन्हे देखने से स्पष्टत यह ज्ञात होता है कि आदिकालीन कला सर्वप्रथम यथार्थवादी

थी, फिर ज्यामितिक हुई और अन्त मे साकेतिक कला का विकास हुआ। सक्षेप मे, तीरो को इस भाँति रक्खा गया था कि श्री हड्डन का सिद्धान्त उचित जान पडे।

परन्तु उपरोक्त प्रमाण के सम्बन्ध मे श्री हड्डन यह भूल जाते हैं कि वे सब तीर एक ही काल मे बनाये गये थे। वास्तव मे श्री हड्डन ने इस तथ्य (fact) की कोई भी परवाह न करते हुए तीरो को एक पूर्वनिश्चित क्रम से इस भाँति प्रस्तुत किया है जिससे कि उनका सिद्धान्त उचित जान पडे। श्री हड्डन के सिद्धान्त की यही सबसे बडी दुर्बलता है। इसीलिये आज अधिकतर मानवशास्त्री इस सिद्धान्त से सहमत नही हैं। उनका कथन है कि यथार्थ कला को प्रस्तुत करने के लिये जिस कुशलता, ज्ञान तथा उपकरणो की आवश्यकता होती है वे सब आदिकालीन मानव के पास न तो थे और न ही उनके होने की कल्पना हम कर सकते हैं। इस सम्बन्ध मे गहन अध्ययन करने मे पता चला है कि पश्चिमी यूरोप के कुछ ही इने-गिने प्रदेशो की चित्रकला, न्यू गिनी की सगतराशी तथा मध्य अमेरिका के बर्तनो पर के चित्रो को छोडकर अन्य कही यथार्थ कला का विकास नही हुआ था। साथ ही, इस प्रकार के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे यह पता चलता है कि टोकरी तथा वस्त्र बनाने की कला-शैलियो (art styles) का प्रारम्भ ज्यामितिक अथवा साकेतिक तौर पर ही हुआ था और यथार्थवादी स्तर केवल तब ही आया था जब कि लोगो की कुशलता उच्च स्थिति पर पहुँच गयी थी।[8]

विकासवादी सिद्धान्त की एक और दुर्बलता यह है कि इसके लेखक यह मान लेते हैं कि प्रत्येक समाज मे कला के उद्‌विकास का एक ही क्रम, दिशा या स्तर रहा है। सभी समाजो मे कला का उद्‌विकास कुछ निश्चित स्तरो मे से होकर गुजरा है, यह सोचना गलत है क्योकि प्रत्येक समाज की परिस्थिति, उपलब्ध साधन, व्यक्तियो के मनोभाव आदि भिन्न-भिन्न होते हैं और उसीके अनुरूप प्रत्येक समाज मे सस्कृति के विभिन्न पक्षो का (जिनमे कला भी एक है) विकास अलग-अलग ढग से हुआ है।

साथ ही, कला मे परिवर्तन केवल उद्‌विकास के नियमो से ही घटित होता है, यह सोचना गलत है। दूसरे लोगो की कला को देखकर या दूसरो के सम्पर्क मे आने के फलस्वरूप भी कला मे परिवर्तन होता है। सक्षेप मे, उद्‌विकासवादी लेखको ने अपने सिद्धान्त मे प्रसार (diffusion) के नियमो की अवहेलना करके अपने सिद्धान्त को और भी निर्बल बना दिया है।

कला के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of Art)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि कला की उत्पत्ति किसी एक निश्चित नियम के अनुसार नही हुई है। जिस समाज मे जिस प्रकार की परिस्थितियाँ होती हैं उन्ही की प्रतिक्रिया के रूप मे कला भी उत्पन्न हुई है। कला के विकास मे प्रसार (diffusion) का नियम भी क्रियाशील रहा है। साथ ही, मानव की मानसिक आवश्यकताओ या मनोभाव मे जो परिवर्तन हुआ है उसका भी स्वाभाविक प्रभाव कला पर

8 *Ibid*, p 174

सदैव ही पडता रहा है । इन सबके अलावा भी कला के कुछ आवश्यक तत्त्व हैं जिनके विषय मे सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेना लाभकारी सिद्ध होगा :—

सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग
(Aesthetic Emotion)

कला की उत्पत्ति तथा विकास के लिये सर्वप्रथम आवश्यक तत्त्व मानव का सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है । पशुओ मे यह उद्वेग नही होता, इसी कारण वे कला को भी जन्म नहीं दे पाये हैं। मानव सुन्दर और असुन्दर मे भेद कर पाता है । उसका अन्त करण जिसे सुन्दर मानकर ग्रहण करता है मानव उसे अनुभव करता है और केवल अनुभव करके ही चुप नही बैठता बल्कि उसे मूर्त्त रूप देने या बाह्य रूप मे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। जो उसे ऐसा करने की प्रेरणा देता है वही उसका सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है । श्री रूथ बजिल (Ruth Bunzel) के अनुसार यह सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग अन्य उद्वेगो से एक विशेष अर्थ मे भिन्न होता है।[9] अन्य प्रकार के उद्वेग किसी स्वार्थ, साध्य (end) अथवा आवश्यकता की पूर्ति का एक साधन (means) होते हैं, परन्तु सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग स्वय ही साध्य (end in itself) है । एक सुन्दर फूल को देखकर या एक सुमधुर सगीत को सुनकर हमारे अन्दर जो 'आनन्द' भाव उत्पन्न होता है वही सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है, इस सौन्दर्य को हम पूर्णता प्रदान करना चाहते हैं । हमारा यह प्रयत्न कला को जन्म देता है । इस सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग के दो स्पष्ट पक्ष हैं—एक तो सुन्दर वस्तुओ या आकृतियो की सृष्टि करने का आनन्द और दूसरा उसे देखने या सुनने या उसपर मनन करने से प्राप्त होने वाला आनन्द । अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने, अपनी काम-वासना को तृप्त करने या समस्त आर्थिक व राजनैतिक सुविधाओ को प्राप्त कर लेने से जो आनन्द या सुख हमे प्राप्त होता है वह उस आनन्द से बिल्कुल ही भिन्न है जो कि कला के सृजन से या उसे देखने और सुनने से अर्थात् एक चित्रकला, सगीत या नृत्य की रचना करने या देखने या सुनने से प्राप्त होगा । यही सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है और इसी मे समस्त सौन्दर्य-वृद्धि व सौन्दर्य-सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है ।

कला में सामाजिक तत्त्व
(Social Element in Art)

प्रत्येक कला का एक सामाजिक आधार होता है । कला समाज से पृथक् नही है और न होना सम्भव ही है । दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते हैं कि कलाकार सदैव ही अपने समाज के सामाजिक विचार, मूल्य, धर्म परम्परा तथा अन्य परि-स्थितियो द्वारा प्रभावित होता रहता है । कलाकार जिस कला की सृष्टि करता है उसकी सार्थकता इसी मे है कि वह समाज के अधिकाधिक सदस्यो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर ले, जनसाधारण उसे मान ले । साथ ही, आस-पास की परिस्थिति भी कलाकार को प्रभावित करती है । समुद्र के किनारे रहने वाला एक चित्रकार अपने

9 Ruth Bunzel, "Art", *General Anthropology*, New York, 1938, pp 536-539.

चित्रो मे समुद्र की लहरो को जिस सजीवता से चित्रित कर सकेगा, वह पहाड के पास रहने वाले एक चित्रकार के लिये सम्भव न होगा। यह बात आदिकालीन कला के सम्बन्ध मे और भी सच है, क्योकि आदिमानव पर आधुनिक मानव की तुलना मे सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियो, धर्म, परम्परा आदि का प्रभाव अधिक होता है। साथ ही, आदिकालीन कला केवल कला के लिये है (art for art sake), यह भी सच नही है। उसमे सामाजिक उपयोगिता का कुछ अश अवश्य ही होता है। आदिवासी कला का सृजन करता है, केवल मानसिक सुख-प्राप्ति के लिये ही नही वरन् सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी। वह टोकरी बनाकर कला की सृष्टि करने के साथ-साथ उससे सामाजिक आवश्यकता की भी पूर्ति करता है। वह नाचता या गाता है, दिन भर की थकावट या जीवन की नीरसता को दूर करने के लिये या अलौकिक शक्ति को सतुष्ट करने के लिये। परन्तु प्रत्येक प्रकार की कला मे या उससे सम्बन्धित क्रियाओ मे उपयोगिता होगी ही, ऐसा कोई निश्चित नियम भी नही है।

शैली
(Style)

कला की एक आकृति, रूप, स्वरूप, रेखा, ताल या सुर होता है। इसे प्रस्तुत करने का कोई न कोई परम्परागत या प्रचलित ढग होता है, यद्यपि कलाकार अपने अनुभव तथा योग्यता के अनुसार उसमे हेर-फेर कर सकता है और करता भी है। इस ढग' को ही कला की शैली (art style) कहते हैं। एक उदाहरण द्वारा इसे और भी स्पष्ट किया जा सकता है। एक चित्रकार को एक चित्र अकित करना है। इसके लिये उसे कुछ रेखाओ को खीचना होगा और यदि कलाकार आवश्यक समझे तो उन रेखाओ द्वारा बनी आकृति में वह कुछ रगो को भी भरेगा। इन सब चीजो को वह कुछ हेर-फेर करते हुए एक निश्चित ढग से प्रस्तुत करता है। यही उसकी शैली है। कोई गायक अपने सगीत को 'सरगम' के साथ प्रस्तुत करता है और कोई गीत गाते समय उसे 'बोल' के रूप मे कहता नही है। कोई नृत्य को द्रुत लय मे प्रस्तुत करता है तो कोई विलम्बित लय मे। ये सभी कला की शैलियाँ हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि कला को मनमाने ढग से प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रत्येक कला की किसी न किसी रूप मे एक स्वीकृत शैली होती है जो कि समय-समय पर बदलती रहती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कला की शैली का एक स्वीकृत या प्रचलित रूप होता है, पर उस शैली मे परिवर्तन भी होता है और साथ ही नयी शैलियो का जन्म भी, क्योकि कला एक सामाजिक क्रिया है और अन्य सामाजिक क्रियाओ की भाँति यह कोई स्थिर या जड क्रिया नही है। कला की शैली पर भी सामाजिक परिस्थितियो, मूल्यो तथा व्यक्तियो के मनोभावो का प्रभाव स्पष्ट होता है। पाश्चात्य नृत्य मे अर्द्ध-नग्न नारी अशोभन नही है, पर उस शैली का प्रयोग भारतीय नृत्य मे दृष्टिकटु ही होगा।

संकेतवाद
(Symbolism)

सकेतवाद भी कला का एक आवश्यक अग है। 'सकेत' शब्द से ही स्पष्ट है कि बहुधा कलाकार को जो कुछ भी व्यक्त करना है उसका सब कुछ वह साफ-साफ अपनी कला मे व्यक्त नही करता है, वरन् विभिन्न चीजो को व्यक्त करने के लिये कुछ ऐसे चिह्नो या प्रतीको का व्यवहार करता है जिसके माध्यम से वह अपने वास्तविक भाव की ओर देखने या सुनने वालो को सकेत करता है। देखने या सुनने वाला इन चिह्नो, प्रतीको या सकेतो से ही यथार्थ की कल्पना कर लेता है। उदाहरणार्थ, साँप को एक टेढी-मेढी रेखा के सकेत से अभिव्यक्त किया जाता है। उसी प्रकार नृत्य मे एक विशेष 'मुद्रा' के द्वारा क्रोध, भय, अनुराग, उल्लास आदि को अभिव्यक्त किया जाता है। नर्तकी अपने मुख से यह नही कहती कि वह डर गयी है, पर उसकी एक विशेष मुद्रा उसके मन के उस भाव को दर्शक के सामने स्पष्ट व्यक्त करती है। कला मे यही सकेतवाद है। रोज के जीवन मे भी हम इस प्रकार के अनेक सकेत देखते हैं। उदाहरणार्थ, क्रास (Cross) का चिह्न ईसाइयो के लिये धार्मिक सकेत है और इस एक चिह्न से ही ईसा मसीह के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ स्पष्टत. व्यक्त हो जाती हैं। रेड इण्डियन मे नीला रग पुरुष का प्रतीक और पीला रग स्त्री का प्रतीक माना जाता है। जूनी (Zuni) जनजातीय समाज मे प्रेम, सगीत तथा तितलियो के देवताओ की प्रार्थना-छडियो को पीले और नीले रग से सकेत किया जाता है।[10]

विभिन्न काल में कला
(Art in Different Ages)

प्रागैतिहासिक काल मे भी मानव अपनी कला की अनेक कृतियाँ छोड गया है। इस सम्बन्ध मे अब तक जो अध्ययन हुए हैं उससे यह पता चलता है कि आदिवासीय समाज मे भी कला के भिन्न-भिन्न स्तरो के उदाहरण देखने को मिलते हैं। प्राचीन प्रस्तर युग मे भी आदिमानव सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि के सम्बन्ध मे सचेत था और पत्थर, सीपो, हड्डियो और कच्ची धातु के टुकडो से वह आभूषण आदि को बनाता था। प्राचीन प्रस्तर युग के शेष भाग मे आदिमानव की कला काफी विकसित हो चुकी थी। पश्चिमी यूरोप की गुफाओ की दीवारो तथा निचली छतो पर उक्त काल की अनेक सुन्दर पॉली क्रोम पटिंग मिलती हैं। अल्टामिरा (स्पेन) की एक गुफा पर अकित बाइसन का चित्र इस प्रकार की कला का एक आदर्श उदाहरण माना जा सकता है। इस युग के लोग फल मूल इकट्ठा करके और पशुओ का शिकार करके जीवन-निर्वाह करते थे। इस कारण इस काल के चित्रो मे पशुओ जैसे हाथी, गैंडे, जगली सूअर, घोडे आदि के चित्र अधिक मिलते हैं। इनमे से अधिक चित्रो मे पशुओ की गति भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। चित्रो मे कभी-कभी रग का भी प्रयोग किया गया है। इन चित्रो मे शिकार, युद्ध दृश्य आदि के चित्र भी मिलते हैं। इनमे आदि-

10 *Ibid*, pp 581-582.

मानव के आस-पास के पर्यावरण तथा उनकी जीवन-विधि की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। इसी काल मे खुदाई का काम भी आदिमानव करता था। यह खुदाई का काम बहुधा हाथीदाँत पर किया जाता था। इस युग मे हाथीदाँत तथा पत्थर की मूर्तियाँ भी बनायी जाती थी। इन मूर्तियो मे सिर तथा पैर का निर्माण तो न के बराबर है, पर उरोजो तथा जघाओ को अत्यधिक उभारकर दिखाया जाता था। इन मूर्तियो मे सबसे प्रसिद्ध मूर्ति ऑस्ट्रिया मे मिली है जो कि 'विलेनडार्फ की वीनस' (Venus of Willendorf) के नाम से प्रसिद्ध है।

केवल यूरोप मे ही नही उत्तर अफ्रीका मे भी प्रारम्भिक कला की अनेक कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। नव-पाषाण युग के पूर्व ही एटलस पर्वत के क्षेत्र मे निवास करने वाला आदिमानव चट्टानी दीवारो पर खुदाई द्वारा या पत्थर तोडकर पशुओ की मूर्तियाँ बनाता था। दक्षिण अफ्रीका की बुशमेन जनजाति के लोग मनुष्य की आकृतियो को भी अकित कर लेते थे और रेखाओ की सहायता से गति को भी दिखलाने मे सफल हुए थे। प्रस्तर युग से सम्बन्धित सुन्दर ढग से रगे हुए बर्तन जावा और चीन मे पाये गये हैं।

जहाँ तक **समकालीन** (contemporary) आदिकालीन कला का प्रश्न है, इस काल मे मानव ने अपनी कलात्मकता को असाधारण रूप से विकसित कर लिया है। इस काल मे चट्टानो पर चित्र बनाने, रेखाओ द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ अकित करने, लकडी, हाथीदाँत, पत्थर आदि से नाना प्रकार की मूर्तियाँ बनाने, मिट्टी के खिलौने तथा बर्तन बनाने, वृक्ष की छाल, जानवर की खाल तथा कपडे आदि पर चित्रकारी करने, बर्तनो पर बेल-बूटा बनाने तथा चित्रकारी करने, डिजाइनदार टोकरी बनाने, खम्भो पर खुदाई करने तथा गुदाई द्वारा शरीर पर नाना प्रकार की चित्रकारी करने की कला मे ससार की जनजातियाँ आज सिद्ध-हस्त हैं। इनके सम्बन्ध मे कुछ उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

अफ्रीका की नीग्रो जनजाति लकडी तथा हाथीदाँत की खुदाई तथा मूर्ति बनाने मे विशेष निपुण है। पश्चिमी अफ्रीका के नीग्रो कलाकार लकडी के काम के विशेषज्ञ माने जाते हैं। यद्यपि ये लोग पूर्वजो की पूजा नही करते, फिर भी वे पूर्वजो की काष्ठ-मूर्तियो का निर्माण करते हैं। वहाँ की काष्ठ-मूर्तियाँ, चेहरे (mask), लकडी के खिलौने प्रसिद्ध हैं इनको रगने के लिए वे लोग रग का भी प्रयोग करते हैं। लकडी पर नक्काशी के काम मे भी ये लोग सिद्ध-हस्त हैं। फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका मे पूर्वजो की बडी-बूडी काष्ठ-मूर्तियाँ बनायी जाती हैं। कागो तथा दक्षिणी नाइजीरिया की जनजातियो मे हाथीदाँत को तराश-कर उसकी तथा पीतल की भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनायी जाती हैं। न्यू गिनी मे रोज के व्यवहार के लिये लकडी की अनेक वस्तुएँ बनायी जाती हैं जिनमे कि कला का पुट दिखायी देता है। यहाँ पर लकडी पर खुदाई का काम बहुत अच्छा होता है। डच न्यू गिनी मे 'कोरवार' नामक पूर्वजो की आत्माओ के निवास के लिये जो काष्ठ-समाधियाँ बनायी जाती हैं, वे वहाँ की जनजाति की विकसित कला का एक उत्तम उदाहरण हैं। पापुअन जनजाति के लोग गोलाकार लकडी की चीजें बनाने मे निपुण हैं। ये लोग लकडी के गोल प्याले, पशुओ तथा मनुष्यो की आकृतियो को बडे आकर्षक रूप मे बनाते हैं और

उन्हे रगते भी हैं। सेपिक तथा रामू जनजाति के लोग चित्रकला मे पूर्वज की आत्मा को पक्षी का रूप देकर प्रस्तुत करते हैं। मेलानेशिया के टोम्बारा द्वीप के दक्षिणी भाग मे चाक के विशाल टुकडो से पूर्वजो की मूर्तियाँ बनायी जाती हैं। उनकी सजावट बहुधा लाल और कभी-कभी काली रेखाओ से की जाती है। केन्द्रीय न्यू आयरलैण्ड की जनजातियाँ अपने मुखियाओ की स्मृति मे उनकी काष्ठ-मूर्तियाँ बनाती है जिन्हें कि वे लोग 'उली' कहते हैं। न्यू ब्रिटेन मे नरम पत्थर की मूर्तियाँ बनायी जाती हैं और उनपर खुदाई का काम भी वहाँ की जनजातियाँ करती हैं। मैक्रोनेशिया मे मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-निर्माण दोनो की ही कला पायी जाती है। यहाँ के लोग लकडी की खुदाई मे जानवरो का चित्रण करते हैं, पत्थरो की मूर्तियाँ बनाते हैं तथा विविध रगो से अलकृत चित्र, लकडी की खुदाई, मूर्तियाँ, बर्तन आदि बनाने मे सिद्ध-हस्त हैं। माओरी जनजाति के लोग नेफ्राइन व ह्वेल की हड्डी आदि की खुदाई के काम मे निपुण हैं। आस्ट्रेलिया के आदिवासी चट्टानो पर रेखाचित्रो को अकित करने तथा उनमे रग भरने का काम बहुत अच्छा कर लेते हैं। इनकी कला मे यथार्थवाद की झलक स्पष्ट होती है। उत्तरी अमेरिका के एस्किमो लोग नकाब या चेहरा बनाने की कला तथा खुदाई का काम दोनो मे ही समान रूप से निपुण हैं। इन नकाबो (masks) पर वे पौराणिक नायको और देवताओ के चित्रो को अकित करते हैं और उन्हे धार्मिक उत्सवो तथा हास्यात्मक नाटको के अवसरो पर पहनते हैं। खुदाई का काम ये लोग लकडी तथा हड्डियो पर करते है।

भारत में जनजातीय कला
(Tribal Art in India)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जनजातीय कला अत्यधिक स्वाभाविक, विशुद्ध तथा निष्कपट है। इसका कारण यह है कि जनजातीय कला आत्मिक या आध्यात्मिक अनुभवो तथा धार्मिक विचारो द्वारा प्रोत्साहित होती है और प्राकृतिक परिस्थितियो की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होती है यद्यपि, जैसा कि डा० दुबे ने कहा है, "सौन्दर्य-वृद्धि तथा सौन्दर्य-सृष्टि की ओर नैसर्गिक रूप से मानव की प्रवृत्ति रही है।" भारतीय जनजातीय कला भी इससे पृथक् नही है। भारतीय जनजातियो का जो अध्ययन हुआ है उससे पता चलता है कि उनकी कला भी नाना प्रकार से विकसित हुई है। भारत के विभिन्न जनजातीय समाजो से उनकी कला के भिन्न-भिन्न स्तरो के उदाहरण हमे प्राप्त हुए हैं। इस सम्बन्ध मे कुछ कहने से पहले हम सक्षेप मे भारत की जनजातीय कला की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख करेंगे।

भारतीय जनजातीय कला की विशेषताएँ
(Characteristics of Indian Tribal Art)

(१) भारतीय जनजातीय कला मे सरल और जटिल दोनो ही प्रकार की शैली का समावेश देखने को मिलता है। दो-एक पाश्चात्य लेखको का तो मत है कि आसाम की कुछ जनजातियो को छोडकर भारत की अन्य जनजातियो की जो कला है उसे वास्तव मे कला नही कहा जा सकता, क्योकि वे न तो सौन्दर्यपूर्ण हैं और न ही उनमे कलात्मक

प्रतिभा का कोई परिचय मिलता है।[11] परन्तु श्री एलविन (Elwin) इस मत मे सहमत नही हैं। उनका कथन है कि अगर हम आधुनिक दृष्टिकोण या मान (standard) से उनकी कला की विवेचना करेंगे तो नि सन्देह ही बहुत बडी गलती का शिकार बनेंगे। यह सच है कि वास्तविकता को यथाथरूप मे कल्पना करने की प्रतिभा आदिवासियो मे नही है इसलिये यथार्थ प्राय विकृत रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, किन्ही-किन्ही विषयो मे अतिरजना भी देखने को मिलती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि भारतीय जनजातीय कला का अस्तित्व ही नही है।

(२) भारतीय जनजातीय कला मे यथार्थवाद तथा सकेतवाद दोनो के ही तत्त्व पाये जाते हैं। नागा, हो आदि जनजातियो की कला मे यथार्थवाद की झलक अधिक देखने को मिलती है। नागा लोग शिकार खेलने के चित्र बनाते हैं तथा हो लोग पशु-पक्षियो का यथार्थ चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। हैदराबाद की चेंचू जनजाति के लोग पेड का चित्र बनाते हुए न केवल उसके तने, टहनी और पत्ते ही बनाते है, बल्कि उसकी जडो का चित्र भी खीच देते हैं। साकेतिक कला मे भी अनेक भारतीय जनजातियाँ निपुण हैं।

(३) भारत की जनजातियो मे मूर्ति-कला तथा चित्र-कला दोनो ही पायी जाती है। भारत की अनेक जनजातियाँ पत्थरो, लकडी आदि की मूर्तियाँ बनाती हैं। लकडी और मिट्टी के बर्तनो पर खुदाई का काम भी उन्हें आता है। चट्टानो, दीवारो, खम्भो, औजारो तथा आभूषणो पर चित्र बनाने की कला भी अनेक भारतीय जनजातियो को आती है। शरीर पर चित्र गोदने का काम भी उन्हें आता है। कपडो, आभूपणो, कौडियो आदि को रग-बिरगे चित्रो से ये लोग भर देते है। सिर की वेश-भूषा को नाना-प्रकार से सजाने की ओर इनका विशेष ध्यान होता है। मुरिया गोड जनजाति के लोग सिर पर सीग धारण करते हैं और इसे नाना प्रकार के चित्रो तथा कौडियो आदि से सजाते हैं। भारत के जनजातीय कलाकार मूर्ति बनाते समय मुखाकृति, पैर आदि पर विशेष ध्यान नही देते, शरीर के कतिपय अग, विशेषकर उरोजो तथा जघाओ को अवश्य उभारकर दिखाते हैं।

(४) दीवारो पर चित्र बनाने की कला सारे जनजातीय समाजो मे पारम्परिक रूप से प्रचलित है। त्योहारो, पर्वो, विवाहो आदि के अवसरो पर घरो की दीवारो पर और आँगन मे विभिन्न प्रकार के चित्र बनाये जाते है। इनका सम्बन्ध विशेपत पौराणिक कथाओ से होता है। लोक-जीवन से सम्बद्ध होने के कारण, स्थानीय प्रभाव और सकेतो (symbols) से भी ये चित्र भरपूर होते हैं। उनसे समाज की गतिविधियो, प्रभावो, वेश-भूपा-सम्बन्धी वातो का आभास होता है।

(५) श्री एलविन (Elwin) के अनुसार भारतीय जनजातीय कला की एक विशेष उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसको उपयोगिता-पक्ष (utilitarian aspect) या सामाजिक महत्त्व (social significance) से पृथक् करके इनकी विवेचना सम्भव नही है। 'कला केवल कला के लिये है' इस प्रकार की कला का दर्शन जनजातीय ग्रामो

---

11. See Verrier Elwin, 'Tribal Art', *The Adivasis*, The Publication Division, Govt of India, New Delhi, 1960, p 126

मे बहुत कम होता है। अधिकतर कला का एक धार्मिक या जादू-सम्बन्धी उद्देश्य होता है और इसका सामाजिक महत्त्व भी होता है। केवल सौन्दर्य की सृष्टि करने या सजाने के उद्देश्य से कला का सृजन आदिवासी समाज मे बहुत कम होता है।[12] मूर्तियाँ बनाकर पूजा करने या मन्दिर मे रखने की प्रथा भारतीय जनजातियो मे बहुत कम है। गोड, सथाल, भील आदि जनजातियो के मन्दिरो मे पत्थर, मिट्टी का ढेला आदि देवताओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस कारण जनजातीय लोग जिन मूर्तियो को बनाते हैं, वे देवताओ की मूर्तियाँ नही होती परन्तु देवताओ को अर्पित करने के लिये होती है। बस्तर की मुरिया जनजाति हाथी, घोडा और मानव की मूर्तियाँ बनाकर देवता को अर्पित करती है। उसी प्रकार विवाह को धूमधाम से मनाने और उस समय आने वाली समस्त विपदाओ को रोकने के लिये भी अनेक कलात्मक चीजो को जनजाति के लोग बनाते हैं। सथाल लोग विवाह की डोली को खूब सजाते है और उसपर जो खुदाई करते है उससे उत्साह और उल्लास का आभास होता है। इस अवसर पर अनेक जनजातियाँ भूत, चुडैल आदि की आकृतियाँ बनाकर विवाह-स्थान पर रखते हैं, जिससे की इन भूत, चुडैल का प्रभाव कम हो जाय। सामाजिक दृष्टिकोण से मृत्यु ने भी कला को प्रोत्साहित किया है। समुद्र के किनारे रहने वाली गजम (Ganjam) जनजाति सुन्दर कब्रें बनाती है, उस कब्र पर नाना प्रकार की चित्रकारी होती है। अनेक जनजातियाँ मृत व्यक्तियो की स्मृति मे, बीमारी को भगाने के लिये, जमीन की उर्वरा-शक्ति को बढाने के लिये तथा विशेष-विशेष त्योहारो मे दीवारो पर चित्र बनाती हैं।[13] इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय आदिकालीन कला की एक प्रमुख विशेषता इसका धार्मिक तथा सामाजिक पक्ष है।

प्रागैतिहासिक कला[14]
(Pre-historic Art)

आम धारणा के अनुसार भारत के प्राचीनतम कला-भण्डार अजन्ता, बाग तथा बादामी की गुफाओ मे पाये जाते हैं। परन्तु भारत मे इससे भी प्राचीन कला-भण्डार का अस्तित्व है, ये भण्डार उन शिलाश्रयो तथा गुफाओ मे हैं जो विंध्याचल एव सतपुडा की श्रेणियो मे सर्वत्र पाये जाते हैं। दक्षिण प्रदेश मे भी कतिपय स्थानो पर जैसे बीला सरगम, कोडाईकल नेलोर मे ऐसे भण्डार देखने को मिले हैं। गुफाओ की दीवारो मे पाषाण युग के मानव ने जो चित्र बनाये हैं वे गेरू, सफेद मिट्टी एव काले रग से रगे गये हैं। चित्रो को बनाते समय अनेक शैलियो का प्रयोग किया गया है तथा कई बार स्थानाभाव के कारण चित्र परस्पर एक-दूसरे पर भी रगे गये हैं। इन चित्रो मे यथार्थवादिता तथा आवेग अधिक है। रेखाओ का अत्यधिक प्रयोग भी इनमे देखने को मिलता है। चित्रो के

---

12 There is very little art for art's sake in a tribal village Much of the art has a religious or magical purpose, much again has social importance, there is very little that is simply decorative or that aims at the creation of beauty and nothing else" *Ibid*, p 127

13 *Ibid*, pp 127-129

14 Based on Sri Vakankar's article in *Dharmayug*, June 14, 1959, pp. 25-26

विपय भी विविध हैं, पशुपालन, शिकार, सामूहिक नृत्य, युद्ध-चित्रण, जगली पशु-पक्षी एव धार्मिक विचारो का यहाँ सर्वत्र प्रकटीकरण हुआ है। जगली पशु-पक्षियो मे हिरन, साभर, नीलगाय, घोडा, सूअर, हाथी, शेर, बकरी, कुत्ता, बन्दर, साँप, कौआ, बिच्छू, मोर आदि के चित्र मिलते हैं। साथ ही, नाना प्रकार के पत्थरो के औजार और मूर्तियो को भी बनाने की कला उन्हे आती थी।

उसी प्रकार उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले की विजयगढ नाम की गुफाओ मे कुछ चित्रो के नमूने पत्थरो की शिलाओ पर मिले हैं। इसमे से एक चित्र मे एक गैंडे पर हमला करने वाले छ शिकारी दिखाये गये हैं। कुछ शिकारी सिर पर पख लगाये हुए हैं। मध्य प्रदेश के रायगढ जिले मे सिघनपुर नामक ग्राम मे भी इस प्रकार के कतिपय रगीन चित्र वहाँ की चट्टानो पर अकित किये हुए मिले हैं। उनमे तीन विभिन्न रगो का प्रयोग किया गया है और मानव, पक्षी और सूअरो की आकृतियाँ बनायी गयी हैं।[15]

समकालीन कला
(Contemporary Art)

भारतीय जनजातियो की समकालीन कला के विषय मे हम इसकी विशेषता की विवेचना पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर सक्षेप मे केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि समकालीन जनजातीय कला मे मूर्तिकला, चित्रकला, मौखिक साहित्य, नृत्य, नाटक तथा सगीत सभी अपने पर्याप्त विकसित रूप मे देखने को मिलता है। उनमे सामाजिक और धार्मिक स्वर ही अधिक मुखर है, चाहे उनकी शैली कोई भी हो। अनेक सामाजिक तथा धार्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भारत के जनजातीय कलाकार मूर्ति बनाते हैं, चट्टानो, दीवारो तथा औजारो आदि पर चित्रकारी करते हैं। मूर्तियो मे तथा चित्रकारी मे जिस प्रकार मनुष्यो की आकृतियाँ बनायी जाती हैं, इसी प्रकार गाय, हाथी, घोडा, सूअर, बन्दर तथा अन्य प्रकार के पक्षियो की आकृतियाँ तथा भूत व चुडैलो की शक्ले भी बनायी जाती हैं। जो लोग पूर्वजो की आत्मा पर विश्वास करते हैं, वे यह भी मानते हैं कि वह आत्मा एक विशेष स्थान पर निवास करती है। उस स्थान को भी कला की अनेक कृतियो द्वारा सजाने का प्रयत्न किया जाता है। टोटम का चित्र बनाना, शरीर पर उसके चित्र की गुदाई करना आदि भारतीय जनजातियो की कला को व्यक्त करने का एक और तरीका है। कोरापुट के साओरा लोग अदृश्य जगत् का एक काल्पनिक चित्र देवताओ, भूतो और पूर्वजो के चित्र बनाकर प्रस्तुत करते हैं। मुरिया गोड के लोग सिर पर सीग धारण करते हैं जिसे कि वे खूब सजाते हैं। कौडियो के अनेक प्रकार के अलकार बनाना भी उन्हे आता है। नागा लोग अपने अस्त्रो पर विभिन्न प्रकार के चित्र बनाते हैं। उसी प्रकार अधिकतर जनजातियाँ युवागृह को भी कलात्मक ढग से सजाने का प्रयत्न करती हैं। आदिवासियो मे विवाह के गाने, नृत्य-गीत, मृत्यु-गान आदि भी होते हैं। सगीत, नृत्य, लोक-कथा और मौखिक साहित्य के विषय मे हम अगले अध्यायो मे विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

15 Majumdar and Madan, *op cit*, p 177

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer : *An Introduction to Social Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959

2 Boas, F : *Primitive Art*, Dover Publications, New York, 1951

3 Bunzel, R 'Art' in F Boas, *General Anthrooplogy*, D C Heath and Co , New York, 1938

4 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958.

5 Jacobs anp Stern *General Anthropology*, Barns and Noble, New York, 1955

6 Publication Division, *The Adivasis*, Delhi, 1960

7 Read, H *Art and Society*, Faber and Faber, London, 1946

१६

संगीत तथा नृत्य

(MUSIC AND DANCE)

विषय-सूचि—सोलहवाँ अध्याय

१. भूमिका—सगीत तथा नृत्य का महत्त्व
२ सगीत की उत्पत्ति
३ सगीत के आवश्यक तत्त्व
४ भारत के लोक-गीत
५ लोक-गीत की प्रकृति
६ लोक-गीत की परिभाषा
७ लोक-गीत के प्रकार
८ लोक-गीत के उदाहरण
९ लोक-गीत का महत्त्व
१० नृत्य
११. भारत मे लोक-नृत्य
१२. कुमायू के लोक-नृत्य

अध्याय १६

संगीत तथा नृत्य
(Music and Dance)

भूमिका—संगीत तथा नृत्य का महत्त्व
(Introduction—Importance of Music and Dance)

सौन्दर्य तथा आनन्द को उपभोग करने तथा उन्हे एक मूर्त्त रूप देने की चिरतन अभिलाषा मानव मे सदा से ही है। मानव अपने कष्टो को, दुख और दुर्दशा को उसी मे डुबो देना चाहता है, उसे भूल जाना चाहता है। सगीत के स्वर मे या नृत्य की ताल मे वह विभोर हो जाता है, सब कुछ भूल जाता है। सगीत तथा नृत्य मे मानव-जीवन का हास-उल्लास सभी कुछ व्यक्त है। इसी कारण सगीत तथा नृत्य की उत्पत्ति उसी दिन से है जिस दिन मानव ने हँसना और रोना सीखा है, विभिन्न मुद्राओ के माध्यम से अपने मन को अभिव्यक्त करना जान लिया है।

आदिकालीन समाज मे तो सगीत तथा नृत्य का और भी अधिक महत्त्व है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदि-समाजो मे मानव का जीवन अति सघर्षपूर्ण है। उन्हे अपनी जीविका-पालन के हेतु कठोर परिश्रम करना पडता है। उस कठोर परिश्रम के दौरान मे परिश्रम के भार को सहन करने के लिये तथा परिश्रम के बाद थकावट को भूलने के लिये सगीत तथा नृत्य का महत्त्व वास्तव मे अत्यधिक है। यह देखा गया है कि कठिन से कठिन काम के दौरान मे अगर नाचते-गाते हुए उस काम को किया जाय तो वह काम वास्तव मे बहुत सरल प्रतीत होने लगता है और काम करने वाले निरन्तर नये उत्साह को प्राप्त करते जाते हैं। हो सकता है इसलिये भी आदिमानव मे काम करते-करते गाना गाने का एक रिवाज-सा देखने को मिलता है। आदिम समाजो मे ही नही बल्कि भारत के गाँवो मे भी स्त्रियाँ खेत मे काम करते तथा चक्की मे कुछ पीसते समय बहुधा गीत गाती रहती है। उसी प्रकार नाव खेते हुए मल्लाहो का गीत विशेषत बगाल के लोक-गीत की एक अमूल्य सम्पदा है। साथ ही, सगीत तथा नृत्य का एक और महत्त्व यह है कि इसके द्वारा त्योहार, मेल-मिलाप, धार्मिक अनुष्ठान तथा मेले के अवसरो पर अपनी खुशियो को सरलता से व्यक्त किया जा सकता है। इन अवसरो पर नाचने और गाने वालो के लिये जिस प्रकार सगीत व नृत्य अपने उल्लास को व्यक्त करने का एक उत्तम साधन बन जाता है, उसी प्रकार उन्हे देखने व सुनने वालो के लिये वे मनोरजन का एक साधन हैं। इस प्रकार सगीत तथा नृत्य के कलाकार तथा दर्शक के बीच एक आत्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो कि सामाजिक नियत्रण, सगठन व एकता सभी के लिये परम उपयोगी सिद्ध होता है।

जिस प्रकार खाने-पीने की समस्या मानव को व्याकुल करती है, उसी प्रकार

सौन्दर्य और आनन्द का उपभोग करने के लिये भी वह छटपटाता है। यह सच है कि जीवन-धारण के लिये अर्थात् जीवित रहने के लिये खाने-पीने की चीजो की अत्यधिक आवश्यकता है, परन्तु यह भी सच है कि जीवित रहने के लिये केवल ये चीजें ही पर्याप्त नही हैं। खाने-पीने की चीजें तो 'शरीर' की खुराक हैं, शरीर की खुराक के अलावा भी मानव को अपने 'मन' की खुराक भी जुटानी पडती है।

संगीत
(Music)

संगीत की उत्पत्ति
(Origin of Music)

सगीत की उत्पत्ति मानव की उस अभिलाषा के फलस्वरूप हुई जिसके कारण वह सौन्दर्य तथा आनन्द को एक मूर्त्त रूप देना चाहता है। सौन्दर्य तथा आनन्द को कई प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसके लिये सर्वप्रथम तो भाषा की आवश्यकता होती है। चूंकि पशुओ के पास भाषा नही है इस कारण उनमे सगीत का विकास भी नही हो पाया है। मानव अपने मन की भावना को भाषा के माध्यम से व्यक्त कर सकता है और करता है। इस भाषा के साथ मन की भावना भी आवश्यक है। मन की भावना को जब छन्द रूप मे प्रस्तुत किया जाता है तब उसे कविता कहते हैं। कविता सगीत का वह कच्चा माल है जिससे कि सगीतकार सगीत को बनाता है। कविता को ही जब नियमानुसार ताल (rhythm) तथा सुर (melody) के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है तब उसी को सगीत कहते हैं। इस ताल तथा सुर को नियमित तथा निर्देशित करने के लिये नाना प्रकार के सगीत-यत्रो या वाद्य-यत्रो (musical instruments) की सहायता ली जाती है। सगीत की उत्पत्ति तभी हुई होगी जब कि मनुष्य को इन सबको एक साथ मिलाकर प्रस्तुत करने का ज्ञान प्राप्त हुआ होगा।

ताल की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे श्री बूचर (Bucher) का मत है कि इसकी उत्पत्ति मानव के रोज के अनुभव से ही सम्भव हुई है। आदिमानव ने यह देखा कि काम करते हुए कुछ निश्चित समय के बाद आवाज द्वारा या शरीर की गति द्वारा जोर देने से परिश्रम का दबाव बँट जाता है और काम सरल हो जाता है। इसका कारण यह है कि बराबर समय छोडकर आवाज या शारीरिक गति द्वारा जोर देने पर परिश्रम का दबाव शरीर या मन पर बोझ नही बन पाता और परिश्रम करने की नयी स्फूर्ति परिश्रम करने वाले को प्राप्त होती रहती है। एक बार जोर देने के बाद ऐसा लगता है जैसे कि वह काम नये तौर पर प्रारम्भ किया जा रहा है। इसी कारण काम का बोझ हल्का हो जाता है और वह काम आसान हो जाता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर जब स्वर या आवाज मे कुछ निश्चित समय के बाद जोर दिया गया तब सगीत या नृत्य के ताल की उत्पत्ति हुई। श्री बूचर के इस सिद्धान्त को चक्की चलाती हुई स्त्रियो का गीत गाने या नाव खेते हुए मल्लाहो का गीत गाने के आधार पर समझा जा सकता है। ये स्त्रियाँ या मल्लाह गीत क्यो गाते हैं? इसीलिये कि लगातार काम करते जाने पर जल्दी ही थक जाने की सम्भावना

होती है, परन्तु थोडा-थोडा अन्तर देकर गीत के स्वर पर जोर देने से उनके शरीर को नयी स्फूर्ति मिलती रहती है और वे अपने काम को सरलता से कर डालते हैं। श्री वूण्ट (Wundt) ने इसी सिद्धान्त को नृत्य के सम्बन्ध मे भी लागू किया है। उनके अनुसार नृत्य मे भी सगीत की भाँति ताल की आवश्यकता होती है जो कि थोडे-थोडे समय के वाद शरीर की एक गति विशेष पर जोर देने से उत्पन्न होती है। जोर इसीलिये दिया जाता है कि ऐसा करने पर शरीर का वोझ हल्का हो जाता है और काम सरलता से हो जाता है। परन्तु श्री वोआस (Boas) सर्वश्री वूचर तथा वूण्ट के मत से सहमत नही हैं।[1] उनका कथन है कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपनी रचना को सुन्दर वनाने का प्रयास करता है। किसी भी रचना मे अगर वीच-वीच मे समान अन्तर दिया जाय तो वह सुन्दर दीखने लगती है। उदाहरणार्थ, अगर आप सुलेख लिख रहे है तो प्रत्येक अक्षर के वाद अगर आप समान फासला छोडते जाएँ तो वह लेख सुन्दर प्रतीत होगा। किसी चीज को सुन्दर वनाकर हमे प्रसन्नता होती है। इसी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति ही ताल है। जव एक व्यक्ति नाचता या गाता है तो उसे अपनी उस रचना पर प्रसन्नता होती है और वह उस प्रसन्नता को उपभोग करने के लिये थोडे-थोडे समय वाद अपने स्वर या शरीर-गति पर जोर देता है या क्षणभर के लिये रुक जाता है। यही सगीत या नृत्य का ताल है।

सुर (melody) के आधार पर ही सगीत श्रुति-मधुर होता है। इस सुर का मुख्य आधार गाने वाले का स्वर या आवाज है जिससे कि वह सगीत की कथाओ या गीत के शब्दो को अपने मुँह से निकालता है। स्वर के एक नियमित चढाव-उतार से आनन्दप्रद या आकर्षक ध्वनि (tone) प्रस्तुत करना ही सुर की सृष्टि है। यह सुर ताल से नियमित तथा नियन्त्रित होता है। तभी सगीत वनता है। अर्थात् ताल और सुर के मेल से सगीत वनता है। सुर की उत्पत्ति आवेग या सवेग से होती है। एक परिस्थिति विशेष मे एक विशिष्ट प्रकार का सवेग मन मे उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के मुँह से एक विशेष प्रकार की ध्वनि निकलती है जो कि या तो आनन्दप्रद व श्रुति-मधुर होती है या केवल आकर्षक। यह ध्वनि आनन्दप्रद होगी या और कुछ, यह परिस्थिति पर निर्भर करता है। क्योकि परिस्थिति के अनुसार ही व्यक्ति मे एक विशेष सवेग उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, एक धार्मिक अनुष्ठान मे व्यक्ति के मुख से जिस प्रकार की ध्वनि निकलेगी उस प्रकार की ध्वनि सामाजिक उत्सव मे नही निकल सकती और जिस प्रकार की ध्वनि इस सामाजिक उत्सव मे निकलेगी उस प्रकार की ध्वनि प्रेमिका के वियोग मे कभी नही निकलेगी। वियोग-व्यथा से पीडित सगीत मे भी सुर होता है और उल्लास मे विभोर सगीत मे भी सुर होता है। इस कारण सुर मे केवल आनन्दप्रद या श्रुति-मधुर ध्वनि ही होगी, यह कहना गलत होगा। पर सुर श्रुति-कटु नही होता है, वह किसी न किसी रूप मे आकर्षक अवश्य ही होता है।

श्री कार्ल स्टम्फ (Carl Stumpf) का कहना है कि सुर की उत्पत्ति पहले-पहल

---

1 For detailed information please see Franz Boas, "Literature, Music and Dance", *General Anthropology*, D C. Heath and Co, New York, 1938, Chapter XII.

क्रन्दन या रोने से हुई है। रोने मे एक प्रकार की स्वाभाविक ध्वनि निकलती है। यह एक इस प्रकार की ध्वनि होती है जो कि सहज ही दूसरे को अपनी ओर आर्कषित कर लेती है। इसी अनुभव से सुर की सृष्टि मनुष्य ने की। विभिन्न परिस्थितियो के अनुकूल आकर्षक ध्वनि की सहायता से गीत के शब्दो को कहना लोगो ने प्रारम्भ किया। यही सगीत है।

वाद्य-यत्र (musical instruments) ताल-लय व सुर को नियत्रित करने तथा सगीत को और भी आकर्षक बनाने के लिये व्यवहार मे लाये जाते हैं। पहले-पहल इनका प्रयोग नही किया जाता था, कण्ठ से ही सगीत गाया जाता था। पर धीरे-धीरे नाना प्रकार के वाद्य-यत्रो का आविष्कार और सगीत के क्षेत्र मे प्रवेश होता गया। आदिम समाजो मे आज भी गिने-चुने वाद्य-यत्रो का प्रयोग होता है परन्तु आधुनिक समाजो मे तो सगीत के साथ वाद्य-यत्रो का मेला-सा बैठ जाता है। इसके विषय मे कुछ विस्तार से लिखने का अवसर हमे आगे मिलेगा।

सगीत के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of Music)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सगीत के तीन आवश्यक तत्त्व है—ताल, सुर तथा वाद्य-यत्र। आदिकालीन मानव के दृष्टिकोण से इन तीनो पर कुछ विचार करना आवश्यक है।

(१) ताल (Rhythm)—जैसा कि हम पहले ही बता चुके है, सगीत का सर्व-प्रथम तत्त्व ताल है। परन्तु इस ताल का ज्ञान आदिवासियो मे उतना सूक्ष्म नही है जितना कि आधुनिक समाज के सगीतकारो मे। वर्तमान सगीत मे एक पद या उसके अश विशेष को गाकर ही ताल दे दी जाती है, परन्तु आदिवासियो के सगीत मे इतनी जल्दी ताल नही दी जाती। उनमे ताल काफी रुक-रुक के देने की रीति है। साथ ही, चूंकि आदि-वासियो का ताल-ज्ञान अधिक सूक्ष्म नही होता, इस कारण एक बार जिस रूप मे ताल दी गयी, सगीत के प्रारम्भ से अन्त तक उसी रूप मे दी जायगी, ऐसा कोई नियम नही है। दो ताल के बीच समय की दूरी या व्यवधान घटता-बढता रहता हैं।

(२) सुर (Melody)—सगीत का दूसरा प्रमुख तत्त्व सुर है जो कि कम से कम आदिवासियो के दृष्टिकोण से ताल से अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुर की सृष्टि सगीतकार की कण्ठ-ध्वनि से ही होती है। अत सुर किस प्रकार का होगा, यह पूर्णतया गायक के कण्ठ पर ही निर्भर करता है। कण्ठ का यह सुर अभ्यास द्वारा उत्तमतर किया जा सकता है। आज का गायक इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से सचेत रहता है और कण्ठ-स्वर को उन्नत करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। इस प्रयत्न के फलस्वरूप उसका सुर उसके नियत्रण मे रहता है और वह अपनी इच्छानुसार और आवश्यकतानुसार उसे चढा-उतार सकता है या लहरदार बना सकता है। परन्तु आदिवासी कण्ठ स्वर को अपने नियत्रण मे रखने के लिये उतना अभ्यास नही कर पाते और न ही उनके पास उतना समय होता है। पेशेवर गायक आदि-वासियो मे शायद ही होता है। उनके समाज मे सभी को जीविका-पालन के हेतु सदा प्रयत्नशील बना रहना पडता है जिसके कारण सगीत का नियमित

अभ्यास करना उनके लिये सम्भव नही होता। इन कारण आदिवासियो के सगीत मे सुर मे समता और नियमितता अधिक नही होती है। वे उच्च स्वर का प्रयोग अधिक करते है।

वर्तमान अग्रेजी सगीत मे अष्टक (octave) को बारह-सम-भागो मे बाँटा जाता है, परन्तु आदिवासियो मे इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नही है। जावा की जनजातियाँ अष्टक को पाँच सम-भागो मे और स्याम की जनजातियाँ इसे सात सम-भागो मे बांटती हैं। सगीत के लय तथा सुर की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये अनेक जनजातियो मे निरर्थक शब्दो को जोड दिया जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे सगीत मे त-न-न-न-न, अग्रेजी मे ला-ला-ला को सगीत मे सुर का पुट देने के लिये जोडा जाता है। जनजातियो मे भी इसी प्रकार के अनेक शब्दो को प्रयोग मे लाया जाता है।

(३) **वाद्य-यत्र** (Musical Instrument)—सगीत का तीसरा आवश्यक तत्त्व वाद्य-यत्र है। वाद्य-यत्रो के दो प्रमुख कार्य होते हैं। प्रथम कार्य तो ताल व सुर को नियत्रित और निर्देशित करना और दूसरा सुर को ही प्रकट करना है। वाद्य यत्र स्वय ही सुर की सृष्टि करते हैं और गायक उससे कण्ठ मिलाकर गाता जाता है। यह भी हो सकता है कि गायक का कण्ठ जैसे ध्वनि या सुर को अभिव्यक्ति करता है वैसे यत्र भी सुर को प्रकट करने लगते हैं। अफ्रीका की कुछ जनजातियाँ ढोल से ऐसी ध्वनि निकालती हैं जो कण्ठ की ध्वनि का अनुकरण करती हैं। ताल देने के लिये भी वाद्य-यत्र अत्यधिक सहायक सिद्ध होते है। जब तक तबला, ढोल, मृदग आदि ताल देने के यत्रो का आविष्कार नही हुआ था, तब तक ताली या भूमि पर पैर बजाकर इनसे ताल दी जाती थी।

वाद्य-यत्रो को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—डोरी, ताँत या तार से बजने वाले वाद्य-यत्र (stringed instruments), हवा से बजने वाले वाद्य-यत्र (wind-instruments), और चोट लगाकर बजाये जाने वाले यत्र (percussion instruments)। जनजातियो मे डोरी, ताँत या तार से बजने वाले वाद्य-यत्र जैसे तम्बूरा, सारगी, सितार, वीणा, वायलिन आदि न के समान पाये जाते हैं। तम्बूरा और सारगी जैसे वाद्य-यत्र कतिपय भारतीय जनजातियो मे देखने को मिलते हैं। मुँह की हवा से बजने वाले वाद्य-यत्रो जैसे बाँसुरी, तुरही आदि का प्रचलन जनजातियो मे अपेक्षाकृत अधिक है। जनजातियाँ लकडी, सीग, बाँस, मिट्टी आदि नाना पदार्थ से इस प्रकार के वाद्य-यत्रो को बनाती हैं। कतिपय जनजातियो मे नाक से बजने वाले यत्र भी पाये जाते हैं। चोट देने से बजने वाले वाद्य-यत्र जनजातियो मे बहुत अधिक सख्या मे पाये जाते हैं। इस प्रकार के यत्रो मे ढोल, नगाडा और ढोलक बहुत लोकप्रिय हैं। घण्टा, घडियाल व घुंघरू को भी जनजातियाँ बहुत प्रयोग मे लाती है। अफ्रीका का कतिपय जनजातियो मे एक तरह का पियानो बनाया जाता है जिसे वे लोग ज़ेंज़ा (Zanza) कहते हैं। इस यत्र मे भिन्न-भिन्न नापो की धातु की पट्टियाँ या बाँस की धज्जियाँ इस प्रकार लगायी जाती है कि जब किसी पट्टी या धज्जी को अँगूठे से दबाकर छोड दिया जाता है तो वह ढोल की तरह आवाज को गुंजाने वाले खोल पर जाकर बजने से इस यत्र मे से तरह-तरह के स्वर निकलते हैं।[2] ढोल के जितने नाना प्रकार के रूप जनजातियो मे देखने को मिलते हैं

---

2 Franz Boas, *Ibid*, p 605

उतने और किसी भी वाद्य-यत्र के नही होते । किसी भी खोखली चीज पर चमडा मढ दिया जाता है। चमडा सूख जाने पर उस पर चोट देने से आवाज निकलती है। चमडा मढने के लिये जिस खोखली चीज की आवश्यकता होती है उसे जनजाति के लोग मिट्टी, लकडी आदि का बना लेते हैं। ढोल का वादन एक अर्थ मे उल्लास का प्रतीक है। जनजातियो मे किसी-किसी खास अवसरो पर उल्लास की मात्रा जितनी ही बढती जाती है, ढोल पर चोट भी उतनी ही उन्मत्त होकर की जाती है। अफ्रीका की कुछ जनजातियाँ ऐसे ढोल बनाती हैं कि एक ही ढोल के भिन्न-भिन्न भागो पर चोट देने से चार अलग-अलग तरह के स्वर निकलते हैं। कागो तथा अमेज़न की जनजातियाँ भी ढोल बनाने मे निपुण हैं। युद्ध के समय मे भी लडने वालो को उत्तेजित करने के लिये जनजातियाँ ढोल को उन्मत्त होकर पीटती हैं। उसी प्रकार युद्ध मे तुरही का भी प्रयोग किया जाता है। तुरही के स्वर से लडने वालो को नाना प्रकार का सकेत भेजा जाता है। उदाहरणार्थ, यदि उन्हे यह कहना है कि 'युद्ध रोक दो' तो तुरही मे वे एक विशेष स्वर को उत्पन्न करेंगे, उस स्वर को सुनकर सेना उसका आशय समझ जाती है।

भारतीय जनजातियो मे जो वाद्य-यत्र प्रयुक्त किये जाते हैं उनमे तम्बूरा व सारगी की तरह का एक यत्र, बाँसुरी, तुरही, बीन, ढोलक, ढोल, मृदग, घण्टा और घडियाल बहुत ही लोकप्रिय है, यद्यपि इनका वितरण तथा रूप प्रत्येक जनजाति मे एक-सा नही है।

सगीत के वाद्य-यत्र के सम्बन्ध मे एक यह बात स्मरणीय है कि प्रत्येक वाद्य-यत्र मे उसकी निजी विशेषता होती है। इसी कारण भिन्न-भिन्न प्रयोजन तथा अवसर के लिये भिन्न-भिन्न वाद्यो की आवश्यकता होती है। जनजातियो मे सगीत के वाद्य-यत्र युद्ध-क्षेत्र मे पर्याप्त मात्रा मे प्रयुक्त होते हैं, फिर भी प्रत्येक प्रकार के वाद्य-यत्र का प्रयोग युद्ध-क्षेत्र मे नही किया जाता। उदाहरणार्थ, यह सुना नही गया है कि युद्ध-क्षेत्र मे बाँसुरी का प्रयोग किसी जनजाति ने किया है या कभी किया था। युद्ध-क्षेत्र मे इस प्रकार के वाद्य-यत्रों को काम मे लाया जाता है जिनके स्वर लोगो मे जोश व उमग पैदा कर सकें। इन वाद्य-यत्रो को प्रयोग करने का एक मात्र कारण यह था कि इनकी आवाजो को सुनकर योद्धाओ का उत्साहवर्धन होता रहे। कहा जाता है कि दुंदभी के नाद को सुनकर भीम की भुजाएँ फडकने लगती थी और यही दुंदभी का प्रयोजन था। जनजातियो के लोग भी इस विषय मे पर्याप्त सचेत प्रतीत होते हैं क्योकि अवसर (occasion) भेद के अनुसार वाद्य-यत्रो मे भी भेद जनजातीय समाज मे देखने को मिलता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। दैनिक जीवन मे प्रयुक्त होने वाले वाद्य युद्धभूमि के वाद्यो से भिन्न इस कारण होते हैं कि दैनिक जीवन मे व्यवहार होने वाले वाद्यो का उद्देश्य योद्धाओ का उत्साहवर्धन करना नही, वरन् लोगो का मनोरजन करना होता है।

भारत के लोक-गीत
(Folk-songs of India)

लोक-गीत की प्रकृति
(Nature of Folk-songs)

आदि-जगत् के लोगो को हम प्राय. 'जगली' कहकर सम्बोधन करते हैं और यह

आशा करते हैं कि उनका जीवन असभ्य तथा हिंसक प्रवृत्तियो से भरपूर होगा। परन्तु यह सत्य नही है। उनके हृदय मे भी अनेक कोमल भावनाएँ तथा विचारधाराएँ होती है, उनका हृदय और मस्तिष्क भी प्रेम, प्रीति, विरह, मिलन, आनन्द और आँसू से प्लावित होता है। हृदय की इन अनुभूतियो को सगीतमय करने की शैली उन तथाकथित जगलियो को भी मालूम होती है। यह सच है कि यह शैली सस्कृति के स्तर से सम्बन्धित है अर्थात् सस्कृति के क्रमिक विकास के साथ-साथ लोक-गीतो को प्रस्तुत करने की शैली मे भी उन्नति होती जाती है। आदि-सस्कृति के लोग सरल मनोभाव वाले होते हैं इस कारण उनका गीत को प्रस्तुत करने का ढग भी बहुत सरल होता है। साधारणतया वे अपने ही दैनिक जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना को गीत के विषय के रूप मे चुन लेते हैं और फिर उससे सम्बन्धित अपने मनोभाव को सरल ढग से व्यक्त करते हैं। यही लोक-गीत है। लोक-गीत की सबसे प्रमुख विशेषता स्वत -स्फूर्तता तथा स्वाभाविकता है। वैसे भी सगीत का प्रमुख लक्ष्य लोकरजन है, जो इस लक्ष्य की सिद्धि मे अधिक सफल है, वही अधिक स्वाभाविक है। जो जितना स्वाभाविक है, वह उतना ही लोक-गीत के अन्तर्गत आता है। लोक-गीत के सम्बन्ध मे डा० दुबे ने उचित ही लिखा है कि "लोक-गीत स्वत -स्फूर्त प्राकृतिक काव्य का अग है। लोक-गीतो मे उनके रचियता अथवा रचना-काल का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नही होता, उनका महत्त्व तो उनकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौन्दर्य मे रहता है। उनमे एक व्यक्ति की अनुभूति की अपेक्षा लोक-हृदय की अनुभूति ही अधिक रहती है। व्यक्ति विशेष की भावनाओ का प्रतिनिधित्व न कर लोक-गीत समुदाय की भावना के कही अधिक सच्चे प्रतीक होते हैं। काल और स्थान की सीमा को लाघ, लोक-गायको और गायिकाओ के अधरो पर जीवित रहने वाले ये लोक-गीत अतीत की परम्परा को वर्तमान मे भी अशत जीवित बनाये रखते हैं, समय के व्यवधान से लोक-गीतो के बाह्य स्वरूप मे तो परिवर्तन अवश्य होते हैं, किन्तु उनके मूल-भाव तथा अभिव्यक्ति की अपनी विशेष शैली सामान्यत अपरिवर्तित ही रहती है।"

लोक-गीत मे कविता की विशेषताएँ बहुधा नही होती। लोक-गीत मे छन्दो का मिलान नही होता। यह बात विशेष करके जनजातियो के लोक-गीतो के सम्बन्ध मे अधिक सच है। भारतीय गावो मे जो लोक-गीत गाये जाते है उनमे काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी प्रचुर मात्रा मे होती है। परन्तु जनजातियो के लोक-गीत के सम्बन्ध मे यह बात नही है। फिर भी सभी जनजातियो के सभी लोक-गीतो मे काव्यात्मक अभिव्यक्ति का पूर्णतया अभाव होता है, ऐसा सोचना भी उचित नही है। हैदराबाद दक्षिण की चेंचू जन-जाति के लोगो के गीत "प्राय अस्पष्ट उद्गार ही होते हैं, उनमे काव्यात्मक अभिव्यक्ति का अभाव रहता है।," आसाम की कोनयक नागा तथा छत्तीसगढ की कमार जनजाति के गीतो के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है। परन्तु छोटा नागपुर के सथाल जनजातीय समूह के लोक-गीतो मे कविता की विशेषताएँ भी मौजूद होती हैं।

लोक-गीत की परिभाषा
(Definition of Folk-songs)

उपरोक्त विवेचना से लोक-गीत की प्रकृति तथा विशेषताएँ बहुत कुछ स्पष्ट हो

जाती हैं। लोक-गीत के सम्बन्ध मे श्री सामर ने लिखा है कि चूंकि लोक-सगीत का सृजन अनन्तकाल से होता आया है, इसका इतिहास बहुत पुराना और प्रचार-क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसलिये इसकी अपनी विशिष्ट परम्पराएँ होनी भी स्वाभाविक हैं। सच पूछिये तो जिस लोक-सगीत की परम्पराएँ ही नही होती, वह लोक-सगीत ही नही है। किसी व्यक्ति-विशेष का रचा हुआ गीत जब सामाजिक क्षेत्र मे उतरकर समाज की धरोहर बन जाता है और उस व्यक्ति का व्यक्तित्व उस गीत से हट जाता है तथा समस्त समाज का व्यक्तित्व उसपर अकित हो जाता है, तभी वह गीत लोक-गीतो की श्रेणी मे आता है। श्री सामर ने आगे और लिखा है कि इन गीतो मे भाषा तथा भाव की दृष्टि से क्षेत्रीय तथा जातीय विशेषताएँ अवश्य होती हैं, परन्तु इनकी आत्मा एक होती है और इनका व्यवहार लगभग एक ही प्रयोजन से होता है। ऐसे गीत चूंकि सामाजिक धरोहर होते हैं, इसलिये अधिकतर सामूहिक रूप से ही गाये जाते हैं। लोक-गीतो मे वैयक्तिक रूप से गाने की परम्परा लगभग नही के बराबर है। इसलिये उसमे व्यक्तिगत पसन्द तथा अभिरुचि का प्रश्न प्राय उठता ही नही है, यद्यपि इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीची जा सकती है।

लोक-गीत के प्रकार
(Kinds of Folk-songs)

लोक-गीत अनेक प्रकार के होते हैं जैसे सामान्य गीत, नृत्य-गीत, उत्सव-गीत, धार्मिक गीत, स्त्रियो के गीत, भिखारियो के या 'बाउल' गीत, विवाह व जन्म-गीत आदि। श्री सामर ने भारतीय लोक गीतो को निम्नलिखित छ. भागो मे बाँटा है—(१) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह, तथा पर्व समारोह आदि पर गाये जाने वाले गीत, (२) मनोविनोद तथा उमग के समय गाये जाने वाले गीत, (३) धार्मिक तथा सास्कारिक गीत, (४) भजन तथा कीर्तन के गीत, (५) नृत्य तथा नाटको के साथ गाये जाने वाले गीत, और (६) व्यावसायिक गीत। इन विभिन्न प्रकार के लोक-गीतो का जो विवरण श्री सामर ने दिया है उसका सक्षिप्त सार निम्नवत् है।

(१) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व आदि मे जो लोक-गीत गाये जाते हैं उनकी सख्या अनगिनत है। ये गीत प्राय सभी जातियो, समुदायो तथा व्यक्तियो द्वारा गाये जाते हैं। ये गीत चूंकि बडे दायरे मे बडी तादाद द्वारा तथा लम्बे समय तक गाये जाते हैं, इसलिये इनकी स्वर-रचना सरल, शब्द-चयन छोटा और लय सादी तथा गतिशील होती है। ये गीत विशिष्ट त्योहारो, पर्वों तथा मागलिक अवसरो के साथ सास्कारिक रूप से ही जुडे होते हैं। इनको गाये विना वह पर्व या त्योहार अधूरा ही समझा जाता है। इन गीतो मे विवाह के बधावे, द्वार चार, सम्बन्धियो की गालियाँ, फेरा या विदाई के क्षण मूर्त्त हो उठते हैं। तीज, राखी, होली आदि पर्वों तथा त्योहारो मे ये विशेषकर गाये जाते हैं।

(२) उमग तथा मनोविनोद के समय गाये जाने वाले लोक-गीतो की पसन्द चूंकि मनुष्य के विशिष्ट हास-उल्लास के क्षणो पर अवलम्बित रहती है इसलिये इन-का प्रचार-क्षेत्र बहुत लम्बा-चौडा नही होता और न इन्हें अधिक व्यापक रूप से गाया

ही जाता है। चूंकि इनका सम्बन्ध मनुष्य की रागात्मक वृत्तियो से अधिक है, इसलिये इनका सागीतिक पक्ष अधिक प्रबल होता है । इन गीतो मे कल्पना की उडाने अधिक और स्वरो की रचना राग की दृष्टि से बहुत ही मधुर होती है । राजस्थानी लोक-गीत मे इस श्रेणी के अन्तर्गत गोरबन्ध, पनिहारी, इण्डोणी, अलेची, पीपली, हिचकी, काजली, चौमासा, झूला, पोमचे, बादली, सपना, पादीना आदि प्रमुख हैं।

(३) धार्मिक तथा सास्कारिक लोक-गीत भी उत्सव, त्योहारो आदि पर गाये जाने वाले गीतो की तरह व्यापक और लोकप्रिय होते हैं । परन्तु, इनके साथ देवी-देवताओ की पूजा-पाठ की विधियाँ, परम्पराएँ, विश्वास आदि जुडे रहने के कारण ये गीत मत्र-तत्र आदि की तरह कुछ रूढिवादी हो गये हैं। किसी विशिष्ट धार्मिक क्रिया के समय ये गीत यदि नही गाये जाएँ तो अपशकुन-सा माना जाता है। ये गीत प्रचलित और व्यापक इसलिये हैं कि इनके साथ सैंकडो वर्षो की धार्मिक परम्पराएँ जुडी हुई हैं ।

(४) धार्मिक तथा सास्कारिक लोक-गीतो की श्रेणी मे भजन तथा कीर्तन नही रखा गया है । इसका कारण, श्री सामर के अनुसार, यह है कि इनमे प्रकृति, रचना तथा व्यवहार की दृष्टि से काफी भिन्नता है । भजन-कीर्तनो मे कोई सकीर्णता, साम्प्रदायिकता तथा अन्धपरम्परा नही है। इनका प्रचार एव प्रभाव-क्षेत्र अधिक व्यापक है । इन गीतो मे धार्मिक तथा आध्यात्मिक उच्च भावनाएँ अकित रहती हैं। इनका काव्य तथा सागीतिक पक्ष भी उनसे अधिक मधुर होता है। इन गीतो का लय-पक्ष तो सभी लोक-गीतो से अधिक प्रबल होता है ।

(५) नृत्य तथा नाटको के साथ गाये जाने वाले लोक-गीन अनेक लोकप्रिय कथाओ के साथ जुडे होने के कारण इनकी लोकप्रियता बहुत अधिक बढी हुई होती है । इन गीतो का साहित्यिक पक्ष अत्यन्त दुर्बल होता है, तथा सगीत-पक्ष प्रबल ।

(६) लोक-गीत की परिभाषा के अनुसार किसी भी लोक-गीत को व्यावसायिक नही होना चाहिये । यदि वह व्यावसायिक हो जाता है, तो उसका लोक-पक्ष निश्चय ही दुर्बल होता है । परन्तु कुछ सामाजिक कारणो से भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे कुछ समूह ऐसे बन गये हैं, जिनका व्यवसाय ही नाच-गाकर अपनी आजीविका उपार्जन करना हो गया है । चूंकि गाना-बजाना तथा नाचना उनका व्यवसाय हो गया है, इसलिये उनमे थोडी-सी क्लिष्टता तथा चमत्कारिता होना स्वाभाविक है । उनकी गायन-विधि मे थोडा-सा व्यावसायिक गुण यदि नही हो, तो उनके आश्रयदाता अथवा जजमान उनकी कभी माग ही न करें। ऐसे गीतो को गाने वाली अनेक जातियाँ राजस्थान मे पायी जाती हैं। ये गीत ढोला, मिरासी, कामढ, सरगडे, राव, भाग, ढाढी, भाड, भत्राई आदि व्यावसायिक जातियो की धरोहर बन गये हैं, जिनमे कला-पक्ष की दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है और उनके गाने की शैली भी शास्त्रीय गीतो के ढग की बनती जा रही है । उनमे तान, पलटे, आलाप आदि का प्रयोग होता है तथा तालो मे तीये भरने आदि का चलन भी हो गया है।

सक्षेप मे, जीवन के विभिन्न पक्षो की सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक-गीतो मे होती है। लोक-गीत मानव-जीवन या सामूहिक जीवन के किसी विशेष पक्ष से

जाती हैं। लोक-गीत के मम्बन्ध मे श्री सामर ने लिखा है कि चूंकि लोक-सगीत का सृजन अनन्तकाल से होता आया है, इसका इतिहास बहुत पुराना और प्रचार-क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसलिये इसकी अपनी विशिष्ट परम्पराएँ होनी भी स्वाभाविक है। सच पूछिये तो जिस लोक-सगीत की परम्पराएँ ही नही होती, वह लोक-सगीत ही नही है। किसी व्यक्ति-विशेष का रचा हुआ गीत जब सामाजिक क्षेत्र मे उतरकर समाज की धरोहर बन जाता है और उस व्यक्ति का व्यक्तित्व उस गीत से हट जाता है तथा समस्त समाज का व्यक्तित्व उसपर अकित हो जाता है, तभी वह गीत लोक-गीतो की श्रेणी मे आता है। श्री सामर ने आगे और लिखा है कि इन गीतो मे भाषा तथा भाव की दृष्टि से क्षेत्रीय तथा जातीय विशेषताएँ अवश्य होती हैं, परन्तु इनकी आत्मा एक होती है और इनका व्यवहार लगभग एक ही प्रयोजन से होता है। ऐसे गीत चूंकि सामाजिक धरोहर होते हैं, इसलिये अधिकतर सामूहिक रूप से ही गाये जाते हैं। लोक-गीतो मे वैयक्तिक रूप से गाने की परम्परा लगभग नही के बराबर है। इसलिये उसमे व्यक्तिगत पसन्द तथा अभिरुचि का प्रश्न प्राय: उठता ही नही है, यद्यपि इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीची जा सकती है।

लोक-गीत के प्रकार
(Kinds of Folk-songs)

लोक-गीत अनेक प्रकार के होते हैं जैसे सामान्य गीत, नृत्य-गीत, उत्सव-गीत, धार्मिक गीत, स्त्रियो के गीत, भिखारियो के या 'बाउल' गीत, विवाह व जन्म-गीत आदि। श्री सामर ने भारतीय लोक गीतो को निम्नलिखित छः भागो मे बाँटा है—(१) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह, तथा पर्व समारोह आदि पर गाये जानेवाले गीत, (२) मनोविनोद तथा उमग के समय गाये जाने वाले गीत, (३) धार्मिक तथा सास्कारिक गीत, (४) भजन तथा कीर्तन के गीत, (५) नृत्य तथा नाटको के साथ गाये जाने वाले गीत, और (६) व्यावसायिक गीत। इन विभिन्न प्रकार के लोक-गीतो का जो विवरण श्री सामर ने दिया है उसका सक्षिप्त सार निम्नवत् है।

(१) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व आदि मे जो लोक-गीत गाये जाते हैं उनकी सख्या अनगिनत है। ये गीत प्राय सभी जातियो, समुदायो तथा व्यक्तियो द्वारा गाये जाते हैं। ये गीत चूंकि बडे दायरे मे बडी तादाद द्वारा तथा लम्बे समय तक गाये जाते हैं, इसलिये इनकी स्वर-रचना सरल, शब्द-चयन छोटा और लय सादी तथा गतिशील होती है। ये गीत विशिष्ट त्योहारो, पर्वों तथा मागलिक अवसरो के साथ सास्कारिक रूप से ही जुडे होते हैं। इनको गाये बिना वह पर्व या त्योहार अधूरा ही समझा जाता है। इन गीतो मे विवाह के बधावे, द्वार चार, सम्बन्धियो की गालियाँ, फेरा या विदाई के क्षण मूर्त्त हो उठते हैं। तीज, राखी, होली आदि पर्वों तथा त्योहारो मे ये विशेषकर गाये जाते हैं।

(२) उमग तथा मनोविनोद के समय गाये जाने वाले लोक-गीतो की पसन्द चूंकि मनुष्य के विशिष्ट हास-उल्लास के क्षणो पर अवलम्बित रहती है इसलिये इन का प्रचार-क्षेत्र बहुत लम्बा-चौडा नही होता और न इन्हें अधिक व्यापक रूप से गाया

ही जाता है। चूंकि इनका सम्बन्ध मनुष्य की रागात्मक वृत्तियो से अधिक है, इसलिये इनका सागीतिक पक्ष अधिक प्रबल होता है। इन गीतो मे कल्पना की उडाने अधिक और स्वरो की रचना राग की दृष्टि से बहुत ही मधुर होती है। राजस्थानी लोक-गीत मे इस श्रेणी के अन्तर्गत गोरबन्ध, पनिहारी, इण्डोणी, अलेची, पीपली, हिचकी, काजली, चौमासा, झूला, पोमचे, बादली, सपना, पादीना आदि प्रमुख हैं।

(३) धार्मिक तथा सास्कारिक लोक-गीत भी उत्सव, त्योहारो आदि पर गाये जाने वाले गीतो की तरह व्यापक और लोकप्रिय होते है। परन्तु, इनके साथ देवी-देवताओ की पूजा-पाठ की विधियाँ, परम्पराएँ, विश्वास आदि जुडे रहने के कारण ये गीत मत्र तत्र आदि की तरह कुछ रूढिवादी हो गये हैं। किसी विशिष्ट धार्मिक क्रिया के समय ये गीत यदि नही गाये जाएँ तो अपशकुन-सा माना जाता है। ये गीत प्रचलित और व्यापक इसलिये हैं कि इनके साथ सैंकडो वर्षो की धार्मिक परम्पराएँ जुडी हुई है।

(४) धार्मिक तथा सास्कारिक लोक-गीतो की श्रेणी मे भजन तथा कीर्तन नही रखा गया है। इसका कारण, श्री सामर के अनुसार, यह है कि इनमे प्रकृति, रचना तथा व्यवहार की दृष्टि से काफी भिन्नता है। भजन-कीर्तनो मे कोई सकीर्णता, साम्प्रदायिकता तथा अन्धपरम्परा नही है। इनका प्रचार एव प्रभाव-क्षेत्र अधिक व्यापक है। इन गीतो मे धार्मिक तथा आध्यात्मिक उच्च भावनाएँ अकित रहती हैं। इनका काव्य तथा सागीतिक पक्ष भी उनसे अधिक मधुर होता है। इन गीतो का लय-पक्ष तो सभी लोक-गीतो से अधिक प्रबल होता है।

(५) नृत्य तथा नाटको के साथ गाये जाने वाले लोक-गीन अनेक लोकप्रिय कथाओ के साथ जुडे होने के कारण इनकी लोकप्रियता बहुत अधिक बढी हुई होती है। इन गीतो का साहित्यिक पक्ष अत्यन्त दुर्बल होता है, तथा सगीत-पक्ष प्रबल।

(६) लोक-गीत की परिभाषा के अनुसार किसी भी लोक-गीत को व्यावसायिक नही होना चाहिये। यदि वह व्यावसायिक हो जाता है, तो उसका लोक-पक्ष निश्चय ही दुर्बल होता है। परन्तु कुछ सामाजिक कारणो से भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे कुछ समूह ऐसे बन गये हैं, जिनका व्यवसाय ही नाच-गाकर अपनी आजीविका उपार्जन करना हो गया है। चूंकि गाना-बजाना तथा नाचना उनका व्यवसाय हो गया है, इसलिये उनमे थोडी-सी क्लिष्टता तथा चमत्कारिता होना स्वाभाविक है। उनकी गायन-विधि मे थोडा-सा व्यावसायिक गुण यदि नही हो, तो उनके आश्रयदाता अथवा जजमान उनकी कभी माग ही न करें। ऐसे गीतो को गाने वाली अनेक जातियाँ राजस्थान मे पायी जाती हैं। ये गीत ढोला, मिरासी, कामढ, सरगडे, राव, भाग, ढाढी, भाड, भत्राई आदि व्यावसायिक जातियो की धरोहर बन गये हैं, जिनमे कला-पक्ष की दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है और उनके गाने की शैली भी शास्त्रीय गीतो के ढग की बनती जा रही है। उनमे तान, पलटे, आलाप आदि का प्रयोग होता है तथा तालो मे तीये भरने आदि का चलन भी हो गया है।

सक्षेप मे, जीवन के विभिन्न पक्षो की सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक-गीतो मे होती है। लोक-गीत मानव-जीवन या सामूहिक जीवन के किसी विशेष पक्ष से

नही वरन् प्राय सभी पक्षो से सम्बन्धित होते हैं। लोक-गीतो के निम्नलिखित उदाहरणो से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

लोक-गीत के उदाहरण
(Examples of Folk-songs)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लोक-गीत का विषय क्षेत्र मानव का सम्पूर्ण जीवन है। इसकी अभिव्यक्ति कितने विभिन्न रूपो मे हो सकती है, इसकी कुछ झलक हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं —

अधेरी रात थी
धीरे-धीरे चन्द्रमा निकला,
प्रतीक्षा और कष्ट बाद
घर पुत्र का जन्म हुआ,
गाओ भाई! गाओ!
नाचो भाई! नाचो!

उपरोक्त गीत मध्य प्रदेश के आदिवासियो का लोक-गीत है जो कि परिवार मे पुत्र के जन्म होने के अवसर पर हृदय मे उठने वाली सामान्य भावनाओ को सरल किन्तु सरस ढग से व्यक्त करता है। यह गीत बच्चा उत्पन्न होने के ठीक बाद ही गाया जाता है। बच्चे का आगमन परिवार के लिये अनेक शुभ सम्भावनाओ को लेकर होता है। इस बच्चे के सम्बन्ध मे उसकी विवाहिता बुआ का विशेष स्थान तथा महत्त्व होता है। इसलिये बच्चे के जन्म से सम्बन्धित लोक-गीत मे बुआ का भी विशेष रूप से उल्लेख होता है, जैसे —

जीओ जीओ रे लाला
पेट में से बच्चा बोले
बुआ रे बुआ।

उसी प्रकार पारिवारिक जीवन के अन्य पक्षो को भी लोक-गीत अपने अन्दर समेट लेता है। उदाहरणार्थ,"जब तक माँ-बाप जीवित रहते हैं, अविवाहित लडकियो को अपने भरण-पोषण के लिये विशेष चिन्ता नही करनी पडती, किन्तु जब उन्हें अपने विवाहित भाइयो के साथ रहना पडता है तो ननद-भौजाई के झगडे उठ खडे होते हैं जिससे आपस मे पर्याप्त कटुता बढती है और सम्मिलित रूप से रहना दूभर हो जाता है। मुण्डा जन-जातियो के सैकडो लोक-गीतो मे वयस्का कुमारियो के कष्टो, भौजाइयो द्वारा उनपर किये गये अत्याचारो और दुर्व्यवहारो तथा नवयुवको की उनके प्रति उपेक्षा का विस्तृत विवरण दिया गया है। कुमारियो द्वारा समस्त मुण्डा देश मे गाये जाने वाले गीतो मे भौजाई और सौत की डाह का उल्लेख आता है। लोक-गीत की निम्न पक्तियो मे यही भाव व्यक्त किया गया है —

भौजाई की डाह,
सौतेली-माँ की डाह,
जब वह झगडती है तो बादल काँपते हैं,
पेट, पेट, मैं भूखी हूँ,
पानी, पानी, मैं प्यासी हूँ,
कहाँ, हे! हिली (मामी) पानी मिल सकता है?

राजा के तालाव पर, रानी के तालाव पर
जा वहाँ मलेगा।

भौजाई और सौतेली-मा उसे एक बूद पीने का पानी भी नही देती और उस कुमारी मुण्डा कन्या को प्यास बुझाने के लिये गाव के तालाब का रास्ता दिखाती हैं।"

विवाह के पश्चात् बेटी की विदा एक और सामान्य पारिवारिक घटना है। इस अवसर पर अनेक तरह से गीत गाये जाते हैं जिनमे कि घर वालो या बेटी की हृदय-वेदना मूर्त्त हो उठती है। एक गुजराती गीत है —

अमे रे लीलुड़ा बननी चल कलडी
उडी जाशु परदेश जी
आजा रे दादा जी ना देश मा,
काले जाशु परदेश जी।

इसका अर्थ यह है कि मैं तो हरे-भरे वन की चिड़िया हूँ, उडकर परदेश चली जाऊँगी। आज दादाजी के देश मे हूँ, कल परदेश चली जाऊँगी।

लोक-गीत मे प्रेमिका अथवा प्रेमी के हृदय के उद्‌गारो को भी आकर्षक ढग से प्रस्तुत किया जाता है जो कि अपनी सरलता के कारण ही रोचक व मोहक हो जाता है। एक तामिल लोक-गीत का हिन्दी अनुवाद निम्नवत् है। सेलम के मेले के बाद जब एक युवक अपनी प्रेयसी से मिला तो कहने लगा —

जानती हो!
मेले से लाया हूँ
लाया हूँ एक साडी तुम्हारे लिये।
अपने हाथों से
हाथों से पहनाऊगा तुम्हें
दुलहन सजाऊगा तुम्हें
अपने हाथों से।
तुम मेरी हो
तुम घर की रानी हो
रानी की तरह सजाऊगा तुम्हें
दुलहन बनाऊगा तुम्हें
अपने हाथों से।
मेले से लाया हूँ
लाया हूँ एक साड़ी तुम्हारे लिये।

लोक-गीत मे प्रेम और परिहास, मिलन व विरह ही नही, वीर-रस भी मूर्त्त होता है, जैसे —

मेरा रग दे केसरिया चोला रे
जिस चोले में रग केसरिया भगत सिंह ने घोला रे,
मेरा रग दे केसरिया चोला रे।

इतना ही नही, जैसा कि डा० दुबे ने लिखा है, "लोक-गीतो मे कभी-कभी तत्त्व-ज्ञान की गम्भीरता से जीवन पर दृष्टिक्षेप करने के प्रयत्न भी मिलते हैं। एक छत्तीसगढी लोक-गीत है —

जीयत जन्म लेबो,
हंसि लेबो खेल लेबो,
मरे ले दूलभ ससार।
जिनगी के नई है भरोसा।

अर्थात् 'जन्म लिया है तो जी ले, हँस ले और खेल ले, मरने से ससार दुर्लभ हो जायगा, जीवन का कोई भरोसा नही।'

भक्ति-मूलक लोक-गीत का एक सरल व सुन्दर रूप बगाल का 'बाउल-गीत' है। बाउल (एक प्रकार का भिखारी) बगाल के देहाती-पथ पर अपना एक-तारा लेकर उदात्त मधुर कण्ठ से गाता हुआ सम्पूर्ण वातावरण को सरस सगीतमय करता फिरता है। अवसाद व दुविधा-वेदना से जीवन जब व्यर्थ, विकल, अर्थशून्य जान पडता है, तभी बाउल के कण्ठ से व्याकुल प्रार्थना ध्वनित होती है —

दीप मेरा चाहता तुम्हारी ही शिखा,
मौन वीणा मेरी ध्यान करती
तुम्हारा उगलियों का हा स्पर्श,
तृष्णा से आतुर मेरा अन्धकार
ताराओं में ढूढता सुगसुधारस।

फिर भी भगवान की ओर से जब कोई उत्तर नही मिलता है तब गम्भीर वेदना के आघात से आहत बाउल के रुद्ध कण्ठ मे आवेग से छलछल गीत निकलता है —

जीवन भर ढूढ़ा
जीवन भर सोचा
कहाँ है मेरे वेदना का धन
विश्वभुवन में वह व्याप्त है
पर, जीवन में उसे नहीं पाया।

एक अज्ञात हताशा से गायक बाउल का प्राण हाहाकार कर उठता है, वह रोता, आकुल होकर केवल रोता जाता है। उसकी विरही आत्मा कहती है —

आ मिलो, अब तो आ मिलो
दीनबन्धु! दीनानाथ।
तुम्हें ढूढता-ढूढता मैं थक गया हूँ
तुम्हारी राह ताकता-ताकता मैंने आँखें गवाँ दिया है
अब तो आ मिलो निठुर
अब तो दर्शन दो ठाकुर!

लोक-गीत का महत्त्व
(Importance of Folk-song)

लोक-गीत अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण ही मोहक होता है। इनमे अलकार, छन्द, शब्द-चयन आदि का आडम्बर तो निश्चय ही नही होता है, परन्तु इसके माध्यम मे जो लोक-परम्परा झाकती है उसकी तुलना शायद किसी से भी नही की जा सकती और इसीलिये लोक गीत का महत्त्व भी असीम हो जाता है। लोक-गीत समाज की धरोहर ही नही लोक जीवन का दर्पण भी है। लोक-गीतो का अध्ययन करके हम समस्त समाज के व्यक्तित्व का, अर्थात् एक समाज विशेप की विशिष्टताओ परिचय का

पा सकते है। इन गीतो के साथ जन-मानस की आत्मा अकित होती है और उन्हें वडे रस के साथ लोग गाते हैं। उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व समारोह के अवसरो पर इनके विना सभी आनन्द-क्षण फीके होते है। उसी प्रकार मनोविनोद तथा उमग के समय गाये जाने वाले लोक-गीतो का अपना महत्त्व है। ये गीत विशिष्ट जनो के मन-पसद होते हैं और मौज, मजे, आनन्द, उल्लास और विनोद के क्षणो मे तो गाये जाते ही हैं परन्तु ऋतुओ के सौन्दर्य के साथ भी इनका सौन्दर्य जुडा हुआ होता है जो कि मन को एक अनिर्वचनीय आनन्द और तृप्ति से भर देता है और जीवन की वास्तविकताओ का सामना करने की अनन्त प्रेरणाएँ प्रदान करता है। उसी प्रकार धार्मिक तथा सास्कारिक लोक-गीतो को लीजिये। "इन गीतो मे मानव-जीवन के उच्च आदर्शों तथा भगवान की अपार शक्ति की ओर सकेत होता है। सास्कारिक गीतो से यदि मनुष्य की अन्वपरम्परा और उसके जीवन की अत्यधिक चिन्ता व्यक्त होती है तो भजन-कीर्तनो मे उसे इन वृत्तियो से मुक्त करने की चेष्टा होती है। मनुष्य जव जीवन के सताप और उसकी सीमाओ से कुठित हो जाता है, तो वह सास्कारिक लोक-गीतो की शरण लेता है। परन्तु भजन-कीर्तनो मे मनुष्य-जीवन का निराश पक्ष अवश्य प्रधान रहता है फिर भी इन मे जीवन के सतापो से व्यथित तथा भयभीत होने की प्रेरणा नही है। भजन-कीर्तनो से मनुष्य को एक आध्यात्मिक आनन्द मिलता है और उसे जीवन के सतापो को झेलने की ताकत मिलती है। पिछले तीन-चार सौ वर्षो मे पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन मे अनेक निराशाओ का समावेश होने के कारण इन गीतो का महत्त्व और भी वढ गया है।"

अत स्पष्ट है कि मानव-जीवन के विभिन्न पक्षो की सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक-गीतो मे मिलती है उतनी और किसी मे नही। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने सच ही कहा है, "भारतवर्प का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओ, रीति-रिवाजो और हमारे आन्तरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढग से व्यक्त नही कर सकता, जितना कि लोक-गीत कर सकते हैं।" इसीलिये अगर हम भारतवर्ष के विभिन्न सास्कृतिक समूहो की विशेषताओ से परिचित होना चाहते हैं तो उनके लोक-गीतो का अव्ययन आवश्यक है। लोक-गीतो के इस महत्त्व की अवहेलना सामाजिक मानव-शास्त्र का कोई भी विद्यार्थी नही कर सकता। इसका कारण यह है कि आम जनता की स्वाभाविक व्यवहार-प्रणाली किस भाँति है, उनकी प्रथा व परम्परा की अनिवार्य दिशा क्या है या रही है, उनके विश्वासो तथा विचारो की प्रमुख विशेपताएँ क्या हैं, इन सव मानवशास्त्रीय विपयो का विश्लेपण तथा निरूपण लोक-गीतो के अव्ययन के विना असम्भव है। डा० दुवे ने लिखा है, "वेद और स्मृतियाँ भारतीय सस्कृति के जिन पक्षो के सम्वन्ध मे मौन हैं, लोक गीत अगत उनके सम्वन्ध मे कुछ कह सकते हैं। आर्येतर सभ्यता की अनेक प्रथाएँ, जो आर्य-प्रभुत्व की स्थापना के वाद भी भारत मे वनी रही, लोक-गीतो की सहायता से समझी जा सकती हैं। इतिहास के अँधेरे पृष्ठो को भी लोक-गीत और लोक-कथाओ से यदा कदा प्रकाश की कुछ किरणें मिल सकती हैं। यद्यपि लोक-गीत मे किसी घटना का वर्णन होना ही इतिहास के लिये प्रमाण नही माना जा सकता, फिर भी

जीयत जन्म लेबो,
हमि लेबो खेल लेबो,
मरे ले दुलभ समार !
जिनगी के नई है भरोसा !

अर्थात् 'जन्म लिया है तो जी ले, हँस ले और खेल ले, मरने से संसार दुर्लभ हो जायगा, जीवन का कोई भरोसा नही ।'

भक्ति-मूलक लोक-गीत का एक सरल व सुन्दर रूप बगाल का 'बाउल-गीत' है। बाउल (एक प्रकार का भिखारी) बगाल के देहाती-पथ पर अपना एक-तारा लेकर उदात्त मधुर कण्ठ से गाता हुआ सम्पूर्ण वातावरण को सरस सगीतमय करता फिरता है। अवसाद व दुविधा-वेदना से जीवन जब व्यर्थ, विकल, अर्थशून्य जान पडता है, तभी बाउल के कण्ठ से व्याकुल प्रार्थना ध्वनित होती है —

दीप मेरा चाहता तुम्हारी ही शिखा,
मौन वीणा मेरी ध्यान करती
तुम्हारा उगलियों का हा स्पर्श,
तृष्णा से आतुर मेरा अन्धकार
ताराओं में ढूढता रूपसुधारस !

फिर भी भगवान की ओर से जब कोई उत्तर नही मिलता है तब गम्भीर वेदना के आघात से आहत बाउल के रुद्ध कण्ठ मे आवेग से छलछल गीत निकलता है :—

जीवन भर ढूढा
जीवन भर सोचा
कहाँ है मेरे वेदना का धन
विश्वभुवन में वह व्याप्त है
पर, जीवन में उसे नहीं पाया ।

एक अज्ञात हताशा से गायक बाउल का प्राण हाहाकार कर उठता है, वह रोता, आकुल होकर केवल रोता जाता है। उसकी विरही आत्मा कहती है :—

आ मिलो, अब तो आ मिलो
दीनबन्धु ! दीनानाथ !
तुम्हें ढूंढता-ढूढता मैं थक गया हूँ
तुम्हारी राह ताकता-ताकता मैंने आँखें गवाँ दिया है
अब तो आ मिलो निठुर
अब तो दर्शन दो ठाकुर !

लोक-गीत का महत्त्व
(Importance of Folk-song)

लोक-गीत अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण ही मोहक होता है। इनमे अलकार, छन्द, शब्द-चयन आदि का आडम्बर तो निश्चय ही नही होता है, परन्तु इसके माध्यम मे जो लोक-परम्परा झाकती है उसकी तुलना शायद किसी से भी नही की जा सकती और इसीलिये लोक गीत का महत्त्व भी असीम हो जाता है। लोक-गीत समाज की धरोहर ही नही लोक जीवन का दर्पण भी है। लोक-गीतो का अध्ययन करके हम समस्त समाज के व्यक्तित्व का, अर्थात् एक समाज विशेष की विशिष्टताओ परिचय का

पा सकते है। इन गीतो के साथ जन-मानस की आत्मा अकित होती है और उन्हें बडे रस के साथ लोग गाते हैं। उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व ममारोह के अवसरो पर इनके बिना सभी आनन्द-क्षण फीके होते है। उसी प्रकार मनोविनोद तथा उमग के समय गाये जाने वाले लोक-गीतो का अपना महत्त्व है। ये गीत विशिष्ट जनो के मन-पसद होते हैं और मौज, मजे, आनन्द, उल्लास और विनोद के क्षणो मे तो गाये जाते ही हैं परन्तु ऋतुओ के सौन्दर्य के साथ भी इनका सौन्दर्य जुडा हुआ होता है जो कि मन को एक अनिर्वचनीय आनन्द और तृप्ति से भर देता है और जीवन की वास्तविकताओ का मामना करने की अनन्त प्रेरणाएँ प्रदान करता है। उसी प्रकार धार्मिक तथा सास्कारिक लोक-गीतो को लीजिये। "इन गीतो मे मानव-जीवन के उच्च आदर्शों तथा भगवान की अपार शक्ति की ओर सकेत होता है। सास्कारिक गीतो से यदि मनुष्य की अन्वपरम्परा और उसके जीवन की अत्यधिक चिन्ता व्यक्त होती है तो भजन-कीर्तनो मे उसे इन वृत्तियो से मुक्त करने की चेष्टा होती है। मनुष्य जब जीवन के सताप और उसकी सीमाओ से कुठित हो जाता है, तो वह सास्कारिक लोक-गीतो की शरण लेता है। परन्तु भजन-कीर्तनो मे मनुष्य-जीवन का निराश पक्ष अवश्य प्रधान रहता है फिर भी इन मे जीवन के सतापो से व्यथित तथा भयभीत होने की प्रेरणा नही है। भजन-कीर्तनो से मनुष्य को एक आध्यात्मिक आनन्द मिलता है और उसे जीवन के सतापो को झेलने की ताकत मिलती है। पिछले तीन-चार सौ वर्षों मे पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन मे अनेक निराशाओ का समावेश होने के कारण इन गीतो का महत्त्व और भी बढ गया है।"

अत स्पष्ट है कि मानव-जीवन के विभिन्न पक्षो की सरल तथा स्वाभाविक अभि-व्यक्ति लोक-गीतो मे मिलती है उतनी और किसी मे नही। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने सच ही कहा है, "भारतवर्ष का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओ, रीति-रिवाजो और हमारे आन्तरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढग से व्यक्त नही कर सकता, जितना कि लोक-गीत कर सकते है।" इसीलिये अगर हम भारतवर्ष के विभिन्न सास्कृतिक समूहो की विशेषताओ से परिचित होना चाहते हैं तो उनके लोक-गीतो का अध्ययन आवश्यक है। लोक-गीतो के इस महत्त्व की अवहेलना सामाजिक मानव-शास्त्र का कोई भी विद्यार्थी नही कर सकता। इसका कारण यह है कि आम जनता की स्वाभाविक व्यवहार-प्रणाली किम भाँति है, उनकी प्रथा व परम्परा की अनिवार्य दिशा क्या है या रही है, उनके विश्वासो तथा विचारो की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं, इन सब मानवशास्त्रीय विषयो का विश्लेपण तथा निरूपण लोक-गीतो के अध्ययन के बिना अस-म्भव है। डा० दुबे ने लिखा है, "वेद और स्मृतियाँ भारतीय सस्कृति के जिन पक्षो के सम्बन्ध मे मौन हैं, लोक-गीत अशत उनके सम्बन्ध मे कुछ कह सकते हैं। आर्येतर सभ्यता की अनेक प्रथाएँ, जो आर्य-प्रभुत्व की स्थापना के बाद भी भारत मे बनी रही, लोक-गीतो की सहायता से समझी जा सकती हैं। इतिहास के अँधेरे पृष्ठो को भी लोक-गीत और लोक-कथाओ से यदा कदा प्रकाश की कुछ किरणें मिल सकती है। यद्यपि लोक-गीत मे किसी घटना का वर्णन होना ही इतिहास के लिये प्रमाण नही माना जा सकता, फिर भी

लोक-गीतो की दिशा-सकेत के आधार पर इतिहास-अन्वेषक अपने कार्य को आगे बढा सकता है।"

पहले ही बताया जा चुका है कि लोक-गीत की अपनी विशिष्ट परम्परा होती है। इस विशिष्ट परम्परा के माध्यम से एक समुदाय अपने सास्कृतिक तथा सामाजिक गुणो को बहुत दिनो तक स्थायी बना रख सकता है। इस दृष्टिकोण से भी लोक-गीतो का अत्यधिक महत्त्व है। अनेक मानवशास्त्रियो ने लोक-गीतो की सहायता से जनजातीय जीवन का एक पूर्ण चित्र अकित कर यह सिद्ध किया है कि भारतीय नेतृत्व के अध्ययन मे लोक-गीतो का अध्ययन, विश्लेषण तथा निरूपण कितना आवश्यक है।

नृत्य
(Dance)

शरीर की गतियो द्वारा उत्पन्न 'सुन्दर अभिव्यक्ति' को नृत्य कहते है। यह गति हाथ, पैर, आँख, शरीर के किसी अन्य अग या सारे शरीर की हो सकती है। परन्तु केवल हाथ-पैर हिलाने से ही वह नृत्य नही हो जाता है जब तक वह गति, ताल और लय के नियमो के अनुसार अर्थपूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हो। नृत्य मे शरीर या उसके किसी अग की प्रत्येक गति नृत्य देखने वाले तक एक विशिष्ट भाव को पहुँचा देती है। इसे नृत्य की 'मुद्रा' कहा जाता है। नृत्य की एक मुद्रा देखकर एक दर्शक कह सकता है कि उससे क्रोध का भाव अथवा उल्लास का भाव प्रगट हो रहा है।

नृत्य मे शरीर की एक 'विशिष्ट' गति होती है। विशिष्ट इस अर्थ मे कि नृत्य मे शरीर की गति मनमाने ढग से नही होती। इन गतियो मे सगीत की भाँति ताल (rhythm) होती है। यह ताल या तो केवल शरीर की गति द्वारा होती है या ढोल, तबला, मृदग आदि किसी एक वाद्य-यत्र या एकाधिक वाद्य-यत्रो का स्वर इसके साथ मिला रहता है। नृत्य के साथ-साथ सगीत गाया जा सकता है और नही भी गाया जा सकता है। आधुनिक नृत्य मे विशुद्ध शरीर मुद्राओ द्वारा समस्त भावो को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु फिल्मी नृत्यो मे बहुधा नृत्य के साथ सगीत का भी समन्वय किया जाता है। आदिवासी लोग भी नाच और गाने दोनो को ही सुन्दर ढग से मिला देते हैं।

नृत्य ससार के सभी देशो व हर काल मे पाया जाता है। मानव जब उल्लसित हो उठता है तो वह अपने उल्लास को नाना प्रकार से प्रगट करना चाहता है। नृत्य भी उस उल्लास को प्रकट करने का एक साधन है। केवल उल्लास ही नही, अन्य प्रकार के मनोभाव को भी नृत्य के माध्यम से प्रगट किया जा सकता है। आदिवासियो मे नृत्य की लोकप्रियता सभ्य समाज से कही अधिक है। वहा तो बच्चा-बच्चा नृत्य का शौकीन होता है। जनजातीय समाजो की परम्परा के अनुसार उनके प्रत्येक उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह, पर्व समारोह, मनोविनोद तथा उमग के समय तथा धार्मिक तथा सास्कारिक समारोह का नृत्य एक अनिवार्य अग है। इनके बिना सभी आनन्द-क्षण फीके होते हैं।

जनजातीय समाजो मे उत्सव, त्योहार आदि के अवसर पर स्त्री-पुरुष सब मिलकर नाचते-गाते हैं। नाचते समय वे लोग प्राय घेरा बनाकर नाचते हैं। दो पक्तियो मे आमने-सामने खडे होकर भी नाचा जाता है। इन पक्तियो मे किसी-किसी समाज मे स्त्री-

पुरुष मिल-जुलकर नाचते है। ऐसी दशा मे प्रत्येक पक्ति मे स्त्री और पुरुष दोनो ही होते हैं। पर किसी-किसी जनजातीय समाज मे एक पक्ति केवल पुरुषो की होती है और दूसरी केवल स्त्रियो की। जोडे मे नाचने की रीति भी अनेक जनजातीय समाजो मे लोक-प्रिय है। अण्डमानी-लोगो मे स्त्रियाँ नृत्य मे सम्मिलित नही होती। पॉलिनेशिया, अफ्रीका आदि मे नाचते हुए घेरा बनाने की रीति है। वे लोग नाचते हुए बहुधा दो घेरे बना लेते हैं—स्त्रियाँ अन्दर के घेरे मे और पुरुष बाहर के घेरे मे आ जाते हैं।

वास्तव मे प्रत्येक जनजाति मे नृत्य का अपना-अपना तरीका होता है फिर भी इन समाजो मे सामूहिक नृत्य का अधिक प्रचलन है। सामूहिक नृत्य भी अनेक प्रकार से किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, पॉलिनेशिया के लोग बैठे-बैठे शरीर की गतियाँ करते हैं, उत्तर-पश्चिम तटवर्ती इण्डियन प्रत्येक ताल पर घुटने झुकाकर, हथेली सामने कर और शिरोभाग को कम्पन देते हुए नाचते हैं।[3] कही-कही पर एक-दूसरे की कमर पकडकर नाचा जाता है और किसी-किसी समाज मे नाचने के दौरान मे उछल-कूद का बोलवाला होता है।

जनजातियो मे 'अनुकरण-नृत्य' (mimetic dancing) का अधिक प्रचलन है। वे तरह-तरह के चेहरे लगाकर अपने को शिकारी, जादूगर, राजा अथवा कोई जानवर के रूप मे प्रस्तुत करते हैं और फिर उसी के अनुसार नृत्य करते हैं। अगर वह राजा के रूप मे अपने को प्रस्तुत करता है तो राजा के प्रमुख व्यवहारो की नकल वह करता है और नाचते हुए नाना प्रकार की अग-भगिमा के द्वारा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। अगर वह शिकारी के रूप मे नृत्य करता है तो वह नृत्य के द्वारा शिकार करने, शिकार फँसाने तथा उसे मारने की विभिन्न प्रक्रियाओ को प्रस्तुत करता है। बुशमेन, आस्ट्रेलिया, कैलीफोर्निया तथा भारत की कुछ जनजातियाँ इस प्रकार के नृत्य मे बहुत कुशल होती हैं।

भारत में लोक-नृत्य
(Folk-dance in India)

भारत के विभिन्न राज्यो मे लोक-नृत्य के असख्य रूप देखने को मिलते हैं। इनमे नृत्य-भगिमा, छन्द, गीत, वाद्य-यत्र व साज-पोशाक मे जो विलक्षणता और अन्तर देखने को मिलता है उस आधार पर किसी भी राज्य या प्रदेश के लोक-नृत्य की श्रेष्ठता का विचार करना वास्तव मे कठिन कार्य है। उदाहरणार्थ, काठियावाड के रास-नृत्य की तुलना अगर उत्तर-पूर्व प्रान्त के नागा सम्प्रदाय के नृत्यो के साथ की जाय तो हम यह देखेंगे कि इन दोनो प्रकार के नृत्यो मे बहुत अधिक अन्तर है। साधारण दर्शक रास-नृत्य को ही अधिक उत्तम मान लेंगे परन्तु नागा लोगो के नृत्य मे जो सहज व सरल छन्दमय एक माधुर्य है उसकी उपेक्षा भी शायद ही की जा सकती है। वास्तव मे बाहरी भेद होते हुए भी सभी भारतीय लोक-नृत्यो की कुछ सामान्य विशेषताएँ है जिन्हें कि निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है —

3 *Ibid*, p 605

(१) अधिकतर भारतीय लोक-नृत्य दलवद्ध सामाजिक नृत्य हैं । ये नृत्य व्यावसायिक नृत्य नही हैं । व्यावसायिक नृत्य मे थोडा-बहुत चमत्कारिक या तडक-भडक होनी स्वाभाविक है, ताकि दर्शको का ध्यान अधिक आकर्षित हो। लोक-नृत्य मे यह नही होता । अन्य शिल्पकलाओ की भाँति लोक-नृत्य का उद्देश्य भी समाज के सामूहिक जीवन को पूर्णता प्रदान करना है । इस कारण इसका कलाकार नृत्य मे अश ग्रहण करता है दूसरो का ध्यान आकर्षित करने या आजीविका-पालन करने के लिए नही बल्कि आत्म-सन्तोष तथा आत्म-विनोद के लिये ।

(२) दलबद्ध लोक नृत्य एकता और समरूपता का नृत्य है। यह है एक साथ, एक छन्द मे सबका नृत्य। इसीलिये नाचते समय सबका हृदय एक प्रकार की एकता और मिलन के सूत्र मे बँध जाता है । नृत्य मे जो लोग भाग लेते हैं वे विभिन्न आयु, विचार तथा मनोवृत्ति के व्यक्ति होते है । परन्तु नाचने के समय मन तथा शरीर की ये सब भिन्नताएँ स्वत ही दूर हो जाती हैं और वे सब अपने भेद-भाव को भूलकर एक तन और एक मन होकर नृत्य मे भाग लेते हैं। एकता का यह वातावरण लोक-नृत्य की ही नही सम्पूर्ण समाज की एक अमूल्य सम्पदा है क्योकि सामाजिक सगठन के दृष्टिकोण से यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ।

(३) छन्द की गति लोक-नृत्य की एक विशेष उल्लेखनीय वस्तु है । नृत्य का प्रारम्भ किसी भी लय से क्यो न हो, परन्तु उसके बाद धीरे-धीरे छन्द की गति बढती रहती है । किन्तु यह परिवर्तन इतने सहज व स्वाभाविक ढग से होता है कि नृत्य मे भाग लेने वाले लोग उसे अनुभव ही नही करते । द्रुत छन्द की गति के समय नाचने वालों को काफी शारीरिक परिश्रम करना पडता है परन्तु उस समय वे लोग नृत्य के आनन्द-सागर मे इस भाँति डूबे रहते हैं कि शारीरिक परिश्रम का प्रश्न ही उनके मन मे नही उठता है । छन्द की गति बढने का भी यही कारण है । लोगो मे धीरे-धीरे आनन्द की धारा जोश के रूप मे एकत्रित होती रहती है जिसकी बाहरी अभिव्यक्ति छन्द की गति मे वृद्धि के रूप मे होती है । नृत्य का उन्मादक आनन्द नाचने वाले के छन्द मे गति ला देता है जो कि धीरे-धीरे बढता ही चला जाता है। भरपूर आनन्द मे शिल्पी झूमता रहता है । लोक-नृत्य की यही सार्थकता है ।

(४) भारतवर्ष का अधिकतर लोक-नृत्य गीत तथा ताल देने वाले वाद्य-यन्त्रों के साथ प्रस्तुत किया जाता है। और केवल ताल देने वाले वाद्य-यत्र (जैसे, ढोल, ढोलक, मृदग आदि) ही नही, बल्कि अन्य प्रकार के वाद्य-यन्त्र जैसे बाँसुरी, शहनाई, तुरही आदि का भी सम्मिलन बहुधा होता है। परन्तु ऐसे भी लोक-नृत्य होते हैं जिनमे कि किसी भी प्रकार के वाद्य यत्र का प्रयोग नही किया जाता, केवल नाचने वाले मुँह से या ताली बजाकर ताल देते रहते हैं । भिन्न-भिन्न तरह के नृत्यो के साथ अलग-अलग तरह के गीत गाये जाते हैं । इस सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन गीतो के भाव के साथ दलबद्ध लोक-नृत्य का कोई सम्बन्ध नही होता । अर्थात् गीत के शब्दो से जो अर्थ प्रगट होता था उसी अर्थ को नृत्य की मुद्राओ या अग-भगिमाओ के माध्यम से प्रकाशित करने का प्रयत्न नही किया जाता ।

(५) लोक-नृत्य मे प्रयोग की जाने वाली पोशाको मे जातीय तथा क्षेत्रीय विशेषताएँ अवश्य ही होती हैं। ऐसे भी भारत के प्रत्येक प्रदेश मे वेश-भूषा मे पर्याप्त अन्तर दिखायी देता है। नृत्य के समय भी शिल्पी अपने प्रदेश की विशिष्ट वेश-भूषा को ही शोभन व सुन्दर रूप मे पहनते है। नृत्य के समय शिल्पी अपनी सामर्थ्य के अनुसार नाना रग की तथा नाना प्रकार की बेल-बूटेदार वेश-भूषा को व्यवहार करते हैं। ये पोशाके दैनिक जीवन मे नही पहनी जाती।

(६) भारतीय लोक-नृत्य बहुधा गोल घेरा बनाकर नाचा जाता है, परन्तु कभी-कभी एक या एकाधिक पक्ति बनाकर भी नाचा जाता है।

(७) लोक-नृत्य के साथ जो लोग वाद्य-यत्रो को बजाते है वे आधुनिक नृत्य मे बाजा बजाने वालो की भाँति एक कोने मे या पर्दे की ओट मे बैठकर वाद्य-यत्र को नही बजाया करते। उनका इससे कही अधिक सक्रिय भाग नृत्य मे होता है। यह भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण नृत्य मे वे एक अभिन्न अग के रूप मे क्रियाशील रहते हैं। वे नाचने वालो के बीच, सामने, बगल या उनके चारो ओर उपस्थित रहकर वाद्य-यत्रो को बजाते हुए अपने शरीर के विभिन्न अगो को प्राय उसी प्रकार हिलाते रहते है जैसा कि नाचने वाले कर रहे हैं।

उपरोक्त विशेषताओ को और भी स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण के रूप मे हम 'कुमायूँ के उल्लासमय लोक-नृत्य'[4] का विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

कुमायूँ के लोक-नृत्य—कुमायूँ के लोक-नृत्य भी अपने ढग के निराले ही हैं। इन लोक-नृत्यो मे कुमायूँ के जन-जीवन का हास-उल्लास सभी कुछ अभिव्यक्त है। साधारण त्योहार, मेल-मिलाप और मेले के अवसरो पर कुमायूँ के युवक और युवतियाँ मिल-जुलकर अपने लोक नृत्यो मे मस्त दिखायी देते हैं।

कुमायूँ के लोक-नृत्यो मे 'चाचरी' और 'छपेली' अपना विशेष महत्त्व रखते हैं और यही यहाँ के लोकप्रिय नृत्य माने जाते हैं। 'चाचरी' लोक-नृत्य सर्वाधिक लोकप्रिय है। एक वृत्ताकार मण्डल मे स्त्री-पुरुष एकत्र होकर चाचरी नृत्य शुरू करते हैं। इसमे भाग लेने वाले नाना रग की वेश-भूषा तथा नाना प्रकार के आभूषणो से अपने को सजाकर आते हैं। ऊँचे पर्वतो की गोद मे मस्त छिटकी हुई चाँदनी के मोहक प्रकाश मे कुमायूँ के तरुण और तरुणियाँ भी चाचरी नृत्य करते हुए मस्ती से झूम उठते है। अपना हुडका (एक प्रकार का छोटा ढोलक जैसा बाजा) लेकर हुडकिया वृत्त के बीच मे हुडका बजाता हुआ, गीत के आलाप लेता हुआ, स्वय भी नाचता है। और उसकी हुडकी की नाल के साथ-साथ वृत्त मे बाजू से बाजू मिलाये हुए स्त्री-पुरुष गीत गाते हुए मस्ती से नाचते और झूमते रहते हैं।

दो तारो से बना हुआ 'दोतारा' कितना मधुर सगीत देता है। चाचरी नृत्य के साथ गाये जाने वाला गीत भी यही कहता है —

'दो तारी को तार तिलका दो तारो को तार,
कनो रौ यो दिनमाशा हो उनै रौं बहार।'

4 Exclusively based on Shree Umashanker Satish's article in 'Dharmayug' July 12, 1959, p 25

अर्थात् तेरा-मेरा मिलन उस जीवन-सगीत की सर्जना करेगा जिसकी सर्जना दो-तारे का सगीत करता है। यह दिन और यह मास इसी प्रकार आते रहे और आती रहे ऐसी ही बहार भी।

इस प्रकार की गीत की लडियो के साथ चाचरी नृत्य चलता रहता है। हुडकिया बदलते हैं, गायक बदलते हैं—आराम लेते हैं और नये-नये कलाकार नाचने के हेतु वृत्त मे प्रवेश करते हैं। घेरे कभी-कभी दो बन जाते हैं—स्त्रियाँ अन्दर के घेरे मे और पुरुष बाहर के घेरे मे आ जाते है। चाँदनी बेचारी थककर सो जाती है, पर चाचरी मे चचल चरण मानो रुकना ही नही जानते।

कुमायूँ का दूसरा लोकप्रिय नृत्य 'छपेली' है। हुडकिया अपनी हुडकी लिये, अपनी आकर्षक वेशभूषा मे नाचता है और कुमायूँ की रूपसी अपने रग-बिरगे घाघरा और सदरी, मोतियो की माला, सोने-चाँदी के जेवरो से लदी हुई और शीश-रूमाल के साथ युवक के नयनो से कटाक्ष करती हुई झूम-झूमकर नाचती है। एक ओर मस्ती से गाते, तालियाँ बजाते तरुण-तरुणियाँ खडे दोनो का नृत्य देखते रहते हैं। गीत और उसके भाव इस प्रकार हैं —

बेडु पाको बारमाशा हो नारैण काफल पाको चैता मेरी छैला।
खड़ा-भूड़ा दिन आया हो नारैण पूजा मेरा मैता मेरा छैला।
तेरा खूटा कानो बूड़ो हो नारैण मेरा खोटा पीड़ा मेरी छैला।
मेरो हियो भरी ऊ छ हो नारैण जसो नैनीताल मेरी छैला।

अर्थात् गूलर बारह महीने पकता रहता है, और काफल केवल चैत मे ही। समय चूक गया तो फिर हाथ नही आता। लो, गर्मी के उदासीन दिन भी लौट आये। मायके की स्मृति मे रूपसी का हृदय भर आता है जैसे नैनीताल का ताल और तब प्रेमी प्रेम-भरे स्वरो मे कहता है, ओह! मेरी छैला उस पहाड की चोटी पर तुम कौन हो, भोर के तारे के समान आओ, शान्ति के प्रीति-गीत गाएँ।

SELECTED READINGS

1 Boas and Others *General Anthropology*, D C Heath & Co, New York, 1938

2 Dubey, S C. *Manav aur Sanskriti*, Raj Kamal Prakashan, Delhi, 1960.

3 Herskovits, M J *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956.

१७

पौराणिक कथाएँ तथा लोक-गाथाएँ

(MYTHOLOGY AND FOLK-TALES)

विषय सूची—सत्रहवाँ अध्याय

१. भूमिका
२. पौराणिक कथाओ और लोक-गाथाओं मे अन्तर
३ पौराणिक कथा का अर्थ
४ पौराणिक कथा की उत्पत्ति
५ पौराणिक कथाओं की विशेषताएँ
६. पौराणिक कथाओ का महत्त्व
७ पौराणिक कथाओं के कुछ उदाहरण
८. लोक-गाथाएँ
९ लोक-गाथाओं की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ
१० लोक-गाथाओं का महत्त्व
११ लोक-गाथाओं के कुछ उदाहरण

अध्याय १७

पौराणिक कथाएँ तथा लोक-गाथाएँ (Mythology and Folk tales)

'कल्पना' मानव का आदि-सहचर है। कल्पना की सहायता से आदिकाल से ही मानव धरती को छोडकर स्वर्ग या नरक तक घूम आता है, आकाश की सैर करता है। कल्पना की लम्बी उडान उसे कही भी ले जा सकती है और एक वैचित्र्यपूर्ण नव-लोक की सृष्टि कर सकती है। सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि दोनो के लिये ही कुछ न कुछ कल्पना की आवश्यकता होती है और ये दोनो प्रवृत्तियाँ मानव मे नैसर्गिक रूप से विद्यमान होती हैं और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति चित्रकला, मूर्तिकला, सगीत, नृत्य, पौराणिक कथा तथा लोक-गाथा के रूप मे होती है। पौराणिक कथाओ तथा लोक-गाथाओ मे कल्पना की सहायता सर्वाधिक ली जाती है और उससे एक कथा, गाथा या कहानी खडी की जाती है जिसे कि दूसरो को सुनाकर अपनी कल्पना को सार्थक किया जाता है। डा० दुबे ने लिखा है कि "मानवीय कलाओ मे कहानी कहने की कला अत्यन्त प्राचीन है। लेखन के आविष्कार के सहस्रो वर्ष पूर्व से ही मानवीय मस्तिष्क ने अपनी वैचित्र्यपूर्ण अनुभूतियो को कथा का रूप देना प्रारम्भ कर दिया था, और इन कहानियो के माध्यम से उसके अपरिपक्व, अस्पष्ट जीवन-दर्शन की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति हुई थी।"

पौराणिक-कथाओ तथा लोक-गाथाओ मे अन्तर (Distinction between Myths and Folk-tales)

श्री बोआस (Boas) का मत है कि पौराणिक कथाओ तथा लोक-गाथाओ के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खीचना प्राय असम्भव है। इसका कारण यह है कि एक ही कहानी पौराणिक कथा और लोक-गाथा दोनो ही रूपो मे प्रस्तुत की जा सकती है। अगर हम पौराणिक कथाओ को प्राकृतिक घटनाओ (natural phenomena) से सम्बन्धित मानें तो भी कठिनाई यह है कि लोक-गाथाओ का सम्बन्ध भी प्राकृतिक घटनाओ से हो या नही हो सकता है। धार्मिक आधारो पर भी इन दोनो को पृथक् नही किया जा सकता क्योकि दोनो मे ही धर्म के तत्त्व मौजूद हो सकते है।[1] फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिये हम इन दोनो मे निम्नलिखित भेद को आधार मान सकते हैं —

पहला अन्तर तो यह है कि पौराणिक कथा प्राचीन काल से ही अधिकतर सम्बन्धित होती है जब कि लोक गाथाएँ अधिक से अधिक 'बहुत दिन पहले की बात' होती है। दूसरा अन्तर यह है कि पौराणिक कथाओ की विषय-वस्तु मे सृष्टि की उत्पत्ति, देवी-

1 Franz Boas, "Mythology and Folklore", *General Anthropology*, D C Heath and Co , New York, 1938, p. 609

देवताओ का वर्णन, प्राकृतिक घटनाओ (natural phenomena) जैसे जल, पृथ्वी, आकाश, वायु आदि के रहस्यो का विश्लेपण तथा निरूपण होता है। इसके विपरीत लोक-कथाओ की विषय-वस्तु मानव स्वय—या तो सुख-दुख का साधारण मानव या राजा, रानी, राजकुमार और राजकुमारी के रूप मे मानव—होता है। बहुधा मानव को छोडकर लोक-कथाएँ अपने अन्दर भूत, प्रेत, चुडैल, दानव आदि को भी समेट लेती हैं। तीसरा अन्तर यह है कि पौराणिक कथाओ का उद्देश्य सृष्टि या प्रकृति या देवी-देवताओ से सम्बन्धित गहन तत्त्वो की गहराई मे जाने का प्रयत्न करना और उनके रहस्यो को उद्घाटित करके प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे ज्ञान-वर्धन करना होता है। पौराणिक कथाओ मे धार्मिक हितोपदेश के तत्त्व भी कभी-कभी छिपे होते है। इसके विपरीत लोक-गाथाओ का उद्देश्य मुख्यत मन-बहलाना या मनोरजन करना ही होता है, यद्यपि इनके माध्यम से भी किसी न किसी प्रकार के उपदेश, आदर्श या सामाजिक मूल्य को प्रस्तुत करने का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रयत्न किया जाता है।

पौराणिक कथा
(Mythology)

पौराणिक कथा का अर्थ
(Meaning of Mythology)

उपरोक्त विवेचना से ही पौराणिक कथा की प्रकृति तथा अर्थ बहुत-कुछ स्पष्ट हो गया है। यहाँ पर सक्षेप मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पौराणिक युग से सम्बन्धित वह कथाएँ जिनमे सृष्टि या ससार की उत्पत्ति, देवी-देवताओ का वर्णन और प्राकृतिक घटनाओ के तत्त्वो का निरूपण हो, उन्हे पौराणिक कथाएँ कहते हैं। एक विद्वान ने पौराणिक कथा को 'बालक-सुलभ दर्शन' कहकर परिभाषित किया है। कुछ लोगो का मत है कि केवल उन कथाओ को ही पौराणिक कथाओ के अन्तर्गत सम्मिलित करना चाहिये जिनके माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना का वर्णन किया जाय। परन्तु पौराणिक कथाओ का यह एक सकुचित अर्थ होगा। इन कथाओ मे केवल सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना का ही वर्णन नही होता, वरन् अन्य अनेक दैवीय घटनाओ का वर्णन होता है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की जनजातियाँ अपने पूर्वजो के भूत-प्रेतो के साथ युद्ध, जादूगरनियो और डायनो के साथ उनकी मुठभेड आदि के सम्बन्ध मे भी अनेक दैवीय घटनाओ का उल्लेख पौराणिक कथाओ मे करती हैं। उसी प्रकार कोरयक (Koryak) जनजाति के पुजारी की दुष्ट प्रेतात्मा के साथ हाथापाई या ईसाइयो के सन्त महन्तो का शैतान के साथ युद्ध का जो वर्णन मिलता है, वे सभी पौराणिक कथाएँ हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वे कथाएँ जो कि मानव तथा विश्व की उत्पत्ति, प्राकृतिक जगत्, मानव-शरीर, जीवन तथा सस्थाओ से सम्बन्धित हैं, उन्हें पौराणिक कथा कहते हैं।

पौराणिक कथाओ की उत्पत्ति
(Origin of Mythology)

अज्ञात के विषय मे जानने की इच्छा मानव की एक निरन्तर इच्छा है जो कि

शायद उतनी ही पुरानी है जितना कि स्वय मानव और उसका समाज। आदिमानव अपने को देखता है, अपने आस-पास के 'जगत्' को देखता है, प्रकृति की अनेक घटनाएँ—जल, पृथ्वी, वायु, आकाश, नदी, समुद्र, पहाड, आँधी, वर्षा आदि को देखता और चकित होता है। ये सब कब बने, कैसे बने और किसने बनाये—ऐसे ही अनेक प्रश्न आदिमानव के मन और मस्तिष्क के द्वार पर बार-बार आघात कर जाते हैं और उसे इन विषयो पर सोचने-विचारने के लिये बाध्य करते हैं। आदिमानव सोचता है और सोचकर अपनी योग्यता व अनुभव के अनुसार वह एक सम्भावित उत्तर ढूंढ भी निकालता है और उसे दूसरो को कहकर सुनाता है। यही से पौराणिक कथा का बीजारोपण होता है। चूँकि मानव को हर चीज की व्याख्या के लिए किसी न किसी आधार की आवश्यकता होती है, इसलिये वह कभी देव-देवी को, तो कभी साधु-सन्त को, तो कभी सूर्य-चन्द्र या पशु-पक्षी को व्यक्ति के रूप मे मानकर अपनी कथा को विश्वासयोग्य बनाने का प्रयत्न करता है। इसी रूप मे मानव अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये ही नही, बल्कि अपनी आशा, आकाक्षा, आदर्श तथा इच्छाओ को अभिव्यक्त करने का भी एक साधन ढूंढ लेता है। यही से पौराणिक कथाओ का इतिहास प्रारम्भ होता है।

कुछ लोगो का कथन है कि पौराणिक कथा केवल कल्पना की लघु उडान मात्र (light play of imagination) है। परन्तु ऐसा नही है। श्री बोआस (Boas) का कथन है कि पौराणिक कथाओ की विषय वस्तु का महत्त्व तथा जिस गम्भीरता से इस विषय वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है उसे देखते हुए यह कहना अधिक उचित होगा कि पौराणिक कथाएँ ससार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे, सास्कृतिक कृतियो तथा पवित्र सस्कारो के सम्बन्ध मे मानव के सुचिन्तन का ही परिणाम हैं।[2]

श्री हैडले के अनुसार, "वस्तुओ की उत्पत्ति की समस्या के सम्बन्ध मे मनुष्य की कल्पना-शक्ति ने समय समय पर जो उत्तर दिया है, पौराणिक कथाएँ उनका प्रतिनिधित्व करती हैं।" लार्ड रेगलेन ने इस विचार का विरोध करते हुए लिखा है कि श्री हैडले का यह कहना गलत है कि पौराणिक कथाओ की उत्पत्ति केवल कल्पना व कौतुहल के फलस्वरूप हुई है। वास्तव मे पौराणिक कथाएँ वस्तु स्थिति का यथार्थ चित्र हैं क्योकि आदिमानव को ऐसी किसी वस्तु मे रुचि नही होती है जो उसकी चेतना को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित न करती हो। इस कारण, लार्ड रेगलेन के अनुसार, पौराणिक कथाओ की उत्पत्ति मे कौतुहल को आधार मानना अनुचित है क्योकि कौतुहल का न केवल आदिकालीन समाज मे सर्वथा अभाव है, वरन् वह अपेक्षाकृत सभ्य समाजो मे भी बहुत कम पाया जाता है। लार्ड रेगलेन के इस मत से वे सभी विद्वान असहमत है जिन्हें आदि-समाजो और आदिवासियो को अधिक निकट से देखने तथा जानने का अवसर प्राप्त हुआ है। श्री वैरियर एलविन (Verrier Elwin) ने लार्ड रेगलेन के उपरोक्त मत की आलोचना करते हुए कहा है, "मैं केवल यही कल्पना कर सकता हूँ कि आदिवासियो के सम्बन्ध मे

2 "The importance of the subject matter and the seriousness with which they are treated suggest that they are the result of thought about the origin of the world and of wonder about cultural achievements and the meaning of sacred rites" *Ibid*, p 616

लार्ड रेगलेन का ज्ञान उतना ही है जितना कि किसी अज्ञात कुत्ते का पशुओ के एक झुण्ड के विषय मे होता है। व्यक्तिगत अनुभव मे मैं कह सकता हूँ कि आदिवासी प्राय कभी भी उतने जड नही होते जैसे कि वे प्रथम दृष्टि मे प्रतीत होते है। कौतुहल-शून्य होना तो दूर रहा, उनमे से अनेक अपना बहुत-सा समय अतिशय असाधारण विचारो और कल्पनाओ मे व्यतीत करते है।"

अत. स्पष्ट है कि सृष्टि की उत्पत्ति, प्राकृतिक जगत् की अनेक आश्चर्यजनक घटनाओ तथा मानव-शरीर तथा जीवन से सम्बन्धित घटनाओ के सम्बन्ध मे जिज्ञासा आदिमानव के मन मे होती है जिसके फलस्वरूप वह उन विषयो के सम्बन्ध मे सोचता-विचारता या कल्पना करता है और अपने अनुभव या पूर्व ज्ञान के आधार पर उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। पौराणिक कथाओ की उत्पत्ति का यही आधार है।

पौराणिक कथाओ की विशेषताएँ (Characteristics of Mythology)

(१) **व्यक्तिकरण** (Personification)—पौराणिक कथाओ की सर्वप्रमुख विशेषता यह होती है कि इसमे पशु, पक्षी, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा यहाँ तक कि पेड-पौधे तक को व्यक्ति का रूप दे दिया जाता है और इसीलिये पौराणिक कथाओ मे पेड-पौधे से लेकर पशु-पक्षी, सूर्य-चन्द्र तक सभी व्यक्ति की भाँति व्यवहार कर सकते हैं, बोल सकते हैं, यहाँ तक कि मानव-शिशु को भी जन्म दे सकते है। कुछ विद्वान इसका कारण यह बताते है कि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पेड आदि की शक्ति से आदिमानव बहुत ज्यादा प्रभावित था। इन्हें व्यक्ति के रूप मे मान लेने से कथा कहने मे भी सरलता होती थी।

(२) **कल्पना और दर्शन का मिश्रण**—पौराणिक कथाओ के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमे कल्पना और दर्शन का एक अपूर्व मिश्रण होता है। आदिमानव किसी विषय मे गम्भीरतापूर्वक सोचता है। परन्तु इस सोचने की प्रक्रिया का कोई वैज्ञानिक आधार न होने के कारण उसे कल्पना की सहायता लेनी ही पडती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि पौराणिक कथाओ को कोरी कल्पना की उडान मान लिया जाय। वास्तव मे, सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति, गुण आदि गम्भीर विषय हैं। इनके विषय मे मानव को सन्तोषप्रद उत्तर तब तक नही मिल सकता जब तक वह उनके विषय मे गम्भीर चिन्तन न करे। इसीलिये यह कहा जा सकता है कि मानव दार्शनिक के रूप मे, कल्पना की सहायता लेते हुए, सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषयो के सम्बन्ध मे जिस निष्कर्ष पर आया है वही पौराणिक कथाओ के रूप मे विकसित हुआ है।

(३) **प्राचीनता**—पौराणिक कथा वर्तमान युग की कथा नही होती है। इसका सम्बन्ध तो पौराणिक काल से ही होता है। प्राय पौराणिक कथा एक ऐसे युग से सम्बन्धित होती है जिसके सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। यह विशेषता पौराणिक कथाओ को प्रभावपूर्ण करने मे सहायक सिद्ध होती है। चूंकि पौराणिक कथा मे जो कुछ कहा गया है वह सच है या झूठ, यह प्रमाणित नही किया जा सकता, इस कारण उसके प्रति लोगो का विश्वास बना रहता है और मानव मस्तिष्क पर उसका गहरा प्रभाव पडता है।

(४) **कोई सामान्य रूप नहीं**—पौराणिक कथाओ मे कोई एक सामान्य शैली व रूप नही होता। किन्ही-किन्ही कथाओ मे अलकार का आधिक्य होता है, और कुछ कथाओ मे आश्चर्यजनक सरलता। पौराणिक कथाओ को कहानी के रूप मे ही अधिकतर प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु कविता, गीत या नाटक के रूप मे भी उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। किसी-किसी पौराणिक कथा मे साहित्यिकता का नाम तक नही होता और किसी-किसी मे यह तत्त्व कूट-कूटकर भरा होता है। उसी प्रकार कुछ पौराणिक कथाएँ अति सरल ढग से प्रस्तुत की जाती हैं और कुछ कथाएँ बोझिल तथा पाण्डित्यपूर्ण होती हैं। कुछ कथाओ को कुछ मिनटो मे सुनकर समाप्त किया जा सकता है और कुछ को सुनकर समाप्त करने मे कई सप्ताह और मास तक लग जाते हैं।

पौराणिक कथाओ का महत्त्व
(Importance of Mythology)

मानव-जीवन मे, विशेषकर आदिमानव के जीवन मे पौराणिक कथाओ का अत्यधिक महत्त्व है। सक्षेप मे, इसकी विवेचना हम इस प्रकार कर सकते हैं —

(क) श्री अनातोले फ्रास (Anatole France) के शब्दो मे, "राष्ट्र अपनी पौराणिक कथाओ पर जीवित रहता है, अपनी लोक-गाथाओ से वे जीवन के लिये आवश्यक विचार ग्रहण करते हैं। उन्हें अधिक आवश्यकता नही होती, थोडी-सी उपदेशात्मक कथाएँ ही लाखो प्राणो को प्रेरणा देने के लिये पर्याप्त होती हैं।"[3] इस अर्थ मे पौराणिक कथाएँ मानव-जीवन के लिये आवश्यक प्रेरणा का मूल स्रोत हैं। पौराणिक कथाओ के माध्यम से मानव को अनेक नवीन बातो का पता चलता है, अनेक नवीन सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यो (values) से उसका परिचय होता है जिससे वह अपने जीवन के भावी कार्यक्रम को निश्चित करता है और जीवित रहने की प्रेरणा पाता है। इस प्रकार पौराणिक कथाएँ वह नीव प्रदान करती हैं जिसपर कि समाज के आचार-विचार आश्रित होते हैं।

(ख) डा० दुबे के अनुसार, पौराणिक कथाओ मे "लोक-जीवन की भौतिक एव धार्मिक चेतना का मूल स्रोत निहित रहता है। अन्तत ये मानव-समुदायो के सास्कृतिक दृष्टिकोण एव जीवन-मूल्यो को निश्चित कर लोक-जीवन को स्थिरता और स्थायित्व देती हैं।" इस अर्थ मे सामाजिक निरन्तरता को बनाये रखने के लिये आवश्यक सामाजिक अन्त क्रियाओ मे जो-जो चीजें महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करती हैं, उनमे पौराणिक कथाएँ भी एक हैं। पौराणिक कथाओ के माध्यम से मानव अपने समाज के अतीत (past) की झाँकी देखता है और उस 'आदर्श रूप' को फिर से लौटा लाने का प्रयत्न करता है।

(ग) व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी पौराणिक कथाओ का महत्त्व कम नही है। यद्यपि इन कथाओ को मनोरजन का साधन मात्र ही मानना उचित न होगा, फिर भी इन कथाओ को सुनते समय इनपर विश्वास करने वाले सासारिक कष्ट को भूल जाते

---

3 "Nations live on mythology, From legends they draw all the ideas necessary to their existence They do not need many, and a few simple fables will suffice to guild millions of lives" Anatole France, quoted from M J Herskovits, *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956, p 414

लार्ड रेगलेन का ज्ञान उतना ही है जितना कि किसी अज्ञात कुत्ते का पशुओ के एक झुण्ड के विषय मे होता है। व्यक्तिगत अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि आदिवासी प्राय. कभी भी उतने जड नही होते जैसे कि वे प्रथम दृष्टि मे प्रतीत होते है। कौतूहल-शून्य होना तो दूर रहा, उनमे से अनेक अपना बहुत-सा समय अतिशय असाधारण विचारो और कल्पनाओ मे व्यतीत करते है।"

अत स्पष्ट है कि सृष्टि की उत्पत्ति, प्राकृतिक जगत् की अनेक आश्चर्यजनक घटनाओ तथा मानव-शरीर तथा जीवन से सम्बन्धित घटनाओ के सम्बन्ध मे जिज्ञासा आदिमानव के मन मे होती है जिसके फलस्वरूप वह उन विषयो के सम्बन्ध मे सोचता-विचारता या कल्पना करता है और अपने अनुभव या पूर्व ज्ञान के आधार पर उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। पौराणिक कथाओ की उत्पत्ति का यही आधार है।

पौराणिक कथाओ की विशेषताएँ
(Characteristics of Mythology)

(१) **व्यक्तिकरण** (Personification)—पौराणिक कथाओ की सर्वप्रमुख विशेषता यह होती है कि इसमे पशु, पक्षी, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा यहाँ तक कि पेड-पौधे तक को व्यक्ति का रूप दे दिया जाता है और इसीलिये पौराणिक कथाओ मे पेड-पौधे से लेकर पशु पक्षी, सूर्य-चन्द्र तक सभी व्यक्ति की भाँति व्यवहार कर सकते हैं, बोल सकते हैं, यहाँ तक कि मानव-शिशु को भी जन्म दे सकते हैं। कुछ विद्वान इसका कारण यह बताते है कि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पेड आदि की शक्ति से आदिमानव बहुत ज्यादा प्रभावित था। इन्हें व्यक्ति के रूप मे मान लेने से कथा कहने मे भी सरलता होती थी।

(२) **कल्पना और दर्शन का मिश्रण**—पौराणिक कथाओ के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमे कल्पना और दर्शन का एक अपूर्व मिश्रण होता है। आदिमानव किसी विषय मे गम्भीरतापूर्वक सोचता है। परन्तु इस सोचने की प्रक्रिया का कोई वैज्ञानिक आधार न होने के कारण उसे कल्पना की सहायता लेनी ही पडती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि पौराणिक कथाओ को कोरी कल्पना की उडान मान लिया जाय। वास्तव मे, सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति, गुण आदि गम्भीर विषय हैं। इनके विषय मे मानव को सन्तोषप्रद उत्तर तब तक नही मिल सकता जब तक वह उनके विषय मे गम्भीर चिन्तन न करे। इसीलिये यह कहा जा सकता है कि मानव दार्शनिक के रूप मे, कल्पना की सहायता लेते हुए, सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषयो के सम्बन्ध मे जिस निष्कर्ष पर आया है वही पौराणिक कथाओ के रूप मे विकसित हुआ है।

(३) **प्राचीनता**—पौराणिक कथा वर्तमान युग की कथा नही होती है। इसका सम्बन्ध तो पौराणिक काल से ही होता है। प्राय पौराणिक कथा एक ऐसे युग से सम्बन्धित होती है जिसके सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। यह विशेषता पौराणिक कथाओ को प्रभावपूर्ण करने मे सहायक सिद्ध होती है। चूंकि पौराणिक कथा मे जो कुछ कहा गया है वह सच है या झूठ, यह प्रमाणित नही किया जा सकता, इस कारण उसके प्रति लोगो का विश्वास बना रहता है और मानव मस्तिष्क पर उसका गहरा प्रभाव पडता है।

(४) **कोई सामान्य रूप नहीं**—पौराणिक कथाओ मे कोई एक सामान्य शैली व रूप नही होता। किन्ही-किन्ही कथाओ मे अलकार का आधिक्य होता है, और कुछ कथाओ मे आश्चर्यजनक सरलता। पौराणिक कथाओ को कहानी के रूप मे ही अधिकतर प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु कविता, गीत या नाटक के रूप मे भी उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। किसी-किसी पौराणिक कथा मे साहित्यिकता का नाम तक नही होता और किसी-किसी मे यह तत्त्व कूट-कूटकर भरा होता है। उसी प्रकार कुछ पौराणिक कथाएँ अति सरल ढग मे प्रस्तुत की जाती है और कुछ कथाएँ बोझिल तथा पाण्डित्यपूर्ण होती है। कुछ कथाओ को कुछ मिनटो मे सुनकर समाप्त किया जा सकता है और कुछ को सुनकर समाप्त करने मे कई सप्ताह और मास तक लग जाते है।

पौराणिक कथाओ का महत्त्व
(Importance of Mythology)

मानव-जीवन मे, विशेषकर आदिमानव के जीवन मे पौराणिक कथाओ का अत्यधिक महत्त्व है। सक्षेप मे, इसकी विवेचना हम इस प्रकार कर सकते हैं —

(क) श्री अनातोले फ्रास (Anatole France) के शब्दो मे, "राष्ट्र अपनी पौराणिक कथाओ पर जीवित रहता है, अपनी लोक-गाथाओ से वे जीवन के लिये आवश्यक विचार ग्रहण करते हैं। उन्हें अधिक आवश्यकता नही होती, थोडी-सी उपदेशात्मक कथाएँ ही लाखो प्राणो को प्रेरणा देने के लिये पर्याप्त होती हैं।"[3] इस अर्थ मे पौराणिक कथाएँ मानव-जीवन के लिये आवश्यक प्रेरणा का मूल स्रोत है। पौराणिक कथाओ के माध्यम से मानव को अनेक नवीन बातो का पता चलता है, अनेक नवीन सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यो (values) से उसका परिचय होता है जिससे वह अपने जीवन के भावी कार्यक्रम को निश्चित करता है और जीवित रहने की प्रेरणा पाता है। इस प्रकार पौराणिक कथाएँ वह नीव प्रदान करती हैं जिसपर कि समाज के आचार-विचार आश्रित होते है।

(ख) डा० दुबे के अनुसार, पौराणिक कथाओ मे "लोक-जीवन की भौतिक एव धार्मिक चेतना का मूल स्रोत निहित रहता है। अन्तत ये मानव-समुदायो के सास्कृतिक दृष्टिकोण एव जीवन-मूल्यो को निश्चित कर लोक-जीवन को स्थिरता और स्थायित्व देती हैं।" इस अर्थ मे सामाजिक निरन्तरता को बनाये रखने के लिये आवश्यक सामाजिक अन्त क्रियाओ मे जो-जो चीजें महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करती हैं, उनमे पौराणिक कथाएँ भी एक हैं। पौराणिक कथाओ के माध्यम से मानव अपने समाज के अतीत (past) की झाँकी देखता है और उस 'आदर्श रूप' को फिर से लौटा लाने का प्रयत्न करता है।

(ग) व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी पौराणिक कथाओं का महत्त्व कम नहीं है। यद्यपि इन कथाओ को मनोरजन का साधन मात्र ही मानना उचित न होगा, फिर भी इन कथाओ को सुनते समय इनपर विश्वास करने वाले सासारिक कष्ट को भूल जाते

---

3 "Nations live on mythology , From legends they draw all the ideas necessary to their existence They do not need many, and a few simple fables will suffice to guild millions of lives " Anatole France, quoted from M J Herskovits, *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956, p 414

हैं और सब भूलकर एक आनन्द का अनुभव करते हैं—कभी हँसते है तो कभी भक्ति और आनन्द मे विभोर होकर रो पडते हैं। जीवन के सघर्ष मे रत मानव इन कथाओ मे बहुत-कुछ देखता और पाता है। मानव-जीवन मे इनका अपना एक महत्त्व है। विपदाओ के समय मे मनुष्य कोई सहारा चाहता है। पौराणिक कथाएँ युगो से उसे सहारा देती आयी हैं, और मानव को मानसिक सन्तोप प्राप्त हो सका है।

(घ) सामाजिक दृष्टि से पौराणिक कथाओ का एक महत्त्वपूर्ण कार्य मानव के व्यवहार को नियमित व निर्देशित करके सामाजिक नियन्त्रण मे योगदान करना है। अनेक पौराणिक कथाओ को लोग सामान्य कहानी-किस्सा कदापि नही मानते, वल्कि उनका दृढ विश्वास होता है कि वे कथाएँ बीते हुए युगो की वास्तविक व सत्य घटनाएँ हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मानव-मस्तिष्क पर उन कथाओ का गहरा तथा निश्चित प्रभाव पडता है। यह प्रभाव मानव को स्वाभाविक ढग से अपने वश मे कर लेता है। फलत ये कथाएँ बहुत सीमा तक मानव-व्यवहार की दिशा को निर्धारित करती है और मानव अपने जीवन को पौराणिक कथाओ मे प्रस्तुत आदर्शों के अनुरूप निश्चित करता है। सामाजिक नियन्त्रण का काम पौराणिक कथाएँ बहुत सरलता से इस कारण भी कर सकती है क्योकि इन कथाओ मे लोक-समुदाय का धार्मिक विश्वास तथा जादू-टोने का तत्त्व भी बहुधा स्पष्ट रूप से सम्मिलित होता है। धार्मिक क्रियाओ से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होने के कारण इन कथाओ का प्रभाव व्यक्ति पर और भी गहरा तथा वास्तविक होता है। सामाजिक नियन्त्रण मे, या व्यक्ति के व्यवहार को नियमित तथा नियन्त्रित करने मे इन सब तत्त्वो का अत्यधिक महत्त्व होता है।

(ङ) मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी ये पौराणिक कथाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनका अध्ययन करके हम एक समाज की परम्परा, आदर्श व सामाजिक मूल्यो के सम्वन्ध मे बहुत-कुछ अनुमान कर सकते हैं। लोक-मस्तिष्क की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति व गुण के विषय मे भी स्पष्ट ज्ञान हमे पौराणिक कथाओ के माध्यम से हो सकता है। पौराणिक कथाओ के अध्ययन से आदि-मस्तिष्क की साहसपूर्ण कल्पना का भी आभास हमे हो सकता है।

पौराणिक कथाओ के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Mythology)

पौराणिक कथाएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। परन्तु डा० दुवे ने उन्हें चार प्रमुख भागो मे बाँटा है—(१) मानव तथा विश्व की उत्पत्ति से सम्वन्धित पौराणिक कथाएँ, (२) प्राकृतिक जगत् से सम्वन्धित, (३) मानव-शरीर तथा जीवन से सम्बन्धित और (४) मानवीय सस्थानो से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ। इनमे से प्रत्येक प्रकार की पौराणिक कथाओ के एक-दो उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

मानव की उत्पत्ति कैसे हुई, इस सम्वन्ध मे एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा वाइवल की है और वह यह कि मानव को सृष्टि करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम परमात्मा ने मिट्टी का पुतला वनाया और उसमे फूँक मार दी तो जिन्दा इन्सान पैदा हो गया। फिर परमात्मा ने उसकी पसली की एक हड्डी को लेकर स्त्री को वनाया। उसी प्रकार कैथोलिक

धर्म मे प्रचलित एक कथा इस प्रकार है कि आदम तथा ईव ने स्वर्ग मे ज्ञान के वृक्ष के फलो को खा लिया था। इस अपराध के दण्डस्वरूप ईश्वर ने उन दोनो का स्वर्ग से बहिष्कार कर दिया और उन्हे पृथ्वी पर आना पडा। उनको बहिष्कार करते समय ईश्वर ने उन्हे यह दण्ड दिया कि अब मे ईव और उनकी कन्याएँ कष्ट मे बच्चे को जन्म देंगी और आदम व उसके पुत्रो को एडी-चोटी का पसीना एक करके रोटी कमानी होगी।

विभिन्न मानव-प्रजातियो का जन्म कैसे हुआ, इस सम्बन्ध मे एक अति रोचक पौराणिक कथा ग्रेट स्मोकी पहाड के चेरोकी इण्डियनो मे प्रचलित है। इस कथा के अनुसार सृष्टि के निर्माता ने एक तन्दूर गर्म किया, आटा साना और इस सने आटे की तीन मूर्तियाँ बनायी। इन्हे पकाकर मनुष्य बनाने के लिये उस सृष्टिकर्त्ता ने इन तीनो मूर्तियो को तन्दूर की आग मे रख दिया। उसे यह जानने की बडी उत्सुकता थी कि उसका बनाया हुआ मनुष्य कैसा होगा। उसी उत्सुकता के कारण सृष्टिकर्त्ता ने झट से एक मूर्ति को बाहर निकाल लिया। मनुष्य की यह मूर्ति अधपकी थी। इस कारण इसका रग सफेद था। परन्तु अब उसे फिर आग मे रखा भी नही जा सकता था क्योकि तन्दूर मे से निकालते ही वह जीवित हो गई थी। इससे श्वेत प्रजाति की उत्पत्ति हुई। परन्तु सृष्टिकर्त्ता इससे सतुष्ट न हुआ। इसके कुछ बाद उसने दूसरी मूर्ति को निकाला। यह पक चुकी थी, इस कारण इसका रग लाल था। इस मूर्ति से रेड इण्डियन (Red Indian) लोगो की उत्पत्ति हुई। अपनी इस अति सुन्दर सृष्टि को देखकर सृष्टिकर्त्ता आनन्द मे इतना विभोर हो गया कि वह भूल गया कि तन्दूर मे अभी एक मूर्ति और पडी है। पर जब वह मूर्ति जलने लगी और उससे धुँआ निकलने लगा तो सृष्टिकर्त्ता का ध्यान उस पर गया। उसने झट उस मूर्ति को तन्दूर मे से निकाला। पर तब तक वह मूर्ति जलकर काली हो चुकी थी। इससे नीग्रो प्रजाति का जन्म हुआ।

कमार जनजाति मे पृथ्वी की उत्पत्ति व निर्माण के सम्बन्ध मे एक रोचक पौराणिक कथा प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है— एक बार महादेव जी ने इस ससार को नये तौर पर बनाने के लिये सब कुछ का विनाश करने का निश्चय किया। एक वृद्धा को इस बात का पता चला। वह भागकर पति के पास गयी और उससे सब कुछ कहा। पति भागकर जगल गया और एक विशाल नौका बनायी। इस नाव मे उसने खाने-पीने का सामान भर दिया और फिर उसने अपने लडके और लडकी को उस नाव के एक कमरे मे बन्द कर दिया। इसके बाद बिजली, वर्षा और तूफान ने पृथ्वी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जब महादेव जी का यह विनाशकारी रूप शान्त हुआ, तब पृथ्वी का रूप भी बदल चुका था। एक भी प्राणी जीवित न बचा था। चारो तरफ पानी-ही-पानी भरा हुआ था। उसके बीच केवल वह भाई-बहन की नाव तैर रही थी। इसके बाद महादेव जी ने अपने विश्वस्त सहचर बलिया को फिर से सृष्टि-निर्माण के लिये पृथ्वी और मनुष्य का बीज ढूंढने के लिए भेजा। उन्हे किश्ती मे ये भाई-बहन मिले। बलिया ने यह सवाद महादेव जी को आकर दिया। फिर महादेव जी ने केकडे को आज्ञा दी कि वह शीघ्र ही धरती का बीज खोजकर लाये। समुद्र तल से वह एक केचुआ लाया, जिसकी दाढ को दुहकर धरती का बीज निकाला गया। इससे महादेव जी ने पृथ्वी का निर्माण किया।

पृथ्वी तो बन गयी पर अभी तक आकाश नही बना था। महादेव जी ने चार कोनो मे चार विशाल खम्भो का निर्माण किया और उसपर काली सुरही गाय का चमडा इस तरह लगाया कि वह पूरी तरह पृथ्वी को छा ले। यह चमडा फिर भी कुछ ढीला-ढाला सा लग रहा था। इसे कसा हुआ और स्थायी बनाने के लिये महादेव जी ने उसे विभिन्न प्रकार की कीलो से जड दिया। आकाश उसी काली गाय का चर्म है और तारे हैं वही कीले। इस प्रकार पृथ्वी, आकाश, तारो आदि का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् मनुष्य को बनाने के लिये उस नाव पर के भाई-बहन को लाया गया। महादेव जी ने इन भाई-बहनो मे यौन-सम्बन्ध स्थापित करवाने के लिये कई चाले चली, अन्त मे वे इनका यौन-सम्बन्ध कराने मे सफल हुए। प्रात काल उस कन्या ने अपने-आपको गर्भवती पाया। गर्भ मे बच्चा बनने की जिस क्रिया मे सामान्यत नौ माह का समय लगता है, वह नौ कदम चलने से ही पूरा हो गया। कन्या थोडे ही समय मे सहस्रो पुत्र-पुत्रियो को जन्म देकर मर गयी। महादेव और पार्वती के आश्रय मे शिशु पलने लगे। इसके बाद महादेव जी ने नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, यत्र-उपकरण आदि बनाए, फिर उन्हे नदी मे बहा दिया। जिन्हे हल मिला वे खेती करने वाले गोड या दूसरी जनजाति हो गये। करघा पाने वाला कोप्टी हुआ। नाई को उस्तरा मिला। इस प्रकार प्रत्येक जनजाति को जीवन-धारण के लिये आवश्यक उपकरण मिल गये। एक व्यक्ति को केवल बाँस की एक टोकरी मिली। वह धूल मे पडा रो रहा था। महादेव जी ने उसे धनुष-बाण देकर कहा, "तुम जगल मे शिकार करो, तुम्हारी स्त्रियाँ बास के बर्तन बना सकती हैं।" इसी से कमार जनजाति की उत्पत्ति हुई।

प्राकृतिक जगत् की विभिन्न चीजो के सम्बन्ध मे भी भिन्न-भिन्न जनजातीय समाजो मे अनेक पौराणिक कथाएँ प्रचलित हैं। आकाश के सम्बन्ध मे कुछ गोडो मे निम्न कथा प्रचलित है "पहले आकाश बहुत नीचा था। एक बुढिया रोज सवेरे के समय अपने घर का आँगन झाडती थी। एक दिन जब वह आँगन साफ कर रही थी तो उसकी पीठ आकाश से टकरा गयी। बुढिया ने नाराज होकर उसी झाडू से आकाश को ठेलना शुरू किया। आकाश बुढिया से डरकर भागा और भागकर वहाँ तक गया जहाँ आज वह है।"

अनेक जनजातियो मे टोटम, निषेध (taboo) आदि सामाजिक सस्थाओ से सम्बन्धित अनेक पौराणिक कथाएँ प्रचलित हैं। श्री राय (Roy) ने अपने अध्ययन मे उराँव जनजाति के कुजुर कुल के टोटम के सम्बन्ध मे प्रचलित पौराणिक कथा का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि एक उराँव कुजुर के पेड के नीचे सो गया। उस पौधे की मुलायम टहनियो ने उसके शरीर के चारो ओर लिपटकर उसकी रक्षा की। परिणामस्वरूप उस मनुष्य ने कुजुर के पौधो को अपना टोटम स्वीकार किया और अब उसके वशज कुजुर कुल के कहलाते हैं। ऐसी टोटम-सम्बन्धी एक अन्य पौराणिक कथा तमटियाओ मे प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है—एक तमटिया स्त्री नदी पर पानी भरने गयी। घर पर कोई उस बच्चे को देखभाल करने वाला न था। माँ ने नहाकर नदी से अपना घडा भरा और उसे सिर पर रखकर घर लौटी। वहाँ उसने आश्चर्यचकित होकर देखा कि एक काला साँप बच्चे के सिर पर अपना फन फैलाये उसकी रक्षा कर रहा था। माँ को देखकर साँप धीरे से खिसक गया। इस बच्चे के समस्त वशज अब नाग को ही अपना टोटम मानते हैं।

लोक-गाथाएँ
(Folk-tales)

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ मे ही कहा गया है, 'कल्पना' मानव का आदि-सहचर है। कल्पना की सहायता से आदिकाल से ही मानव बहुत-कुछ सोचता और कहता आया है। लोक-गाथाएँ या लोक-कथाएँ इसीका सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय रूप है। और भी स्पष्ट रूप मे, लोक कथाएँ 'मानव के कल्पनाशील मस्तिष्क की वैचित्र्य-पूर्ण स्वप्न-सृष्टि' हैं। अर्थात् लोक-कथा मे कल्पना का तत्त्व (element of imagination) अधिक होता है, वास्तविकता बहुत कम। इसकी विषय-वस्तु की कोई सीमा नही है। लोक-कथा हमारे आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन मे सम्बन्धित हो सकती है और ऐसी भी लोक-कथाएँ हो सकती है जिनका कि इनमे से किसी से कोई सम्बन्ध न हो।

लोक-गाथाओ की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ
(Origin and Characteristics of Folk-tales)

श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने उचित ही लिखा है कि लोक-गाथाओ की उत्पत्ति कैसे और कहाँ से हुई, इस विषय पर सम्भवत कोई सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नही है।[4] श्री बोआस का मत है कि लोक-कथाएँ दैनन्दिक जीवन के अनुभवो के आधार पर कल्पना की उडानो का परिणाम हैं।[5] लोक-कथाओ के विश्लेषण से इसी बात का पता चलता है कि लोक-कथाओ के अन्तर्गत प्राय ऐसी सभी घटनाएँ आ जाती हैं जो कुछ भी मानव-जीवन व समाज मे घटित होती हैं। ये घटनाएँ ही लोक-कथाओ का आधार होती हैं। इसे आधार मानकर जब मानव अपनी कल्पना द्वारा एक नवीन घटना को नवीन रूप मे प्रस्तुत करता है तो वही लोक-कथा बन जाती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि मानव ऐसा करता ही क्यो है? इसका उत्तर भी सरल है। मानव के मस्तिष्क की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसका मस्तिष्क प्रारम्भिक काल मे ही कल्पनाशील है। इस कल्पनाशील मस्तिष्क को अपनी खूराक चाहिये। यह खूराक मानव को जुटानी पडती है और तभी मस्तिष्क रोचक कुछ रचता है। तभी लोक-कथा की उत्पत्ति होती है। कुछ विद्वानो का मत है कि मनुष्य मे अनेक इच्छाएँ, आशाएँ या अभिलाषाएँ अज्ञात मन या मस्तिष्क मे दबी हुई होती हैं। वास्तविक जीवन मे इन इच्छाओ व आशाओ की पूर्ति सम्भव नही होती है। तब मनुष्य कल्पित नायक और नायिका की शरण लेता है और उनके माध्यम से अपनी उन इच्छाओ और आशाओ को अभिव्यक्त करता है एव उन नायक-नायिका के जीवन मे उन इच्छाओ की पूर्ति करवा देता है। कभी-कभी समाज मे ऐसी घटनाएँ हो जाती है जिनमे कि मानव अपनी उन अपूर्ण इच्छाओ की पूर्ति होते देखता है। बस, उसी घटना को लेकर उसपर कल्पना की तूलिका से रग भरकर एक कथा को तैयार करता है जो कि अपनी रोचकता के कारण लोक-कथा हो जाती है। इस सम्बन्ध मे एक बात स्मरणीय है कि लोक-कथा और

4 *Ibid*, p 417
5 Franz Boas, *op cit*, p 610

साहित्यिक कहानी-किस्सो मे अन्तर है और वह इस अर्थ मे कि लोक-कथाओ का समाज मे कहानी-किस्सो से कही अधिक प्रचलन या लोक-प्रियता होती है। लोक-कथाएँ समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगो मे इस प्रकार फैल जाती हैं कि वे उनकी सस्कृति का एक आवश्यक अग हो जाती हैं। आदि समाज मे जहाँ किताब या छपी हुई पत्रिकाओ का प्रचलन नही है या जिन समाजो मे लोग लिखना नही जानते हैं वहाँ भी मौखिक रूप से एक से दो, दो से चार और इसी भाँति पूरे समाज मे इन लोक-कथाओ का प्रचलन हो जाता है। लोग इन्हे वडे चाव से सुनते और याद रखते हैं।

लोक-कथाओ की अन्य **विशेषताएँ** निम्नलिखित हैं —

(क) लोक-कथाओ मे भी पशु-पक्षी, वायु, सूर्य आदि को व्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। इनको व्यक्ति मानने के कारण वे भी मनुष्य की भाँति बात कर सकते हैं, दौड सकते हैं और अन्य प्रकार से भी व्यवहार कर सकते है। ऐसा इसलिये किया जाता है कि इससे लोक-कथा कहने वाला अपने भावो को सरलता से प्रस्तुत कर सकता है और साथ ही, कथा की रोचकता भी बढ जाती है। हाथी को बन्दर से बातचीत करते सुनकर हम स्वतः ही कथा कहने वाले की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

(ख) लोक-कथाओ को प्रस्तुत करने की शैली साधारणत सरल और स्वाभाविक होती है। इसका कारण यह है कि लोक-कथाओ के नाम को सार्थक करने के लिये यह आवश्यक है कि इसे अधिक से अधिक लोग—बच्चो से बूढे तक सहज ही समझ सकें। सरल और स्वाभाविक शैली का यह अर्थ नही है कि उसमे साहित्यिक सौन्दर्य का एकदम अभाव ही होता है। बहुत-सी लोक-कथाओ मे साहित्यिक सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा मे होता है पर ऐसी भी लोक-कथाएँ होती हैं। जिनमे साहित्य-सौन्दर्य का नितान्त अभाव होता है।

(ग) लोक-कथाएँ जिस समाज मे पनपती है, उस समाज की सस्कृति विशेष का प्रभाव उन कथाओ पर स्पष्ट होता है। एक सस्कृति विशेष मे कुछ विशिष्ट प्रकार की लोक-कथाओ का प्रचलन होता है। साथ ही, इन लोक कथाओ मे एक सस्कृति से दूसरी सस्कृति मे फैलने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि एक लोक-कथा एकाधिक सस्कृतियो द्वारा प्रभावित हो सकती है जिससे कि उसके मूल रूप मे इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि उससे उसकी मूल सस्कृति का कुछ भी परिचय प्राप्त नही हो सकता है।

(घ) लोक-कथा की विशेषता का उल्लेख करते हुए एक विद्वान ने कहा है कि वे "शिशुवत् मस्तिष्को द्वारा रचित लघु उपन्यासो के समान होती हैं।" उनमे कथा के तीन तत्त्वो—चरित्र, घटना तथा कथानक—का समावेश होता है। ये तीनो तत्त्व वास्तविक भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी, मनुष्य भी हो सकते है और चूहा, बिल्ली व हाथी भी। साथ ही, इन कथाओ मे हँसी मजाक आनन्द-अश्रु, विरह-मिलन, प्रेमप्रीति, घृणा-द्वेष, कलह-क्लेश, भय-आतक, रोमाच आदि सब कुछ होता है या हो सकता है।

(ङ) लोक-कथाओ के प्रचलन की कोई निश्चित सीमा या क्षेत्र नही होता है। अनेक लोक-कथाएँ ऐसी हैं जो कि ससार की प्रत्येक भाषा तथा सस्कृति मे प्रचलित हैं, यद्यपि प्रत्येक समाज मे इनका थोडा-बहुत परिवर्तित रूप देखने को मिलता है। साथ

ही, ऐसी भी अनेक लोक-कथाएँ हैं जिनका प्रचलन सीमित क्षेत्रो मे ही पाया जाता है।

(च) लोक-कथाओ मे जादू का तत्त्व भी आश्चर्यजनक रूप मे मिला होता है। जादू का उडनखटोला अनेक लोक-कथाओ की एक प्रमुख विषय-वस्तु होती है। उसी प्रकार रस्सी से साँप बनना, मनुष्य का पशु रूप धारण करना, जादू के दर्पण मे ससार का दर्शन होना आदि लोक-कथाओ की रोचक सामग्री है। इतना ही नही, डायन, भूत-प्रेत, राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी आदि का उल्लेख भी लोक-कथाओ मे बहुत ज्यादा मिलता है, विशेषत भारतीय लोक-कथाओ मे।

लोक-कथाओ का महत्त्व
(Importance of Folk-tales)

(१) लोक-कथाओ का सर्वप्रमुख महत्त्व यह है कि इनके द्वारा श्रोताओ का मनोरजन होता है। दिन भर के नीरस जीवन मे लोक-कथाएँ रस का आस्वादन करवाती हैं। केवल इतना ही नही, इनमे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से ज्ञान की भी वृद्धि होती है।

(२) लोक-कथाओ के माध्यम से लोग अपनी सस्कृति के सम्बन्ध मे बहुत-सी नयी बातो को सीखते है। जनजातीय समाजो मे लोक-कथाएँ तो बच्चो को शिक्षा देने का सर्वमान्य साधन हैं। इन समाजो मे लोक-गाथाओ के माध्यम से युवागृह मे युवक-युवतियो को जनजातीय अनुशासन, सामाजिक न्याय तथा पारस्परिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे शिक्षा दी जाती है। अपराध और दण्ड के विचार, बुरे कार्यों का परिणाम आदि के विषय मे भी कथाओ द्वारा सदस्यो को बताया जाता है।

(३) अत स्पष्ट है कि लोक-कथाएँ सामाजिक नियन्त्रण मे भी सहायक सिद्ध होती है क्योकि इन कथाओ का प्रभाव मानव-मस्तिष्क पर, विशेषकर बच्चो पर बहुत ज्यादा पडता है और वे लोग कथाओ मे प्रस्तुत आदर्शों का अनुसरण करते है।

(४) लोक-कथाओ का एक और महत्त्व यह है कि इनके अध्ययन से हमे जन-जातीय समाजो के विषय मे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस सम्बन्ध मे श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने लिखा है कि श्री बोआस ने प्रशान्त महासागर के उत्तर-पूर्व मे बसने वाले सिमसियन इण्डियन समूह की केवल लोक-कथाओ का अध्ययन व विश्लेषण करके ही उक्त जनजाति के सामाजिक सगठन, धार्मिक विश्वास, अर्थ-व्यवस्था, निर्माण-कला तथा भौतिक सस्कृति के अन्य पक्षो का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है।[6]

लोक-गाथाओ के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Folk-tales)

डा० मजूमदार तथा मदान (Majumdar and Madan) ने हो जनजाति मे प्रचलित एक लोक-कथा का उल्लेख किया है जोकि निम्नवत् है[7] —

"बुड्डु-बूरा नाम का एक किसान अपने खेत मे एक चूहे को देखकर उसे मारने को दौडा। चूहे ने किसान से प्रार्थना की कि तुम मुझे न मारो, इसके बदले मे मैं आजीवन

---

6 See M J Herskovits, *op cit*, p 418

7 Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p 185

साहित्यिक कहानी-किस्सो मे अन्तर है और वह इस अर्थ मे कि लोक-कथाओ का समाज मे कहानी-किस्सो से कही अधिक प्रचलन या लोक-प्रियता होती है। लोक-कथाएँ समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगो मे इस प्रकार फैल जाती हैं कि वे उनकी सस्कृति का एक आवश्यक अग हो जाती हैं। आदि समाज मे जहाँ किताव या छपी हुई पत्रिकाओ का प्रचलन नही है या जिन समाजो मे लोग लिखना नही जानते हैं वहाँ भी मौखिक रूप से एक से दो, दो से चार और इसी भाँति पूरे समाज मे इन लोक-कथाओ का प्रचलन हो जाता है। लोग इन्हे बडे चाव से सुनते और याद रखते हैं।

लोक-कथाओ की अन्य **विशेषताएँ** निम्नलिखित हैं —

(क) लोक-कथाओ मे भी पशु-पक्षी, वायु, सूर्य आदि को व्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। इनको व्यक्ति मानने के कारण वे भी मनुष्य की भाँति बात कर सकते हैं, दौड सकते हैं और अन्य प्रकार से भी व्यवहार कर सकते हैं। ऐसा इसलिये किया जाता है कि इससे लोक-कथा कहने वाला अपने भावो को सरलता से प्रस्तुत कर सकता है और साथ ही, कथा की रोचकता भी बढ जाती है। हाथी को बन्दर से बातचीत करते सुनकर हम स्वत ही कथा कहने वाले की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

(ख) लोक-कथाओ को प्रस्तुत करने की शैली साधारणत सरल और स्वाभाविक होती है। इसका कारण यह है कि लोक-कथाओ के नाम को सार्थक करने के लिये यह आवश्यक है कि इसे अधिक से अधिक लोग—बच्चो से बूढे तक सहज ही समझ सकें। सरल और स्वाभाविक शैली का यह अर्थ नही है कि उसमे साहित्यिक सौन्दर्य का एकदम अभाव ही होता है। बहुत-सी लोक-कथाओ मे साहित्यिक सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा मे होता है पर ऐसी भी लोक-कथाएँ होती हैं। जिनमे साहित्य-सौन्दर्य का नितान्त अभाव होता है।

(ग) लोक-कथाएँ जिस समाज मे पनपती हैं, उस समाज की सस्कृति विशेष का प्रभाव उन कथाओ पर स्पष्ट होता है। एक सस्कृति विशेष मे कुछ विशिष्ट प्रकार की लोक-कथाओ का प्रचलन होता है। साथ ही, इन लोक कथाओ मे एक सस्कृति से दूसरी सस्कृति मे फैलने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि एक लोक-कथा एकाधिक सस्कृतियो द्वारा प्रभावित हो सकती है जिससे कि उसके मूल रूप मे इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि उससे उसकी मूल सस्कृति का कुछ भी परिचय प्राप्त नही हो सकता है।

(घ) लोक-कथा की विशेषता का उल्लेख करते हुए एक विद्वान ने कहा है कि वे "शिशुवत् मस्तिष्को द्वारा रचित लघु उपन्यासो के समान होती हैं।" उनमे कथा के तीन तत्त्वो—चरित्र, घटना तथा कथानक—का समावेश होता है। ये तीनो तत्त्व वास्तविक भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी, मनुष्य भी हो सकते हैं और चूहा, बिल्ली व हाथी भी। साथ ही, इन कथाओ मे हँसी मजाक आनन्द-अश्रु, विरह-मिलन, प्रेमप्रीति, घृणा-द्वेष, कलह-क्लेश, भय-आतक, रोमाच आदि सब कुछ होता है या हो सकता है।

(ङ) लोक-कथाओ के प्रचलन की कोई निश्चित सीमा या क्षेत्र नही होता है। अनेक लोक-कथाएँ ऐसी हैं जो कि ससार की प्रत्येक भाषा तथा सस्कृति मे प्रचलित हैं, यद्यपि प्रत्येक समाज मे इनका थोडा-बहुत परिवर्तित रूप देखने को मिलता है। साथ

ही, ऐसी भी अनेक लोक-कथाएँ है जिनका प्रचलन सीमित क्षेत्रो मे ही पाया जाता है।

(च) लोक-कथाओ मे जादू का तत्त्व भी आश्चर्यजनक रूप मे मिला होता है। जादू का उडनखटोला अनेक लोक-कथाओ की एक प्रमुख विषय-वस्तु होती है। इसी प्रकार रस्सी से साँप बनना, मनुष्य का पशु रूप धारण करना, जादू के दर्पण मे नगर का दर्शन होना आदि लोक-कथाओ की रोचक सामग्री है। इतना ही नही, डायन, भूत-प्रेत, राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी आदि का उल्लेख भी लोक-कथाओ मे बहुत ज्यादा मिलता है, विशेषत भारतीय लोक-कथाओ मे।

लोक-कथाओ का महत्त्व
(Importance of Folk-tales)

(१) लोक-कथाओ का सर्वप्रमुख महत्त्व यह है कि इनके द्वारा श्रोताओ का मनोरजन होता है। दिन भर के नीरस जीवन मे लोक-कथाएँ रस का आस्वादन कराती हैं। केवल इतना ही नही, इनमे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से ज्ञान की भी वृद्धि होती है।

(२) लोक-कथाओ के माध्यम से लोग अपनी सस्कृति के सम्बन्ध मे बहुत-सी नयी बातो को सीखते है। जनजातीय समाजो मे लोक-कथाएँ तो बच्चो को शिक्षा देने का सर्वमान्य साधन है। इन समाजो मे लोक-गाथाओ के माध्यम से युवागृह मे युवक-युवतियो को जनजातीय अनुशासन, सामाजिक न्याय तथा पारस्परिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे शिक्षा दी जाती है। अपराध और दण्ड के विचार, बुरे कार्यों का परिणाम आदि के विषय मे भी कथाओ द्वारा सदस्यो को बताया जाता है।

(३) अत स्पष्ट है कि लोक-कथाएँ सामाजिक नियन्त्रण मे भी सहायक सिद्ध होती है क्योकि इन कथाओ का प्रभाव मानव-मस्तिष्क पर, विशेषकर बच्चो पर बहुत ज्यादा पडता है और वे लोग कथाओ मे प्रस्तुत आदर्शों का अनुसरण करते हैं।

(४) लोक-कथाओ का एक और महत्त्व यह है कि इनके अध्ययन से हमे जन-जातीय समाजो के विषय मे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस सम्बन्ध मे श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने लिखा है कि श्री बोआस ने प्रशान्त महासागर के उत्तर-पूर्व मे बसने वाले सिमसियन इण्डियन समूह की केवल लोक-कथाओ का अध्ययन व विश्लेषण करके ही उक्त जनजाति के सामाजिक सगठन, धार्मिक विश्वास, अर्थ-व्यवस्था, निर्माण-कला तथा भौतिक सस्कृति के अन्य पक्षो का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है।[6]

लोक-गाथाओ के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Folk-tales)

डा० मजूमदार तथा मदान (Majumdar and Madan) ने हो जनजाति मे प्रचलित एक लोक-कथा का उल्लेख किया है जोकि निम्नवत् है[7] —

"बुइडु-बूरा नाम का एक किसान अपने खेत मे एक चूहे को देखकर उसे मारने को दौडा। चूहे ने किसान से प्रार्थना की कि तुम मुझे न मारो, इसके बदले मे मैं आजीवन

6 See M J Herskovits, *op cit*, p 418

7 Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p 185

तुम्हारी सेवा करता रहूँगा। किसान ने उसकी बात मान ली और उसे घर ले आया। लोमडियाँ आकर उस किसान की बत्तखो तथा बगीचे की उपज को रोज खा जाती थी। चूहे ने लोमडियो के बीच चक्कर मारना शुरू किया और उनकी सब चालो का पता लगाता रहा। इन बातो को वह किसान को बताकर उसे सावधान कर देता था। पर लोमडियो को जब यह पता चला कि उनकी चालाकियाँ खुल गयी हैं तो उन्होने नयी योजनाएँ बनायी। इससे किसान तग आ गया। अन्त मे चूहे ने एक अति चमत्कारिक योजना बनायी और किसान की स्त्री की सहायता से सब लोमडियो का सफाया कर दिया। इसके बाद से चूहा, किसान व उसकी स्त्री आराम और शान्ति से रहने लगे।"

गोड जाति मे सामाजिक सहयोग के महत्त्व को बताने के लिये गिलहरी और कौए की निम्नलिखित लोक-कथा प्राय कही जाती है :—

"एक पेड पर एक गिलहरी और एक कौआ रहते थे। एक दिन कौए ने गिलहरी से कहा, "चलो हम खेती करें। जो पैदा होगा उसको आधा-आधा बाँट लेंगे।" गिलहरी बोली, "ठीक है। चलो खेत जोत आएँ।" कौए ने कहा, "तू चल मैं आता हूँ।" गिलहरी खेत जोत आयी। कौआ बैठा ही रहा। गिलहरी ने कहा, "चलो भाई, अपने खेत मे बीज बो आएँ।" कौआ फिर बोला, "तू चल मैं आता हूँ।" गिलहरी खेत मे बीज भी बो आयी। कौआ बैठा ही रहा। गिलहरी ने कहा, "पौधे बडे हो गये हैं। घास उग आयी है। चलो निराई कर आएँ।" कौए ने फिर वही उत्तर दिया। गिलहरी खेत भी निरा आयी। फसल पक गयी। गिलहरी अकेले फसल भी काट लायी। कौआ बैठा ही रहा। जब अनाज तैयार हो गया, तो कौआ हिस्सा बँटाने पहुँच गया। गिलहरी अपना अनाज घर ले आयी। कौए का हिस्सा वही पडा रहा। दूसरे दिन बडे जोर से पानी बरसा। कौए का सारा अनाज बह गया। कौआ पेड की डाल पर बैठा काँव-काँव ही करता रह गया।"

उक्त गाथा को सुनने वालो ने उसीसे बहुत-कुछ सीख लिया।

SELECTED READINGS

1 Benedict, R 'Folklore' in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, Vol VI 1931

2 Boas and Others *General Anthropology*, D C Heath and Co, New York, 1938

3 Herskovits *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York 1956

१८

भाषा

(LANGUAGE)

विषय-सूची—अठारहवाँ अध्याय

१ भूमिका
२ भाषा की परिभाषा
३. भाषा की प्राचीनता
४ भाषा की उत्पत्ति
५ भाषा की संरचना
६. भाषा परिवार
७ भाषा का महत्त्व
भाषा व प्रजाति
भाषा व संस्कृति

अध्याय १८

भाषा
(Language)

अभौतिक सस्कृति के क्षेत्र मे भाषा मानव की सबसे बडी शक्ति है। यदि मानव के पास वाणी अथवा भाषा की शक्ति न होती तो उसके आविष्कारो का विस्तार एव प्रसार अत्यन्त सीमित हो जाता। मानव की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या राजनैतिक उन्नति का प्रमुख कारण आविष्कार है और उस आविष्कार को प्रसारित करने का सबसे अधिक श्रेय मनुष्य की भाषा-शक्ति को है। यह शक्ति वास्तव मे वह शक्ति है जो कि मानव को पशु-जगत् से पूर्णतया पृथक् करती है। पशु कई प्रकार की आवाजो द्वारा अपने मन के भाव को व्यक्त करते हैं, परन्तु भापा का अधिकारी तो केवल मानव ही है। इस भाषा के द्वारा मानव अपने मन के भाव प्रकट करता है, सामाजिक आदान-प्रदान या अन्त क्रिया मे भाग लेता है, सगीत-रचना करता और गाता है, साहित्य की सृष्टि करता है और आविष्कारो का प्रसार मानवीय धरातल मे करता है। भाषा मानव की वह शक्ति है जिसके माध्यम से वह दुनिया को सबसे कटु आघात कर सकता है और अमरत्व का सन्देश भी सुना सकता है। भाषा के माध्यम से ही मानव की मानवता महान है, अमर है। भापा के कारण ही मनुष्य पशु नही है।

भाषा की परिभाषा
(Definition of Language)

श्री स्टर्टीवेन्ट (Sturtevant) के अनुसार, "भाषा मुँह से उच्चारण किये जाने वाले सकेतो की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह के सदस्य सहयोग तथा अन्त क्रिया करते हैं।"[1] इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि सगठन की दृष्टि से भाषा असम्बद्ध नही बल्कि नियमबद्ध है—अर्थात् यह एक व्यवस्था है। साथ ही, इस व्यवस्था मे जिन सकेतो (symbols) का समावेश होता है उनके अर्थों को भी उसी प्रकार सीखना पडता है जैसा कि सस्कृति की अन्य चीजो को। उक्त परिभाषा मे भाषा के सामाजिक कार्यों या महत्त्व पर बल दिया गया है। इसी कारण श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने उपरोक्त परिभाषा के अन्त मे केवल कुछ शब्दो को जोडकर उस परिभाषा को स्वीकार कर लिया है। उन शब्दो को जोडने के पश्चात् भाषा की सम्पूर्ण परिभाषा इस प्रकार है—"भाषा मुँह से उच्चारण किये जाने वाले सकेतो की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह के सदस्य सहयोग तथा अन्त क्रिया करते हैं, और

1 "A language is a system of arbitrary vocal symbols by which members of a social group co-operate and interact" E H Sturtevant, *An Introduction to Linguistic Science*, New Haven, 1947.

जिसके माध्यम से सीखने की प्रक्रिया को सफल बनाया जाता है एव जीवन की एक विधि विशेष को निरन्तरता तथा परिवर्तनशीलता दोनो ही प्राप्त होती हैं ।"[2]

भाषा की प्राचीनता
(The Antiquity of Language)

आधुनिक भाषाओ मे पायी जाने वाली भिन्नताओ तथा सभी आदिम व आधुनिक मानव की भाषाओ को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भाषा अति प्राचीन है क्योकि ऐसा कोई मानव-समाज आज नही है जहाँ कि भाषा नही है। इसलिये शायद यह कहना अनुचित न होगा कि भाषा भी उतनी ही प्राचीन है जितने कि मानव-सस्कृति के दूसरे पक्ष । सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने लिखा है कि सम्भवत और शायद निश्चय ही मानव उसी समय बोलना भी सीख गया था जब कि लाखो वर्ष पूर्व वह एक सास्कृतिक परम्परा का सचय करने मे कुछ कदम आगे बढ चुका था ।[3] तो क्या मानव-भाषा उतनी ही पुरानी है जितनी कि उसकी सस्कृति ? इसके उत्तर मे श्री क्रोबर (Kroeber) का कथन है कि इस विषय मे कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है क्योकि विश्वासो तथा सस्थाओ की भाँति शब्दो का भी विनाश हो जाता है अर्थात् उनका स्थायित्व उस भाँति नही है जैसा कि पत्थर के औजार । फिर भी यह प्रतीत होता है कि भाषा, चाहे वह अविकसित भाषा ही क्यो न हो, उतनी ही पुरानी है जितनी कि सस्कृति की प्रथम अभिव्यक्तियाँ, क्योकि ये दोनो ही एक-दूसरे से अत्यधिक घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं ।[4] प्रस्तरित मानव (fossil men) की खोपडी के भीतरी भाग की परीक्षा करके विशेषज्ञो ने यह मत प्रकट किया है कि उस युग के मानव का मस्तिष्क इतना विकसित था कि उसमे भाषा की शक्ति अवश्य रही होगी । हो सकता है कि इस निष्कर्ष मे पूर्ण सत्यता न हो, फिर भी आधुनिक मानवशास्त्री आज यह स्वीकार करते है कि भाषा का विकास अगर सस्कृति के विकास के पहले नही तो उसके साथ-साथ अवश्य ही हुआ है। वास्तव मे भाषा के बिना सास्कृतिक क्रिया सम्भव नही, इस कारण जहाँ भी सास्कृतिक क्रिया है, चाहे वह कितनी ही सरल क्यो न हो, भाषा के होने की आशा भी की जा सकती है । उसी प्रकार सस्कृति का विकास भी मानवीय अन्त-क्रियाओ पर आधारित है और मानवीय अन्त क्रिया भाषा के बिना प्राय असम्भव ही है । इस कारण, श्री क्रोबर (Kroeber) के अनुसार, सस्कृति का प्रारम्भ तब ही हुआ

---

2 "A language is a system of arbitrary vocal symbols by which members of a social group co-operate and interact, and by means of which the learning process is effectuated and a given way of life achieves both continuity and change " See M J. Herskovits, *Man and His Works*, New York, 1956, p 440

3 "It is wholly probable, and indeed quite likely, that man learned to speak at the same time, some million or more years ago, that he took his first few steps in accumulating a cultural tradition " Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, New York, 1959, p 573

4 Kroeber, *Anthropology*, New York, 1948, p 225.

जब भाषा मौजूद थी, और फिर उसके बाद से उनमे से किसी की भी समृद्धि का अर्थ दूसरे का विकास हुआ ।"[5]

भाषा की उत्पत्ति
(The Origin of Language)

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं । कुछ विद्वानो का कथन है कि भाषा की उत्पत्ति उन परिस्थितियो का परिणाम है जिनमे कि प्रारम्भिक काल मे मानव निवास करता था । उस समय वह पूर्णतया जगली तथा अज्ञात था । ऐसी परिस्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि प्रकृति की वस्तुओ और घटनाओ को देखकर मानव आश्चर्य-चकित हो उठता था । इस प्रकार के अनेक अवसर उसके दैनन्दिक जीवन मे आते थे जब कि प्राकृतिक वस्तुएँ और घटनाएँ उसे अचम्भे मे डाल देती थी । उस प्रकार की आश्चर्य-चकित अवस्था मे उसके मुख से स्वत ही आवाजें निकल पडती थी । उदाहरणार्थ, बादल के गरजने की आवाज सुनकर वह चौंक उठता था और उसके मुख से एक विशेष प्रकार की आवाज निकलती थी जिससे कि वह दूसरो को यह सकेत करता था कि वह डर गया है । इसी प्रकार मुँह मे विभिन्न प्रकार की आवाजे निकालकर वह अपने मन के भावो को दूसरो तक पहुँचाने लगा । एक-एक विशिष्ट आवाज एक-एक विशेष प्रकार के सकेत के रूप मे क्रियाशील हुई । इन्ही सकेतो के क्रमिक विकास से भाषा की उत्पत्ति हुई ।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे **दूसरा सिद्धान्त** यह है कि मानव को बोलने की प्रेरणा प्रकृति से ही प्राप्त हुई है । प्रारम्भिक काल मे मानव पूर्णतया प्रकृति की गोद मे ही पलता था । उस अवस्था मे प्रकृति से उसका सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ था । इस कारण प्रकृति से सम्बन्धित सब कुछ को वह बहुत पास से देखता और सुनता था । प्रकृति मे कुछ आवाजें अपने-आप हुआ करती है । इन आवाजो की नकल सर्वप्रथम मानव ने खेल-खेल मे ही की पर बाद को उन्ही से विभिन्न सकेतो का जन्म हुआ और भाषा की उत्पत्ति सम्भव हुई । उदाहरणार्थ, पेड से जब पत्ता झडता है, तब 'पत-पत' की आवाज होती है । इससे 'पत' के अनुकरण मे एक शब्द 'पत्र' की उत्पत्ति हुई ।

परन्तु उपरोक्त दोनो सिद्धान्तो के प्रतिपादक यह भूल जाते हैं कि किसी भी भाषा का निर्माण चाहे वह कितनी ही सरल भाषा क्यो न हो, दो-चार या दस शब्दो से कदापि नही होता है । प्राकृतिक घटनाओ को देखकर अचम्भे मे या प्राकृतिक आवाजों की नकल करके कुछ ही शब्दो की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है जो कि किसी भी भाषा को जन्म नही दे सकती ।

इस सम्बन्ध मे **तीसरा सिद्धान्त** बहुत कुछ प्राणीशास्त्रीय आधारो पर आधारित है । मनुष्य मे कुछ इस प्रकार की प्राणीशास्त्रीय विशेषताएं पायी जाती हैं जिनके कारण वाणी अर्थात् भाषा की उत्पत्ति स्वाभाविक ही थी । शब्दो का उच्चारण करने के लिए जीभ या जबान की बनावट जिस प्रकार की होनी चाहिये, मानव मे वह उसी रूप मे

5 "Culture, then, began when speech was present, and from then on, the enrichment of either meant the further development of the other" *Ibid*, p 225

पायी जाती है। मनुष्य अपनी जीभ को जिस आसानी से और स्वतन्त्रतापूर्वक हिला-डुला सकता है, उतनी आसानी से यह काम पशु नही कर सकते। मानव अपनी इस विशेषता के कारण मुँह से नाना प्रकार की आवाजें निकाल सकता है। इन आवाजो को उसके विभिन्न परिस्थितियो मे अलग-अलग तरह से उच्चारण करके प्रयोग किया और उससे अपने मनोभाव को दूसरो तक पहुँचाया। इसी से शब्द-सकेतो की और अन्त मे भाषा की उत्पत्ति हुई।

भाषा की संरचना
(The Structure of Language)

किसी भी भाषा का यदि हम अध्ययन करें तो हमे यह ज्ञात होगा कि उस भाषा मे एक व्यवस्था है और वह इस अर्थ मे कि इसके विभिन्न अग एक नियमित ढग से एक-दूसरे के साथ सयुक्त या सम्बद्ध हैं। इन विभिन्न अगो को मिलाकर ही भाषा की सरचना तैयार होती है। भाषा के ये मूल तत्त्व निम्नलिखित हैं :—

(१) **वर्णमाला या ध्वनि** (Phonemes)—ध्वनि ही भाषा मे व्यवहार होने वाली सबसे छोटी इकाई है। बिना किसी ध्वनि के भाषा का निर्माण हो ही नही सकता क्योकि अगर हम बिना कोई ध्वनि मुख से उच्चारण किये हुए मन ही मन सात राज्यो के बारे मे भी सोचते रहें तो भी उसे भाषा नही कहा जा सकता है। भाषा मे तो मन के भावो को मुख से उच्चारण करना पडता है और उच्चारण करने से ध्वनि निकलती ही है। बिना ध्वनि के वाणी या भाषा कुछ भी नही हो सकती है। इन वर्णमाला ध्वनियो की सख्या २० से ३० तक मानी जाती है। इन वर्णों को दो आधारभूत श्रेणियो मे विभाजित किया जाता है—'स्वर' (Vowels) तथा 'व्यजन' (Consonants)। स्वर वह ध्वनि है जो कि मुँह के खुले रहने पर निकलती है और जब मुँह से साँस बाहर निकलती है तो वह ध्वनि बिना किसी रुकावट के उच्चारण की जा सकती है। अ, आ, इ, ई, आदि ऐसी ही ध्वनियाँ या 'स्वर' हैं। परन्तु कुछ ऐसी ध्वनियाँ भी हैं जो कि मुँह से साँस के बाहर निकलने पर कभी तालु से, कभी दाँतो से, तो कभी होठो से टकराती है। ऐसी ध्वनि को व्यजन कहते हैं, जैसे क ख, ग, त, थ, द, प, फ, ब आदि।

प्रत्येक भाषा मे वर्णमाला अवश्य ही होती है परन्तु वे हर-एक भाषा मे एक-से ही नही होते हैं। साथ ही साथ, इन वर्णों का उच्चारण करने का ढग भी प्रत्येक भाषा मे समान नही हुआ करता है। किसी भाषा मे ध्वनि को खीचकर उच्चारण किया जाता है, और किसी भाषा मे बहुत थोडा समय लेकर। अर्थात् दीर्घ ह्रस्व का भेद प्रत्येक भाषा मे ही होता है। परन्तु इस भेद का कोई प्राणीशास्त्रीय आधार नही है। दूसरे शब्दो मे, बगाली लोग हिन्दी शब्दो का या उत्तर प्रदेश के लोग बगला शब्दो का उच्चारण अगर ठीक ठीक नही कर पाते हैं तो इसका कारण यह नही है कि उनके मुँह की या जीभ की या होठ की या अन्य किसी अग की बनावट एक विशेष प्रकार की होने के कारण ही उनके मुँह से एक विशेष प्रकार की ध्वनि ठीक-ठीक निकलती है। ध्वनि उच्चारण करने की क्षमता प्रशिक्षण (training) पर निर्भर है।

(२) **शब्दावली** (Morphemes)—कई ध्वनियो को मिलाकर एक शब्द

बनता है जैसे, स, त, और ह, इन तीन ध्वनियो को मिलाकर एक शब्द 'सतह' बना है। एक शब्द सरल शब्द (simple word) भी हो सकता है और एक जटिल शब्द (complex word) भी। सरल शब्द मे उस शब्द को विभाजित करने पर उसका कोई खास माने नही रह जाता है जैसे 'हम' शब्द को दो भागो मे--'ह' और 'म' मे बाँट देने पर इनमे से प्रत्येक का कोई स्वतन्त्र अर्थ नही निकलता है पर दोनो को मिलाकर 'हम' शब्द का एक अर्थ है। इसके विपरीत जटिल शब्द मे उस शब्द को एकाधिक भागो मे विभक्त किया जा सकता है और इस प्रकार से टुकडा हो जाने पर भी उनमे से प्रत्येक टुकडे का एक अर्थ होता है जैसे 'हमराही' शब्द को 'हम' और 'राही' दो टुकडो मे बाँट देने पर भी प्रत्येक टुकडे का एक अर्थ निकलता है।

भाषा के निर्माण मे शब्दावली के महत्त्व को शायद कहने की आवश्यकता नही है क्योकि कोई भी भाषा, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, शब्दो के बिना बन ही नही सकती है। ये शब्द अर्थयुक्त होते हैं, इस कारण इनके द्वारा ही हम अपने मन के भाव को प्रकट करते है।

(३) **वाक्य** (Sentence)—इन्ही शब्दो के आधार पर हम पदो का निर्माण करते हैं। जैसे सस्कृत भाषा मे 'राम' शब्द से राम, रामौ, रामा आदि पद बन जाते हैं। उसी प्रकार अनेक शब्दो को नियमानुसार जोडकर वाक्यो (sentences) को बनाया जाता है। जैसे, 'राम घर गया' यह वाक्य तीन शब्दो से मिलकर बना है। वाक्य का कार्य भाव को पूर्णतया स्पष्ट या प्रकट करना है। 'राम', 'घर', 'गया', इनमे से प्रत्येक शब्द का एक पृथक् अर्थ होते हुए भी पृथक् रूप से इनमे से किसी शब्द से सम्पूर्ण भाव प्रगट नही होता है परन्तु जब इन्हे जोडकर एक वाक्य बनाया जाता है तो उससे सम्पूर्ण भाव हमारे लिये स्पष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी भी भाषा के तीन आधारभूत तत्त्व वर्ण, शब्द और वाक्य है। वर्ण के सम्मिलन से शब्द बनता है और शब्दो के सम्मिलन से वाक्य। परन्तु वाक्यो का निर्माण मनमाने ढग से नही होता है। उसके लिये भी प्रत्येक भाषा मे कुछ आधारभूत नियम होते है। भाषा की सरचना मे इन नियमो का भी अपना महत्त्व है। अत उनको भी भाषा का एक आवश्यक अग माना जाता है। अब हम उसी अग के विषय में विवेचना करेंगे।

(४) **व्याकरण** (Grammar)—उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रत्येक भाषा मे अनेक शब्द होते हैं। इन शब्दो को मनमाने ढग से जोडने पर वे अर्थहीन हो जाएँगे अर्थात् उनसे किसी शुद्ध व अर्थपूर्ण वाक्य का निर्माण न हो सकेगा। उदाहरणार्थ, अगर हम निम्नलिखित सात शब्दो को मनमाने ढग से इस प्रकार जोडे—'घर के तुम्हारे वह जाने आया बाद'—तो यह एक अर्थपूर्ण वाक्य कभी भी नही होगा क्योकि इससे कोई भाव स्पष्ट रूप से प्रकट नही होता है। परन्तु अगर इन्ही सात शब्दो को नियमानुसार जोडें तो सम्पूर्ण भाव सरलता से ही स्पष्ट हो सकते हैं जैसे, 'तुम्हारे जाने के बाद वह घर आया।' उसी प्रकार अगर हमे भूतकाल के विषय मे कोई बात कहनी है तो उसी के अनुसार शब्द का प्रयोग करना पडेगा और अगर वर्तमान काल के विषय मे कुछ कहना

है तो उसी प्रकार के शब्दो को जोडना पडेगा। उसी प्रकार अगर हम किसी स्त्री के विषय मे बात कह रहे हैं तो स्त्रीलिंग वाले शब्दो का व्यवहार आवश्यक है और यदि पुरुष के बारे में तो पुल्लिग वाले शब्दो का। इसी प्रकार लिंग, काल, वचन आदि के विषय मे अनेक नियम प्रत्येक भाषा मे होते हैं जिसे कि उस भाषा का व्याकरण कहते है। इस प्रकार हम कह सकते है कि शब्दो के शुद्ध रूप तथा प्रयोग के नियमो का निरूपण करने वाला शास्त्र ही व्याकरण है। और भी स्पष्ट रूप से, जिससे शुद्ध-भाषा पढने, बोलने और लिखने का ज्ञान होता है, व्याकरण कहते हैं। इसके तीन विचार होते हैं—अक्षर-विचार, शब्द-विचार और वाक्य-विचार। जब हम व्याकरण के नियमो के अनुसार शब्दो को जोडते हैं तो भाषा का शुद्ध रूप प्रकट होता है। अन्यथा नही। यह व्याकरण प्रत्येक भाषा मे होता तो है पर हर-एक भाषा मे एक-समान नही होता। उदाहरणार्थ, हिन्दी-भाषा मे कर्त्ता के लिंग के अनुसार क्रिया के लिंग मे भी परिवर्तन आवश्यक है जैसे राम जाता है और सीता जाती है। पर बगला भाषा मे यह नियम नही है। कई भाषाओ मे काल, लिंग, वचन आदि का झमेला बहुत ज्यादा होता है और कई भाषाओ मे बहुत कम। उदाहरणार्थ, चीनी भाषा मे लिंग, काल वचन किसी का झगडा नही है। इसके विपरीत, हिन्दी भाषा मे लिंग, क्रिया, सन्धि, उपसर्ग, प्रत्यय, समास आदि का बहुत ज्यादा झमेला है।

(५) लिपि (Script)—यह तत्त्व केवल उन लोगो की भाषाओ मे ही पाया जाता है जिन्हे कि लिखने की कला का ज्ञान है। इस प्रकार की प्रत्येक भाषा मे अक्षरो के भिन्न-भिन्न रूप होते है। जिस रूप मे अक्षर अकित होते हैं या लिखे जाते हैं, उसे लिपि कहते है। अग्रेजी भाषा के अक्षर जिस प्रकार लिखे जाते हैं उस प्रकार बगला भाषा के अक्षर नही लिखे जाते है। उसी प्रकार हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि मे भी बहुत अन्तर है।

भाषा-परिवार
(Linguistic Families)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थान की भाषा एक समान नही होती है। वर्ण, शब्द, वाक्य, लिपि, व्याकरण आदि के आधार पर अनेक भेद भाषा मे पाये जाते हैं। ऐसा भी होता है कि एक भाषा एक स्थान पर पनपती है फिर प्रसार (diffusion) के द्वारा वह दूसरे स्थान को भी फैल जाती है और उस प्रसार के दौरान मे उनमे थोडा-बहुत परिवर्तन भी हो जाता है। परन्तु इन परिवर्तनो के होने पर भी हम उसकी मूल भाषा का पता लगा सकते हैं, अर्थात् यह जान सकते हैं कि एक भाषा की उत्पत्ति किस मूल भाषा विशेष से हुई है। एक ही मूल भाषा से जितनी भी भाषाएँ पनपेंगी, वे सब एक भाषा परिवार कहलाएँगी। उदाहणार्थ, भाषा-परिवार की दृष्टि से अग्रेजी, सस्कृत, रशियन आदि भाषाएँ एक ही परिवार मे रखी जाती है। ये तीनो भाषाएं एक ही मूल भाषा से प्रकट हुई है जिसे इण्डो-यूरोपियन या इण्डो-जर्मनिक या आर्यन परिवार कहा जाता है।

एशिया और यूरोप मे २५ से भी अधिक भाषा-परिवार पाये जाते हैं। इनमे

से सबसे महत्त्वपूर्ण इण्डो-यूरोपियन या इण्डो-जर्मनिक या आर्यन (Aryan) परिवार है। इस परिवार का फैलाव दक्षिण-पश्चिमी एशिया तथा यूरोप का अधिकतर भाग है। इस परिवार की सबसे महत्त्वपूर्ण (जनसंख्या की दृष्टि से) भाषाएँ इण्डिक (Indic), स्लॉविक (Slavic), जर्मनिक (Germanic) और रोमन या लैटिन (Latin) हैं। इस परिवार की अन्य भाषाएँ परसियन या इरानिक (Iranic), आर्मेनियन (Armenian), ग्रीक, अलबानियन (Albanian), बाल्टिक और केलटिक (Keltic) हैं। यूरोप से विभिन्न इण्डो-यूरोपियन भाषाएँ जैसे अंग्रेजी, स्पेनिश, फ्रेंच, रशियन आदि दूसरे देशों, जैसे अमेरिका और आस्ट्रेलिया, में फैल गयी हैं।

एक दूसरा भाषा-परिवार सिनिटिक (Sinitic) परिवार है। इस भाषा-परिवार के सदस्यों की संख्या प्रायः उतनी ही है जितनी कि इण्डो-यूरोपियन भाषा-परिवार की। इसके अन्तर्गत चाइनिस, टिबेटो-बर्मन तथा शान-सियामिस (Shan-Siamese) भाषाएँ सम्मिलित हैं।

एक तीसरा भाषा परिवार आल्टाइक (Altaic) परिवार है जिसमें तीन प्रमुख भाषाएँ—टर्किस (Turkish), मंगोलियन (Mongolian) तथा टुंगस-मानचू (Tungus-Manchu) हैं। इस परिवार का फैलाव उत्तरी तथा केन्द्रीय एशिया तथा यूरोप का कुछ भाग है।

एक चौथा भाषा परिवार सेमिटिक (Semitic) परिवार है। अराबिक (Arabic) भाषा इस परिवार की प्रमुख सदस्य है।

अफ्रीका का सर्वप्रमुख भाषा-परिवार हामिटिक (Hamitic) परिवार है। इसके अतिरिक्त बाँटू (Bantu) भाषा-परिवार भी महत्त्वपूर्ण अफ्रीका-परिवार है।

भारत और उसकी जनजातियों की भाषाएँ
(Languages of India and of Its Tribes)

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की भाषाओं को चार प्रमुख परिवारों में बाँटा जा सकता है। वे निम्नवत् हैं —

(१) **इण्डो-यूरोपियन अथवा आर्यन भाषा परिवार** जिसके अन्तर्गत उत्तरी भारत की प्रमुख भाषाएँ आती हैं, जैसे हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, गुजराती और उड़िया।

(२) **द्राविडियन (Dravidian) भाषा-परिवार** जिसके कि सदस्य मध्य और दक्षिणी भारत में रहते हैं। इसके अन्तर्गत चार प्रमुख साहित्यिक भाषाएँ आती हैं और वे हैं—कन्नड, तामिल, तेलगू और मलयालम। इसके अतिरिक्त भी इस परिवार के अन्तर्गत कुछ अन्य भाषाएँ भी सम्मिलित हैं जो कि अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और दक्षिणी भारत तथा मध्य व पूर्वी भारत में निवास करने वाले जनजातीय समूहों में प्रचलित हैं।

अन्य दो भाषा-परिवारों का, एक-दो उदाहरणों को छोड़कर, भारत में अधिक विकास नहीं हुआ है और वे बहुत अधिक पिछड़े हुए जनजातीय समूहों में प्रचलित हैं। ये दो भाषा-परिवार निम्नलिखित हैं —

(३) **आस्ट्रिक भाषा-परिवार** की दो शाखाएँ हैं—एक तो आस्ट्रो-ऐशियाटिक

शाखा जिसके अन्तर्गत मध्य और पूर्वी भारत की कोल या मुण्डा बोलियाँ, निकोबार द्वीप-निवासियो की बोली तथा स्याम और इण्डोचीन (वियतनाम) मे प्रचलित भाषाएँ आती हैं। आस्ट्रिक भाषा-परिवार की दूसरी शाखा आस्ट्रोनेशियन (Austronesian) शाखा है, जिसके अन्तर्गत इण्डोनेशिया की राष्ट्र-भाषा तथा मलाया, माइक्रोनेशिया, मेलानेशिया तथा पॉलीनेशिया की भाषाएँ आती हैं।

(४) **चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार** मे हिमालय के दक्षिणी ढालो, उत्तरी पजाव से भूटान, उत्तरी तथा पूर्वी बगाल और आसाम मे पायी जाने वाली इण्डो-मगोलॉयड प्रजाति के लोगो मे प्रचलित जनजातीय भाषाएँ आती है।

भाषा-परिवार के आधार पर भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण निम्न ढग से किया जाता है —

(अ) आस्ट्रिक भाषा-परिवार (Austric speech family)—इसमे मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल तथा मुण्डा समूह की भाषाएँ और बोलियाँ आती हैं। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार इस प्रकार की भाषाएँ बिहार, उडीसा, बगाल और आसाम मे प्रचलित सथाली, मुन्दारी, हो, खरिया, भूमिज, गारो तथा खासी भाषाएँ या बोलियाँ हैं। कोर्कू भाषा मध्य प्रदेश और बरार के जनजातीय समूहो मे बोली जाती है तथा साथरा और गाडवा भाषा उडीसा की जनजातियो मे बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त आसाम के खासियो तथा निकोबार द्वीप-निवासियो की भाषा भी इसी परिवार मे आती है।

(ब) द्राविड भाषा-परिवार (Dravidian speech family)—इन्हे बोलने वाली जनजातियाँ मध्य तथा दक्षिणी भारत मे पायी जाती हैं। इस भाषा परिवार के अन्तर्गत तेलगू, कन्नड, तामिल और मलयालम के अतिरिक्त दो अन्य भाषाएँ भी आती हैं, जो अधिक विकसित नही हैं, पर इनको बोलने वाले सभ्यता की दृष्टि से अधिक उन्नत है। ये लोग तूलूस तथा कूर्ग निवासी कोटाग हैं। इनको जनजातियो मे नही रखा गया है। गोड जनजाति मध्य प्रदेश, हैदराबाद तथा आन्ध्र राज्यो मे फैली हुई है तथा द्राविड भाषा बोलती है। उडीसा की कुन्ध जनजाति के लोग, बिहार और उडीसा के कुरुख और उराँव तथा बिहार की राजमहल पहाडियो के माल्टो कुई भाषा बोलते हैं जो कि इसी भाषा-परिवार के अन्तर्गत आती है। टोडा, मलेर, पोलिया, सवर, कोया, पनियन, चेंचू, इरूला, कादर आदि जनजातियाँ भी द्राविड भाषा बोलती हैं।

(स) चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार (Sino-Tibetan speech family)—इसके अन्तर्गत नेपाल, दार्जिलिंग, त्रिपुरा, मणिपुर आदि स्थानो मे रहने वाली जनजातियाँ आती हैं।

परन्तु उपरोक्त वर्गीकरण थोडा-बहुत सैद्धान्तिक ही कहा जा सकता है क्योकि अनेक भारतीय जनजातियाँ ऐसी हैं जो कि अपनी मूल-भाषा के अतिरिक्त एक-दो अन्य भाषाओ को भी बोल लेती है। उदाहरणार्थ, मध्य क्षेत्र की अधिकतर जनजातियाँ दो भाषाएँ—एक तो अपनी और दूसरी हिन्दुस्तानी या उडिया या बगाली भाषा बोलती हैं। इस प्रकार उराँव और मुण्डा जनजातियाँ हिन्दुस्तानी भाषा बोल लेती हैं और सथाली बगला भाषा समझते हैं।

भाषा व संस्कृति भाषा का महत्त्व
(Language and Culture : Importance of Language)

इसके अन्तर्गत हम तीन प्रमुख समस्याओ को सुलझाने या तीन प्रश्नो का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे । वे प्रश्न है—क्या भापा और प्रजाति मे कोई सम्बन्ध है ? भापा व सस्कृति का वास्तविक सम्बन्ध क्या है ? मानवीय जीवन मे और मानवशास्त्रीय अध्ययन मे भापा का क्या महत्त्व है ?

भापा के महत्त्व एव भापा व सस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध का सक्षिप्त परिचय हम इम अध्याय के आरम्भ मे ही द चुके है । उनमे से श्री क्रोवर (Kroeber) के एक वाक्य को यहाँ दोहराना अनुचित न होगा । आपने लिखा है कि "सस्कृति का प्रारम्भ तभी हुआ जब भापा उपस्थित थी और फिर उसके वाद से उनमे मे किसी की भी समृद्धि का अर्थ दूसरे का विकाम हुआ ।" इमी एक वाक्य से ही भापा का महत्त्व, भापा व सस्कृति का पारस्परिक मम्वन्ध मव कुछ स्पष्ट हो जाता है । फिर भी इम विपय मे हम थोडी और विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे ।

कुछ विद्वानो ने भापा व सस्कृति के पारस्परिक सम्वन्ध को अनावश्यक रूप से अस्पष्ट कर दिया है। किसी भी व्यवस्थित विचारधारा का विकास शब्दो से प्राप्त सकेतो या स्वय शब्दो के विना सम्भव नही है । उसी प्रकार धर्म तथा सामाजिक सगठन के अन्य पक्ष जैसे जाति-प्रथा, विवाह मम्बन्धी नियम, नाते-रिश्तेदार का परिचय, कानून आदि भापा पर ही निर्भर है । दूसरी ओर, मरल प्रकार के आविष्कार और व्यावहारिक कला का विकास भापारहित समाज मे भी अनुकरण के आधार पर सम्भव हो सकता है।[6] फिर भी यह केवल प्रारम्भ की वात है, जैसे ही सस्कृति के विकास या प्रसार का प्रश्न आता है वैसे ही भापा का महत्त्व हमारे लिये स्पष्ट हो जाता है ।

प्रत्येक भापा ही सस्कृति का एक अग है और यह भी सीखे हुए व्यवहार (learned behaviour) का ही एक रूप है। कोई भी व्यक्ति 'भापा की मूलप्रवृत्ति' (instinct of language) को लेकर जन्म नही लेता और न इस प्रकार की कोई मूलप्रवृत्ति होती ही है । प्रत्येक को भापा सीखनी होती है । इसलिये हम कह सकते हैं कि भाषा का कुछ भी मानव या मानव-ममूह विशेष की शारीरिक विशेषताओ द्वारा निर्धारित नही होता है । चूंकि भापा का कोई सम्बन्ध शारीरिक विशेषताओ से नही है, इसलिये भाषा और प्रजाति के वीच भी कोई सम्वन्ध स्थापित नही किया जा सकता है। कुछ भापा विशेष कुछ प्रजातियो के मदस्यो द्वारा वोली जाती है, इसका एक मात्र कारण यह है कि विभिन्न प्रजातियो मे पृथकता है । एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण एक प्रजाति विशेष वोलने का अपना एक विशिष्ट तरीका विकसित कर लेती है । परन्तु जैसे ही यह पृथकता दूर हो जाती है वैसे ही परिस्थिति भी वदल जाती है । एक अग्रेज अगर हिन्दी भाषा को ठीक से वोल नही पाता है तो उसका कारण यह नही है कि प्रजातीय दृष्टिकोण से वह हिन्दी भापा वोलने के लिये उपयुक्त नही है । वह हिन्दी ठीक से इसीलिये नही वोल पाता है कि हिन्दी वोलने या सीखने की प्रचेष्टा वह गम्भीरतापूर्वक नही करता है। अगर वह ऐसा करे

6 Kroeber, *op cit*, pp 223-224

तो उसके लिये हिन्दी ही नही, दुनिया की किसी भी भाषा को बोलना और लिखना सम्भव है। अत. हम इस निष्कर्ष पर आते है कि प्रजाति और भाषा मे कोई सम्बन्ध नही है जब कि भाषा और सस्कृति का सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ है।[7]

श्री सापिर (Sapir) ने भाषा तथा सस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध पर अत्यधिक बल दिया है। उनका कहना है कि अगर हमे किसी समाज के विषय मे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है तो उस समाज की भाषा का ज्ञान पहले प्राप्त करना होगा क्योकि जब तक भाषा का ज्ञान न होगा तब तक उस समाज के लोगो के मूल विचारो तथा भावनाओ, विश्वासो, लोक-कथाओ, पौराणिक गाथाओ आदि के सम्बन्ध मे भी हमे कोई भी जानकारी प्राप्त न हो सकेगी। इसका कारण यह है कि लोक-जीवन के इन पक्षो का परिचय हमे भाषा के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। इन्हे जानने और वैज्ञानिक रूप से जानने का और कोई रास्ता नही है। श्री सापिर ने इस बात पर भी बल दिया है कि प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण सस्कृति को या सास्कृतिक आवश्यकताओ को व्यक्त करने के लिये पर्याप्त होती है। इस अर्थ मे प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण सस्कृति को अपने मे छिपाये या सुरक्षित रखती है। इस कारण अगर सस्कृति के रहस्य को जानना है तो भाषा के द्वार को पहले खोलना होगा। भाषा के माध्यम से ही विश्व-दर्शन या किसी समाज विशेष का दर्शन सम्भव है। श्री सापिर ने इसी कारण स्पष्ट ही लिखा है कि भाषा और हमारी विचारधारा इस प्रकार एक-दूसरे से घुली-मिली हुई हैं कि उन्हे पृथक् नही किया जा सकता है, एक अर्थ मे वे दोनो एक ही हैं।[8]

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मानवशास्त्रीय अध्ययन, और विशेषकर आदिकालीन समाज के अध्ययन मे भाषा का महत्त्व अत्यधिक है। इस अति उत्तम उदाहरण मे ईसाई मिशनरी के लोग आते हैं। इनका प्रमुख कार्य जनजातीय समाजो मे जाना और उन्हे ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिये प्रेरित करना था। परन्तु इस काम मे सर्वप्रथम उन्हे उनकी भाषा सीखनी पडती थी तब कही वे उनके आधारभूत धार्मिक विश्वासो को समझ पाते थे और फिर उसीके अनुसार अपनी योजना बनाकर उनको धर्म-परिवर्तन करने के लिये कहते थे।

श्री बोआस ने लिखा है कि "हमारे लिये यह कहना ही उचित होगा कि भाषा सस्कृति की अवस्था की एक प्रतिछाया है और अपने विकास मे सस्कृति की मागो का अनुसरण करती है।"[9] परन्तु साथ ही, श्री बोआस ने यह भी लिखा है कि सस्कृति पर भाषा का प्रभाव भी स्पष्टत पडता है। शब्द और वाक्य भी सास्कृतिक प्रतीक हैं और उनमे उतना ही उद्वेग छिपा हुआ है जितना कि सस्कृति के अन्य प्रतीको मे। एक देवता का नाम उच्चारण करने मे जो उद्वेग प्रकाश पाता है, सास्कृतिक दृष्टिकोण से उसका

---

7 E A Hoebel, *op cit*, p 565

8 "Language and our thought-grooves are in extricably inter-woven, are, in a sense, one and the same" Edward Sapir, *Language*, New York, p 232

9 "We should rather say that language is a reflection of the state of culture and follows in its development the demand of culture" Franz Boas, *General Anthropology*, New York, 1938, p 142

महत्त्व कम नही है। उदाहरणार्थ, 'प्रजातंत्र' या 'स्वतन्त्रता' या 'वन्देमातरम्' या 'जय-हिन्द' शब्द हमे किसी भी सीमा तक प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं, इसके अनेक उज्ज्वल दृष्टान्त मानव-इतिहास मे बिखरे पडे हुए हैं। यह सब कुछ ही भाषा के प्रभावो का परिणाम नही है, फिर भी इनसे भाषा तथा संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सामाजिक जीवन मे भाषा के महत्त्व का पता चलता है।

भाषा का सर्वप्रमुख महत्त्व यह है कि इसके माध्यम से विचारो का आदान-प्रदान सम्भव होता है। अर्थात् भाषा ही सामाजिक अन्त क्रिया का आधार है। सामाजिक उन्नति या विकास के लिये तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण मे सामाजिक अन्त -क्रिया का महत्त्व वास्तव मे अत्यधिक है। भाषा के माध्यम से माता, पिता, मित्र व शिक्षक तथा बालक मे जो अन्त क्रिया होती रहती है उसीके परिणामस्वरूप एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी एक सामाजिक प्राणी मे बदल जाता है अर्थात् बालक का सामाजीकरण सम्भव होता है। अत स्पष्ट है कि मानव सभ्य भाषा के कारण है।

भाषा के माध्यम से विभिन्न समाजो के बीच केवल विचारो का ही आदान-प्रदान नही होता है बल्कि आविष्कारो का भी प्रसार सम्भव होता है। इससे सामाजिक उन्नति की प्रक्रिया सरल हो जाती है। यद्यपि अब भी भाषा की भिन्नताओ के कारण विभिन्न समाजो के बीच अन्त क्रिया या आदान-प्रदान पूर्ण मात्रा मे नही हो पाता है, फिर भी एक 'विश्व-राज्य' का जो सपना आज भी हम लोग देख रहे हैं, वह एक-भाषा के आधार पर ही सम्भव है।

डा० दुबे ने लिखा है कि "भाषा के माध्यम से मानवीय विचार और क्रियाएं विस्तार पाने के अतिरिक्त मौलिक परम्परा का रूप ग्रहण कर स्थायित्व भी पाती है।" जैसा कि हम पिछले एक अध्याय मे बता चुके हैं, मौखिक परम्परा के रूप मे प्रथा, पौराणिक कथा, लोक-गीत, लोक-गाथा आदि की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही सम्भव है और इनकी अभिव्यक्ति से सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का परिचय प्राप्त हो जाता है। भाषा के आधार पर अनेक सांस्कृतिक तत्त्व एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होते रहते हैं। इस अर्थ मे भाषा संस्कृति की वाहक (vehicle) है।

श्री बोआस (Boas) के अनुसार ऐतिहासिक पुनर्निर्माण (historical reconstruction) मे भी भाषा का पर्याप्त महत्त्व है। एक मानव-समूह जिस स्थान से आकर एक समाज विशेष मे बस गया है इसका पता भाषा-सम्बन्धी प्रमाणो मे सरलता से लगाया जा सकता है। संस्कृति के दूसरे पक्षो के बारे मे भी भाषा के अध्ययन से पता लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, अगर एक प्रविधि या यंत्र को किसी विदेशी नाम से पुकारा जाता है तो हम यह अनुमान कर सकते है कि वह प्रविधि या यंत्र किस देश की नकल है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम अपने शब्दो को दोहरा सकते हैं कि भाषा मानव की सबसे बडी शक्ति है। भाषा की सहायता से ही मानव मनुष्य के रूप मे, प्रगतिशील सामाजिक प्राणी के रूप मे जीवित है, अमर है। भाषा के कारण ही मानव पशु-स्तर से कही ऊँचे पर है।

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer *An Introduction to Social Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959

2 Boas, F *General Anthropology*, D C Heath and Co , New York, 1938

3 Calverton, V F *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931

4 Herskovits, M J *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956

5 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

6 Kroeber , *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co , New York, 1948

7 Titiev, M *Introduction to Cultural Anthropology*, Henry Holt and Co , New York, 1959

१९

आदिकालीन विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा आविष्कार

(PRIMITIVE SCIENCE, TECHNOLOGY AND INVENTION)

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer *An Introduction to Social Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959

2 Boas, F *General Anthropology*, D C Heath and Co , New York, 1938

3 Calverton, V F *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931

4 Herskovits, M J *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956

5 Hoebel, E A *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958

6 Kroeber , *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co , New York, 1948

7 Titiev, M *Introduction to Cultural Anthropology*, Henry Holt and Co , New York, 1959

१९

आदिकालीन विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा आविष्कार

(PRIMITIVE SCIENCE, TECHNOLOGY AND INVENTION)

विषय-सूची—उन्नीसवाँ अध्याय

१ भूमिका—विज्ञान क्या है ?
२. आदिकालीन विज्ञान
३ आदिकालीन आविष्कार
४ आदिकालीन प्रौद्योगिकी
५. निष्कर्ष

अध्याय १९

आदिकालीन विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा आविष्कार (Primitive Science, Technology and Invention)

भूमिका—विज्ञान क्या है ? (Introduction—What is Science ?)

साधारणत विज्ञान के अर्थ के सम्बन्ध मे लोगो के दिल मे गलत धारणाएँ हैं। प्राय. विज्ञान मे कुछ विशेष प्रकार की अध्ययन-वस्तु समझी जाती है। जैसे, विज्ञान को केवल रसायन या भौतिक पदार्थ और जीवित प्राणी या पौधो के अध्ययन तक ही सीमित मान लिया जाता है, जो कि सर्वथा गलत है। विज्ञान किसी विशेष अध्ययन-वस्तु का एकाधिकार नही है। कोई भी अध्ययन-वस्तु विज्ञान हो सकती है अगर उससे प्राप्त ज्ञान वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राप्त हुआ है। विज्ञान का आधार अध्ययन वस्तु नही, वैज्ञानिक पद्धति है। अत हम विज्ञान को निम्न शब्दो मे परिभाषित कर सकते है—**किसी भी घटना (phenomenon) के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा प्राप्त ज्ञान के क्रमबद्ध या नियमबद्ध सग्रह को विज्ञान कहते हैं।**"[1] इस प्रकार विज्ञान का सम्बन्ध ज्ञान (knowledge) के सग्रह से तथा वैज्ञानिक पद्धति मे होता है, अर्थात् वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त ज्ञान को ही विज्ञान कहते है। एक वैज्ञानिक केवल तथ्यो (facts) का अध्ययन करके ज्ञान को प्राप्त ही नही करता है, बल्कि उसे क्रमबद्ध रूप मे उपस्थित भी करता है ताकि तथ्य स्वय स्पष्ट हो सके। इसीलिये विज्ञान का अर्थ वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राप्त ज्ञान का क्रमबद्ध सग्रह है। श्री पॉइनकेयर (Poincare) ने ठीक ही कहा है कि "विज्ञान तथ्यो से इस प्रकार बना है जिस प्रकार पत्थरो से एक मकान बना होता है, परन्तु केवल तथ्यो के एकत्रीकरण को उसी प्रकार विज्ञान नही कहा जा सकता जिस प्रकार पत्थरो के ढेर को मकान नही कह सकते।" इन पत्थरो के ढेर से मकान बनाने का एक तरीका या पद्धति होती है। इसी पद्धति से मकान बनता है, चाहे पत्थर या ईंट किसी प्रकार का क्यो न हो, उसी प्रकार कोई भी अध्ययन-वस्तु विज्ञान हो सकती है, अगर वह वैज्ञानिक पद्धति को अपनाती है।

सर्वश्री मार्टिनडाल तथा मोनाचेसी (Martindale aud Monachesi) ने बडे ही सुन्दर ढग से विज्ञान के आवश्यक तत्त्वो को समझाया है। उनके अनुसार, "विज्ञान

---

1 "Science is a systematised body of knowledge concerning any phenomenon and acquired through scientific method" R N Mukherjee, *Samajshastra*, Part I, Hindusthan Book House, Kanpur, 1961, p 53

भी विचार का एक तरीका है और अन्य सभी विचारो की तरह यह भी समस्याओ के प्रत्युत्तर (response) मे ही उदय होता है। यह अन्य सभी विचारो से प्रधानत पद्धति मे ही भिन्न है। विज्ञान की विशेष पद्धति (१) अवलोकन या निरीक्षण (observation) पर बल देती है, (२) विचारो की वास्तविक परीक्षा करने का प्रयत्न करती है, (३) आदर्श अवस्थाओ और प्रयोगो का विकास करती है जिससे विचारो की परीक्षा हो सके, (४) ऐसे नये यत्रो का आविष्कार करती है जिससे अधिक निश्चित अवलोकन और अधिक यथार्थ माप सम्भव हो, (५) अपने अध्ययन से वैज्ञानिको के मूल्याकनो का दृढता से बहिष्कार करती है और इस समस्या पर एकाग्रता रखती है कि वास्तवित रूप मे कोई चीज या घटना 'कैसे' हुई, न कि 'क्यो' हुई या क्या होनी 'चाहिये'।[2]

उपरोक्त विवेचना के आधार पर इस निष्कर्ष पर आया जा सकता है कि विज्ञान के आवश्यक तत्त्व निम्नवत् हैं—(i) वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना, (ii) अवलोकन द्वारा तथ्यो का सग्रह, विश्लेषण और वर्गीकरण करना, (iii) 'क्या है' का वर्णन करना, (iv) 'कैसे' का उत्तर देना, अर्थात् कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित करना और उसकी व्याख्या करना, (v) निष्कर्षों की परीक्षा और पुनर्परीक्षा हो सकना, और (vi) 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' की ओर सकेत करना, अर्थात् किसी घटना (phenomenon) के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी करने की योग्यता होना। विज्ञान की प्रकृति के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से जान लेने के पश्चात् अब हम आदिकालीन विज्ञान के विषय मे विवेचना करेंगे।

आदिकालीन विज्ञान
(Primitive Science)

आदिकालीन विज्ञान का स्वरूप उस प्रकार का नही था जिस रूप मे वह आज हमे दिखायी देता है। दूसरे शब्दो मे, आदिकालीन विज्ञान मे उपरोक्त सभी तत्त्व या विशेषताएँ नही पायी जाती थी जो कि आधुनिक युग के विज्ञान मे देखने को मिलती हैं। प्रकृति के रहस्य को समझने या जानने का प्रयत्न आदिकालीन मानव भी करता था, परन्तु उसका मस्तिष्क आज के मानव की भाँति विकसित न होने के कारण, वह क्रमबद्ध रूप से न तो उन रहस्यो को उद्घाटित कर पाता था और न ही घटनाओ का विश्लेषण तथा निरूपण। आदिकालीन मानव प्रकृति की ही गोद मे पलता है, प्रकृति या प्राकृतिक घटनाओ से उसका सम्पर्क अति घनिष्ठ है। घनघोर वर्षा तथा बिजली की चमक या बादलो की गडगडाहट उसे भयभीत करती है, आँधी उसकी अति कष्ट से बनी झोपडी को उडा देती है और तूफान उसकी नाव को उलट देता है। आश्चर्यचकित आदिमानव इनके कारणो को जानने का बार-बार प्रयत्न करता है, पर हर बार उसे और अधिक आश्चर्य होता है। अन्त मे असफल होकर ससार की घटनाओ का सचालन तथा नियत्रण वह किसी अलौकिक शक्ति से मानता है। आदिमानव के विचार मे यह अलौकिक शक्ति

2. Martindale and Monachesi, *Elements of Sociology*, Harper and Bros, New York, 1941, p 24

है जो सब कुछ करती है। दूसरे शब्दो मे, आदिमानव ने समस्त चीजो को ईश्वर के प्रतिरूप के रूप मे या किन्ही अलौकिक शक्ति की तत्कालिक क्रियाओ के परिणाम के रूप मे देखा, माना या समझा। धारणा यह होती है कि समस्त घटनाओ (phenomena) का कार्यरूप अलौकिक शक्ति (देव-देवी या आत्मा) है जो कि समस्त चीजो मे व्याप्त है। पेड-पौधे, जल-प्रवाह, चर-अचर आदि सभी मे वही शक्ति क्रियाशील है। प्राकृतिक घटनाओ के घटित होने मे आदिमानव को केवल एक ही कारण दिखाई देता है और वह कारण है देवी-देवता या ऐसी ही अन्य अलौकिक शक्ति। यह विचार ठीक है या गलत, यह दूसरी बात है परन्तु आदिमानव इसी रूप मे अपने आस-पास के विषय मे सोचता है और मानव तथा पशु मे इसी चिन्तन करने की शक्ति के आधार पर एक महान अन्तर हो जाता है।

परन्तु इसका तात्पय यह नही है कि आदिवासियो को किसी विषय मे कोई ज्ञान (knowledge) होता ही नही है। ऐसा नही है, फिर भी उनका ज्ञान अधिकतर व्यावहारिक-ज्ञान होता है। व्यावहारिक ज्ञान मे वैज्ञानिक ज्ञान की भाँति न तो कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और न ही किसी घटना के सम्बन्ध मे बिल्कुल ठीक-ठीक भविष्यवाणी करने की योग्यता होती है। इसका कारण यह है कि आदिमानव का ज्ञान सामान्य चीजो को देखने या जीवन मे होने वाले अनुभवो पर अधिक निर्भर रहता है। ज्ञान की प्राप्ति के लिये वे व्यवस्थित ढग से सोच-विचार कर निश्चित वैज्ञानिक पद्धतियो को व्यवहार मे नही लाते और न ही ऐसा करना जानते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिमानव का व्यावहारिक ज्ञान यथार्थ वैज्ञानिक ज्ञान नही है फिर भी यह मानना होगा कि वैज्ञानिक ज्ञान की नीव व्यावहारिक ज्ञान से ही पडती है। यह नही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति व्यावहारिक ज्ञान से नाव बनाता है और बादल व हवा के एक विशेष रूप व दिशा को देखकर तूफान आने का अनुमान करता है और नाव की यात्रा को स्थगित कर देता है, वह वैज्ञानिक ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ है, अर्थात् उसका यह कार्य विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत बिल्कुल ही नही आता। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि आदिमानव के लिये एक नाव को बनाना तब तक सम्भव नही है जब तक उसे अनेक वैज्ञानिक नियमो का ज्ञान न हो। उसे पता होना चाहिये कि नाव का पानी पर तैरना किन-किन बातो पर निर्भर है, लीवर का नियम कैसे काम करता है, जल मे नाव को किस भाँति नियत्रण मे रखा जा सकता है, इत्यादि। ये वैज्ञानिक नियम है, इनका नाव बनाने वाले को व्यावहारिक तथा क्रियात्मक ज्ञान होना ही चाहिये, तभी वह नाव बना सकेगा और तभी उसकी वह नाव पानी पर तैरेगी।

केवल नाव के सम्बन्ध मे ही नही बल्कि अन्य अनेक चीजो के विषय मे आदिमानव को व्यावहारिक ज्ञान या सामान्य ज्ञान होता है। आदिमानव को भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये कुछ चीजो की आवश्यकता होती है। इन चीजो का उसे उत्पादन करना होता है या इन चीजो को वह बनाता है। इन चीजो को बनाने के लिये उसे कुछ कच्चे माल तथा उपकरणो की आवश्यकता होती है। इन उपकरणो आदि को बनाने के लिये भिन्न-भिन्न पदार्थो तथा उनके गुणो का ज्ञान आवश्यक है। आदिकालीन समाज के लोग भी जानते हैं कि

लकडी, घास, जड, खाल ग्रादि चीजो से कुछ चीजें बनायी जा सकती हैं। इन चीजो से न केवल उनके रोज के काम मे आने वाली चीजें बन सकती हैं, अपितु अनेक उपकरणो का निर्माण भी सम्भव है। आदिकालीन समाज के लोगो को यह भी ज्ञान है कि एक ही चीज कई प्रकार की होती है, उनमे से प्रत्येक प्रकार को एक खास चीज बनाने के लिये व्यवहार मे लाना ही उचित है। उदाहरणार्थ, धनुष-बाण बनाने के लिये जिस लकडी को काम मे लाया जा सकता है, झोपडी के लिये आवश्यक खम्भो को बनाने के लिये वह लकडी बेकार प्रमाणित होगी। पेडो की छाल भी अनेक कामो मे आती है। आदिम समाज के लोगो को यह ज्ञान है कि किस छाल से रस्से बनते हैं और किस छाल को कपडे के रूप मे काम मे लाया जा सकता है। भिन्न-भिन्न वनस्पतियो के विषय मे ज्ञान भोजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, जगलो मे अनेक प्रकार के कन्द, मूल आदि पाये जाते हैं। आदिम समाज का मानव यह जानता है कि उनमे से कौन-कौन से कन्द-मूल स्वादिष्ट और मीठे तथा कौन-कौन से कन्द-मूल स्वादहीन, कडवे या विषैले होते हैं। भोजन के रूप मे मीठे स्वादिष्ट कन्दो का तो वे सदा ही स्वागत करते हैं, किन्तु स्वादहीन कन्दो को भी शहद, मीठे फल, महुआ आदि से मिला कर स्वादिष्ट बनाने का ज्ञान उन्हे होता है। साथ ही, उन्हे यह ज्ञान भी होता है कि कडवे कन्दो की कडवाहट किस प्रकार दूर करके उन्हे भोजन के रूप मे उपयोग मे लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कौन-कौन से कन्द औषधि के रूप मे उपयोगी हैं, इस का ज्ञान भी आदिम समाजो के लोगो को होता है।

आदिकालीन मानव को गणित-सम्बन्धी कुछ ज्ञान भी होता है। वे लोग ३ से ४-५ तक की गिनती सरलता से कर लेते है। यूकेटन के माया लोगो (The Maya of Yucatan) ने घटाने और जोडने की विधि को भी जान लिया है। कुछ जनजातियाँ विभिन्न सख्याओ को बताने के लिये विभिन्न प्रकार के चिह्नो (signs) या प्रतीको (symbols) का प्रयोग करती हैं। उदाहरणार्थ, अजटेस (Aztecs) जनजाति मे उँगली १ का प्रतीक है, झण्डा २० का और केश ४०० का।[3] प्रशान्त महासागर के उत्तर-पश्चिम तटवर्ती इण्डियन जनजाति मे हजारो तक की सख्या गिनी जाती है। इसका कारण यह है कि इस समाज मे वस्तुओ को खरीदने व बेचने, व्यापार करने तथा अपराधी से जुर्माना वसूल करने की प्रथा का प्रचलन है। इसीलिये यहाँ के लोगो को गिनती की आवश्यकता होती है।

आदिमानव को नक्षत्र तथा ऋतु-सम्बन्धी ज्ञान भी है। प्राय सभी आदिवासियो की वर्ष-गणना चन्द्रमा के आधार पर बनी है। थाम्पसन इण्डियन (Thompson Indians) चन्द्रमा के आधार पर पूरे साल को विभिन्न कालो मे इस प्रकार बाँटते हैं—(१) हरिणो का सभोग काल, (२) शरद् का चाँद, जब घर के भीतर रहना उचित है, (३) हरिणो के सीग छूटने का चाँद, (४) वसन्त-वायु का काल, (५) सर्दी के बाद घर से निकलने का काल, (६) मछलियो के पकडने का काल, (७) कन्द खोदने का

3 Franz Boas, *General Anthropology*, D C Heath and Co, New York, 1938, p 276

काल, (८) बेरी पकने का काल, (९) ग्रीष्म काल, (१०) सालमन मछली पकडने का काल, (११) मछली के नदी के स्रोत पर पहुँचने का काल। साल के बारहवें हिस्से का इनके यहाँ कोई नाम नही है, अर्थात् इनके ज्ञान के अनुसार ये साल मे ग्यारह माह ही गिनते हैं।[4] कोरयक (Koryak) जनजाति मे साल के बारह महीने गिने जाते है, परन्तु इनमे से अधिकतर महीनो का हरिण के जीवन के किसी-न-किसी पहलू के साथ सम्बन्ध होता है।[5] हॉट्टेनटॉट (Hottentot) तथा दक्षिणी अमेरिका के इण्डियन एक माह का प्रारम्भ कृत्तिका-नक्षत्र (Pleiades) के उदय से गिनते है। इस प्रकार नक्षत्र सम्बन्धी अन्य ज्ञान भी जनजातियो को होता है। माइक्रोनेशियन (Micronesian) लोग समुद्र मे नाव चलाने के लिये नक्षत्रो के आधार पर ऐसे चार्ट बनाते हैं जिनको देखकर नाव चलाते हुए वे अपने निश्चित लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं।[6]

आदिकालीन मानव को जगली जडी-बूटियो को औषधि के रूप मे प्रयोग करने का भी पर्याप्त ज्ञान होता है। इन जडी-बूटियो की सहायता से वे लोग घाव को ठीक करते, दस्त को बन्द करते, शरीर के बुखार को बाहर निकालते, तथा गन्दे फोडे को दागकर जला देते हैं। अफ्रीका की कई जनजातियाँ चेचक की बिमारी से बचने के लिये कई उपायो को अपनाती हैं। कोका के पत्तो को दर्द कम करने के लिये प्रयोग मे लाया जाता है। कुनीन का प्रयोग आदिवासियो मे ही सर्वप्रथम किया गया। टूटी हुई हड्डी को बैठाने तथा उसमे मालिश करने की विधियो से भी जनजातीय समाज के लोग खूब परिचित होते हैं।

आदिकालीन आविष्कार
(Primitive Invention)

मानव को, चाहे वह आदिकालीन मानव हो या आधुनिक, अपनी जीविका-पालन के हेतु अनेक प्रकार की चीजो की आवश्यकता होती है। इनमे से सभी चीजे उसे प्रकृति से प्राप्त नही होती। अधिक-से-अधिक उसके लिये आवश्यक कच्चा माल उसे प्रकृति से मिल जाता है, परन्तु उस कच्चे माल से विविध चीजो को बनाने का काम स्वय मानव को करना पडता है। यह आविष्कार के द्वारा सम्भव होता है। आदिमानव प्रकृति की गोद मे पलता है, उसी मे घूमता-फिरता है। इस घूमने-फिरने के दौरान मे वह अनेक चीजो को देखता है, अनेक अनुभवो को प्राप्त करता है तथा अनेक नवीन परिस्थितियो का सामना करता है। इन सबसे उसे ज्ञान प्राप्त होता है जो कि आविष्कार का पथ प्रशस्त करता है। हम यहां आदिकालीन आविष्कार की कुछ झलक प्रस्तुत करेंगे।

(१) **आग जलाना**—आग जलाने की कला का आविष्कार मानव-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। इसके पहले मनुष्य और पशु मे अधिक अन्तर नही था। मनुष्य भी पशुओ की भाँति कच्चा भोजन, माँस आदि खाता था। श्री बोआस (Boas) के अनुसार आग जलाने की कला का आविष्कार पूर्व मौस्ट्रियन काल (Pre-Mousterian time) मे हुआ था। आग के अवशेष गुफाओ मे पाये गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि

4 *Ibid*, p 274
5 *Ibid*, p 274
6 *Ibid*, pp 274-275

या तो प्राकृतिक ढग से जो आग जल उठती है, उसी से आदिमानव कुछ आग को अपने व्यवहार मे लाने के लिये अपनी गुफा मे ले आता होगा या स्वय ही गुफा के अन्दर कृत्रिम तरीको से आग जलाता था। जगलो मे आग अपने-आप लगा करती है, परन्तु पहले-पहल आदिमानव इस आग से अवश्य ही डरता होगा क्योकि इससे उसे काफी नुकसान उठाना पडता था। पर धीरे-धीरे उसने इसकी उपयोगिता को जान लिया होगा। यह ज्ञान सयोगवश ही हुआ होगा। उदाहरणार्थ, पहले मानव पशु को मारकर उसका मास कच्चा ही खा जाता था। पर जगल मे आग लगने से कई जानवर उसमे जल जाते थे। उन भुने हुए जानवरो के मास को खाने का सयोग उस काल के मानव को होता था। इस प्रकार का मास न केवल खाने मे स्वादिष्ट होता था, वल्कि वह पचता भी जल्दी था। इससे उसे यह ज्ञान हुआ कि आग मास भूनने के काम मे लायी जा सकती है। इसी कारण जब कभी भी उसे कही आग मिल जाती थी, वह उसे ले आता था और उसे सभालकर इस भाँति रख देता था कि वह बुझ न जाय। ऐसा करने के दौरान मे उसे एक ज्ञान और हुआ और वह यह कि आग पास रहने से उसे सर्दी भी कम लगती है। आज भी इस प्रकार की कतिपय जनजातियाँ हैं जो कि आग जलाने की कला से परिचित न होने के कारण आग को सभालकर रखती हैं। परन्तु मनुष्य ने स्वय अपने-आप आग जलाना कब और कैसे सीखा, इस विषय मे कुछ भी ठीक-ठीक नही कहा जा सकता है। श्री बोआस (Boas) ने आग जलाने के दो प्रमुख तरीको का उल्लेख किया है[7]—एक तो रगड (friction) का तरीका और दूसरा प्रहार का तरीका (strike-a-light) है। प्रथम तरीके मे एक लकडी को दूसरी लकडी के ऊपर रखकर वरमे की तरह बहुत जोर से घुमाया जाता है। जहाँ लकडी घुमायी जाती है वहाँ कोई ऐसी चीज रख दी जाती है जो कि बहुत जल्दी आग को पकड लेती है। एस्किमो तथा उत्तरी साइबेरिया के लोग लकडी को नीचे रक्खी हुई चौडी लकडी पर वेग से हाथ से घुमाने के स्थान मे हाथ की लकडी मे, बरमे मे लपेटी रस्सी की तरह, एक रस्सी लपेटकर उसे बरमे की तरह घुमाते हैं जिससे कि आग उत्पन्न होती है। यह आविष्कार सभवत आदिम मानव के अनुभव के फलस्वरूप ही हुआ होगा। प्रहार का तरीका भी रोज के अनुभव पर आधारित है। मनुष्य ने कभी इत्तफाक से एक पत्थर को दूसरे पत्थर पर पटका होगा तो उसने देखा कि ऐसा करने पर आग की चिनगारी निकलती है। इस चिनगारी से ही आग जलाने की कला का आविष्कार हुआ होगा। परन्तु इस सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि आग जलाने की कला का आविष्कार कब, कहाँ और कैसे हुआ।

(२) भोजन पकाना—प्रारम्भ मे आग का सबसे बडा काम भोजन पकाना या मास को भूनना था। इसका कारण भी स्पष्ट है। पहले-पहल लोगो को उचित ढग से न तो चूल्हा बनाना आता था और न ही धातु का बर्तन बनाना, जिसमे कि भोजन पकाया जा सके। इस कारण उस समय भोजन को केवल भून लिया जाता था। भूनने के अनेक तरीके आदिकालीन समाजो मे पाये जाते थे। कही-कही एक गड्ढा खोदकर पत्थर को

7. *Ibid*, pp 239-241

लाल गर्म करके उसमे डाल दिया जाता है। इम पत्थर के ऊपर कुछ हरी टहनियो को रखकर उसपर उम मास या भोजन को रख दिया जाता है जिसे कि पकाना है। अनेक जनजातियाँ माँस या भोजन को राख और मिट्टी से बचाने के लिये उसे पहले पत्तो से लपेट लेती हैं और फिर उसे आग पर डालती हैं। इसमे एक ओर भोजन मे राख या मिट्टी नही भरती और दूसरी ओर पत्तो से निकली भाप से भोजन भी जल्दी पक जाता है। आस्ट्रेलिया की अधिकतर जनजातियाँ इसी प्रकार से भोजन पकाती हैं।

(३) मकान (Shelter or House)—पेट भरने के लिये भोजन की आवश्यकता मनुष्य की सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख आवश्यकता है। उसके बाद ही दूसरी आवश्यकता एक आश्रय या मकान की है। सर्वप्रथम इस प्रकार की कोई भी व्यवस्था मानव-जीवन मे नही थी और वह जगलो मे मारा-मारा फिरता था और पेड के नीचे सो जाया करता था। पर वर्षा आदि के समय मे पेड उसकी रक्षा नही कर पाते थे। उस समय उसे दौडकर आस-पास की किमी गुफा मे जाना पडता था। गुफा मे सर्वप्रथम उसने यह अनुभव किया कि गुफा के अन्दर रहकर वह आँधी, पानी तथा जगली जानवरो से अपनी रक्षा अधिक सरलता से कर सकता है। कहा जाता है कि गुफा को या ऐसे ही किसी स्थान को रहने के लिये व्यवहार करने का विचार सर्वप्रथम स्त्रियो के दिमाग मे ही आया था। अर्थात् आदिम मकानो का आविष्कार पुरुषो ने नही बल्कि स्त्रियो ने किया था। इसका कारण भी स्पष्ट है। पुरुष लोग तो शिकार करने के लिये दूर जगल मे चले जाते थे। स्त्रियो को बच्चो की देख-रेख करनी पडती थी। साथ ही, आस-पास के जगल से फल-मूल भी इकट्ठा करना पडता था। इस काम के दौरान मे बच्चो का बोझ लादना या उन्हे साथ ले जाना कष्टदायक था और उससे असुविधा भी काफी होती थी। साथ ही, बच्चो को पेड के नीचे असुरक्षित छोडकर जाया भी नही जा सकता था क्योकि ऐसा करने पर जगली जानवर उन्हे मार डालते या उठा ले जाते थे। ऐसी परिस्थिति मे स्त्रियो ने अपने अनुभव से ही बच्चो को गुफा के अन्दर रखना उचित समझा। इतना ही नही, कही बाहर जाने से पूर्व उस गुफा के मुँह को किसी बडे पत्थर से बन्द करके जाती थी जिससे कि कोई जगली जानवर उसमे प्रवेश न पा सके। बाद मे पत्थर के स्थान मे वृक्षो की टहनियो को आडा-बेडा बाँधकर गुफा के मुह को बन्द करने के काम मे लाना ही अधिक सुविधाजनक समझा गया। इसीसे दरवाजे का आविष्कार हुआ। इसके बाद मानव गुफा मे रहना छोडकर बाहर आया। गुफा के बाहर कुछ जमीन को साफ और समतल बनाकर उसमे झोपडी बनाना उसे आ गया। कहा जाता है कि यह विचार आदिमानव के मन मे बहुत घने उगे हुए पेडो को देखकर उदय हुआ था। उसने देखा कि दो पेडो के बीच अनेक पत्ते और टहनियाँ पेड से अलग होने पर भी नीचे नही गिरती हैं क्योकि दूसरी टहनियाँ और पत्ते उन्हे गिरने से रोक लेते हैं। ये जितने ही घने होते हैं, वर्षा, धूप आदि से इसके नीचे की भूमि उतनी ही सुरक्षित रहती है। इसीसे आदिमानव पेड की चार मोटी टहनियो को जमीन मे गाड देता था और उसपर अन्य टहनियो को आडा-बेडा बाँधकर उसे पत्तो से ढँक देता था। किन्हीं-किन्ही आदि-समाजो मे अब भी इन टहनियो के ऊपर चमडा सुखाकर इस प्रकार फैला दिया जाता है कि वर्षा, धूप

व हवा से रक्षा हो सके। टुण्ड्रा प्रदेश के निवासी बर्फ का मकान बनाते हैं जो कि बर्फ के टुकडो को इकट्ठा करके बनाया जाता है। इसमे भीतर घुसने के लिये केवल एक छोटा-सा रास्ता होता है जिसमे से कि रेंगकर अन्दर जाना पडता है। इसकी आवश्यकता बर्फ की आँधी से अपनी रक्षा करने के लिये हुई होगी और इसी आवश्यकता के कारण इस प्रकार के मकान को बनाने की कला का आविष्कार हुआ होगा।

(४) **वस्त्र** (Clothing)—मकान के बाद वस्त्र की आवश्यकता आती है। पर आदिमानव के लिये यह आवश्यकता विशेष महत्त्व की नही थी और न ही अब है। केवल उन जनजातियो को छोडकर जो कि सभ्य समाजो के सम्पर्क मे आयी हैं, अन्य जनजातियो मे वस्त्रो का न्यूनतम प्रयोग ही होता है। फिर भी यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्रो का आविष्कार किस प्रकार हुआ। ऐसा लगता है कि कुछ प्राकृतिक परिस्थितियो के कारण ही वस्त्रो का आविष्कार सम्भव हुआ था। प्रकृति की गोद मे पलने वाले आदिमानव ने यह अनुभव किया कि अगर वस्त्रो का प्रयोग किया जाय तो उससे सर्दी कम लगती है या सूर्य की किरणें भी शरीर मे अधिक चुभती नही हैं। वह आदिमानव जब पेड के नीचे खडा होता था तो धूप से उसकी रक्षा होती थी, पर जैसे ही वह पेड की छाँव से बाहर जाता था वैसे ही शरीर धूप मे तपने लगता था। इसीलिये वह पत्तो की छाँव को सदा अपने साथ लेकर चलना चाहता था। इसीसे उसने सर्वप्रथम बडे-बडे पत्तो से और फिर पेड की छाल से शरीर ढाँकना शुरू किया। यही मानव का सर्वप्राचीन वस्त्र था इसके पश्चात् जानवरो की खाल को सुखाकर शरीर को ढँकने का काम लिया जाने लगा। कहा जाता है कि प्रारम्भ मे इस काम के लिये केवल उन जानवरो की खालो को ही प्रयोग किया जाता था जो कि सरलता से धूप मे सूख जाती थी। बाद मे हरिण, शेर, चीते की खालो को खुरचकर और सुखाकर उपयोग मे लाया जाता था।

(५) **शिकार की चीजें**—आदिम मानव के शरीर के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये आवश्यक भोजन का एक महत्त्वपूर्ण भाग दो साधनो से प्राप्त होता है। वे साधन हैं—शिकार और मछली पकडना। परन्तु शिकार करने अथवा मछली पकडने के लिये कुछ उपकरणो की आवश्यकता होती है। इन उपकरणो मे धनुष-बाण तथा जाल बहुत प्रमुख हैं। अनेक जनजातियाँ इस काम के लिये भाले का भी प्रयोग करती हैं। भाले का आविष्कार रोज के अनुभव से ही हुआ है। सबसे पहले जब मानव केवल फल-मूल इकट्ठा करके और उसे खाकर ही जीवित रहता था तब वह ईंट या पत्थर फेंककर पेड से फल को नीचे गिराता था। कुछ फेंककर मारने से जोर से आघात पहुँचता है, यह ज्ञान आदि-मानव को इसी से हुआ। इसी सिद्धान्त को उसने पशुओ पर भी प्रयोग किया। पहले साधारण पत्थर मारकर पशु को घायल करने या मार डालने का प्रयत्न किया जाता था। फिर धीरे-धीरे अनुभव ने मानव को यह सिखा दिया कि इस पत्थर का एक सिरा अगर लम्बा व नुकीला हो तो उससे पशु को अधिक चोट पहुँचती है। यह चोट और भी अधिक होती है जब कि इसे अधिक बलपूर्वक कुछ दूर से फेंका जाय। आदिमानव के इन सब रोज के अनुभव के फलस्वरूप ही भाले का आविष्कार हुआ जो कि शुरू मे पत्थर का और बाद मे धातु (विशेषकर लोहा) और लकडी से बनाया गया। उसी प्रकार

लकडी या बाँस मे लचीलापन होता है, यह आविष्कार होने के बाद ही धनुष-बाण का आविष्कार सम्भव हुआ होगा। लकडी के लचीलेपन का आविष्कार भी आदिमानव के रोज के अनुभव से हुआ होगा। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये, दो व्यक्ति 'अ' और 'ब' जगल के रास्ते से गुजर रहे है। 'अ' आगे-आगे और 'ब' पीछे-पीछे चल रहा है। पेड की एक टहनी जो कि उनके रास्ते पर झुक गयी है, 'अ' के शरीर के किसी अग मे अटक जाती है और 'अ' के आगे बढने पर तन कर छूट जाती है और फिर जोर से आकर पीछे चलने वाले 'ब' को आघात करती है। यह अनुभव दो-चार बार दोहराने से ही आदिमानव यह जान जाता है कि टहनी आदि मे लचीलापन होता है और उस लचीलेपन मे चीजो को छिटककर फेंकने की शक्ति भी होती है। इसी के आधार पर धनुष-बाण का आविष्कार किसी एक स्थान मे हुआ होगा जहाँ से कि वह अन्य जनजातियो मे भी फैला होगा।

(६) **खेती के उपकरण**—खेती का सर्वप्राचीन उपकरण कुदाल (digging stick) ही है। इसका आविष्कार भी रोज के अनुभव के आधार पर हुआ होगा। फल-मूल इकट्ठा करने की स्थिति मे ही आदिमानव कन्द-मूल को भी एकत्रित करता था। हाथो या उँगलियो से मिट्टी खोदकर कद-मूल को निकालना कष्टकर था और उसमे देर भी काफी लगती थी। इसलिये किसी पत्थर या लकडी से मिट्टी खोदने का काम लिया जाने लगा। परन्तु रोज के अनुभव से आदिमानव ने शीघ्र ही यह आविष्कार किया कि अगर उस पत्थर या लकडी को नोकीला बना लिया जाय तो उससे मिट्टी खोदना और सरल हो जाता है। कतिपय जनजातियो मे आज भी एक लकडी की छडी के साथ कोई नोकीला पत्थर बाँधकर, उससे जमीन खोदने व वृक्षारोपण का काम लेते थे। कुदाल इसी नोकीली छडी का ही विकसित रूप है। हल का विकास भी इसी नोकीली छडी से हुआ है क्योकि हल मे भी मिट्टी आगे की तरफ धकेलकर खोदी जाती है। कुदाली की नोक को चौडा कर देने से फावडा बन गया होगा।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि आदिमानव के पास आविष्कार करने के उद्देश्य से कोई सगठित प्रयोगशाला (laboratory) नही थी जैसी कि आधुनिक वैज्ञानिको के पास होती है। उनकी तो प्रयोगशाला उनका सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन था जिसमे कि उन्हे नित्य नये प्रयोग करने पडते थे। उनका यह व्यावहारिक जीवन उन्हे अनेक नये अनुभव प्रदान करता है, ये अनुभव आविष्कार के पथ को प्रशस्त करते हैं।

आदिकालीन प्रौद्योगिकी
(Primitive Technology)

अगर हम किसी अजायबघर (museum) मे जाएँ तो हमे वहाँ विभिन्न प्रजातियो या जनजातियो द्वारा बनाये गये कपडे, टोकरियाँ, औजार, उपकरण आदि देखने को मिलेगे। इन चीजो से मानव की अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति होती है अर्थात् मानव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन (means) के रूप मे प्रयोग करता है। इसीको प्रौद्योगिकी कहते हैं। श्री विसलर (Wissler) के शब्दो मे, "प्रौद्योगिकी एक सामान्य शब्द है जिसके अन्तर्गत उपकरणो के प्रयोग द्वारा वस्तुओ को बनाने की सम्पूर्ण यान्त्रिक

प्रक्रियाएँ (mechanical processes) आ जाती है।"[8] प्रौद्योगिकी के प्रयोग द्वारा जो कुछ बनता है या बनाया जाता है उसे समाज की भौतिक संस्कृति (material culture) कहा जाता है। आदिम समाजो मे लोग मशीनो का प्रयोग करना नही जानते, फिर भी विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन मे वे नाना प्रकार के औजारो व उपकरणो का प्रयोग अवश्य ही करते हैं।

भौतिक चीजो के उत्पादन मे सर्वप्रथम स्थान **खाद्य सामग्री** का है। खाद्य सामग्री दो प्रकार की होती है—एक तो पशुओ से मिलने वाले खाद्य और दूसरे पौधो से प्राप्त होने वाले खाद्य। आदिम मानव अपनी खाद्य सामग्री को इन्ही दो साधनो से प्राप्त करता है—या तो वह फल, मूल, कन्द आदि इकट्ठा करता है और भोजन देने वाले वृक्षो व पौधो का आरोपण करता है या पशु-पक्षियो को मारता और मछली पकडता है। इन सबके लिये उसे किसी न किसी प्रकार के उपकरणो की आवश्यकता पडती है। शिकार करने के लिये आदिमानव भाले, तीर-धनुष, फन्दो आदि का उपयोग करते हैं। ये उपकरण अनेक प्रकार के होते हैं। ससार के विभिन्न जनजातीय समाजो का अध्ययन करने पर हमे इन सब उपकरणो के अनेक विचित्र व विविध रूप देखने को मिलते हैं। मछलियो को मारने के लिये जिन उपकरणो का प्रयोग होता है उनके सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है। मछलियाँ भाले या तीर से मारी जा सकती हैं, जाल और फन्दो से पकडी जा सकती हैं और हलके प्रकार के विषो के प्रभाव से मछलियो को अर्ध-चेतन अथवा अचेतन अवस्था मे भी पकडा जा सकता है।

वृक्षारोपण के कार्य मे सर्वप्रथम तथा सर्वप्राचीन उपकरण कुदाल है, क्योकि बाद मे आविष्कृत 'हो' और फावडा इस कार्य के लिये अधिक उपयोगी प्रमाणित नही हुए। कुदाल, हो और फावडा के अतिरिक्त खेती के काम मे हल का प्रयोग भी किया जाता है। क्रमश कृषि करने की प्रविधियो मे कुछ उन्नति होती गयी और वह तब सम्भव हुई जब कि इस कार्य मे पशु शक्ति का भी प्रयोग आरम्भ हुआ। पशु-शक्ति के प्रयोग के साथ ही नये और अधिक कुशल औजारो का आविष्कार और विकास होता गया।

मकानो को बनाने के लिये भी अनेक प्रकार के उपकरणो की आवश्यकता होती है। मकान के निर्माण मे लकडी एक आवश्यक अग है। लकडी को काटने के लिये कुल्हाडी का प्रयोग प्राय सभी जनजातियाँ करती हैं। लकडी काटकर खम्भो के रूप मे उसे जमीन मे गाडने के लिये कुदाल या फावडा को काम मे लाया जाता है। अनेक जनजातियाँ तम्बू की तरह मकान बनाती हैं। इसके लिये जानवरो के चमडे को काम मे लाया जाता है। पेड की टहनियो या मोटे बासो की दो कैंचियाँ बनाकर आमने-सामने गाड दी जाती हैं और उनको मिलाने के लिये उनके ऊपर एक लम्बी टहनी या बाँस बाँध दी जाती है। फिर जानवरो की खालो को एक साथ जोडकर उसपर फैला दिया जाता है और तम्बू तैयार हो जाता है। अनेक जनजातियाँ लकडी व धातु की कील का भी प्रयोग करती है

8 "Technology is a general term covering all mechanical processes involving the use of tools and the shaping of materials" Clark Wissler 'Technology,' *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931, pp 463-464

जिनसे कि चमडे आदि को खम्भो के साथ अटका दिया जाता है ताकि वे हवा मे उड न जाएँ।

मानव को विभिन्न चीजो को रखने के लिये किसी न किसी प्रकार के पात्र की आवश्यकता होती है। **टोकरी** ही इनमे सबसे सामान्य पात्र है। बाँस, वेंत आदि से टोकरी बनायी जाती है। साधारणतया मोटी-मोटी छडो के साथ पतली छडे रखकर उन्हे ताने-बाने की तरह बुन दिया जाता है। इस प्रक्रिया से अनेक आकार व प्रकार की टोकरियाँ बनायी जाती हैं। इसी प्रकार से चटाई भी बुनी जाती है।

जिस प्रक्रिया से टोकरी बनायी जाती है प्राय वही प्रक्रिया **कपडा** बुनने मे लागू होती है। कताई और बुनाई मे भी ताने-बाने का सिद्धान्त कार्य करता है। भेडो के बाल तथा पेड के रेशो को हाथ से कातकर और फिर बुनकर आदिमानव कम्बल आदि बना लेता था। पहले-पहल कातने का काम हाथ से ही होता था। फिर तकली का आविष्कार हो जाने पर कताई का काम उसीसे लिया जाने लगा। हाथ से कातने की अपेक्षा तकली से कताई अधिक सरलता से तथा जल्दी होती है। इसके पश्चात् चर्खे का आविष्कार हुआ। सूत या ऊन कातकर ताने-बाने के आधार पर वस्त्र बुनने का काम किया जाता था। धीरे-धीरे करघे का भी आविष्कार हुआ। तब तो बुनाई का काम पहले से कही सरल हो गया। न्यू गिनी मे कई पेडो की छाल को लम्बा उतारकर उसका रेशा निकाला जाता है और फिर उसे बटकर रस्सी बनायी जाती है। दक्षिणी अमेरिका के इण्डियन तथा दूसरी कई जनजातियो ने रूई तथा ऊन के वस्त्र बुनने के लिये एक प्रकार के करघे का आविष्कार कर लिया है।

प्रारम्भ मे आदिमानव किसी भी प्रकार के **बर्तन** के प्रयोग से परिचित नही था। परन्तु बाद मे उन्हे यह ज्ञान हुआ कि मिट्टी आग मे पककर बहुत सख्त हो जाती है। इसके बाद आदिमानव ने हाथ से बर्तन बनाना प्रारम्भ किया और उन्हे आग मे डालकर पका लिया करता था। बहुत दिन इसी प्रक्रिया से मिट्टी के बर्तन बनाये गये। उसके बाद चाक का आविष्कार हुआ जिससे चाक को घुमाकर बर्तन बनाये जाने लगे। इसके बहुत बाद धातु का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। धातु-शोधन का कार्य ईसा से ४००० वर्ष पूर्व मिश्र तथा बैबिलोन मे होने लगा था। धातु को गर्म करके पीटकर उससे नाना प्रकार के बर्तन बनाये जाते थे। इस प्रक्रिया मे हथौडा या हथौडी सबसे प्रमुख उपकरण है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि आदिकालीन प्रौद्योगिकी बहुत ही सरल और सीधी होती है। उसका प्रमुख कारण यह है कि आदिकालीन समाजो मे मानव के ज्ञान तथा आविष्कार की गति बहुत ही सीमित है जिसके कारण जटिल प्रकार की प्रौद्योगिकी का विकास सम्भव नही है। आदिकालीन सरल समाज के लिये यही स्वाभाविक है।

SELECTED READINGS

1 Boas and Others *General Anthropology*, D C Heath and Co , New York, 1938

2 Calverton V F *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931

3 Herskovits, M J *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956

२०

जनजातीय भारत

(TRIBAL INDIA)

विषय-सूची—बीसवाँ अध्याय

१ भूमिका

२. जनजाति की परिभाषा

३. जनजाति की विशेषताएँ

४. जनजातीय सगठन

५ जनजाति और प्रजाति मे अन्तर

६. भारतीय जनजातियाँ

७ भारत मे अनुसूचित जनजातियो की सख्या

८ सभ्यता के सम्पर्क मे आयी हुई जनजातियाँ

९ सभ्यता से दूर रहने वाली जनजातियाँ

१० भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण

 प्रजातीय वर्गीकरण

 भाषा के आधार पर वर्गीकरण

 भौगोलिक या प्रादेशिक वर्गीकरण

 सास्कृतिक वर्गीकरण

 आर्थिक वर्गीकरण

११ थारू जनजाति

१२ सामाजिक सगठन के प्रमुख स्वरूप

१३ परिवार

१४ मातृवशीय समाज

१५. पितृवशीय समाज

१६ गोत्र और गोत्र समूह

१७ टोटम

१८. विवाह

१९ बहुपति विवाह

२० नातेदारी व्यवस्था

२१ युवा संगठन

२२ भारतीय जनजातीय धर्म और जादू

२३ जनजातियां तथा हिन्दू कृषक वर्ग

अध्याय २०

जनजातीय भारत
(Tribal India)

पिछले एक अध्याय मे वर्णित भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास से एक उल्लेखनीय बात यह ज्ञात होती है कि इस देश मे अति प्राचीनकाल से ही विभिन्न प्रजातीय तत्त्वो की लहरें आती रही और इस बहु-प्रजातीय महासागर (multiracial ocean) मे विलीन होती रही। इस देश की एक और विशेषता यह है कि यह कुछ विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रो मे भी बँटा हुआ है और प्रत्येक की अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ है, जिनका कि प्रभाव उस क्षेत्र के निवासियो पर पडना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार भारतवर्ष मे एक ओर विभिन्न प्रजातीय तत्त्वो का समावेश है और दूसरी ओर विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रो का। भारत के इन विभिन्न क्षेत्रो मे अनेक ऐसे मानव-समूह निवास करते है जो कि आज भी सभ्यता के आदिम स्तर पर है। ये प्राय सभ्य समाज से दूर जगली, पहाडी या पठारी क्षेत्रो मे रहते हैं और प्रत्येक अर्थ मे अत्यधिक पिछडे हुए हैं। इन्हे वन्यजाति, आदिवासी (aboriginals), जनजाति आदि नाम से सम्बोधित किया जाता है। भारतीय सविधान मे ऐसे लोगो को 'अनुसूचित जनजातियाँ' (Scheduled Tribes) कहा गया है। परन्तु इनके सम्बन्ध मे कुछ भी अध्ययन करने से पहले 'जनजाति' की परिभाषा और विशेषताओ को समझ लेना परमावश्यक है।

जनजाति की परिभाषा
(Definition of Tribe)

सर्वश्री गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) के मतानुसार, "स्थानीय आदिम समूहो के किसी भी सग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र मे रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य सस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं।"[1]

डाक्टर रिवर्स (Dr Rivers) ने सामान्य निवास-स्थान को महत्त्व न देते हुए जनजाति को ऐसे सरल प्रकार का सामाजिक समूह बताया है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हो तथा युद्ध आदि सामान्य उद्देश्यो के लिये सम्मिलित रूप से

---

1 "Any collection of preliterate local groups which occupies a common general territory, speaks a common language, and practices a common culture is a tribe" Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, The Macmillan Co, New York, 1950, p 282

कार्य करते हो।[2] डाक्टर रिवर्स ने सामान्य निवास-स्थान को इसलिये महत्त्व नही दिया क्योंकि जनजातियाँ प्राय घुमन्तू या खानाबदोश (nomadic) होती हैं। परन्तु डा० मजूमदार (Majumdar) का कथन है कि इसका यह अभिप्राय नही है कि जनजातियो का अपना एक सामान्य क्षेत्र नही होता। घुमन्तू प्रकृति की होते हुए भी उनका एक विशिष्ट निवास-स्थान होता ही है।[3]

डा० मजूमदार ने अपनी परिभाषा मे एक जनजाति की सभी विशेषताओं को स्पष्ट किया है। आपके मतानुसार, "एक जनजाति परिवारो या परिवारो के समूह का एक सकलन होता है, जिनका एक सामान्य नाम होता है, जिनके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय मे कुछ निषेधो का पालन करते हैं और एक निश्चित एव उपयोगी परस्पर आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास करते है।"[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि **"एक जनजाति वह क्षेत्रीय मानव-समूह है जो भू-भाग, भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों मे एक सामान्यता के सूत्र मे बँधा होता है।"**[5]

जनजाति की विशेषताएँ
(Characteristics of Tribe)

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि (१) एक जनजाति अनेक परिवारों या परिवारो के समूह का एक सकलन होता है। (२) प्रत्येक जनजाति की अपनी एक सामान्य भाषा होती है जिससे विचारो का आदान-प्रदान और पारस्परिक एकता व सामाजिक सगठन का विकास सरलता से हो सके। (३) इनका एक सामान्य नाम होता है। (४) जनजाति की एक और विशेषता यह है कि यह एक निश्चित भू-भाग पर रहती है। सामान्य भू-भाग के आधार पर सामुदायिक भावना भी दृढ हो जाती है। (५) एक जनजाति प्राय एक अन्तर्विवाही समूह होता है। प्रारम्भ मे सब जनजातियाँ अपनी ही जनजाति मे विवाह करती थी। परन्तु आधुनिक युग मे यातायात के साधनो की उन्नति के साथ एक जनजाति का पडोसी जनजातियो से सम्पर्क बढ गया है जिसके फलस्वरूप अनेको जनजातियाँ अपने जनजातीय समूह से बाहर भी शादी कर लेती हैं। (६) एक

---

2 "A tribe is a social group of a simple kind, the members of which speak a common dialect and act together in such common purposes as warfare" Dr Rivers, Quoted by D N Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p 356

3 *Ibid*, p 356

4 "A tribe is a collection of families or groups of families bearing a common name, members of which occupy the same territory, speak the same language and observe certain taboos regarding marriage, profession or occupation and have developed a well assessed system of reciprocity and mutuality of obligations" *Ibid*, p 355

5 "A tribe is that territorial human group which is bound together by a commonness in respect to locality, language, social codes and economic pursuits" R. N Mukherjee, *People and Institutions of India*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1960, p 43

जनजाति के सदस्यो मे पारस्परिक आदान-प्रदान के कुछ सामान्य नियम और निषेध होते है जिनको कि प्रत्येक सदस्य को मानना पडता है और जिनके आधार पर इनके व्यवहार नियन्त्रित होते है। (७) एक जनजाति की एक सामान्य सस्कृति होती है और बाहर के समूहो के विरुद्ध इसके सदस्यो मे एकता की भावना भी होती है। (८) जनजाति की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक जनजाति का एक राजनैतिक सगठन होता है।

जनजातीय सगठन
(Tribal Organization)

डा० मजूमदार के अनुसार जनजाति एक राजनैतिक इकाई इस अर्थ मे है कि प्रत्येक जनजातीय समूह का एक राजनैतिक सगठन होता है।[6] प्रत्येक जनजाति का बहुधा अपना एक वशानुगत मुखिया, प्रधान या राजा होता है जो कि जनजाति के समाज से सम्बन्धित समस्त विषयो का निरीक्षक और शासक होता है। इस सगठन के अन्तर्गत बडे-बूढो की एक समिति (a council of elders) होती है जो मुखिया को जनजाति-सम्बन्धी विषयो मे और उसकी एकता और सगठन को बनाये रखने के विषय मे परामर्श देती है। प्रत्येक सदस्य मुखिया के प्रति आज्ञाकारी और निष्ठावान होता है।

जनजाति और प्रजाति मे अन्तर
(Distinction between Tribe and Race)

(१) जनजाति एक क्षेत्रीय अवधारणा है जो कि कुछ सामाजिक या सास्कृतिक आधारो पर एक दूसरे से पृथक् किये जा सकते है। इसके विपरीत प्रजाति एक विशुद्ध प्राणीशास्त्रीय (biological) धारणा है और एक प्रजाति को एक-दूसरे से कुछ शारीरिक लक्षणो के आधार पर ही अलग किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, एक ही प्रजाति के लोग विभिन्न जनजाति के सदस्य हो सकते हैं। (२) जनजाति का एक निश्चित भू-भाग होता है जिसपर उसके सदस्य बसे होते हैं। परन्तु एक प्रजाति का कोई निश्चित भू-भाग नही होता। (३) प्रत्येक जनजाति का एक राजनैतिक सगठन होता है, पर प्रजाति के विकास और स्थिरता मे राजनैतिक सगठन कोई आवश्यक अग नही है।

भारतीय जनजातियाँ
(Indian Tribes)

भारतीय सविधान मे कुल १४ राज्यो मे २१२ जनजातियो को 'अनुसूचित जनजाति' घोषित किया गया है और सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत मे उनकी सख्या लगभग १ करोड ९१ लाख है। परन्तु सन् १९५६ मे राज्यो के पुनर्सगठन के बाद भारत की अनुसूचित जनजातियो की सख्या प्राय २ करोड २५ लाख बतायी गयी है। इसके बाद सन् १९६१ की जनगणना की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। उसके अनुसार उपरोक्त सभी पिछले आँकडो मे पर्याप्त अन्तर आ गया है। निम्नलिखित विवेचना से यह और भी स्पष्ट हो जायेगा।

---

6 *Ibid*, p 355

भारत मे अनुसूचित जनजातियो की जनसख्या
(Population of Scheduled Tribes in India)

सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष मे अनुसूचित जनजातियो की कुल सख्या २९,८८३,४७० है जिनमे १५ ०४०,७०७ पुरुष तथा १४,८४२,७६३ स्त्रियाँ हैं। अर्थात् सम्पूर्ण भारत की जनसख्या का ६ ८१ प्रतिशत अनुसूचित जनजातियो का है। जनसख्या के दृष्टिकोण से मध्य प्रदेश मे सर्वाधिक सख्या है, अर्थात् ६,६७८,४१० लोग अनुसूचित जनजातियो के हैं। इसके बाद इनकी कुल जनसख्या के आधार पर क्रमश उडीसा (४,२२३,७५७), बिहार (४,२०४,७७०), गुजरात (२,७५४,४४६), महाराष्ट्र (२,३९७,१५९), राजस्थान (२,३०९,४४७), आसाम (२,०६८,३६४), पश्चिमी बगाल (२,०६३,८८३) तथा आन्ध्र प्रदेश (१,३२४,३६८) आदि का स्थान आता है। यदि एक राज्य के कुल जनसख्या के प्रतिशत के आधार पर विवेचना की जाय तो उपरोक्त क्रम कुछ बदल जायेगा। उदाहरणार्थ, उडीसा की कुल जनसख्या का २४ ०७ प्रतिशत अनुसूचित जनजातियो के सदस्यो की है। इसके बाद मध्य प्रदेश मे यह प्रतिशत २० ६३, आसाम मे १७ ४२, गुजरात मे १३·३५, राजस्थान मे ११·४६, बिहार मे ९ ०५, महाराष्ट्र मे ६ ०६, पश्चिमी बगाल मे ५ ९१ तथा आन्ध्र प्रदेश मे ३ ६८ है। यदि सम्पूर्ण भारत की जनसख्या की विभिन्न राज्यो मे निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियो की जनसख्या के साथ तुलना की जाय तो परिणाम कुछ और ही आएँगे। मध्य प्रदेश की जनसख्या मे भारत की कुल जनसख्या का १ ५२ प्रतिशत अनुसूचित जनजातियो के लोगो का है। यह प्रतिशत बिहार तथा उडीसा मे ० ९६, गुजरात मे ० ६३, महाराष्ट्र मे ० ५५, राजस्थान मे ० ५३, आसाम और पश्चिमी बगाल मे ० ४७ तथा आन्ध्र प्रदेश मे ० ३० है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत मे जनजातीय लोगो की एक बडी सख्या निवास करती है। इनमे से कुछ जनजातियाँ उन्नत सास्कृतिक समूहो के सम्पर्क मे आयी हैं, पर अनेक जनजातियाँ आज भी सभ्यता से दूर ही निवास कर रही हैं। इन दोनो प्रकार की जनजातियो के सम्बन्ध मे कुछ प्राथमिक जानकारी आवश्यक है।[7]

सभ्यता के सम्पर्क मे आयी हुई जनजातियाँ
(Tribes who live in contact of Civilization)

सभ्यता के सम्पर्क मे आने वाली जनजातियो मे सथाल जनजाति का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अभी हाल तक भी वे शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने की स्थिति मे थे। परन्तु अब उनमे से अनेक लोग सभ्यता के सम्पर्क मे आते जाते हैं। ये लोग बिहार प्रान्त के सथाल परगने तथा उत्तरी बगाल मे बसे हुए हैं। ये द्राविड प्रजाति के हैं, मुण्डा भाषा बोलते हैं और सख्या मे प्राय. तीन लाख हैं। इनका एक भाग सभ्यता के सम्पर्क मे आ गया है और वह आसपास के औद्योगिक क्षेत्रो मे आकर बस गया है। डा० मजूमदार के शब्दो मे, "वे नागरिक वातावरण मे रहते हैं, बाजारो मे पाये

7 For detailed discussion see Dr. Majumdar, *op cit*, Chapter V.

जाने वाले भोजन को खाते है, आभूपणो और जेवरो पर धन खर्च करते है जैसा कि वे पहले कभी नही करते थे और इससे भी अधिक, वे प्रदर्शनो मे भाग लेते है, नारा लगाते है, हडताल करते हैं और अपने मे से नेताओ को भी उन्होने जन्म दिया है।[8] दूसरी ओर इनके देश मे ऐसे समूह भी हैं जो परदेसियो को देखकर भी भयभीय होते है, कीडे, मकोडे, और मेढक आदि खाते है, प्राय नगे रहते है और वन देवियो को प्रसन्न करने के लिये मुर्गियो, कबूतरो और बकरियो की वलि देते है।[9]

सथाली लोग 'पिलचु हराम' और 'पिलचु बुरही' को अपना पूर्वज मानते हैं। ये लोग बारह बहिर्विवाही गोत्रो मे बँटे हुए है। गोत्र के अन्दर विवाह नही हो सकता। बहुपत्नी-विवाह (polygamy) अच्छा नही समझा जाता, जब तक कि प्रथम पत्नी नि सन्तान न हो या ऐसी ही कोई अन्य विशेप परिस्थिति न हो। बहुपति-प्रथा (polyandry) सथालियो मे प्रचलित है। सब भाई मिलकर बहुधा एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं। विवाह-विच्छेद भी पति या पत्नी की इच्छा या सहमति से ही हो सकता है। सम्पत्ति पर लडको का समान अधिकार होता है, पर लडकियो को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नही है। इनके देवी-देवताओ मे 'मरग', 'बारू', 'मोरेको' आदि उल्लेखनीय है। सथालियो के उत्सवो मे 'सोहराई' (Sohrai November-December) और 'वाह पूजा' (Baha Puja February-March) प्रमुख है। सामाजिक सगठन और व्यवस्था 'परगनायक' के हाथ मे होती है। और गाँव का सगठन 'माझी' के हाथ मे। माझी का पद वशानुगत होता है। गाँव के अन्य अधिकारी 'परमानिक', 'जगमाझी' और 'जगपरमानिक', 'नायकी', 'कुदम नायकी' और 'गोरॆट' होते हैं।

सभ्यता से दूर रहने वाली जनजातियाँ
(Tribes living isolated from Civilization)

खरिया, कूकी, नागा आदि जनजातियाँ सभ्यता के सम्पर्क से प्राय दूर ही है। इनमे कूकी जनजाति के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि इनके जीवन के अध्ययन से मानव-समाज पर प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभावो का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है। कूकी मगोल प्रजाति से सम्बन्धित हैं और आसाम मे लुशाई पर्वत पर बसे हुए हैं। ये लोग अनेक गोत्रो मे बंटे हुए हैं। इनमे एक ओर बाइटी कूकी और खेलमा कूकी हैं और दूसरी ओर थादन कूकी और प्राचीन कूकी आदि। इनमे से अधिकतर गोत्र लुशाई लोगो के प्रभाव मे आ गये हैं और उन्होने उनकी प्रथा, रीति आदि को अपना लिया है।

कूकी लोगो के गाँव जगलो मे बाँस और बेंत की बनी चार-पाँच झोपडियो को लेकर बनाते हैं। ये स्वभाव से घुमन्तू होते हैं, जिसके कारण इनकी बस्तियाँ अत्यधिक छिटकी होती हैं, विशेषकर मणिपुर पहाड की बस्तियाँ। गाँव की व्यवस्था और सगठन

8 "They live in urban surroundings eat food available from the markets, spend money on jewellery and trinkets which they never did before and what is more, join in demonstrations, shout slogans, strike work and have produced leaders from among themselves" *Ibid*, p 110

9 *Ibid*, p 110

वशानुगत मुखिया के द्वारा होता है। विवाह के पश्चात् उसका पुत्र एक स्वतन्त्र मुखिया के रूप मे कार्य करता है। कूकी अपनी आर्थिक आवश्यकताओ के विषय मे आत्म-निर्भर होते है। उनकी पोशाक भी अत्यधिक सादी होती है। लडकियाँ भी कोई विशेष वस्त्रो का प्रयोग नही करती। लडको और लडकियो के आभूषण प्राय एक-से होते हैं। धूम्रपान उनमे अत्यधिक जनप्रिय है और स्त्री-पुरुष दोनो ही धूम्रपान करते हैं। उनकी औद्योगिक आवश्यकताएँ अधिकतर बाँस से पूरी होती हैं और बाँस से ही वे अनेक प्रकार की चीजो को बनाते भी हैं। वे जगली भालू और अन्य पशुओ का शिकार करते हैं। कुत्ते के मास से भी उन्हे विशेष परहेज नही होता। बकरी, मुर्गी आदि को वे खाने के लिये और देवी-देवताओ के सन्मुख बलि देने के लिये भी पालते हैं। घने जगलो मे रहने वाले कूकी तो विशेषकर सभ्यता के बिल्कुल ही सम्पर्क मे नही हैं।

सभ्यता के सम्पर्क से दूर रहने वाली एक अन्य जनजाति नागा है जो कि आसाम राज्य मे मणिपुर रियासत के आसपास की घाटियो और पहाडो मे पायी जाती है। ये शक्तिशाली और असभ्य होते हैं। ये प्राय नगे रहते हैं, स्त्रियाँ नीले रग के कडे वस्त्र से अपना वक्षस्थल ढक लेती हैं। कौडियो के बने अनेक प्रकार के आभूषणो का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनो ही करते हैं। इनमे से कुछ लोग खेती, बुनाई और पशु पालने का भी काम करते हैं, परन्तु इनका मुख्य व्यवसाय शिकार और युद्ध करना है। नागा बडी हिसक और रक्त-पिपासु जनजाति है और मनुष्यो को मारने मे भी वे नही हिचकिचाते। युवागृह उनकी सामाजिक शिक्षा-सस्था है, जहाँ युवको को विवाह से पूर्व विविध प्रकार की शिक्षा दी जाती है। उनमे बहुपति (polyandry) तथा विवाह-विच्छेद की प्रथा भी पायी जाती है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय जनजातियो के मोटे तौर पर दो भेद हैं—प्रथम तो वे जो सभ्य समाज के सम्पर्क मे आ गयी हैं और दूसरी जो आज भी सभ्य समाज से दूर जीवन व्यतीत कर रही हैं। इनका वर्गीकरण दूसरे आधारो पर भी किया जा सकता है जो निम्नवत् हैं —

भारतीय जनजातियो का वर्गीकरण
(Classification of Indian Tribes)

भारत जैसे विशाल देश मे फैले हुए समस्त जनजातियो को स्वभावत. ही किसी एक वर्ग के अन्तर्गत नही लाया जा सकता है, अर्थात् भारतीय जनजातियो का वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है। देश-विभाजन से पूर्व उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश मे, जो आजकल पाकिस्तान मे है, भारतीय जनजातीय जनसख्या का एक बहुत बडा भाग निवास करता था। परन्तु अब चूँकि वह दूसरे देश से सम्बन्धित हो गया है, इसलिये हम उनका उल्लेख भारतीय जनजातियो के वर्गीकरण के सन्दर्भ मे नही करेंगे।

भारतीय जनजातियो का वर्गीकरण मुख्यत पाँच आधारो पर किया जाता है—प्रजातीय, भाषा, भौगोलिक, सास्कृतिक तथा आर्थिक आधार। इनकी विवेचना हम अब क्रमबद्ध रूप मे करेंगे —

प्रजातीय वर्गीकरण
(Racial Classification)

भारतीय जनजातियो को उनके प्रादेशिक विस्तार के अनुसार तीन समूहो मे बाँटा जा सकता है[10]—(१) उत्तर-पूर्वोत्तर क्षेत्र (North-North-Eastern Zone), (२) मध्यवर्ती क्षेत्र (Central or Middle Zone) तथा (३) दक्षिणी क्षेत्र (Southern Zone)। इन तीनो क्षेत्रो मे निवास करने वाली जनजातियो मे तीन विभिन्न प्रकार के प्रजातीय तत्त्व विशेष रूप से पाये जाते हैं, यद्यपि इनमे कोई कठोर विभाजन किसी भी आधार पर सम्भव नही है। ये तीन प्रजातीय तत्त्व इस प्रकार हैं—मगोल (Mangoloid), आदि-आग्नेयाभ तथा नीग्रिटो। इन प्रजातीय तत्त्व वाले जनजातियों का सक्षिप्त प्रजातीय-परिचय निम्नलिखित है —

(१) **मगोल** (Mangoloid)—यह प्रजातीय तत्त्व उपरोक्त प्रथम क्षेत्र अर्थात् उत्तर-पूर्वोत्तर क्षेत्र मे निवास करने वाली जनजातीय लोगो मे देखने को मिलता है। ये लोग मगोल प्रजाति के हैं और इस प्रजाति की शारीरिक विशेषताएँ हैं—हलके पीले रग की खाल, सीधे वाल, चपटी नाक, लम्बे सिर, मध्यम कद और अध-खुली आँखें। ये लोग पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तर-प्रदेश, आसाम, सिक्किम आदि प्रदेशो मे बसे हुए हैं।

(२) **आदि-आग्नेयाभ** (Proto-Australoid)—यह प्रजातीय तत्त्व उपरोक्त द्वितीय क्षेत्र अर्थात् मध्यवर्ती क्षेत्र मे निवास करने वाली जनजातीय लोगो मे देखने को मिलता है। ये लोग आदि-आग्नेयाभ प्रजाति के हैं जिनकी कि शारीरिक विशेषताएँ हैं, छोटे से लेकर मध्यम कद, खाल का रग काला, सिर लम्बा तथा वाल घुँघराले। इसके अतिरिक्त माथे का निचला हिस्सा उठा हुआ होना, छोटी और वहुत चौडी नाक का अन्दर की तरफ दवा हुआ होना इस समूह के जनजातीय लोगो के अन्य प्रजातीय लक्षण हैं। ये लोग वगाल, विहार, दक्षिणी उत्तर-प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य भारत आदि प्रदेशो मे वसे हुए हैं।

(३) **नीग्रिटो** (Negrito)—यह प्रजातीय तत्त्व उपरोक्त तृतीय क्षेत्र अर्थात् दक्षिणी क्षेत्र मे निवास करने वाली जनजातीय लोगो मे देखने को मिलता है। दक्षिणी भारत मे जो जनजातियाँ रहती है उनके कद छोटे से लेकर मध्यम तक के, खाल का रंग काला या गहरा चाकलेटी-भूरा, नाक चपटी और चौडी, होठ मोटे और सिर लम्बा होता है। ये लोग अपने रक्त की कुछ विशेपताओ मे मैलानेशियन और पूर्वी अफ्रीकी नीग्रो जनजातियो से काफी मिलते-जुलते हैं। इनमें दक्षिण भारत के कादर, ईरूला और पनियान जनजातियों के शारीरिक लक्षणो को नीग्रिटो प्रजाति का माना जाता है। पर इस मम्वन्ध मे जो प्रमाण दिये जाते हैं वे अधिक तर्कपूर्ण नही है। इस सम्बन्व मे हम अध्याय ६ मे विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं।

डा० गुहा के विचारो का भी इस सम्वन्ध मे उल्लेख कर देना आवश्यक होगा।

10 See Majumdar and Madan, *Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1961, p 253

उनके अनुसार भारतीय जनजातियो मे निम्नलिखित प्रजातीय तत्त्व पाये जाते हैं :—

(अ) **नीग्रिटो** (Negrito)—यह नीग्रो प्रजाति की एक शाखा है जिसकी प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ हैं बहुत नाटा कद, चौडा सिर, गहरा काला रग, काले-ऊनी बाल, मोटे होठ और चौडी नाक। डा० गुहा के अनुसार यह भारत की सबसे पुरानी प्रजातीय तत्त्व है और इसके कुछ अवशेष कोचीन और ट्रावन्कोर की पहाडियो मे रहने वाली कादर, ईरूला, और पलयन नामक जनजातियो मे, आसाम के अगामी नागाओ मे और पूर्वी बिहार की राजमहल की पहाडियो मे निवास करने वाली जनजातियो मे मिलते हैं।

(ब) **आदि-आग्नेयाभ** (Proto-Australoid)—छोटा कद, लम्बा तथा कुछ ऊँचा सिर, चौडा और छोटा चेहरा, मुँह आगे की ओर उठा हुआ तथा छोटी चपटी नाक इस प्रजातीय तत्त्व के प्रमुख लक्षण हैं। मध्य भारत की अधिकाश जनजातियाँ इसी प्रजाति की हैं। दक्षिणी भारत मे भी ये लोग पाये जाते हैं। भील तथा चेंचू जनजातियाँ इसी प्रजाति की मानी जाती हैं।

(स) **मगोल**—इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाएं भारतीय जनजातियो मे देखने को मिलती हैं। डा० गुहा के अनुसार वे शाखाएँ हैं—चोडे सिर वाले मगोल और लम्बे सिर वाले मगोल। चौडे सिर वाले प्रजातीय तत्त्व चटगांव और बर्मा मे पाये जात हैं तथा लम्बे सिर वाले मगोल आसाम और सीमान्त प्रान्त मे बसी जनजातियो मे पाये जाते हैं।

भाषा के आधार पर वर्गीकरण
(Classification on Linguistic Basis)

भारत की भाषाओ को चार प्रमुख भागो मे बाँटा जा सकता है— (१) इण्डो-योरोपियन या आर्यन भाषा (Indo-European or Aryan) जिसके अन्तर्गत उत्तरी भारत की प्रमुख भाषाएँ आती हैं, जैसे हिन्दी, बगाली, पजाबी, गुजराती और उडिया। (२) द्राविड (Dravidian) भाषा जो कि मध्य तथा दक्षिण भारत की प्रमुख भाषा है और इसके अन्तर्गत कन्नड, तामिल, तेलगू और मलयालम तथा कुछ अन्य भाषाएँ आती हैं। (३) आस्ट्रिक (Austric) भाषा जिसके अन्तर्गत मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल (Kol) तथा मुण्डा (Munda) भाषाएं आती हैं, और (४) चीनी-तिब्बती (Tibeto-Chinese or Sino-Tebetan) भाषा। इन चार भाषाओ मे अन्त की तीन भाषाएँ भारतीय जनजातियो मे प्रचलित हैं। आर्यन भाषा का प्रचलन केवल उन्ही जनजातियो मे है जिनका सम्पर्क इस भाषा को बोलने वाले सास्कृतिक समूहो से स्थापित हो गया है। भाषा एक क्षत्र से दूसरे क्षेत्र मे सस्कृतियो को सचारित करने का एक शक्तिशाली साधन है और यदि किन्ही दो क्षेत्रो मे एक ही प्रकार की भाषा व भाषा-सम्बन्धी प्रतीकात्मक अर्थ व मूल्यो (symbolic meanings and values) का प्रचलन है तो यह निश्चित है कि भाषा द्वारा ही सस्कृति का एक क्षेत्र से दूसरे क्षत्र को सचारण (transmission) हुआ है।[11] उदाहरणार्थ, राजस्थान के डूगरपुर के क्षेत्र मे रहने वाले भीलो की बोली मे गुजराती

11 *Ibid*, p 254

शब्दो की काफी भरमार है। इससे यह पता चलता है कि गुजरात की संस्कृति का फैलाव राजस्थान के भीलो (Bhil) तक है। इतना होने पर भी भाषा के फैलाव मे सामाजिक व आर्थिक अवस्थाओ का प्रभाव भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही होता है। यही कारण है कि मुण्डा और छोटा नागपुर मे रहने वाली ओरांव जनजातियाँ एक-दूसरे के निकट निवास करते तथा अपने सांस्कृतिक जीवन मे अधिक समानता रखते हुए भी अलग-अलग भाषाएँ बोलते है अर्थात् उन दोनो का सम्पर्क क्रमश आस्ट्रिक तथा द्राविड भाषा-परिवार से है।[12]

भारतीय जनजातियो को उनके प्रादेशिक विस्तार के आधार पर तीन समूहो मे बाँटा जा सकता है, इस बात का उल्लेख हम 'प्रजातीय वर्गीकरण' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं इन तीन प्रदेशो मे रहने वाली जनजातियो को तीन भाषा-परिवारो (speech families) मे बाँटा जा सकता है। उत्तर-पूर्वोत्तर क्षेत्र (North-North Eastern Zone) मे निवास करने वाली जनजातियाँ चीनी-तिब्बती भाषा परिवार की है, मध्य-वर्ती क्षेत्र मे रहने वाली जनजातियाँ आस्ट्रिक भाषा परिवार की तथा दक्षिणी क्षेत्र मे बसी हुई जनजातियाँ द्राविड भाषा-परिवार की हैं।[13] यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगी —

(१) **चीनी तिब्बती भाषा-परिवार** (Sino-Tebeton speech family) — इसके अन्तगत पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पजाब, हिमाचल प्रदेश, भूटान, उत्तर-पूर्वी बगाल और आसाम तथा सिक्किम तक फैली हुई जनजातियाँ आती हैं। इनमे नेपाल, दार्जिलिंग, त्रिपुरा, काचर, मणिपुर आदि स्थानो मे रहने वाली जनजातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ उत्तर-पूर्वी क्षेत्रो मे मोन-ख्मेर (Mon Khmer) भाषा (जो कि आस्ट्रिक भाषा-परिवार से सम्बन्धित है) का समिश्रण देखने को मिलता है जैसे कि खासी जनजाति मे। यह अनुमान है कि नागा पहाड की जनजातियो मे १६ भाषाएँ बोली जाती हैं।[14]

(२) **आग्नेय या आस्ट्रिक भाषा-परिवार** (Austric speech family) — इसमे मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल या मुण्डा भाषाएँ और बोलियाँ आती हैं। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार इस प्रकार की भाषाएँ बिहार, उडीसा, बगाल और आसाम मे प्रचलित सथाली, मुन्दारी, हो, खरिया, भूमिज, गारो तथा खासी भाषाएँ या बोलियाँ हैं। कोर्कू भाषा मध्य-प्रदेश और बरार मे बोली जाती है तथा साथरा और गाडवा भाषा उडीसा मे बोली जाती है। सक्षेप मे, यद्यपि मध्यवर्ती क्षेत्र मे आस्ट्रिक भाषा की ही प्रधानता है, तथापि कुछ महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ, जैसे ओरांव, कोलाम, गोड तथा ऐसी भाषाओ को बोलती हैं जो कि द्राविड भाषा से मिलती-जुलती हैं।[15]

(३) **द्राविड भाषा परिवार** (Dravidian speech family) —इस परिवार की भाषाओ को बोलने वाली जनजातियाँ दक्षिणी क्षेत्र मे बसी हुई हैं। इन भाषाओ के अन्तर्गत चार प्रमुख साहित्यिक भाषाएँ—तेलगू, कन्नड, तामिल और मलयालम—

12 *Ibid* p 254
13 *Ibid* pp 255-256
14 *Ibid*, p 255
15 *Ibid*, p 255

आती हैं। गोड मध्य भारत, हैदराबाद और आन्ध्र राज्यो मे फैले हैं और द्राविड भाषा बोलते हैं। उडीसा की कुन्ध जनजाति, बिहार व उडीसा मे रहने वाली कुई और उराव जनजातियाँ तथा राजमहल पहाडियो की जनजातियो की माल्टो बोलियाँ भी इसी भाषा-परिवार की हैं। टोडा, मलेर, पोलिया, सवर, कोया, पनियन, चेंचू, इरूला, कादर आदि जनजातियाँ भी द्राविड भाषा बोलती हैं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यद्यपि मोटे तौर पर भारतीय जनजातियो मे चीनी-तिब्बती, आस्ट्रिक तथा द्राविड ये तीन भाषा-परिवारो के अन्तर्गत आने वाली भाषाओ का प्रचलन है फिर भी उन्हे इसी आधार पर एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ, मध्य क्षेत्र की अधिकतर जनजातियाँ दो भाषाएँ—एक तो अपनी भाषा और दूसरी हिन्दुस्तानी या उडीसा या बगाली भाषा बोलती हैं। इसी प्रकार उराँव और मुण्डा जनजातियाँ हिन्दुस्तानी भाषा बोल लेती है और सथाल जनजाति बगला भाषा समझती है।[16] यही कारण है कि भारतीय जनजातियो के वर्गीकरण मे भाषा को एक महत्त्वपूर्ण आधार नही माना जाता है, केवल आधारो के साथ इसे एक सहायक आधार के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।[17]

भौगोलिक या प्रादेशिक वर्गीकरण
(Geographical or Regional Classification)

प्रजाति तथा भाषा के आधार पर भारतीय जनजातियो का वर्गीकरण करते समय हम इस बात का उल्लेख कर चुके है कि इन जनजातियो को तीन भौगोलिक क्षेत्रो के आधार पर बाँटा जा सकता है। यह विचार डाक्टर गुहा का है।

डा० बी० एस० गुहा के मतानुसार भारत की जनजातियो को तीन बडे भौगोलिक प्रदेशो मे बाँटा जा सकता है जो कि निम्नवत् हैं[18]—

(क) उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (North and North-Eastern Zone)—यह उत्तर मे लेह (Leh) और शिमला मे पूर्व मे लुशाई पर्वतो तक फैला हुआ है। इसमे पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तर प्रदेश और आसाम के पहाडी प्रदेश सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ गद्दी, गुज्जर, लम्बा, खम्पा, कनोटा, लाहौला, जौनसारी, भूटिया, थारू, नागा, कूकी, खासी, कचाटी, राभा आदि हैं।

(ख) मध्यवर्ती क्षेत्र (Central Zone)—यह उत्तरी भारत को दक्षिण भारत से पृथक् करने वाली तथा गगा नदी के दक्षिण और कृष्णा नदी के उत्तर मे विद्यमान विन्ध्याचल, सतपुडा आदि पुराने पहाडो और पठारो की पट्टी का प्रदेश है। इसमे बगाल, बिहार, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तरी बम्बई और उडीसा सम्मिलित हैं। क्षेत्रफल तथा जनजातियो की आबादी की दृष्टि से यह सबसे बडा प्रदेश है। इस क्षेत्र मे रहने वाले केवल सथालो की सख्या ही २५ लाख है।

16 *Ibid*, p 255
17. *Ibid*, p 255
18 B S Guha, *op cit*

इस क्षेत्र की अन्य जनजातियाँ भुंज, उराँव, हो, खडिया, बिरहोर, भुइयाँ, गोंड, बैगा, काड, कोटा, चेंचू, बेहिरा, कोरवा, मुण्डा, कोल, भील आदि हैं।

(ग) दक्षिणी क्षेत्र (Southern Zone)—यह क्षेत्र सामान्य रूप मे कृष्णा नदी के दक्षिण का प्रदेश है। इस क्षेत्र मे जनजातियो की सबसे अधिक सख्या पश्चिमी घाट के पहाडो मे वाइनाड से कन्याकुमारी तक पायी जाती है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत हैदराबाद, मैसूर, कुर्ग, ट्रावन्कोर-कोचीन, आन्ध्र और मद्रास आते हैं। अण्डमान और निकोबार के द्वीपसमूह मे भी अनेक जनजातियाँ निवास करती है। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ चेनचू, कोटा, कुरम्भा, बडगा, टोडा, कादर, मलायन, पलैयन, उराली, इरूला, पुलयन आदि है।

डा० श्यामाचरण दुबे ने एक दूसरे तरह मे अपने वर्गीकरण को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत के मानचित्र को निम्नलिखित चार प्रमुख भागो मे विभाजित किया जा सकता है —

(१) उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र
(२) मध्य क्षेत्र
(३) पश्चिम क्षेत्र
(४) दक्षिण क्षेत्र

उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र के मुख्य जनजातीय समूह हैं—भोटिया, थारू, लेप्चा, नागा, गारो, खासी, डाफला, कूकी, आवोर, मिकिर, गुरुग आदि। इनमे से प्रथम दो उत्तर प्रदेश के हिमालय से लगे क्षेत्र मे वास करते हैं। लेप्चा सिक्किम और समवर्ती भारतीय क्षेत्रो के निवासी हैं। शेष जनजातीय समूह आसाम, उत्तर-पूर्वी सीमान्त क्षेत्र तथा कमेग नागा पर्वत-क्षेत्र मे पाये जाते हैं।

मध्य क्षेत्र मे जनजातियो की सबसे अधिक सख्या निवास करती है। बिहार के सन्थाल, मुण्डा, ओराँव और बिरहोर, उत्कल के बोदो, खोड, सौरा तथा जुआँग, मध्य-प्रदेश के गोंड, बैगा, कोल, कोर्कू, कमार, भुँजिया आदि। राजस्थान के भील तथा दक्षिण पठार के चेंचू, कोलाम, कोआ, राजगोंड समूह आदि इस विस्तृत जनजातीय क्षेत्र के निवासी हैं।

पश्चिम क्षेत्र मे सह्याद्रि के जनजातीय समूह जैसे वार्ली, कटकरी, महादेव, कोली तथा भीलो के कतिपय समूह आते हैं।

दक्षिण क्षेत्र मे अनेक अल्प-सख्यक जातीय समूह निवास करते हैं। इनमे टोडा, बडागा, कोटा, इरुला, काडुर, कुरुवा आदि उल्लेखनीय हैं।

सास्कृतिक वर्गीकरण
(Cultural Classification)

सास्कृतिक स्तरो के आधार पर भी भारतीय जनजातियो का वर्गीकरण हो सकता है और उनके सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की जानकारी के लिये यह वर्गीकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राय सोलह वर्ष पूर्व श्री वैरियर एलविन (Verrier Elwin)

आती हैं। गोंड मध्य भारत, हैदराबाद और आन्ध्र राज्यो मे फैले हैं और द्राविड भाषा बोलते हैं। उडीसा की कुन्ध जनजाति, बिहार व उडीसा मे रहने वाली कुई और उराव जनजातियाँ तथा राजमहल पहाडियो की जनजातियो की माल्टो बोलियाँ भी इसी भाषा-परिवार की हैं। टोडा, मलेर, पोलिया, सवर, कोया, पनियन, चेंचू, इरूला, कादर आदि जनजातियाँ भी द्राविड भापा बोलती हैं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यद्यपि मोटे तौर पर भारतीय जनजातियो मे चीनी-तिब्बती, आस्ट्रिक तथा द्राविड ये तीन भापा-परिवारो के अन्तर्गत आने वाली भाषाओ का प्रचलन है फिर भी उन्हे इसी आधार पर एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ, मध्य क्षेत्र की अधिकतर जनजातियाँ दो भाषाएँ—एक तो अपनी भाषा और दूसरी हिन्दुस्तानी या उडीसा या बगाली भापा बोलती हैं। इसी प्रकार उराँव और मुण्डा जनजातियाँ हिन्दुस्तानी भाषा बोल लेती हैं और सथाल जन-जाति बगला भाषा समझती है।[16] यही कारण है कि भारतीय जनजातियो के वर्गीकरण मे भाषा को एक महत्त्वपूर्ण आधार नही माना जाता है, केवल आधारो के साथ इसे एक सहायक आधार के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।[17]

भौगोलिक या प्रादेशिक वर्गीकरण
(Geographical or Regional Classification)

प्रजाति तथा भाषा के आधार पर भारतीय जनजातियो का वर्गीकरण करते समय हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि इन जनजातियो को तीन भौगोलिक क्षेत्रो के आधार पर बाँटा जा सकता है। यह विचार डाक्टर गुहा का है।

डा० बी० एस० गुहा के मतानुसार भारत की जनजातियो को तीन बड़े भौगोलिक प्रदेशो मे बाँटा जा सकता है जो कि निम्नवत् हैं[18]—

(क) उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (North and North-Eastern Zone)—यह उत्तर मे लेह (Leh) और शिमला मे पूर्व मे लुशाई पर्वतो तक फैला हुआ है। इसमे पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पजाव, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तर प्रदेश और आसाम के पहाडी प्रदेश सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ गद्दी, गुज्जर, लम्वा, खम्पा, कनोटा, लाहौला, जौनसारी, भूटिया, थारू, नागा, कूकी, खासी, कचारी, राभा आदि हैं।

(ख) मध्यवर्ती क्षेत्र (Central Zone)—यह उत्तरी भारत को दक्षिण भारत से पृथक् करने वाली तथा गगा नदी के दक्षिण और कृष्णा नदी के उत्तर मे विद्यमान विन्ध्याचल, सतपुडा आदि पुराने पहाडो और पठारो की पट्टी का प्रदेश है। इसमे वगाल, विहार, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तरी बम्बई और उडीसा सम्मिलित हैं। क्षेत्रफल तथा जनजातियो की आवादी की दृष्टि से यह सबसे वडा प्रदेश है। इस क्षेत्र मे रहने वाले केवल सथालो की सख्या ही २५ लाख है।

16 *Ibid*, p 255
17. *Ibid*, p 255
18 B. S Guha, *op cit*

इस क्षेत्र की अन्य जनजातियाँ भुंज, उराँव, हो, खडिया, बिरहोर, भुइयाँ, गोंड, वैगा, काढ, कोटा, चेंचू, वेहिरा, कोरवा, मुण्डा, कोल, भील आदि हैं।

(ग) दक्षिणी क्षेत्र (Southern Zone)—यह क्षेत्र सामान्य रूप मे कृष्णा नदी के दक्षिण का प्रदेश है। इस क्षेत्र मे जनजातियो की सबसे अधिक सख्या पश्चिमी घाट के पहाडो मे वाइनाड से कन्याकुमारी तक पायी जाती है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत हैदराबाद, मैसूर, कुर्ग, ट्रावन्कोर-कोचीन, आन्ध्र और मद्रास आते हैं। अण्डमान और निकोबार के द्वीपसमूह मे भी अनेक जनजातियाँ निवास करती है। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ चेनचू, कोटा, कुरम्भा, वडगा, टोडा, कादर, मलायन, पलैयन, उराली, इरूला, पुलयन आदि है।

डा० **श्यामाचरण दुबे** ने एक दूसरे तरह से अपने वर्गीकरण को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत के मानचित्र को निम्नलिखित चार प्रमुख भागो मे विभाजित किया जा सकता है —

(१) उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र
(२) मध्य क्षेत्र
(३) पश्चिम क्षेत्र
(४) दक्षिण क्षेत्र

उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र के मुख्य जनजातीय समूह हैं—भोटिया, थारू, लेप्चा, नागा, गारो, खासी, डाफला, कूकी, आबोर, मिकिर, गुरुग आदि। इनमे से प्रथम दो उत्तर प्रदेश के हिमालय से लगे क्षेत्र मे वास करते है। लेप्चा सिक्किम और समवर्ती भारतीय क्षेत्रो के निवासी हैं। शेष जनजातीय समूह आसाम, उत्तर-पूर्वी सीमान्त क्षेत्र तथा कमेग नागा पर्वत-क्षेत्र मे पाये जाते हैं।

मध्य क्षेत्र मे जनजातियो की सबसे अधिक सख्या निवास करती है। बिहार के सन्थाल, मुण्डा, ओराँव और बिरहोर, उत्कल के बोदो, खोड, सौरा तथा जुआँग, मध्य-प्रदेश के गोंड, वैगा, कोल, कोर्कू, कमार, भुँजिया आदि। राजस्थान के भील तथा दक्षिण पठार के चेंचू, कोलाम, कोआ, राजगोंड समूह आदि इस विस्तृत जनजातीय क्षेत्र के निवासी हैं।

पश्चिम क्षेत्र मे सह्याद्रि के जनजातीय समूह जैसे वार्ली, कटकरी, महादेव, कोली तथा भीलो के कतिपय समूह आते हैं।

दक्षिण क्षेत्र मे अनेक अल्प-सख्यक जातीय समूह निवास करते हैं। इनमे टोडा, वडागा, कोटा, इरूला, काडुर, कुरुबा आदि उल्लेखनीय हैं।

सांस्कृतिक वर्गीकरण
(Cultural Classification)

सास्कृतिक स्तरो के आधार पर भी भारतीय जनजातियो का वर्गीकरण हो सकता है और उनके सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की जानकारी के लिये यह वर्गीकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राय: सोलह वर्ष पूर्व श्री वैरियर एलविन (Verrier Elwin)

ने सांस्कृतिक स्तर के आधार पर भारतीय जनजातियो को चार वर्गों मे बाँटा था जो निम्नवत् हैं[19] —

(१) प्रथम वर्ग मे आदिमतम जीवन बिताने वाली जनजातियाँ हैं जो प्रमुख रूप से मध्य भारत मे बस्तर के पहाडी माडिया, उडीसा के जुआग, गादवा और बोंदो हैं। ये अत्यन्त दुर्गम और गहन वन-पर्वतो मे रहते हैं। ये सामाजिक और आर्थिक मामले मे सयुक्त सामूहिक जीवन (joint communal life) व्यतीत करते हैं और 'झूम' खेती करते हैं। इनका जीवन अत्यन्त सरल तथा आदिम होता है और सभ्य समाज के लोगो को देखकर ये भाग जाते हैं या पेडो पर चढ जाते हैं।

(२) जनजातियो का दूसरा वर्ग वह है जिसके आदिम जीवन मे कुछ परिवर्तन शुरू हो गये है फिर भी वे प्रायः प्रथम वर्ग की भाँति ही एकाकी और अपनी प्राचीन परम्पराओ को मानने वाले हैं। इनका जीवन सामूहिक न रहकर व्यक्तिवादी (individualistic) हो रहा है, अमीर गरीब का अन्तर है। वे झूम खेती को उतना नही अपनाते और न ही परदेसियो से अधिक डरते हैं।

(३) तीसरे वर्ग मे सबसे अधिक जनजातियाँ, सख्या मे जो प्राय दो करोड हैं, आती हैं। इनकी जनजातीय सस्कृति बाहरी सस्कृतियो के प्रभावो के कारण प्राय मिटने वाली है। इन जनजातियो का बाहरी सस्कृतियो के सम्पर्क मे आने का फल यह हुआ है कि धीरे-धीरे इनका जातीय जीवन नष्ट हो रहा है और ये अपने धर्म, परम्परा, प्रथा, कला, विश्वास, सामाजिक सगठन आदि से दूर होती जा रही हैं। इसके कारण उन्हे अनेक दुष्परिणाम भोगने पड रहे हैं और उनके जीवन मे अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं।

(४) चौथा वर्ग उन जनजातियो का है जो, श्री एलविन के मतानुसार, देश के प्राचीन कुलीन वर्ग की प्रतिनिधि हैं। इसमे भील और नागा जनजातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होने बाहरी सांस्कृतिक सम्पर्क मे आने पर भी अपनी प्राचीन और मौलिक सस्कृति को वैसा ही बनाये रखा है।

श्री एलविन के वर्गीकरण मे कुछ दोष हैं—(अ) श्री एलविन का यह कहना सत्य नही है कि सभ्य समाज के सम्पर्क मे आना जनजातियो के लिये सदैव अहितकर ही है। (ब) चौथे वर्ग को जनजातियो की उन्नति का अन्तिम आदर्श मानना भी उचित नही है, और (स) श्री एलविन का वर्गीकरण स्थिर नही रह सकता। जैसे जैसे नागरीकरण बढता जायगा वैसे-वैसे श्री एलविन का वर्गीकरण भी दुर्बल होता जायगा।

सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) ने जनजातियो का वर्गीकरण निम्न ढग से किया है —

(क) वे जनजातियाँ जो ग्रामीण-नागरिक समुदायो से सास्कृतिक मामलो मे बहुत दूर हैं अर्थात् जो उन्नत समुदायो के सम्पर्क मे नही आयी हैं।

(ख) वे जनजातियाँ जो ग्रामीण-नागरिक समुदायो की सस्कृति के प्रभावो से

19 V Elwin, *The Aboriginals*, Oxford University Press, Bombay, 1943, pp 7-11

प्रभावित हैं और जिनके कारण उनके जीवन मे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं।

(ग) वे जनजातियाँ जो ग्रामीण-नागरिक समुदायो की सस्कृति के सम्पर्क में आने पर भी कोई असुविधा या समस्या का सामना नही कर रही है।

आर्थिक वर्गीकरण
(Economic Classification)

आर्थिक वर्गीकरण के आधार पर भारतीय जनजातियो को मुख्य रूप से चार भागो मे इस प्रकार बाँटा जा सकता है —

(१) शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने वाली जनजातियाँ (Tribes on Hunting and Food gathering stage)—इस श्रेणी मे कादर (कोचीन), मालापन्तरम (ट्रावनकोर), पलीयन (मदुरा), पनीयान आदि जनजातियाँ आती हैं जो कि जगलो से फलो, कन्दमूलो और शहद को इकट्ठा करते है तथा शिकार करके और मछली पकडकर अपना पेट पालते है।

(२) पशुपालक जनजातियाँ (Tribes on Pastoral stage)—इस श्रेणी में विशेष रूप से हिमाचल प्रदेश के गुज्जर और दक्षिण नीलगिरि के टोडा जनजाति उल्लेखनीय हैं। इनका आर्थिक जीवन पशुओ के पालने और उनके दूध व दूध से बनी चीजों को बेचने पर निर्भर है।

(३) खेती करने वाली जनजातियाँ (Tribes on Agricultural stage)—उत्तरी-पूर्वी तथा मध्य भारत की अधिकाश जनजातियाँ इसी श्रेणी मे आती हैं।

(४) उद्योग मे लगी हुई जनजातियाँ (Tribes engaged in Industries)—कुछ जनजातियाँ अपने क्षेत्र के खानो, चाय-बगीचो और अन्य उद्योगो मे श्रमिक के रूप मे काम करती हैं। बिहार, बगाल और आसाम की कुछ जनजातियाँ इसी श्रेणी मे आती हैं।

उपरोक्त चारो श्रेणियो के विषय मे हम अध्याय १२ मे 'भारतीय जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक विवेचना कर चुके हैं।

भारतीय जनजातियो के विषय मे और भी स्पष्ट धारणा बनाने के लिये हम यहाँ थारू जनजाति का मानवशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

एक भारतीय जनजाति का मानवशास्त्रीय अध्ययन थारू जनजाति
(Anthropological Study of An Indian Tribe : Tharu Tribe)

भारत के उत्तरीय क्षेत्र जिला पीलीभीत से २५ मील उत्तर मे थारू जनजाति नैनीताल के तराई क्षेत्र मे फैली हुई है, जिसकी जनसख्या अनुमानित रूप से लगभग २८ हजार है। पहाडी क्षेत्र टनकपुर से मैदानी क्षेत्रो तक सभी ओर इस जनजाति का विस्तार है, इस कारण किसी स्थान पर तो थारू पहाड की तलहटी मे बसे प्रतीत होते हैं, और किसी स्थान की दूरी पहाडियो से १० या १५ मील तक पायी जाती है। यद्यपि अधिकतर थारू-ग्राम तराई क्षेत्रो मे ही स्थित हैं, लेकिन कुछ गाँव पर्वतीय क्षेत्र व जगली प्रदेशो से भी सम्बन्धित है जैसा कि ज्ञात है कि टनकपुर स्थान से नेपाल व भारत की सीमा पर बीहड

जगल पाये जाते है। जो भी हो, थारू वन्यजाति सभी वन्यजातियो के ही समान प्रकृति के रम्य दृश्यो मे हिलोरें लेती हुई-सी प्रतीत होती है। सम्पूर्ण थारुश्रो का क्षेत्र 'थरुआर' के नाम से प्रसिद्ध है।

थारू जनजाति की उत्पत्ति
(Origin of Tharu Tribe)

थारुओ की उत्पत्ति के विषय मे अनेक भ्रमात्मक सिद्धान्त व किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। तार्किक रूप से इनमे से केवल दो सिद्धान्तो को ही किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है। सर्वप्रथम अधिकतर थारू अपने को राणा-वश की उत्पत्ति कहते हैं। उनका विचार है कि मुसलमानो के अत्याचार व दमन-नीति के कारण राजपूताने से १२ राणा भागकर इस क्षेत्र मे आये और धीरे-धीरे पहाडी स्त्रियो से सम्बन्ध स्थापित होने पर आज इतने विस्तृत रूप मे फैल चुके हैं। दूसरा सिद्धान्त राजपूत स्त्रियो से उत्पत्ति पर बल देता है। इनका कहना है कि जौहर-व्रत की असहनीय पीडा से घबडाकर कुछ राजपूत स्त्रियाँ अपने थोडे से सेवको के साथ जगलो मे छिपती हुई भागी और समय के साथ ही साथ आन्तरिक वृत्तियो की सतुष्टि के हेतु इन्ही सेवको से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इस प्रकार उत्पन्न सतान ही बाद मे थारू कहलायी, और यही कारण स्त्रियो की उच्च स्थिति की भी पुष्टि करता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हैं, इसके बारे मे निश्चित रूप से कुछ कहना अत्यधिक कठिन है। यदि हम वशानुसक्रमण के सिद्धान्त का तनिक भी विश्वास करें, तो यह सिद्धान्त जरा भी उपयुक्त प्रतीत नही होता। थारुओ की मानसिक, सामाजिक, शारीरिक व बौद्धिक विशेषताएँ राणा व राजपूतो से बिल्कुल भिन्न होने पर भी हम किस प्रकार उनको राणा व राजपूतो से सम्बन्धित कर सकते हैं? सत्य तो यह है कि थारुओं की उत्पत्ति के विषय मे अभी कुछ भी प्रमाणित नही, और जो कुछ कहा भी जाता है सभी कुछ कल्पनाओ के आधार पर ही। इस कारण इस पहेली को यही छोडकर हम उनके सामाजिक व आर्थिक जीवन पर ही विशेष रूप से अपने अध्ययन को केन्द्रित करेंगे, जिसके लिये थारुओ की कुछ प्राथमिक विशेषताओ को जानना आवश्यक होगा।

थारू जनसख्या की विशेषताएँ
(Main Characteristics of Tharu-Population)

थारू जनसख्या लगभग २८ हजार है, और साधारण समाज से भिन्न इसकी कुछ अपनी विशेषताएं हैं। सर्वप्रथम थारू जनजाति मे स्त्री व पुरुषो के अनुपात मे अधिक अन्तर प्रतीत नही होता, बल्कि किसी-किसी स्थान पर तो पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की सख्या अधिक है, और फलस्वरूप थरुआर मे स्त्रियो के प्रति कोई विशेष आकर्षण जैसी वस्तु नही मिलती। द्वितीय, यद्यपि स्त्रियाँ प्रत्येक कार्य के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं लेकिन उपर्युक्त कारण से थारुओ मे यौन-सम्बन्धी अपराधो की सख्या बहुत कम है। तृतीय, थारू जनसख्या का अधिक भाग अशिक्षित है। वे परम्परागत रूप से शिक्षा को उचित नही समझते और दूसरी ओर शिक्षा-सस्थाओ की कमी व अधिक दूरी होने के कारण भी बच्चे

सरलतापूर्वक शिक्षा प्राप्त नही कर पाते। आज बढते हुए शिक्षा के प्रचार व प्रसार से भी थारुओ की रुचि इस ओर आकृष्ट नही हो सकी है। अंतिम विशेपता जनसख्या का परम्परावादी व अंधविश्वासी होना है। वर्तमान युग ने चाहे कितनी भी प्रगति कर ली हो लेकिन यह प्रगति थारुओ की परम्परावादिता व अंधविश्वासो को समाप्त नही कर सकी है। उनके सम्पूर्ण कार्यो मे रूढियो व सामाजिक रीतियो को प्रमुख स्थान दिया जाता है, तर्क या बुद्धि को तो बहुत कम या तनिक भी नही। रूढियो का उल्लघन करने पर सामाजिक दण्ड की व्यवस्था की गयी है, जिसको मानने के लिये प्रत्येक थारू बाध्य है।

थारू जनजाति का आर्थिक जीवन
(Economic Life of Tharu Tribe)

अनेक अन्य जनजातियो की भाँति थारुओ का प्रमुख व्यवसाय व आय का स्रोत कृषि है, इसके अतिरिक्त मछली का शिकार दूसरा आवश्यक कार्य है, जो व्यवसाय तो नही कहा जा सकता पर पारिवारिक व्यय को कम करने मे अत्यधिक सहायक है। जगली प्रदेशो से लगे हुए ग्रामो मे थारू शिकार के भी शौकीन हैं, जिसमे वे प्राय पाडा, चीतल, शेर सूअर व इसी प्रकार के दूसरे जगली जानवरो का शिकार करते है। अधिकतर थारू स्वभाव से सुस्त व ढीले हैं। जितनी उर्वरा जमीन (fertile land) उनको खेती के लिए प्राप्त है, उसके अनुपात मे उनकी उपज अत्यधिक कम है, जिसका कारण प्रमुख रूप से प्राचीन कृषि-यन्त्र व प्रविधियां हैं। फसल को बोने से लेकर बाजार मे बेचने तक के सभी ढग परम्परात्मक हैं और फलस्वरूप थारुओ की कृषि से प्राप्त आय उनको जीवित रखने भर के लिये ही पर्याप्त होती है।

मछली मारना थारुओ का पारिवारिक कार्य व आवश्यकता के रूप मे किया जाता है। गाँव के सभी स्त्री व पुरुप २० या ३० के समूहो मे दूर पर बहती हुई शारदा नदी या नहर मे जाल व छपरियाँ (बेंत की बनी मछली मारने की टोकरियाँ) लेकर जाते हैं, और दोपहर को ३ बजे तक मछलियाँ मारने के बाद घर की ओर लौटते हैं। यह स्थान अधिकतर ग्रामो से लगभग ५ मील से १० मील तक के फासले पर होगा, इस कारण पास के गाँव मे रहने वाले थारुओ को मछली मारने का अधिक समय मिलता है। स्त्री व पुरुष मछलियो का शिकार अलग-अलग करते हैं, और अपनी मछलियाँ अलग टोकरो मे ही भरी जाती हैं, कारण यह कि स्त्रियाँ अपने द्वारा मारी हुई मछलियाँ ही खाती है, पुरुषो के स्पर्श मात्रसे ही उसको अधिकतर नही खाती। इस सम्बन्ध मे मुख्य बात यह है कि यह मछलियाँ बेचने के कार्य मे नही आती अपितु थारू केवल उतनी ही मछली मारते हैं, जितनी वे स्वय उपभोग कर सकें। वर्षा के आरम्भ के साथ ही नदी व नहरो के तीव्र बहाव के कारण मछलियाँ यहाँ प्राप्त नही होती और वहाँ पहुँचने के मार्ग भी समाप्त हो जाते हैं, ऐसी परिस्थिति मे थारू गाँव के आस-पास के तालाबो व पोखरो से ही मछली पकडते हैं, लेकिन यह मछलियाँ किस्म व आकार मे उतनी अच्छी नही होती।

अधिकतर थारू जनसख्या निर्धन है। प्रथम तो उनको अकुशल व अपर्याप्त कृषि से पेट भर भोजन प्राप्त नही हो पाता, और जो कुछ आय होती भी है उसका एक बडा भाग कच्ची शराब व दूसरे प्रकार के अपव्यय मे समाप्त कर दिया जाता है। सामाजिक

जगल पाये जाते हैं। जो भी हो, थारू वन्यजाति सभी वन्यजातियो के ही समान प्रकृति के रम्य दृश्यो मे हिलोरें लेती हुई-सी प्रतीत होती है। सम्पूर्ण थारुओ का क्षेत्र 'थरुआर' के नाम से प्रसिद्ध है।

थारू जनजाति की उत्पत्ति
(Origin of Tharu Tribe)

थारुओ की उत्पत्ति के विषय मे अनेक भ्रमात्मक सिद्धान्त व किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। तार्किक रूप से इनमे से केवल दो सिद्धान्तो को ही किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है। सर्वप्रथम अधिकतर थारू अपने को राणा-वश की उत्पत्ति कहते हैं। उनका विचार है कि मुसलमानो के अत्याचार व दमन-नीति के कारण राजपूताने से १२ राणा भागकर इस क्षेत्र मे आये और धीरे-धीरे पहाडी स्त्रियो से सम्बन्ध स्थापित होने पर आज इतने विस्तृत रूप मे फैल चुके हैं। दूसरा सिद्धान्त राजपूत स्त्रियो से उत्पत्ति पर बल देता है। इनका कहना है कि जौहर-व्रत की असहनीय पीडा से घवडाकर कुछ राजपूत स्त्रियाँ अपने थोडे से सेवको के साथ जगलो मे छिपती हुई भागीं और समय के साथ ही साथ आन्तरिक वृत्तियो की सतुष्टि के हेतु इन्ही सेवको से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इस प्रकार उत्पन्न सतान ही बाद मे थारू कहलायी, और यही कारण स्त्रियो की उच्च स्थिति की भी पुष्टि करता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हैं, इसके बारे मे निश्चित रूप से कुछ कहना अत्यधिक कठिन है। यदि हम वशानुसक्रमण के सिद्धान्त का तनिक भी विश्वास करें, तो यह सिद्धान्त जरा भी उपयुक्त प्रतीत नही होता। थारुओ की मानसिक, सामाजिक, शारीरिक व बौद्धिक विशेषताएँ राणा व राजपूतो से बिल्कुल भिन्न होने पर भी हम किस प्रकार उनको राणा व राजपूतो से सम्बन्धित कर सकते हैं? सत्य तो यह है कि थारुओं की उत्पत्ति के विषय मे अभी कुछ भी प्रमाणित नही, और जो कुछ कहा भी जाता है सभी कुछ कल्पनाओ के आधार पर ही। इस कारण इस पहेली को यही छोडकर हम उनके सामाजिक व आर्थिक जीवन पर ही विशेष रूप से अपने अध्ययन को केन्द्रित करेंगे, जिसके लिये थारुओ की कुछ प्राथमिक विशेषताओं को जानना आवश्यक होगा।

थारू जनसंख्या की विशेषताएँ
(Main Characteristics of Tharu-Population)

थारू जनसख्या लगभग २८ हजार है, और साधारण समाज से भिन्न इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम थारू जनजाति मे स्त्री व पुरुषो के अनुपात मे अधिक अन्तर प्रतीत नही होता, बल्कि किसी-किसी स्थान पर तो पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की सख्या अधिक है, और फलस्वरूप थरुआर मे स्त्रियो के प्रति कोई विशेष आकर्षण जैसी वस्तु नही मिलती। द्वितीय, यद्यपि स्त्रियाँ प्रत्येक कार्य के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं लेकिन उपर्युक्त कारण से थारुओ मे यौन-सम्बन्धी अपराधो की सख्या बहुत कम है। तृतीय, थारू जनसख्या का अधिक भाग अशिक्षित है। वे परम्परागत रूप से शिक्षा को उचित नही समझते और दूसरी ओर शिक्षा-सस्थाओ की कमी व अधिक दूरी होने के कारण भी बच्चे

सरलतापूर्वक शिक्षा प्राप्त नही कर पाते। आज बढते हुए शिक्षा के प्रचार व प्रसार से भी थारुग्रो की रुचि इस ओर आकृष्ट नही हो सकी है। अंतिम विशेषता जनसख्या का परम्परावादी व अधविश्वासी होना है। वर्तमान युग ने चाहे कितनी भी प्रगति कर ली हो लेकिन यह प्रगति थारुग्रो की परम्परावादिता व अधविश्वासो को समाप्त नही कर सकी है। उनके सम्पूर्ण कार्यों मे रूढियो व सामाजिक रीतियो को प्रमुख स्थान दिया जाता है, तर्क या बुद्धि को तो बहुत कम या तनिक भी नही। रूढियो का उल्लघन करने पर सामाजिक दण्ड की व्यवस्था की गयी है, जिसको मानने के लिये प्रत्येक थारू बाध्य है।

थारू जनजाति का आर्थिक जीवन
(Economic Life of Tharu Tribe)

अनेक अन्य जनजातियो की भाँति थारुग्रो का प्रमुख व्यवसाय व आय का स्रोत कृषि है, इसके अतिरिक्त मछली का शिकार दूसरा आवश्यक कार्य है, जो व्यवसाय तो नहीं कहा जा सकता पर पारिवारिक व्यय को कम करने मे अत्यधिक सहायक है। जगली प्रदेशो से लगे हुए ग्रामो मे थारू शिकार के भी शौकीन है, जिसमे वे प्राय पाडा, चीतल, शेर सूअर व इसी प्रकार के दूसरे जगली जानवरो का शिकार करते हैं। अधिकतर थारू स्वभाव से सुस्त व ढीले हैं। जितनी उर्वरा जमीन (fertile land) उनको खेती के लिए प्राप्त है, उसके अनुपात मे उनकी उपज अत्यधिक कम है, जिसका कारण प्रमुख रूप से प्राचीन कृषि-यत्र व प्रविधियाँ हैं। फसल को बोने से लेकर बाजार मे बेचने तक के सभी ढग परम्परात्मक हैं और फलस्वरूप थारुग्रो की कृषि से प्राप्त आय उनको जीवित रखने भर के लिये ही पर्याप्त होती है।

मछली मारना थारुग्रो का पारिवारिक कार्य व आवश्यकता के रूप मे किया जाता है। गाँव के सभी स्त्री व पुरुष २० या ३० के समूहो मे दूर पर बहती हुई शारदा नदी या नहर मे जाल व छपरियाँ (बेंत की बनी मछली मारने की टोकरियाँ) लेकर जाते है, और दोपहर को ३ बजे तक मछलियाँ मारने के बाद घर की ओर लौटते है। यह स्थान अधिकतर ग्रामो से लगभग ५ मील से १० मील तक के फासले पर होगा, इस कारण पास के गाँव मे रहने वाले थारुग्रो को मछली मारने का अधिक समय मिलता है। स्त्री व पुरुष मछलियो का शिकार अलग-अलग करते हैं, और अपनी मछलियाँ अलग टोकरो मे ही भरी जाती हैं, कारण यह कि स्त्रियाँ अपने द्वारा मारी हुई मछलियाँ ही खाती है, पुरुषो के स्पर्श मात्रसे ही उसको अधिकतर नही खाती। इस सम्बन्ध मे मुख्य बात यह है कि यह मछलियाँ बेचने के कार्य मे नही आती अपितु थारू केवल उतनी ही मछली मारते हैं, जितनी वे स्वय उपभोग कर सकें। वर्षा के आरम्भ के साथ ही नदी व नहरो के तीव्र बहाव के कारण मछलियाँ यहाँ प्राप्त नही होती और वहाँ पहुँचने के मार्ग भी समाप्त हो जाते हैं, ऐसी परिस्थिति मे थारू गाँव के आस-पास के तालाबो व पोखरो से ही मछली पकडते हैं, लेकिन यह मछलियाँ किस्म व आकार मे उतनी अच्छी नही होती।

अधिकतर थारू जनसख्या निर्धन है। प्रथम तो उनको अकुशल व अपर्याप्त कृषि से पेट भर भोजन प्राप्त नही हो पाता, और जो कुछ आय होती भी है उसका एक बडा भाग कच्ची शराब व दूसरे प्रकार के अपव्यय मे समाप्त कर दिया जाता है। सामाजिक

उत्सवो व कन्या-मूल्य (bride price) पर किये गये व्यय भी उनकी आय को समाप्त करने मे महत्त्वपूर्ण हैं। अधिकतर थारू गहरे ऋण मे डूबे हुए हैं और अपनी ईमानदारी के कारण, जिसको वर्तमान सभ्यता व औद्योगीकरण भी समाप्त न कर सका, थारू सबसे पहले ब्याज का भुगतान व निश्चित बातो का पालन करते हैं, चाहे उनको इसमे कितना भी नुकसान क्यो न उठाना पडे। यद्यपि थारुओ की आय साधारण ग्रामीणो की दशा देखते हुए अधिक कम नही, तो भी परिवार का आकार तुलनात्मक रूप से बडा होने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति उनको निरतर भुखमरी व निर्धनता की ओर ले जाती है।

थारुओ का सामाजिक जीवन
(Social Life of Tharus)

थारू समाज परम्परावादी, रूढिवादी व अधविश्वासो से घिरा हुआ प्रतीत होता है। स्वभाव से ही ये व्यक्ति स्त्रियो के गुलाम है। उनकी सस्कृति व सभ्यता बिल्कुल जनजातियो के समान तो नही कही जा सकती, क्योंकि यह अधिक प्राचीन जाति नही है, लेकिन आदिम समाजो की कुछ विशेषताएँ इनमे अवश्य पायी जाती हैं। विवाह का रूप, स्त्रियो की स्थिति, पुरुषो का निम्न स्तर, विश्वासो व परम्पराओ का पालन और सामाजिक रीतिया—सभी कुछ जनजातियो के ही समान प्रतीत होता है। इनमे से थारुओ की वैवाहिक रीतियाँ अधिक अनोखी और साधारण समाज से भिन्न हैं।

विवाह के भेद (Types of Marriages)—थारुओ मे विवाह केवल 'माह' के महीने मे किया जाता है, और इसके बाद गौने की प्रथा प्रचलित है, जो केवल चैत और वैसाख मे ही सम्पन्न की जाती है। विवाह विशेषकर सात प्रकार के होते हैं—

(१) **खासी ब्याह या धर्म विवाह**—अधिकतर विवाह इसी रीति के अनुसार सम्पन्न किये जाते हैं। वधू पक्ष को 'निनहरिया' व वर पक्ष को 'वरतिया' नाम से सम्बोधित किया जाता है। विवाह का प्रस्ताव वर पक्ष की ओर से रक्खा जाता है और वधू पक्ष अपनी इच्छानुसार वर का चयन करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। सबसे पहले उत्सव को 'दिखनौरी' कहा जाता है, जिसमे लडकी का पिता लडके के पिता के घर सवा रुपया व नारियल लेकर जाता है, लेकिन हमारे समाज के विपरीत, वर पक्ष वधू पक्ष के व्यक्तियो का इतना स्वागत करता है कि कभी कभी स्वागत मे २ या ३ पीपे शराब तक समाप्त कर दी जाती है। विवाह के एक सप्ताह पहले दूसरा उत्सव 'सगाई' का होता है जिसका दूसरा नाम 'सुगन को छूलो' है। यह वैवाहिक जीवन की भावी विपदाओ को दूर करने के विश्वास से सम्बन्धित है। विवाह के दिन वधू के घर पर एक अनोखी रीति को अपनाया जाता है, जो बिल्कुल जगली ही कही जा सकती है। सबसे पहले वर के बहनोई को नग्न किया जाता है और तब वैवाहिक कार्य आरम्भ होते हैं। इस क्रिया को 'गाड खुछाछा' नाम दिया गया है। काफी प्रयत्न करने पर भी मैं यह न जान सका कि इसके पीछे कौनसा मनोविज्ञान कार्य करता है। इसके उपरान्त साधारण रीति से 'मिलाई' आदि का कार्य करने के बाद चैत या वैसाख मे गौने की रीति को पूर्ण किया जाता है।

(२) **खर्चा विवाह**—थारुओ मे प्रचलित दूसरा महत्त्वपूर्ण वैवाहिक ढग है, जिसमे

स्त्री के लिये कुछ धन देना आवश्यक है, इसको वधू-मूल्य (Bride Price) कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। यह वधू मूल्य साधारण रूप मे तीन परिस्थितियो के अन्तर्गत लिया जा सकता है। प्रथम तो जब लडकी का पिता अत्यधिक निर्धन हो, और ऐसी परिस्थिति मे उसीके साथ लडकी का विवाह होता है जो अधिक मूल्य देता है। दूसरी अवस्था मे यदि लडकी अपने पहले पति को छोडकर किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह करना चाहे तो वह अपनी इच्छानुसार पहले पति का व्याह मे किया गया खर्चा लौटाकर दूसरे व्यक्ति के पास जा सकती है। यह धन नये पति के द्वारा दिया जाता है। ऐसे विवाहो को थारू समाज द्वारा पूर्ण मान्यता प्रदान की गयी है। इसमे पुरुष की इच्छा या अनिच्छा पर कोई विशेष ध्यान नही दिया जाता। तृतीय अवस्था मे यह खर्चा तब दिया जाता है जब स्त्री बिना किसी कारण अपने पहले पति को छोडकर दूसरे व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। ऐसी परिस्थिति मे यदि नवीन पति खर्चा देने के अयोग्य है अथवा देना नही चाहता तो लडकी के पिता को खर्चे की राशि देनी पडती है। जो भी हो, इस प्रकार के विवाह काफी मात्रा मे पाये जाते हैं। इसको लडकी का विक्रय तो कहना किसी प्रकार उपयुक्त न होगा क्योकि ऐसे विवाह पूर्ण रूप से स्त्री की इच्छानुसार ही किये जाते हैं।

(३) **चुटकुटा**—यह प्रथा विधवाओ के पुनर्विवाह के लिये ही प्रचलित है। यदि किसी लडकी के पति की मृत्यु हो जाए, तो लडकी नियमानुसार अपने श्वसुर के यहाँ ही रहती है, लेकिन यदि वह चाहे तो उसके यौन सम्बन्धो की सतुष्टि के लिये श्वसुर के द्वारा किसी पुरुष का प्रबन्ध किया जा सकता है, जो फिर उसी घर मे रहता है। ऐसे विवाहो मे आयु के अन्तर को अधिक महत्त्व नही दिया जाता। एक स्थान पर मुझे ऐसा उदाहरण मिला जब कि एक ३५ वर्ष की स्त्री के लिये २० वर्ष का नवयुवक रक्खा गया, क्योकि यह लडका वधू-मूल्य देने के अयोग्य था, पर इस विवाह से उसको वधू-मूल्य देने के स्थान पर कुछ वर-मूल्य भी प्राप्त हो गया। ऐसे विवाहो की विशेषता यह है कि विवाह के बाद लडके की चोटी अधिकतर काट दी जाती है, और इसी कारण विवाह का नाम भी 'चुटकुटा' रक्खा गया है। थारू समाज मे ऐसे विवाहो को भी सामाजिक मान्यता (social sanction) प्राप्त है।

(४) **उधरा व्याह या प्रेम विवाह**—यद्यपि ऐसे विवाहो की सख्या कम है, लेकिन तो भी अक्सर पाये जाते हैं। इसके अनुसार लडका व लडकी अपनी इच्छानुसार कही भाग जाते हैं (Elopement), पर विशेष बात यह है कि ऐसा करने मे लडकी आगे रहने वाली (initiator) होती है। यद्यपि ऐसे विवाहो को सामान्य मान्यता (general sanction) प्राप्त नही, लेकिन गाँव को एक मछली व दारू (wine) से दावत देने के बाद साधारण रूप से सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाती है।

(५) **घूस विवाह**—इस प्रकार का विवाह एक आश्चर्य-सा प्रतीत होता है। इसके अन्तर्गत कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के घर मे बलपूर्वक घुसकर बैठ सकती है, और उस घर के किसी पुरुष को अपने साथ विवाह करने के लिये बाध्य कर सकती है। थारू जनजाति के अध्ययन मे मेरा ऐसी ही एक घटना से सामना आरम्भ मे ही हुआ। आपको बडा आश्चय होगा कि एक लगभग ३० वष की स्त्री २३ वर्षीय नवयुवक के घर

मे उसके साथ विवाह करने के लिये घुमकर बैठ गयी, जो किसी भी प्रकार उससे विवाह करने को तैयार न था। फलस्वरूप उनकी प्रथा के अनुसार लडके को उस स्त्री के दूसरे विवाह का खर्चा देना पडा, जो जुर्माना के रूप मे देना पडता है।

(६) **पति-भ्राता विवाह**—इस रीति के अनुसार थारू पुरुष अपने बडे भाई की विधवा स्त्री या छोटे भाई की विधवा स्त्री से विवाह कर सकता है। थारू स्त्रियो का परिवार की सम्पत्ति मे हिस्सा रक्खा गया है, और इस कारण सम्पत्ति की रक्षा के लिये स्त्री को विधवा होने के बाद भी सरक्षण प्रदान किया जाता है, जिससे यौन-सम्बन्धो की सतुष्टि व सम्पत्ति की रक्षा, दोनो ही समान रूप से हो सकें।

(७) **साली विवाह**—साली विवाह भी थारुओ मे प्रचलित है, जिसके अनुसार लडके को अपनी पत्नी की जीवित या मृत, दोनो अवस्थाओ मे अपनी सालियो से विवाह करने का अधिकार दिया गया है। ऐसा साधारण रूप से तभी देखा जाता है जब लडका काफी अच्छे परिवार का सदस्य हो।

स्त्रियो की स्थिति
(The Position of Women)

थारू समाज की स्त्रियो को व्यावहारिक रूप से प्राथमिकता प्राप्त है। प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री की इच्छा को ही प्रमुख स्थान दिया जाता है। फसल को बेचने के लिये बाजार जाने का कार्य भी स्त्रियो के अधिकार मे ही है। स्त्रियो की प्राथमिकता इस सत्य से स्पष्ट प्रतीत होती है कि पुरुषो को रसोई (kitchen) मे घुसने तक का अधिकार नहीं, और उनके भोजन को स्पर्श करने मात्र की भी उनको छूट नही। पुरुष रसोई के बाहर बैठकर खाना खाते हैं और स्त्रियाँ अन्दर। त्योहारो मे अधिकतर कार्य स्त्रियो द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियो को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है, पुरुष उनके कार्य मे सहायता तो कर सकते हैं, पर किसी कार्य से स्त्री को रोक नही सकते।

नशा व शराब
(Drug and Drinks)

थारुओ का जीवन कच्ची शराब के अत्यधिक प्रयोग से एक अभिशाप-सा बन गया है। भूख से मरते हुए, निर्धनता व ऋण मे डूबे हुए और जीवन की प्रमुख आवश्यकताओ को भी कठिनता से पूर्ण करने वाले थारुओ की 'शराब' एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। केवल बोतलो व कुल्हडो का प्रयोग ही न होकर, शराब पीपो मे भरकर आस-पास के गाँवो मे 'खटीमा' केन्द्र से ले जायी जाती है। केवल पुरुष ही नही, बल्कि स्त्रियाँ व बच्चे तक शराब को साधारण वस्तु के समान लेते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। स्वास्थ्य के लिए यह कितनी हानिकारक है, कहा नही जा सकता, पर हफ्तो की बासी जलेबियो के साथ शराब का अत्यधिक प्रयोग उनकी सुस्ती व बीमार शरीर के लिये एक बडी सीमा तक उत्तरदायी है।

थारुओं के त्योहार
(Festivals among Tharus)

थारू अधिक त्योहारों में विश्वास नहीं करते, लेकिन तो भी चार त्योहारों का प्रचलन उनमें पाया जाता है। विशेष बात यह है कि थारु समाज में इन त्योहारों को पूर्ण करने में ब्राह्मणों को कोई स्थान नहीं दिया जाता बल्कि कहीं-कहीं पर तो ब्राह्मणों से इतनी घृणा की जाती है कि उनके द्वारा छुए गये कच्चे बर्तनों को भी तोड़ डाला जाता है। इन त्योहारों में सर्वप्रथम महत्त्व 'चढाई' को दिया जाता है जो वर्ष में दो बार चैत व वैसाख में मनाया जाता है। इस त्योहार को प्रमुख रूप से स्त्रियाँ गाँव के बाहर देवी की आराधना को केन्द्रित करके मनाती हैं। तीजो को दूसरा स्थान दिया गया है और साधारण रूप से यह त्योहार हमारे रीति-रिवाजों के अनुसार ही सावन में मनाया जाता है। मुडन व होली भी इनके प्रमुख त्योहार हैं, जिसमें शराब व मछली का उपभोग अपनी सीमा लाँघकर इनको बेहोश कर देता है। थारुओं के त्योहारों में एक विशेषता यह है कि दीपावली को मनाना इस क्षेत्र में अशुभ माना जाता है। इन दिनों थारू अपने पूर्वजों को भेंट आदि प्रदान करते हैं, जिसको 'रोटी' कहा जाता है। इसी कारण किसी प्रकार का आनन्द मनाना इनकी रीतियों व परम्परा के विरुद्ध है।

वास्तव में अशिक्षित व पिछड़े हुए थारुओं का जीवन अंधविश्वासों व परम्पराओं से पूर्णरूपेण घिरा हुआ है। चिकित्सा व धर्म में विश्वासों व जादू-टोने को प्रमुखता दी जाती है। रोगी के मृतप्राय होने पर भी डाक्टरी सुविधाओं को छोड़कर टोने-टुटकों पर विश्वास किया जाता है, जिसका परिणाम समय से पूर्व रोगी की मृत्यु है। इस क्षेत्र में यौन-सम्बन्ध काफी ढीले है, पर क्योंकि इसको अधिक बुरा नहीं समझा जाता, इस कारण इससे उत्पन्न तनाव भी बहुत कम मात्रा में प्राप्त होते हैं।

आज थारू जनजाति शहर के प्रलोभनों व आकर्षण से दूर तराई क्षेत्रों में आत्म-निर्भरता का जीवन व्यतीत कर रही है, लेकिन औद्योगीकरण के बढ़ते हुए प्रभाव ने इस पर भी अपना प्रभाव आरम्भ कर दिया है। थारुओं की सामाजिक रीतियों में इधर कुछ परिवर्तन हो रहे हैं, विशेषकर स्त्रियों की पूर्ण स्वतन्त्रता को सीमित करने का काफी प्रयत्न किया जा रहा है, क्योंकि समय की गति को दृष्टि में रखते हुए उनका सरल जीवन अधिक स्वतन्त्रता के कारण भ्रष्ट होने की सम्भावना बहुत अधिक हो जाती है। अनेक योजनाओं को इस क्षेत्र पर कार्यान्वित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं, जिसके लिए सन् १९६१ में सरकार ने १६ लाख रुपये की सहायक राशि इस जनजाति के विकास-कार्यों के हेतु प्रदान की है। आशा की जाती है कि भविष्य में थारू जनजाति के जीवन में पर्याप्त सुधार किया जा सकेगा, और यही राष्ट्र व समाज के विकास के लिये हितकर भी है।

सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूप
(Major forms of Social Organization)

प्रत्येक समाज का अपना एक संगठन होता है और इस संगठन का आधार

विभिन्न सामाजिक सस्थाएँ और सम्बन्ध होते हैं। जनजाति लोग कम-से-कम आर्थिक दृष्टिकोण से अत्यधिक पिछडे समझे जाते हैं परन्तु फिर भी इनमे एक सामाजिक सगठन स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है और इस मामले मे भारत मे और दुनियाँ के अन्य भागो मे निवास करने वाले जनजातीय समाजो के सामाजिक सगठन बहुत कुछ एक-सा प्रतीत होता है और इस सगठन का प्रथम आधार या मूलभूत इकाई परिवार ही है। परिवार का विस्तृत रूप गोत्र और गोत्र-समूह है परिवार और गोत्र से ही सम्बन्धित विवाह तथा नातेदारी व्यवस्था है जिन्हे कि सामाजिक सगठन के महत्त्वपूर्ण पक्ष कहे जा सकते हैं। सामाजिक सगठन के अन्य पक्ष हैं सामाजिक स्थिति तथा पद, आयु तथा यौन आधार पर सगठन, वर्ग-व्यवस्था, युवा-सगठन आदि। इन सबको मिलाकर ही सामाजिक सगठन के विभिन्न स्वरूपो का निर्माण होता है और इनके विषय मे जाने बिना भारत की जनजातियो का परिचय सम्पूर्ण नही कहा जा सकता। अब हम उन्ही के विषय मे एक-एक करके वर्णन करेंगे।

परिवार
(Family)

भारत के जनजातीय समाजो मे प्रायः प्रत्येक प्रकार के परिवार-सगठन पाये जाते हैं। परिवार का सबसे छोटा और आधारभूत रूप है—**मूल या केन्द्रीय परिवार** (Primary and nuclear family) इस प्रकार के परिवार मे एक विवाहित पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे आते हैं। परिवार का दूसरा प्रकार **विवाह-सम्बधी परिवार** (conjugal family) है। ऐसे परिवारो मे विवाहित पति-पत्नी और उनके बच्चो के अलावा विवाह द्वारा बने हुए कुछ रिश्तेदार भी आ जाते है। भारत मे खरिया जनजाति मे ऐसे परिवार पाये जाते हैं। परिवार का **तीसरा** रूप सयुक्त परिवार है। इस प्रकार का परिवार भारत की अनेक जनजातियो मे देखने को मिलता है।

परिवार को पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वश नाम और निवास के आधार पर भी दो प्रमुख भागो मे बाँटा जा सकता है—एक तो **मातृ-सत्तात्मक** या मातृ-वशीय परिवार और दूसरा **पितृ-सत्तात्मक** या पितृ-वशीय परिवार। इन दोनो प्रकार के परिवारो मे पितृ-वशीय परिवार अधिक सख्या मे भारतीय जनजातीय समाज मे पाये जाते हैं, परन्तु मातृ-वशीय परिवार के भी अनेक उदाहरण भारत मे सरलता से मिल जाते हैं।

विवाह सस्था के स्वरूप के आधार पर परिवारो को **चार** भागो मे विभाजित किया जा सकता है—एक विवाही-परिवार, बहु-पत्नी विवाही-परिवार, वहुपति-विवाही परिवार तथा समूह विवाही परिवार। भारत मे खासी, सन्थाल और कादर जनजातियो मे एक-विवाही परिवार, नागा, गोंड, बैगा आदि जनजातियो मे बहु पत्नी विवाही परिवार, और खस जनजाति मे बहुपति विवाही परिवार पाये जाते हैं। समूह-विवाही-परिवार बहुत कम देखने को मिलते हैं। परिवार के प्रमुख स्वरूपो को और भी भली-भाँति समझने के लिये मातृवशीय तथा पितृवशीय समाजो के बारे मे सामान्य ज्ञान होना परमावश्यक है:—

मातृवंशीय समाज
(Matrilineal Societies)

इस प्रकार के समाजो मे मातृसत्तात्मक (matriarchal) मातृवशीय तथा मातृस्थानीय (matrilocal) परिवार पाये जाते हैं। ये तीन प्रकार के परिवारो के अलग-अलग नाम नही हैं, वरन् एक ही प्रकार के परिवार के तीन विभिन्न विशेषताओ को अभिव्यक्त करते हैं। मातृवशीय समाज मे परिवार के मामले मे वास्तविक अधिकार या सत्ता, जैसे सम्पत्ति पर अधिकार स्त्रियो का ही होता है। इसलिए ऐसे परिवारो को पितृसत्तात्मक कहते हैं। उसी प्रकार ऐसे समाज मे बच्चे अपनी माता के कुल या वश के नाम से परिचित होते है, न कि पिता के। अतः ऐसे परिवार या समाज को मातृवशीय परिवार या समाज कहते हैं। इसके अतिरिक्त विवाह के बाद बच्चे तथा पति स्त्री के घर पर ही रहते है, न कि पति के घर पर। इसलिए इसे मातृस्थानीय परिवार भी कहते है। सामाजिक नियम यह होता है कि इन समाजो मे एक व्यक्ति को अपनी बहन के बच्चो के कल्याण व समृद्धि का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना पडता है। अर्थात् बच्चो की देख-रेख उनके मामा के द्वारा होती है, न कि पिता के द्वारा। ठीक उसी प्रकार स्वय मामा के अपने बच्चो की देख-रेख उसकी पत्नी के भाई के द्वारा होती है। इन समाजो मे कन्या के प्रथम मासिकधर्म के समय विस्तृत जादू-धर्म की क्रियाएँ सम्पन्न करनी पडती हैं। इसके बाद उस लडकी को यौन-सम्बन्धी आवश्यक शिक्षा दी जाती है। अपने विवाह-साथी के चुनाव के सम्बन्ध मे स्त्रियो को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। जिन मातृवशीय समाजो मे बहुपति-विवाह का प्रचलन है, वहाँ अपने एकाधिक पतियो का चुनाव स्त्री स्वय करती है और अपनी इच्छानुसार प्रत्येक पति को बारी-बारी से अपने पास रहने की आज्ञा देती है। ऐसे समाजो मे पिता की सम्पत्ति पर अधिकार पुत्र का नही होता है, पुत्र को अपने मामा की सम्पत्ति पर अधिकार मिल सकता है। पिता अपनी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी किसी भी कन्या को चुन सकता है। मातृवशीय समाजो मे स्त्रियो की सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक स्थिति खूब ऊँची होती है। इसका सबसे प्रमुख प्रमाण यह है कि ऐसे समाजो मे देवताओ की नही, देवियो की पूजा होती है, धार्मिक कर्मकाण्ड करने या पुरोहित का काम करने का भी अधिकार स्त्रियो को ही प्राप्त होता है, समाज मे उनका खूब सम्मान होता है तथा वे ही विशेषतया सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनती हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि मातृवशीय समाज मे पुरुषो को हेय समझा जाता है या उन्हे कोई अधिकार प्राप्त ही नही होता है। वास्तव मे उन्हे भी पुरुषोचित समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं। पुरुषो मे भानजे (माता के भाई या बहन के लडके) को अधिक अधिकार प्राप्त होते है।

भारत मे ये मातृक समाज तीन प्रमुख क्षेत्रो मे पाये जाते हैं। वे क्षेत्र, डा० दुबे के अनुसार, ये है—(१) ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर निवास करने वाले खासी और गारो जनजातियो का क्षेत्र, (२) केरल क्षेत्र जिसकी नायर जाति की यह मातृक या मातृवशीय परिवार व समाज अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताओ को प्रस्तुत करते है,

और (३) दक्षिण भारत का वह क्षेत्र जिसमे कादर, इरूला, पुलायान आदि जनजातियाँ एव होलेया, मादिगा, वेल्लेस्ना आदि अस्पृश्य जातियाँ रहती हैं। मातृक समाजो की विशेषताओ को भली-भाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उपरोक्त क्षेत्रो के दो एक मातृक या मातृवशीय समाजो का कुछ विस्तार मे अध्ययन करें। यहाँ हम खासी, गारो तथा नायरो मे पाये जाने वाले मातृवशीय समाजों की विवेचना प्रस्तुत करेंगे —

खासी—मातृसत्तात्मक तथा मातृवशीय समाज भारत मे खासी, गारो आदि जन-जातियो मे पाये जाते हैं। खासी लोग मातृवशीय है और वे अपनी वश-परम्परा स्त्री-पूर्वज से मानते हैं। उनका देवता भी स्त्री होती है। खासी समाज मे माता, उसके अविवाहित बच्चे, उसका पति, विवाहित लडकियाँ और उनके पति होते हैं। यदि परिवार मे कोई स्त्री सदस्य (female member) न हो, या मर गयी हो तो लडकियो को गोद लेने की प्रथा प्रचलित है ताकि मातृसत्तात्मक परिवार की निरन्तरता बनी रहे। शादी के बाद साधारणतया वर अपनी पत्नी के परिवार मे रहने के लिये जाता है, परन्तु बाद को यदि वह इस योग्य हो जाय कि अपनी कमाई से वह अपनी, अपनी पत्नी तथा बच्चो का पालन-पोषण कर सके तो वह अपना एक स्वतन्त्र घर बसा सकता है। यह छूट शायद ईसाइयो के सम्पर्क मे आने का ही परिणाम है। खासी परिवार मे न केवल वशपरम्परा अपितु सम्पत्ति पर अधिकार और उत्तराधिकार भी मातृमूलक है। एक परिवार मे जो कुछ भी उसके पुरुष या स्त्री सदस्य कमाते हैं उसपर सयुक्त अधिकार और नियत्रण परिवार की सबसे बडी स्त्री-सदस्य का ही होता है। सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी किसी पुरुष को, चाहे वह पति के रूप मे हो या पुत्र के रूप मे हो, नही मिलता है। माता के मरने पर सम्पत्ति के उत्तराधिकारी लडके या पति नही, अपितु लडकियाँ होती हैं। पुरुष अपनी सारी कमाई शादी से पहले अपनी माता को और शादी के बाद अपनी पत्नी को देता है। खासी समाज मे धार्मिक क्रियाओ मे भी स्त्रियो का प्रमुख स्थान होता है। चूँकि सब भाई और लडके अन्त तक अपनी-अपनी पत्नी के घर चले जाते हैं और चूँकि पति एक-दूसरे परिवार से आकर बसता है, इसलिये भाई, पुत्र या पति का धार्मिक क्रियाओ मे कोई भाग अदा करने को नहीं दिया जाता है और पुरोहितो का प्रधान कार्य स्त्रियाँ करती हैं। इस विषय मे परिवार की सबसे छोटी लडकी का महत्त्व सबसे अधिक होता है और इसीलिये उसी को अपनी माँ की सम्पत्ति का अधिकतर भाग मिलता है। कुछ दशाओ मे स्त्रियाँ वहाँ के धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन मे सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त करती हैं। खिरिम राज्य का शासक तथा मुख्य पुरोहित स्त्री ही होती है। स्त्रियो का पारिवारिक जीवन मे इतना अधिक महत्त्व होने के कारण ही परिवार मे लडकी का होना आवश्यक समझा जाता है और न होने पर उस कमी को, जैसा कि पहले ही बता चुके हैं, एक या एकाधिक लडकी गोद लेकर पूरा किया जाता है। परन्तु इन सबका यह अर्थ कदापि नही है कि खासी परिवार या समाज मे पुरुषो की कोई स्थिति या सम्मान ही नही है। पति के रूप मे और पिता के रूप मे भी उनका आदर होता है और तलाक या विवाह-विच्छेद

पति-पत्नी दोनो की सहमति से होता है। खेती का काम पुरुष ही करते हैं और स्त्रियाँ घर पर कताई-बुनाई का काम करती हैं। स्त्रियाँ सम्मानसूचक शब्दो (जैसे 'स्वामी') से अपने पति को सम्बोधित करती हैं।

गारो—गारो जनजाति मे भी मातृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। इनमे बच्चे अपने परिवार का नाम माता से ग्रहण करते है, न कि पिता से। गारो लोग अपना मूल पूर्वज एक स्त्री को मानते हैं। सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी मातृमूलक है, अर्थात सम्पत्ति पर अधिकार पुत्रों का नही कन्याओ का होता है। परिवार की कन्याओ मे से किसी को भी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी चुना जा सकता है परन्तु व्यवहारत सबसे छोटी कन्या ही इसके लिए चुनी जाती है। यह एक विशिष्ट अधिकार है, इसलिये जिसे यह अधिकार (सम्पत्ति पर अधिकार) मिलता है उसके पति और जिन्हे नही मिलता है उनके पतियो मे एक स्पष्ट भेद किया जाता है और इस उद्देश्य से उन्हे अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है। जिस लडकी को सम्पत्ति मिलती है उसके पति को 'नोक्रोम' कहा जाता है और दूसरे सब पति 'चोवारि' कहलाते हैं। गारो जनजाति मे यह परम्परागत नियम है कि जिस लडकी को सम्पत्ति मिलती है उसका विवाह पिता की बहन के लडके से या उसके अभाव मे पिता के ही मातृकुल के किसी अन्य अविवाहित सदस्य से होगा। पुत्र को सम्पत्ति इसलिये नही मिलती है कि ऐसा होने पर वह सम्पत्ति उस पुत्र से उसके पुत्रो को मिल जायेगी और ये पुत्र अपनी माँ के परिवार के सदस्य होगे न कि पिता के परिवार के। इस प्रकार सम्पत्ति दूसरे परिवार को चली जायेगी। इसे रोकने के लिये ही सम्पत्ति कन्या को दी जाती है और इस कन्या के पति को, जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'नोक्रोम' कहते हैं। इस जनजाति मे यह भी नियम है कि नोक्रोम के ससुर की मृत्यु होने पर विधवा सास का पुनर्विवाह नोक्रोम के साथ ही होगा। इस नियम का आधार भी वही है जो कि पुत्र को सम्पत्ति से वंचित करने का होता है। यदि इस विधवा सास का विवाह परिवार से बाहर होगा या होता है तो नोक्रोम दम्पत्ति का सम्पत्ति पर अधिकार खत्म हो जाता है। इस परिस्थिति को रोकने के लिये ही नोक्रोम अपनी सास से विवाह कर लेता है, यद्यपि यह विवाह वास्तव मे एक प्रकार का 'खाना-पूरी' करने की तरह होता है क्योंकि सास और नोक्रोम की आयु मे काफी अन्तर रहता है। परन्तु कभी-कभी यह अन्तर बहुत कम होता है और नोक्रोम और सास मे यौन-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था मे पारिवारिक तनाव (tension) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और नोक्रोम और उसकी पत्नी (सास की लडकी) मे झगडा और मन-मुटाव चलता रहता है। सम्पत्ति का उत्तराधिकार स्त्री को होने पर भी पति अपने जीवनकाल मे पूरा फायदा उठा सकता है। पुरुष साधारणत एक से अधिक विवाह नही करते है, यद्यपि तीन स्त्रियो से विवाह की आज्ञा है और विवाह के समय कन्या-मूल्य या वर-मूल्य के रूप मे किसी भी प्रकार का लेन-देन नही होता। विवाह का प्रस्ताव पुरुषो की ओर से नही, अपितु स्त्रियो की ओर से आता है। चूँकि सम्पत्ति के उत्तराधिकार का आधार स्त्रियाँ होती है, इसीलिये विधवाओ को अनेक दिनो तक पुनर्विवाह करने की आज्ञा नही दी जाती। परन्तु पुनर्विवाह हो ही नही सकता, ऐसा कोई

निश्चित नियम नही है। वैसे अविवाहिता कन्याओ को विवाह के विषय मे पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है। गारो परिवार मे कन्या के प्रथम मासिकधर्म के समय अनेक प्रकार की जादू-धर्म की क्रियाएँ की जाती हैं और इसके बाद से ही कन्या को यौन-सम्बन्धी शिक्षा भी दी जा सकती है। पत्नी व्यभिचारिणी होने पर उसे तलाक दिया जा सकता है।

मलाबार का मातृसत्तात्मक परिवार—श्री थामस (Thomas) ने मलाबार के नायरो मे पाये जाने वाले मातृवशीय परिवार का जो सक्षिप्त विवरण दिया है,[20] वह इस प्रकार है। मलाबार मे नम्बूदरी लोग जो कि ब्राह्मण जाति के हैं नायर लडकी से प्राय विवाह कर लेते हैं। श्री थामस के अनुसार नायर परम्परागत दृष्टिकोण से शूद्र जाति के हैं, परन्तु साथ ही अत्यधिक सभ्य और धनी भी। इस कारण नम्बूदरी की सामाजिक स्थिति मे कोई आँच नही आ पाती है। नायर स्त्री अपने घर या परिवार की मालकिन होती है और विवाह के बाद भी परिवार को छोडकर पति के घर नही जाती। पति समय-समय पर उसके घर आया-जाया करता है। वश और सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार माता की ओर से निश्चित होते हैं और पिता को अपनी सन्तानो पर कोई अधिकार नही होता। बच्चो का परिचय अपनी माता के वश से दिया जाता है। परन्तु, जैसा कि साधारणतया सोचा जा सकता है, पुरुषो की स्थिति केवल स्त्री के आधीन बने रहना या आलसी जीवन व्यतीत करना नही होता। शासक, श्रमिक और सैनिक के रूप मे जो कुछ भी काम पुरुषो का है या होना चाहिये, वे सभी कार्य पुरुष ही करते हैं। माता का अधिकार पारिवारिक मामलो मे, आर्थिक अधिकारो मे और वशावली या वशनाम के सम्बन्ध मे सर्वोच्च होता है। उदाहरणार्थ, राज-परिवारो मे राज्यो का उत्तराधिकारी राजा का लडका नही, बल्कि राजा की बहन का लडका (भानजा) होता है। नायरो मे विवाह-विच्छेद बहुत सरल और बिना किसी शर्त के होता है। एक पुरुष विवाह-विच्छेद की इच्छा प्रगट करके या केवल पत्नी के घर आना बन्द करके विवाह-बन्धन को विच्छिन्न कर सकता है। उसी प्रकार पत्नी भी अपने विवाह-बन्धन को तोड सकती है। परन्तु विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी इस असीमित अधिकार का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनो के द्वारा ही बहुत कम होता है। अनुचित यौन-सबन्धी और अवैध सन्तान उत्पन्न होने के सम्बन्ध मे सामाजिक दण्ड अधिक कठोर नही हैं। गरीब नायर स्त्रियाँ धन-प्राप्ति के लिये प्राय व्यापारियो आदि के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं।

पितृवंशीय समाज
(Patrilineal Society)

जनजातीय भारत मे मातृवशीय समाजो से पितृवशीय समाजो का विस्तार कही अधिक है। भारत की अधिकतर जनजातियो मे पितृसत्तात्मक, पितृवशीय तथा पितृस्थानीय परिवार पाये जाते हैं। परिवार और समाज मे पुरुष का स्थान काफी ऊँचा माना जाता है। परिवार के विषयो मे पिता या अन्य कोई वयस्क पुरुष की आज्ञा सर्वोच्च होती है। पुरुष अपने घर पर रहता है और विवाह के पश्चात् स्त्री को अपने

20 P Thomas, *Women and Marriage in India*, 1939, pp 17-19

पति के घर मे जाकर रहना पडता है। पितृवशीय समाज मे परिवार का सबसे छोटा रूप पति-पत्नी तथा उनके नाबालिग बच्चे होते हैं। पुत्रियाँ विवाह के बाद अपने पति के घर चली जाती है पर पुत्र विवाह करके वधू को अपने पिता के घर लाता है और उन्ही के साथ रहता है और अगर पारिवारिक उलझन व कलहो के कारण साथ रहना सम्भव नही है तो पुत्र विवाह के बाद अपना अलग घर बसा लेता है। परन्तु उत्सवो तथा सस्कारो के अवसर पर इस प्रकार से अलग हुए सभी पुत्र एक साथ आ मिलते हैं और उस पारिवारिक उत्सव या विवाह आदि मे भाग लेते हैं। पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार होता है। पिता की मृत्यु के बाद या तो इस सम्पत्ति को सभी पुत्र आपस मे बाँट लेते हैं, या सयुक्त रूप मे सब भाई मिलकर उस सम्पत्ति को उपभोग करते है। किन्ही-किन्ही जनजातीय समाजो मे इस बात का सचेत प्रयत्न किया जाता है कि सम्पत्ति का विभाजन न होने पाये क्योकि सम्पत्ति का विभाजन हो जाने से जमीन आदि का जो बँटवारा हो जाता है उससे फिर एक भाई के लिये पृथक् व स्वतन्त्र रूप से जीवन-निर्वाह करना सम्भव नही होता है। पितृवशीय समाजो मे एक-विवाह, बहुपति-विवाह या बहुपत्नी-विवाह पाये जा सकते हैं। जौनसार बावर के खस लोगो मे बहुपति-विवाह का रिवाज है। उनमे सयुक्त परिवार प्रथा पायी जाती है और सब भाई अपनी एक या अधिक पत्नियो के साथ रहते हैं। परिवार की सम्पत्ति पर बडे भाई का अधिकार होता है और परिवार से सम्बन्धित विषयो पर वही नियन्त्रण रखता है। नीलगिरी की टोडा मे भी बहुपति-विवाह प्रथा का प्रचलन है। इस समाज मे भी वश-परम्परा पिता के वश के आधार पर चलती है। बच्चो का पितृत्व प्राप्त करने के लिये पतियो मे से किसी को एक विशेप प्रकार का सस्कार या रस्म पूरा करना पडता है और जो भी इस सस्कार को करता है वही बच्चे का पिता माना जाता है। यदि कोई पति उस रस्म को पूरा करने के लिये उपस्थित नही है या पूरा करने मे असमर्थ है तो कोई दूसरा पुरुष भी यह रस्म पूरी कर सकता है। एक व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार उन सब को ही मिलता है जो सामाजिक और कानूनी दृष्टिकोण से उसके पुत्र होते हैं।

पितृवशीय समाज व परिवार की विशेषताओ को निम्नलिखित उदाहरणो की सहायता से और भी स्पष्टत समझाया जा सकता है।

खरिया—भारत की अधिकाश जनजातियो मे पितृसत्तात्मक, पितृवशीय या पितृ-स्थानीय परिवार पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, उडीसा के पहाडी प्रदेश मे रहने वाली खरिया जनजाति मे पितृसत्तात्मक परिवारो का विशिष्ट विस्तार है। पिता का स्थान परिवार के अन्य सभी सदस्यो से महत्त्वपूर्ण होता है। वश पिता के द्वारा ज्ञापित होता है। विवाह के बाद पत्नी को पति के साथ या पति के घर रहने के लिये आना पडता है। समस्त सम्पत्ति का मालिक पिता और उसकी मृत्यु के बाद उसके लडके होते हैं। पिता या परिवार का सबसे बडा पुरुष सदस्य ही परिवार का मुखिया होता है और परिवार की अच्छाई-बुराई का उत्तरदायित्व उसपर ही होता है। खरिया लोग सामान्यत एक विवाह ही करते है, परन्तु बहु-विवाह बिल्कुल ही नही होता, यह कहना भी गलत होगा।

पिता या पति की सत्ता होने पर भी खरिया-परिवार मे पति और पत्नी दोनो मे ही सहयोग पाया जाता है और परिवार से सम्बन्धित कामो को दोनो ही मिलकर करते हैं, यद्यपि इनमे श्रम-विभाजन भी पाया जाता है। फलत पति पशुओ का शिकार, मछली पकडना आदि काम करता है, जब कि पत्नी फल-मूल इकट्ठा करना, लकडी लाना आदि करती है। मकान बनाने का काम भी पुरुषो का है, पर उसकी देख-रेख स्त्रियाँ ही करती हैं। बच्चो का पालन-पोषण करना, खाना पकाना, पानी भरना आदि काम भी स्त्रियाँ करती हैं, परन्तु पालतू जानवरो की देख-रेख पुरुष ही करते हैं। जिस प्रकार वशनाम, निवास, अधिकार तथा उत्तराधिकार के विषयो मे पति की स्थिति सर्वोच्च है, उसी प्रकार परिवार को चलाने के मामले मे या पारिवारिक जीवन के रोज के विषयो मे स्त्रियाँ भी महत्त्वपूर्ण तथा स्वतत्र पार्ट अदा करती हैं। परन्तु पारिवारिक मामलो को छोडकर, अन्य विषयो मे, विशेषकर धार्मिक विषयो मे स्त्रियो की अनेक निर्योग्यताएँ भी होती हैं। धार्मिक कृत्यो मे स्त्रियाँ भाग नही ले सकती हैं।

भील परिवार मे भी पिता मुखिया होता है और उसके परिवार मे पिता के वश के ही लोग रहते हैं। पिता परिवार की आय को अपने पास रखता है और उसे जैसा उचित ममझता है उसी रूप मे खर्च करता है। परिवार के अन्य सदस्यो के व्यवहारो पर नियत्रण रखना पिता का ही काम होता है। धार्मिक काम-काज, कृत्यो या उत्सवो की व्यवस्था भी पिता के हाथ मे रहती है, परन्तु इन सबका यह अर्थ नही है कि भील परिवार मे माँ या पत्नी की स्थिति बहुत गिरी हुई होती है। यद्यपि माँ या पत्नी के हाथ मे कोई अधिकार देना पुरुष पसन्द नही करते, फिर भी माँ अपनी चतुरता, बुद्धि, अनुभव तथा सेवा के आधार पर अपना प्रभाव बनाये रखती है।

गोत्र और गोत्र-समूह
(Clan and Phratry)

भारतीय जनजातीय सामाजिक सगठन का तीसरा और एक महत्त्वपूर्ण आधार गोत्र और गोत्र-समूह है। "गोत्र एक-पक्षीय परिवारो का वह सकलन है जिनके सदस्य अपने को एक वास्तविक या काल्पनिक सामान्य पूर्वज के वशज मानते हैं। और जब एक या अन्य कारणवश एकाधिक गोत्र एक साथ मिल जाते है तो इस मिलित समूह को गोत्र-समूह कहते हैं।" गोत्र और गोत्र-समूह दोनो ही जनजातियो के समाज-व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। चूँकि गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक ही सामान्य पूर्वज के वशज मानते हैं, इस कारण वे अपने को आपस मे भाई-बहन या भाई-भाई समझते हैं। यह विचार दृढ सामुदायिक भावना को जन्म देने मे बहुत महत्त्वपूर्ण होता है और इसी के कारण अपनी जान देकर भी गोत्र के अन्य सदस्यो की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य ममझता है। इससे गोत्र मे पारस्परिक सहायता और सुरक्षा की भावना पनपती है। गोत्र-सगठन मे जो यह भाई भाई या भाई-बहन की भावना होती है उसी के कारण एक गोत्र के मदस्य अपने गोत्र या गोत्र-ममूह के किसी गोत्र के अन्दर विवाह-सम्बन्ध स्थापित नही करता है। डा० दुबे ने लिखा है कि

आदिलाबाद के राजगोडो मे चार गोत्र-समूह इस प्रकार है—(१) येर वेन सगा (सात भाइयो का गोत्र-समूह), (२) सार वेन सगा (छः भाइयो का गोत्र-समूह), (३) सिवेन सगा (पाँच भाइयो का गोत्र-समूह) तथा नाल वेन सगा (चार भाइयो का गोत्र-समूह)। इनमे से प्रत्येक गोत्र-समूह के अन्तर्गत एकाधिक गोत्र सम्मिलित है, जैसे येर वेन सगा के अन्तर्गत मुडावी, पुरका, कोरवेट्टा, मासेकोला, पाण्डेरा, वर्मा तथा मेश्राम गोत्र आते हैं। सार वेन सगा मे युग्म सगठन (dual organization) पाया जाता है अर्थात् सभी गोत्र केवल दो भागो मे विभाजित होकर सगठित हैं। इनमे से एक है पाण्डवेन सगा और दूसरा है सर्प सगा। पाण्डवेन सगा के अन्तर्गत अत्राम, गेडाम, तोडोसाम, कोट नाका, कोरेंग, अडाम, कोडाम, दानाम, दुगाम, काचीमूर, वेलाडी, कोचेरा, विका, पेण्डुर, काटेले, उखेन्ता, कुडमेन्ता और वाडे गोत्र सम्मिलित है, जबकि सर्प सगा के अन्तर्गत तुमराम, कोडापा, राय-सिराम, वेटी, सबाम, मारापा, हेरे कुमरा और मण्डाडी गोत्र आते हैं।

डा० दुबे ने यह भी लिखा है कि अनेक जनजातियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमे अलग-अलग गोत्र तो हैं, पर गोत्रो को मिलाकर गोत्र-समूह का एक पृथक् संगठन नहीं है। उदाहरणार्थ, छत्तीसगढ के कमार जनजाति समूह मे निम्नलिखित गोत्र हैं—जगत, नेताम, मरकाम, सोरी (इसका दो विभाजन बाघ सोरी तथा नाग सोरी हैं), कुजाम, भरई, और छेदइहा। उसी प्रकार सथालो मे १०० से अधिक गोत्र है, हो जनजाति मे लगभग ५० और मुण्डा लोगो मे ६४ गोत्र पाये जाते हैं।

यह सच है कि अधिकाश जनजातियो मे गोत्र-सगठन सामाजिक सगठन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई होती है फिर भी इसका स्वरूप, आकार तथा महत्त्व प्रत्येक जन-जाति—समाज मे एक-सी नही होती है। उदाहरणार्थ, हैदराबाद की कोलाभ जनजाति मे स्थानीय सगठन (local organization) जैसे 'बडे-बूढो की समिति' (council of elders) तो थी पर गोत्र के आधार पर कोई उल्लेखनीय सगठन नही था। परन्तु गोड जनजाति के सम्पर्क व प्रभाव के कारण अब कोलाम जनजाति मे भी गोत्र-सगठन का विकास हो गया है। उसी प्रकार यद्यपि कमार जनजाति मे अब गोत्र-सगठन विक-सित हो गया है, फिर भी गोडो की तुलना मे कमारो मे गोत्र का महत्त्व कम है। डा० दुबे के अनुसार आदिलाबाद के राज-गोडो मे गोत्रो के अनेक विशेप दैव तथा पौराणिक नायक होते हैं, जिनके सम्मान मे वर्ष मे एक या अधिक वार मेले, उत्सव अथवा विशेष प्रकार की पूजा का आयोजन किया जाता है।

टोटम
(Totem)

जनजातीय सामाजिक सगठन का एक और महत्त्वपूर्ण आधार टोटम (या गोत्र-चिन्ह) और उससे सम्बन्धित धारणाएँ व विश्वास हैं। अनेक जनजातियो मे तो गोत्र और टोटम का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ होता है और टोटम को गोत्र-चिह्न या प्रतीक के रूप मे प्रयोग किया जाता है। जनजातीय समूह अपने गोत्र का सम्बन्ध किसी भौतिक वस्तु, पशु, पेड-पौधे या अन्य किसी प्राकृतिक चीज से मान लेते हैं,

वही पेड-पौधा, पशु या पक्षी उस गोत्र का टोटम कहलाता है। अत स्पष्ट है कि गोत्र या गोत्र-समूह का टोटम-वस्तु के साथ एक गूढ या अलौकिक सम्बन्ध होता है, यह विश्वास या धारणा ही टोटमवाद का आधार है। यह आवश्यक नही है कि गोत्र अथवा गोत्र समूह अपनी उत्पत्ति टोटम-वस्तु से ही माने, इन दोनो मे कुछ विशिष्ट सम्बन्ध है यह विश्वास ही पर्याप्त है। यह सम्बन्व कुछ पवित्र व अलौकिक विश्वासो पर आधारित होता है। उनमे सबसे प्रमुख विश्वास तो यही है कि टोटम गोत्र के सदस्यो की रक्षा करता है, उन्हे विपदाओ के सम्बन्ध मे चेतावनी देता है तथा भविष्य के कार्यों के सम्बन्ध मे राह सुझाता है। इसीलिये टोटम के प्रति भय, श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है, टोटम को मारना या खाना या उसे किसी प्रकार से चोट पहुँचाना निषिद्ध होता है, उसके मरने पर या मरने के समाचार पाकर उसी प्रकार से शोक मनाया जाना है और उसका दाह-सस्कार किया जाता है जैसा कि परिवार के किसी सदस्य के मरने पर किया जाता है। टोटम को गोत्र का चिह्न माना जाता है और उसके चित्र की गुदाई शरीर पर करवाते हैं। कमार जनजाति मे एक गोत्र सोरी नाम का है। ये सोरी गोत्र आपस मे टोटम के आधार पर दो भागो मे बँटे हुए हैं—एक भाग बाघ को अपना टोटम मानता है और दूसरा नाग को। सोरी गोत्र का जो भाग बाघ को टोटम मानता है उसका नाम बाघ सोरी पड़ गया है और नाग को टोटम मानने वाले सोरी लोग नाग सोरी के नाम से परिचित हैं। शेर के मरने का समाचार सुनकर बाघ-सोरी शोक प्रकट करते हैं, घर मे पानी छिडकते हैं और एक हाडी बाहर कर देते हैं। सर्प की मृत्यु पर नाग सोरी भी वैसा ही करते हैं। इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ ऐसी भी जनजातियाँ हैं जो कि अपने गोत्र का नाम किसी पेड-पौधे, पशु या पक्षी के नाम पर ही रखते हैं, पर उनमे टोटमवाद का दर्शन नही होता है। बगाल के बागडी, कोरा आदि जनजातियाँ इसके अच्छे उदाहरण हैं।

कुछ भी हो, भारतीय जनजातियो मे टोटमवाद का काफी विस्तार है। सर हर्बर्ट रिज़ले के निर्देशन मे हुए सर्वेक्षण (survey) के अन्तर्गत सर्व प्रथम भारतवर्ष मे टोटमवाद के विस्तार के सम्बन्ध मे तथ्य सग्रह किये गये थे। उसके बाद अनेक पृथक अध्ययन हुए हैं। उन सबसे यही पता चलता है कि अधिकाश भारतीय जनजातियाँ टोटम पर विश्वास करती हैं। सथाल जनजाति मे सौ से अधिक गोत्र हैं और इनमे से प्रत्येक गोत्र-समूह का अपना एक टोटम है और उसी के आधार पर उनके नाम पडे हैं। इन टोटमो मे पशु, पौधा और भौतिक वस्तु सब कुछ हैं। हो जनजाति के भी पचास से अधिक गोत्र हैं और इनमे से प्रत्येक का एक टोटम भी। इनमे से अनेक के नाम सथालो से मिलते हैं। मुण्डा जनजाति तो ६४ से भी अधिक बर्हिविवाही गोत्रो मे बँटी है, जिनमे टोटमवाद पाया जाता है। इनमे से अधिकाश टोटम या तो खाद्य, कन्दमूल, फलो, पौधो या पशुओ के रूप मे उपयोगी हैं या हानिकारक चिडियो और पशुओ के रूप मे घातक हैं। उडीसा की कुर्मी, चमार, भूमिया आदि जनजातियो के, जिन्होने कि हाल मे ही कुछ प्रगति कर ली है, गोत्रो का नामकरण भी साँप, कुम्हडे, गीदड आदि पर हुआ है। बम्बई की कटकरी तथा मध्य प्रदेश की गोड जनजातियो के नाम भी

उनके प्रदेशो मे पाये जाने वाले पशु-पक्षियो और वनस्पतियो पर पडे हैं। छोटा नागपुर पठार की खडिया जनजाति का मुख्य वर्ग ढेलकी खडिया जिन आठ टोटमी गोत्रो मे विभाजित है, उनके नाम है सोरेन (पत्थर), मूरू (कछुआ), समद (हिरण), बरलिहा (एक प्रकार का फल), घरड (चिडिया), इमडा (अबाबील), मैल (धूल) और टोपना (एक चिडिया)। ये नाम इस बात की ओर सकेत करते है कि एक पशु, पौधा या भौतिक पदार्थ या उनके अग टोटम हो सकते हैं।

ओराँव जनजाति के टिरकी गोत्र का टोटम चूहे का बच्चा है। एक्का गोत्र का कछुआ, लकडा गोत्र का लकडबग्घा, बाघ गोत्र का बाघ और चिर्रा गोत्र का टोटम गिलहरी है। उमी प्रकार सथाल जनजाति की अर्गो जनजाति का टोटम चूहा, मुर्मू का नीलगाय, बेसरा का बाज, सख का शख, और कारा गोत्र का टोटम भैंस है। श्री अनन्त कृष्ण अय्यर ने मैसूर राज्य की विविध जातियो मे निम्नलिखित टोटमो का वर्णन किया है—आने (हाथी), आडू (बकरी), आरमिना (केसर), अरसू (वट वृक्ष), अट्टि (गूलर), बेड्ड (नीम), हुरली (चना), और मेनसू (पीपल)। इसके अतिरिक्त कुत्ता, खरगोश, बकरा, भैंसा, बिच्छू, चीटी, चन्दन, पीपल, इमली, जीरा, कपास, मोती, शख आदि भी टोटम हैं। श्री थार्सटन ने दक्षिण भारत की जनजातियो के जिन टोटमो की सूची दी है, उनमे लगभग सभी जीव-जन्तुओ और पेड-पौधो के नाम आ गये है।

विवाह
(Marriage)

सामाजिक सगठन व सरचना का एक और महत्त्वपूर्ण स्वरूप या आधार विवाह है। विवाह सामाजिक सगठन को न केवल स्थिरता और दृढता प्रदान करता है बल्कि स्त्री-पुरुषो के यौन-सम्बन्धो को नियमित व नियत्रित करके परिवार को स्थापित करने का एक सुदृढ साधन प्रस्तुत करता है। विवाह के द्वारा परिवार की स्थापना होती है, बच्चो का उत्पादन व लालन-पालन सम्भव होता है और उससे समाज की निरन्तरता बनी रहती है। भारतीय जनजातीय विवाह के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है। यह बात निम्नलिखित विवेचना के आधार पर अधिक अच्छी तरह समझी जा सकती है।

विवाह की आयु
(Age of Marriage)

भारतीय जनजातियो मे बाल-विवाह का प्रचलन नही है। इतना अवश्य है कि उन जनजातियो मे, जो कि हिन्दुओ के घनिष्ट सम्पर्क मे आ गयी है, बाल-विवाह का प्रचलन हो गया है, नही तो अन्य जनजातियो मे विवाह किशोरावस्था या उसके बाद ही होता है। उदाहरणार्थ, आसाम के नागाओ और कूकियो मे पुरुषो का विवाह १८ और २५ वर्ष की आयु के बीच मे तथा स्त्रियो का विवाह १५ और २० की आयु के बीच मे होता है। परन्तु हिन्दुओ के प्रभाव के कारण मुण्डा, उराँव आदि जनजातियो मे विवाह की आयु लडको के लिये बारह-तेरह वर्ष तथा लडकियो के लिये आठ-दस वर्ष है।

विवाह के स्वरूप
(Forms of Marriage)

भारतीय जनजातियो मे विवाह के दो मुख्य स्वरूप या भेद पाये जाते हैं—(१) एक-विवाह तथा (२) बहु-विवाह। बहु-विवाह के तीन रूप देखने को मिलते हैं। वे है बहु-पत्नी-विवाह, बहु-पति-विवाह और समूह-विवाह। इनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

एक-विवाह (Monogamy)—एक-विवाह का प्रचलन भारतीय जनजातियो मे दो सम्भावित कारणो से देखने को मिलता है। पहला तो उनका सभ्य समाज के साथ सम्पर्क स्थापित होना तथा दूसरा उनके समाज मे कन्या-मूल्य का अत्यधिक प्रचलन। हो जनजाति मे अत्यधिक कन्या-मूल्य (bride price) के कारण वहाँ एक पुरुष के लिये एक से अधिक स्त्रियो से विवाह करना सम्भव नही होता। 'हो' के अतिरिक्त आसाम की खासी, बिहार की सथाल और केरल की कादर जनजातियो मे पाया जाता है।

बहु-पत्नी-विवाह (Polygyny)—जब एक पुरुष का एक से अधिक स्त्रियो से विवाह होता है तो उसे बहु-पत्नी-विवाह कहते हैं। भारत की अनेक जनजातियो मे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन है। उनमे नागा, गोड, बैगा, टोडा तथा मध्य भारत की कुछ जनजातियाँ उल्लेखनीय हैं। भारत की जनजातियो को जीवित रहने के लिये प्रकृति के साथ भीषण सघर्ष करना पडता है, फिर भी वे अत्यधिक गरीब हैं। अपनी गरीबी के इस सघर्षपूर्ण जीवन मे उन्हे आर्थिक क्रियाओ को करने के लिये अधिक व्यक्तियो की आवश्यकता का अनुभव होता है। इस आवश्यकता को अधिक स्त्रियो से विवाह करके पूरा किया जाता है। ये स्त्रियाँ स्वय भी खूब काम कर सकती हैं और इनसे अधिक सख्या मे सन्तानें उत्पन्न होती हैं।

बहु-पति-विवाह
(Polyandry)

अर्थ व विशेषताएँ—एक स्त्री का एकाधिक पुरुषो से विवाह होना ही बहु पति विवाह है। डा० दुबे के अनुसार, "यदि अनेक भाइयो के बीच एक ही पत्नी हो तो इस प्रथा को हम बहु-पति विवाह ही कहेगे, किन्तु एक से अधिक भाई यदि अपनी एक से अधिक पत्नियो के साथ रहते है, तो यह रिवाज 'समूह-विवाह' के अन्तर्गत आएगा। कभी-कभी भाइयो के अतिरिक्त एक समूह के अन्य व्यक्ति भी आपस मे मिलकर एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं। स्त्री पर प्रत्येक भाई का अधिकार होता है। परन्तु बडे भाई का अधिकार सबसे अधिक पाया जाता है। उदाहरणार्थ, प्रथम सन्तान बडे भाई की मानी जाती है, भले ही वास्तविक रूप से उसका पिता कोई दूसरा भाई हो। शेष बच्चे क्रमश दूसरे भाइयो के माने जाते है। इस प्रकार इस विवाह के अन्तर्गत बच्चो का 'सामाजिक पितृत्व' उसके वास्तविक या 'प्राणीशास्त्रीय पितृत्व' से भिन्न हो सकता है। कुछ जनजातियो मे तो इस सामाजिक पितृत्व को प्राप्त करने के लिए पति को एक सस्कार करना पडता है।

कारण—पहले लोगो का विश्वास था कि बहुपति-विवाह का प्रचलन उस समाज मे होता है जहाँ स्त्रियो की कमी होती है। पर आज इस मत को लोग नही मानते है। इस प्रथा के प्रचलन का प्रमुख कारण जनजातियो की निर्धनता है। निर्धनता के कारण एक परिवार के सभी पुरुष अलग-अलग विवाह करके घर नही बसा पाते हैं। इसलिए एकाधिक पुरुष एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं।

विस्तार—बहुपति-विवाह का प्रचलन भारत मे बहुत ही सीमित क्षेत्र मे है। यह विवाह प्रथा केरल के टियान, कुसम्ब, कोट, लडाखी बोट, नीलगिरी पर्वत के टोडा और देहरादून जिले मे जौनसार-बावर की खस जनजातियो मे पायी जाती है। काश्मीर से आसाम तक की कुछ जनजातियो मे भी यही प्रथा पायी जाती है। भारत के दक्षिणी भाग मे रहने वाले नायरो मे भी बहुपति-विवाह प्रथा पायी जाती थी और आज भी वहाँ इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। लद्दाख मे, पजाब के पहाडी हिस्सो मे जैसे, काँगडा जिले के स्पीती तथा लाहौल परगनो मे। चम्पा, कुल्लू और मण्डी के ऊँचे प्रदेशो की जनजातियो मे भी बहुपति-विवाह पाया जाता है। श्री मार्टीन (Martin) ने मध्य भारत के ओराँव मे तथा श्री मेन (Maine) ने सथालो मे भी इसके प्रचलन का वर्णन किया है। परन्तु आज यह प्रथा विशेष और स्पष्ट रूप से दो जनजातियो—खस और टोडा—मे ही पायी जाती है।

दो प्रमुख प्रकार—भारतवर्ष की जनजातियो मे बहुपति-विवाह के दो प्रमुख प्रकार पाये जाते है जो कि इस प्रकार हैं —

(१) **भ्रातृ बहु-पति-विवाह**(Adelphic or Fraternal Polyandry)—जब एकाधिक भाई आपस मे मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातृ बहुपति-विवाह कहते हैं। इस प्रकार के विवाह नीलगिरी की टोडा और जौनसार-बावर की खस जनजातियो मे पाये जाते हैं। इन दोनो जनजातियो का, इस सन्दर्भ मे, सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(अ) टोडा (Todas)[21]—टोडा लोगो मे जब एक व्यक्ति का विवाह किसी एक स्त्री से होता है तो उस व्यक्ति के सभी भाई, यहाँ तक कि जो बाद मे पैदा होते हैं ऐसे सब भाई भी, उस स्त्री के पति समझे जाते हैं। ये प्राय सगे भाई और कभी-कभी गोत्र-भाई भी होते है। पहले समय मे ये पति भिन्न गोत्रो के भी हुआ करते थे। इस कारण श्री रिवर्स (Rivers) का कथन है कि कोई समय था जब टोडा लोग भ्रातृ बहुपति-विवाह-प्रथा के नियमो को पूर्णतया नही मानते थे। जब पत्नी गर्भवती होती है तो सबसे बडा टोडा पति एक सस्कार, 'पुरसुतपिमि' (*pursutpimi*), तीर-धनुप के द्वारा करता है जिससे सामाजिक तौर पर उसे बच्चे का पिता समझा जाता है। स्त्री के दूसरी बार गर्भवती होने पर दूसरा पति उसी प्रकार के सस्कार के द्वारा दूसरी सन्तान का पिता बनता है और यह क्रम चलता रहता है। सामाजिक तौर पर पिता बनने का अधिकार प्राप्त करने के लिये इस सस्कार का इतना महत्त्व है कि अगर 'अ' पति ने इस सस्कार को किया है तो जब तक 'ब' पति फिर यह सस्कार न करे तब तक

21 W H R Rivers, *The Todas*, 1906, pp 515-564

जितनी भी सन्तानें उत्पन्न होगी सब 'अ' पति या पिता के ही बच्चे कहलाएँगे, यहाँ तक कि अगर 'अ' की मृत्यु बहुत पहले हो चुकी हो, अर्थात् 'अ' पति या पिता अपनी मृत्यु के बाद उत्पन्न होने वाली सन्तानो का भी पिता तब तक बना रहेगा जब तक कोई दूसरा पति या पिता उस सस्कार को कर न दे। दूसरे शब्दो मे, पिता होना इसी सस्कार पर निर्भर है। अगर कोई भाई सयुक्त परिवार से अलग हो जाता है तो वह फिर बच्चो का पिता या पत्नी का पति नही रहता। प्राय परिवार मे भाइयो को एक से अधिक पत्नियो के साथ विवाह करने की आज्ञा नही मिलती है, और श्री रिवर्स की की यह भविष्यवाणी है कि इसी प्रवृत्ति के आधार पर एक समय ऐसा भी आयेगा जब टोडा लोग एक-विवाह हो जाएँगे।

(ब) खस (Khasas)—भ्रातृ बहुपति-विवाह-प्रथा का दूसरा प्रमुख उदाहरण जौनसार-बावर की खस जनजाति का है। इन लोगो मे जब बडा भाई विवाह करता है तब उसकी पत्नी सब भाइयो की पत्नी समझी जाती है। छोटे भाई यदि विवाह के समय बच्चे हैं या विवाह के बाद उनका जन्म होता है तो वे युवक होने पर उस स्त्री के पति समझे जाते हैं। अगर कोई छोटा भाई बडा होने पर दूसरी स्त्री से विवाह करता है, तो बडे भाई की स्त्री और छोटे भाइयो की स्त्रियाँ सब सभी भाइयो की बराबर पत्नियाँ समझी जाती हैं।[22] जौनसार-बाबर के सामाजिक विधान 'दस्तूर-उल-अम्ल' (*Dastoor-ul-aml*) के अनुसार "किसी भी छोटे भाई को अपने लिये पृथक् या अतिरिक्त पत्नी से विवाह की आज्ञा नही है।"[23] यद्यपि विवाह हो जाने के पश्चात् एक स्त्री सभी भाइयो की पत्नी समझी जाती है, फिर भी उसपर बडे भाई का अधिकार विशेष रूप से होता है। इस बात का प्रमाण चार बातो से मिलता है—पहला तो यह है कि पत्नी का सबसे बडे भाई के साथ सहवास करने से इन्कार करना अक्षम्य अपराध समझा जाता है और इसी आधार पर उस स्त्री को त्यागा तक जा सकता है। दूसरे, अगर बडे भाई ने स्त्री से यह कह दिया है कि वह किसी भाई के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित न करे तो स्त्री को वैसा ही करना पडता है। तीसरे, अगर अन्य भाई इस विषय को लेकर झगडा करते हैं, तो बडे भाई को ही केवल विवाह-विच्छेद का आदेश देने का अधिकार है, और चौथे, अगर उस स्त्री के कोई सन्तान उसके विवाह से पहले ही पैदा हो गयी हो तो उस सन्तान पर बडे भाई का ही अधिकार होता है।[24] सबसे बडा भाई परिवार का कर्ता होता है। मकान, बगीचा, अनाज, पालतू जानवर आदि सब उसके अधिकार मे रहते हैं। बच्चो और पत्नी या पत्नियो के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व उसपर ही होता है। छोटे भाइयो को उसकी प्रभुता को स्वीकार करना ही पडता है। अगर कभी सम्पत्ति का विभाजन हुआ तो सबसे बडे भाई को सब भाइयो से अधिक

---

22 L D Joshi, *The Khasa Family Law*, 1929, pp 78-81

23 "None of the younger brothers are allowed to marry a separate or an additional wife for themselves"—*The Dastoor-ul-aml* (Record of Customs for Jaunsar-Bawar prepared in 1848)

24 D N Majumdar, *The Fortunes of Primitive Tribes*, 1944, pp 144, 159, 160, 163 & 166

हिस्सा मिलता है। विभाजन होने पर छोटे भाई को पत्नी या बच्चे मिलने की सम्भावना बिल्कुल नही रहती। ये सब बडे भाई के पास ही रहते हैं। पर बच्चो का सब पिताओ की सम्पत्ति पर अधिकार समान होता है। चूँकि सब भाइयो को सम्पत्ति का समान हिस्सा नही मिलता है और बडे भाई के पास उसका बडा हिस्सा चला जाता है, इसलिए बँटवारा लाभदायक नही होता। इस कारण भरसक प्रयत्न यही किया जाता है कि बँटवारा न हो, सब भाई साथ-साथ रहे और परम्पराओ का पालन करें। ये परम्पराएँ सबके लिये ही आवश्यक स्वाधीनता तथा अधिकारो की व्यवस्था करती हैं। खस परिवार मे अगर एक से अधिक स्त्रियो से विवाह की आवश्यकता होती है, तो दूसरी स्त्री प्रथम स्त्री की ही बहन होती है।

खस समाज या परिवार मे पिता बनने का एक सामाजिक तरीका होता है। श्री फ्रेज़र (Frazer) के अनुसार सबसे बडा लडका बडे भाई का, दूसरा लडका उससे छोटे भाई का तथा इसी क्रम मे अन्य लडके अन्य भाइयो के पुत्र समझे जाते हैं। डा० मजूमदार (Majumdar) ने और भी लिखा है कि अगर परिवार मे तीन भाई है तो बच्चे सबसे बडे भाई को 'बारी बाबा', दूसरे को 'डागर बाबा' और तीसरे को 'भेदी बाबा' आदि कहकर पुकारते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है कि बहुपति-विवाही परिवार मे उत्पन्न होने वाले बच्चो के सम्बन्ध मे यह पता नही चल सकता कि कौन बच्चा किस पुरुष का है। इसलिये बाध्य होकर प्राणीशास्त्रीय पितृत्व (biological fatherhood) को छोडकर सामाजिक पितृत्व को स्वीकार किया जाता है।

चूँकि इन समाजो (टोडा व खस) मे पुरुष की प्रभुता होती है तथा स्त्री और बच्चो का निवास-स्थान पिता या पति के घर मे ही होता है, इस कारण इस प्रकार की बहुपति-विवाह-प्रथा को 'पितृसत्तात्मक बहुपति-विवाह' (patriarchal polyandry) कहते हैं।

(२) **अभ्रातृ बहुपति-विवाह** (Non-fraternal Polyandry)—यह बहुपति-विवाह-प्रथा का दूसरा रूप है। इस प्रकार के पतियो का आपस मे भाई होना आवश्यक नही होता है। स्त्री भाइयो के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को पति के रूप मे चुन सकती है। स्त्री अपने पतियो के पास बारी-बारी से विभिन्न समयो मे उनके घरो मे जाकर रहती है या पति अपने-अपने परिवारो मे रहते हुए भिन्न-भिन्न समय मे पत्नी के यहाँ जाकर रहते हैं। जब तक स्त्री किसी एक पति के साथ रहती है, तब तक अन्य पतियो का उसपर अधिकार नही होता। अभ्रातृ बहुपति-विवाह मालाबार के नायरो (Nairs) मे पाया जाता था, जिनका सक्षिप्त विवरण निम्नवत् है :—

नायर (Nairs)—मालाबार के नायरो मे अभ्रातृ बहुपति-विवाह का प्रचलन इस शताब्दी के प्रारम्भ तक था। वहाँ की बहुपति-विवाह-प्रथा को, 'मातृसत्तात्मक बहुपति-विवाह' (matriarchal polyandry) कह सकते हैं क्योकि इसके अन्तर्गत समस्त सत्ता स्त्री की ही होती है। वहाँ पति आपस मे भाई नही होते थे। सामान्य रूप से ऐसे मातृसत्तात्मक बहुपति-विवाह के अन्तर्गत एक 'नायर' लडकी का विवाह एकाधिक 'नम्बूदरी' लडको से कर दिया जाता था। विवाह के बाद भी लडकी अपने परिवार मे ही रहती थी

और अपनी इच्छानुसार कभी-कभी अपने पतियो को अपने घर मे आकर रहने की आज्ञा देती थी। कभी-कभी तो विवाह-सस्कार के पश्चात् नम्बूदरी लडके का सम्बन्ध अपनी नायर पत्नी से हमेशा के लिये समाप्त हो जाता था और लडकी अपनी माँ के घर मे रहते हुए अनेक नायर लडको से यौन-सम्बन्ध रख सकती थी। पिता का अधिकार बच्चो पर या पत्नी की सम्पत्ति पर नही होता था। परिवार के मुखिया की देख-रेख मे ये सब रहते थे। चूँकि पति आपस मे भाई नही होते, इसलिए बच्चो के पितृवश का पता चलना असम्भव था। ऐसी दशा मे बच्चे अपनी माता के ही वशज होते थे। श्री पनिक्कर (Panikkar) ने नायरो मे अभ्रातृक बहुपति-विवाह-प्रथा के प्रचलन को अस्वीकार किया है। आपके अनुसार नायर लडकी के पति आपस मे भाई-भाई होते थे और इस प्रकार उनमे जो बहुपति-विवाह-प्रथा प्रचलित थी उसे भ्रातृ बहुपति-विवाह ही कहना उचित होगा। डा० आइयप्पन (Aiyappan) के अनुसार केवल ईआँगू (Jangu) समूह मे अभ्रातृ बहुपति-विवाह-प्रथा पायी जाती है।

बहुपति-विवाह-प्रथा के इस विवेचन को समाप्त करने से पहले, इस प्रथा के **दुष्परिणामो** के विषय मे भी कुछ जान लेना उचित होगा। सन्तानो की सख्या कम हो जाना अर्थात् कम सन्तान पैदा होना बहुपति-प्रथा का एक प्रमुख दुष्परिणाम है। यह एक प्राणीशास्त्रीय सत्य है कि पतियो की सख्या जितनी अधिक होगी, पत्नी की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति उतनी ही कम हो जायगी। बहुपति-विवाह से केवल सन्तानो की ही सख्या कम नही होती, बल्कि ऐसा देखा गया है कि इस प्रथा के कारण लडको का जन्म लडकियो की अपेक्षा अधिक होता है जिसका कि स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बहु-पति प्रथा का चक्र सदा के लिये चलता रहता है। इस प्रथा का तीसरा दुष्परिणाम स्त्रियो मे बाँझपन का पनपना है, जिससे आगे चलकर जनसम्या-सम्बन्धी समस्या उत्पन्न हो सकती है। स्त्रियो के शारीरिक या स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से इस प्रथा का दुष्परिणाम गुप्त रोगो का बढना है। सामाजिक दृष्टिकोण से इस प्रथा के कारण विवाह-विच्छेद की सख्या इन्ही गुप्त-रोग आदि के कारण काफी बढ जाती है।

विवाह-साथी चुनने के तरीके (Ways of Acquiring of Mates)—भारत के जनजातीय समाज मे विवाह-साथी अर्थात् वर या वधू को चुनने के जो आठ प्रकार हैं उनकी विवेचना हम अध्याय १० मे कर चुके है। इसलिये यहाँ उन्हे फिर से दोहराने की आवश्यकता नही है। यहाँ केवल हम डा० श्यामाचरण दुबे द्वारा उल्लेखित निम्न-लिखित छ: तरीको के विषय मे विवेचना करेंगे। स्मरण रहे कि इनमे से अधिकतर तरीके वे ही हैं जिनका उल्लेख अध्याय १० मे किया गया है, पर कुछ नये तरीको का भी उल्लेख डा० दुबे के विवरण मे मिलता है। साथ ही, विवाह-साथी चुनने के तरीको के नाम को भी डा० दुबे ने नये रूप मे प्रस्तुत किया है।

(१) **नियमित विवाह**—ऐसे विवाह मे समाज की प्रचलित रूढियो के अनुसार वर या वधू को चुना जाता है। अनेक जनजातियो मे भाई और बहनो के बच्चो मे विवाह आदर्श माना जाता है। इसीलिए ऐसे विवाह को ममेरे-फुफेरे भाई-बहनो का विवाह (cross-cousin marriage) कहते हैं। खरिया, ओरॉव, खासी, कादर, गोड

आदि जनजातियो मे इसी प्रकार के विवाह का प्रचलन है। उसी प्रकार पति-भ्राता विवाह (levirate) अर्थात् एक विधवा स्त्री को अपने देवर या ज्येष्ठ से विवाह करने की अनुमति भारत की प्राय सभी जनजातियो मे है। भील आदि जनजातियो मे पत्नी-भगिनी या साली विवाह (sororate) का प्रचलन है।

(२) **पुरुष और स्त्री का भागकर किया हुआ विवाह**—इस प्रकार के विवाह मे विवाह से पूर्व एक युवक व एक युवती मे आपस मे प्रेम हो जाता है, पर उनके सामाजिक नियम या गाँव या परिवार उन दोनो मे विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नही देता है, तो वे एक-साथ दूसरे स्थान को भाग जाते है और विवाह कर लेते हैं। ऐसे विवाह के उदाहरणो को भारत के जनजातीय समाजो मे ढूंढने के लिये अधिक परिश्रम की आवश्यकता नही होगी।

(३) **अपहरण विवाह**—कन्या का शारीरिक या विधिवत् हरण करके उससे विवाह करना इस श्रेणी के अन्तगत आता है। यद्यपि इस प्रथा का प्रचलन अब भारत के जनजातीय समाजो मे बहुत कम हो गया है, फिर भी अनेक समूहो मे इस परम्परा के अवशेष अब भी देखने को मिलते हैं। मण्डला के गोडो मे, छत्तीसगढ के चिन्दा तथा उत्कल की बोदो जनजातियो मे इस प्रथा का व्यापक प्रचलन है।

(४) **सेवा-विवाह**—अनेक भारतीय जनजातियो मे कन्या-मूल्य (bride price) देने पर ही कोई पुरुष किसी कन्या से विवाह कर सकता है। अगर कोई अपनी गरीबी के कारण यह कन्या-मूल्य नही दे पाता है तो उसके लिये विवाह करने का एक रास्ता यह है कि वह एक निश्चित अवधि तक अपने भावी ससुर के घर काम करे। उस अवधि मे उसे खाने और रहने को दिया जाता है और जो परिश्रम या काम वह वहाँ करता है उसे कन्या-मूल्य मान लिया जाता है। इसीलिए एक निश्चित अवधि पूरी हो जाने के बाद ससुर अपनी ओर से पूरा खर्चा कर अपनी कन्या का विवाह कर देता है। मध्य प्रदेश के जनजातियो मे इस तरह का 'लामसेड' या 'लमसेना' (घर-जमाई) रखने का बहुत रिवाज है। विशेषकर ऐसे लोग, जिनके बेटे नही होते, केवल बेटियाँ होती हैं, कम-से-कम अपनी एक बेटी के लिए इस तरह का लडका अवश्य चुनते हैं।

(५) **बलपूर्वक गृह-प्रवेश करके विवाह**—यदि कोई युवती किसी युवक के साथ प्रेम करती है और पत्नी के रूप मे उसके साथ रहना चाहती है, पर किसी पक्ष के माता-पिता के न चाहने या अन्य किसी कारण से यदि उनका विवाह नही हो रहा है, तो वह युवती बलपूर्वक युवक के घर मे घुस जाती है और उसे विवाह करने को बाध्य करती है। इस प्रथा का प्रचलन मध्य प्रदेश, विशेषकर छत्तीसगढ मे है। छत्तीसगढ मे यदि पुरुष पहले स्त्री से विवाह करने का वायदा करता है, पर बाद को उस वायदा को निभाता नहीं है, या जब स्त्री गर्भवती हो जाती है तो वह बलपूर्वक गृह-प्रवेश करके ही विवाह करने के तरीके को अपनाती है। वह इष्ट पुरुष के घर मे घुसकर उसके कपडे पहन लेती है और पुरुष के शरीर पर हल्दी का पानी डाल देती है। ऐसी स्थिति मे पुरुष के न चाहने पर भी बहुधा उसे उस स्त्री को पत्नी के रूप मे स्वीकार करना ही पडता है। बलपूर्वक गृह-प्रवेश करके विवाह कभी-कभी पुरुष भी करता है।

यदि विधवा के पास काफी जमीन-जायदाद होती है और उसकी देख-रेख करने वाला कोई नही होता है, तो कोई निर्धन पुरुष कभी-कभी उस विधवा के घर जाकर रहने लगता है। विधवा उसका अपमान करती है, उसे निकाल देने की धमकी देती है, पर पुरुष सब अपमान और अनादर धैर्यपूर्वक सहन करता जाता है। कुछ ही दिन मे समाज उसे उस विधवा के पति के रूप मे स्वीकार कर लेता है। छत्तीसगढ मे इस प्रकार के पुरुष को 'सिधवा' कहते हैं।

(६) **विधवा या विवाहित स्त्री से विवाह**—मृत बडे भाई की स्त्री से छोटा भाई तो अधिकारपूर्वक विवाह कर सकता है, किन्तु यदि स्त्री किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करना चाहे तो उसके नये पति को उसके पुराने या पूर्व-पति के परिवार को कुछ हर्जाना देना पडता है। इसी तरह यदि कोई विवाहित स्त्री अपने पति को छोडकर दूसरे पुरुष के साथ भाग जाय तो उसका पति कन्या-मूल्य की रकम के अतिरिक्त कुछ हर्जाना पाने का अधिकारी होता है।

विवाह-विच्छेद (Divorce)—सामान्य रूप से अधिकतर भारतीय जनजातियो मे विवाह-विच्छेद पाया जाता है। संथाल, थारू, भील, गोंड आदि जनजातियो मे विवाह-विच्छेद के विषय मे पति की स्थिति अच्छी है। संथाल पति अपनी पत्नी से विवाह-सम्बन्ध तब विच्छिन्न कर सकता है जब कि पत्नी दुश्चरित्र है या जादूगरनी है या आज्ञा-पालन नही करती। खासी जनजाति मे व्यभिचार, बाझपन, झगडालू प्रकृति आदि विवाह-विच्छेद के आधार हैं, परन्तु यह काम पति-पत्नी की पारस्परिक सम्मति से ही होता है। कभी-कभी विवाह-विच्छेद चाहने वाले पक्ष को दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पडता है। विवाह विच्छेद सार्वजनिक रूप से होता है और बच्चो को माता के ही संरक्षण मे रखा जाता है। गोंड जनजाति मे पति पत्नी की दुश्चरित्रता, घर की समुचित व्यवस्था करने मे असमर्थ, झगडालू होने और बाझ होने का आरोप लगाकर विवाह-विच्छेद कर सकता है। लुशेई जनजाति मे विवाह-विच्छेद करने का तरीका बहुत सरल है। अगर पति विवाह-विच्छेद करता है तो उसे वधू-मूल्य को पूरा-पूरा चुका देना पडता है, परन्तु यदि पत्नी उसे छोडकर चली जाती है या व्यभिचार करती हुई पकडी जाती है तो पत्नी को वह वधू-मूल्य पूरा-पूरा पति को लौटा देना पडता है जो कि पति ने विवाह के समय कन्या-पक्ष को दिया था। खरिया जनजाति मे निम्नलिखित आधारो पर विवाह-विच्छेद हो सकता है—अगर किसी भी पक्ष मे यौन सम्बन्धी कोई कमजोरी है, यदि पत्नी बाझ है, यदि पत्नी अत्यधिक आलसी है और घर-गृहस्थी का काम नही करती है, यदि वह अपने पति के साथ रहने से इन्कार कर देती है और यदि गाव-पचायत ने यह निर्णय कर दिया हो कि पत्नी जादूगरनी है। संथाल जनजाति मे यदि पति पत्नी के लिये ठीक प्रकार भोजन, वस्त्र और आभूषण की व्यवस्था नही कर सकता तो पत्नी को विवाह-विच्छेद करने का अधिकार है। थारू जनजाति मे एक पत्नी अत्याचार, नपुंसकता, निर्दयता तथा पति की सामाजिक स्थिति के गिर जाने के आधार पर विवाह-विच्छेद कर सकती है।

नातेदारी-व्यवस्था
(Kinship system)

परिवार, गोत्र, गोत्र-समूह, विवाह, विवाह आदि के अतिरिक्त भारत के जनजातीय सामाजिक संगठन की एक और उल्लेखनीय इकाई नातेदारी-व्यवस्था या सम्बन्ध-प्रथा है। इसका तात्पर्य यह है कि विवाह द्वारा या रक्त सम्बन्ध के आधार पर जिन व्यक्तियों के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है उन्हें एक विशेष श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता है और एक विशेष नाम से पुकारा जाता है। यह काम समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से ही किया जाता है। इसी को नातेदारी व्यवस्था कहते हैं।

नाते-रिश्तेदारों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—एक तो विवाह-सम्बन्धी रिश्तेदार (Affinal kins) और दूसरे रक्त-सम्बन्धी रिश्तेदार (Consonguineous kins)। भारत के अधिकांश जनजातीय समूहों में ये दोनों श्रेणियों की नातेदारी-व्यवस्था देखने को मिलती है, परन्तु, जैसा कि डा० दुबे का कहना है, एक सीमा के बाद इन सम्बन्धियों को किसी एक निश्चित श्रेणी के अन्तर्गत रखना बहुत कुछ कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति में 'पिता' शब्द के अन्तर्गत बच्चे के वास्तविक या सामाजिक पिता के अतिरिक्त, पिता के सब भाई, गोत्र में पिता के आयु-वर्ग के अन्य पुरुष तथा मौसियों (माता की बहनों) के पति भी आ जाते हैं। उक्त सभी वर्ग के व्यक्ति एक दूसरे के बच्चों को 'बेटा' या 'बेटी' मानेंगे। उसी प्रकार खरिया, ओराव, खासी, कादर गोंड आदि जनजातियों में दो भाइयों अथवा दो बहनों के बच्चे एक-दूसरे को अपना भाई-बहन या भाई-भाई ही मानते हैं, परन्तु इनमें पाये जाने वाले यह भाई-बहन का सम्बन्ध हम लोगों के समाज के भाई-बहन के सम्बन्ध से सर्वथा अलग है क्योंकि उक्त जनजातीय समाजों में इस प्रकार के भाई-बहनों में विवाह (ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों में विवाह) हो सकता है और इस प्रकार के विवाह को समाज द्वारा आदर्श माना जाता है। अर्थात् इन लोगों में भाई-बहन का सम्बन्ध होते हुए भी वे 'पति' या 'पत्नी' के वर्ग में आते हैं। निम्नलिखित विवेचना से इस सम्बन्ध-व्यवस्था की जटिलता और भी स्पष्ट हो जायेगी।

(१) **विवाह-सम्बन्धी नातेदारी** (Affinal kinship) के अन्तर्गत न केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा सबद्ध पति-पत्नी ही आते हैं। बल्कि इन दोनों परिवारों के अन्य व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। विवाह सम्बन्धी नातेदारी-व्यवस्था में जनजातीय समाजों में एक ही सम्बन्ध-सूचक 'शब्द' के अन्तर्गत एकाधिक व्यक्तियों को सम्मिलित करने की प्रथा पायी जाती है। उदाहरणार्थ, ससुर की पर्यायवाची शब्द का प्रयोग वास्तविक ससुर के अतिरिक्त माँ के भाइयों तथा पिता के बहनों के पतियों के लिये भी किया जाता है। अन्तिम दो श्रेणियों में आने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के बेटे को 'दामाद' और बेटियों को 'बहू' मानेंगे। ऐसा खरिया, ओराव, खासी, कादर आदि जनजातियों में देखने को मिलता है।

(२) **रक्त-सम्बन्धी नातेदारी** (Consonguineous kinship) के अन्तर्गत

यदि विधवा के पास काफी जमीन-जायदाद होती है और उसकी देख-रेख करने वाला कोई नही होता है, तो कोई निर्धन पुरुष कभी-कभी उस विधवा के घर जाकर रहने लगता है। विधवा उसका अपमान करती है, उसे निकाल देने की धमकी देती है, पर पुरुष सब अपमान और अनादर धैर्यपूर्वक सहन करता जाता है। कुछ ही दिन मे समाज उसे उस विधवा के पति के रूप मे स्वीकार कर लेता है। छत्तीसगढ मे इस प्रकार के पुरुष को 'सिधवा' कहते हैं।

(६) **विधवा या विवाहित स्त्री से विवाह**—मृत बडे भाई की स्त्री से छोटा भाई तो अधिकारपूर्वक विवाह कर सकता है, किन्तु यदि स्त्री किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करना चाहे तो उसके नये पति को उसके पुराने या पूर्व-पति के परिवार को कुछ हर्जाना देना पडता है। इसी तरह यदि कोई विवाहित स्त्री अपने पति को छोडकर दूसरे पुरुष के साथ भाग जाय तो उसका पति कन्या-मूल्य की रकम के अतिरिक्त कुछ हर्जाना पाने का अधिकारी होता है।

विवाह-विच्छेद (Divorce)—सामान्य रूप से अधिकतर भारतीय जनजातियो मे विवाह-विच्छेद पाया जाता है। सथाल, थारू, भील, गोड आदि जनजातियो मे विवाह-विच्छेद के विषय मे पति की स्थिति अच्छी है। सथाल पति अपनी पत्नी से विवाह-सम्बन्ध तब विच्छिन्न कर सकता है जब कि पत्नी दुश्चरित्र है या जादूगरनी है या आज्ञा-पालन नही करती। खासी जनजाति मे व्यभिचार, बाझपन, झगडालू प्रकृति आदि विवाह-विच्छेद के आधार हैं, परन्तु यह काम पति-पत्नी की पारस्परिक सम्मति से ही होता है। कभी-कभी विवाह-विच्छेद चाहने वाले पक्ष को दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पडता है। विवाह विच्छेद सार्वजनिक रूप से होता है और बच्चो को माता के ही सरक्षण मे रखा जाता है। गोड जनजाति मे पति पत्नी की दुश्चरित्रता, घर की समुचित व्यवस्था करने मे असमर्थ, झगडालू होने और बाझ होने का आरोप लगाकर विवाह-विच्छेद कर सकता है। लुशेई जनजाति मे विवाह-विच्छेद करने का तरीका बहुत सरल है। अगर पति विवाह-विच्छेद करता है तो उसे वधू-मूल्य को पूरा-पूरा चुका देना पडता है, परन्तु यदि पत्नी उसे छोडकर चली जाती है या व्यभिचार करती हुई पकडी जाती है तो पत्नी को वह वधू-मूल्य पूरा-पूरा पति को लौटा देना पडता है जो कि पति ने विवाह के समय कन्या-पक्ष को दिया था। खरिया जनजाति मे निम्नलिखित आधारो पर विवाह-विच्छेद हो सकता है—अगर किसी भी पक्ष मे यौन सम्बन्धी कोई कमजोरी है, यदि पत्नी बाझ है, यदि पत्नी अत्यधिक आलसी है और घर-गृहस्थी का काम नही करती है, यदि वह अपने पति के साथ रहने से इन्कार कर देती है और यदि गाव-पचायत ने यह निर्णय कर दिया हो कि पत्नी जादूगरनी है। सथाल जनजाति मे यदि पति पत्नी के लिये ठीक प्रकार भोजन, वस्त्र और आभूषण की व्यवस्था नही कर सकता तो पत्नी को विवाह-विच्छेद करने का अधिकार है। थारू जनजाति मे एक पत्नी अत्याचार, नपुसकता, निर्दयता तथा पति की सामाजिक स्थिति के गिर जाने के आधार पर विवाह-विच्छेद कर सकती है।

नातेदारी-व्यवस्था
(Kinship system)

परिवार, गोत्र, गोत्र-समूह, विवाह, विवाह आदि के अतिरिक्त भारत के जनजातीय सामाजिक संगठन की एक और उल्लेखनीय इकाई नातेदारी-व्यवस्था या सम्बन्ध-प्रथा है। इसका तात्पर्य यह है कि विवाह द्वारा या रक्त सम्बन्ध के आधार पर जिन व्यक्तियों के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है उन्हें एक विशेष श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता है और एक विशेष नाम से पुकारा जाता है। यह काम समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से ही किया जाता है। इसी को नातेदारी व्यवस्था कहते हैं।

नाते-रिश्तेदारो को मोटे तौर पर दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—एक तो विवाह-सम्बन्धी रिश्तेदार (Affinal kins) और दूसरे रक्त-सम्बन्धी रिश्तेदार (Consonguineous kins)। भारत के अधिकांश जनजातीय समूहों मे ये दोनो श्रेणियो की नातेदारी-व्यवस्था देखने को मिलती है, परन्तु, जैसा कि डा० दुबे का कहना है, एक सीमा के बाद इन सम्बन्धियो को किसी एक निश्चित श्रेणी के अन्तर्गत रखना बहुत कुछ कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति मे 'पिता' शब्द के अन्तर्गत बच्चे के वास्तविक या सामाजिक पिता के अतिरिक्त, पिता के सब भाई, गोत्र मे पिता के आयु-वर्ग के अन्य पुरुष तथा मौसियो (माता की बहनों) के पति भी आ जाते हैं। उक्त सभी वर्ग के व्यक्ति एक दूसरे के बच्चो को 'बेटा' या 'बेटी' मानेंगे। इसी प्रकार खरिया, ओराव, खासी, कादर गोंड आदि जनजातियो मे दो भाइयो अथवा दो बहनो के बच्चे एक-दूसरे को अपना भाई-बहन या भाई-भाई ही मानते है, परन्तु इनमे पाये जाने वाले यह भाई-बहन का सम्बन्ध हम लोगो के समाज के भाई-बहन के सम्बन्ध से सर्वथा अलग है क्योंकि उक्त जनजातीय समाजो मे इस प्रकार के भाई-बहनो मे विवाह (ममेरे-फुफेरे भाई-बहनो मे विवाह) हो सकता है और इस प्रकार के विवाह को समाज द्वारा आदर्श माना जाता है। अर्थात् इन लोगो मे भाई-बहन का सम्बन्ध होते हुए भी वे 'पति' या 'पत्नी' के वर्ग मे आते है। निम्नलिखित विवेचना से इस सम्बन्ध-व्यवस्था की जटिलता और भी स्पष्ट हो जायेगी।

(१) विवाह-सम्बन्धी नातेदारी (Affinal kinship) के अन्तर्गत न केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा सबद्ध पति-पत्नी ही आते हैं। बल्कि इन दोनो परिवारो के अन्य व्यक्तियो को भी सम्मिलित किया जा सकता है। विवाह सम्बन्धी नातेदारी-व्यवस्था मे जनजातीय समाजो मे एक ही सम्बन्ध-सूचक 'शब्द' के अन्तर्गत एकाधिक व्यक्तियो को सम्मिलित करने की प्रथा पायी जाती है। उदाहरणार्थ, ससुर की पर्यायवाची शब्द का प्रयोग वास्तविक ससुर के अतिरिक्त माँ के भाइयो तथा पिता के बहनो के पतियो के लिये भी किया जाता है। अन्तिम दो श्रेणियो मे आने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के बेटे को 'दामाद' और बेटियो को 'बहू' मानेगे। ऐसा खरिया, ओराव, खासी, कादर आदि जनजातियो मे देखने को मिलता है।

(२) रक्त-सम्बन्धी नातेदारी (Consonguineous kinship) के अन्तर्गत

वे लोग आते हैं जो कि समान रक्त के आधार पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हो, जैसे पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि। इस प्रकार के सम्बन्धो का अलग-अलग व स्पष्ट बोध हो सके ऐसे शब्दो का अभाव जनजातीय समाज मे होने के कारण एक ही शब्द का प्रयोग अनेक सम्बन्धियो के लिये किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'अजा' शब्द सेमा नागा लोगो मे माँ, पिता के भाई की पत्नी (चाची व ताई) और माँ की बहन (मौसी) के लिये प्रयोग किया जाता है। उसी समाज मे 'आपु' शब्द से एक साथ पिता, चाचा, ताऊ, और मौसा का बोध होता है। आसाम के अगामी नागा लोगो मे 'धि' शब्द का प्रयोग इन सम्बन्धियो के लिए किया जाता है—पत्नी का बडा भाई, पत्नी के बडे भाई की पत्नी, माँ के भाई की पत्नी, पिता के भाई की पत्नी, बडे भाई की पत्नी आदि। इसी प्रकार छत्तीसगढ की कमार जनजाति मे 'दादी' शब्द का प्रयोग पिता के पिता, पिता के पिता के भाइयो, माँ के पिता की बहिनो के पति, माँ के मामा तथा पत्नी या पति की माँ के पिता के लिये समान रूप से किया जाता है। इतना ही नही, रक्त-सम्बन्धी नातेदारी केवल प्राणीशास्त्रीय आधार पर ही नही, अपितु समाजशास्त्रीय आधार पर भी निश्चित हो सकती है। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति मे, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सामाजिक पितृत्व एक विशेष सस्कार 'पुरसुरपिमी' द्वारा निश्चित किया जाता है। जो भी पुरुष इस सस्कार को पूरा करता है, बच्चो का पिता कहलाता है। यह जरूरी नही कि सस्कार करने वाला यह पुरुष उस स्त्री का पति हो ही।

नातेदारी की रीतियाँ
(Kinship usages)

नातेदारी व्यवस्था मे दो सम्बन्धियो के बीच का सम्बन्ध या व्यवहार किस प्रकार का होगा, इसके विषय मे कुछ सामाजिक नियम या रीतियाँ अन्य समाजो की भाँति भारत के जनजातीय समाजो मे भी होती है। इनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं —

(१) **परिहार** (Avoidance)—कुछ सम्बन्ध इस प्रकार के होते हैं जिसमे सम्बन्धित दोनो व्यक्तियो को एक-दूसरे से दूर रहने का निर्देश होता है। जैसे, वधू और ससुर एक-दूसरे को परिहार करते हैं। डा० दुबे ने लिखा है कि मध्य प्रदेश की अधिकाश जनजातियो मे एक ओर पुरुष एव उसके छोटे भाइयो की पत्नियो मे तथा दूसरी ओर उसके और उसकी पत्नी की बडी बहनो मे प्रत्यक्ष सम्पर्क-सम्बन्ध का निषेध रहता है। उनमे किसी प्रकार का घनिष्ट सम्बन्ध न पनपना चाहिए और न ही उनका एक-दूसरे से बोलना, स्पर्श करना अथवा किसी समय मकान मे अकेले एक साथ रहना उचित माना जाता है।

(२) **परिहास-सम्बन्ध** (Joking relationship)—यह परिहार का बिलकुल विपरीत रूप है। कुछ सम्बन्ध ऐसे भी होते हैं जिनमे घनिष्ठता व हँसी-मजाक का रिश्ता होना ही स्वाभाविक माना जाता है। पुरुष का अपनी भाभी तथा साली से इसी प्रकार का परिहास-सम्बन्ध होता है। समधियो तथा समधिनो (वर-वधू के माता-पिता) के बीच का सम्बन्ध भी हँसी-मजाक का होता है। हँसी-मजाक की सीमा कहाँ तक है, यह विभिन्न समाजो मे अलग-अलग होता है, पर परिहास-सम्बन्ध भारत के सभी

जनजातियो मे देखने को मिलता है। ओरांव तथा बैगा जनजातियो मे दादी-पोते या दादा-पोती के बीच भी परिहास सम्बन्ध पाये जाते हैं।

(३) **माध्यमिक सम्बोधन** (Teknonymy)—इस रीति के अनुसार यदि एक व्यक्ति को अपने किसी सम्बन्धी को सम्बोधन करना या पुकारना होता है तो वह उसका नाम प्रत्यक्षत न लेकर किसी दूसरे व्यक्ति के नाम के माध्यम से पुकारता है। उदाहरणार्थ, अपने पति को पुकारने के लिये पत्नी अपने किसी बच्चे के नाम का सहारा लेती है। बच्चे का नाम यदि कमल है तो वह पति को 'कमल के पिता' कहकर पुकारेगी या सम्बोधित करे.ो। ऐसा इसलिये होता है क्योकि अनेक जनजातीय समाजो मे पति, पति के बड़े भाई, पति के पिता आदि का नाम उच्चारण करना पत्नी के लिये वर्जित होता है। पति भी कभी-कभी पत्नी के गाँव, गोत्र आदि के नाम से पत्नी को सम्बोधित करता है जैसे मोरावा वाली।

युवागृह या युवा-संगठन
(Youth Dormitories or Youth Organization)

जनजातियो के सामाजिक सगठन और जीवन की एक और महत्त्वपूर्ण सस्था युवा-सगठन, युवागृह या कुमारगृह है। समाज के बालक-बालिकाओ को उनके समाज की सस्कृति तथा अन्य बातो मे दीक्षित करने के लिये यह सस्था ससार की सभी जनजातियो मे पायी जाती है। भारत मे भी प्रायः सभी जनजातियो मे इस प्रकार के युवा-सगठन पाये जाते हैं और विभिन्न नामो से प्रसिद्ध हैं। आसाम के कोनयाक नागा लोगो मे अविवाहित लडको का यह सगठन 'मोरूग' (Moroung) तथा अविवाहिता युवतियो का 'यो' (Yo) कहलाता है। मेमी नागाओ मे लडको का सगठन 'इखुइची' और लडकियो का सगठन 'इलोइची' कहलाता है। उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ इसे 'रगबग', मध्य भारत की मुण्डा और हो जनजातियाँ इसे 'गीतिओरा' और गोड जनजाति इसे 'गोटुल' कहते हैं।

युवागृह का संगठन और विशेषताएँ (Organization and Characteristics of Dormitories)—युवागृह साधरणतया गाव के बाहर जगल मे या जगल के पास बने होते हैं। परन्तु ये खेतो के नजदीक भी होते हैं, जैसे नागाओ का युवागृह। साथ ही, ये युवागृह गाँव के मध्य मे भी होते हैं, जैसे ओरांव जनजाति मे। युवागृह दो प्रकार के होते हैं। कही-कही लडके और लडकियो के लिये पृथक्-पृथक् युवागृह होते हैं जैसे नागाओ मे, और कही-कही लडके और लडकियाँ एक ही सामान्य युवागृह के सदस्य होते हैं जैसे मुरिया जनजाति के गोटुल, जहाँ लडके और लडकियाँ एक साथ रहते हैं। अविवाहित लडको के युवागृह का प्रबन्ध एक पुरुष करता है और अविवाहिता लडकियो के युवागृह की व्यवस्था प्राय. एक विधवा स्त्री करती है। युवागृह के सदस्य होने के लिए अलग-अलग जनजातियो मे अलग-अलग आयु निश्चित होती है। परन्तु इस आयु के बाद प्रत्येक को युवागृह का सदस्य होना पडता है। किन्ही-किन्ही जनजातियो मे सदस्यता की आयु केवल ४-५ साल होती है। युवागृह की सदस्यता तब तक बनी रहती है जब तक कि उस बालक या बालिका का विवाह नहीं हो जाता। विवाह के पश्चात्

युवागृह की सदस्यता आप-से-आप समाप्त हो जाती है। युवागृह के सदस्य दो स्पष्ट वर्गो मे बँट जाते हैं—एक तो ज्यादा उम्र वाले (seniors) और दूसरे कम उम्र वाले (juniors)। इस ज्यादा उम्र वाले वर्ग से ही युवागृह के अधिकारी या प्रबन्धक को चुना जाता है जो युवागृह की सामान्य देख-रेख करता और अनुशासन को बनाये रखता है। कम उम्र वाले ज्यादा उम्र वालो के आदेशो का पालन करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, उनसे वीर-गाथाएँ सुनते तथा सामूहिक जीवन से सम्बन्धित अनेक कार्यों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध मे सामान्य ज्ञान और शिक्षा प्राप्त करते हैं। युवागृहो के सदस्य लडके और लडकियाँ भोजन अपने माता-पिता के घर मे करते हैं, परन्तु सोते युवागृहो मे ही हैं। होता यह है कि युवागृह के सदस्य अपने-अपने घर से खा-पीकर सध्या के समय युवागृह मे आकर इकट्ठे हो जाते हैं और आग जलाकर उसके चारो ओर बैठकर या तो कहानी-किस्सो मे मस्त हो जाते हैं, या नाचते, गाते और खेलते रहते हैं। फिर यह कार्यक्रम समाप्त होने पर वही सो जाते हैं। वास्तव मे युवागृह का वातावरण और उद्देश्य खेल-कूद और आमोद-प्रमोद के बीच सामूहिक जीवन के बारे मे शिक्षा प्राप्त करने का होता है। इसी कारण युवागृह का जीवन कुछ प्रथाओ और परम्पराओ पर आधारित होता है, जिसका पालन एक अर्थ मे अनिवार्य होता है। युवागृह के सदस्य अपने सामूहिक जीवन मे भाग लेने की शिक्षा भी युवागृह से ही प्राप्त करते है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे कई प्रकार के सामूहिक कार्य भी करते हैं जैसे शादी, विवाह के अवसरों मे या गृह-निर्माण-कार्य मे या खेत मे फसल काटने मे अपने समुदाय के प्रौढजनो की सहायता। प्रौढजनो का भी युवागृह के प्रति अपना कर्त्तव्य होता है और वह इस रूप मे कि इन युवागृहो को चलाने मे जो कुछ खर्चा होता है उसे गाँव के सब लोग मिलकर सहन करते हैं। युवागृह के सदस्यो के लिये युवागृह के कुछ नियमो का पालन करना अनिवार्य होता है और उनमे से सर्वप्रथम यह है कि युवागृह की प्रत्येक बात को गुप्त रखना प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य होता है। उसी प्रकार कुछ जनजातियो मे जैसे कोनयाक नागा लोगों मे, अपने बच्चे को सर्वप्रथम युवागृह मे भेजने से पहले कुछ सस्कार या उत्सव करने की प्रथा है। इतना ही नही, युवागृह को दूसरे साधारण घरो से पृथक करने का भरसक प्रयत्न प्रत्येक जनजाति के लोग करते हैं। जैसे, युवागृह को वे विशेष ढग से सजाते या रगते हैं, उसकी दिवारो पर, बाहर और भीतर, टोटम-चिन्हो को चित्रित करते हैं और उस गृह के चारो ओर काफी विस्तृत जगह को विशेष ढग से घेर कर रखते हैं।

युवागृह की उत्पत्ति (Origin of Dormitories)—युवागृह की उत्पत्ति क्यों और कब हुई, इस सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से बताया नही जा सकता। श्री होडसन (Hodson) आदि कुछ विद्वानो का मत है कि युवागृह सामूहिक गृह (communal house) का ही अवशेष है। मानव-जीवन के प्रारम्भिक स्तर पर लोग पृथक्-पृथक् परिवार मे नही रहते थे, बल्कि उनके लिये एक सामान्य सामूहिक गृह होता था जिसमे सब लोग मिलकर रहा करते थे। परन्तु धीरे-धीरे एक गाँव के लोग विभिन्न परिवारों मे विभक्त हो गये, फिर भी सामूहिक गृह का अस्तित्व अन्य रूप मे बना रहा और गाँव के सब परिवार अपने-अपने बच्चो को उसमे रात मे रहने के लिये और अपने सामूहिक

जीवन की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये भेजने लगे। धीरे-धीरे यही सामूहिक गृह उस समुदाय की प्रथा और परम्पराओ पर आधारित युवक और युवतियो के लिये एक शिक्षा-केन्द्र के रूप मे विकसित हुआ।

कुछ विद्वानो का कथन है कि युवागृहो की उत्पत्ति इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुई है कि बालक-बालिकाओ को रात के समय घर से दूर रखना ही उचित है जब कि उनके माता-पिता और अन्य विवाहित लोग परस्पर यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यौन-क्रियाओ को वे देख न सकें, इसी उद्देश्य से युवागृह बनाये गये हैं।

कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि रात मे अपनी बस्ती की, हिंसक जानवरो तथा अन्य आक्रमणकारियो से, रक्षा करने के लिये सब युवक और युवतियो को एक स्थान पर एकत्रित रखने के उद्देश्य मे ही युवागृहो की उत्पत्ति हुई है।

आदिम जगत् मे पाये जाने वाले इन युवागृहो का विश्लेपण करने पर यह ज्ञात होता है कि वास्तव मे जनजातीय अनुशासन, सामाजिक व धार्मिक कार्य और कर्त्तव्य तथा पारस्परिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे समाज के बालक और बालिकाओ को शिक्षा देने के उद्देश्य से ही इन युवागृहो की स्थापना की गयी होगी। आधुनिक समाजो की भाँति आदिम समाजो मे बच्चो को शिक्षित करने की कोई अन्य सगठित सस्था का नितान्त अभाव है। ऐसी अवस्था मे युवागृहो के माध्यम से उस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये ही उनकी स्थापना की गयी है, यह निष्कर्प शायद बहुत गलत नही है। यह कथन युवागृहो के प्रयोजन तथा उद्देश्य से सम्बन्धित निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगा।

युवागृह के प्रयोजन और उद्देश्य (Objectives and Purposes of Dormitories)—कुछ विद्वानो का कथन है कि युवागृह का एक मात्र उद्देश्य उसके सदस्यो के लिये जीवनसाथी को चुनना तथा उन्हे यौन-सम्बन्धी शिक्षा देना है। श्री एलविन (Elwin) तथा श्री ग्रिगसन (Grigson) के द्वारा युवागृह के सम्बन्ध मे दिये गये विस्तृत विवरण से पता चलता है कि युवागृह मे अधिक उम्र की लडकियाँ प्रायः अपने से छोटी उम्र के लडको को यौन सम्बन्धी शिक्षा देती हैं और यही से वे अपने जीवन-साथी को भी चुनती हैं। युवागृह की प्रत्येक बात को गुप्त रखना प्रत्येक सदस्य के लिये विशेषत. इसीलिये अनिवार्य होता है कि युवागृह में प्रेम और यौन-सम्बन्धी क्रिया-कलाप खूब होता है, यद्यपि वास्तविक सम्भोग करने की प्राय मनाही होती है। श्री एलविन के अनुसार मुरिया गोटुल में वयस्क लडकियाँ उनसे छोटे उम्र के लडको को यौन-क्रिया की शिक्षा देती हैं और वहाँ सम्भोग करने के लिए मुखिया की आज्ञा की आवश्यकता नही हुआ करती। परन्तु श्री इन्द्रजीतसिंह के अनुसार इन गोटुलो में सम्भोग नही होता है। परन्तु श्री एलविन इस बात पर बल देते हैं कि यौन-सम्बन्धी शिक्षा और शरीर-सम्भोग युवागृहो के प्रमुख उद्देश्यो के आवश्यक अग हैं। परन्तु इस शरीर-सम्भोग से गर्भ रहने की बात बहुत कम सुनने को मिलती है। श्री एलविन ने इसके कारण को इस प्रकार समझाया है कि मुखिया लोगो में विश्वास है कि गोटुल की रक्षा लिंगो (Lingo) नामक देवता के द्वारा होती है जिसके कारण शरीर-सम्भोग करने पर भी उनकी कृपा से लडकियो को गर्भ नहीं रहता क्योकि गोटुल के अन्दर होने वाले शरीर-सम्भोग से

बच्चा उत्पन्न होना स्वय उस देवता लिंगो के लिये असम्मानजनक होगा। इसलिये लिंगो स्वय अपनी मर्यादा या सम्मान बचाने लिये लडकियो का गर्भ रहने नही देते।

परन्तु सर्वश्री हट्टन, मजूमदार, राय आदि विद्वानो ने श्री एलविन के विचारो को पूर्ण रूप से स्वीकार नही किया है। इनका कहना है कि युवागृह जनजातियो मे शिक्षा की एक महत्त्वपूर्ण सस्था है जहाँ पर इसके सदस्यो की जनजातियो के आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक जीवन से सम्बन्धित अनेक कार्यो को सिखाया जाता है। जनजातीय अनुशासन, सामाजिक न्याय तथा पारस्परिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे भी यहाँ सदस्यो को शिक्षा दी जाती है, अपराध और दण्ड के विचार, बुरे कार्यो के परिणाम आदि के विषय कथाओ द्वारा सदस्यो को बताये जाते है। इसलिये इसे केवल प्रेम और यौन-सम्बन्धी कार्य-कलापो का केन्द्र मानना उचित न होगा।

रायबहादुर शरतचन्द्र राय ने युवागृहो के तीन प्रमुख उद्देश्यो का उल्लेख किया है जिनसे युवागृहो की उत्पत्ति के कारणो का भी स्पष्टीकरण होता है। वे तीन उद्देश्य इस प्रकार हैं—(अ) युवागृह भोजन इकट्ठा करने के कार्य मे एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक सगठन के रूप मे कार्य करता है, (ब) यह युवको तथा युवतियो को सामाजिक तथा अन्य प्रकार के कर्त्तव्यो की शिक्षा देने का एक उपयोगी केन्द्र है, और (स) यह जादू और धर्म से सम्बन्धित सस्कारो को करने व सिखाने का स्थान है जिससे, जैसा कि उनमे विश्वास है, शिकार मे सफलता प्राप्त होगी और युवको की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि होगी।

युवागृह वास्तव मे आदिम सामाजिक जीवन की एक प्रमुख सस्था है और सर्वश्री मिल्स, मजूमदार, राय आदि विद्वानो ने आदिम लोगो के जीवन मे इन युवागृहो के महत्त्व पर अत्यधिक बल दिया है। कुछ विद्वानो का तो कथन है कि अगर हमे जनजातियो के जीवन और सस्कृति के सम्बन्ध मे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है तो उनकी इस सस्था का विस्तृत अध्ययन सर्वप्रथम आवश्यक है।

परन्तु खेद का विषय है कि सभ्य समाजो के सम्पर्क मे आने के फलस्वरूप और कुछ अग्रेजी शिक्षा के कुप्रभाव के कारण जनजातियो के मन मे इस सस्था के प्रति उत्तरोत्तर उदासीनता, यहाँ तक कि घृणा की भावना भी पनप रही है, जिसके कारण आज दिन प्रतिदिन इस महत्त्वपूर्ण सस्था का पतन होता जा रहा है। जनजातीय जीवन के विघटन को रोकने के लिये और उनकी समस्याओ को हल करने के लिये युवागृहो का पुन सगठन करना परमआवश्यक है।

भारतीय जनजातीय धर्म और जादू
(Tribal Religion and Magic in India)

इस शताब्दी के आरम्भ मे भारत की जनजातियो के धर्म के सम्बन्ध मे अनेक गलत धारणाए थी। उनके धर्म के विषय मे सर हर्बर्ट रिजले (Sir Herbert Risley) ने लिखा था कि जनजातियो का धर्म तो विभिन्न प्रकार के दु खदायी अन्धविश्वासो और जादू-टोने का गडबडझाला मात्र है। परन्तु सन् १९३१ की जनगणना रिपोर्ट मे श्री हट्टन (Hutton) ने इस मत का सर्वप्रथम खण्डन किया और यह दावा किया कि "जनजातीय धर्म अन्धविश्वासी और अशिक्षित व्यक्तियो की अस्पष्ट कल्पना मात्र नही

है, वल्कि एक वास्तविक धार्मिक पद्धति और सुनिश्चित दर्शन प्रणाली का भग्नावशेष है। यह धर्म वर्तमान हिन्दू धर्म का मूलाधार है। हिन्दुओ ने अपने अनेक मुख्य धार्मिक विश्वास जैसे आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, आवागमन (transmigration) आदि के सिद्धान्त इन्ही जातियो से ग्रहण किये हैं। इस समय जनजातीय धर्मो मे वही अतिरिक्त (surplus) सामग्री बची हुई है जिसका उपयोग हिन्दू धर्म रूपी मन्दिर के निर्माण मे नही किया जा सका।" आधुनिक खोजो के आधार पर भारत की जनजातियो के धर्म व जादू के प्रमुख तत्त्व **और विशेषताए** निम्नलिखित हैं :—

(१) आत्मावाद (Animism)—श्री रिज़ले से लेकर डा० मजूमदार आदि प्राय सभी विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय जनजातीय धर्म का एक प्रमुख आधार आत्मावाद है। आत्मावाद से सम्बन्धित विश्वास भारत की प्राय सभी जनजातियो मे बडी सरलता से देखा जा सकता है। उनका यह विश्वास है कि उनका जीवन अनेक अदृश्य आत्माओ, प्रेतो तथा ऐसे ही अन्य अज्ञात, अव्यक्त व अलौकिक शक्तियो से न केवल घिरा हुआ है वल्कि उनके द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो ही रूपो मे नियन्त्रित होता है। सथाल अपने पूर्वजो की आत्माओ पर विश्वास करते हैं और एक विशेष स्थान मे उनकी स्थापना करके पूजा करने की रीति उनमे प्रचलित है। ऐसी ही अनेक भारतीय जनजातियाँ हैं जो कि यह विश्वास करती हैं कि एक विशेष चट्टान या शिला पर उनके प्रमुख पूर्वज की आत्मा निवास करती है और इसलिये उसे प्रसन्न करने से लिये वे विशेष अवसरो पर मुर्गियो, कबूतरो, बकरियो आदि की बलि देते है। मिर्जापुर के आदिवासी कोरवा लोगो के सम्बन्ध मे डा० मजूमदार ने लिखा है कि उनमे यह विश्वास है कि उनके जीवन के विभिन्न पक्षो को नियन्त्रित करने के लिये पृथक्-पृथक् 'आत्मा' या 'शक्ति' है। इस लोक-विश्वास के अनुसार विभिन्न रोग, फसल, वर्षा आदि अलग-अलग आत्माओ द्वारा नियन्त्रित तथा नियमित होते हैं। डा० दुबे ने छत्तीसगढ की कमार और भुंजिया जनजातियो के सम्बन्ध मे लिखा है कि, "उनमे अधिकाश स्वप्नो के सम्बन्ध मे यह विश्वास है कि वे व्यक्ति के 'जीव' के स्वतन्त्र एव पृथक् अनुभव होते हैं। मनुष्य का शरीर जब निद्रा-मग्न होकर विश्राम करता है तो उसका चचल जीव बाहरी दुनिया की सैर करना चाहता है। उनकी दृष्टि मे स्वप्न भी उतने ही यथार्थ होते हैं जितने जागृत स्थिति मे मनुष्य शरीर के प्रत्यक्ष अनुभव। अन्तर केवल इतना है कि एक स्थिति मे अनुभूति शरीर को होती है, दूसरी मे जीव को। स्वय जीव के स्वरूप और गुणो के सम्बन्ध मे अनेक धारणाओ का प्रचलन है। कमारो के अनुसार मृत व्यक्ति का शरीर तो 'मढी' बनकर श्मशान मे वास करने लगता है, किन्तु उसका 'जीव' सीधा भगवान के पास चला जाता है। 'मढी' की अपनी स्वतन्त्र चेतना होती है, और वह अन्य जीवो को हानि पहुँचा सकती है। परिवार के लोग जब 'जीव' का आवाहन करते हैं तो वह 'गाता डूमा' के स्थान पर, जहाँ अन्य पुरखो के जीव भी वास करते हैं, आकर रहने लगता है।"[25]

उसी प्रकार दो आत्माओ की धारणा भी भारत की अनेक जनजातियो मे पायी

---

25 Dr S C Dube, *op cit*, p 275

जाती है । इसी धारणा के आधार पर इन जनजातियो मे 'दोहरा दाह-सस्कार' (double funeral) अर्थात् दो प्रकार की अन्तिम-क्रियाएँ करने की प्रथा है । वे कच्चा (green) और पक्का (dry) दो प्रकार का दाह-सस्कार या अन्तिम क्रियाएँ करती हैं। कच्चा दाह-सस्कार (green funeral) एक व्यक्ति के मरने के बाद तुरन्त ही कर दिया जाता है, परन्तु पक्का दाह-सस्कार (dry funeral) काफी समय बीत जाने के बाद ही किया जाता है । पर्याप्त समय बीत जाने के बाद उस मृत-व्यक्ति के आत्म-परिजनो को यह विश्वास हो जाता है कि शरीर-आत्मा (body-soul) अब लौटकर नही आयेगी । हो, टोडा, कोट और ओराँव जनजातियाँ इसी प्रकार का 'दोहरा दाह-सस्कार' करती हैं । हो जनजाति मे यह विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् शरीर-आत्मा 'बोगा' नामक एक अदृश्य शक्ति से मिल जाती है । इस कारण पक्की अन्त्येष्ठि-क्रिया के अवसर पर वे लोग ढोल आदि बजाकर उत्सव मनाते हैं । मध्य भारत की अनेक जनजातियो मे पितरो की आत्मा को आदरपूर्वक बुलाकर उस स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाता है जहाँ पर कि उनके अन्य देवी-देवताओ की पूजा होती है । कमार, भुँजिया, अमात और उडिया गोड आदि अनेक जनजातियो मे इस प्रकार पितरो की आत्माओ को आदरपूर्वक बुलाकर और उत्सव आदि मनाकर घर मे प्रतिष्ठित करने की प्रथा पायी जाती है ।

(२) **मानावाद** (Manaism)—डा० मजूमदार (Dr Majumdar) के मतानुसार भारतीय जनजातीय धर्म का सर्वप्रमुख आधार 'मानावाद' या भारतीय जनजातीय भाषा मे 'बोगावाद' (Bongaism) है । छोटा नागपुर की हो, मुण्डा तथा अन्य जनजातियाँ 'माना' जैसी एक अलौकिक, अदृश्य और अवैयक्तिक शक्ति पर विश्वास करती हैं । इस शक्ति को वे लोग 'बोगा' (*Bonga*) कहकर पुकारते हैं । डा० मजूमदार ने अपने एक ग्रथ तथा एक पृथक् निबन्ध मे इस बोगावाद के विषय पर विस्तारपूर्वक अपने विचारो को प्रस्तुत किया है और इसीको 'हो' जनजातीय धर्म का आधार माना है । उनके मतानुसार बोगावाद ही 'हो' धर्म है । 'हो' लोग बोगा को चल और अचल, जीवित और जड सभी वस्तुओ व स्थानो मे व्याप्त एक अदृश्य एव अलौकिक शक्ति मानते हैं जो कि फसल को उगाने, महामारियो को लाने या रोकने, वर्षा, तूफान बाढ आदि लाने मे एक मात्र कारण है । मुण्डा जनजाति मे विभिन्न मनुष्यो मे पायी जाने वाली भिन्नताओ का कारण भी बोगा की शक्ति मानी जाती है । यदि किसी मनुष्य में अधिक कार्य-क्षमता या अन्य कोई विशेष गुण है तो मुण्डा लोग यही विश्वास करते हैं कि उस व्यक्ति मे बोगा अधिक मात्रा मे है उनके अनुसार कोई भी अद्भुत या अलौकिक शक्ति बोगा है । उनमे यह भी विश्वास है कि अगर इस अशरीरी बोगा को किसी विषय पर चेतावनी देनी होती है या भविष्यवाणी करनी होती है तो वह (बोगा) स्वप्न के माध्यम से ऐसा करती है । सभ्य समाज के सम्पर्क मे आने के कारण अब इस मुण्डा जनजाति के लोग साइकिल, रेलगाडी, हवाई जहाज आदि देखते हैं । उनके लिये ये सभी बोगा है । साइकिल एक बोगा है, रेलगाडी उससे अधिक शक्तिशाली बोगा है और हवाई जहाज उससे भी अधिक शक्तिशाली बोगा है ।

(३) **प्रकृतिवाद** (Naturism)—भारत की जनजातियो में प्रकृतिवाद अर्थात्

प्राकृतिक चीजो की आराधना या पूजा के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। अनेक जन-जातियाँ सूर्य, चाँद और तारो की उपासना करती हैं। मुण्डा लोग सिंग बोगा (सूर्य देवता) को पूजते हैं। आसाम के गारो सूर्य और चन्द्रमा के उपासक हैं।

(४) **टोटमवाद** (Totemism)—जैसा कि पिछले एक अध्याय मे बताया जा चुका है, टोटम से सम्बन्धित अनेक धारणाएँ भारत की जनजातियो मे प्रचलित हैं। टोटम से सम्बन्धित ये समस्त विश्वास और धारणाएँ धर्म की उत्पत्ति मे पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए होगे। इस कारण धार्मिक जीवन मे इनका प्रभाव भी स्पष्ट है।

(५) **पितृ-पूजा**—डा० दुबे के अनुसार भारत के जनजातियो के धर्म का एक आधार पितृ-पूजा भी है। उन्होने लिखा है कि पितरो के 'जीव' को सन्तुष्ट रखना तथा उन्हे आदरपूर्वक वापस बुलाकर घर मे स्थान देना भारतीय मध्य प्रदेश के अनेक जनजातीय समूहो मे आवश्यक माना जाता है। छत्तीसगढ के जनजातियो मे भगवान तथा अन्य देवताओ की पूजा करने के साथ-साथ पितरो की आत्माओ को भी पूजा जाता है। छत्तीसगढ के कमार, भुजिया तथा धुर, अमात और उडिया गोड, प्राय प्रत्येक जनजातीय समूह मे मृत्यु के कुछ समय बाद सुनिश्चित रस्मो द्वारा मृत व्यक्ति की आत्मा का आवाहन किया जाता है, और घर के एक विशेष स्थान पर उन्हे प्रतिष्ठित किया जाता है। त्योहारो, उत्सवो और सस्कारो के अवसर पर अन्य देवी-देवताओ के साथ पितरो की आत्माओं को भी धूप, बलि, भेंट आदि दी जाती हैं और हर प्रकार से उन्हे खुश रखने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसा न करने पर पितरो की आत्मा भी देवी-देवताओ की भाँति नाराज हो सकती हैं और उस अवस्था मे परिवार तथा परिवार के सदस्यो को नुकसान पहुँच सकता है।

(६) **अनेकेश्वरवाद**—जीवन के विभिन्न पक्षो तथा समस्याओ से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओ पर विश्वास भारत की जनजातीय धर्म की एक और उल्लेखनीय विशेषता है। एक ईश्वर पर विश्वास करते हैं ऐसे जनजातीय समूह भारत मे नही पाये जाते हैं। डा० दुबे ने लिखा है कि "हमारे आदिवासी समाजो मे देवताओ मे भी स्तर-भेद पाया जाता है। उत्कल की बोदो जनजाति की परम्परा के अनुसार 'महाप्रभु' सर्वशक्तिमान हैं तथा अदृश्य जगत के अमर देवताओ मे उनका प्रमुख स्थान होता है। महा-प्रभु नाम नया है तथा स्पष्टत उडीसा के हिन्दुओ के प्रभाव से बोदो पर्वतो मे पहुँचा है। वास्तविक नाम 'सिंगी अरके' या 'सिंह अरके' है जो सथालो के सिंग बोगा से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। बोदो सूर्य (सिंगी अरके या महाप्रभु) को पृथ्वी का रचनाकार तथा अपना मुख्य देवता मानते हैं। अन्य छोटे देवता, दैत्य, पितरो की आत्माए आदि निश्चित रूप से 'सिंगी अरके' का नेतृत्व एव प्रभुत्व स्वीकार करती हैं। 'माता' और पितरो के अतिरिक्त छत्तीसगढ के कमार अनेक देवताओ पर विश्वास करते हैं। उनके अनुसार अपनी जटा मे पृथ्वी और आकाश को रखने वाले महादेव सबसे बडे देवता हैं। महादेव के नीचे 'भगवान्' का स्थान है। मरने के बाद व्यक्ति का जीव भगवान के पास जाता है, और वे ही अपने पास के जीवो को कही जाकर जन्म लेने की आज्ञा देते हैं। इन दो के अतिरिक्त ठाकुरदेव, दुल्हादेव आदि अनेक स्थानीय देवताओ की भी वे पूजा

करते हैं। आसाम के मातृ-प्रधान खासी समाज मे इस प्रकार सबसे बड़े देव का नाम 'युल्लेइ-नोगथा' है जो कि देवी और देवता दोनो ही हैं।

(७) जादू-टोना (Magic)—जादू-टोना जनजातियो के धर्म का या धार्मिक विश्वासो का एक दूसरा पक्ष है और धर्म के साथ इतना अधिक घुला-मिला हुआ है कि इन दोनो को पृथक् नही किया जा सकता है। भारतीय जनजातियो मे महामारी को रोकने, वर्षा को लाने, रोगो की चिकित्सा करने,आदि के विषयो मे धार्मिक क्रियाओ के साथ-साथ अनेक जादू-टोने का भी समावेश देखने को मिलता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि जादू-टोना जनजातीय धर्म का कोई आवश्यक अग है। डा० दुबे के अनुसार, "इसे उनकी अदृश्य शक्ति-सम्बन्धी विश्वास का एक विशेष अग मानना अधिक उपयुक्त होगा।" वास्तव मे जनजातियाँ धर्म तथा जादू इन दोनो को उत्तम रूप से मिलाकर अपने उद्देश्यो की पूर्ति करती हैं।

भारत की प्रत्येक जन जाति मे जादू-टोने मे विश्वास पाया जाता है। इन क्रियाओ का सहारा वे प्रायः अपने कुछ व्यावहारिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिये लेते हैं, जैसे महामारी को रोकने के लिये, वर्षा को लाने के लिये, रोगो की चिकित्सा करने के लिये, शत्रु से बदला लेने के लिये इत्यादि। इस प्रकार जादू-टोना अच्छा भी कर सकता है और बुरा भी। जादू-टोने का सबसे सरल रूप जनजातीय लोगो के अनेक प्रकार के विश्वासो मे निहित है। उदाहरणार्थ, उनका विश्वास है कि कुछ विशेष वस्तुओ और स्थानो मे विशेष शक्ति होती है। इसी विश्वास के आधार पर वे विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति अनेक प्रकार की जडी-बूटी, देवी-देवताओ की स्पर्श की हुई वस्तुएँ, विशेष स्थान की मिट्टी, विशेष नदी, तालाब या झरने का पानी, विशेष पशु की खाल (skin), या विशेष पक्षी के पख आदि को धारण करके करते हैं। उनमे विश्वास है कि अमुक जडी-बूटी को हाथ मे बाँध लेने से अमुक रोग ठीक हो जायगा, अमुक झरने का पानी छिडकने से चुडैल का प्रकोप नष्ट हो जायगा, अमुक पक्षी के पख को धारण करने से शत्रु पर विजय पाना बहुत सरल हो जायगा। अगर एक व्यक्ति को इन वस्तुओं के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत जानकारी नही है तो वह ऐसे लोगो की सलाह या सहायता ले सकता है और लेता है जिन्हें इन विषयो मे प्रत्यक्ष ज्ञान है या जो इन विषयो के विशेषज्ञ हैं। प्रत्येक जनजातीय समूह मे इस प्रकार जादू-टोना करने वाले कुछ विशेषज्ञ (experts) होते हैं जो कि लोगो को अनेक प्रकार के तावीज आदि देते हैं और टोटका आदि करते हैं। उसी प्रकार मन्त्रो का पाठ करके रोगी को ठीक करने (जिसे साधारण भाषा मे 'झाड-फूंक' कहते हैं), भूत-प्रेत या चुडैल के प्रकोप से किसी को छुडाने या शत्रु का नाश करने की अनेक विचित्र रीतियाँ व रस्में जनजातीय समाज मे देखने को मिलती हैं। कहा जाता है कि उत्तर प्रदेश (नैनीताल) की थारू जनजाति की स्त्रियाँ इन कामो मे अर्थात् झाड-फूंक करने, तावीज बनाने और टोटका करने मे एक नम्बर की होती हैं।

हम लिख चुके हैं कि श्री फ्रेजर (Frazer) ने जादू के दो नियमो का उल्लेख किया है। पहला नियम, समानता का नियम (Law of Similarity) है और इसपर आधारित जादू को होमियोपैथिक जादू' या 'अनुकरणात्मक जादू' (imitative magic)

कहते हैं। इस प्रकार जादू के अनेक उदाहरण भारतीय जनजातीय समाजों में देखने को मिलते हैं। यदि किसी को अपने किसी शत्रु या प्रतिस्पर्धी का विनाश करना है तो वह अपने उस शत्रु या प्रतिस्पर्धी की मिट्टी या लकड़ी की एक मूर्ति बनाता है और फिर उसे मंत्र-पाठ तथा विशेष रस्मों के साथ पानी में सड़ने या गलने दिया जाता है या उसपर चोट पहुँचाकर उसे नष्ट कर दिया जाता है। 'समानता के नियम' के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि वह मूर्ति जैसे-जैसे सड़ती या गलती रहेगी वैसे-वैसे शत्रु का भी विनाश होता रहेगा अथवा मूर्ति के जहाँ-जहाँ चोट लगायी जायेगी उन्हीं स्थानों पर शत्रु को भी चोट पहुँचेगी। छोटा नागपुर की जनजाति पानी बरसाने के लिए जादू काम में लाती है। जनजातीय लोगों ने अनुभव किया होगा कि जब-जब पानी बरसता है, गड़गड़ाहट की आवाज बादलों से सुनायी पड़ती है। अतः उन्होंने गड़गड़ाहट को वर्षा का कारण माना। जब पानी नहीं बरसता तो वे पहाड़ की चोटियों से पत्थर लुढ़काकर गड़गड़ाहट की आवाज पैदा करने का प्रयत्न करते हैं, ताकि पानी बरसे। उस घटना में बादलों की गड़गड़ाहट और पहाड़ से पत्थरों के लुढ़काने से उत्पन्न होने वाली आवाज में समानता है। इस समानता के आधार पर वे विश्वास करते हैं कि पत्थर लुढ़काने से भी पानी बरसेगा। 'हो' जनजाति वर्षा लाने के लिये आग जलाती और खूब धुँआ करती है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि धुँए और बादल में समानता है, इस कारण समान वस्तु अर्थात् धुँआ सदैव समान वस्तु अर्थात् बादल उत्पन्न करेगा और वर्षा होगी। इसी प्रकार मध्य भारत की अनेक जनजातियों में प्रसव के समय बच्चा जल्दी पैदा हो जाय, इस उद्देश्य से गर्भवती स्त्री को तेज धार का पानी पिलाया जाता है। तेज धार का पानी द्रुत गति का प्रतीक है, इस कारण इसको पिलाकर समानान्तर फल की आशा की जाती है कि बच्चा भी जल्दी पैदा होगा।

श्री फ्रेजर का दूसरा नियम है 'सम्पर्क का नियम' (Law of Contact) और इसपर आधारित जादू को 'संक्रामक जादू' (contagious magic) कहते हैं। इस प्रकार के जादू, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इस सामान्य नियम या विश्वास पर आधारित है कि जो वस्तु एक बार या एक समय सम्पर्क में रही वह सदैव सम्पर्क में रहेगी। इस प्रकार के जादू के भी अनेक उदाहरण भारतीय जनजातीय समाजों में देखने को मिलते हैं। अगर किसी व्यक्ति को हानि पहुँचानी है तो उस व्यक्ति के कपड़े, बाल, नाखून, बर्तन आदि किसी एक वस्तु को किसी प्रकार से प्राप्त कर लिया जाता है और फिर उस वस्तु को मंत्र-पाठ तथा विशेष रस्मों के साथ नष्ट कर दिया जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि उस वस्तु के नाश होने से उस शत्रु का भी विनाश होगा। अपने प्रेमी या प्रेयसी को अपने वश में करने के लिये भी उसके सम्पर्क में रही हो ऐसी किसी वस्तु—बाल, नाखून, कपड़ा आदि—को पहले जादू से किया जाता है और फिर उसपर जादू चलाया जाता है। चमार, मुँडिया तथा भारत की अन्य प्रायः सभी जनजातियों में इस प्रकार के अनेक जादुओं का प्रचलन है।

भारतीय जनजातीय धर्म की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि उनके धर्म और हिन्दुओं के धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं है। उनके धर्म के अनेक तत्त्व हिन्दू धर्म

मे भी पाये जाते हैं। इसी कारण श्री एलविन(Elwin) भारतीय जनजातीय धर्म और हिन्दू धर्म मे भेद करना निरर्थक समझते हैं। डा० घुरिये (Ghurye) ने तो यहाँ तक कहा है कि जहाँ तक धर्मों मे समानता का प्रश्न है वहाँ तक भारत की जनजातियो और हिन्दुओ मे कोई विशेष अन्तर नही है, और इस अर्थ मे जनजातियों को 'पिछडे हिन्दू' कहना चाहिये। श्री हट्टन (Hutton) ने स्पष्ट ही कह दिया है कि भारतीय जनजातियो के धर्मों को आत्मावाद, मानावाद, प्रकृतिवाद या किसी अन्य एक श्रेणी मे रखना उचित न होगा। उनके धर्मों मे इन सब तत्वो के अतिरिक्त आत्मा की अनश्वरता, पुनर्जन्म आदि की धारणाएँ भी पायी जाती हैं। इन सब बातो को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर ही आते हैं कि भारतीय जनजातियो का धर्म ही हिन्दू धर्म का आदि-रूप है।

भारत मे जनजातीय समाजो मे प्रचलित धर्म और जादू-टोने की यही संक्षिप्त रूपरेखा है।

जनजातियाँ तथा हिन्दू कृषक-वर्ग
(Tribes and Hindu Peasantry)

इस अध्याय की इति करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम जनजातियो तथा हिन्दू कृषक वर्ग के एक तुलनात्मक अध्ययन को भी प्रस्तुत करें ताकि हमे भारतीय जनजातियो के वास्तविक स्वरूप या प्रकृति के सम्बन्ध मे और भी स्पष्ट ज्ञान हो सके। यह तुलनात्मक विश्लेषण हम निम्नलिखित आधारो पर प्रस्तुत कर सकते हैं —

आर्थिक आधार (Economic basis)—आर्थिक आधार पर आधुनिक भारत की जनजातियो को मुख्यत पाँच भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) खाद्य सकलन के स्तर पर निवास करने वाली जनजातियाँ, (२) पशु-पालन करने वाली जनजातियाँ, (३) स्थानान्तरित (shifting) खेती करने वाली जनजातियाँ, (४) स्थिर खेती करने वाली जनजातियाँ तथा (५) शिल्प अथवा उद्योग से जीवन-निर्वाह करने वाली जनजातियाँ। हिन्दू कृषक वर्ग मे प्रथम स्तर को छोडकर अन्य सभी स्तर के पेशे अपनाये जाते हैं। हिन्दू किसान पशु-पालता है, खेती करता है और शिल्प तथा गृह उद्योगो मे भी काम करता है। स्मरण रहे कि हिन्दू कृषक वर्ग का प्राय ७६ प्रतिशत जनसख्या प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप मे खेती पर निर्भर है। जहाँ तक जनजातियो का सम्बन्ध है, यह प्रतिशत प्राय ८७ है। अर्थात् प्राय २ करोड ९९ लाख जनजातीय मनुष्यो मे प्रायः २ करोड ६० लाख व्यक्ति कृषक हैं। इनमे प्राय ३५ लाख व्यक्ति स्थानान्तरित खेती पर निर्भर हैं। स्थानान्तरित खेती हिन्दू किसान-वर्ग नही करता है। परन्तु उनमे जिस प्रकार भूमिहीन मजदूर पाये जाते हैं, उसी प्रकार भारतीय जनजातियो मे भी उनकी सख्या बहुत ज्यादा है। अनुमान है कि जनजातियो मे प्राय. २४ लाख व्यक्ति भूमिहीन मजदूर हैं। हिन्दू कृषक-वर्ग मे कृषि की अत्यधिक पिछडी दशा है, परन्तु यह दशा जनजातीय कृषको की तो और भी दयनीय है। इसका प्रमुख कारण उनका खेती की उन्नत प्रविधियो के सम्बन्ध मे अज्ञानता है।

सामाजिक आधार (Social basis)—जनजातीय सामाजिक व्यवस्था हिन्दू कृषक वर्ग की समाज-व्यवस्था मे परम्परागत रूप मे भिन्न है। जैसा कि हम इसी अध्याय

मे विवेचना कर चुके है जनजातीय समाज व्यवस्था मे परिवार, विवाह, गोत्र, गोत्र-समूह, टोटम, नातेदारी व्यवस्था, धर्म और जादू टोना का विशेष महत्त्व है। हिन्दू समाज व्यवस्था मे गोत्र या गोत्र समूह के आधार पर कोई संगठन देखने को नही मिलता है, इसके अलावा कि गोत्र-बहिर्विवाह के नियमो का पालन किया जाता है। टोटमवाद हिन्दू किसानो की समाज व्यवस्था की कोई विशेषता नही है। उनमे सामाजिक संस्था के रूप मे जाति-प्रथा और परिवार के रूप मे संयुक्त परिवार का महत्त्व अत्यधिक है। विवाह के रूप भी हिन्दू किसानो मे वे नहीं है जो कि जनजातीय समाजो मे देखने को मिलते हैं। इन समाजो मे कन्या-मूल्य या वधू-मूल्य (bride price) देने व लेने की प्रथा का अत्यधिक प्रचलन है, परन्तु हिन्दू किसान-वर्ग मे वधू-मूल्य नही, वर-मूल्य प्रथा पायी जाती है। इनमे विधवा विवाह और विवाह विच्छेद मान्य नहीं है, परन्तु जनजातीय समाज मे इन दोनो की ही आज्ञा रहती है। भारत के जनजातीय समाजो मे सामान्यत ज्यादा उम्र मे ही विवाह होता है, अर्थात् बाल-विवाह का प्रचलन नही है। परन्तु जिन जनजातियो का सम्पर्क हिन्दू-समाज मे स्थापित हो गया है, उनमे बाल-विवाह का प्रचलन देखने को मिलता है। मातृवंशीय परिवार हिन्दुओ मे नही होता है, न ही हिन्दू किसानो में बहुपति-विवाह प्रथा का प्रचलन है। अब तो बहुपत्नी-विवाह प्रथा भी दिन पर दिन कम होती जा रही है। हिन्दू किसानो मे पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय तथा पितृस्थानीय परिवार पाये जाते हैं। जनजातियो की भाँति हिन्दू किसानो मे भी नातेदारी व्यवस्था का एक जटिल रूप देखने को मिलता है।

धार्मिक आधार (Religious basis)—धर्म व जादू-टोने की प्रधानता भारत के जनजातियो तथा हिन्दू-किसानो मे देखने को मिलता है। फिर भी दोनो मे धर्म तथा जादू-टोने का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। जनजातीय धर्म का आधार आत्मावाद, माना-वाद या जीवितसत्तावाद, पितृपूजा तथा अनेकेश्वरवाद है। हिन्दू किसानो मे आत्मा के अमरत्व की धारणा तो अवश्य है पर इसे धर्म की वास्तविक नीव नहीं कहा जा सकता है। यही बात जीवितसत्तावाद के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। पितृ-पूजा हिन्दुओ में भी धर्म का एक अंग है। हिन्दुओ मे पिता को ही स्वर्ग व धर्म मानने का आदर्श प्रस्तुत किया जाता है। हिन्दू किसान भी अनेकेश्वरवादी होते हैं, यद्यपि ईश्वरो का स्वरूप व प्रकृति तथा उनसे सम्बन्धित व्यवहार व विश्वास हिन्दू किसान तथा जन-जातीय लोगो मे पृथक्-पृथक् है।

राजनैतिक आधार (Political basis)—प्रत्येक जनजाति एक राजनैतिक इकाई इस अर्थ मे है कि प्रत्येक जनजातीय समूह का एक राजनैतिक संगठन होता है। जनजातीय शासन-भार एक वंशानुगत मुखिया, प्रधान या राजा पर होता है जो कि बड़े-बूढ़ो की एक समिति की सहायता से जनजातीय समाज मे सम्बन्धित समस्त विषयो का निरीक्षण और शासन करता है। हिन्दू किसानो मे इस प्रकार की कोई व्यवस्था देखने को नही मिलती है। हाँ, उनके गाँव के स्थानीय कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सम्बन्धी कार्यो को करने के लिये गाँव पंचायतें होती हैं।

जनजातीय भारत का यही सक्षिप्त परिचय है और इसी मे उनके जीवन का रहस्य छिपा हुआ है ।

SELECTED READINGS

1 Dubey, S C., *Manav aur Sanskriti*, Rajkamal Prakashan, Delhi, 1960

2. Elwin, V · *The Aboriginals*, Oxford University Press, Bombay, 1943.

3. Majumdar, D N : *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958

4 Majumdar and Madan, . *Social Anthropology*, Bombay, 1956.

२१

भारतीय जनजातियों की समस्याएँ और उनका निराकरण

(INDIAN TRIBAL PROBLEMS AND THEIR REMEDIES)

विषय-सूची—इक्कीसवाँ अध्याय

१. भूमिका
२. जनजातीय समस्याओं के कारण
३ जनजातीय जीवन पर ईसाई मिशनरी-कार्यों का प्रभाव
४ जनजातीय समस्याओं की प्रकृति
५ आर्थिक समस्याएँ
६ सामाजिक समस्याएँ
७ सांस्कृतिक समस्याएँ
८ स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याएँ
९ शिक्षा-सम्बन्धी समस्याएँ
१०. जनजातीय कल्याण-कार्य

अध्याय २१

भारतीय जनजातियो की समस्याएँ और उनका निराकरण
(Indian Tribal Problems and Their Remedies)

अनेक गम्भीर समस्याओ से घिरी भारत की जनजातियो का जीवन आज एक बहुत ही सकटमय अवस्था मे से होकर गुजर रहा है। साथ ही, शताब्दियो से उपेक्षित इन समस्याओ के प्रति आन्तरिक ध्यान देने का समय भी आज आ गया है। प्राय दो करोड पच्चीस लाख जनजातियो को पीछे फेंककर राष्ट्रीय उन्नति का सपना देखना भी अनुचित होगा। राष्ट्र की उन्नति मे राष्ट्र के प्रत्येक भाग को, विशेपकर इतने बडे भाग को, सक्रिय बनाना आवश्यक है ताकि वे भी राष्ट्र के काम मे हाथ बँटा सके और अपनी देन से राष्ट्र को समृद्ध कर सकें। इस कारण आज इन समस्याओ के प्रति जागरूकता और उन्हे हल करने के लिये सचेत और सगठित प्रयत्न भी बढते जा रहे हैं। परन्तु इसके पहले कि हम इन समस्याओ और प्रयत्नो की विवेचना करें, यह जान लेना अत्यावश्यक होगा कि इन समस्याओ का जन्म कैसे हुआ ?

जनजातीय समस्याओ के कारण
(Causes of Tribal Problems)

(१) **सभ्य समाज से सम्पर्क** (Contact with civilized society)—जनजातीय समस्याओ का एक प्रमुख कारण जनजातियो का सभ्य समाजो के सम्पर्क मे आना है। इससे इनके जीवन पर एक ओर हिन्दू सभ्यता और दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पडा है। ये दोनो सभ्यताएँ ही जनजातियो के लिये विदेशी हैं, जिनके साथ पहले इनका कोई भी परिचय न था। स्वभावत इन नयी सभ्यताओ के साथ सफल अनुकूलन की अनेक समस्याओ ने आप-से-आप जन्म लिया, जिनकी विस्तृत विवेचना हम आगे करेंगे।

(२) **बाहरी समूहो द्वारा शोषण** (Exploitation by outside groups)—अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये अनेक बाहरी समूह जनजातीय समाजो मे प्रवेश कर गये हैं, जैसे व्यापारी, महाजन, ठेकेदार आदि जो कि जनजातीय लोगो के पिछडेपन और अशिक्षा आदि से लाभ उठाकर उनका निरन्तर शोषण कर रहे है। इस कारण उनकी अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ आज पैदा हो गयी हैं।

(३) **नवीन शासन-व्यवस्था** (New administrative set up)—ब्रिटिश शासनकाल से ही अनेक जनजातीय क्षेत्रो मे नयी शासन-पद्धतियो को अपनाया जाने लगा जिसके कारण अनेक प्रशासक, जगल के अफसर, कचहरी से सम्बन्धित अधिकारी, सुधार अधिकारी आदि ने जनजातीय क्षेत्रो मे प्रवेश किया। चूंकि इनमे से अधिकतर अधिकारी और कर्मचारी जनजातियो की सस्कृति से बिल्कुल ही अपरिचित थे, इस कारण उन्होने अपने असहानुभूतिपूर्ण व्यवहार और नासमझी से जनजातियो की समस्या को सुधारने के स्थान पर उन्हे और भी बिगाड दिया और उनमे असन्तोष के वातावरण की सृष्टि की।

(४) **जनजातीय क्षेत्रों मे खान आदि का होना** (Existence of mines etc in tribal areas)—चूंकि बहुत से जनजातीय क्षेत्रो मे अनेक प्रकार की खानें, चाय के बगीचे आदि हैं, इस कारण उन क्षेत्रो मे या उसके आसपास मिल, खान-सम्बन्धी कार्य और अन्य उद्योग-धन्धे पनपने लगे। इन मिल, खान और चाय के बगीचो के प्रबन्धको ने जनजातियो की अज्ञानता का पूरा-पूरा फायदा उठाया। इनके द्वारा जनजातीय लोगो का शोषण उनकी आर्थिक समस्याओ का एक प्रधान कारण है।

(५) **ईसाई मिशनरी** (Christian Missionaries)—ईसाई मिशनरियो द्वारा आयोजित सेवा-कार्यों ने जनजातियो की सेवा कितनी की, यह सन्देहजनक है, पर विभिन्न प्रकार की समस्याओ को अवश्य ही जन्म दिया। इसका प्रमुख कारण यह था कि इन ईसाई मिशनरियो का प्रमुख उद्देश्य सेवा-कार्यों को आयोजित करना न था, बल्कि जन-जातियो की अज्ञानता और दलित अवस्था से लाभ उठाकर अपने ईसाई धर्म को फैलाना था। इसका स्वाभाविक परिणाम अनेक समस्याओ का उत्पन्न होना था।

(६) **दुर्गम निवास-स्थान** (Unapproachable habitations)—भारत की अधिकतर जनजातियाँ देश के घने जगली और पहाडी हिस्सो मे रहती हैं। इस कारण इन प्रदेशो मे प्रौद्योगिकी (Technology), यातायात और सचार के साधन (Means of transport and communication) आज भी आदिम दशा मे हैं। इसके फल-स्वरूप जनजातियो का जीवन एक ओर प्राकृतिक परिस्थितियो पर अत्यधिक निर्भर होने के कारण जीवन-धारण से सम्बन्धित अनेक समस्याओ को स्वभावत ही जन्म मिलता है। और दूसरी ओर पर्याप्त यातायात के साधनो के अभाव से इन समस्याओ का निरा-करण स्वय ही एक सयस्या बन जाती है।

सांस्कृतिक सम्पर्क को समस्याएं
(Problems of culture contact)

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है भारत मे जनजातीय समस्याओ का एक महत्त्व-पूर्ण कारक उनका बाहरी सास्कृतिक समूहो के सम्पर्क मे आना है। इन बाहरी समूहो मे एक ओर हिन्दू लोग हैं और दूसरी ओर अग्रेजी मिशनरी। इसमे सन्देह है कि अग्रेजो के भारत मे आने के पहले भी अनेक जनजातियाँ हिन्दुओ के सम्पर्क मे आयी, पर अग्रेजी राज्य भारत मे स्थापित हो जाने के बाद यह सम्पर्क तेजी से बढा और ईसाई पादरी लोग ही नही वरन् अन्य अनेक प्रकार के व्यक्तियो के सम्पर्क मे आने का अवसर भारतीय

जनजातियों को मिला। इन बाहरी समूहों में सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित हो जाने के फलस्वरूप जनजातीय जीवन में अनेक समस्याओं का उदय हुआ है। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं के सम्पर्क में आने से जनजातियों में भाषा-सम्बन्धी व बाल विवाह की समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। हिन्दू तथा ईसाई लोगों के सम्पर्क के कारण ही धार्मिक समस्याएं जनजातीय जीवन में इतनी गम्भीर हो गई हैं। इसी प्रकार बाहरी समूह ने विशेषकर महाजन तथा व्यापारी आदि ने जनजातियों की अशिक्षा व अज्ञानता का फायदा उठाकर उनका खूब आर्थिक शोषण किया है। खान-पान, वस्त्र, शिक्षा, वेश्यावृत्ति आदि की समस्याएं भी सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण उत्पन्न हुई समस्याएं हैं। बाहरी सांस्कृतिक समूहों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप भारत के जनजातीय जीवन में जिन समस्याओं का उद्भव हुआ है वे इस प्रकार हैं—(१) भूमि व्यवस्था सम्बन्धी समस्याएं, (२) जंगल से सम्बन्धित समस्याएं, (३) आर्थिक शोषण, और ऋणग्रस्तता की समस्या, (४) औद्योगिक श्रमिकों की समस्याएं, (५) बाल-विवाह, (६) वेश्यावृत्ति, गुप्त रोग आदि, (७) अन्तर्जन जातीय सांस्कृतिक भिन्नता की समस्या, (८) भाषा सम्बन्धी समस्या, (९) जनजातीय ललित-कलाओं का ह्रास, (१०) धार्मिक समस्याएं, (११) खान-पान की समस्या, (१२) वस्त्र की समस्या तथा (१३) शिक्षा से सम्बन्धित समस्याएं। इन समस्याओं की विवेचना हम अगले पृष्ठों में **'जनजातियों की समस्याएँ और उनके पुनर्वास के लिये सुझाव'** शीर्षक के अन्तर्गत क्रम से करेंगे, पर उससे भी पहले हम केवल सांस्कृतिक सम्पर्क की उन समस्याओं या प्रभावों की विवेचना करेंगे जो कि ईसाई पादरियों के सम्पर्क में आने से भारत के जनजातीय जीवन में उत्पन्न हो गये।

जनजातीय जीवन पर ईसाई मिशनरी-कार्यों का प्रभाव
(Effects of Missionary Activities on Tribal Life)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, भारत की जनजातियों के जीवन पर ईसाई मिशनरियों के कार्यों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इन प्रभावों को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है —

(१) सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Cultural life)—ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आने से जनजातियाँ अपनी संस्कृति को धीरे-धीरे छोड़कर पाश्चात्य संस्कृति अपनाने लगी। ईसाई मिशनरियों ने अपने कार्य की सुविधा के लिये जो सड़कें आदि बनवायी, उससे बाहरी संस्कृति से सम्पर्क की प्रतिक्रिया और भी बढ़ गयी। इसका फल यह हुआ कि जनजातियों की ललित-कला आदि का पतन भी धीरे-धीरे होने लगा। मिशनरियों ने अपने स्कूलों के द्वारा जनजातियों में शिक्षा-प्रसार का सराहनीय कार्य किया और उन्हें रोमन लिपि के द्वारा वर्तमान ज्ञान-विज्ञान को सिखाने का प्रयत्न किया।

(२) सामाजिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Social life)—ईसाई मिशनरियों के कार्यों के कारण जनजातीय जीवन में अनेक सामाजिक परिवर्तन और समस्याएँ उत्पन्न हुईं। युवागृह की अवनति, मादक वस्तुओं का सेवन, पोशाक से सम्बन्धित समस्याएँ और साथ ही व्यभिचार भी इन्हीं मिशनरियों के सम्पर्क में आने से बढ़ा। जिन

लोगो ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया, वे लोग कम से कम गिरिजाघरो मे अग्रेजी पोशाक पहनकर जाने लगे और घर मे भी अग्रेजो की भाँति रहने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार जनजातीय जीवन मे विलासिता का श्रीगणेश इन्ही ईसाई मिशनरियो के कारण हुआ। आज इसी कारण उनके समाज मे कान्तिवर्धक औषधियाँ, पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक, तेल इत्यादि की माँग दिन-प्रतिदिन बढती ही चली जा रही है।

ईसाई मिशनरियो ने जनजातियो के प्रदेशो मे अनेक चिकित्सालय स्थापित किये हैं। परन्तु इस पवित्र कार्य का भी उद्देश्य जनजातियो को ईसाई बनाना ही था। मध्य प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट मे ऐसे अनेक उदाहरण दिये गये हैं जिनमे रोगियो पर ईसाई बनने के लिये दबाव डाले गये। ईसाई मिशनरियो ने अनाथ और असहाय बच्चो का पालन-पोषण करने के लिए अनेक अनाथालय खोले और साथ ही बाढ, अकाल, भूकम्प आदि विपत्तियो के समय मे उनकी मदद भी की।

(३) **धार्मिक जीवन पर प्रभाव** (Effects on Religious life)—समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से ईसाई प्रचारको के कार्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह है कि जनजातियो मे ईसाई धर्म का प्रचार हुआ जिसके कारण उनके सास्कृतिक और सामाजिक जीवन का विघटन प्रारम्भ हुआ। इसका कारण यह है कि धर्म-परिवर्तन केवल धर्म के बदलने तक ही सीमित नही है। इसका प्रभाव धर्म बदलने वाले के आचार, व्यवहार, विचार, प्रथा, परम्परा व रहन-सहन पर भी पडता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह व्यक्ति अपने सास्कृतिक समूह से विच्छिन्न हो जाता है। जो गोड या भील ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेते हैं वे स्वभावत ही अपने को अपनी जनजाति के अन्य व्यक्तियो से पृथक् व भिन्न समझने लगते हैं। एक ही जनजाति मे नही अपितु एक ही परिवार मे ईसाई और गैर-ईसाई मे भेद होने लगा जिससे कि सामाजिक विघटन ही नही पारिवारिक विघटन भी प्रारम्भ हो गया।

(४) **आर्थिक जीवन पर प्रभाव** (Effects on Economic life)—ईसाई मिशनरी सबसे पहले जनजातीय समाज को मुद्रारहित आर्थिक व्यवस्था से मुद्रासहित आर्थिक व्यवस्था मे ले आये, अर्थात् उनमे मुद्रा का प्रचलन किया, जिसका उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन पर उल्लेखनीय प्रभाव पडा है। इसी मुद्रा-व्यवस्था की आड मे जनजातीय समाजो मे शोषक वर्ग, छोटे-छोटे व्यापारिक तथा मादक वस्तुओ के विक्रेता, उधार देने वाले महाजनो आदि ने प्रवेश किया और जनजातीय लोगो की दयनीय आर्थिक अवस्था को और भी दयनीय बना दिया। मुद्रा-प्रसार के कारण ही जनजातियो मे सामुदायिक और सहयोग की भावना का ह्रास हुआ, अनेक व्यक्ति नौकरी की खोज मे अपने गाँव को छोडकर चले गये जिससे पारिवारिक सम्बन्धो मे अस्थिरता आ गयी और रुपये का ही लालच दिखाकर बाहर के लोगो ने जनजातियो की स्त्रियो को अनैतिक कार्यों के लिये बाध्य किया। अग्रेजी शिक्षा के प्रचार ने जनजातीय लोगो मे भी शिक्षित बेकारो की सृष्टि की।

अत. स्पष्ट है कि ईसाई मिशनरियो के कार्य भारत के जनजातीय क्षेत्रो मे केवल स्कूल, चिकित्सालय, अनाथालय आदि खोलने और उन्हें चलाने तक ही सीमित न रहे

वल्कि उनके कार्यो ने जनजातियो के जीवन मे सम्बन्धित लगभग सभी पहलुओ को प्रभावित किया।

जनजातीय समस्याओ की प्रकृति
(Nature of Tribal Problems)

भारत की जनजातियो की समस्याएँ सीधी और सरल नही है, ये समस्याएँ वास्तव मे बहुत ही विस्तृत और जटिल है, और उनके आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, ललित-कला आदि सभी से सम्बन्धित हैं। बाह्य संस्कृति के प्रभाव से वे अपनी संस्कृति से दूर होते जा रहे है। आर्थिक क्षेत्र मे अनेक प्रकार के शोषण का शिकार बन रहे हैं, ऋणग्रस्त होकर महाजनो के चगुल मे फँसते जा रहे है, पर्याप्त व पौष्टिक भोजन न पाने से अनेक प्रकार के रोगो का शिकार होते और अपने स्वास्थ्य को नष्ट करते जा रहे है, अपने आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी जीवन को खोकर नौकरी की खोज मे इधर-उधर या तो मारे-मारे भटक रहे हैं या अपने श्रम को कौडी के मूल्य पर बेच रहे है और उन औद्योगिक केन्द्रो के प्रलोभनो, शराब, वेश्यावृत्ति आदि का शिकार बन रहे हैं या अपने प्रदेश मे रहकर चरम निर्धनता के कारण रुपये के लिये अपने ही समाज मे यौन-व्यभिचारो को आमन्त्रित कर रहे है।

इन समस्त समस्याओ को, सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) के अनुसार, दो मोटे भागो मे बाँटा जा सकता है—(अ) प्रथम तो वे समस्याएँ हैं जो भारत की जनजातियो और अन्य सभी ग्रामीण समुदायो मे एक-सी हैं। (ब) दूसरी वे समस्याएँ हैं जो केवल जनजातीय समाज मे ही पायी जाती हैं।[1]

जनजातियो की समस्याएँ और उनके पुनर्वास के लिये सुझाव
(Tribal Problems and Suggestions for their Rehabilitation)

(१) आर्थिक समस्याएँ
(Economic Problems)

आज भारत की जनजातियो के जीवन मे सबसे प्रमुख समस्या आर्थिक है अर्थात् पेट भर खाने को अनाज, तन ढकने के लिये कपडे और रहने के लिये मकान की समस्या है। इन्हे हम निम्नलिखित उपभागो मे बाँट सकते हैं —

(अ) **स्थानान्तरित खेती-सम्बन्धी समस्या** (Problem relating to shifting cultivation)—जैसा कि पिछले अध्याय मे बताया जा चुका है, जनजातीय व्यक्तियो मे प्राय २६ लाख व्यक्ति खेती पर निर्भर हैं। परन्तु उनमे से प्रायः सभी लोग आदिम ढग से खेती करते हैं, जिसे स्थानान्तरित खेती कहते हैं। इस प्रकार की खेती से न केवल जमीन की बर्बादी होती है बल्कि उपज भी बहुत कम और घटिया किस्म की होती है। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि या तो उन्हे भूखो मरना पडता है या खेती

1 "These are of two types there are the problems which the tribal folk share with the entire rural population of the country and there are also problems which are unique to the tribal folk" Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1957, p 269

को छोडना पडता है। ऐसी स्थानान्तरित खेती सदियो से होती आ रही है, पर आज इस समस्या ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया है। वही जनजातीय गाँव जो एक समय आत्मनिर्भर था, आज अपने सदस्यो को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने मे असफल हो रहा है।

(ब) **भूमि-व्यवस्था-सम्बन्धी समस्याएँ** (Problems relating to new land tenure system)—पहले भूमि पर जनजातियो का एकाधिकार हुआ करता था और वे उसका प्रयोग अपनी इच्छानुसार करती थी। अब नये कानूनो ने उनकी पुरानी स्वतन्त्रता को छीन लिया है। अब वे मनमाने तौर पर जगल को काटकर स्थानान्तरित खेती नही कर सकती। साथ ही, नयी-भूमि-व्यवस्था द्वारा दी गयी भूमि पर बसकर जनजातियाँ खेती नही करती क्योकि वे स्थानान्तरित खेती को अपने धर्म का अग समझती हैं और जमीन को जोतकर खेती करने से डरती हैं। जो लोग ऐसा करते भी हैं उनके हाथ से भी जमीन धीरे-धीरे निकलती जा रही है। चालाक महाजन उनको कुछ उधार देकर उसीके बहाने अन्त मे उनसे उनकी जमीन तक छीन लेते है और फिर उन भूखे मरते हुए लोगो को उसी जमीन पर नौकर रखकर उनसे ही खेती करवाते है और अपनी जेब भरते है।

(स) **जगल से सम्बन्धित समस्याएँ** (Problems relating to forests)—पहले जनजातियो का उनके जगलो पर पूर्ण अधिकार होता था और वे वन सम्पत्तियो का उपभोग बिना किसी प्रतिबन्ध के करती थी। जगली वस्तुओ, पशु, वृक्ष आदि सभी के वे पूरे मालिक थे। पर अब परिस्थिति बिल्कुल विपरीत है। अब इन समस्त चीजो पर सरकार का नियन्त्रण है और ठेकेदारो के द्वारा लकडी या कोयला निकालने आदि के काम हो रहे हैं। ये ठेकेदार जनजातियो की अज्ञानता और सरलता से लाभ उठाकर उनका खूब शोषण करते हैं। रात-दिन कठिन परिश्रम करने पर भी उन्हे इतनी मजदूरी नही मिल पाती है कि वे अपना पेट तक भर सके।

(द) **अर्थ-व्यवस्था-सम्बन्धी समस्याएँ** (Problems relating to economies)—वर्तमान समाज मे जनजातीय अर्थ-व्यवस्था मे भी कुछ परिवर्तन हुए है। उनमे प्रमुख परिवर्तन यह है कि वे मुद्रारहित से मुद्रासहित अर्थ-व्यवस्था मे आ रहे हैं। इससे लाभ उठाने के लिए अनेक व्यापारी वर्ग, मादक वस्तुओ के विक्रेता आदि भोली-भाली जनजातियो के क्षेत्रो मे आकर बस गये हैं और उन्हे खूब ठगते हैं।

(य) **ऋणग्रस्तता की समस्या** (Problem of indebtedness)—जनजातियो की अज्ञानता और निर्धनता से लाभ उठाने के लिये न केवल व्यापारी बल्कि अनेक कर्ज देनेवाले महाजन और साहूकार भी उनके प्रदेशो मे प्रवेश कर गये हैं। भोली-भाली जनजातियो को किसी न किसी उपाय से ऋण के चक्कर मे फाँसना और अन्त मे उनकी जमीन तक छीन लेना यह इनका रोज का धन्धा है। अनेक पीढियो तक जनजातियो के लोग कर्ज के भार से मुक्त नही हो पाते है और अनेक बार उन्हे जिन्दगी भर महाजन की जमीन पर बेगार करनी पडती है। ऋणग्रस्तता से सम्बन्धित इन महाजनो या साहूकारो की समस्या जनजातीय आर्थिक जीवन की एक प्रमुख समस्या है।

(इ) **औद्योगिक श्रमिको की समस्याएँ** (Problems of industrial labour-

ers)—कारखानो, चाय के बगीचो और खानो मे काम करने वाले जनजातीय श्रमिको की अवस्था और भी दयनीय है। उनको अपने परिश्रम का उचित वेतन नही दिया जाता, रहने के लिये मकान आदि की कोई व्यवस्था नही है, और काम करने की अवस्थाएँ भी शोचनीय हैं। इस कारण अवसर मिलते ही वे फिर गाँव को भाग आते हैं। ठेकेदार आदि के द्वारा अप्रत्यक्ष भर्ती और काम लेने की प्रथा उनके शोषण का रास्ता और भी विस्तृत कर देती है। वास्तव मे असगठित और अस्थिर जनजातीय श्रमिक आज अपने उचित अधिकारो को भी नही जानते और इसी कारण वे पशुओ की भाँति काम करते रहते हैं और पशु ही समझे जाते हैं, पशुओ के नमूने की तरह ही दिखाये जाते है और उसी तरह नियन्त्रित भी होते है।[2]

सुझाव (Suggestions)—जनजातियो की आर्थिक दशा सुधारने के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—(क) प्रत्येक परिवार को खेती के लिये पर्याप्त भूमि देने की व्यवस्था करनी होगी। (ख) परन्तु केवल भूमि ही नही बल्कि आधुनिक तरीको से खेती करने के सम्बन्ध मे भी उन्हे समुचित शिक्षा देने की व्यवस्था करनी होगी, ताकि वे खेती मे सम्बन्धित अन्धविश्वासो से छुटकारा पा सकें। (ग) 'झूम' या स्थानान्तरित खेती का अन्त होना चाहिए। ऐसी खेती मे जो राष्ट्रीय हानि होती है उसे रोके बिना जनजातियो की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति नही की जा सकती। इस सम्बन्ध मे आसाम, उडीसा और मध्य प्रदेश की जनजातियो के प्रति विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। (घ) सरकार की ओर से बीज, बैल और खेती के अन्य उपकरण खरीदने के लिये जनजातियो को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। (ङ) वन-विभाग के द्वारा जगल की सम्पत्ति के सर्वोत्तम प्रयोग के विषय मे जनजातियों को उचित शिक्षा देनी चाहिये। (च) कानून द्वारा बेगार, दासता, कम वेतन आदि का अन्त होना चाहिये (छ) उन औद्योगिक केन्द्रो मे जहाँ पर कि जनजाति के लोग ज्यादा काम करते हैं, श्रमिक कल्याण-कार्य विस्तृत रूप से होने चाहिएँ। (ज) उनके आर्थिक उत्थान की किसी भी योजना मे उनके घरेलू और छोटे उद्योग-धन्धे के विकास को प्राथमिकता देनी होगी। (झ) दस्तकारी या गृह-उद्योगो के सम्बन्ध मे जनजातियो को उचित शिक्षा देने की व्यवस्था होनी चाहिये, इन उद्योगो के प्रारम्भ करने के लिये उचित आर्थिक सहायता भी देनी होगी। साथ ही, विभिन्न उद्योगो मे लगे हुए श्रमिको को औद्योगिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था करनी होगी। (ञ) औद्योगिक श्रमिको के लिये अच्छे मकान और काम करने की अवस्थाएँ, काम के उचित घण्टे आदि के प्रति भी ध्यान देना आवश्यक है। (ट) सहकारी समितियो का विकास अधिक से अधिक करना होगा। (ठ) जनजातियो की लडकियो को भी उचित शिक्षा देकर नर्स, स्कूल की अध्यापिका आदि पेशो मे अधिकाधिक नियुक्त करने की व्यवस्था करनी होगी।

---

2 'They work like animals, and are treated as such, exhibited like specimens and controlled by inertia and circumstantial factors" D N Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p 395

(२) सामाजिक समस्याएँ
(Social Problems)

सभ्य समाज के सम्पर्क मे आकर जनजातियो ने अपने समाज के लिये अनेक सामाजिक समस्याओ को भी उत्पन्न कर लिया है, उनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं —

(अ) बाल-विवाह (Child Marriage)—जनजातियो मे विवाह अधिक आयु मे ही होता था पर हिन्दुओ के सम्पर्क मे आने के कारण उनमे भी बाल-विवाह का प्रसार हो रहा है, जो कि स्वय ही एक सामाजिक समस्या है जो हिन्दू समाज को सदियो से पीडित कर रही है।

(ब) कन्या-मूल्य (Bride Price)—मुद्रा की महिमा आज जनजातियो के जीवन मे भी बढ रही है जिसके कारण पहले जो कन्या-मूल्य वस्तुओं के रूप मे दिया जाता था अब सर्वत्र रुपये के रूप मे माँगा जाता है और वह भी दिन-प्रतिदिन इतना बढता जा रहा है कि साधारण व्यक्तियो के लिये विवाह करना कठिन हो गया है। कन्या-हरण की समस्या इस कारण बढ रही है।

(स) युवागृहो का पतन (Decline of dormitories)—सभ्य समाज की सस्कृतियो ने जनजातियो के मन मे युवागृह के प्रति घृणा के भाव को भर दिया है। ये युवागृह युवक और युवतियो के केवल आमोद-प्रमोद का केन्द्र ही नही बल्कि उनके सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक जीवन तथा कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे उन्हे शिक्षा देने की महत्त्वपूर्ण सस्था भी थी, इस कारण इनकी अवनति जनजातियो के जीवन मे बहुत ही बुरे और हानिकारक परिणामो को लायी है।

(द) वेश्यावृत्ति, गुप्त रोग आदि (Prostitution, venereal diseases etc)—जनजातियो की निर्धनता से लाभ उठाकर रुपये का लोभ दिखाकर विदेशी व्यापारी, ठेकेदार, एजेण्ट आदि उनकी स्त्रियो के साथ अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। जिसके फलस्वरूप आगे चलकर वेश्यावृत्ति, गुप्त रोग आदि सामाजिक समस्याएँ प्रगट होती हैं। जो जनजातीय श्रमिक औद्योगिक केन्द्र मे काम करने जाते हैं, वे भी वहाँ के अनेक प्रलोभन जैसे वेश्यावृत्ति आदि मे फँस जाते हैं और जब वे अपने गाँव लौटते हैं तो उन रोगो को अपनी स्त्रियो मे फैला देते हैं। साथ ही, जनजातियो मे पूर्व-वैवाहिक और अतिरिक्त वैवाहिक (pre and extra marital) यौन-सम्बन्ध एक और सामाजिक समस्या है जिससे कि विवाह-विच्छेद बढता है।

सुझाव (Suggestions)—(क) बाल-विवाह की प्रथा को कानून के द्वारा उतना नही रोका जा सकता जितना कि इसके प्रति जनमत को तैयार करके रोका जा सकता है। (ख) अत्यधिक कन्या-मूल्य की प्रथा का भी धीरे-धीरे जनमत के द्वारा निराकरण करने का प्रयत्न करना होगा। (ग) युवागृह की सस्था का पुनः उत्थान करने की आवश्यकता है और उसीके द्वारा लडके-लडकियो की शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये। (घ) जनजातियो की आर्थिक स्थिति सुधार देने पर वेश्यावृत्ति आदि स्वय ही बहुत-कुछ कम होने की आशा है। साथ ही, अगर औद्योगिक केन्द्रो मे रहने के लिये उचित मकान आदि की व्यवस्था कर दी जाय तो वहाँ जनजातीय श्रमिक अपनी स्त्रियो तथा

बच्चों के साथ रहने लगेंगे और वहाँ की वेश्यावृत्ति के प्रति आप से आप ही उनके दिल मे घृणा का भाव उत्पन्न होगा।

(३) सास्कृतिक समस्याएँ (Cultural Problems)

जनजातियो के जीवन मे बाहरी सस्कृतियो ने अनेक गम्भीर सास्कृतिक समस्याओ को भी उत्पन्न कर दिया है जिनके कारण उनकी सस्कृति आज एक सकटमय परिस्थिति मे से होकर गुजर रही है। ये समस्याएँ निम्नलिखित है —

(अ) अन्तर्जनजातीय सास्कृतिक भिन्नता की समस्या (Problem of intra-tribal cultural differences)—एक ओर ईसाई मिशनरियो और दूसरी ओर हिन्दुओ से सम्पर्क के कारण एक जनजाति के लोगो मे आपस मे ही भिन्नता उत्पन्न हो गयी है। एक ओर ईसाई मिशनरियो ने बलपूर्वक या लालच दिखाकर या अन्य प्रकार से आकर्षित करके उनको ईसाई बनाया और दूसरी ओर कुछ जनजाति के लोग हिन्दुओ की जाति-प्रथा के अन्तर्गत अपने को ले आने मे सफल हुए परन्तु ऐसा सब ने नही किया, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि एक जनजाति के लोगो मे आपस मे ही सास्कृतिक विभेद, तनाव (tension) और सामाजिक दूरी या विरोध उत्पन्न हो गया। इस प्रकार दूसरे की सस्कृति ग्रहण करने वाले अपने सास्कृतिक या जनजातीय समूह से अलग होते गये और अपनी सस्कृति को नीचा समझने लगे। साथ ही, उन सस्कृतियो की बराबरी भी नही कर पाये जिनकी नकल उन्होने की थी। इससे सामाजिक और व्यक्तिगत दोनो प्रकार के ही विघटन उत्पन्न हुए।

(ब) भाषा-सम्बन्धी समस्या (Problem of language)—बाहरी सस्कृति के सम्पर्क मे आने से दूसरी प्रमुख समस्या 'दो भाषावाद' (bilingualism) का उत्पन्न होना था। जनजाति के लोग अपनी भाषा के साथ बाहरी भाषा भी बोलने लगे हैं और कभी-कभी तो वे अपनी भाषा की ओर से इतना अधिक उदासीन हो जाते हैं कि कुछ समय के पश्चात् अपनी भाषा को ही भूल जाते हैं। इससे एक जनजाति के लोगो मे आपस के सास्कृतिक आदान प्रदान मे अत्यधिक बाधा उत्पन्न होती है, इससे न केवल सामुदायिक भावना का ह्रास होता है बल्कि सास्कृतिक मूल्यो और आदर्शों का भी पतन होने लगता है। ऐसी परिस्थितियो मे सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है।

(स) जनजातीय ललित-कलाओ का ह्रास (Decline of tribal fine arts)—बाहरी सस्कृतियो का तीसरा प्रभाव जनजातीय ललित-कलाओ का ह्रास है। उनकी ललित-कलाएँ, सगीत, नृत्य, लकडी पर नक्काशी आदि का काम आज दिन-प्रतिदिन पतन की ओर जा रहा है। नागा लोगो मे युवागृह के लकडी के खम्भो पर बडा सुन्दर काम किया जाता था। युवागृह के नष्ट होने पर यह कला भी आप से आप नष्ट होती जा रही है। मुडिया लोगो मे केवल बच्चो के ही पचास से अधिक खेल प्रचलित हैं। इनमे शरीर को सवारने, घर को सजाने की ललित-कलाओ का पर्याप्त स्थान है। इसी

प्रकार कही-कही जनजातियो की नृत्यकला भी उच्च कोटि की है । पर बाहरी सस्कृतियो के सम्पर्क मे आने से इन ललित-कलाओ के प्रति जनजातियो के मन मे अनादर और उदासीनता की भावना पनपती जा रही है ।

(द) **धार्मिक समस्याएँ** (Religious problems)—धार्मिक क्षेत्र मे जनजातियो पर दो धर्म, हिन्दू और ईसाई धर्म का प्रभाव स्पष्ट है । एक ओर हिन्दू धर्म से प्रभावित जनजातियाँ जैसे भील और गोड हैं, और दूसरी ओर ईसाई धर्म से प्रभावित बिहार और आसाम की जनजातियाँ हैं । जनजाति के लोग धर्म का अपनी अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओ को सुलझाने के साधन के रूप मे प्रयोग करते हैं । नये धर्मों मे नये विश्वास और सस्कार तो उन्हे मिल गये, लेकिन उनकी समस्याओ को हल करने के नये साधन उन्हे नही मिल पाये । इससे जनजातियो मे असन्तोष की भावना उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है । इन धर्म-परिवर्तनो का एक दूसरा बुरा प्रभाव जनजातियो की एकता पर पडा है । हिन्दू-अहिन्दू, ईसाई-अईसाई इस प्रकार का भेद-भाव जनजातीय समाज मे धर्म-परिवर्तन का ही परिणाम है । राजस्थान के भीलो मे हिन्दू धर्म के प्रभाव से एक धार्मिक आन्दोलन 'भगत आन्दोलन' चला जिसने भीलो को भगत और अभगत दो श्रेणियो मे बाँट दिया । ऐसा ही प्रभाव ईसाई धर्म का भी है। एक ही समूह मे नही बल्कि एक ही परिवार मे धार्मिक भेद-भाव दिखने लगे । इससे एक ओर सामुदायिक एकता और सगठन टूटने लगा और दूसरी ओर पारिवारिक तनाव, भेद-भाव, लडाई-झगडे या विघटन भी बढता ही गया ।

सुझाव (Suggestions)—(क) जनजातीय-सम्बन्धी सभी आयोजन और शिक्षा उन्ही की भाषा और सास्कृतिक पृष्ठ-भूमि के अनुसार होनी चाहिये, ताकि अपनी सस्कृति के प्रति अनास्था के भाव उनके मन से मिट जाय । इससे भाषा-सम्बन्धी समस्या का समाधान भी सरल होगा । (ख) श्री एलविन (Elwin) ने जनजातीय ललित-कलाओ की रक्षा के लिये यह सुझाव दिया है कि पश्चिमी अफ्रीका के अकीमोटा कॉलेज (Achimota College) की भाँति भारतवर्ष मे भी जनजातीय ललित-कलाओ की रक्षा के लिये कॉलेज होना चाहिये । (ग) धार्मिक समस्याओ का सबसे आसान हल यह होगा कि शिक्षा के द्वारा उनकी धार्मिक कट्टरता को एक वैज्ञानिक स्तर पर ले आया जाय ।

(४) स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याएँ (Problems relating to Health)

कुछ तो परिस्थिति-सम्बन्धी कारणो से और कुछ बाहरी सस्कृतियो के सम्पर्क मे आने से जनजातियो के जीवन मे स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं, जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(अ) **खान-पान** (Food and Drink)—जनजातियाँ ताड, महुआ अथवा चावल के बने मादक द्रवों का उपभोग रोज और उत्सव, त्योहार आदि मे विशेषकर करती हैं । परन्तु इनमे विटामिन 'बी' और 'सी' अधिक मात्रा मे होने के कारण ऐसे मादक द्रवो मे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता था । पर धीरे-धीरे सरकार द्वारा

इनपर प्रतिबन्ध लग जाने से देशी और विलायती शराबो का प्रचलन जनजातीय समाजो मे हो गया। चूंकि यह शराब अधिक मादक और हानिप्रद होती है, इस कारण इसके उपभोग का बहुत बुरा प्रभाव जनजातियो के स्वास्थ्य पर पड रहा है। उसी प्रकार अपनी निर्धनता के कारण अधिकतर जनजातियो को सतुलित भोजन प्राप्त नही हो पाता है जिससे उनका स्वास्थ्य-स्तर गिरता है और वे अनेक प्रकार के रोगो का शिकार बनती है।

(ब) वस्त्र (Clothes)—दूसरी समस्या वस्त्र से सम्बन्धित है। सभ्य समाज के सम्पर्क मे आने के कारण अब जनजातियाँ वस्त्रहीन न रहकर वस्त्र धारण करती है, परन्तु आर्थिक दशा अत्यधिक खराब होने के कारण एक समय मे एक से ज्यादा कपडा उनके पास नही होता, जिससे गन्दगी और चर्म-रोग फैलते हैं। बरसात के दिनो मे ये कपडे बदन पर ही भीगते है और बदन पर ही सूखते है जिससे निमोनिया आदि रोग होते हैं। गन्दे कपडो मे जुएँ आदि पड जाती हैं और 'टाइफस' नामक सक्रामक रोग फैल जाता है।

(स) अधिक रोग और चिकित्सा का अभाव (More diseases and absence of treatment measures)—पौष्टिक भोजन की कमी और अन्य वातावरण-सम्बन्धी कारणो से जनजातियो के लोग हैजा, चेचक तपेदिक आदि अनेक प्रकार के भयकर रोगो के शिकार बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त चाय के बगीचे और खानो मे काम करने वाली स्त्रियो और पुरुषो मे व्यभिचार बढने के साथ-साथ गुप्त रोग भी तेजी से फैल रहे हैं। साथ ही, इन रोगो की चिकित्सा का नितान्त अभाव होने के कारण जनजातीय क्षेत्रो मे इन रोगो की समस्या और भी गम्भीर है।

गरीबी, बीमारियो के इलाज के सम्बन्ध मे पर्याप्त ज्ञान न होना, डाक्टरो मे विश्वास न होना, यातायात के साधन के अभाव से दुर्गम प्रदेशो मे डाक्टर का न पहुँच सकना, सफाई मे न रहना, पौष्टिक अहार की कमी आदि इस स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याओ के प्रमुख कारण है।

सुझाव (Suggestions)—जन-स्वास्थ्य को सुधारने के लिये अनुसूचित जनजाति आयुक्त (Scheduled Tribes Commissioner) ने अपनी १९५६-५७ की रिपोर्ट मे कुछ सुझाव इस प्रकार दिए हैं—(क) दूध तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ अधिक मात्रा मे पायी जाने पर भी जनजातियाँ इनका उपभोग बहुत कम करती है, इस कारण उन्हे इन की उपयोगिता का ज्ञान करना चाहिये। (ख) जनजातियो के लिये चलते-फिरते हस्पतालो की व्यवस्था होनी चाहिये। (ग) जनजातीय लडको व लडकियो को कम्पाउण्डर व दाई की ट्रेनिंग दी जानी चाहिये। (घ) मामूली दवाओ के छोटे बक्से स्कूल, पचायत-घरो और युवागृहो मे रखने की व्यवस्था होनी चाहिये। (ङ) जनजातियाँ जडी-बूटी की दवाइयो पर अधिक विश्वास करती हैं, इस कारण जडी-बूटियो के सम्बन्ध मे नये वैज्ञानिक-विश्लेषण होने चाहिएँ। (च) कोई भी ऐसा कदम नही उठाना चाहिये जो इनके जीवन, आदतो और प्रथाओ को गहरा धक्का पहुँचाये।

प्रकार कही-कही जनजातियो की नृत्यकला भी उच्च कोटि की है। पर बाहरी सस्कृतियो के सम्पर्क मे आने से इन ललित-कलाओ के प्रति जनजातियो के मन मे अनादर और उदासीनता की भावना पनपती जा रही है।

(द) धार्मिक समस्याएँ (Religious problems)—धार्मिक क्षेत्र मे जनजातियो पर दो धर्म, हिन्दू और ईसाई धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। एक ओर हिन्दू धर्म से प्रभावित जनजातियाँ जैसे भील और गोड हैं, और दूसरी ओर ईसाई धर्म से प्रभावित बिहार और आसाम की जनजातियाँ हैं। जनजाति के लोग धर्म का अपनी अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओ को सुलझाने के साधन के रूप मे प्रयोग करते हैं। नये धर्मों मे नये विश्वास और सस्कार तो उन्हे मिल गये, लेकिन उनकी समस्याओ को हल करने के नये साधन उन्हे नही मिल पाये। इससे जनजातियो मे असन्तोष की भावना उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। इन धर्म-परिवर्तनो का एक दूसरा बुरा प्रभाव जनजातियो की एकता पर पडा है। हिन्दू-अहिन्दू, ईसाई-अईसाई इस प्रकार का भेद-भाव जनजातीय समाज मे धर्म-परिवर्तन का ही परिणाम है। राजस्थान के भीलो मे हिन्दू धर्म के प्रभाव से एक धार्मिक आन्दोलन 'भगत आन्दोलन' चला जिसने भीलो को भगत और अभगत दो श्रेणियो मे बाँट दिया। ऐसा ही प्रभाव ईसाई धर्म का भी है। एक ही समूह मे नही बल्कि एक ही परिवार मे धार्मिक भेद-भाव दिखने लगे। इससे एक ओर सामुदायिक एकता और सगठन टूटने लगा और दूसरी ओर पारिवारिक तनाव, भेद-भाव, लडाई-झगडे या विघटन भी बढता ही गया।

सुझाव (Suggestions)—(क) जनजातीय-सम्बन्धी सभी आयोजन और शिक्षा उन्ही की भाषा और सास्कृतिक पृष्ठ-भूमि के अनुसार होनी चाहिये, ताकि अपनी सस्कृति के प्रति अनास्था के भाव उनके मन से मिट जाय। इससे भाषा-सम्बन्धी समस्या का समाधान भी सरल होगा। (ख) श्री एलविन (Elwin) ने जनजातीय ललित-कलाओ की रक्षा के लिये यह सुझाव दिया है कि पश्चिमी अफ्रीका के अकीमोटा कॉलिज (Achimota College) की भाँति भारतवर्ष मे भी जनजातीय ललित-कलाओ की रक्षा के लिये कॉलेज होना चाहिये। (ग) धार्मिक समस्याओ का सबसे आसान हल यह होगा कि शिक्षा के द्वारा उनकी धार्मिक कट्टरता को एक वैज्ञानिक स्तर पर ले आया जाय।

(४) स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याएँ (Problems relating to Health)

कुछ तो परिस्थिति-सम्बन्धी कारणो से और कुछ बाहरी सस्कृतियो के सम्पर्क मे आने से जनजातियो के जीवन मे स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी है, जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं —

(अ) खान-पान (Food and Drink)—जनजातियाँ ताड, महुआ अथवा चावल के बने मादक द्रवो का उपभोग रोज और उत्सव, त्योहार आदि मे विशेषकर करती हैं। परन्तु इनमे विटामिन 'बी' और 'सी' अधिक मात्रा मे होने के कारण ऐसे मादक द्रवो मे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता था। पर धीरे-धीरे सरकार द्वारा

इनपर प्रतिबन्ध लग जाने मे देशी और विलायती शराबो का प्रचलन जनजातीय समाजो मे हो गया। चूँकि यह शराब अधिक मादक और हानिप्रद होती है, इस कारण इसके उपभोग का बहुत बुरा प्रभाव जनजातियो के स्वास्थ्य पर पड रहा है। उसी प्रकार अपनी निर्धनता के कारण अधिकतर जनजातियो को सतुलित भोजन प्राप्त नही हो पाता है जिससे उनका स्वास्थ्य-स्तर गिरता है और वे अनेक प्रकार के रोगो का शिकार बनती है।

(ब) वस्त्र (Clothes)—दूसरी समस्या वस्त्र से सम्बन्धित है। सभ्य समाज के सम्पर्क मे आने के कारण अब जनजातियाँ वस्त्रहीन न रहकर वस्त्र धारण करती है, परन्तु आर्थिक दशा अत्यधिक खराब होने के कारण एक समय मे एक से ज्यादा कपडा उनके पास नही होता, जिससे गन्दगी और चर्म-रोग फैलते हैं। बरसात के दिनो मे ये कपडे बदन पर ही भीगते है और बदन पर ही सूखते हैं जिससे निमोनिया आदि रोग होते है। गन्दे कपडो मे जुएं आदि पड जाती हैं और 'टाइफस' नामक सक्रामक रोग फैल जाता है।

(स) अधिक रोग और चिकित्सा का अभाव (More diseases and absence of treatment measures)—पौष्टिक भोजन की कमी और अन्य वातावरण-सम्बन्धी कारणो से जनजातियो के लोग हैजा, चेचक तपेदिक आदि अनेक प्रकार के भयकर रोगो के शिकार बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त चाय के बगीचे और खानो मे काम करने वाली स्त्रियो और पुरुषो मे व्यभिचार बढने के साथ-साथ गुप्त रोग भी तेजी से फैल रहे है। साथ ही, इन रोगो की चिकित्सा का नितान्त अभाव होने के कारण जनजातीय क्षेत्रो मे इन रोगो की समस्या और भी गम्भीर है।

गरीबी, बीमारियो के इलाज के सम्बन्ध मे पर्याप्त ज्ञान न होना, डाक्टरो मे विश्वास न होना, यातायात के साधन के अभाव से दुर्गम प्रदेशो मे डाक्टर का न पहुँच सकना, सफाई मे न रहना, पौष्टिक आहार की कमी आदि इस स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याओ के प्रमुख कारण है।

सुझाव (Suggestions)—जन-स्वास्थ्य को सुधारने के लिये अनुसूचित जनजाति आयुक्त (Scheduled Tribes Commissioner) ने अपनी १९५६-५७ की रिपोर्ट मे कुछ सुझाव इस प्रकार दिए हैं—(क) दूध तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ अधिक मात्रा मे पायी जाने पर भी जनजातियाँ इनका उपभोग बहुत कम करती हैं, इस कारण उन्हे इन की उपयोगिता का ज्ञान कराना चाहिये। (ख) जनजातियो के लिये चलते-फिरते हस्पतालो की व्यवस्था होनी चाहिये। (ग) जनजातीय लडको व लडकियो को कम्पाउण्डर व दाई की ट्रेनिंग दी जानी चाहिये। (घ) मामूली दवाओ के छोटे बक्से स्कूल, पचायत-घरो और युवागृहो मे रखने की व्यवस्था होनी चाहिये। (ड) जनजातियाँ जडी-बूटी की दवाइयो पर अधिक विश्वास करती है, इस कारण जडी-बूटियो के सम्बन्ध मे नये वैज्ञानिक-विश्लेषण होने चाहिएँ। (च) कोई भी ऐसा कदम नही उठाना चाहिये जो इनके जीवन, आदतो और प्रथाओ को गहरा धक्का पहुँचाये।

(५) शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ
(Problems relating to Education)

प्राय सभी जनजातियाँ आज भी अशिक्षा तथा अज्ञानता के अन्धकार मे पल रही हैं। केवल कुछ लोग ईसाई मिशनरियो के प्रयत्नो से कुछ अग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। उनकी अशिक्षा ही उनकी समस्त समस्याओ का मूलाधार है, इसी अशिक्षा के कारण अनेक प्रकार के अन्धविश्वासो और कुसस्कारो ने उन्हे घेर रक्खा है।

आधुनिक शिक्षा को जिस तरीके से इन जनजातियो के बीच फैलाया जा रहा है वह भी गलत है। इससे दो प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं—(अ) विद्यार्थी अपनी जनजातीय सस्कृति से दूर होते जा रहे हैं, और (ब) जनजातियो मे भी शिक्षित-बेकारी की समस्या उत्पन्न हो रही है।

सुझाव (Suggestions)—शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओ के हल के लिये डा० बिस्वास ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं[3]—(क) जनजातियो को शिक्षा उनकी अपनी भाषा के माध्यम से दी जानी चाहिये। प्रादेशिक भाषा को गौण (secondary) स्थान मिलना चाहिये। (ख) शिक्षा के साथ-साथ दस्तकारी या अन्य पेशा-सम्बन्धी ट्रेनिंग भी देने की व्यवस्था होनी चाहिये ताकि उन्हे आगे पेशे के चुनाव मे कठिनाई न हो और वे परिश्रम का मूल्य समझ सके। (ग) शिक्षा के साथ-साथ नृत्य, सगीत, खेल तथा अन्य जनजातीय मनोरजन का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिये और स्कूलो की छुट्टियाँ साप्ताहिक बाजार के दिन और जनजातीय त्योहारो के अनुकूल होनी चाहिएँ। (घ) स्कूल दो प्रकार के होने चाहिएँ—प्राथमिक स्कूल और व्यवसाय-सम्बन्धी स्कूल, और इनमे खेती करने, मछली पकडने, पशुओ के पालने आदि के सम्बन्ध मे व्यावहारिक शिक्षा दी जानी चाहिये।

जनजातीय कल्याण-कार्य[4]
(Tribal Welfare Work)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जनजातियो की अवस्थाओ मे सुधार के लिये अनेक कल्याण-कार्य केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारो द्वारा हो रहे हैं, जिनके फलस्वरूप इनकी अवस्था आज उन्नति के पथ पर आगे बढती जा रही है। साथ ही, भारत के नये सविधान मे भी उनके हितो का विशेष ध्यान रक्खा गया है जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा।

सवैधानिक व्यवस्थाएँ
(Constitutional Provisions)

जनजातियो के कल्याण का भारत के नये सविधान मे विशेष ध्यान रक्खा गया है। उनके हितो को सुरक्षित रखने तथा उनको उन्नत बनाने के लिये आवश्यक सरक्षण प्रदान किये गये हैं। जैसे —

3 Dr P C. Biswas (Delhi University), Report of the Third Conference, held at Jagdalpur, 1955, pp 42-43

4 This discussion to a great extent, is based on *India 1961*, Govt of India, Publication Division, Delhi, 1961, pp 142-149

(१) लोकसभा तथा राज्यो की विधानसभाओ मे आदिवासियो के प्रतिनिधियो के लिये जनसख्या के आधार पर दस वर्ष के लिये निश्चित सीटें सुरक्षित कर दी गयी है।

(२) सविधान के अनुच्छेद १६ (४) तथा ३३५ के अनुसार सार्वजनिक सेवाओ और सरकारी नौकरियो मे जनजातियो के लिये स्थान सुरक्षित रखने का अधिकार राज्य को दिया गया है। इसके अनुसार भारत सरकार अखिल भारतीय सेवाओ मे ५ प्रतिशत स्थान जनजातियो को दे रही है।

(३) सविधान के दसवे भाग तथा पाँचवी, छठी अनुसूचियो मे जनजातीय क्षेत्रो के प्रशासन के सम्बन्ध मे विशेष व्यवस्थाएँ की गयी है।

(४) अनुच्छेद २४४ (२) के अनुसार आसाम की जनजातियो के लिये जिला और प्रादेशिक परिषद् (District and Regional Council) स्थापित करने का विधान है।

(५) सविधान के भाग ६, अनुच्छेद १६४ मे आसाम के अतिरिक्त बिहार, मध्य प्रदेश और उडीसा म जनजातीय कल्याण मन्त्रालय स्थापित करने का विधान है।

(६) सविधान के भाग ४ के अनुच्छेद ४६ मे जनजातियो की शिक्षा की उन्नति और आर्थिक हितो की सुरक्षा की ओर विशेप ध्यान देना राज्य का कर्त्तव्य माना गया है।

(७) सविधान के अनुच्छेद ३३८ मे राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वे जनजातियो तथा अनुसूचित जातियो के लिये एक विशेप अधिकारी नियुक्त करे, जो जनजातियो की अवस्था को उन्नत करने के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को नये सुझाव दें।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत के सविधान मे भारतीय जनजातियो का शैक्षणिक तथा आर्थिक दृष्टि से उत्थान करने और उनपर लादी गयी परम्परागत सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने के उद्देश्य से आवश्यक सुरक्षा तथा सरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। इस दिशा मे किये गये सरकारी प्रयत्नो की अब हम विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

प्रशासनीय व्यवस्था
(Administrative Arrangement)

भारतीय सविधान की छठी अनुसूची के उपबन्धो के अनुसार सयुक्त खासी-जैन्तिया पहाडियो, गारो पहाडियो, मिज़ो पहाडियो, उत्तर कछार पहाडियो तथा मिकिर पहाडियो के जिलो मे एक प्रादेशिक परिषद् तथा पाच जिला परिषद् स्थापित कर दी गयी हैं। प्रत्येक जिला परिषद् मे अधिक से अधिक २४ सदस्य होते हैं और उनमे से तीन-चौथाई वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं। इन परिपदो को विधान-सम्बन्धी तथा कानून बनाने का और साथ ही वित्तीय (Financial) तथा कर (Tax) लगाने की शक्ति प्राप्त है।

सविधान की पाँचवी अनुसूचि मे अनुसूचित जनजातीय क्षेत्र वाले राज्यो मे जनजातीय सलाहकार परिपदो (Tribal Advisory Councils) की स्थापना की व्यवस्था है। यदि राष्ट्रपति चाहे तो उन राज्यो मे भी ऐसी परिपदें स्थापित की जा सकती हैं जिनमे अनुसूचित क्षेत्र नो नही परन्तु अनुसूचित जनजातियाँ रहती हो। अब तक आसाम,

आन्ध्र-प्रदेश, उडीसा, पजाब, पश्चिम बगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, मद्रास, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र मे ऐसी परिषदें स्थापित की जा चुकी हैं। ये परिषदे अनुसूचित जनजातियो के कल्याण-विषयक मामलो पर राज्यपालो को सलाह देती हैं। केरल तथा मैसूर मे भी एक-एक सलाहकार बोर्ड (Advisory Board) की स्थापना कर दी गयी है। हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा तथा अण्डमान मिनिकाय और अमीनदीवी द्वीप-समूह मे भी जनजातीय सलाहकार समितियाँ स्थापित कर दी गयी हैं।

कल्याणकारी तथा सलाहकार सस्थाएँ (Welfare and Advisory Agencies)

सविधान के अनुच्छेद ३३८ के अन्तर्गत सविधान मे दी गयी सुरक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था की जाँच-पडताल करने तथा उनको कार्यरूप देने के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को अवगत कराने के लिये राष्ट्रपति ने एक विशेष अधिकारी, अनुसूचित जनजाति आयुक्त (Commissioner for the Scheduled Tribes) की नियुक्ति की है। आयुक्त की सहायता के लिये इस समय सतरह सहायक आयुक्त (Assistant Commissioners) भी हैं।

भारत सरकार ने एक जनजातीय कल्याण अधिकारी (A Tribal Welfare Officer) की भी नियुक्ति की है जो आसाम मे जनजातीय लोगो मे किये गये कल्याण-कार्य की समीक्षा करके भारत सरकार को रिपोर्ट पेश करेगा।

जनजातीय क्षेत्रो के विकास और अनुसूचित जनजातियो के कल्याण-सम्बन्धी मामलो मे ससत्सदस्यो तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ का सहयोग प्राप्त करने के लिये भारत सरकार ने एक केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड स्थापित किया है। यह बोर्ड जनजातीय कल्याण-सम्बन्धी बातो पर भारत सरकार को सलाह देता है तथा इन जनजातियो के लिये कल्याण-सम्बन्धी योजनाएँ बनाता है।

सविधान के अनुच्छेद १६४ (१) मे उडीसा, बिहार तथा मध्य प्रदेश मे एक-एक मत्री के आधीन कल्याण विभाग स्थापित करने की व्यवस्था है। इन राज्यो के अलावा आसाम, आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, केरल, पजाब, पश्चिम बगाल, गुजरात, जम्मू व काश्मीर, मद्रास, महाराष्ट्र, मैसूर, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर तथा त्रिपुरा मे भी कल्याण विभाग स्थापित किये जा चुके हैं।

नौकरियो मे प्रतिनिधित्व (Representation in the Services)

इस उद्देश्य से कि जनजातियो के सदस्यो को विभिन्न नौकरियो मे भर्ती होने का अवसर मिले, सरकार ने अखिल भारतीय प्रतियोगिता के आधार पर नियुक्ति होने वाली नौकरियो मे ५ प्रतिशत रिक्त स्थानो (vacancies) को तथा अन्य आधार पर नियुक्ति होने वाली नौकरियो मे भी ५ प्रतिशत रिक्त स्थानो को जनजातीय लोगो के लिए सुरक्षित कर दिया है। तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणियो की नौकरियो (Classes III and IV Posts) के प्रत्येक राज्य मे जनजातियो की जनसख्या के अनुपात मे रिक्त स्थानो को सुरक्षित रखने की व्यवस्था है। उसी प्रकार तरक्की, चुनाव, आयु-सीमा (age-

limit) योग्यता (qualification), चुनाव (selection) आदि के सम्बन्ध मे भी जन-जातीय लोगो को खास रियायत दी जाती है। अखिल-भारतीय नौकरियो मे होने वाली प्रतियोगिताओ मे अधिक से अधिक जनजातीय लोग सफल हो सके, इस उद्देश्य मे विशेष सस्थाओ द्वारा इनके प्रशिक्षण की भी व्यवस्था सरकार के द्वारा की जाती है। १ जनवरी, १९६५ तक अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के ५,५२,५६३ व्यक्तियो को भारत सरकार ने अपने यहाँ नौकरी पर रक्खा है।

कल्याणकारी योजनाएँ
(Welfare Schemes)

जनजातियो को शिक्षा की अधिक से अधिक सुविधाएँ देने के लिये सरकार की ओर से उपाय किये जा रहे है। अधिक बल व्यावसायिक (occupational) तथा तकनीकी (technical) प्रशिक्षण पर दिया जाता है। विद्यार्थियो को नि शुल्क पढाई, छात्रवृत्तियो, पुस्तको, लेखन-सामग्री आदि की सुविधाएँ दी जा रही है। सन् १९४८-४९ मे अनुसूचित जनजातियो के विद्यार्थियो को छात्रवृत्तियाँ (Scholarships) देने की योजना आरम्भ की गयी थी। सन् १९५९-६० मे इस योजना का विकेन्द्रीकरण (Decentralization) कर दिया है। सन् १९५३-५४ मे भारत सरकार ने जनजातियो के अच्छे विद्यार्थियो को विदेशो मे अध्ययन के लिये भी छात्रवृत्तियाँ देने की योजना आरम्भ की। आसाम, बिहार, गुजरात तथा महाराष्ट्र राज्य की सरकारे भी इस प्रकार की छात्रवृत्तियाँ देती हैं। केन्द्रीय सरकार ने सभी तकनीकी सस्थाओ तथा शिक्षणालयो से सिफारिश की है कि वे जनजातियो के विद्यार्थियो के प्रवेश के लिये स्थान सुरक्षित रखें, आवश्यक उत्तीर्ण-अको (pass marks) की सख्या मे कमी करें तथा अधिकतम आयु-सीमा (age limit) बढाएँ। सरकार की इन सिफारिशो को देश की विभिन्न सस्थाओ ने कार्यरूप दिया है।

सरकार की ओर से जनजातीय लोगो को आर्थिक उन्नति करने के भी पर्याप्त अवसर दिये जा रहे हैं। २ ९९ करोड जनजातीय लोगो मे से लगभग ३५ लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष ३१,५५,८१६ एकड भूमि मे स्थानान्तरित खेती (shifting cultivation) करते हैं। यह समस्या आसाम, आन्ध्र प्रदेश, उडीसा, बिहार तथा मध्य प्रदेश के राज्यो और मणिपुर तथा त्रिपुरा के सघीय क्षेत्रो मे व्यापक रूप से विद्यमान है। पहली योजना की अवधि मे इस प्रकार की खेती पर नियन्त्रण रखने की एक योजना आरम्भ की गयी थी और अब तक ९,६०४ एकड भूमि आसाम मे इस प्रकार की खेती करने वालो को बसाने के लिए दी गई है। आन्ध्र प्रदेश मे १० बस्ती योजनाएँ (Colonisation Schemes) प्रारम्भ कर दी गयी है। इस योजना के अन्तर्गत बिहार मे १,५४८ परिवार, मध्य-प्रदेश मे ३६६, उडीसा मे २,९९० परिवार तथा त्रिपुरा मे १३,४१३ परिवार बसा दिये गये हैं। आन्ध्र-प्रदेश, बिहार, गुजरात, मद्रास, महाराष्ट्र, उडीसा तथा उत्तर प्रदेश मे बेकार भूमि का पुनरुद्धार करके उसे कृषि-योग्य बनाकर जनजातियो के लोगो मे बाट देने की कई योजनाएँ आरम्भ की जा चुकी हैं। इसके अतिरिक्त पशु, खाद, कृषि औजार, उन्नत बीज खरीदने के लिये भी उन्हे सुविधाएँ दी जा रही है। पशु-

पालन तथा मुर्गी-पालन के लिये भी उन्हे प्रोत्साहित किया जा रहा है। आन्ध्र-प्रदेश, आसाम, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बगाल राज्यो मे ऋण, आर्थिक सहायता तथा प्रशिक्षण केन्द्रो के माध्यम से जनजातीय क्षेत्रो मे कुटीर-उद्योगो को प्रोत्साहित किया जा रहा है। आन्ध्र-प्रदेश, बिहार, मद्रास, मैसूर, उडीसा, उत्तर-प्रदेश तथा पश्चिमी बगाल मे बहुउद्देशीय सहकारी समितियो (Multi-purpose Co-operative Societies) की स्थापना करके उनके द्वारा नगद ऋण देने की सुविधाएँ उपलब्ध की जा रही है। इसके अतिरिक्त आन्ध्र-प्रदेश, महाराष्ट्र आदि राज्यो मे वन सम्पत्ति को निकालने के ठेके श्रम सहकारी समितियो (Labour Cooperative Societies) के मार्फत जनजातियो को दिये जाते हैं। प्राय सभी राज्यो मे जनजातियो को भूमि अधिकार देने के भी कानून बना दिये गये हैं।

जनजातीय अनुसन्धान सस्थाएँ
(Tribal Research Institutes)

आन्ध्र-प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्यप्रदेश, उडीसा, राजस्थान तथा पश्चिमी बगाल राज्यो मे जनजातीय अनुसन्धान सस्थान (Tribal Research Institutes) स्थापित कर दिये गये हैं, जिनमे जनजातीय कला, सस्कृति तथा रीति-रिवाजो का गहन अध्ययन किया जाता है। गोहाटी विश्वविद्यालय मे आसाम की जनजातियो के सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन का अध्ययन आरम्भ हो गया है। महाराष्ट्र तथा गुजरात मे 'बम्बई की मानवशास्त्र समिति' (Anthropological Society of Bombay), 'गुजरात-विद्या पीठ' (Gujarat Vidyapith) तथा बम्बई विश्वविद्यालय मे जनजातियो के सम्बन्ध मे अनुसन्धान होता है। पश्चिमी बगाल मे 'सास्कृतिक अनुसन्धान सस्थान' (Cultural Research Institute) ने राज्य के जनजातीय जीवन के कई पहलुओ पर महत्त्वपूर्ण रिपोट प्रकाशित की है। भारत सरकार के मानवशास्त्र विभाग (Department of Anthropology) मे भारत के १४८ जिलो मे रहने वाली जनजातियो के सम्बन्ध मे गम्भीर अनुसन्धान-कार्य पूरा किया गया है। उदयपुर की भारतीय 'लोक-कला मण्डल' (Bhartiya Lok-kala Mandal) एक अग्रणी गैर-सरकारी सगठन है जिसने भूतपूर्व मध्य भारत तथा राजस्थान राज्यो की जनजातियो की सस्कृति के सम्बन्ध मे सर्वेक्षण किया है।

पंचवर्षीय योजनाएँ तथा जनजातीय कल्याण
(Five Year Plans and Tribal Welfare)

जनजातीय कल्याण कार्य मे पचवर्षीय योजनाओ का अपना महत्त्व है जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा :—

पहली पचवर्षीय योजना मे अनुसूचित जनजातियो के कल्याण के लिए १६ ८३ करोड रुपया व्यय किया गया था। योजना के अन्तर्गत जनजातीय क्षेत्रो के विकास कार्यक्रम को मोटे तौर पर चार भागो मे बाँटा गया था—(क) सचार, (ख) शिक्षा व सस्कृति, (ग) आर्थिक सुधार और (घ) स्वास्थ्य, मकान एव जलपूर्ति। पहली योजना

मे आसाम और अन्य राज्यो के जनजातीय क्षेत्रो मे सडको के विकास पर ६ करोड रुपया खर्च किया गया था और प्राय ४,००० स्कूल (आश्रम और सेवाश्रम स्कूल) ३१२ बहु-उद्देशीय सहकारी समितियाँ (Multi-purpose Cooperative Societies) और १११ कुटीर उद्योग केन्द्र खोले गये थे।

दूसरी पचवर्षीय योजना की अवधि मे जनजातीय क्षेत्रो मे ३१८७ स्कूल और छात्रावास तथा २०० सामुदायिक और सास्कृतिक केन्द्र स्थापित करने तथा ३ लाख जनजातीय विद्यार्थियो को छात्रवृत्तियाँ तथा अन्य रियायते देने का लक्ष्य रक्खा गया था। साथ ही १,० ,००० मील लम्बे पहाडी रास्ते तथा ४५० पुल व पुलियाँ बनाने के सम्बन्ध मे राज्यो की जो योजनाएँ थी, उनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने भी ४५० मील लम्बी मोटर चलने योग्य सडके तथा ७२० मील लम्बे पहाडी रास्ते आदि बनाने की योजनाएँ बनाई थी, जिसपर प्राय ४ करोड रुपया व्यय होना था। राज्यो ने ३६,६०० एकड जमीन का विकास करने, ६५०० एकड वनभूमि को फिर खेती योग्य बनाने, खेती के उपकरण और सुधरी नस्ल के बैल वितरित करने, प्राय ४०० लोगो को कलाकौशल सिखाने और ८२५ कुटीर उद्योग केन्द्र खोलने की व्यवस्था की थी। स्वास्थ्य सुविधाओ के कार्यक्रम मे ६०० दवाखाने और चलते-फिरते (Mobile) चिकित्सा केन्द्रो की स्थापना की व्यवस्था थी। केन्द्रीय सरकार की ओर से जनजातीय क्षेत्रो मे ४१,००० कुएँ तथा कुछ जलाशय बनाने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त जनजातीय लोगोके लिए ५,८०० मकान भी बनने थे। राज्य सरकारो ने भी १८,८०० मकान बनाने के लिए ६० लाख रुपये की व्यवस्था की थी। दूसरी योजना मे १२००० जनजातीय परिवारो को १८६ बस्तियो मे बसाने का कार्यक्रम भी सम्मिलित है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे जनजातीय क्षेत्रो के भरपूर विकास के लिये केन्द्रीय सरकार द्वारा विशेष बहु धन्धी जनजातीय विकास-खण्ड (Multi-purpose-Tribal Development Blocks) चालू करने की योजना बनाई गयी थी। इसकी सामान्य प्रकृति हम लोगो के गाँव मे लागू सामुदायिक विकास योजना की ही भाँति है। इस योजना मे २७ लाख रुपया प्रति खण्ड (Block) लागत पर ४८ खण्डो को लागू किया गया था।

इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि द्वितीय योजनाकाल मे अनुसूचित जनजातियो के कल्याणार्थ ४३ करोड रुपये व्यय किये गये थे, जबकि प्रथम योजनाकाल मे होने वाले व्यय की राशि केवल १९ ८३ करोड थी।

तृतीय पचवर्षीय योजना काल मे जनजातीय क्षेत्रो मे भरपूर विकास का लक्ष्य सामने रक्खा गया है और इसके लिये ६० ४३ करोड रुपये की व्यवस्था की गयी है। इस योजना मे यह प्रस्ताव है कि कार्यक्रम बनाते समय आर्थिक विकास के कार्यक्रमो मे स्थानान्तरित खेती करने वाले जनजातीय लोगो के आर्थिक पुनसस्थापन (economic rehabilitation) को अनुसूचित जनजातियो के अपने लोगो के द्वारा सगठित सहकारी समितियो के द्वारा वन-सम्पत्ति के उचित प्रयोग को, तथा ऋण-सम्बन्धी उनकी आवश्यकता को पूरा करने के लिये बहु-उद्देशीय सहकारी समितियो की स्थापना को

प्राथमिकता दी जानी चाहिये। शिक्षा कार्यक्रम मे मिडिल तथा माध्यमिक कक्षाओ तक मुफ्त शिक्षा, छात्रवृति और छात्रावाम की व्यवस्था होनी चाहिये। तकनीकी प्रशिक्षण (Technical Training) के लिये भी छात्रवृति और निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये।

तीसरी योजना मे सामुदायिक विकास खण्डो के अनुरूप जनजातीय क्षेत्रो मे जनजातीय विकास-खण्डो की बडी सख्या मे स्थापित करने का लक्ष्य रक्खा गया है। दूसरी योजनाकाल मे ऐमे ४३ खण्ड चालू किये गये थे। तीसरी योजना काल मे सब मिलकर ३०० खण्ड खोलने की व्यवस्था है। यह सुभाव है कि ये खण्ड अपने कोप (Fund) का ६० प्रतिशत आर्थिक-विकाम-कार्यक्रमो मे, २५ प्रतिशत सन्देश-वाहन (communication) मे तथा १५ प्रतिशत सामाजिक-मेवा कार्यक्रमो मे खर्च करेगे।

इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि सभी राज्यो तथा सघीय प्रदेशो (Union Territories) के तीसरी योजना के अन्तर्गत होने वाले जनजातीय कल्याण कार्यक्रमो मे व्यय का विभाजन इस प्रकार है—शिक्षा पर १५ ३८ करोड रुपया, आर्थिक विकास पर ४८ ०७ करोड रुपया तथा आवास, स्वास्थ्य तथा अन्य कार्यक्रमो पर ९ ४५ करोड रुपया व्यय किया जाना चाहिये।

निष्कर्ष जनजातीय कल्याण की उचित नीति
(Conclusion Proper Policy of Tribal Welfare)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारतीय जनजातियो का जीवन अनेक गम्भीर समस्याओ का एक जटिल-जाल है जिसमे फँसकर जनजातीय भारत (Tribal India) आज भी एक कष्टदायक परिस्थिति मे है। अब तक की विवेचना से यह भी स्पष्ट है कि जनजातीय समस्याओ का कारण बहुत-कुछ तो उनका अपना ही पिछडापन है और शेष कारण उनका बाहरी सभ्य समाजो के साथ सास्कृतिक सम्पर्क है। यह सच है कि इन समस्याओ को सुलझाने तथा जनजातियो के उत्थान के लिये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा काफी प्रयत्न किये जा रहे हैं, परन्तु अब भी बहुत कुछ करना शेष है। जनजातीय समस्याओ का निराकरण सफलतापूर्वक तभी किया जा सकेगा जबकि जनजातीय कल्याण-कार्य की नीति को खूब समझ-बूझकर बनाई जाएँ। जनजातीय कल्याण की उचित नीति इस प्रकार होनी चाहिए —

(१) एक जनजातीय समूह की समस्याओ को अलग-अलग श्रेणियो मे बाँटकर उन्हे सुलझाने के लिये उचित योजना बनाने की आवश्यकता है। परन्तु इन योजनाओ को बनाते समय यह ध्यान मे रखना जरूरी है कि ये समस्याएं एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् नही है और न ही उन्हे पृथक् रूप मे सुलझाया जा सकता है। आर्थिक समस्याओ का प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पडता है, और सामाजिक जीवन का प्रभाव धम के क्षेत्र मे। उदाहरणार्थ, आज गरीबी के कारण ही जनजातीय समाज मे वेश्यावृत्ति का प्रचलन हो गया है और उसी गरीबी के कारण खाने-पीने और पोशाक सम्बन्धी समस्याओं का जन्म हुआ है। अत जनजातीय सुधार की नीति यह होनी चाहिए कि योजना बनाते समय समस्त समस्याओ की एक समग्र-रूप योजना बनाने के'सामने हो।

इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न समस्याओ को सुलझाने के लिये जो विभिन्न योजनाएँ बनायी जाएँ उनमे आपस मे एक आन्तरिक सम्बन्ध अवश्य ही बना रहे जिससे कि आवश्यकतानुसार प्रत्येक समस्या के द्वारा सम्पूर्ण समस्या का, और सम्पूर्ण समस्या द्वारा प्रत्येक समस्या का निराकरण सम्भव हो।

(२) सामाजिक व सास्कृतिक समस्याओ को सुलझाने के लिये जनजातीय जीवन के परम्परागत सस्थाओ को दोष-मुक्त करने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, जनजातीय समाज मे शिक्षा का प्रसार करने के लिये युवा सगठनो को फिर से सगठित किया जाना चाहिए ताकि जनजातीय लोग शिक्षा-व्यवस्था को कोई बाहरी-व्यवस्था न समझ बैठे। यदि ऐसा हुआ तो शिक्षा का प्रसार उचित ढग से नही हो पायेगा। इसीलिये प्रत्येक सुधार नीति मे जनजातीय मनोवृति व पाचक-शक्ति को ध्यान मे रखना होगा।

(३) जनजातीय कल्याण योजनाओ को बनाने या इस सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की नीति को प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व आवश्यक रूप मे केवल ऐसे ही व्यक्तियो पर होना चाहिए जो कि जनजातीय सामाजिक, आर्थिक व सास्कृतिक जीवन के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक ज्ञान रखते हैं। इसलिये यह उचित होगा कि इस काम के लिये समाजशास्त्री व मानवशास्त्रियो की सेवाओ का अधिकाधिक सदुपयोग किया जाये, नही तो जनजातीय कल्याण-सम्बन्धी समस्त योजनाएँ कागजी-घोडो की दौड मात्र बनी रहेगी।

(४) प्रत्येक जनजाति की उसके प्रदेश और सस्कृति के आधार पर अपनी अलग-अलग समस्याएँ हैं। चूँकि इनकी समस्याएँ एक तरह की नही है, इस कारण इनका कोई एक या सामान्य (common) हल ढूढना भी मूर्खता होगी। डा० मजूमदार (Majumdar) ने उचित ही कहा है, "जनजातीय समस्याओ का कोई एक हल नही है, और न ही उन अभियाचना का कोई एक सामान्य आधार। जनजातियो के सास्कृतिक विकास के अनेक स्तर और जीवन के विभिन्न प्रतिरूप है। जनजातीय जीवन के पुनर्वास की किसी भी योजना को बनाने मे उनकी प्रवृत्तियो और सास्कृतिक की सम्बद्ध स्थिति को जानना परमावश्यक है, और जो योजना एक सास्कृतिक क्षेत्र के लिये उचित है वह दूसरे के लिये उपयुक्त नही हो सकती है।"[5]

(५) इस सम्बन्ध मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात, श्री नेहरू के शब्दो मे, यह है कि हमे जनजातियो को अपनी प्रतिलिपि बनाने का प्रयत्न नही करना चाहिये। उनकी आकाक्षाओं, आवश्यकताओ और विचारो को यथोचित मान्यता देनी होगी। उन्हे इस योग्य बनाना है कि वे आधुनिक विज्ञान से लाभ उठा सके। इसके अतिरिक्त हमे यह भी ध्यान रखना होगा कि वे अच्छे मकान, फूलती-फलती खेती, सुन्दर स्वास्थ्य, स्वच्छता और उत्तम

5 "There is no one solution to tribal problems, there is no common platform to demand it There are levels of cultural development and there are different patterns of life that the tribes own In any scheme of rehabilitation of tribal life the attitudes and configurations of culture must be known to work out plans, and what is true of one culture area, may not be so for a second" D N Majumdar *op cit*, p 385

शिक्षा मे भी वचित न रहे । किन्तु इसके साथ ही उनके जीवन के प्रति उल्लास तथा स्व-भाव और सस्कृति के उत्तम गुणो को सुरक्षित रखकर उन्हे राष्ट्र के जीवन मे हाथ बँटाने योग्य भी बनाना है ।

(६) जनजातियो के सम्बन्ध मे किसी भी योजना मे उनका सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न सर्वप्रथम करना होगा ताकि उनके लिय बनायी गयी योजना उनके द्वारा ही क्रियाशील हो ।

(७) जनजातीय कल्याण-योजना मे उनकी आर्थिक समस्याओ को अधिकाधिक प्राथमिकता देनी होगी । उनकी आर्थिक अवस्था को सुधारे बिना और कोई सुधार-कार्य सफल नहीं हो सकता । श्री सेभ (Save) के शब्दो मे, "उन लोगो के लिये जिन्हे दिन भर मे दो-बार रोटी भी नही मिल पाती है, शिक्षा की बात डीग हाँकना ही है। एक भूखा आदमी भोजन के अलावा और सभी चीजो को पचाने से इन्कार कर देता है।"[6] किसी भी जनजातीय कल्याण-योजना मे इसे भूल न जाना चाहिये ।

तीसरी पचवर्षीय योजना प्रस्तुत करते हुए जनजातीय कल्याण कार्यक्रम की उचित नीति के सम्बन्ध मे योजना आयोग ने लिखा है कि विकासमान स्थितियो मे जन-जातीय क्षेत्रो का अलग रहना कठिन है, लेकिन फिर भी विकास के नाम पर अनावश्यक प्रशासनिक कडाई करना भूल होगी । इन दोनो सीमाओ के बीच का कोई रास्ता खोजना है । खेती, सचार साधन, स्वास्थ्य और शिक्षा सेवाओ का विकास करते हुए जनजातियो को उनके ही अपने ढग से आगे बढने देना चाहिए । उनकी परम्परागत कला और सस्कृति का सम्मान करना चाहिए और उनपर बाहर से कोई जोर या दबाव नही डालना चाहिए । जनजातीय क्षेत्रो मे उन्ही लोगो मे से प्रशिक्षण देकर प्रशासन और विकास का काम करने के लिए टोली तैयार करनी चाहिए और इस काम मे बराबर यह उद्देश्य रहना चाहिए कि सरकारी काम-काज तथा सामाजिक सेवाओ को सम्भालने के लिये स्थानीय लोगो को ही तैयार करना है । इन क्षेत्रो के लिये विकास कार्य-क्रम चुनते समय इस बात पर विशेष जोर देना चाहिए कि उनकी सामाजिक और सास्कृतिक धारणाओ को छेडे बिना गरीबी को दूर किया जाय, उन्हे आधुनिक तरीके सिखाये जाएँ, स्वास्थ्य सेवाओ का विकास हो, उनके रहन-सहन का स्तर बढे और इन क्षेत्रो मे सचार के साधनो का सुधार हो । साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अधिक से अधिक काम जनजाति समुदाय के लोग ही सभाले ।

डा० दुबे (Dr S C Dube) जनजातीय समस्याओ के समाधान के लिये निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत करते है—(१) वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा जनजातियो के सामाजिक सगठन और मूल्यो के ज्ञान की उपलब्धि, (२) विभिन्न प्राविधिक, आर्थिक और सास्कृतिक विकास की पृष्ठ भूमि पर उनकी समस्याओ का सूक्ष्म अध्ययन (३) जन-जातीय जीवन मे एकीकरण की शक्तियो और कारको का अध्ययन (४) सस्कृति के

6 "In case of people who hardly get bread twice a day, literacy is a tall talk A hungry man refuses to digest anything but food , K J Save, Quoted by D N Majumdar, *op cit* , p 386

सहज-परिवर्तनशील और परिवर्तन विरोधी पक्षो का विश्लेषण, (५) संस्कृति के विभिन्न पक्षो के सम्बन्ध-सूत्रो और अन्तरावलम्बन का अध्ययन, (६) जनजातीय क्षेत्रो मे कार्य करने वाले शासको तथा अन्य शासकीय और सामाजिक कार्य-कर्त्ताओ को जनजातीय जीवन और संस्कृति से परिचित कराने और इन समूहो मे किये जाने वाले कार्य को समझाने के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था, (७) विचारपूर्वक ऐसी विकास योजनाओ का निर्माण जो जनजातीय समूहो की आवश्यकताओ का क्षेत्रीय और राष्ट्रीय आवश्यकताओ मे समन्वय कर सके, तथा (८) इन योजनाओ द्वारा जनित प्रवृत्तियो की गति-विधि और प्रभावो का अध्ययन और उनके हानिकारक तत्त्वो के निराकरण का प्रयत्न। डा० दुबे ने इस सम्बन्ध मे आगे यह भी लिखा है कि "वैज्ञानिक अध्ययनो द्वारा ही आदिवासी (जनजातीय) सगठन के विभिन्न पक्षो का वास्तविक मूल्याकन किया जा सकता है। ये अध्ययन उनकी विकास की योजनाएँ बनाने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। योजनाओ को कार्यान्वित करने की प्रत्येक स्थिति मे यह जानना आवश्यक होगा। इन योजनाओ को कार्यान्वित करने वाले राजकीय कर्मचारी यदि व्यापक सहानुभूति रखकर अपने कर्त्तव्यो को पूरा करने का यत्न करे, और शेष समाज यदि आदिवासियो के सम्बन्ध मे स्वस्थ सास्कृतिक दृष्टिकोण रखे, तो थोडे ही समय मे समस्या अपने समाधान के निकट पहुच जायेगी।'

किसी भी अवस्था मे यह भूलना उचित न होगा कि जनजातियो की समस्या स्वतत्र भारत के प्राय २ ९९ करोड नागरिको की है। इन्हे पीछे छोडकर आगे बढने का प्रयत्न करना भारत के भाग्य को पीछे ढकेल देना होगा। आज राष्ट्र के आकाश मे सकट के बादल मँडरा रहे है। आज जिस बात की सबसे ज्यादा आवश्यकता है वह है राष्ट्रीय एकता और इस एकता का आधार है राष्ट्र के प्रत्येक पक्ष का, प्रत्येक अग या इकाई का सतुलित विकास। इस प्राय तीन करोड जनता का भी विकास हो, उत्थान और पुर्ननिर्माण हो यही उचित है। इसके लिये जो कुछ भी प्रयत्न आवश्यक है, वह सब कुछ निछावर कर देना ही पडेगा। जनजातीय कल्याण भारत का कल्याण होगा, जनजातीय जीवन भारत के आदि जीवन का चमकता हुआ प्रतीक होगा और जनजातीय सस्कृति भारतीय प्राचीन परम्परा का प्रतीक होगी। जनजातीय जनता का सक्रिय सहयोग राष्ट्र-निर्माण मे उनका सुन्दर सौगात होगी—भारत एक था, एक रहेगा, एक होकर मित्रो का भव्य स्वागत करेगा और एक होकर ही दुश्मनो को मुँह-तोड जवाब देगा। विजयी भारत पराजय स्वीकार नही करेगा।

● ●